साहित्यिक निबन्ध

साहित्यिक निबन्ध

[उच्चकोटि के ५१ साहित्यिक निबन्ध]

[संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण]

लेखक—

श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रथम संस्करण—१९५४
द्वितीय संस्करण—५९५६
तृतीय संस्करण—१९५८
चतुर्थ संस्करण—१९६०
पंचम संस्करण—१९६०
मूल्य ८)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस
बागमुजफ्फरखाँ, आगरा

राज को,

जिसने बड़े मन-प्राण से नीड़ बसाया
और फिर चली गयी हमेशा के लिए
उसे अपनी याद से सुगन्धित करके—

अपनी बात

प्रस्तुत संस्करण इस ग्रन्थ का पंचम संस्करण है। प्रथम संस्करण में इकतालीस निबन्ध थे। तृतीय संस्करण में दो निबन्ध और बढ़ाए गए तथा इस पंचम संस्करण में आठ निबन्ध और जोड़कर निबन्धों की संख्या इक्यावन कर दी गई है। इसके प्रथम चारों संस्करणों का हिन्दी-समाज ने अच्छा स्वागत किया था और उसी स्वागत का यह परिणाम है कि हमें इतने थोड़े समय में ही इसका पंचम संस्करण इस संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित करना पड़ा।

अपने प्रस्तुत रूप में ये निबन्ध हिन्दी-साहित्य का इतिहास, हिन्दी भाषा एवं लिपि, साहित्यालोचन, हिन्दी साहित्य के विविध वाद एवं उसकी विभिन्न विधाओं आदि विभिन्न विषयों को अपनी परिधि में घेर लेते हैं। इन निबन्धों के लिखने में लेखक ने विवेच्य विषय के अधिकारी विद्वानों के मतों को ही महत्व देते हुए कहीं-कहीं अपनी बात भी कही है। और अपनी बात कहते समय लेखक व्यक्तिगत या वादगत रागद्वेष से सर्वथा मुक्त रहा है।

ये निबन्ध हिन्दी की सभी उच्चकोटि की परीक्षाओं के लिए समान रूप से योग्य एवं लाभदायक प्रमाणित हुए हैं। इन्हें लिखते समय विषय-वस्तु एवं 'पाइण्टस्' को परीक्षाओं के योग्य सरल शैली में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही लेखक ने हर सम्भव प्रयत्न किया है कि प्रत्येक निबन्ध को लिखते समय वह उस विषय से सम्बन्धित उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग करे और ऐसा करते समय उसने विभिन्न आलोचनात्मक ग्रन्थों एवं अनेक पत्र-पत्रिकाओं आदि से पूर्ण सहायता ली है। उसने विशेष रूप से विभिन्न विषयों से सम्बन्धित शोध-प्रबन्धों को ही अपना आधार बनाया है। इसलिए लेखक अपनी मौलिकता का दावा न कर केवल इतना ही कहना चाहता है कि उसने विभिन्न रूपों में बिखरी हुई सामग्री एवं दृष्टिकोणों का संग्रह कर उसे अपनी शक्तिभर व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसलिए लेखक उन उल्लिखित एवं अनुल्लिखित सभी लेखकों एवं उनकी पुस्तकों के प्रकाशकों का आभारी है जिनसे उसने सहायता ली है। लेखक विशेष रूप से आदरणीय डा० रामविलास शर्मा एवं डा० रांगेय राघव का आभारी है जिन्होंने समय-समय पर परामर्श आदि देकर उसके पथ को प्रशस्त बनाया है।

लेखक को आशा है कि अपने प्रस्तुत रूप में यह ग्रन्थ पाठकों के लिए और भी अधिक लाभदायक सिद्ध होगा और इसका उसी प्रकार स्वागत किया जायेगा जिस प्रकार कि इसके पिछले चार संस्करणों का किया गया था ।

आज 'अपनी बात' कहते समय आज से ठीक दो वर्ष पूर्व की वह असह-नीय घटना याद आ रही है जिसने मेरे जीवन में एक भयंकर झंझावात उत्पन्न कर उसे अस्त-व्यस्त कर डाला था । एक दैवी आघात ने मेरे संघर्षपूर्ण क्रिया-शील जीवन में एक ऐसा व्याघात उत्पन्न कर दिया था जिसे मैं अपने एकाकी रूप में किसी भी दशा में सहन नहीं कर पाता यदि कुछ अनन्य, अभिन्न मित्रों ने मुझे अपना समझ कर न सम्हाला होता । मैं जीवन में अपने इन मित्रों के इस स्नेह को कभी नहीं भूल सकूँगा । आदरणीय डाक्टर रामविलास शर्मा ने अग्रज के समान अपने मौन-मुखर स्नेह द्वारा मुझे समझाया था, सम्हाला था । मित्रवर डाक्टर विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने अवसाद के क्षणों में एक स्वजन के समान मुझे अध्ययन की ओर उन्मुख किया था । मेरे पुराने मित्र प्रो० घनश्याम अस्थाना एवं रामगोपालसिंह चौहान मुझे विषण्ण-मन देखकर सदैव प्रोत्साहित किया करते थे । इनके अतिरिक्त मैं उन अनेक मित्रों एवं स्नेहियों को भी नहीं भूल सकता जिन्होंने हर तरह से मुझे बल दिया था, सम्हाला था ।

मित्रों एवं स्नेहियों के इस विशाल संसार के मध्य में मेरा एक छोटा सा अपना संसार था जो 'परिवार' के नाम से प्रसिद्ध है । इस 'परिवार' के सदस्य मेरे ऐसे अभिन्न मित्र हैं जो इन दुर्दिनों में मेरे साथ छाया की भाँति सदैव रहे हैं । इन्होंने अपने स्नेह का सम्बल देकर मेरी शक्ति एवं जीवन को टूटने से बचाया है और आज जो मेरी लेखनी पुनः सक्रिय हो उठी है उसका सर्वाधिक श्रेय मेरे 'परिवार' के इन्हीं चार मित्रों को है । ये मित्र हैं पं० ज्वालाप्रसाद शर्मा 'शास्त्री', कुँवर गम्भीरसिंह, कुँवर रायसाहबसिंह 'अजीत' और प्रो० कुन्दनलाल उप्रैतिः । मेरे जीवन के विगत दो वर्ष इन्हीं के स्नेह एवं सहानुभूति की छत्रछाया में बीते हैं ।

११ जून १९६०
लक्ष्मी-निवास, गोकुलपुरा,
आगरा ।

राजनाथ शर्मा

आशीर्वचन

मेरे प्रिय शिष्य श्री राजनाथ शर्मा हिन्दी साहित्य के एक उदीयमान लेखक हैं। उनके द्वारा लिखी हुई विद्यार्थियों के उपयोग की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'साहित्यिक-निबन्ध' जिसमें उनके उच्चकोटि के ४३ निबन्धों का संग्रह है, अभी प्रकाशित हुआ है। मैंने इस पुस्तक का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया है। इसमें संग्रहीत सभी निबन्ध विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होते हैं। इन निबन्धों में मौलिक चिन्तन के अतिरिक्त उच्च-कोटि के विद्वान् लेखकों के विचारों का प्रचुरता से उपयोग किया गया है। ये निबन्ध लेखक की विस्तृत अध्ययन-शीलता के पूर्ण परिचायक हैं। उनकी शैली सर्वत्र ही सरल, सुबोध तथा स्पष्ट है। लेखक के सूक्ष्म विश्लेषण की शक्ति की झलक इसमें सर्वत्र ही दिखलाई देती है। मुझे आशा और विश्वास है कि ये निबन्ध हिन्दी के विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे।

आगरा कॉलेज,
आगरा

जगन्नाथ तिवारी
अध्यक्ष
हिन्दी-संस्कृत विभाग

विषय-सूची

१—आदिकाल या वीरगाथा काल

हिन्दी साहित्य के इतिहास के सर्वसम्मत चारों कालों में से आदिकाल या वीरगाथाकाल सदैव से विवादग्रस्त विषय रहा है। सर्वप्रथम आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल की रचनाओं में वीररस की प्रधानता देखकर इसे वीरगाथा काल की संज्ञा से अभिहित किया। आपके अनुसार इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं---अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश भाषा की केवल चार साहित्यिक पुस्तकें प्राप्त हुई हैं—१—विजयपाल रासो, २—हम्मीर रासो, ३—कीर्तिलता, ४—कीर्तिपताका। देशभाषा काव्य की आठ साहित्यिक पुस्तकें हैं---१—खुमान रासो, २—बीसलदेव रासो, ३—पृथ्वीराज रासो, ४—जयचन्द प्रकाश, ५—जयमयंक जस-चन्द्रिका, ६—परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप), ७—खुसरो की पहेलियाँ, ८—विद्यापति पदावली। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"इन्हीं बारहों पुस्तकों की दृष्टि से 'आदिकाल' का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इसमें से अन्तिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम वीरगाथाकाल ही रखा जा सकता है।" आपके अनुसार इस काल की सीमा-परिधि संवत् १०५० से १३७५ तक मानी गई है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस काल को वीरगाथाकाल न मानकर 'आदिकाल' की संज्ञा देते हैं। उनके मतानुसार—"इस काल में वीर रस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। परन्तु इस काल में सिद्ध साहित्य और जैन साहित्य का प्रणयन प्रचुर मात्रा में हुआ है, इसलिए इसे केवल वीरगाथाकाल नहीं माना जा सकता।" द्विवेदीजी अपने उक्त नामकरण के विषय में स्वयं पूर्णतः आश्वस्त नहीं हैं। वे इसीलिए इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—"वस्तुतः हिंदी का 'आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परंपराविनिर्मुक्त, काव्यरूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।... यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है।"

आचार्य शुक्ल ने प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन किया है। किसी भी साहित्य के इतिहास को 'आदिकाल' मात्र कह

देने से उस काल-विशेष की प्रवृत्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इसी तथ्य को सम्मुख रख आचार्य शुक्ल ने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से ही हिन्दी साहित्य का आरम्भ माना है और उसमें अपभ्रंश के ग्रन्थों का पृथक् उल्लेख कर केवल देशभाषा के ग्रन्थों के आधार पर प्रमुख प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए इसका नाम वीरगाथाकाल रखा है।

कुछ विद्वान् हिन्दी साहित्य की परम्परा को खींचकर आठवीं शताब्दी तक ले जाते हैं। इसका आधार 'पुष्य' नामक एक कवि का उल्लेख है जो सम्वत् ७७० के लगभग साहित्य रच रहा था। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी आधार पर हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को सम्वत् ७५० से १२०० तक मानकर इसके दो खण्ड कर दिए हैं—सन्धि काल और चारण काल। राहुलजी ने भी इस काल का समय तो यही माना है परन्तु नाम 'सिद्ध सामन्त युग' रखा है। उनके मतानुसार आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाये जाते हैं—सिद्धों की वाणी और सामन्तों की स्तुति। डाक्टर रामकुमार वर्मा और राहुलजी के नामकरण में विशेष अन्तर नहीं है। डाक्टर वर्मा का संधि काल और चारण काल क्रमशः राहुलजी के सिद्ध काव्य और सामन्त काव्य का ही दूसरा नाम है। आचार्य शुक्ल इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—"आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृङ्गार, वीर सब प्रकार की रचनाएं दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राज्याश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृङ्गार आदि के फुटकर दोहे राज-सभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या कथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही परम्परा रासो के नाम से पाई जाती है। जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है।"

उपर्युक्त विवाद के मूल में कुछ विद्वानों की वह भावना कार्य कर रही है जिसके कारण वे हिन्दी-साहित्य की प्राचीनता को अधिकाधिक पीछे ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप कुछ इतिहासकार गुरु गोरखनाथ (६ वीं शताब्दी) को तथा कुछ पुष्य कवि (८ वीं शताब्दी) को हिन्दी का आदि कवि मानने का आग्रह कर रहे हैं। इसी प्रवृत्ति से सिद्ध-साहित्य को भी हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत मानकर उसका इतिहास चौथी शताब्दी तक भी ले जाने का प्रयास हो रहा है। अपभ्रंश के जैन साहित्य के प्रति भी यही आग्रह

है। परन्तु सिद्ध-साहित्य के समान अपभ्रंश का जैन-साहित्य भी धार्मिक साहित्य है। उसे भी हिन्दी साहित्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर आदिकाल के अन्तर्गत सिद्ध और नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य तथा चारण-साहित्य का उल्लेख किया जाता है तथा इस काल की भाषा को अपभ्रंश, अपभ्रंश का अन्तिम रूप, अपभ्रंश और पुरानी हिंदी का मिश्रित रूप तथा पुरानी हिन्दी आदि अनेक कोटि में रखा जाता है। वस्तुतः इस संपूर्ण साहित्य को एक ही काल में सम्मिलित करना न तो उचित ही है और न सम्भव। निश्चय ही अपभ्रंश और हिन्दी के बीच का कोई संक्रमण काल होना चाहिए और उस संक्रमण काल के पूर्व का साहित्य हिन्दी साहित्य के इतिहास के बाहर समझा जाना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने इसी कारण अपभ्रंश काल को आदिकाल से पृथक् मानकर उसका संक्षिप्त उल्लेख करते हुए केवल देशभाषा काव्य को ही प्रमुखता दी है। अपभ्रंश साहित्य से हिन्दी साहित्य प्रभावित हुआ है, इसी कारण मिश्रबन्धु, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य शुक्ल आदि सभी विद्वानों ने अपभ्रंश काव्य का उल्लेख किया है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहते हैं। "यदि साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से विचार किया जाय तो अपभ्रंश के प्रायः सभी काव्य-रूपों की परम्परा प्रायः हिन्दी में ही सुरक्षित है।" अस्तु,

काल के नामकरण के उपरान्त इस काल की प्राप्य साहित्यिक सामग्री का विश्लेषण सर्वप्रथम अपेक्षित है क्योंकि, तद्‌विषयक आचार्य शुक्ल की अनेक मान्यताओं और सामग्री का खण्डन हो चुका है। आचार्य शुक्ल ने, जैसा कि पहले बता आए हैं, कुल १२ ग्रन्थों के आधार पर ही इस काल का विवेचन किया है। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश की कुछ पुस्तकें ऐसी हैं जिनकी रचना संक्रमण काल में हुई थी और जिन्हें साहित्यिक इतिहास में विवेच्य माना जा सकता है। अब्दुर्रहमान का 'सन्देश रासक' ऐसी ही सुन्दर रचना है। राहुल जी स्वयंभू कवि की रामायण को 'हिन्दी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम काव्य' मानते हैं। मिश्रबन्धुओं ने कुछ जैन ग्रन्थों को भी इसी काल के अन्तर्गत माना है। परन्तु शुक्लजी उनमें से बहुत सी पुस्तकों को विवेचन योग्य नहीं मानते क्योंकि उनकी दृष्टि में उनमें से कुछ पीछे की रचनाएं, कुछ नोटिस मात्र हैं तथा कुछ जैन धर्म के उपदेशों से सम्बन्ध रखती हैं। और नवीनतम शोधों से ज्ञात हुआ है कि शुक्लजी द्वारा वर्णित उक्त बारह ग्रन्थों में से कई पीछे की रचनाएँ हैं, कई के मूल रूप का ही निश्चय नहीं है और कई नोटिस मात्र हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि जैनधर्म-भावना से प्रेरित कई रचनाएँ

देने से उस काल-विशेष की प्रवृत्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इसी तथ्य को सम्मुख रख आचार्य शुक्ल ने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से ही हिन्दी साहित्य का आरम्भ माना है और उसमें अपभ्रंश के ग्रन्थों का पृथक् उल्लेख कर केवल देशभाषा के ग्रन्थों के आधार पर प्रमुख प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए इसका नाम वीरगाथाकाल रखा है।

कुछ विद्वान् हिन्दी साहित्य की परम्परा को खींचकर आठवीं शताब्दी तक ले जाते हैं। इसका आधार 'पुष्य' नामक एक कवि का उल्लेख है जो सम्वत् ७७० के लगभग साहित्य रच रहा था। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी आधार पर हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को सम्वत् ७५० से १२०० तक मानकर इसके दो खण्ड कर दिए हैं—सन्धि काल और चारण काल। राहुलजी ने भी इस काल का समय तो यही माना है परन्तु नाम 'सिद्ध सामन्त युग' रखा है। उनके मतानुसार आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाये जाते हैं—सिद्धों की वाणी और सामन्तों की स्तुति। डाक्टर रामकुमार वर्मा और राहुलजी के नामकरण में विशेष अन्तर नहीं है। डाक्टर वर्मा का सधि काल और चारण काल क्रमशः राहुलजी के सिद्ध काव्य और सामन्त काव्य का ही दूसरा नाम है। आचार्य शुक्ल इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—"आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृङ्गार, वीर सब प्रकार की रचनाएं दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राज्याश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृङ्गार आदि के फुटकर दोहे राज-सभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या कथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही परम्परा रासो के नाम से पाई जाती है। जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है।"

उपर्युक्त विवाद के मूल में कुछ विद्वानों की वह भावना कार्य कर रही है जिसके कारण वे हिन्दी-साहित्य की प्राचीनता को अधिकाधिक पीछे ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप कुछ इतिहासकार गुरु गोरखनाथ (९ वीं शताब्दी) को तथा कुछ पुष्य कवि (८ वीं शताब्दी) को हिन्दी का आदि कवि मानने का आग्रह कर रहे हैं। इसी प्रवृत्ति से सिद्ध-साहित्य को भी हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत मानकर उसका इतिहास चौथी शताब्दी तक भी ले जाने का प्रयास हो रहा है। अपभ्रंश के जैन साहित्य के प्रति भी यही आग्रह

है। परन्तु सिद्ध-साहित्य के समान अपभ्रंश का जैन-साहित्य भी धार्मिक साहित्य है। उसे भी हिन्दी साहित्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर आदिकाल के अन्तर्गत सिद्ध और नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य तथा चारण-साहित्य का उल्लेख किया जाता है तथा इस काल की भाषा को अपभ्रंश, अपभ्रंश का अन्तिम रूप, अपभ्रंश और पुरानी हिंदी का मिश्रित रूप तथा पुरानी हिन्दी आदि अनेक कोटि में रखा जाता है। वस्तुतः इस संपूर्ण साहित्य को एक ही काल में सम्मिलित करना न तो उचित ही है और न सम्भव। निश्चय ही अपभ्रंश और हिन्दी के बीच का कोई संक्रमण काल होना चाहिए और उस संक्रमण काल के पूर्व का साहित्य हिन्दी साहित्य के इतिहास के बाहर समझा जाना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने इसी कारण अपभ्रंश काल को आदिकाल से पृथक् मानकर उसका संक्षिप्त उल्लेख करते हुए केवल देशभाषा काव्य को ही प्रमुखता दी है। अपभ्रंश साहित्य से हिन्दी साहित्य प्रभावित हुआ है, इसी कारण मिश्रबन्धु, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य शुक्ल आदि सभी विद्वानों ने अपभ्रंश काव्य का उल्लेख किया है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहते हैं। "यदि साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से विचार किया जाय तो अपभ्रंश के प्रायः सभी काव्य-रूपों की परम्परा प्रायः हिन्दी में ही सुरक्षित है।" अस्तु,

काल के नामकरण के उपरान्त इस काल की प्राप्य साहित्यिक सामग्री का विश्लेषण सर्वप्रथम अपेक्षित है क्योंकि, तद्विषयक आचार्य शुक्ल की अनेक मान्यताओं और सामग्री का खण्डन हो चुका है। आचार्य शुक्ल ने, जैसा कि पहले बता आए हैं, कुल १२ ग्रन्थों के आधार पर ही इस काल का विवेचन किया है। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश की कुछ पुस्तकें ऐसी हैं जिनकी रचना संक्रमण काल में हुई थी और जिन्हें साहित्यिक इतिहास में विवेच्य माना जा सकता है। अब्दुर्रहमान का 'सन्देश रासक' ऐसी ही सुन्दर रचना है। राहुल जी स्वयंभू कवि की रामायण को 'हिन्दी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम काव्य' मानते हैं। मिश्रबन्धुओं ने कुछ जैन ग्रन्थों को भी इसी काल के अन्तर्गत माना है। परन्तु शुक्लजी उनमें से बहुत सी पुस्तकों को विवेचन योग्य नहीं मानते क्योंकि उनकी दृष्टि में उनमें से कुछ पीछे की रचनाएं, कुछ नोटिस मात्र हैं तथा कुछ जैन धर्म के उपदेशों से सम्बन्ध रखती हैं। और नवीनतम शोधों से ज्ञात हुआ है कि शुक्लजी द्वारा वर्णित उक्त बारह ग्रन्थों में से कई पीछे की रचनाएँ हैं, कई के मूल रूप का ही निश्चय नहीं है और कई नोटिस मात्र हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि जैनधर्म-भावना से प्रेरित कई रचनाएँ

इतनी सरस हैं कि वे हम्मीररासो और विजयपालरासो के समान इतिहास के लिए स्वीकार हो सकती हैं। द्विवेदीजी के मतानुसार धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश, यदि उनमें सरसता है तो, काव्य के लिए बाधक नहीं समझे जाने चाहिए। इसलिए स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदंत, और धनपाल जैसे जैन कवियों की कृतियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। आचार्य शुक्ल ने इन्हें धार्मिक मानकर इनकी अवहेलना की है। यदि धार्मिक दृष्टिकोण को हम काव्य के लिए बाधक समझ लें तो द्विवेदीजी के कथनानुसार हमें रामचरितमानस, पद्मावत सहित संपूर्ण भक्तिसाहित्य से भी हाथ धोना पड़ेगा।

आदिकाल में राज्याश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते समय उसमें धार्मिक पुट भी दिया है। चंद ने इसी कारण अपने ग्रन्थ में दशावतारचरित का वर्णन किया है। कीर्त्तिलता के कवि से भी इसका मोह नहीं छूट सका है। उस युग में जन-साहित्य की अपेक्षा धार्मिक साहित्य का संरक्षण अधिक सावधानी से किया गया था, इससे उसकी मात्रा अधिक है। प्रायः इन धर्मग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का विकास हुआ है। तत्कालीन काव्यरूपों और काव्यविषयों के अध्ययन के लिए इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। अतः आदि काल की सामग्री में इन पुस्तकों की गणना अवश्य होनी चाहिए।

अब शुक्लजी द्वारा विवेचित बारह रचनाओं की प्रामाणिकता की विवेचना कर लेना भी अत्यन्त आवश्यक हो उठा है क्योंकि इनमें से अनेक अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी हैं। दलपति विजय के 'खुमान रासो' में प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर उन्होंने अनुमान कर लिया था कि इसका वर्तमान रूप "विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा।" इधर अगरचंद नाहटा ने दलपति को परवर्ती कवि सिद्ध कर दिया है। मोतीलाल मेनारिया का कहना है कि 'हिन्दी के विद्वानों ने इसका (दलपति) मेवाड़ के राव खुम्माण का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इसका रचनाकाल सम्वत् १७३० और १७६० के मध्य में है।" इस प्रकार खुमानरासो अठारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ प्रमाणित होता है। नरपति नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' के विषय में भी इसी प्रकार का सन्देह प्रकट किया गया है। मेनारियाजी ने नाल्ह को १६ वीं शताब्दी का नरपति कवि माना है। शुक्लजी को भी यह ग्रन्थ अधिक ग्रहणीय नहीं प्रतीत हुआ था। शार्ङ्गधर के 'हम्मीर रासो' को भी उनकी कृति नहीं माना जाता। 'प्राकृत-पैंगलम्' के शुक्लजी को कई ऐसे पद मिले जिन्हें उन्होंने 'हम्मीर रासो' के पद मान लिया। क्यों और कैसे माना, इसका उन्होंने कोई कारण नहीं बताया। परन्तु राहुलजी ने उन्हीं पदों को

'जज्ज्वल' कवि प्रणीत माना है। कुछ पदों में स्पष्ट रूप से 'जज्जल भणइ' अर्थात् 'जज्जल कहता है' की भणिति है। द्विवेदीजी इस ग्रन्थ को नोटिस मात्र मानते हैं।

भट्ट केदार और मधुकर भट्ट कृत 'जयचन्द प्रकाश' और 'जय मयंक-जस-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं हैं। केवल उनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ा री ख्यात' में मिलता है। अतः ये दोनों भी नोटिस मात्र हैं। जगनिक का 'आल्हखण्ड' भी मूल रूप में अप्राप्य है। चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' भी अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हो रहा है इससे प्रमाणित होता है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा गया था उनमें से कुछ नोटिस मात्र हैं तथा कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या प्राचीन रचनाओं के विकृत रूप मात्र हैं। इन पुस्तकों को गलती से प्राचीन मान लिया गया है। मेंनारियाजी का मत है कि—"ये रासो ग्रन्थ जिनको वीर-गाथा नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समयविशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते—केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्म-जात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है और ये ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति करते हैं।"

समष्टि रूप से इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं: १—जैन संग्रहालयों में सुरक्षित, जैन धर्म से प्रभावित साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ। इनमें हेमचन्द्र का व्याकरण, मेरुतुङ्ग का प्रबन्धचिन्तामणि, राजशेखर के प्रबन्ध-कोश में संगृहीत दोहे, अब्दुर्रहमान का संदेशरासक और लक्ष्मीधर के प्राकृतपैंगलम् में उद्धृत लोकभाषा के छन्द आदि गिने जाते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इन्हें प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं। २—लोक-परम्परा में बहती हुई आने वाली और मूलरूप से अत्यन्त भिन्न बनी हुई लोकभाषा की रचनाएँ। इनमें पृथ्वीराज रासो और परमाल रासो आदि रचनाएँ हैं जिनके मूल रूप अत्यन्त परिवर्तित और विकृत हो गए हैं। इनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। लोकभाषा में लिखी गई वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबन्ध काव्य के रूप में और वीर गीतों के रूप में, जिनके उदाहरण क्रमशः पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो हैं।

हमारे आलोच्य काल की पुस्तकें तीन प्रकार से सुरक्षित थीं—(१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रह कर, (२) सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदायों का आश्रय पाकर और मठों और विहारों आदि के पुस्तकालयों में संगृहीत होकर, (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। देश

इतनी सरस हैं कि वे हम्मीररासो और विजयपालरासो के समान इतिहास के लिए स्वीकार हो सकती हैं। द्विवेदीजी के मतानुसार धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश, यदि उनमें सरसता है तो, काव्य के लिए बाधक नहीं समझे जाने चाहिए। इसलिए स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदंत, और धनपाल जैसे जैन कवियों की कृतियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। आचार्य शुक्ल ने इन्हें धार्मिक मानकर इनकी अवहेलना की है। यदि धार्मिक दृष्टिकोण को हम काव्य के लिए बाधक समझ लें तो द्विवेदीजी के कथनानुसार हमें रामचरितमानस, पद्मावत सहित संपूर्ण भक्तिसाहित्य से भी हाथ धोना पड़ेगा।

आदिकाल में राज्याश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते समय उसमें धार्मिक पुट भी दिया है। चंद ने इसी कारण अपने ग्रन्थ में दशावतारचरित का वर्णन किया है। कीर्त्तिलता के कवि से भी इसका मोह नहीं छूट सका है। उस युग में जन-साहित्य की अपेक्षा धार्मिक साहित्य का संरक्षण अधिक सावधानी से किया गया था, इससे उसकी मात्रा अधिक है। प्रायः इन धर्मग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का विकास हुआ है। तत्कालीन काव्यरूपों और काव्यविषयों के अध्ययन के लिए इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। अतः आदि काल की सामग्री में इन पुस्तकों की गणना अवश्य होनी चाहिए।

अब शुक्लजी द्वारा विवेचित बारह रचनाओं की प्रामाणिकता की विवेचना कर लेना भी अत्यन्त आवश्यक हो उठा है क्योंकि इनमें से अनेक अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी हैं। दलपति विजय के 'खुमान रासो' में प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर उन्होंने अनुमान कर लिया था कि इसका वर्तमान रूप "विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा।" इधर अगरचंद नाहटा ने दलपति को परवर्ती कवि सिद्ध कर दिया है। मोतीलाल मेनारिया का कहना है कि 'हिन्दी के विद्वानों ने इसका (दलपति) मेवाड़ के राव खुम्माण का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इसका रचनाकाल सम्वत् १७३० और १७६० के मध्य में है।" इस प्रकार खुमानरासो अठारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ प्रमाणित होता है। नरपति नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' के विषय में भी इसी प्रकार का सन्देह प्रकट किया गया है। मेनारियाजी ने नाल्ह को १६ वीं शताब्दी का नरपति कवि माना है। शुक्लजी को भी यह ग्रन्थ अधिक ग्रहणीय नहीं प्रतीत हुआ था। शार्ङ्गधर के 'हम्मीर रासो' को भी उनकी कृति नहीं माना जाता। 'प्राकृत-पैंगलम्' के शुक्लजी को कई ऐसे पद मिले जिन्हें उन्होंने 'हम्मीर रासो' के पद मान लिया। क्यों और कैसे माना, इसका उन्होंने कोई कारण नहीं बताया। परन्तु राहुलजी ने उन्हीं पदों को

'जज्ज्वल' कवि प्रणीत माना है। कुछ पदों में स्पष्ट रूप से 'जज्जल भणइ' अर्थात् 'जज्जल कहता है' की भणिति है। द्विवेदीजी इस ग्रन्थ को नोटिस मात्र मानते हैं।

भट्ट केदार और मधुकर भट्ट कृत 'जयचन्द प्रकाश' और 'जय मयंक-जस-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं हैं। केवल उनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ा री ख्यात' में मिलता है। अतः ये दोनों भी नोटिस मात्र हैं। जगनिक का 'आल्हखण्ड' भी मूल रूप में अप्राप्य है। चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' भी अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हो रहा है इससे प्रमाणित होता है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा गया था उनमें से कुछ नोटिस मात्र हैं तथा कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या प्राचीन रचनाओं के विकृत रूप मात्र हैं। इन पुस्तकों को गलती से प्राचीन मान लिया गया है। मेंनारियाजी का मत है कि—"ये रासो ग्रन्थ जिनको वीर-गाथा नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समयविशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते—केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्म-जात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है और ये ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति करते हैं।"

समष्टि रूप से इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं: १—जैन संग्रहालयों में सुरक्षित, जैन धर्म से प्रभावित साहित्यिक अपभ्रंश की रच-नाएँ। इनमें हेमचन्द्र का व्याकरण, मेरुतुङ्ग का प्रबन्धचिन्तामणि, राजशेखर के प्रबन्ध-कोश में संगृहीत दोहे, अब्दुर्रहमान का संदेशरासक और लक्ष्मीधर के प्राकृतपैंगलम् में उद्‌धृत लोकभाषा के छन्द आदि गिने जाते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इन्हें प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं। २—लोक-परम्परा में बहती हुई आने वाली और मूलरूप से अत्यन्त भिन्न बनी हुई लोकभाषा की रचनाएँ। इनमें पृथ्वीराज रासो और परमाल रासो आदि रचनाएँ हैं जिनके मूल रूप अत्यन्त परिवर्तित और विकृत हो गए हैं। इनकी प्रामाणि-कता सन्दिग्ध है। लोकभाषा में लिखी गई वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबन्ध काव्य के रूप में और वीर गीतों के रूप में, जिनके उदाहरण क्रमशः पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो हैं।

हमारे आलोच्य काल की पुस्तकें तीन प्रकार से सुरक्षित थीं—(१) राज्या-श्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रह कर, (२) सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदायों का आश्रय पाकर और मठों और विहारों आदि के पुस्त-कालयों में संगृहीत होकर, (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। देश

भाषा की कुछ दूसरी पुस्तकें साम्प्रदायिक भांडारों में सुरक्षित रहीं जो धार्मिक नहीं थीं। कुछ पुस्तकें बौद्ध धर्म का आश्रय पाकर सुरक्षित रह गईं। इसके अतिरिक्त सिद्धों और योगियों के साहित्य का परिचय परवर्ती काव्यों में केवल उल्लेख के रूप में प्राप्त होता है। इसके दो रूप हैं : १-सूफी कवियों की कथाओं में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकार के रूप में, २–सगुण और निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में और खंडनों और प्रत्याख्यानों के रूप में। इसी कारण आदिकालीन साहित्य विशेष सुरक्षित दशा में उपलब्ध नहीं है। "जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषाप्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ ग्रन्थों की भाषा इतनी परिवर्तित हो गई है कि उनके विषय में कुछ भी कहना अनुचित मालूम पड़ता है।" (हजारी प्रसाद द्विवेदी)

यहाँ तक हम आदि काल के नामकरण, सीमा-परिधि एवं ग्रन्थों का विवेचन कर चुके। अब तत्कालीन परिस्थितियों एवं विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन अपेक्षित है। तत्कालीन परिस्थितियाँ उस काल की रचनाओं की संदिग्धता के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी हैं। मूल मध्य देश में चौदहवीं शताब्दी से पूर्व की एक भी प्रामाणिक रचना प्राप्त नहीं हो सकी है। राजपूताने के 'ढोला मारू दोहा' जैसे प्रसिद्ध काव्यों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। मूल मध्य देश में प्रामाणिक रचनाओं के अभाव का क्या कारण रहा है, इस पर विचार करना है।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल भारतवर्ष के इतिहास में वह काल था जब उत्तर भारत पर निरन्तर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। इनका वेग पश्चिमी भारत को ही विशेष रूप से सहना पड़ा जो उस समय भारतीय सभ्यता का केन्द्र था। दिल्ली, कन्नौज, अन्हलवाड़ और अजमेर जैसी प्रसिद्ध राजधानियाँ इसी क्षेत्र में अवस्थित थीं। यहाँ की भाषा ही शिष्ट भाषा समझी जाती थी। अतः वही काव्य की भाषा थी। सम्राट् हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त भारत की, विशेषकर उत्तर भारत की, केन्द्रीय राजशक्ति छिन्नभिन्न हो चुकी थी। खण्ड राज्यों में परस्पर युद्ध होते रहते थे। इधर पारस्परिक युद्धों और उधर मुसलमानों के आक्रमणों ने देश के इस भाग में अराजक स्थिति उत्पन्न कर दी थी। ऐसे वातावरण में लोकभाषा में प्रणीत हिन्दी साहित्य का जन्म हुआ। धार्मिक समुदायों को छोड़ कर जनसाधारण एवं राजाओं का ध्यान इसी आन्तरिक एवं बाह्य संघर्ष में डूब गया। इस युद्ध के वातावरण में कवियों का ध्यान अन्य प्रकार की कविताओं से हटकर वीरगाथाओं की ओर गया। इस घोर अशांति के युग में वीर रस पूर्ण रचनाओं के होने

की ही सम्भावना अधिक थी। इसलिए इस काल में साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति असम्भव थी। इसके अतिरिक्त रजवाड़ों के शक्तिहीन एवं नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण साहित्य का संरक्षण नहीं हो सका। दूसरे मुसलमान आक्रांताओं ने अनेक प्रसिद्ध पुस्तकालयों को जलाकर लोक-साहित्य का जो अहित किया उससे भी हमें तत्कालीन बहुमूल्य साहित्य से हाथ धोना पड़ा।

राजनीतिक संघर्ष के इस काल में सामाजिक परिस्थिति भी अत्यंत शोचनीय हो गई थी। गृहकलह ने थोथे शौर्य की भावना उत्पन्न कर पारस्परिक अकारण युद्धों और स्वयम्वरों में उसका प्रदर्शन कराया। "साधारण जनता तो तत्कालीन नृपतियों को आत्मार्पण करती गई और अपरिणामदर्शी नृपतियों ने घर में ही बैर तथा फूट के बीज बोए जिनका कटु फल देश तथा जाति को चिरकाल तक भोगना पड़ा।" (श्यामसुन्दरदास)। ऐसे हलचल के युग में लोकभाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। वह लोकमुख में ही युगानुरूप अपने स्वरूप में परिवर्तन करता हुआ जीवित रहा। बौद्ध और जैन रचनाएँ तो धर्म का सहारा पाकर सुरक्षित रह गईं, परन्तु लोक भाषा की रचनाएं बनती गईं और परवर्ती काल में परिवर्द्धित और विस्तृत होती गईं। उनका मूल रूप लुप्त हो गया।

उपर्युक्त परिस्थितियों से उद्भूत एवं विकसित इस आदिकालीन साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं जिनमें प्रधान रूप से चार प्रमुख हैं: १—प्रथम विशेषता आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा तथा राष्ट्रीयता का अभाव है। इस काल के कवि की वाणी अपने-अपने आश्रयदाता के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में कभी कुंठित नहीं हुई। देश की स्थिति और भविष्य के प्रति कवि पूर्णरूप से अंधा था। इसलिए उस काल में व्यापक राष्ट्रीयता का अभाव रहा। २—दूसरी विशेषता युद्धों के सजीव एवं सुन्दर वर्णनों की है। इनका युद्धवर्णन अत्यन्त मार्मिक और सजीव है। कर्कश पदावली में युद्ध के वीररस पूर्ण भाव से ओत-प्रोत हिन्दी के आदियुग की यह कविता हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। उनकी वीर वचनावली में शस्त्रों की झनकार स्पष्ट सुन पड़ती है। हिन्दी के परवर्ती साहित्य में फिर ऐसी कविता के दर्शन नहीं हुए। ३—तीसरी विशेषता वीर रस के साथ शृङ्गार का सम्मिश्रण है। तत्कालीन युद्धों के मूल में कवियों ने सदैव किसी रमणी की कल्पना कर अपने आश्रयदाता के शौर्य का वर्णन किया है। अतः युद्धवर्णन के साथ-साथ उनका रूपवर्णन भी आवश्यक था। इसलिए शृङ्गार और वीर रस का मिश्रण हुआ। इसके अतिरिक्त शान्ति के समय में वीरों के विलास प्रदर्शन में भी शृङ्गार का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। ४—चौथी विशेषता ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना का बाहुल्य होना

है। अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने में इन कवियों ने इतिहास की अधिकांशतः अवहेलना की है। उन्होंने उनका शौर्य प्रदर्शित करने के लिए ऐसे ऐतिहासिक पुरुषों से उनका युद्ध कराया है जो उनके समकालीन नहीं थे। इससे अनेक ऐतिहासिक विवरणों का लोप हो गया।

भाषा की दृष्टि से आदिकाल में चार भाषाओं की रचनाएँ मिलती हैं— अपभ्रंश, डिंगल, मैथिली और खड़ी बोली। अपभ्रंश का सबसे प्राचीन रूप तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की रचनाओं के रूप में प्राप्त होता है। जैनाचार्य मेरुतुंग, सोमप्रभु सूरि आदि के भी कुछ ग्रन्थ अपभ्रंश में लिखे हुए मिलते हैं जो बौद्ध ग्रन्थों से उच्चकोटि के हैं। नाथपंथियों ने अपने मत के प्रचार के लिये राजपूताना तथा पंजाब की प्रचलित भाषा में ग्रन्थ लिखे। इनकी भाषा में अपभ्रंश, राजस्थानी तथा खड़ी बोली का मिश्रण है। विद्यापति ने भी अपभ्रंश में दो ग्रन्थों का निर्माण किया। यह अपभ्रंश उस समय के कवियों की भाषा थी। इन कवियों ने काव्य-परम्परानुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिए ही हैं, साथ ही विभक्तियाँ, कारकचिह्न और क्रियाओं के रूप भी सौ वर्ष पुराने रखे हैं। सिद्धों के ग्रन्थों में देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश का रूप मिलता है। उसमें कुछ पूर्वी प्रयोग भी हैं। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य भाषा का ढाँचा शौरसेनी प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली का था। भाषा की दृष्टि से जैन साहित्य में नागर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है। इसमें चरित्र रासक, चतुष्पदी, ढाल, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग अधिक मिलता है।

दूसरी महत्वपूर्ण भाषा राजस्थानी अथवा डिंगल है। इसके ग्रन्थों का उल्लेख, जो प्रायः सभी 'रासो' हैं, पहले हो चुका है। भाषा की दृष्टि से डिंगल साहित्य बड़ा अव्यवस्थित है। उसका शुद्ध रूप नहीं मिलता। उसमें पिंगल का मिश्रण है। अपभ्रंश के प्रभाव के कारण उसमें संयुक्ताक्षरों और अनुस्वारों की भरमार है। दस प्रतिशत अरबी फारसी के प्रयुक्त शब्दों पर डिंगल की विभक्तियों का प्रभाव है। संयुक्ताक्षरों और अनुस्वारों की प्रचुरता भाषा की कृत्रिमता की द्योतक है।

तीसरी भाषा मैथिली है। मैथिली बिहार की बोली होने पर भी हिन्दी की विभाषा मानी जाती हैं। इसी कारण इस भाषा में लिखी गई विद्यापति की पदावली हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि मान ली गई है। मैथिली और अवधी पड़ौसी बोलियाँ हैं। उनके प्रारम्भिक स्वरूप में कोई भेद न था। चौथी भाषा खड़ी बोली, अमीर खुसरो की रचनाओं में मिलती है। तत्कालीन जनभाषा के वास्तविक रूप का दर्शन खुसरो की पहेलियों और मुकरियों

में मिलता है। यह दिल्ली और मेरठ की भाषा थी। इसमें खड़ीबोली के पूर्व रूप के दर्शन होते हैं। भाषा में अरबी में फारसी के शब्दों का भी प्रयोग है परन्तु क्रियायें हिन्दी की ही हैं।

छन्दों के क्षेत्र में जिस प्रकार 'श्लोक' संस्कृत का और 'गाथा' प्राकृत का प्रतीक था उसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रंश का प्रतीक है। तुक का मिलान अपभ्रंश की विशेषता है। दोहे में प्रथम बार तुक मिलाने का प्रयत्न किया गया। विशेषतः मुक्तककाव्य में इसका विशेष प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश के काव्य अनेक सन्धियों (सर्गों) में विभक्त हैं। एक सन्धि में अनेक कड़क होते हैं। पद्धटिका, अरिल्ल आदि कुछ छन्द लिखकर अन्त में घत्ता या अन्य किसी ऐसे छन्द द्वारा इसका विच्छेद किया जाता है। चौपाई और दोहों द्वारा कड़कों की रचना सिद्ध साहित्य की देन है। आरम्भ में चौपाई कथानक छन्द था। अनेक दोहों को लिखकर चौपाई द्वारा कथा की योजना ढोला-मारू के दोहों में मिलती है। धीरे-धीरे अपभ्रंश में अनेक बड़े-बड़े छन्दों का प्रयोग होने लगा। चन्द बरदाई छप्पय के प्रयोग में सिद्धहस्त है। दूहा, पद्धरी, तोमर, नाराच आदि का भी उसने सुन्दर प्रयोग किया है। उसने 'साटक'' या शार्दूलविक्रीडित और शाहा (गाथा) छन्दों में भी कुछ रचना की है।

रसों में वीररस का प्राधान्य है। वीर के साथ शृङ्गार के भी दर्शन होते हैं। शृङ्गार के दोनों पक्ष संयोग शृङ्गार-और वियोग-शृङ्गार अपनाए गए हैं। युद्ध वर्णन में अद्भुत, रौद्र और वीभत्स रसों का चित्रण है। नारियों के विलाप में करुण रस है। इस प्रकार शांत और हास्य रसों को छोड़ कर शेष सभी रसों का परिपाक इस काव्य में मिलता है।

इस काल में प्रधानता पद्य की ही थी। गद्य के दर्शन केवल गोरखनाथ की कुछ पुस्तकों, तत्कालीन राजाओं के पत्र, ताम्रपत्र, शिलालेख आदि में होते हैं।

गद्य का यह रूप अत्यन्त अव्यवस्थित है। आदिकाल भाषा का संक्रांति काल था। अपभ्रंश से विकसित हिन्दी अपना रूप सुधार रही थी। व्याकरण और पिंगल शास्त्र का भी बंधन नहीं था। भाषा में मनमानी चल रही थी। छन्दों में एक प्रकार का बंधनहीन मुक्त प्रवाह मिलता है। न तो उनमें अन्त्यानुप्रास का ही प्रतिबंध है और न संस्कृत के वर्णवृत्तों की सी कठोरता।

इस काल की अधिकांश सामग्री संदिग्ध है। ग्रन्थों की प्रतियाँ अप्राप्य हैं। इस काल के लोक भाषा के ग्रन्थ या तो मौखिक रूप में मिलते हैं या केवल उनके निर्देश मात्र ही प्राप्त हुए हैं। राजस्थान की 'ख्यातों' में उनके विवरण से ही हम परिचित हो सकते हैं। प्राप्य ग्रन्थ भी मूल रूप में नहीं मिलते। उनमें प्रक्षिप्त अंशों का बाहुल्य हो गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के

शब्दों में—"इन ग्रन्थों का महत्त्व इतना ही है कि इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण और भविष्य की रचनाओं के लिए मार्ग-निर्देश किया। यदि ये साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं तो भाषाविकास की दृष्टि से तो अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं।" अभी इस काल के साहित्य की काफी छान-बीन की जा रही है, परन्तु परिणाम सन्तोषजनक नहीं रहा है। इसका कारण यह है कि पुरानी हिंदी का शोध-कार्य प्रमुख रूप से उत्तर प्रदेश में हुआ है परन्तु उसका साहित्य अधिकतर राजपूताने का मिलता है। इसलिये इस शोध-कार्य का केन्द्र राजपूताना होना चाहिए। राजपूताना के राजकीय पुस्तकालयों में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भरे पड़े हैं जिनसे इस काल पर काफी प्रकाश पड़ सकता है।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में इस विषय का अनुसन्धान कई रूपों में हुआ है। डाक्टर रामसिंह तोमर का 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन तथा उसका हिंदी पर प्रभाव' शीर्षक प्रबन्ध प्रथम प्रयास है। दिल्ली विश्व-विद्यालय से डाक्टर हरिवंश का 'अपभ्रंश साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध इस दिशा में दूसरा कदम है। 'सिद्ध साहित्य' पर डाक्टर धर्मवीर भारती का प्रबन्ध भी महत्वपूर्ण है। लखनऊ विश्वविद्यालय से डाक्टर उमेशचन्द्र त्रिपाठी ने 'वीर गाथा काल में ऐतिहासिक तथ्य' नामक प्रबन्ध लिखकर संदिग्ध ग्रन्थों पर अच्छा प्रकाश डाला है। वहीं से 'पृथ्वीरास रासो' पर भी अनुसन्धान कार्य हुआ है। गोरखनाथ पर डाक्टर रांगेय राघव ने प्रबन्ध लिखकर भारतीय मध्य युग के सन्धिकाल को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अभी तक विद्वानों का इस कालविषयक शोधकार्य जारी है।

———

२—भक्तिकाल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भक्तिकाल का समय संवत् १३७५ से १७०० तक मानते हैं। साहित्य के किसी भी काल के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उस काल में निर्मित साहित्य की पूर्व परम्पराओं, तत्कालीन परिस्थितियों, प्रचलित प्रमुख धाराओं और उस काल के साहित्य का परवर्ती काल के साहित्य पर प्रभाव आदि बातों का विवेचन किया जाय। अनेक विद्वान् हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को उसका स्वर्ण-युग मानते हैं। इसलिए उसका महत्त्व निर्विवाद और अक्षुण्ण है। इस काल के साहित्य में भक्तों (निर्गुणोपासक और सगुणोपासक दोनों) रहस्यवादियों, यथार्थवादियों, आदर्शवादियों, प्रगतिवादियों आदि सभी विचारधारा के समर्थकों को अपने-अपने मतलब की सामग्री यथेष्ट रूप में मिल जाती है। इसी कारण सभी इस युग की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार करते हैं। यही इस युग का सबसे बड़ा आकर्षण है। अतः इसके विवेचन के लिए सर्वप्रथम तत्कालीन परिस्थितियों एवं पूर्व परम्पराओं का विवेचन आवश्यक है।

तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप ही किसी काल के साहित्य का निर्माण होता है। भक्तिकाल के प्रारम्भ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं जिनसे प्रभावित होकर काव्य का क्षेत्र बदल गया। मुस्लिम प्रभुत्व के स्थापित हो जाने के उपरान्त वीर गाथा कालीन भावना लुप्त हो गई और विधर्मियों के अत्याचार बढ़ने लगे। कवियों का राज्याश्रय समाप्त हो गया। काव्य को राजदरबार से हट कर विरक्त साधुओं की कुटिया में आश्रय प्राप्त हुआ और आश्रयदाताओं के गुणगान के स्थान पर देश का समस्त वातावरण भगवान के कीर्त्तिगान से ध्वनित हो उठा। भारत की आध्यात्मिक कविता की धारा, जो कुछ समय से दबी हुई थी, शांत वातावरण पाकर पुनः उभर आई। भक्ति की इस प्रबल धारा से आश्चर्य-चकित हो ग्रियर्सन ने लिखा था कि— "हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है। इस युग में 'धर्म' ज्ञान का ही नहीं, बल्कि भावावेश का

विषय हो गया था। बिजली की चमक के समान समस्त प्राचीन धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई।" यूरोपीय विद्वान् प्रत्येक नई और अच्छी बात का सम्बन्ध सदैव से यूरोप से जोड़ते चले आए हैं। उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए ग्रियर्सन ने भी भक्ति की इस नवीन (?) धारा को ईसाइयत की देन माना था। इस धारणा के मूल में उनका भारतीय परम्परा और संस्कृति का अपूर्ण अध्ययन, पक्षपात और भ्रान्त धारणा ही कार्य कर रही थी। इस कथन का अब सर्वथा खण्डन कर भारतीय विद्वानों ने भक्ति का सम्बन्ध एक ऐसी परम्परा से सिद्ध कर दिया है जो शताब्दियों से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी।

भक्तिकाल के उदय होने का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि जब मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो हिन्दू निराश होकर उस दीन-रक्षक भगवान से प्रार्थना करने लगे। यह तर्क भी निराधार है;क्योंकि जब उत्तर भारत में धार्मिक अत्याचार हो रहे थे उस समय अपेक्षाकृत निरापद एवं शांत दक्षिण भारत में भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित हो रही थी। उत्तर भारत में उसका प्रभाव अपेक्षाकृत अत्यन्त क्षीण था। यह भक्ति की धारा 'अचानक बिजली के समान' उत्पन्न नहीं हुई थी। इसके लिए सहस्रों वर्षों से मेघखण्ड एकत्रित हो रहे थे। दक्षिण में वैष्णव भक्ति पनप रही थी। आलावार भक्त इसके पुरस्कर्त्ता कहे जाते हैं। आगे चलकर इन्हीं लोगों की परम्परा में श्री रामानुजाचार्य हुए थे जिन्हें भक्तिभावना को लोकप्रिय बनाने का श्रेय दिया जाता है। उधर उत्तर भारत में भी पौराणिक शास्त्र का आधार लेकर भक्ति-भावना का प्रसार किया जा रहा था। यहाँ की जनता विष्णु के विविध अवतरों में विश्वास करती थी। साधारण जनता स्मार्त मतावलम्बी थी। नाथ-पंथियों का शैव मत भी पर्याप्त प्रभावशाली था। परन्तु इस नवीन भक्तिधारा एवं पूर्ववर्ती भक्तिधारा में अन्तर था। इस युग में अवतार को मानने वाली दृष्टि में भी परिवर्तन हो चुका था। पूर्व विश्वास के अनुसार भगवान् साधुओं के परित्राण और दुष्टों के दमन के लिए अवतार धारण करते हैं परन्तु भक्ति के इस युग तक आते-आते यह विश्वास किया जाने लगा कि—"भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान् के चरित का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं। भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय एकांतिक भक्ति ही है। कैवल्य या अपुनर्भव को भी भक्त उसके सामने तुच्छ

समझता है । मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी एकांतिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है ।"

प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० रांगेय राघव भक्ति की उक्त परम्परा का संक्षेप में निरूपण करते हुए बताते हैं कि न तो भक्ति का उद्भव राजनीतिक अत्याचारों की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था और न किसी विदेशी प्रभाव के कारण । हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में पहले से यह धारा चली आ रही थी । आपके शब्दों में—"भक्ति-आन्दोलन के प्रतिपक्षी और पक्षी इस्लाम और हिन्दू उस समय नहीं थे, उस समय थे निम्न जातियाँ और ब्राह्मण तथा उच्च जातियाँ। दक्षिण के अडयार और आलावारों से प्रारम्भ हुआ भक्ति का प्रवाह, पाशुपतों में सम्बल पाता रहा, फिर भागवत सम्प्रदाय बनकर वैष्णवों में पल्लवित हुआ और उसका शैव समानान्तर लिंगायतों में प्रकट हुआ । पूर्व में सहजयान भक्ति के रूप में बदल गया । समस्त भक्ति-सम्प्रदाय उच्च वर्गों के अधिकारों के विरुद्ध था ।"

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि भक्ति की यह भावना न तो ईसाइयत की देन थी और न राजनीतिक एवं धार्मिक अत्याचार का ही परिणाम था । इसका विकास स्वाभाविक था। परन्तु वीरगाथा काल या आदि-काल में इस विकास की धारा अत्यन्त क्षीण, अस्पष्ट और लुप्तप्राय रही । साहित्य के साथ उसका कोई प्रत्यक्ष लगाव नहीं था । भक्तिकाल में आकर यह इतने प्रबल वेग से क्यों प्रवाहित हो उठी ? इसका उत्तर तत्कालीन परि-स्थितियों के अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है । भक्ति के इस विकास में विभिन्न परिस्थितियों का प्रधान भाग रहा है ।

सामाजिक क्षेत्र में दो संस्कृतियों एवं विचारधाराओं का परस्पर संघर्ष हो रहा था । हिन्दू-संस्कृति अपनी पूर्णता और प्राचीन परम्परा का दम्भ लिए अपने अस्तित्व की रक्षा करने का प्रयत्न कर रही थी और नवीन धार्मिक उन्माद से ओतप्रोत मुस्लिम-संस्कृति उस पर हावी होना चाह रही थी । इससे हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर घृणाभाव बढ़ रहा था । रक्षा की भावना ने हिंदुओं के सामाजिक बन्धन दृढ़ कर दिये । इसलिए इस सामाजिक संकीर्णता के आवरण में धार्मिकता गौण हो गई । प्रतिभाशाली कवियों को वह संकी-र्णता अखरी । उन्होंने शुद्ध आध्यात्मिकता के बल पर, जिसमें शास्त्रों का कोई बन्धन स्वीकार नहीं था, इस संकीर्णता को दूर करना चाहा । इसी के लिए कबीर ने एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का पौरोहित्य किया । इस चेतना का आदि स्रोत सर्वथा नवीन नहीं था । बौद्धधर्म के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक अत्याचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म

विषय हो गया था। बिजली की चमक के समान समस्त प्राचीन धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई।" यूरोपीय विद्वान् प्रत्येक नई और अच्छी बात का सम्बन्ध सदैव से यूरोप से जोड़ते चले आए हैं। उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए ग्रियर्सन ने भी भक्ति की इस नवीन (?) धारा को ईसा-इयत की देन माना था। इस धारणा के मूल में उनका भारतीय परम्परा और संस्कृति का अपूर्ण अध्ययन, पक्षपात और भ्रान्त धारणा ही कार्य कर रही थी। इस कथन का अब सर्वथा खण्डन कर भारतीय विद्वानों ने भक्ति का सम्बन्ध एक ऐसी परम्परा से सिद्ध कर दिया है जो शताब्दियों से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी।

भक्तिकाल के उदय होने का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि जब मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो हिन्दू निराश होकर उस दीन-रक्षक भगवान से प्रार्थना करने लगे। यह तर्क भी निराधार है;क्योंकि जब उत्तर भारत में धार्मिक अत्याचार हो रहे थे उस समय अपेक्षाकृत निरापद एवं शांत दक्षिण भारत में भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित हो रही थी। उत्तर भारत में उसका प्रभाव अपेक्षाकृत अत्यन्त क्षीण था। यह भक्ति की धारा 'अचानक बिजली के समान' उत्पन्न नहीं हुई थी। इसके लिए सहस्रों वर्षों से मेघखण्ड एकत्रित हो रहे थे। दक्षिण में वैष्णव भक्ति पनप रही थी। आलावार भक्त इसके पुरस्कर्त्ता कहे जाते हैं। आगे चलकर इन्हीं लोगों की परम्परा में श्री रामानुजाचार्य हुए थे जिन्हें भक्तिभावना को लोकप्रिय बनाने का श्रेय दिया जाता है। उधर उत्तर भारत में भी पौराणिक शास्त्र का आधार लेकर भक्ति-भावना का प्रसार किया जा रहा था। यहाँ की जनता विष्णु के विविध अव-तरों में विश्वास करती थी। साधारण जनता स्मार्त मतावलम्बी थी। नाथ-पंथियों का शैव मत भी पर्याप्त प्रभावशाली था। परन्तु इस नवीन भक्तिधारा एवं पूर्ववर्ती भक्तिधारा में अन्तर था। इस युग में अवतार को मानने वाली दृष्टि में भी परिवर्तन हो चुका था। पूर्व विश्वास के अनुसार भगवान् साधुओं के परित्राण और दुष्टों के दमन के लिए अवतार धारण करते हैं परन्तु भक्ति के इस युग तक आते-आते यह विश्वास किया जाने लगा कि—"भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान् के चरित का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं। भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय एकांतिक भक्ति ही है। कैवल्य या अपुनर्भव को भी भक्त उसके सामने तुच्छ

रामभक्ता है । मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी एकांतिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है ।''

प्रसिद्ध विद्वान डॉ० रांगेय राघव भक्ति की उक्त परम्परा का संक्षेप में निरूपण करते हुए बताते हैं कि न तो भक्ति का उद्भव राजनीतिक अत्याचारों की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था और न किसी विदेशी प्रभाव के कारण । हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में पहले से यह धारा चली आ रही थी । आपके शब्दों में—''भक्ति-आन्दोलन के प्रतिपक्षी और पक्षी इस्लाम और हिन्दू उस समय नहीं थे, उस समय थे निम्न जातियाँ और ब्राह्मण तथा उच्च जातियाँ । दक्षिण के अडयार और आलावारों से प्रारम्भ हुआ भक्ति का प्रवाह, पाशुपतों में सम्बल पाता रहा, फिर भागवत सम्प्रदाय बनकर वैष्णवों में पल्लवित हुआ और उसका शैव समानान्तर लिंगायतों में प्रकट हुआ । पूर्व में सहजयान भक्ति के रूप में बदल गया । समस्त भक्ति-सम्प्रदाय उच्च वर्गों के अधिकारों के विरुद्ध था ।''

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि भक्ति की यह भावना न तो ईसाइयत की देन थी और न राजनीतिक एवं धार्मिक अत्याचार का ही परिणाम था । इसका विकास स्वाभाविक था। परन्तु वीरगाथा काल या आदि-काल में इस विकास की धारा अत्यन्त क्षीण, अस्पष्ट और लुप्तप्राय रही । साहित्य के साथ उसका कोई प्रत्यक्ष लगाव नहीं था । भक्तिकाल में आकर यह इतने प्रबल वेग से क्यों प्रवाहित हो उठी ? इसका उत्तर तत्कालीन परि-स्थितियों के अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है । भक्ति के इस विकास में विभिन्न परिस्थितियों का प्रधान भाग रहा है ।

सामाजिक क्षेत्र में दो संस्कृतियों एवं विचारधाराओं का परस्पर संघर्ष हो रहा था । हिन्दू-संस्कृति अपनी पूर्णता और प्राचीन परम्परा का दम्भ लिए अपने अस्तित्व की रक्षा करने का प्रयत्न कर रही थी और नवीन धार्मिक उन्माद से ओतप्रोत मुस्लिम-संस्कृति उस पर हावी होना चाह रही थी । इससे हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर घृणाभाव बढ़ रहा था । रक्षा की भावना ने हिंदुओं के सामाजिक बन्धन दृढ़ कर दिये । इसलिए इस सामाजिक संकीर्णता के आवरण में धार्मिकता गौण हो गई । प्रतिभाशाली कवियों को वह संकी-र्णता अखरी । उन्होंने शुद्ध आध्यात्मिकता के बल पर, जिसमें शास्त्रों का कोई बन्धन स्वीकार नहीं था, इस संकीर्णता को दूर करना चाहा । इसी के लिए कबीर ने एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का पौरोहित्य किया । इस चेतना का आदि स्रोत सर्वथा नवीन नहीं था । बौद्धधर्म के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक अत्याचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म

हो चुका था । रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ
उदार होती हुई यह भावना जन-जीवन-प्रवाह के साथ बहती चल
कबीर ने इस भावना में आत्मविश्वास की दृढ़ता फूँकी, उसे सं
मुक्त किया, हीनता की भावना को दूर कर समता की दृ
प्रकार विशुद्ध मानवता के आधार पर एक नवीन संस्कृति का
सन्तों के इस प्रयत्न में सूफियों ने भी पूर्ण योग दिया । उन दोनों
हिन्दू मुस्लिम संस्कृति एवं धार्मिक भावना में समन्वय लाने का
इनके इस नवीन एवं सराहनीय प्रयास के कारण हिन्दू-मुस्लिम
के समन्वय से निर्गुण उपासना की एक ऐसी प्रणाली उत्पन्न
अनेक प्राचीन एवं नवीन धार्मिक मत-मतांतरों, वादों और विच
प्रभाव था । हिन्दी साहित्य के इस जागरण-काल के कबीर अग्र

धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू धर्म एवं संस्कृति पर निरन्तर आक्रम
मूर्तिपूजकों और मूर्तिभंजकों के संघर्ष में मूर्तिभंजक विजयी हो
निराश होकर निराकार की उपासना में लगे परन्तु इस उपासन
तन्मयता न मिल सकी और न रक्षा ही हुई । अन्त में रामानन्द
राम की प्रतिष्ठा की, जिसके दो रूप हुए—कबीर के निर
तुलसी के साकार राम, परन्तु भक्ति के विकसित रूप में थोड़ा स
हुआ था । वैसे इस क्षेत्र में दक्षिण की भक्ति-भावना का प्रभा
पड़ा । दक्षिणी दार्शनिक विद्वान् वहाँ के शान्तिपूर्ण वाताव
आध्यात्मिक तत्त्वों के चिन्तन में रत रहे । शंकराचार्य, रामा
चार्य, निम्बार्काचार्य प्रभृत्ति दार्शनिकों ने परमात्मा की भिन्न-भि
रामानुजाचार्य इन्हीं भावनाओं को लेकर उत्तर भारत में
उनके इष्ट राम थे । रामानुज के शिष्य रामानन्द ने काशी
प्रचार कर भक्ति को जनसाधारण के लिए सुलभ बना दि
चैतन्य महाप्रभु ने बङ्गाल में तथा वल्लभ स्वामी ने ब्रज में
प्रचार किया । सूर और तुलसी ने इन्हीं के सिद्धांतों का
कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति की अक्षय धारा प्रवाहित की जो
आ रही है । दक्षिण भारत की इस धारा को, सगुण भक्ति क
का गौरव प्राप्त है ।

कबीर से पूर्व की उत्तर भारत की धार्मिक स्थिति के प्र
स्वरूप निर्गुण भक्ति की उत्पत्ति हुई । हिन्दी साहित्य के आ
पर सिद्धों और नाथपंथियों का बहुत प्रभाव था । दोनों ही स
और अनुयायी प्रायः निम्न जाति के अशास्त्रज्ञ प्राणी थे ।



हो चुका था । रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ सङ्कीर्ण और उदार होती हुई यह भावना जन-जीवन-प्रवाह के साथ बहती चली आई थी। कबीर ने इस भावना में आत्मविश्वास की दृढ़ता फूँकी, उसे संकीर्णताओं से मुक्त किया, हीनता की भावना को दूर कर समता की दृष्टि दी। इस प्रकार विशुद्ध मानवता के आधार पर एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ। सन्तों के इस प्रयत्न में सूफियों ने भी पूर्ण योग दिया। उन दोनों ने मिलकर हिन्दू मुस्लिम संस्कृति एवं धार्मिक भावना में समन्वय लाने का प्रयत्न किया। इनके इस नवीन एवं सराहनीय प्रयास के कारण हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं के समन्वय से निर्गुण उपासना की एक ऐसी प्रणाली उत्पन्न हुई जिस पर अनेक प्राचीन एवं नवीन धार्मिक मत-मतांतरों, वादों और विचारधाराओं का प्रभाव था। हिन्दी साहित्य के इस जागरण-काल के कबीर अग्रदूत थे।

धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू धर्म एवं संस्कृति पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। मूर्तिपूजकों और मूर्तिभंजकों के संघर्ष में मूर्तिभंजक विजयी हो रहे थे। हिन्दू निराश होकर निराकार की उपासना में लगे परन्तु इस उपासना में उन्हें पूर्ण तन्मयता न मिल सकी और न रक्षा ही हुई। अन्त में रामानन्द ने लोक-रक्षक राम की प्रतिष्ठा की, जिसके दो रूप हुए—कबीर के निराकार राम एवं तुलसी के साकार राम, परन्तु भक्ति के विकसित रूप में थोड़ा सा परिवर्तन मात्र हुआ था। वैसे इस क्षेत्र में दक्षिण की भक्ति-भावना का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। दक्षिणी दार्शनिक विद्वान् वहाँ के शान्तिपूर्ण वातावरण में रह कर आध्यात्मिक तत्त्वों के चिन्तन में रत रहे। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य प्रभृत्ति दार्शनिकों ने परमात्मा की भिन्न-भिन्न व्याख्या की। रामानुजाचार्य इन्हीं भावनाओं को लेकर उत्तर भारत में प्रचारार्थ आए। उनके इष्ट राम थे। रामानुज के शिष्य रामानन्द ने काशी में राम-भक्ति का प्रचार कर भक्ति को जनसाधारण के लिए सुलभ बना दिया। दूसरी ओर चैतन्य महाप्रभु ने बङ्गाल में तथा वल्लभ स्वामी ने ब्रज में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। सूर और तुलसी ने इन्हीं के सिद्धांतों का आश्रय ग्रहण कर कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति की अक्षय धारा प्रवाहित की जो आज तक चली आ रही है। दक्षिण भारत की इस धारा को, सगुण भक्ति को प्रतिष्ठित करने का गौरव प्राप्त है।

कबीर से पूर्व की उत्तर भारत की धार्मिक स्थिति के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप निर्गुण भक्ति की उत्पत्ति हुई। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में समाज पर सिद्धों और नाथपंथियों का बहुत प्रभाव था। दोनों ही सम्प्रदायों के मुखिया और अनुयायी प्रायः निम्न जाति के अशास्त्रज्ञ प्राणी थे। नाथ सम्प्रदाय के

कनफटे योगी घट के भीतर के चक्र, सहस्रदल कमल, इड़ा, पिंगला आदि की ओर संकेत करने वाली रहस्यपूर्ण बातों द्वारा जनता पर अपना प्रभाव जमाते थे। साथ ही जाति-पाँति तथा वेदाध्ययन आदि को व्यर्थ बताकर हिन्दू समाज के उपेक्षित अङ्ग—अछूत वर्ग—के मन में उच्चवर्ग के प्रति असन्तोष और विद्रोह की भावना भर रहे थे। परन्तु इस पन्थ की सबसे बड़ी निर्बलता यह थी कि भक्ति-भावना के लिए यह हृदय-पक्ष शून्य था। इस रसहीनता के कारण संत और सूफी इसे पूर्ण रूप से ग्रहण करने में असमर्थ रहे। इस अभाव की पूर्ति महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त नामदेव ने की। इस प्रकार नाथों के हठयोग, वैष्णवों की सरसता, शंकर के मायावाद, सूफियों के प्रेमवाद आदि के मिश्रित प्रभाव से कबीर ने अपना 'निर्गुण पंथ' चलाकर नाथों से प्रभावित प्रेमभाव और भक्ति से शून्य जनता का उद्धार किया। सूफी सन्तों पर भी उपर्युक्त प्रभाव पड़ा। जायसी के 'पद्मावत' में उसका सुन्दर निरूपण हुआ। कबीर आदि ने बाह्य धर्माचारों के आडम्बरपूर्ण आचारों का खण्डन करने के लिए साकार ब्रह्म का विरोध किया और निराकार के प्रति सूफियों की प्रेम-भावना को लेकर एक नए प्रकार की भक्ति का प्रचार किया जिसमें साकारोपासना और निराकारोपासना दोनों ही के तत्त्व विद्यमान थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल की सम्पूर्ण धाराओं के उद्गम के मूल में एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावना कार्य कर रही थी। अनुकूल अवसर पाकर वह प्रस्फुटित एवं पल्लवित होकर फलवती बनी। संक्षेप में, दक्षिण की भक्तिधारा ने, जिसका आधार शास्त्रीय विवेचन था, उत्तरी भारत में सगुण भक्ति का बीजारोपण किया। इसके दो प्रमुख भेद हुए—कृष्ण भक्ति धारा और राम भक्ति धारा। बौद्धमत के ध्वंसावशेषों—सिद्धों एवं नाथों - के प्रभाव से एवं उनकी प्रतिक्रियास्वरूप निर्गुण धारा का प्रारम्भ हुआ जिसमें सूफियों की सरसता, मायावाद की नीरसता आदि अनेक बातों का अद्भुत मिश्रण हुआ। निर्गुण धारा को हम एक प्रकार से विभिन्न विचार-धाराओं की एक अद्भुत खिचड़ी भी कह सकते हैं। इसके भी दो भेद हुए—ज्ञानमार्गी शाखा और प्रेममार्गी शाखा। यहाँ तक हम परिस्थितियों के आधार पर उपर्युक्त प्रमुख धाराओं का विश्लेषण कर यह देख चुके कि वे परिस्थितियों के पूर्णरूपेण अनुकूल थीं। अब भक्तिकाल की इन विभिन्न धाराओं का विवेचन अपेक्षित है।

भक्तिकाल में भगवान के रूप और गुण की विशिष्टता पर भक्तिभावना का रूप स्थिर किया गया था। इसी रूपगुण के आधार पर इसके निर्गुण और सगुण दो भेद हुए। सगुण धारा के स्वरूप-निरूपण एवं भेदों के विषय में सब

विद्वान् सहमत हैं परन्तु निर्गुण धाराओं का वर्गीकरण, उन धाराओं के लक्षण को देखते हुए संगत नहीं प्रतीत होता। कबीर आदि की धारा को ज्ञानमार्गी या ज्ञानाश्रयी धारा कहा गया है, परन्तु इसमें ज्ञान की गुरुता और गम्भीरता का लेशमात्र भी नहीं है। ज्ञानमार्ग से यदि निराकार भक्ति का अर्थ लिया जाय तो उसके लिए उद्धव के से ज्ञान-गर्भित तर्कों की आवश्यकता है। परन्तु कबीर आदि की रचनाओं में ज्ञान नहीं, केवल ज्ञान का आभास मात्र है। उनके सभी तर्क सुनी-सुनाई बातों पर आधारित हैं। अशिक्षित होने के कारण ज्ञान की शास्त्रीय जटिलता से उनका परिचय नहीं था। शुक्लजी ने इसे ज्ञानाश्रयी या ज्ञानमार्गी इसलिए कहा कि इसमें रहस्य और गुह्य भावना का संयोग था। रहस्य और गुह्य को साधारण जनता ज्ञान का रूप मान लेती है। परन्तु सन्त काव्य में वास्तविक ज्ञान का निरूपण न होकर केवल उसका आभास है। इसी कारण डा० श्रीकृष्णलाल उसे 'ज्ञानाभासाश्रयी' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यदि ज्ञानमार्ग का पारिभाषिक अर्थ 'निर्गुण उपासना' लिया जाय तो शुक्लजी का नामकरण ठीक है, और यदि उसे वास्तविक 'ज्ञान' का रूप माना जाय तो यह ग़लत है।

इसी प्रकार सूफियों की गणना भक्ति काव्य में करना भी आंशिक रूप से ही उचित प्रतीत होता है। सूफियों का निर्गुण ब्रह्म भक्ति-भावना का आलंबन न होकर प्रेम की पीर का ही आलम्बन है। सूर, तुलसी तथा कबीर की भक्ति-भावना एवं सूफियों के इश्क-मजाजी और प्रेम की पीर में पर्याप्त भिन्नता है। प्रेम में जब तक श्रद्धा का योग नहीं होता तब तक वह भक्ति का रूप नहीं धारण कर सकता। दैन्य-भावना के अभाव में भक्ति-भावना की प्रतिष्ठा असम्भव है। सूफियों में आश्रय के प्रति प्रेम-भावना तो है परन्तु श्रद्धा नहीं है। उनका प्रेम सांसारिक वासनाजनित सा प्रतीत होता है। जायसी यदि पद्मावत के अन्त में इसे रूपक न कहते तो वह एक सांसारिक प्रेमकहानी मात्र रह जाता। इसलिए सूफियों के प्रेमाख्यानक काव्य भक्तिकाव्य न होकर केवल प्रेमकाव्य रह जाते हैं। सिद्धान्त, रूपक और अभिव्यक्ति तीनों ही दृष्टि से इन्हें भक्तिकाव्य के अन्तर्गत मानना उचित नहीं प्रतीत होता। भक्तों का सा विरहनिवेदन और सन्तों के समकालीन होने के कारण ही सम्भवतः शुक्लजी ने इन्हें भक्तिकाव्य के अन्तर्गत माना है।

भक्तिकाव्य में ऊपर से देखने पर ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दो रूप दिखाई देते हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सर्वत्र निर्गुण की ही प्रतिष्ठा मिलती है। कबीर के भगवान् तो निर्गुण हैं ही, तुलसी के 'मानस' के सगुण भगवान् भी 'विनयपत्रिका' में निर्गुण बन जाते हैं। तुलसी इन दोनों रूपों में

अन्तर नहीं मानते। सूर भी भगवान के निर्गुण रूप की सत्ता को स्वीकार तो कर लेते हैं परन्तु उसके वर्णन को सब तरह से अगम्य मानकर सगुण का गुण-गान करते हैं। सूर और तुलसी की सगुण लीला सम्बन्धी रचनाओं में ज्ञान और भक्ति का तीव्र संघर्ष है। मानस में ज्ञान और भक्ति को एक मानते हुए भी ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित की गई है। ज्ञान का पंथ कृपाण की धारा के समान कठिन है इसलिए भक्ति का सहज पंथ ही ग्राह्य है। सूर के भ्रमरगीत में भी ज्ञान पर भक्ति की इसी विजय का दर्शन है। मीरा और जीव गोस्वामी की प्रसिद्ध जनश्रुति में भी यही भावना कार्य कर रही है। इसके अतिरिक्त विद्वानों का यह भी कथन है कि सगुण भक्ति की चरम परिणति निराकारोपासना में ही होती है।

इन भक्तों ने अपनी-अपनी भावनानुसार अपने इष्टदेवों में विभिन्न गुणों का आरोप कर लिया है। तुलसी के भगवान् शक्ति, शील और सौंदर्य के आगार हैं; सूर के कृष्ण सौंदर्य-निधान और लीला-प्रिय हैं; नरोत्तमदास के कृष्ण करुणानिधान हैं; मीरा के गिरधरनागर माधुरी मूरति वाले हैं; हितहरिवंश के रसिकशिरोमणि राधावल्लभ रास-प्रिय है। परन्तु कुछ कवियों ने भगवान् को छोड़कर केवल भक्तों का ही गुणगान किया है। नाभादास का 'भक्तमाल' इसका प्रमाण है।

भगवान् और भक्ति के अतिरिक्त भक्ति-भावना का निरूपण भी भक्तिकाव्य की एक विशिष्टता है। भक्तों ने अपने भगवान से नाना प्रकार के सम्बन्ध स्था-किए हैं। माता, पिता, स्वामी, सखा, पति आदि अनेक रूप में भगवान की उपासना की गई है। सन्त कवियों ने गुरु को गोविंद के समान महत्त्व देकर सतगुरु की महिमा का भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मायाजाल में फँसे हुए अज्ञानी जीवों को संबोधित कर सभी भक्तों ने अनेक चेतावनी के पद भी कहे हैं। चेतावनी के अतिरिक्त भक्तिकाव्य में नीति और उपदेशविषयक पदों का भी अभाव नहीं है।

दक्षिण की इस वैष्णव भक्तिधारा ने उत्तर में आकर तीन भिन्न स्वरूप धारण किए। प्रथमधारा सिद्धों और नाथों के तंत्रों तथा हठयोग को पार करती हुई कबीर आदि की वाणी में एक भिन्न रूप में प्रकट हुई। मिथिला और बंगाल के शाक्त संप्रदाय तथा तांत्रिकों के संपर्क में आकर जयदेव, विद्यापति और चंडीदास के पदों में सरस और मधुर हो उठी। यह उसका दूसरा रूप था। अपने तीसरे रूप में उसने भगवान् राम और कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से अपने भक्तों को मुग्ध किया। इन तीनों धाराओं के स्वरूप भिन्न और विचित्र

हैं। तुलसी ने भक्ति और लीला का अतिशय मर्यादित रूप उपस्थित किया। सूर की कृष्णलीला में मर्यादा की उपेक्षा होते हुए भी वह नरलीला का बड़ा ही मधुर स्वरूप था। इसके विपरीत कबीर और विद्यापति की रचनाओं में न भगवान् की लीला का भाव है और न विनय का। वहाँ भगवान का रूप एक प्रेमी का है जिसकी प्रेम की ही मर्यादा है, प्रेम की ही लीला है और प्रेम की ही विनय है। परन्तु कबीर और विद्यापति की मनोवृत्ति में पर्याप्त अन्तर है।

भक्ति के इतिहास में आरम्भ से ही भक्तों के दो विशिष्ट वर्ग मिलते हैं—गायकों तथा आचार्यों के। दक्षिण के आलवार भक्त गायक थे। दूसरी ओर नाथ मुनि, यामुनाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क आदि आचार्य थे जिनके दार्शनिक चिन्तन में केवल तर्क और विवाद था। उनमें गायकों का सा सहजोद्रेक, भाव-प्रवणता और तीव्र आवेग का अभाव था। उत्तर भारत के भक्तों में भी दो भेद थे। रामानन्द और वल्लभ स्वामी आचार्य थे जिन्होंने भक्ति का उपदेश दिया परन्तु चैतन्य महाप्रभु गायक श्रेणी के आचार्य थे। इसी प्रकार भक्त कवियों में भी स्पष्टतः दो वर्ग थे। एक वर्ग कविगायकों का था, दूसरा कविआचार्यों का। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति, सूर, मीरा विशुद्ध कवि-गायक और तुलसी, कबीर, नानक, नन्ददास भक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाले कवि आचार्य थे। कवि-गायक साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के चक्कर में नहीं पड़े। उन्होंने भाव-विभोर होकर भगवान् के गीत गाये। सूर और मीरा कृष्ण-चरित के विमुग्ध गायक थे। भक्ति धर्म के प्रचार की दृष्टि से कबीर और तुलसी जैसे जननायकों और आचार्यों का बहुत महत्त्व है। उन्होंने लाखों करोड़ों व्यक्तियों का मार्गप्रदर्शन कर उनका हित किया। परन्तु शुद्ध साहित्य की दृष्टि से सूर, मीरा, रसखान आदि का महत्त्व विशेष है। सूर को प्राचीन परम्परा से हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना गया है। आधुनिक काल बुद्धिवादी काल है। आज आचार्यों के तर्क, वाद, खण्डन और मण्डन का अधिक महत्त्व माना जाता है। साहित्य में उपयोगिता को अधिक महत्त्व दिया जाता है इसी-लिए आज जितना महत्त्व कबीर और तुलसी का माना है जाता उतना सूर और मीरा का नहीं। दूसरे शब्दों में आज हमारे लिए शुद्ध और सरस कविता का अधिक मूल्य नहीं रह गया है।

भक्ति काव्य में भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई। इसमें ऐसी धार्मिक भावनाओं की उद्भावना हुई जिनका इस्लाम से कोई विरोध नहीं था। उनमें भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों का समावेश था। भक्ति काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहाँ उसमें उच्चतम कोटि के

काव्य के भी दर्शन होते हैं। "उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवनस्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है।" तुलसी, सूर, विद्यापति, रसखान, नन्ददास आदि का काव्य अपनी तन्मयता काव्यत्व, एवं प्रभाव की दृष्टि से संसार के उच्चतम काव्यों की समता में बिना सिर झुकाये खड़ा रह सकता है। उसका मूलधर्म मानवता है। उसमें मानवमात्र के हृदय को स्पर्श करनेवाली भावनाओं का चित्रण है। पद्मावत, मानस और सूरसागर विश्वसाहित्य की अमूल्य निधियां हैं। इसलिए भक्ति काव्य के अध्ययन के लिए आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि उसका मूल्याङ्कन वादविशेष के संकीर्ण दायरे से मुक्त होकर मानवतावादी दृष्टिकोण का आधार लेकर, शुद्ध काव्य और साहित्य की दृष्टि से हो। कारण यह है कि यह काव्य लोक और परलोक दोनों को एक साथ स्पर्श करता है। भक्तिकाल के सभी सम्प्रदाय यद्यपि आध्यात्मिक भावनाओं को लेकर अग्रसर हुए थे परन्तु सबका सम्बन्ध मानव-जीवन से था। वहाँ मानव के लिए स्नेह का सागर लहरें ले रहा है। यह काव्य एक साथ ही हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता रहा है। काव्य में सौंदर्य और भावनाएं मन को तृप्त करती रही हैं। दार्शनिकता और आध्यात्मिकता आत्मा को संतोष देती रही हैं।

रस की दृष्टि से भी यह साहित्य सर्वश्रेष्ठ है। रसराज का इतना पूर्ण और संतुलित चित्रण और कभी नहीं हुआ। साथ ही अन्य रसों का भी प्रसंगानुसार अच्छा चित्रण हुआ है। काव्य शैलियों की दृष्टि से अकेले तुलसी सबका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। उनके काव्य में पूर्ववर्ती एवं तत्कालीन प्रचलित सभी शैलियों के उत्कृष्ट रूपों के दर्शन होते हैं। साथ ही इस काव्य में कवि-प्रसिद्धियों, कवि-समयों एवं प्रतीकों का इतना अक्षय भण्डार भरा हुआ है कि शताब्दियों तक परवर्ती काव्य के प्रणेता उसी का उपयोग कर गौरव पाते रहे हैं। भाषा की दृष्टि से शुद्ध रूप से कबीर को हिन्दी का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है। कबीर के समय से ही हिन्दी पूर्णरूप से काव्य की भाषा बनी। उसका यह प्रारम्भिक रूप अटपटा होते हुए भी काफी सशक्त और प्राणवान है। इसी को आगे चलकर सूर और तुलसी के काव्य में पूर्णता प्राप्त हुई। तुलसी ने तो ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं में सुन्दर काव्य का सृजन कर उन्हें पूर्णता प्रदान की। सूर की भाषा में ब्रजभाषा का कोमल, मधुर स्वरूप पूर्ण हुआ। पिंगलशास्त्र की दृष्टि से भी भक्तिकाव्य अन्य काव्यों की तुलनामें हेय नहीं है। उसमें केशव का सा चमत्कार-प्रदर्शन तथा बिहारी की सी वाग्विदग्धता नहीं मिलती क्योंकि भक्त कवियों ने भाषा को साध्य न मानकर अपनी आत्माभिव्यक्ति का साधन माना था। उनकी इसी सहज आत्माभिव्यक्ति की तीव्रता

से उनका काव्य स्वभावतः ही नैसर्गिक सौन्दर्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सका था।

भक्ति काव्य में यद्यपि आधुनिक काल के समान विषय-वैविध्य नहीं है परंतु गाम्भीर्य की दृष्टि से वह आधुनिक काल से अधिक पूर्ण और सशक्त है। रीति-काल एवं आदिकाल एकांगी दृष्टिकोण को लेकर चले थे। अतः भक्तिकाल से उनकी कोई तुलना नही की जा सकती। रीतिकाल का महत्व भाषा-सौन्दर्य एवं भाषा-शक्ति की दृष्टि से अधिक है परन्तु उसमें भाव-गाम्भीर्य एवं मानव-कल्याण की भावना का अभाव है। आदिकाल अस्पष्ट और उलझा हुआ है। अतः जब हम हिंदी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को आलोचक की दृष्टि से देखते हैं तो उसमें अभी तक केवल भक्तिकाल ही ऐसा है जिसे सर्वश्रेष्ठ काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। विद्वानों ने इसीलिए इसे एक स्वर से हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग कहा है। एक विद्वान का तो यहाँ तक कथन है कि यदि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को नष्ट कर केवल तुलसी-काव्य को लेकर हम संसार के अन्य साहित्यों की प्रतिस्पर्द्धा में खड़े हों तो हमें तनिक भी लज्जा अथवा हीनता की भावना का अनुभव नहीं हो सकेगा।

—: o :—

\ \

३—युगद्रष्टा कबीर

हिन्दी साहित्य एवं हिन्दू समाज में कबीर 'जागरण युग' के अग्रदूत माने जाते हैं। आज कबीर जनता के हृदय में व्यक्ति के रूप में नहीं, प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। भगवान बुद्ध के उपरान्त भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में नवीन चेतना का स्वर फूँकने वालों में कबीर सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रथम हैं। उन्होंने सन्त काव्य की धारा का प्रणयन किया, उसे पूर्णता को पहुँचाया और एक ऐसी विचारधारा की स्थापना की जिससे अनेक शताब्दियों उपरान्त गांधी जैसा युगपुरुष भी प्रभावित हुआ। ऐसे प्रखर व्यक्तित्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले सन्त काव्य की परम्परा, रूपरेखा एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लिया जाय।

ईसा की सातवीं-आठवी शताब्दी तक आते-आते बौद्धधर्म 'वज्रयान' का तन्त्रवादी रूप धारण कर चुका था। सिद्ध और योगी बौद्ध धर्म के ध्वंसावशेषों के रूप में तारा, कृत्या आदि की तांत्रिक पूजा द्वारा जनता पर अपना प्रभाव डाल रहे थे। समाज में अन्धविश्वासों का साम्राज्य था। इन तांत्रिकों का विरोधकर सरहपा, चूणिया, करेड़िया आदि महात्माओं ने अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का बीजारोपण किया। इन्हें हिन्दी का आदि कवि माना जाता है। इन्होंने परम्परागत काव्य भाषा संस्कृत और पाली का त्यागकर जनभाषा अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी में अपनी वाणी मुखरित की। इन सन्तों पर भी वज्रयान का प्रभाव था। ये सभी अशिक्षित थे, इसलिए इनके ग्रन्थों का साहित्यिक मूल्य यद्यपि गौण है परन्तु उनका ऐतिहासिक मूल्य महत्त्वपूर्ण है। इन्हीं की परम्पराओं में आगे चलकर सन्त साहित्य की रचना हुई। इसी परम्परा का विकसित रूप गोरखनाथ के नाथ-संप्रदाय में, एवं व्यापक और पुष्ट रूप निर्गुणमार्गी ज्ञानाश्रयी शाखा में, जो सन्त काव्य की पराकाष्ठा है, पाया जाता है।

कालान्तर में इन प्राचीन सन्तों की अटपटी वाणी का उल्टा अर्थ लगाया जाने लगा जिससे कौल, कापालिक आदि कई नए सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। इनमें वासना और भोगलिप्सा का आग्रह बढ़ा। सिद्धों की सिद्धताई तमाम हो गई। इसी समय गोरखनाथ ने मूर्ति-पूजा, तंत्रवाद आदि का खंडन कर एकेश्वरवाद की स्थापना की। हठयोग इनका सहयोग पाकर पल्लवित हुआ। इन

रहस्यवादी नाथों में जालंधर, कणेरीनाथ, चरपटनाथ आदि अनेक प्रसिद्ध महात्मा हुए। इन्हीं की पृष्ठभूमि पर कबीर ने अपना साहित्य प्रतिष्ठित किया, परन्तु कबीर ने उनमें प्रेम और राग को प्रधानता देकर उस सम्प्रदाय की नीरसता को दूर कर दिया। अपनी अव्यावहारिकता के कारण धीरे-धीरे नाथपंथ का भी ह्रास हो गया। कबीर ने उसमें प्रेम और राग का मिश्रण कर उसे एक नवीन रूप दिया।। कबीर का काल प्रौढ़ संत-मत का काल है। कबीर और उनके साथी तथा अनुयायी सभी सुधारवादी थे। इन्होंने बाह्याडम्बरों का विरोध कर एकेश्वरवाद का प्रचार किया। इनके मत पर एक ओर भक्ति, योग, एकेश्वरवाद के रूप में सिद्धों और नाथों का प्रभाव है तो दूसरी ओर प्रेम की तीव्रता, भक्ति और माधुर्य-उपासना के रूप में सूफियों का तथा वैष्णवों की अहिंसा और प्रेम का प्रभाव है। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता का नारा बुलन्द कर मूर्तिपूजा और बहुदेववाद का खण्डन किया। काव्यरचना करते समय उनका उद्देश्य सुन्दर काव्य का प्रणयन न कर केवल अपने मत का प्रचार करना था परन्तु उनकी भावुकता ने उनके काव्य में थोड़ी-बहुत सरलता लादी थी। सभी सन्त अक्खड़ थे। शुद्ध मानवता प्रेमी होने के कारण उन्होंने निर्भय होकर धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं पर निर्मम प्रहार किये। बुराइयों की कटु आलोचना कर सद्गुणों का उपदेश दिया। इसी कारण उसमें नीरसता और रूखापन आ गया। उनके साहित्य में सन्देश का सौन्दर्य तो मिलता है परन्तु साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव है।

ये सभी सन्त कवि अन्त्यज थे। उनके लिए शास्त्र, ज्ञान, मंदिर आदि के द्वार बन्द थे। उन्होंने केवल अपनी अनुभूति के बल पर ईश्वरत्व की अनुभूति प्राप्त की और उस अनुभूति की व्यंजना संतकाव्य कहलाई। "उसमें वाणी का चमत्कार या प्रयत्न की बोझिलता नहीं, एक नैसर्गिक स्वच्छता और सरलता है। उनमें भावों की एक तीव्रता है जो स्वयं इतनी प्रभावोत्पादक है कि उसे किसी बाह्य संबल की आवश्यकता नहीं।" संतों का ईश्वर निर्गुण और एक है। साम्प्रदायिक संकीर्णता से वे परे हैं। उनका ईश्वर के प्रति प्रेम अडिग, खरा और निर्मल है। उनकी इस भक्ति में वैष्णवी भक्ति का प्राधान्य होने के कारण "गलदश्रु भावुकता" है। इस कारण उनका निराकार कुछ-कुछ साकार सा भासित होने लगता है। यही कारण है कि उनकी ईश्वरीय भावना में अस्पष्टता और असंगतता मिलती है।

भारतीय ब्रह्मवाद के रूप में सन्त साहित्य अद्वैत की भावना से प्रभावित है। उसका ज्ञान और उपदेश अद्वैत पर आधारित है। सन्त कवि माया की सत्ता और जीव-ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। इस एकता में माया

बाधक है । ज्ञान से इस माया का नाश किया जाता है । ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे विशिष्टाद्वैतियों की भक्तिभावना को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी द्वैतभावना को नहीं । संतों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान और भक्ति दोनों का सहयोग माना है । ज्ञान भक्ति के अभाव में पंगु है । इसीलिए पूर्णता लाने के लिए उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय की वैष्णवी विशेषताओं को स्वीकार किया है । वैष्णव भावना व्यक्तिगत ब्रह्म के प्रति रागात्मक निवेदन है । इसी से संतों ने ब्रह्म को जननी, जनक, पति आदि माना है । भक्ति ही उनके लिए सब कुछ है । गुरुभक्ति और नामकीर्तन भी वैष्णव भावना का ही प्रभाव है । सन्तों में लोकभावना का प्राधान्य भी वैष्णवों की देन है ।

सन्तों पर सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का भी गहरा प्रभाव है । उनके प्रेमवाद के कारण सन्तमत बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया वरना उसके बिना यह भी नाथ-पंथ के समान शुष्क रह जाता । संतों ने "नीरस ब्रह्मवाद पर सरस सूफी प्रेमवाद की बड़ी सुन्दर कलम लगाई है ।" परन्तु संतों का प्रियतम निर्गुण है, इसीलिए उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करने में स्वभावतः रहस्य की भावना आगई है । साधना के क्षेत्र में सन्तों ने साधनात्मक रहस्यवाद को अपनाया है । इसमें हठयोग की विभिन्न क्रियाओं का विशेष महत्त्व है । इन पर सिद्धों और हठ-योगियों का व्यापक प्रभाव पड़ा है । इसी प्रभाव के फलस्वरूप उन्होंने धार्मिक बाह्याचारों का खण्डन किया । सिद्धों और हठयोगियों ने रहस्यवादी बन कर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों द्वारा अटपटी वाणी में पहेलियाँ बुझाने में सन्तों का मार्गप्रदर्शन किया । साथ ही संतों को उन्हीं से घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि की साधना करने और नाद, सुरति, निरति आदि शब्दों की परम्परा विरासत के रूप में प्राप्त हुई । इस प्रकार हठयोग को सन्तों ने ब्रह्मप्राप्ति का साधन बनाया ।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा हमने देखा कि संतमत पर विभिन्न मतों का प्रभाव पड़ा है । संतों ने सभी मतों के प्रधान तत्त्वों को अपने मत में शामिल कर लिया परन्तु अशिक्षित होने के कारण वे इन तत्त्वों के वास्तविक रूप को समझने में पूर्णतः सफल नहीं हो सके । उन्होंने सुने सुनाए ज्ञान के आधार पर उच्च दार्शनिक तत्त्वों को रूपकों और उलटवासियों द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न किया परंतु साहित्यिक परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण उनका यह प्रयत्न अटपटा और दुरूह बन गया । इसी से उनके काव्य का अर्थ ढूँढ़ना विद्वानों के लिए भी आकाशकुसुम बन गया है । इनमें विभिन्न मतों की ऐसी बेमेल खिचड़ी है जो इनका एक प्रभावशाली रूप नहीं बनने देती । उनके विचार भी अपरिपक्व और अशास्त्रीय हैं । एक ओर वे कीर्त्तन की महत्ता बताते हैं तो

दूसरी ओर ज्ञान की। कीर्त्तन में श्रद्धा का भाव प्रधान है पर वे श्रद्धा को कोई महत्त्व नहीं देते। एक ओर कर्मकांड का विरोध करते हैं और दूसरी ओर हठ-योग की साधना करते हैं। इस प्रकार के विरोधी तत्त्वों के अनमेल मिश्रण से इनका काव्य भरा पड़ा है।

संत शाश्वत सत्यों और मर्यादाओं को बदलने में तत्पर थे, क्योंकि उनका मानवतावाद उन्हें इसके लिए प्रेरित करता था। उनके प्रभाव से शुद्ध मानवता-वाद का प्रचार बढ़ा। वे एक वर्गहीन समाज की स्थापना कर सब के लिए मुक्ति चाहते थे। इसी कारण उन्होंने उस सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया जो उन्हें दबाती थी। इसी कारण उन्होंने सगुण का भी विरोध किया, क्योंकि सगुण को स्वीकार करके का अर्थ उस भगवान के रूप को स्वीकार करना था जो उच्च वर्गों के स्वार्थों का समर्थक है। उसे मान लेने से वर्गहीन समाज की स्थापना का स्वप्न भंग हो जाता। इतना महान् उद्देश्य सम्मुख रहते हुए भी इन संतों को यथेष्ट सफलता नहीं मिल सकी। इसका कारण यह था कि निर्गुण ब्रह्म के उपासक बिखरे हुए थे। उनकी शक्ति और चिंतन का स्रोत एक न होकर विभिन्न थे। वे पारस्परिक रूप में उस ऐक्य का अनुभव नहीं करते थे जो सगुण-वादी भक्तों को अपने आराध्य के ऐक्य के कारण सुगम था। इस भावना को स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् डा० राँगेय राघव ने लिखा है कि—निर्गुण संत समाज के उन क्षेत्रों से आए थे जिन्हें शताब्दियों से कुचला गया था। उन्हें पूर्ण शिक्षा नहीं मिली थी। उन्हें दब कर रहना पड़ता था।...वे अपनी सामाजिक व्यवस्था में अपने ही छोटे-छोटे भेदों में ग्रस्त समुदाय थे, जिन पर अंधविश्वास और अशिक्षा का अधिक प्रभाव था। निम्न जातियों के इस समु-दाय में यह आत्म-विश्वास अंततोगत्वा जागा, वह शताब्दियों के नकारात्मक स्वर से था कि ओ विजेता तू कुछ नहीं है, तू मुझे हरा नहीं सकता, मैं अमर हूँ और रहूँगा।" संतों की इस विशेषता का उद्घाटन करते हुए प्रसिद्ध आलो-चक डाक्टर रामविलास शर्मा भी मुक्त कण्ठ से कह उठे हैं कि—"उन्होंने धर्म की रूढ़ियों का उल्लंघन किया था। उन्होंने अपने प्रेम के अश्रुजल से देवता के आँगन से रक्तपात की कलंक रेखा धो डाली थी। इनके गीत दूर-दूर के गाँवों में एकतारे पर सुनाई देते हैं और वह तार भारतवर्ष की एकता का ही है। भेद बुद्धि उनके पास नहीं फटकती। समाज के कर्णधारों की अवज्ञा के बावजूद उनकी अमरवाणी आज भी सर्वत्र गूँज रही है।" संत कवियों पर लगाये जाते रहे भाषा एवं शैली विषयक आक्षेपों के उत्तर में डाक्टर शर्मा का निम्नलिखित कथन ही यथेष्ट है—"आज देश के नए सांस्कृतिक जागरण के लिए हमें ऐसी वाणी, ऐसे अलङ्कार, ऐसी भाषा और ऐसी चेतना की आवश्यकता है जो एक

ही तंत्र में तमाम जनता को बाँध सके। मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने, विशेष रूप से संत कवियों ने, अपनी वाणी द्वारा यह चमत्कार कर दिखाया था।" इसी आक्षेप का शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विवेचन करते हुए एक बार महाकवि रवीन्द्र ने कहा था कि "नई हिन्दी कविता से पुरानी सन्त बानी की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक में कौशल ज़्यादा है लेकिन दूसरी में स्वाभाविक दर्द है। कौशल तो बाहरी है लेकिन रस सत्य का ही प्रकाश है। जिस कविता में सत्य अपने सहज वेश में प्रकट होता है वही अमर होती है और रस पर काल का दाग नहीं पड़ता।" सन्त-वाणी ऐसा ही अमर काव्य है।

परन्तु इस धारा में कुछ दोष भी थे। सबसे बड़ा दोष यह था कि उन्होंने स्वमत-प्रचारार्थ खंडनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण किया था। वे दलित थे इससे अपनी जाति की उपेक्षा को भूल न सके। इस विरोध की तीव्रता के कारण ही उनका प्रभाव दलित वर्ग तक ही सीमित रह गया। दूसरे उनका निर्गुण दर्शन भी जन साधारण की समझ में नहीं आया। साथ ही व्यक्तिगत साधना का प्राधान्य होने से इसमें लोकोपकार की भावना रही तो अवश्य, परन्तु आदर्शों का अभाव रहा। शिक्षित एवं उच्च वर्ग ने सदैव इनके प्रति उपेक्षा दिखाई। इस वर्ग के प्रति तीव्र विरोध की भावना ने सन्त काव्य में सामाजिक अशिष्टता और उच्छृङ्खलता भर दी। कुछ आलोचक इन्हें इस्लामी परम्परा की उपज बताते हैं। परन्तु पद्धति, भाव, विषय, अलङ्कार, भाषा, छन्द आदि से ये पूर्णतः भारतीय सिद्ध होते हैं। इस मत की स्थायी देन है—(१) वैदिक और ब्राह्मण धर्म के प्रति अविश्वास तथा साहित्यिक क्रांति की भावना, (२) आधुनिक रहस्यवाद और छायावाद।

ऐसी विशेषताओं से परिपूर्ण था वह युग जिसके कबीर एकछत्र सम्राट् थे।

अन्य भाषा-भाषियों ने कबीर की जितनी प्रशंसा की है उतनी हिन्दी वालों ने नहीं की। कबीर के पदों का रविबाबू का अनुवाद, भूमिका के रूप में उनकी कबीर के प्रति श्रद्धाञ्जलि तथा विदेशी साहित्य-महारथियों द्वारा उनकी प्रशंसा कबीर को विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में बैठाने वाली है। इस अनन्य प्रतिभाशाली कवि की हिन्दी साहित्य में उपेक्षा ही हुई है। इस उपेक्षा के मूल में रसवादी आलोचकों का संकीर्ण और सीमित दृष्टिकोण प्रधान रहा है। आचार्य शुक्ल ने कबीर आदि की तीन बातों के कारण उपेक्षा की है – १—उपदेश और धर्म की नीरस चर्चा, उलटवांसियाँ तथा सुनी सुनाई बातों का पिष्ट-पेषण, २—शृङ्खलाबद्ध, सुव्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का अभाव तथा विभिन्न विचारधाराओं का मिश्रण, ३—भाषा और शैली का अव्यवस्थित रूप। इतना सब कुछ होते हुए भी शुक्लजी को अन्त में यह मानना ही पड़ा कि

"प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें सन्देह नहीं।" साहित्य में शक्ति, शील, सौन्दर्य को अपना आलोचनात्मक मानदण्ड मानकर चलने वाले आलोचक आचार्य शुक्ल से, हिन्दी साहित्य में अपनी प्रखर प्रतिभा की धाक मनवाने वाले एकमात्र कबीर ही ऐसे हैं जिनकी शुक्लजी ने विरोध करते हुए भी प्रशंसा की है। यह कबीर की सबसे बड़ी विजय है।

हिन्दी साहित्य में कबीर का उचित मूल्यांकन न होने का एक कारण यह भी रहा है कि आलोचक विद्वानों ने अधिकतर उनके तत्त्वज्ञान की शुष्कता, अपरिमार्जित भाषा और खण्डन प्रणाली पर ही विशेष दृष्टि डाली है। साहित्य की सबसे बड़ी देन, जीवन की मूल समस्याओं पर मौलिक रूप से विचार करने की प्रेरणा उत्पन्न करना है। कबीर साहित्य हमें यह प्रेरणा देता है। कबीर की प्रेरणा सत्य की साधना से है न कि काव्य-सौन्दर्य-प्रदर्शन या सामाजिक या और किसी दृष्टि से। सब लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने से उन्हें संसार की अनेकता में मानवता की एकता का सूत्र मिल गया। जो अपने को भिन्न मानते थे, कबीर ने एकता का सत्य स्वरूप दिखाते हुए, उनका खण्डन किया। इस सांसारिक विषमता, आडम्बर और भेदभाव के विरोध में कबीर ने सरल प्रेममय जीवन अपनाने का सन्देश दिया है।

हिन्दी साहित्य में शुद्ध साहित्य की दृष्टि से तुलसी और सूर तथा विषय के महत्त्व की दृष्टि से तुलसी और कबीर अद्वितीय हैं। "तुलसी में अपने आदर्श के कारण जहाँ शक्ति, बल और उत्साह मिलता है वहाँ कबीर में जीवन की प्रधान समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो चिन्तन की प्रेरणा मिलती है। इस क्षेत्र में कबीर अद्वितीय हैं। अपनी इस सार्वजनीन भावना के कारण वे जनता में विशेष लोकप्रियता प्राप्त कर सके। रसग्राहियों और कला-पिपासुओं ने कबीर का विशेष सम्मान कभी नहीं किया। भ्रातृ-भावना और समता की दृष्टि कबीर से पहले इस रूप में और कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती। रामानुज भक्ति के क्षेत्र में तो समानता के समर्थक थे परन्तु इस क्षेत्र से बाहर वे भी भेदभाव को मानते थे। लेकिन—'हम सब ईश्वर की सन्तान हैं, मनुष्य मात्र समान हैं, जाति और धर्म का कोई भेद नहीं है।' इस तरह की घोषणा करने वाले सर्व प्रथम व्यक्ति कबीर ही थे। इस तरह कबीर मानवता के प्रथम कवि हैं।

कबीर ने कविता क्यों की ? यदि इस प्रश्न का उत्तर जान लिया जाय तो हम कबीर की काव्य-शास्त्र सम्बन्धी त्रुटियों को क्षमा कर उनका उचित मूल्यांकन कर सकेंगे। मैथिलकोकिल विद्यापति अपनी भाषा और काव्य के विषय में आत्मश्लाघा करते हुए कहते हैं कि—

"बालचन्द विजावइ भासा, दुहु नहिं लागइ दुज्जन हासा ।।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ ।"

विद्यापति न केवल भाषा के सौन्दर्य को ही महत्त्व देते थे अपितु वे उसकी सरसता को भी काव्य की प्रशंसा का आवश्यक आधार मानते थे । आगे चल कर उन्होंने पुनः कहा है कि

"महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कव्व कलाउ छइल्ल ।"

अर्थात् जिस प्रकार केवल भ्रमर ही फूलों के रस का मूल्य समझता है उसी प्रकार केवल कलाविज्ञ पुरुष ही काव्य का रस ले सकता है । परन्तु कबीर का काव्य-रचना का उद्देश्य नितान्त भिन्न था । वे अपने पदों के विषय में श्रोताओं को सम्बोधन कर कहते हैं—

"तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार ।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे ।।"

उन्होंने अपने काव्य में केवल 'ब्रह्म विचार' को ही प्रकट किया है । अपनी आत्म-साधना का सारा सार भर कर उसे अपने शब्दों द्वारा केवल प्रत्यक्ष कर देने की चेष्टा की है । अपनी बानियों की रचना का उद्देश्य वे किसी 'नाअर मन' को मुग्ध कर देना अथवा किसी 'कव्व कलाउ छइल्ल' का मनोरंजन करना नहीं मानते । वे इस विचार से अनुप्राणित जान पड़ते हैं कि—

"हरिजी यहै बिचारिया, साखी कहौ कबीर ।
भौसागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़े तीर ।।"

इसके अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से की गई काव्यरचना को कबीर कोरा 'कविकर्म' समझते हैं । उपर्युक्त उद्धारणों से कबीर के काव्य के उस आदर्श का पता चल जाता है जिसका अनुसरण अन्य सन्तों ने भी किया था ।

कबीर के व्यक्तित्व के दो प्रधान पक्ष हैं । प्रथम धर्मसुधारक उपदेशक का एवं द्वितीय शुद्ध भक्त का । इसी के अनुसार उनके काव्य के भी दो पक्ष हो गए हैं । धर्मसुधारक उपदेशक के रूप में उन्होंने जो कुछ कहा है वह खंडन-मंडन की भावना से ओत-प्रोत होने के कारण नीरस, शुष्क एवं कर्कश भाषा में है । उसमें साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव है । कविता करना कबीर का लक्ष्य भी नहीं था । कविता को तो उन्होंने अपने विचारों तथा भावों को जनता तक पहुँचाने का माध्यम बनाया था । उन्होंने न 'मसि कागद' छुआ था और न हाथ में कलम ही गही थी । वे तो केवल प्रेम का ढाई अक्षर पढ़कर ही पंडित हो गए थे । कवि के लिए अपेक्षित गुणों, प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास में से कबीर में केवल प्रतिभा थी । उनके ज्ञान का साधन एवं स्रोत सत्संग और पर्यटन था । वे बहुश्रुत थे । इसीसे उनके काव्य में विभिन्न प्रदेशोंमें प्रयुक्त अनेक कविसमयों,

प्रतीकों एवं अलंकारों का सौन्दर्य आ गया है । उनके रूपक और उलटबाँसियों के विरोधाभास साहित्य की अमूल्य निधि माने जाते हैं । ये गुण उनके काव्य में अनायास ही आ गए थे ।

सीधी हृदय से निकलने वाली कविता सीधी हृदय पर चोट करती है । उसमें अनुभूति की तीव्रता होती है । अनुभूति की यही तीव्रता कबीर के काव्य में मिलती है । उनके हृदय में सचाई थी और आत्मा में बल । इसीलिए उनकी वाणी में इतनी शक्ति आगई थी । उनकी वाणी की यह शक्ति ही काव्यगत सरसता बनकर पाठकों के हृदय को प्रभावित करती है । परन्तु इस सरसता के दर्शन केवल उन्हीं स्थलों पर होते हैं जहाँ उन्होंने संसार से नाता तोड़कर भक्ति भावना में आकंठ निमग्न होकर अपनी विरह-व्यथा का वर्णन किया है । यह उनके काव्य का दूसरा पक्ष है । कविता करते समय कबीर को इस बात का ध्यान नहीं रहता था कि जो कुछ वे कह रहे हैं वह सुन्दर और सरस है अथवा नीरस । परन्तु आत्मा के सच्चे उद्‌गार होने के कारण सरसता उसमें स्वतः आ जाती थी ।

कबीर का व्यक्तित्व क्रांतिकारी था । उनका यह व्यक्तित्व ही भक्त, प्रेमी तथा शुद्ध मानव की विभिन्न धाराओं में बहा है । उनके व्यक्तित्व में सर्वत्र एक प्रखरता, निश्छलता एवं स्पष्टता है । उन्होंने अपने अशिक्षित होने की बात बड़े स्पष्ट और निश्छल शब्दों में कह दी थी, परन्तु उन्हें अपने सांसारिक अनुभव और ज्ञान पर पूर्ण आस्था थी । इसीसे उन्होंने शिक्षित पंडितों को ललकार कर कहा था—"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी ।" उनकी 'आँखिन की देखी' बात वहाँ तक तो ठीक है जहाँ उन्होंने प्रेम में तन्मय होकर अपनी भावना का प्रदर्शन किया है परन्तु जहाँ वे खण्डनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण कर दार्शनिक तत्त्वों का निदर्शन करने का प्रयत्न करते हैं वहाँ उनकी यह 'आँखिन की देखी' बात लड़खड़ा उठती है, काव्य-शक्ति उनका साथ छोड़ जाती है । इसका कारण यह है कि तर्क के लिए शास्त्रीय बुद्धि एवं ज्ञान की अपेक्षा होती है । दार्शनिक विवेचन में मस्तिष्क और शास्त्रीय ज्ञान प्रधान होते हैं । कबीर मे मस्तिष्क तो था परन्तु उनका शास्त्रीय ज्ञान न के बराबर था । इससे वे इस क्षेत्र में आकर लड़खड़ा उठे हैं । उनका वास्तविक एवं स्वाभाविक क्षेत्र, काव्य की दृष्टि से तो, हृदय था । इसीसे केवल वहीं सरसता मिलती है ।

विद्वानों ने काव्य के भावपक्ष में बुद्धि, राग और कल्पना—तीन तत्त्व माने हैं । "बुद्धि तत्त्व से कवि द्वारा उपस्थित किए हुए श्रेष्ठ विचार और संदेश देखे जाते हैं । कल्पना तत्त्व में वस्तु की चित्राङ्कनता और नव-निर्माण देखा जाता

है और रागात्मक तत्त्व में हृदयस्पर्शिता और तन्मयता परखी जाती है।" इस कसौटी पर कसने पर कबीर के काव्य में सन्देश की प्रधानता मिलती है। इसीसे उसमें कल्पना तत्त्व की न्यूनता है। इस न्यूनता के कारण उनके चित्र अस्पष्ट और और अधूरे हैं। यह विशेषता केवल कबीर के काव्य में ही नहीं, अपितु सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य और संपूर्ण संत-साहित्य में पाई जाती है। शिक्षा और वास्तविक शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में उनमें स्पष्टता नहीं आ पाई है। खंडन-मंडन-प्रधान काव्य में रागात्मकता का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जहाँ उन्होंने अपने अज्ञात प्रियतम के प्रति आत्म-विभोर होकर विरह और व्यथा का वर्णन किया है वहाँ रागात्मक तत्त्व अपनी पूर्ण तन्मयता और हृदय-स्पर्शिता के साथ साकार हो उठा है। उनके विरह के पदों में मीरा की सी तन्मयता, सूर की सी सरलता और विद्यापति का सा सौन्दर्य है। कबीर के पास भाषा नहीं है। वे दोहा जैसा साधारण छन्द भी ठीक नहीं लिख सके हैं, रूपक कहीं-कहीं अस्पष्ट और अटपटे हैं, अलङ्कार भी शुद्ध नहीं हैं फिर भी उनके भक्ति-भावना वाले पद हृदय को स्पर्श कर लेते हैं। इसके मूल में उनकी गम्भीर तन्मयता ही है। निम्नलिखित पद द्रष्टव्य हैं—

"माली आवत देखकर, कलियन करी पुकार।
फूले - फूले चुन लिए, कालि हमारी बार॥"

\+ \+ \+

"नयना अंतर आव तू, पलक ढाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखूँ और कूँ, ना तोहि देखन देउँ॥"

× × ×

"लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी ह्वै गई लाल॥"

\+ \+ \+

हौं बलि कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन-कारनि ऐसी व्यापी मोहि॥
नैन हमारे तुम्हकौं चाहैं, रती न मानैं हारि।
विरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि॥
सुनहु हमारी दादि गुसाईं, अब जनि करहु अधीर।
तुम धीरज मैं आतुर स्वामी काँचै भाड़ें नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर।
देह छताँ तुम मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर॥"

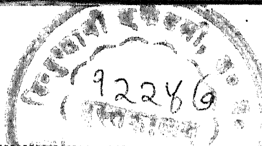
इन पंक्तियों में सीधी-सरल भाषा में कितनी मार्मिक बात कही गई है।

अन्तिम पद में से यदि कबीर का नाम उड़ा दिया जाय तो कोई भी रसिक इसे सूर का पद मान लेगा। क्या ऐसे पदों को नीरस अथवा साहित्यिकता से शून्य कहा जा सकता है ? ऐसे पद हिन्दी साहित्य के रसज्ञ आलोचकों द्वारा कबीर को श्रेष्ठ कवि स्वीकार करवा लेने के लिए पर्याप्त हैं।

कबीर साधक थे। उनकी साधना के दो रूप थे, कर्मयोग और हठयोग। कर्मयोगी के समान वे संसार के माया-मोह से निर्लिप्त रहते थे। उनकी कथनी और करनी में साम्य था। परन्तु उन्होंने संसार के संघर्ष से पलायन का उपदेश कभी भी नहीं दिया। वे उससे टक्कर लेने के पक्षपाती थे। उनकी इसी सक्रिय साधना को लक्ष्य कर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "साधना के क्षेत्र में वे युग-युग गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्यस्रष्टा।" सच्चे कर्मयोगी होने के कारण वे युग-युग गुरु थे उन्होंने सन्त काव्य का पथ-प्रदर्शन कर साहित्यिक क्षेत्र में नव-निर्माण का कार्य किया था। उनके समकालीन एवं परवर्ती सभी सन्त कवियों ने उनकी वाणी का अनुकरण किया। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की जो विचारधारा आज इतनी प्रवल हो उठी है उसके मूल प्रवर्तक कबीर ही थे। इस धारा को मैथिलीशरण आदि गांधीवादी कवियों ने अपनाया।" इस प्रकार कबीरदासजी न केवल तत्कालीन समाज में साधना के क्षेत्र में गुरु थे वरन् सन्तमत, सूक्तिकाव्य और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य सम्बन्धी हिन्दी साहित्य के पथ-प्रदर्शक और स्रष्टा भी थे।

कबीर युगद्रष्टा थे। अपने समय की सम्पूर्ण गतिविधियों पर उनकी नजर रहती थी। गांधी आधुनिक युग के द्रष्टा थे। युगद्रष्टा शाश्वत काल से विषमताओं का खंडन कर मानवता का प्रचार करते आये हैं। कबीर और गांधी की तुलना एवं समान भावनाओं का विश्लेषण यह सिद्ध कर देगा कि गांधी के समान कबीर भी अपने समय की जनता के एकमात्र प्रतिनिधि और पथ-प्रदर्शक थे। महात्मा गांधी की माँ कबीरपंथी थीं। गांधीजी पर उनकी शिक्षा का बहुत प्रभाव पड़ा था। "गांधीजी की सबसे बड़ी विशेषता जो उन्हें कबीर के साथ ले जाकर रखती है वह उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा है। वे हमेशा उस परम तत्त्व तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं जिसे उन्होंने कबीर के से शब्दों में अनिर्वचनीय ज्योति अथवा परम प्रकाश कहा है।...उस दुर्बल से शरीर को लोककल्याण में प्रवृत्त होने की अनन्त शक्ति उसी ज्योति के दर्शन से प्राप्त हुई है।" (डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—गांधी और कबीर)।

कबीर की तरह गांधीजी भी सत्य को परमात्मा मानते हैं। उनके सभी कार्यों का एक ही मापदण्ड है—सत्य। कबीर भी सत्य के अनन्य उपासक थे। इसीसे वे अपने को 'सत्यनाम का उपासक' तथा गांधीजी अपने जीवन को 'सत्य



के प्रयोग' कहा करते थे। दोनों ने ही 'रामनाम' की खूब महिमा गाई है। कबीर दशरथ-सुत राम को न मानकर परम ब्रह्म को राम मानते हैं उसी प्रकार महादेव देसाई ने गांधीजी के लिए लिखा है कि—"प्रार्थना में गांधीजी का ध्यान निराकार सर्वव्यापी प्रभु की ओर रहता है। राम, जिसको वे पूजते हैं, उनकी कल्पना का है, न तुलसीरामायरण का, न वाल्मीकि का। दोनों ही मानव मात्र से प्रेम करते हैं। कबीर मत-विरोध होने पर अक्खड़ हो उठे हैं परन्तु गांधी विरोधी के सम्मुख भी संसार को कँपा देने वाली धमकी घुटने टेक कर देते हैं। भौतिक शक्ति दोनों में से किसी पर भी विजय पाने में असमर्थ रही थी।"

कबीर का धर्म था कि—"साँई सेती साँच रहु, औराँ सूँ सुध भाइ।" परमात्मा में सच्ची लगन और प्राणिमात्र के साथ शुद्ध व्यवहार धर्म का यही सार है। इसी तरह गांधी का धर्म सब विशेषताओं और आडम्बरों से शून्य सरल धर्म है जो सर्वदा और सर्वत्र एकरस रहता है। दोनों ही धर्म के मूल तत्त्वों को ग्रहण करने में सदैव तत्पर रहे हैं। वे उसी मानव धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं जिसमें सब धर्मों की अच्छी बातों का सम्मिश्रण हो। गांधी और कबीर दोनों ही कथनी और करनी में पूर्ण साम्य के समर्थक हैं। वे मन, वचन और कर्म सबमें सामंजस्य बनाए रखना चाहते हैं। इसी कारण सबका उन पर विश्वास है। सिद्धान्त रूप में सब परमात्मा की सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हैं पन्तु व्यवहार में इसका बिलकुल उलटा होता है। परमात्मा की सर्व-व्यापकता को स्वीकार कर ही कबीर और गांधी ने पद-दलित शूद्रों को अपना बन्धु बनाया। गांधी के हरिजन-उद्धार का प्रारंभ कबीर पहले ही कर चुके थे। कबीर के लिए 'हरिजन सवीं न जाति' थी। उनके लिए हरिजन का पद सबसे ऊँचा है। गाँधी भी इसी सिद्धांत के कट्टर अनुयायी थे। वे प्राण-प्रण से हरिजनों का उद्धार करने में लगे रहे।

कबीर वर्ण-व्यवस्था के विरोधी थे। उनकी दृष्टि में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा शून्य था। परंतु गांधी हिन्दू वर्णव्यवस्था के समर्थक थे। उनका मत है कि वर्णव्यवस्था सर्वत्र है परंतु हिन्दू धर्म ही उसे पूर्ण वैज्ञानिक स्वरूप दे सका है जिसके कारण हमारे जीवन को भौतिक लक्ष्य की दृढ़ एकमुखता प्राप्त होती थी तथा भौतिक जीवन के अनिश्चय और संदेह से मुक्त हो जाने के कारण आध्यात्मिक अन्वेषण के लिए कुछ अवकाश भी सुलभ हो जाता था। तप का महत्त्व तब है जब उसका उपयोग लोकहित के लिए किया जाय। इसीसे वास्तविक अन्तःशुद्धि होती है। कबीर और गांधी का तप ऐसा ही था। गांधी ने आध्यात्मिक शक्ति को केवल सामाजिक क्षेत्र

तक ही सीमित न रखकर उसका उपयोग राजनीतिक क्षेत्र में भी किया था। उनका मत है कि आध्यात्मिकता के अभाव से ही सारी विषमताएँ और बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। उन्होंने सत्याग्रह द्वारा राजनीति में धर्म का प्रवेश कराया। इस क्षेत्र में गांधी कबीर से आगे हैं।

लोक-कल्याण तथा आत्म-कल्याण दोनों की दृष्टि से कबीर और गांधी दोनों ने ग़रीबी को अपनाया था। दैन्य और ग़रीबी आध्यात्मिक जीवन की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसी कारण दोनों परिश्रम करते थे। कबीर कपड़ा बुनते थे और गांधी चरखा चलाते थे। इन दोनों महापुरुषों की इसी समानता को लक्ष्य कर स्वर्गीय बड़थ्वाल ने लिखा है कि—"भारत अग्रजन्माओं का देश है जो अपने चरित्र से संसार को शिक्षा देते रहे हैं। भारत का यह अग्रजन्मत्व पाँच शताब्दी पहले कबीर के रूप में प्रकट हुआ था और आज गांधी के रूप में प्रकट हुआ है। परमात्मा की जो विभूति, मानवता का जो महत्त्व पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर कहलाया, वही आज गांधी है। केवल आवरण का भेद है, तथ्य का नहीं। यदि कबीर अपनी ही कविता के समान, सीधी-सादी भाषा में उल्लिखित आदर्श हैं तो गांधी उसकी और भी सुबोध क्रियात्मक व्याख्या।"

---: ० :—

४—लोकनायक तुलसी

तुलसी लोकनायकों की उस गौरवमयी परम्परा के एक अद्‌भुत जाज्वल्य-मान नक्षत्र हैं जिनकी शृङ्खला भगवान कृष्ण से लेकर अद्यावधि महात्मागाँधी तक चली आई है जब समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न होकर उसकी गति रुद्ध हो जाती है और सड़ाँध उत्पन्न होने लगती है उस समय किसी ऐसे महापुरुष का अविर्भाव होता है जो सम्पूर्ण विरोधी तत्त्वों एवं गतिरुद्धता के कारणों का परिष्कार कर उनमें पारस्परिक सहयोग और एकता की भावना उत्पन्न करता है। इतिहास इसका साक्षी है। महाभारत काल में रामयुग की मर्यादाएं नष्ट होने के कारण भारतीय संस्कृति के लिए एक भयानक संकट उत्पन्न हो गया था। ब्राह्मण क्षत्रियों के पारस्परिक द्वेष से उत्पन्न विषमता के कारण जनता त्रस्त थी। साधकों के विभिन्न दल ज्ञान, कर्म और भक्ति की मनमानी व्याख्या कर विरोध को व्यापकता दे रहे थे। ऐसे संकटपूर्ण समय में योगिराज कृष्ण ने महाभारत का संचालन कर प्रतिकूल शक्तियों का उन्मूलन किया और ज्ञान, कर्म और भक्ति की एकता स्थापित की। कालान्तर में पुनः कर्मकाण्ड की प्रधा-नता स्थापित हो जाने के कारण सामाजिक गतिरोध उत्पन्न हुआ। उसका परिष्कार करने के लिए भगवान बुद्ध का अवतार हुआ। उन्होंने सम्पूर्ण विष-मताओं को दूर कर मध्यम मार्ग के अनुकरण करने का उपदेश किया जो 'मध्यमा प्रतिपदा' के नाम से बिख्यात हुआ। भगवान् बुद्ध के लगभग डेढ़ हजार वर्ष उपरान्त जब बुद्ध धर्म भी बाह्य कर्मकाण्ड और आडम्बर के माया-जाल में उलझ गया तो ~~भगवान्~~ शङ्कर ने समाज का उद्धार करने का प्रयत्न किया। परंतु शङ्कर स्वामी का प्रभाव केवल धार्मिक एवं चिंतन के क्षेत्रों तक ही सीमित रहने के कारण अधिक स्थायी और ठोस न रह सका क्योंकि उसमें समाज की उपेक्षा सी थी। कालान्तर में धार्मिक आचार्यों ने शङ्कर के सिद्धांतों के आधार पर धर्म का पुनः परिष्कार कर सामाजिक मर्यादा स्थापित करने का प्रयत्न किया। आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने उनके इस प्रयत्न को व्यावहारिक रूप द्वारा पूर्णता प्रदान कर समाज को कल्याणमयी मर्यादा के बन्धन में बाँध दिया और उसमें समन्वय की भावना उत्पन्न की। यह परिष्कार लगभग बारह सौ वर्षों से चली आती हुई विषमता का था। इसी से तुलसी द्वारा स्थापित लोकधर्म आज भी हिन्दुओं का सर्वमान्य लोकधर्म माना जाता

है और उनका 'मानस' हिन्दुओं का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्मग्रन्थ। तुलसी की महानता का यही ऐतिहासिक महत्त्व है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचारपद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" लोकनायक वही हो सकता है जो समाज के मनोविज्ञान को भली-भाँति समझ सके। वह प्राचीनता का संस्कार कर उसमें अपनी नवीनता का मिश्रण कर उसे इस रूप में ढाल देता है जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग का लाभ होकर उसे सन्तोष और शान्ति प्राप्त हो सके। भौतिक शक्ति के आधार पर कोई व्यक्ति लोकशासक तो हो सकता है परंतु लोकनायक नहीं। शासक से जनता प्रायः भयभीत और दूर रहती है जबकि नायक जनता के स्नेह और श्रद्धा का भाजन होता है। शासक का अधिकार केवल तन पर ही रहता है, परंतु नायक का तन और मन दोनों पर रहता है। इसी से उसका प्रभाव स्थायी, दृढ़ और स्नेह का रहता है। लोकनायक स्वयं त्यागकर समाज की श्रद्धा, प्रेम और सम्मान प्राप्त करता है। अकबर और तुलसी दोनों सम-कालीन थे। अकबर लोकशासक था और तुलसी लोकनायक। अकबर का अब केवल ऐतिहासिक अस्तित्व अवशिष्ट है जब कि तुलसी आज भी हिन्दू समाज के कर्णधार का आसन ग्रहण किए हुए है। यही दोनों में अंतर है। साथ ही लोकनायक का पद उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो सामयिक परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन कर ऐसी प्रचलित मान्यताओं को, जो समाज के लिए घातक हो उठती हैं, मानने से स्पष्ट इंकार कर देता है। उसमें प्रगतिशीलता की भावना होती है। वह उन प्राचीन मान्यताओं का निराकरण कर, समय के अनुकूल उचित मान्यताओं की स्थापना करता है। परन्तु उसकी प्रगतिशीलता युग की सीमाओं से बंधी रहती है फिर भी उसमें एक ऐसी उदार, विस्तृत और सार्वभौम भावना अन्तर्निहित रहती है जिसे सम्पूर्ण युगों पर लागू किया जा सकता है। तुलसी ने यही किया था। तुलसी की इसी भावना को लक्ष्य कर डाक्टर राम-विलास शर्मा आदि आधुनिक प्रगतिवादी आलोचकों ने उन्हें एक स्वर से प्रगति वादी घोषित किया है। कुछ आलोचक तुलसी को कट्टर ब्राह्मणवादी सिद्ध कर प्रतिक्रियावादी कहते हैं।

तुलसी लोकनायक क्यों माने गए, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सर्व-प्रथम तुलसी के युग पर एक दृष्टि डाल लेना उचित है। तुलसी के समय तक देश पर मुसलमानों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। समाज की दशा

विश्रृङ्खलित थी। उसके सामने कोई उच्च आदर्श नहीं था। उच्च वर्ग विलासिता में निमग्न था और निम्नवर्ग अत्याचार का शिकार हो रहा था। संसार त्यागकर वैरागी हो जाना साधारण सी बात थी। विभिन्न सम्प्रदाय अपने मतों का प्रचार करने में प्रयत्नशील थे। सन्तगण वेद, पुराण, साधु आदि की निंदा कर सामाजिक मर्यादा पर कुठाराघात कर रहे थे। योगमार्गी साधु अपने चमत्कारों से जनता को चमत्कृत करने में ही प्रयत्नशील थे। 'अलख को लखने की भावना जोरों पर थी। सन्तों और योगमार्गियों के इस दल में अशिक्षा एवं उच्चवर्ग के प्रति घृणा होने के कारण, उनके आत्मविश्वास ने दुर्वह गर्व का रूप धारण कर लिया था। ऊँची जातियाँ इनसे चिढ़ती थीं। हिन्दू समाज बल-वैभवहीन था तो मुस्लिम समाज विलासिता में निमग्न था। मदान्ध शासक तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करने के इच्छुक थे। यद्यपि अकबर की उदार नीति ने उस समय उनके इस प्रयत्न को पूरा नहीं होने दिया फिर भी हिन्दू त्रस्त थे। तुलसी से पूर्व कबीर ने हिंदू-मुस्लिम समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया था परंतु उन्हें आंशिक सफलता प्राप्त हुई थी। सूफी साहित्य में भी इस्लाम की आंशिक गन्ध थी। कृष्णभक्त हिन्दुओं को कोई शक्तिशाली आदर्श देने में असमर्थ रहे थे। अतः भयभीत जनता को इन प्रयत्नों से कोई ढाढ़स नहीं मिला। अंत में तुलसी ने इस भयभीत एवं मार्गभ्रष्ट जनता के मनोनुकूल राम के शक्ति, शील एवं सौन्दर्यसमन्वित रूप की स्थापना कर उसे सम्बल दिया। तुससी के राम सर्वशक्तिमान, दीन प्रतिपालक और दयालु थे। जनता ने गद्‌गद् हृदय से तुलसी का आभार नतमस्तक होकर स्वीकार किया। उसमें अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न हुई। चाहे वह अत्याचार धार्मिक हो या सामाजिक। तुलसी के राम का कार्य यही है कि—

"जब जब होइ धरम की हानी। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। हरहिं सकल सज्जन भवपीरा॥"

राम के इस स्वरूप की कल्पना में जनता को अपना रक्षक मिला। वह सन्तुष्ट हुई। 'मानस' के विभिन्न पात्रों में जनता ने अपने आदर्श पात्रों का साकार रूप देखा। तुलसी की इसी उद्‌बोधन शक्ति से चकित होकर युग कवि 'निराला' मुक्त कण्ठ से गा उठा है—

"देश काल के शर से बिंध कर
यह जागा कवि अशेष छविधर
इसका स्वर भर भारती मुखर होएंगी ?
निश्चेतन निज तन मिला विकल

छलका शत शत कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोएंगी ।।"

और हुआ भी यही ।

कुछ आलोचक तुलसी की हिन्दू धर्म के प्रति कट्टर आस्था देखकर यह कह उठे हैं कि तुलसी ने इस्लाम के विरोध में हिंदू धर्म की रक्षा की । तुलसी ने हिंदू धर्म की रक्षा अवश्य की थी परन्तु इस्लाम से नहीं । इस्लाम से रक्षा का प्रश्न तो उनके युग से पूर्व की समस्या थी । अकबर की उदार नीति ने इस समस्या को बहुत कुछ सुलझा दिया था । इसलिए तुलसी को ऐसी संकीर्ण मनोवृत्ति का प्रदर्शन करने की कोई कावश्यकता नहीं थी । उन्होंने हिंदू धर्म की रक्षा अकबर और इस्लाम से न कर हिन्दू धर्म के आन्तरिक शत्रुओं से, मत-मतान्तर, द्वेष, कलह, अन्धविश्वास आदि से की थी । तुलसी-साहित्य का निष्पक्ष अध्ययन न करने के कारण ही डाक्टर ताराचन्द ने तुलसी को कंजर्वेटिव कहा था और कबीर को 'रैडिकल' । परंतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तुलसी को न तो रैडिकल मानते हैं और न कन्जर्वेटिव, वरन् उन्हें लोकहित का उन्नायक मानते हैं । जब तक हमारे आलोचक पक्षपातपूर्ण दृष्टि से तुलसी का मूल्यांकन करते रहेंगे तब तक उन्हें कंजर्वेटिव, कट्टर ब्राह्मणवादी, प्रतिक्रियावादी और न जाने क्या-क्या कहते रहेंगे । आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने सिद्धान्तों के सीमित दायरे से छुटकारा पाकर निष्पक्ष दृष्टि से तुलसी साहित्य का मूल्याङ्कन करें । ऐसा करने पर सम्पूर्ण मध्ययुग में तुलसी जैसा दूसरा लोकनायक और कोई नहीं मिलेगा ।

तुलसी लोकनायक क्यों बन सके ? इसके लिए तुलसी के जीवन की विविध दशाओं का ज्ञान आवश्यक है । तुलसी जीवन के विभिन्न रूपों का जो अद्भुत समन्वय उपस्थित कर सके इसका कारण यह था कि उन्होंने समाज के नाना स्तरों का जीवन भोगा था । गृहस्थ जीवन की निकृष्टतम कोटि की आसक्ति के वे शिकार रह चुके थे । उच्चकुल के ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होकर दरिद्रता के कारण उन्हें दर दर भटकना पड़ा था । निराश्रित होने के कारण एकबार उन्हें मस्जिद में भी सोना पड़ा था । जीवन में अशिक्षित एवं निम्नकोटि के व्यक्तियों से लेकर परम साधकों और काशी के दिग्गज पण्डितों का सहवास उन्हें प्राप्त हुआ था । उनका जनभाषा तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य का ज्ञान विस्तृत और अगाध था । पिंगल शास्त्र पर उनका पूर्ण अधिकार था । लोक और शास्त्र के इस सम्मिलित और यथार्थ ज्ञान ने ही उनके काव्य को इतना व्यापक बनाया है । उस समय अधिकांश सरस्वती के उपासक केवल आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही अपनी सम्पूर्ण काव्य शक्ति का उपयोग कर रहे थे ।

तुलसी क्रान्तिकारी थे। इसलिए ज्ञान के इस दुरुपयोग से तिलमिला उठे। उनकी दृष्टि में "कीन्हें प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना" वाली स्थिति थी। उनका मत था कि 'गिरा' का वास्तविक उपयोग प्राकृत जन के गुणगान करने के लिए न होकर जन-कल्याण के लिए होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है। कबीर ने भी यही किया था। कहा जाता है कि तुलसी ने अपना काव्य 'स्वान्तःसुखाय' लिखा था। परन्तु उस फक्कड़ का अपना व्यक्तिगत सुख ही क्या था ? विद्वानों का कथन है कि महान् पुरुषों का वास्तविक सुख जन-सुख में निहित रहता है। समाज और महान व्यक्ति अभिन्न होते हैं। गांधी का व्यक्तिगत सुख क्या था ? केवल जन-कल्याण ! तुलसी और समाज दोनों अभिन्न थे। इसलिए उनके सुख में निश्चित रूप से समाज का सुख सम्मिलित था।

तुलसी व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनका व्यावहारिक आदर्शवाद यह सिखाता है कि साधुतावादी को किसका पक्ष लेना चाहिए और किसके विरुद्ध युद्ध में पराक्रम दिखाना चाहिए। 'मानस' की धर्मभूमि 'सत्' के समर्थन और 'असत्' के निराकरण वाले सिद्धान्त पर खड़ी हुई है। शंकर के समान उन्होंने अद्वैतवाद के निवृत्तिमूलक धर्म का प्रचार न कर संघर्षपूर्ण सांसारिक विशिष्टाद्वैतवाद को अपनाया था जिसमें निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का समन्वय था। निवृत्ति और प्रवृत्ति के इस समन्वित स्वरूप द्वारा ही वे अपने व्यावहारिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा कर सके थे। इसी कारण तुलसी का जीवन-दर्शन उत्तर भारत के अधिकांश पारिवारिक जीवन को गत तीन सौ वर्षों से अनुप्राणित करता आ रहा है। व्यवहार जगत में अच्छाई-बुराई दोनों साथ मिलती हैं। तुलसी के राम के साथ रावण, सीता के साथ मन्थरा है। अच्छाई-बुराई से परिपूर्ण जीवन की यह वास्तविकता तुलसी कभी नहीं भूले थे। किन्तु साथ ही क्षणमात्र के लिए वे इस बात को भी नहीं भूले थे कि साधुतावादी को किसका पक्ष लेना चाहिए। इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करता हुआ तुलसी का व्यावहारिक आदर्शवाद स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति, व्यष्टि और समष्टि सम्बन्धी व्यवधानों को दूर कर हमें अन्तर्साम्य, समरसता और सहजता का उपदेश देता है। इसमें व्यवहारजगत की सम्पूर्ण विषमताओं का शमन हो जाता है। व्यवहार जगत में विष के शत-शत घूँट पीकर भी तुलसी ने भक्ति और प्रेम की जन कल्याणकारी सुधा से 'मानस' को आप्लावित कर दिया था।

तुलसी का दृष्टिकोण मानवतावादी था। इसी कारण उसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का स्वरूप साकार हो उठा है। उसके मूल में तुलसी की लोक-संग्रह की भावना कार्य कर रही है। उनकी ईशोपासना मानवतावाद के आसन पर

ही सिद्ध हुई है । सूर इस लोकसंग्रह की भावना के अभाव के कारण व्यवहार जगत से उदासीन रहे । तत्कालीन पद-दलित, विजित, दीन-हीन हिन्दू समाज को जननायक धनुषधारी राम की कथा सुनाकर तुलसी ने जिस व्यावहारिक आदर्शवाद का प्रतिपादन किया वह मुरलीधर कृष्ण के उपासक सूर के लिए दर्शन-दुर्लभ था । राम ने बाप के राज्य को 'बटाऊ की नाँई'' त्यागकर अशिक्षित जनों के सहयोग से रावण जैसे शोषक अत्याचरी का वध किया था । राम वर्ग-स्वार्थों से मुक्त थे । वे त्याग की मूर्ति थे । इसी से वे जनता के आदर्श बन सके ।

मानस की धर्मभूमि विश्वधर्म पर आधारित हैं । मानव के कर्मक्षेत्र के विस्तार के अनुरूप ही ब्रह्म की व्यापक सत्ता का अनुभव होता है जिसकी चरम परिणति विश्वबन्धुत्व की भावना में है । मानस में इसी कारण व्यापक विश्व-धर्म के लिए सीमित गृहधर्म का भरत द्वारा उल्लंघन कराया गया है क्योंकि व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की अवहेलना के लिए परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं माना जाता । इसी कारण संकुचित गृहधर्म की तुलना में विभीषण ने व्यापक लोकधर्म का पक्ष ग्रहण कर अपने अत्याचारी भाई का नाश कराया था । इसके लिए शक्ति, शील और सौंदर्य से समन्वित आदर्श की स्थापना होनी चाहिए । तुलसी ने राम के रूप में यही आदर्श उपस्थित कर लोक को जन-कल्याण का मार्ग दिखाया था । ऐसा आदर्श उपस्थित करने में तुलसी इस कारण और समर्थ हो सके कि उन्होंने कला से अधिक कला के विषय को और कला के विषय से अधिक लोक-मङ्गल की भावना को प्रश्रय दिया था । यदि वे ऐसा न करते तो उनका मानस भी केशव की 'रामचंद्रिका' बनकर रह जाता । तुलसी जगजीवन के कट्टर समर्थक और शोषकों के विरोधी थे । निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है—

"तुलसी जगजीवन अहित, कतहूँ, कोउ हित जानि ।
सोषक भानु कृसानु महि, पवन एक धन दानि ।"

जगजीवन के इस अमर कलाकार की इसी साधना को देखकर तरुण कवि वीरेन्द्र मिश्र मुक्तकण्ठ से पुकार उठा है—

"गीत तुलसी ने लिखे तो आरती सब की उतारी ।
राम का तो नाम है, गाथा-कहानी है हमारी ।।"

हमारी इस गाथा-कहानी के अमर गायक तुलसी को यदि कोई प्रतिक्रियावादी कहे तो इसमें उसका स्वयं का मति-भ्रम ही व्यक्त होता है, इससे तुलसी के लोकनायकत्व पर कोई आँच नहीं आती । तुलसी की प्रतिक्रियावादिता (?) का दूसरा प्रमाण उनकी नारी-भावना बताया जाता है । 'ढोल गँवार शूद्र पशु

नारी' वाली पंक्ति को लेकर तुलसी को नारी-विरोधी कहा जाता है। आलोचक इस पंक्ति को तो देख लेते हैं परन्तु उन पंक्तियों को नहीं देख पाते जिनमें नारी के प्रति तुलसी का हृदय द्रवित हो आठ आठआँसू रो उठा है। नारी की पराधीनता को देखकर कवि कह उठा है—

"कत विधि रची नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥"

तुलसी की दृष्टि में पुरुष और नारी का मूल्य समान है। उनके राम-राज्य में दोनों के लिए एक ही नियम है—

"एक नारि व्रतरत सब भारी।
ते मन वच क्रम पति हितकारी।"

इस तरह पुरुष के विशेषाधिकारों को अमान्य करते हुए उन्होंने दोनों को समानरूप से एक ही व्रत पालने का आदेश दिया था। राम इसके प्रतीक हैं।

तुलसी पर दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि वे ब्राह्मण धर्म के कट्टर समर्थक और वर्णाश्रम धर्म के प्रतिपादक थे। किंतु देखना यह है कि इस क्षेत्र में उनकी दृष्टि उदार थी या अन्य पुराण-पन्थियों के समान संकीर्ण। ब्राह्मणों ने—जो पुरोहित वर्ग था—उपासना, मुक्ति, वेदाध्ययन, भक्ति आदि का द्वार अछूतों एवं विधर्मियों के लिए बन्द कर रखा था। तुलसी ने उन सबके लिए उस द्वार को खोल दिया। तुलसी की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती। जो 'अति अधम' समझे जाते हैं, उन "आभीर, जवन किरात, खस स्वपचादि" के लिए भी उनका कहना है कि वे राम का नाम लेकर मुक्त हो सकते हैं। यह उनकी जनवादी भक्ति का स्वरूप है। प्रमाण द्रष्टव्य है—

"सवरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुनगाथ॥"

यह तुलसी का उदारतावादी ब्राह्मण धर्म था। जहाँ तक वर्णाश्रम धर्म का सम्बन्ध है वहाँ तुलसी अपने युग की सीमाओं से बँधे हुए थे। उनके राम वर्ण व्यवस्था के हामी होते हुए भी नीच कही जाने वाली जातियों के साथ इस तरह का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हैं जिससे उनके हृदय की शुद्धता में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता। शवरी के बेर खाना ऐसा ही प्रसंग है। राम ही क्यों, भरत और मुनि वशिष्ठ तक निषादराज के साथ इस तरह का व्यवहार करते हैं जो वर्ण-व्यवस्था के पृष्ठ-पोषक को आश्चर्य में डाल देता है। ये प्रसंग वर्ण-व्यवस्था की कट्टरता की धज्जी उड़ाने के लिए यथेष्ट हैं। तुलसी जीवन के

प्रत्येक क्षेत्र में उदारतावादी थे। उन पर संकीर्णता का आरोप करना या खींच तान कर उनमें संकीर्णता खोज निकालना पक्षपातरहित नहीं है।

तुलसी का 'रामराज्य' महात्मा गांधी के रामराज्य का प्रेरक है। गांधी स्वराज्य का स्वरूप 'रामराज्य' बताया करते थे। तुलसी के रामराज्य का आदर्श वह था जिसमें—

"दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहू नहिं व्यापा।
बैर न करहिं काहु सन कोई। राम-प्रताप विषमता खोई।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।"

तुलसी ने ऐसे 'रामराज्य' की कल्पना क्यों की ? इसके मूल में तत्कालीन समाज की दुरवस्था थी। इसी कारण उन्होंने अनाचारी शासकों की भर्त्सना करते हुए कहा था कि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।।" डाक्टर रामविलास शर्मा के शब्दों में—"उत्तर काण्ड में एक ओर रामराज्य की कल्पना, दूसरी ओर कलियुग की यथार्थता द्वारा तुलसीदास ने अपने आदर्श के साथ वास्तविक परिस्थिति का चित्रण कर दिया है। किसी भी दूसरे कवि के चित्रों में ऐसी तीव्र विषमता नहीं है। किसी के चित्रण में यह 'कन्ट्रास्ट' नहीं मिलता।" तुलसी के रामराज्य में धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, जातिविरोध आदि के कारण किसी को भी क्षति नहीं उठानी पड़ी।

"तुलसी का सम्पूर्ण काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है।" उन्होंने लोक और शास्त्र का समन्वय; भाषा और संस्कृत का समन्वय; भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय; गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय; निर्गुण और सगुण का समन्वय; ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय; प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय; आदर्श और व्यवहार का समन्वय; विभिन्न काव्यप्रणालियों का समन्वय आदि विभिन्न विरोधी तत्त्वों के समन्वय द्वारा उनकी विषमता का निराकरण कर एक स्वस्थ, नवीन और स्फूर्तिदायक समानता का आदर्श उपस्थित किया। राम के शक्ति शील, सौंदर्य समन्वित चित्रण के रूप में उपर्युक्त सभी समन्वयों का उपयोग कर उन्होंने राम के लोक-संग्रही रूप का अत्यंत मार्मिक कलापूर्ण चित्र उपस्थित किया। उस काल के हिंदू धर्म में अनेक भ्रांतियाँ प्रचलित थीं। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में घोर वैमनस्य था। उन्होंने राम और शिव की एकता स्थापित कर इस विरोध को मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उन्होंने बुराई से भी समझौता करने का प्रयत्न किया था। वे शाक्तों के विरोधी थे। इसी कारण उनके लिए "वैष्णव की छपरी भली भलो न साकत को बड़ गाँव" था। क्योंकि शाक्तों की रीति-नीतियों को वे समाज के लिए घातक समझते थे। इसीसे उन्होंने सीता में

आदिशक्ति का रूप प्रतिष्ठित कर शाक्तों का भी संस्कार करने का प्रयत्न किया। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों का यह समन्वय उनके काव्य में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। इसी प्रकार उनके काव्य में अद्वैत, द्वैत और पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों का भी समन्वय हुआ है। भक्ति के लिए उन्होंने भगवत् कृपा को ही प्रधान माना है। वे ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक रूप में कोई उपयोगिता स्वीकार नहीं करते परंतु सामयिक परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही प्रधान माना है क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञान की उपादेयता क्षीण हो चली थी। जनसाधारण का मानसिक स्तर उसे समझने में असमर्थ था।

तुलसी की दृष्टि बड़ी तीव्र थी। वे समाज के सजग प्रहरी थे। उन्हें लोक हित का पूर्ण ध्यान था। उनका मत था कि जब तक लोक-मर्यादा का पालन नहीं होगा तब तक जनकल्याण असम्भव है। मर्यादा के अभाव में समाज में व्यवस्था उत्पन्न होना आकाश-कुसुम के समान है। इसी कारण तुलसी के काव्य में ऐसी पंक्ति एक भी नहीं मिलेगी जिसमें मर्यादा का उल्लंघन हो। उनके राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। फिर मर्यादा का उल्लंघन कैसा! उन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों का ऐसा संतुलित और मर्यादित वर्णन किया है कि सहसा इस मनीषी कवि की प्रतिभा पर साधारण बुद्धि अविश्वास कर उठती है। हिन्दी साहित्य की यह निधि शाश्वत रहेगी। राम पूर्ण मानव हैं। मानव के सुख-दुख राग-विराग की सम्पूर्ण भावनाएँ उनमें हैं। राम के रूप में युग ने जनता का पूर्ण रूप देखा। उनमें अपने आदर्शों का पूर्ण प्रतिबिंब देखकर लोक ने ललक कर उन्हें अपना लिया। मानस के पारस्परिक मानवीय सम्बन्ध एवं चित्रकूट की सभा में वर्णित विभिन्न प्रकार की नीतियाँ अब तक हमारा मार्ग-प्रदर्शन करती आ रही हैं। यह तुलसी ही की विराट कल्पना का परिणाम था।

तुलसी ने कबीर आदि की हठधर्मी के स्थान पर सहिष्णुता का सम्बल ग्रहण किया था। उन्होंने जहाँ उच्छृङ्खलता देखी वहाँ समाज की व्यवस्था पर प्रहार भी किया परंतु उस प्रहार में कबीर की सी निर्ममता और विध्वंसक भावना न होकर एक निर्माणकारी और कल्याणमयी भावना थी। इसका कारण तुलसी के चरित्र की सौम्यता थी। समन्वय का आधार सौम्यता मानी जाती है। बुद्ध, ईसा, गाँधी आदि सभी महापुरुषों का चरित्र सौम्य था। इसी सौम्यता के कारण तुलसी के खंडन में कटुता के स्थान पर मिठास अधिक है। उन्होंने सन्तों के साथ असन्तों की भी वन्दना की है—"बन्दौं सन्त असज्जन चरना।" वे मर्यादा के कट्टर समर्थक थे। वेद, पुराण, शास्त्र, मूर्तिपूजा, तीर्थ, वर्णव्यवस्था, लोकमत आदि का उन्होंने पूर्ण समर्थन किया है। परन्तु इस

समर्थन में भी साम्प्रदायिक कट्टरता न होकर एक विशाल मानवीय उदारता है। उनके खण्डन में उग्रता न होने का प्रधान कारण यह रहा है कि वे विध्वंसक क्रान्ति में विश्वास न कर निर्माणकारी परिवर्तन में ग्रास्था रखते थे। इसी कारण धर्मप्राण हिन्दू समाज में उन्हें सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

भाषा ग्रौर काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी इस युगपुरुष ने समन्वय किया था। भाषा ग्रौर भावों पर उनका पूर्ण ग्रधिकार था। उन्होंने ग्रपने समय में प्रचलित दोनों साहित्यिक भाषाग्रों—ब्रज ग्रौर ग्रवधी को समान भाव से ग्रपनाया। दोनों पर उनका पूर्ण ग्रधिकार था। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे परंतु लोकहित की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने इन जन-भाषाग्रों को ही ग्रपने साहित्य का माध्यम बनाया जिसके कारण उन्हें पण्डितों का कोपभाजन बनना पड़ा था। प्रतिदान में वे ग्रमर हो गये। भाषा के ग्रतिरिक्त पिंगल शास्त्र के सभी नियमों का उन्होंने पूर्ण पालन किया था। इसी कारण ग्रालोचक गरण शुद्ध साहित्य की दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य में 'मानस' का स्थान ग्रत्यन्त उच्च मानते हैं। भाषा ग्रौर पिंगल शास्त्र के साथ ही उन्होंने ग्रपनी समकालीन एवं पूर्वप्रचलित समस्त काव्यपद्धतियों, कविसमयों, प्रतीकों ग्रादि का सफलतापूर्वक उपयोग किया। चंद के छप्पय कुंडलियाँ, कबीर के दोहे ग्रौर पद, सूर ग्रौर विद्यापति की की गीत-पद्धति, ईश्वरदास, जायसी की दोहा चौपाई-पद्धति, रहीम की बरवै-पद्धति, गंग ग्रादि की सवैया-कवित्त पद्धति एवं मङ्गल काव्यों की मङ्गलपद्धति का उन्होंने ग्रपने काव्य निर्माण में उपयोग किया। उन दिनों पूर्वी भारत में ग्रनेक प्रकार के मङ्गल-काव्य प्रचलित थे। बङ्गाल में इनकी प्रचुरता है। पर हिन्दी में केवल कबीर के नाम पर चलने वाले ग्रौर बाद के बने हुए ग्रादिमँगल, ग्रनादिमंगल, ग्रगाधमङ्गल ग्रादि रचनाएँ मिलती हैं जो केवल इस बात के सबूत के रूप में बची रह गई हैं कि किसी समय मध्यप्रदेश में भी इन मङ्गल काव्यों की बड़ी भारी परम्परा व्याप्त थी। मंगल काव्य विवाह काव्य ग्रौर सृष्टि-प्रतिक्रिया स्थापक ग्रन्थ हैं। नन्ददास का एक रुक्मिणी-मङ्गल मिलता है ग्रौर चंद के रासो में संयोगिता को पत्नी-धर्म की शिक्षा देने के लिये विनय-मङ्गल नाम का एक ग्रध्याय है, जो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस शैली पर तुलसी ने पार्वती-मङ्गल ग्रौर जानकी मङ्गल नाम के दो काव्य लिखे थे। साथ ही तत्कालीन जनता में प्रचलित सोहर, नहछू गीत, चाँचर बेली, वसन्त ग्रादि रागों में भी उन्होंने रामकाव्य लिखा था। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित गीतपद्धति से लेकर शिक्षित जनता में प्रचलित काव्य रूपों को उन्होंने समान हृदय से ग्रपनाया

था। यह उनकी अद्भुत काव्य-प्रतिभा का तथा उन्हें युग का प्रतिनिधि एवं सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने का ज्वलन्त प्रमाण है।

इतनी विषमताओं में साम्य स्थापित करने वाला पुरुष यदि लोकनायक नहीं होगा तो और कौन होगा। तुलसी ने बुद्ध, कबीर, चैतन्य आदि की भांति कोई मत नहीं चलाया पर हिंदुत्व के क्षेत्र में आज तुलसी का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। तुलसी कवि, भक्त, पण्डित, सुधारक, लोकनायक और भविष्य-स्रष्टा थे। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में समता की रक्षा करते हुए ऐसे काव्य का सृजन किया जो अब तक उत्तर भारत का पथ-प्रदर्शक रहा है। इसका कारण यह है कि महान् साहित्य सदैव अपने सामने एक महान् लक्ष्य लेकर चलता है जिसके प्रति क्रियाशील रहने की भावना को वह अपने पाठकों के हृदय में सचेत रूप से जगाया करता है। रामचरितमानस में यह गुण विशेष रूप से विकसित हुआ जिसने विवेक और अनुराग, शास्त्र और समाज, ज्ञान और क्रिया के बीच एक दृढ़ समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की।

तुलसी की इस महान् प्रतिभा से प्रभावित होकर प्रसिद्ध आलोचक प्रकाशचंद्र गुप्त तुलसी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखते हैं—"तुलसी की दृष्टि व्यापक और सार्वभौमिक थी। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण स्वस्थ और जनवादी था। दृष्टि का यह व्यापक प्रसार हमें विश्व के दो-चार ही लेखकों या कवियों में मिलता है। जीवन के रङ्ग-विरंगे चित्र-विचित्र रूप को उन्होंने उसकी समग्र व्यापकता में देखा। हर्ष-विषाद, उल्लास-विलास, जय-पराजय के क्षण उनके काव्य में हम चिरकाल तक सुरक्षित पाएँगे। मनुष्य का, प्रकृति का, समाज का व्यापक दर्शन तुलसीसाहित्य में पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुआ है। जो विशाल चित्रपट तुलसी ने हमें दिया है, उसके पीछे हम कवि की मूलतः जनवादी दृष्टि ही पाते हैं।" तुलसी की इसी महानता का उद्घाटन करते हुये स्वर्गीय रत्नाकर जी ने अपने एक छप्पय में उन्हें देवताओं के समकक्ष ठहराया है।

"कविता सृष्टि उदारु चारु-रचना विरंचिवर।
भक्ति भाव प्रतिपाल विस्नु मद मोद आदि हर।।
बोध विबुध विबुधेस, सेस ध्रुव धर्म धराधर।
सब्द सिंधु सुभ बरुन, अर्थ धन धन्य धनाकर।।
भ्रम बिटप प्रभंजन कुमति वन, अगिन तेज रवि सुजस ससि।
मुनि तुलसिदास सब देवमय, प्रनवत 'रत्नाकर' हुलसि।।"

५—रीतिकाल

हिंदी साहित्य में रीतिकाल सम्वत् १७०० से १९०० तक माना गया है। रीतिकाल का सामान्य परिचय देते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"हिंदी काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था।" शुक्लजी के इसी एक वाक्य से इस काल का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। आगे विवेचन करते हुए शुक्ल जी कहते हैं—"इन रीति-ग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृङ्गार रस) और अलङ्कारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुए।...रीति-ग्रन्थों की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गये।" आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त कथन से संक्षेप में रीतिकाल की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। आचार्य शुक्ल एक ओर इस काल को काव्य की पूर्ण प्रौढ़ावस्था मानते हैं और दूसरी ओर विषय की दृष्टि से उसे संकीर्ण और जीवन से परे कहते हैं। जो युग एक ओर शुक्लजी जैसे सजग आलोचक से प्रशंसा प्राप्त कर रहा है और दूसरी ओर भर्त्सना, वह अवश्य ही अद्भुत होगा इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः यह आवश्यक है कि हम इस काल के नामकरण, परिस्थितियों, विशेषताओं, विकास एवं महत्त्व का विश्लेषण करते समय पक्षपातरहित बुद्धि से काम लें तभी इस युग के साथ न्याय कर सकेंगे। रीतिकालीन काव्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हैं—एक उसे नितांत अश्लील, हेय और पतनोन्मुख काव्य कह कर उसके प्रति घृणा और द्वेष का भाव जगाता है और दूसरा उस पर रीझकर उसे ही काव्य कहने के लिये तैयार है। इन दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों के कारण ही इसके विवेचन में सावधान रहने की आवश्यकता है।

आचार्य शुक्ल ने इस युग में रीति-ग्रन्थों का बाहुल्य देखकर ही इसका नाम रीतिकाल रखा था। संस्कृत में काव्यात्मा को स्पष्ट करने वाले पाँच सम्प्र-

दाय मिलते हैं—(१) अलङ्कार, (२) रीति, (३) वक्रोक्ति, (४) ध्वनि, (५) रस। इनमें से रीति सम्प्रदाय 'रीति', मार्ग या शैली को काव्य की आत्मा मानता है। इसके अनुसार 'रीति', विशिष्ट विलक्षण या चमत्कारिक पदरचना है। वामन संस्कृत के रीति-सम्प्रदाय के जन्मदाता थे। परंतु हिन्दी-साहित्य में इस शब्द का अर्थ विशिष्ट पद-रचना से न होकर उपर्युक्त सभी काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्यांगों के लक्षण सहित या उनके आधार पर लिखे गए उदाहरणों से माना जाता है। संक्षेप में लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य ही हिंदी का रीति-काव्य है।

विभिन्न विद्वानों ने रीतिकाल को अनेक नामों से पुकारा है। मिश्रबन्धु इसे अलंकृत काल मानते हैं किंतु उनका तात्पर्य अलङ्करण के व्यापक अर्थ से रहा है जिसके अन्तर्गत दशांग कविता आ जाती है। आचार्य शुक्ल का दिया हुआ नाम 'रीतिकाल' यद्यपि तत्कालीन लक्षण-उदाहरण शैली की प्रमुख प्रवृत्ति को व्यक्त करता है तथापि रीतिबद्ध शैली से इतर रचनाएँ इस नाम द्वारा उपेक्षित होती हैं। पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इसे शृङ्गार काल के नाम से पुकारा है। यह नाम तत्कालीन सारी कृतियों को समेट कर चलता है। आचार्य शुक्ल ने भी इस नाम की व्यापकता और सार्थकता को स्वीकार कर अन्त में कहा था—"वास्तव में शृङ्गार और वीर दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृङ्गार की रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृङ्गार काल कहे तो कह सकता है।" शृङ्गार की वृत्ति तत्कालीन समाज तथा वातावरण की व्यापक वृत्ति थी। काव्य का कोई भी अङ्ग इससे अछूता नहीं था। डाक्टर रसाल इसे 'कलाकाल' कहते हैं क्योंकि काव्य के कलापक्ष का जितना उत्कर्ष इस काल में हुआ उतना और कभी नहीं हो सका। अस्तु, इस युग में अलङ्करण, रीतिशैली, कलात्मकता अथवा शृङ्गार-भावना का प्राधान्य होने के कारण इनमें से किसी एक के आधार पर इस युग का नामकरण किया जा सकता है क्योंकि उपर्युक्त भावनाओं का इतना सन्तुलन अत्यन्त दुर्लभ है।

शृङ्गार की इस सर्वव्यापी भावना के मूल में तत्कालीन परिस्थितियाँ पूर्ण सहयोग दे रहीं थीं। यह काल मुगल साम्राज्य के पराभव और विनाश का काल था। परन्तु मुगल शासन का पूर्ण वैभव पर पहुँचा हुआ युग कलाओं की साधना का युग था। उस समय मुगल शासकों की कलाप्रियता से कला-कौशल को अतीव प्रोत्साहन मिला था। वह सौन्दर्योपासना का युग था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में काव्य, कला और संगीत की पर्याप्त उन्नति हुई थी। छोटे-छोटे रजवाड़े आंतरिक रूप से स्वतंत्र थे इसलिए

उनके दरबारों में भी कला की अबाध साधना चल रही थी। शाहजहां के शासन काल के उत्तरार्द्ध तक इन ललित कलाओं का रूप विकृत नहीं हो पाया था। परन्तु औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता ने एक बार पुनः देश में अशांति उत्पन्न कर दी। हिंदू-मुसलमानों में पार्थक्य की भावना और बढ़ी किंतु दोनों ही जातियाँ जर्जर हो रही थीं। मुसलमान अपनी अत्यधिक विलासप्रियता के कारण और हिन्दू पदक्रांत होने के कारण। इसका प्रभाव साहित्य, कला आदि पर भी पड़ा। फलस्वरूप उनकी गम्भीरता, शुद्धता एवं पवित्रता नष्ट होकर उनमें उच्छृङ्खलता, अपवित्रता एवं वासना का प्राधान्य हो चला।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी कर्मचारियों के हाथों की कठपुतली मात्र थे। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने देश के रहे सहे सैनिक बल को भी समाप्त कर दिया। इस काल में भी परम्परागत काव्य तथा कला की पूजा थोड़ी बहुत चलती रही। शासक कलाप्रेमी थे। उनके दरबारों में कलाकारों और कवियों को आश्रय प्राप्त था। अलंकरण तथा विलास के प्रति शासकों की बड़ी रुचि थी। अतः उनकी रुचि के अनुकूल कवियों को भी रचनाएँ करनी पड़ती थीं। सुन्दर महल, वस्त्राभूषण, भरे पूरे रनिवास, नृत्य, सङ्गीत, चित्रकला, मादक दृश्य, हास्य विनोद आदि के वातावरण ने जनसाधारण और शासकों के मध्य एक गहरी खाई उत्पन्न कर दी थी।

इस राजनतिक परिस्थिति का समाज पर पूर्ण प्रभाव था। विलास की प्रधानता से भक्ति की धारा मंद हो गई थी। जन-साधारण अशिक्षित और निर्धन थे। बाल-विवाह और बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। अमीर नैतिक आदर्शों से पतित हो रहे थे। अन्धभ्रान्तियों और अन्धरूढ़ियों का बोलबाला था। कला वासनापूर्ति का साधन बन गई थी। इस कला का आलम्बन नारी बनी। नारी का सांगोपांग चित्रण कलाकारों का आदर्श बना। नारी की इस प्रधानता का कारण भक्तिकाल की प्रतिक्रिया थी। भक्तिकाल में सृष्टि की मूल भावना रति को जनजीवन के व्यावहारिक पक्ष से अलग कर अलौकिक पुरुषों के प्रति सर्मापित कर दिया था। रति मुक्ति का साधन थी। उसका आधार आध्यात्मिकता थी। रीतिकाल की रति आध्यात्मिकता के उस उच्च एवं काल्पनिक स्तर से नीचे उतर कर घोर भौतिकवादी बन गई।

"चमक, तमक, हाँसी, ससक, यमक, झपक, लपटानि।
ए जिहि रति,सो रति मुकति,और मुकति अति हानि।"

भक्तों ने ऐहिक जीवन की मूल नारी को 'विष की बेल', 'नरक का द्वार' एवं 'दुख की खानि' बताकर उस पर अपमानजनक घृणात्मक प्रहार किए थे। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में इस "अत्यधिक आध्यात्मिकता की प्रति-

क्रिया के रूप में श्रृङ्गार साहित्य इन्द्रियों की पुकार है।" डा० रामकुमार वर्मा एवं डाक्टर सत्येन्द्र भी इसे भक्तिकाल की प्रतिक्रिया मानते हैं।

उस समय आर्थिक दृष्टि से समाज में दो श्रेणियाँ थीं—उत्पादन कर्त्ता (श्रमिक वर्ग), एवं उपभोक्ता (उच्च वर्ग)। इन दोनों वर्गों में पर्याप्त अंतर था। उनके मध्य में कलाकारों का वर्ग था जो आए तो थे श्रमिकवर्ग से, परंतु उच्चवर्ग का मनोरंजन कर अपनी जीविका जुटाते थे। आश्रयदाताओं का मनोरंजन करने के लिये उन्होंने तीन बातों का सहारा लिया—१—कामशास्त्र २—उक्ति-वैचित्र्य का विवेचन करने वाला अलङ्कार-शास्त्र, ३—नायक-नायिकाओं के भेदों एवं स्वभावों का विवेचन करने वाला रस-शास्त्र। इन्हीं उपादनों का सहारा लेकर कविगण नारीजीवन के एक-एक पक्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण कर अपने आश्रयदाताओं की वासना तृप्त करने लगे। अपंगु वीरता का भी अतिशयोक्ति पूर्ण गान हुआ। समष्टि रूप से आश्रित कवि अपने प्रभुओं को चमत्कारपूर्ण पद्य सुना कर तत्काल पुरस्कार प्राप्त करने में ही अपना कल्याण समझते थे।

भक्तिकाल में राधा-कृष्ण के ललित, लोकरंजनकारी और श्रृङ्गारिक रूप की प्रचुरता थी। इसने रीतिकालीन कवियों के लिए श्रृङ्गार की पूर्व-पीठिका का कार्य किया। तत्कालीन वातावरण उनके अनुकूल था, अन्तर में रसमय अनुभूति थी। बस, काव्य-स्रोत श्रृंगार की बँधी-बँधाई नाली में प्रवाहित हो चला। राधा-कृष्ण का आध्यात्मिक रूप नष्ट हो गया। वे साधारण लौकिक रँगीले नायक-नायिका मात्र रह गये।

धार्मिक क्षेत्र में कोई नई उद्‌भावना नहीं हुई। सम्प्रदाय पन्थों का रूप धारण करने लगे थे। कृष्ण-भक्तों की श्रृङ्गारिकता ने जनता को आकर्षित कर लिया था। कृष्ण और राधा की अनुराग लीलाओं के साथ जनता का हार्दिक तादात्म्य ही चुका था। शनैः शनै यह रासलीला का प्रसंग ही लौकिक श्रृंगार के चरम उत्कर्ष का प्रतीक बन गया। राधा-कृष्ण के रसात्मक स्वरूप के समक्ष रामोपासना की मर्यादित शुष्क धारा फीकी पड़ गई। राधा-कृष्ण की आड़ में रीतिकालीन कवियों ने अपनी कुत्सित वासना का नग्न चित्रण किया। श्रृंगार पूर्णतः ऐहिकतामूलक हो गया। उस काल के कवि यह जानते थे कि राधा-कृष्ण के नाम पर की गई श्रृंगारिक रचनाओं को जनता निस्संकोच ग्रहण कर लेगी। दूसरे शब्दों में राधा-कृष्ण का नाम उनके लिए सामाजिक कवच का काम कर रहा था। भिखारीदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसी भावना की द्योतक हैं—

आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई।
नतु राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है।।

द्विजदेव की भावना भी यही है—

"रसिक रीझिहैं जानि, तौ ह्वै है कविताई सफल।
नतरु सदा सुखदानि, श्री राधिका हरि को सुजस है।।

साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृत के रीति-ग्रन्थों एवं फारसी की ऊहात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ रहा था। उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में नायिकाओं के सूक्ष्म वर्गीकरण पर आधारित शृङ्गारिक चेष्टाओं को व्यक्त करने वाली परिपाटी प्रारम्भ हो गई थी। इसी का प्रभाव रीतिकालीन साहित्य पर पड़ा। फारसी तथा उर्दू के प्रभाव के कारण वर्ण्य विषय शृङ्गार बना तथा शैली में चमत्कार का प्राधान्य हो चला। इन कवियों की छेड़छाड़ तथा नाजुक बयानियों का प्रभाव हिन्दी काव्य पर भी पड़ रहा था। शृङ्गार में वीभत्सता का समावेश फारसी के प्रभाव के कारण था। इस काल में प्रमुख रूप से दो प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ—राज्याश्रय प्राप्त साहित्य और लोक साहित्य। पहला दरबारी कवियों द्वारा उद्भूत हुआ और दूसरा भूषण, लाल और सूदन जैसे कवियों द्वारा। पहले में विलास की तीव्र गन्ध थी और दूसरे में वीरत्व की सजग भावना। परंतु संस्कृत के रीति साहित्य का प्रभाव इस युग में इतना व्यापक रहा कि इससे भूषण जैसा कवि भी न बच सका।

रीतिकाल में प्रमुख रूप से सात प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं—

(१) लक्षण ग्रन्थों का निर्माण—इस काल के लक्षण ग्रन्थकारों के मम्मट का 'काव्यप्रकाश', जयदेव का 'चन्द्रालोक' और विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' मूलाधार रहे। रस-मीमांसा में शृङ्गार की प्रधानता रही। काव्य के विविध अङ्गों, रस, अलङ्कार, छन्द आदि की विवेचना हुई। इसका प्रभाव यह पड़ा कि अब काव्य रचनाओं में हृदय की अनुभूतियों का अङ्कन न होकर केवल छन्दों, अलङ्कारों के दृष्टान्त दिये जाने लगे। मौलिकता का अभाव हो गया। संस्कृत ग्रन्थों के रूपान्तर करने में ही कविगण व्यस्त रहे। केवल कुछ ग्रन्थों को छोड़कर, जो नखशिख, षट्ऋतु, अलकशतक जैसे बँधे हुए विषयों को लेकर चले, शेष सारा काव्य रसों, अलङ्कारों और छन्दों के उदाहरण स्वरूप ही उपस्थित हुआ।

(२) लौकिक शृङ्गार की व्यंजना—शृङ्गार आध्यात्मिक न रहकर शुद्ध रूप से लौकिक रह गया। इन कवियों ने 'आँख मूँदिबो' खेलने की आयु से लेकर निस्सङ्कोच 'बालम सों दृग' जोड़ने तक की परिस्थितियों का वर्णन किया; परंतु इस वर्णन में कोई नवीनता न थी। प्राचीन उपमानों के आधार

पर वर्णन करने के कारण श्रृङ्गार रूढ़ हो गया। लौकिक श्रृङ्गार की यह भावना तीन कारणों से आई—(१) संस्कृत के स्रोत साहित्य, जयदेव विद्यापति की श्रृङ्गारिक रचनाओं और सूर की श्रृङ्गारिक भक्ति के प्रभाव स्वरूप। (२) संस्कृत के सप्तशती साहित्य का प्रभाव। (३) कामशास्त्र का प्रभाव। कुछ आलोचक श्रृंगार की अधिकता एवं लौकिकता का उत्तरदायित्व पूर्णरूप से कृष्ण-भक्त कवियों पर डालते हैं जो ग़लत है।

(३) कलापक्षकी प्रधानता—इस युग में भावना की सुकुमारता, अनुभूति की सत्यता एवं कल्पना की मौलिकता पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना उक्ति-वैचित्र्य पर। रस से हटकर कवि की दृष्टि कला की ओर गई। इससे भावपक्ष बहुत ही साधारण रहा—कलापक्ष की प्रधानता रही। उस समय अलङ्कार सम्प्रदाय के अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण रीतिकाल का काव्य अलंकारों का एक समृद्ध कोश बन गया। भाषा में ब्रज और अवधी का मिश्रण था। परन्तु उसमें व्याकरण की अवहेलना कर शब्दों के रूप और प्रयोग में मनमानी की गई। दोहा, कवित्त और सवैया छन्दों की प्रधानता रही। चित्रकाव्य रचना की ओर भी कुछ कवियों का झुकाव था। इन कलाकारों में आचार्य और कवि का भेद जाता रहा। एक व्यक्ति ने दोनों का कार्य सम्पादन करने की चेष्टा की।

(४) प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण—नायक नायिका की मानसिक दशा के अनुरूप प्रकृति का चित्रण किया गया। संयोग के समय के सुखदायी उपकरण वियोग के समय दुखदायी बन जाते थे। स्वतन्त्र प्रकृति निरीक्षण का अभाव रहा। आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण बहुत कम हुआ। प्रकृति चित्रण विशेषकर षटऋतु वर्णन और बारहमासे के रूप में किया गया।

(५) मुक्त काव्य रचना—इस युग का सम्पूर्ण काव्य मुक्तक है। इसके दो कारण हैं—(१) आश्रयदाता प्रबन्ध काव्य सुनने का समय और अवकाश नही पाते थे। उन्हें विलास से फ़ुर्सत ही नहीं मिलती थी। कवि स्वामी की रुचि देखकर आशुकाव्य की रचना करते थे जिससे मौलिकता का भी ह्रास हुआ। (२) जीवन का सर्वाङ्गीण क्षेत्र उपेक्षित होकर श्रृङ्गार की प्रधानता रही। इसके लिए मुक्तक शैली ही विशेष उपयुक्त थी। चमत्कारपूर्ण दोहा-साहित्य का बाहुल्य इसी के कारण हुआ।

(६) विरक्ति की भावना—लगभग सभी रीतिकालीन कवियों ने राम, शिव, दुर्गा, गंगा आदि की स्तुति पूर्ण भक्तिभाव से की है। यह उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूतियों का उद्‌गार था। श्रृङ्गार की अतिशयता में आकण्ठ

निमग्न इन कवियों की सम्पूर्ण आत्म-ग्लानि और असहायता के दर्शन इन कविताओं में मिल जाते हैं।

(७) वीर काव्य—मुसलमानी शासन के विरुद्ध मराठे, सिख और कुछ रजवाड़े विद्रोह कर उठे थे। एक हिन्दू राष्ट्र की भावना ने इस विद्रोह को प्रशस्त किया। भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवियों के हिन्दू वीरों की वीरता की प्रशस्तियाँ गाईं।

बाबू गुलाबराय ने रीतिकाल की चार न्यूनताएँ बताई हैं जो निम्नलिखित हैं—(१) काव्यांगों के विवेचन के साथ शब्द-शक्ति का यथोचित विवेचन नहीं हुआ। (२) नाट्यशास्त्र के विवेचन का भी अभाव रहा क्योंकि हिन्दी में नाटक के लक्ष्य ग्रन्थ नहीं थे। (३) विषयों का संकोच हो गया था। कवि परम्परा का अनुमान कर रहे थे। इससे व्यक्तिगत प्रतिभा का प्रदर्शन कम हुआ। (५) इतना अवश्य कहा जायगा कि यद्यपि ये जीवन की अनेकरूपता को अपने काव्य में न ला सके तथापि इन्होंने शृङ्गार के संकुचित क्षेत्र में पारिवारिक जीवन को बाँधकर उसमें सौन्दर्य-दर्शन की चेष्टा की।

हम पहले कह आए हैं कि रीतिकालीन काव्य में संस्कृत रीति काव्य का अनुकरण किया गया था। इस अनुकरण में भी पूर्णता के दर्शन नहीं होते। इसमें संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के समान समस्त काव्य सिद्धान्तों का न तो पूर्ण विवेचन ही हो सका और न विकास ही। हिन्दी-रीतिकाव्य अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण लिखने में लगा रहा। रीति और वक्रोक्ति की विवेचना न के बराबर हुई। हिन्दी में समस्त रसों और रसांगों की विस्तृत व्याख्या करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। अलंकारों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण देने वाले ग्रन्थ प्रचुर परिमाण में हैं। प्रस्तुत अलंकारों के भेदों का विवेचन और अलंकारत्व पर सैद्धान्तिक प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों का पूर्ण अभाव है। इस न्यूनता का कारण यह है कि इन कवियों के सम्मुख कोई वास्तविक काव्य-शास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्य शास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण न कर केवल साहित्य-रसिकों को काव्य-शास्त्र के विषयों से परिचित कराना था। इसी से इनमें खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी नहीं है। इससे हिन्दी काव्य-शास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। एक बात में ये कवि संस्कृत के लक्षणकारों से आगे बढ़े हुए थे। वह यह थी कि ये कवि अत्यन्त भावुक और सहृदय थे अतः इनके काव्यों में रसों और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत हुए जिन्हें देखकर आचार्य शुक्ल जैसे कट्टर मर्यादावादी आलोचक को भी कहना

पड़ा कि—"ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षणग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"

रीतिकाल के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त अब हिन्दी में रीतिकाव्यों की परम्परा का विकास देखना भी आवश्यक है। रीतिकाल का प्रवर्त्तक किसे माना जाय—केशव को या चिन्तामणि को ? यह प्रश्न विवादस्पद है। डा० श्यामसुन्दरदास केशव को रीतिकाल का सर्वप्रथम कवि मानते हैं और आचार्य शुक्ल चिन्तामणि को। आचार्य शुक्ल का कहना है कि केशव की प्रारम्भ की हुई काव्य-शास्त्रीय विवेचना का अनुकरण परवर्ती कवियों ने नहीं किया। केशव के पचास वर्ष बाद चिन्तामणि ने जिस विवेचना का प्रारम्भ किया था परवर्ती कवियों ने उसी का अनुकरण किया। अतः चिन्तामणि ही रीतिकाव्य के प्रवर्त्तक माने जाने चाहिए। रीतिकाव्य के प्रवर्त्तक भले ही चिन्तामणि हों परंतु इस परम्परा के सर्वप्रथम कवि आचार्य केशव ही हैं। वैसे तो भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में रीतिकाव्य की नींव पड़ चुकी थी। केशव से पूर्व भी अनेक रीति ग्रन्थों का सृजन हो चुका था जिनमें नन्ददास का 'रस-मंजरी', मोहनलालमिश्र का 'श्रृङ्गारसागर' तथा करनेस बंदीजन के 'करणाभरण', 'श्रुतिभूषण', और 'भूपभूषण' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। रहीम का 'वरवैनायिका भेद' भी इसी परम्परा का ग्रन्थ है। परन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ महत्वपूर्ण नहीं है। केशव की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक पुस्तकें इस परम्परा में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। रीतिकाव्य के रूप में लिखा गया सर्वप्रथम ग्रन्थ कृपाराम का 'हित-तरंगिणी' माना जाता है।

केशव ने हिन्दी में शुद्ध साहित्यिक रचना का एक नवीन मार्ग खोल दिया। उन्होंने अपनी उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला। वे चमत्कारवादी थे और अलङ्कार सिद्धान्त पर आस्था रखते थे। उनकी रचनाओं का आधार भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्य तथा अलङ्कार शेखर, काव्य कल्पलता आदि ग्रन्थ हैं। लक्षणकारों में केशव के उपरान्त चिंतामणि का नाम आता है। इन्होंने अत्यन्त सरल रूप में काव्यशास्त्र की व्याख्या की है। लक्षणकारों में चिन्तामणि से बढ़कर सुगम, स्पष्ट और रमणीय लक्षण देने वाला और दूसरा आचार्य नहीं। इनके प्राप्त ग्रन्थों में 'पिंगल', 'रसमंजरी', 'श्रृङ्गार मंजरी', 'कविकुल कल्पतरु' हैं। आगे के कवियों ने चिंतामणि की पद्धति को ही स्वीकार किया। चिन्तामणि के साथ उनके भाई भूषण और मतिराम की गणना की जाती है। इनमें से भूषण ने वीर रस और मतिराम ने श्रृङ्गारको अपनाया। दोनों ही में विलक्षण काव्य प्रतिभा थी। दोनों में ही प्रबन्ध रचना की भी प्रतिभा थी परन्तु युग की पर-

निमग्न इन कवियों की सम्पूर्ण आत्म-ग्लानि और असहायता के दर्शन इन कविताओं में मिल जाते हैं।

(७) वीर काव्य—मुसलमानी शासन के विरुद्ध मराठे, सिख और कुछ रजवाड़े विद्रोह कर उठे थे। एक हिन्दू राष्ट्र की भावना ने इस विद्रोह को प्रशस्त किया। भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवियों के हिन्दू वीरों की वीरता की प्रशस्तियाँ गाईं।

बाबू गुलाबराय ने रीतिकाल की चार न्यूनताएँ बताई हैं जो निम्नलिखित हैं—(१) काव्यांगों के विवेचन के साथ शब्द-शक्ति का यथोचित विवेचन नहीं हुआ। (२) नाट्यशास्त्र के विवेचन का भी अभाव रहा क्योंकि हिन्दी में नाटक के लक्ष्य ग्रन्थ नहीं थे। (३) विषयों का संकोच हो गया था। कवि परम्परा का अनुमान कर रहे थे। इससे व्यक्तिगत प्रतिभा का प्रदर्शन कम हुआ। (५) इतना अवश्य कहा जायगा कि यद्यपि ये जीवन की अनेकरूपता को अपने काव्य में न ला सके तथापि इन्होंसे शृङ्गार के संकुचित क्षेत्र में पारिवारिक जीवन को बाँधकर उसमें सौन्दर्य-दर्शन की चेष्टा की।

हम पहले कह आए हैं कि रीतिकालीन काव्य में संस्कृत रीति काव्य का अनुकरण किया गया था। इस अनुकरण में भी पूर्णता के दर्शन नहीं होते। इसमें संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के समान समस्त काव्य सिद्धान्तों का न तो पूर्ण विवेचन ही हो सका और न विकास ही। हिन्दी-रीतिकाव्य अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण लिखने में लगा रहा। रीति और वक्रोक्ति की विवेचना न के बराबर हुई। हिन्दी में समस्त रसों और रसांगों की विस्तृत व्याख्या करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। अलंकारों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण देने वाले ग्रन्थ प्रचुर परिमाण में हैं। प्रस्तुत अलंकारों के भेदों का विवेचन और अलंकारत्व पर सैद्धान्तिक प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों का पूर्ण अभाव है। इस न्यूनता का कारण यह है कि इन कवियों के सम्मुख कोई वास्तविक काव्य-शास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्य शास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण न कर केवल साहित्य-रसिकों को काव्य-शास्त्र के विषयों से परिचित कराना था। इसी से इनमें खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी नहीं है। इससे हिन्दी काव्य-शास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। एक बात में ये कवि संस्कृत के लक्षणकारों से आगे बढ़े हुए थे। वह यह थी कि ये कवि अत्यन्त भावुक और सहृदय थे अतः इनके काव्यों में रसों और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत हुए जिन्हें देखकर आचार्य शुक्ल जैसे कट्टर मर्यादावादी आलोचक को भी कहना

पड़ा कि—"ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षणग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"

रीतिकाल के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त अब हिन्दी में रीतिकाव्यों की परम्परा का विकास देखना भी आवश्यक है। रीतिकाल का प्रवर्त्तक किसे माना जाय—केशव को या चिन्तामणि को? यह प्रश्न विवादस्पद है। डा० श्याम-सुन्दरदास केशव को रीतिकाल का सर्वप्रथम कवि मानते हैं और आचार्य शुक्ल चिन्तामणि को। आचार्य शुक्ल का कहना है कि केशव की प्रारम्भ की हुई काव्य-शास्त्रीय विवेचना का अनुकरण परवर्ती कवियों ने नहीं किया। केशव के पचास वर्ष बाद चिन्तामणि ने जिस विवेचना का प्रारम्भ किया था परवर्ती कवियों ने उसी का अनुकरण किया। अतः चिन्तामणि ही रीतिकाव्य के प्रव-र्त्तक माने जाने चाहिए। रीतिकाव्य के प्रवर्त्तक भले ही चिन्तामणि हों परंतु इस परम्परा के सर्वप्रथम कवि आचार्य केशव ही हैं। वैसे तो भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में रीतिकाव्य की नींव पड़ चुकी थी। केशव से पूर्व भी अनेक रीति ग्रन्थों का सृजन हो चुका था जिनमें नन्ददास का 'रस-मंजरी', मोहनलालमिश्र का 'शृङ्गारसागर' तथा करनेस बंदीजन के 'करणाभरण', 'श्रुतिभूषण', और 'भूपभूषण' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। रहीम का 'वरवैनायिका भेद' भी इसी परम्परा का ग्रन्थ है। परन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ महत्वपूर्ण नहीं है। केशव की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक पुस्तकें इस परम्परा में अत्यंत महत्व-पूर्ण स्थान रखती हैं। रीतिकाव्य के रूप में लिखा गया सर्वप्रथम ग्रन्थ कृपाराम का 'हित-तरंगिणी' माना जाता है।

केशव ने हिन्दी में शुद्ध साहित्यिक रचना का एक नवीन मार्ग खोल दिया। उन्होंने अपनी उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला। वे चमत्कारवादी थे और अलङ्कार सिद्धान्त पर आस्था रखते थे। उनकी रचनाओं का आधार भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्य तथा अलङ्कार शेखर, काव्य कल्पलता आदि ग्रन्थ हैं। लक्षणकारों में केशव के उप-रान्त चिंतामणि का नाम आता है। इन्होंने अत्यन्त सरल रूप में काव्य-शास्त्र की व्याख्या की है। लक्षणकारों में चिन्तामणि से बढ़कर सुगम, स्पष्ट और रमणीय लक्षण देने वाला और दूसरा आचार्य नहीं। इनके प्राप्त ग्रन्थों में 'पिंगल', 'रसमंजरी', 'शृङ्गार मंजरी', 'कविकुल कल्पतरु' हैं। आगे के कवियों ने चिंतामणि की पद्धति को ही स्वीकार किया। चिन्तामणि के साथ उनके भाई भूषण और मतिराम की गणना की जाती है। इनमें से भूषण ने वीर रस और मतिराम ने शृङ्गारको अपनाया। दोनों ही में विलक्षण काव्य प्रतिभा थी। दोनों में ही प्रवन्ध रचना की भी प्रतिभा थी परन्तु युग की पर-

निमग्न इन कवियों की सम्पूर्ण आत्म-ग्लानि और असहायता के दर्शन इन कविताओं में मिल जाते हैं।

(७) वीर काव्य—मुसलमानी शासन के विरुद्ध मराठे, सिख और कुछ रजवाड़े विद्रोह कर उठे थे। एक हिन्दू राष्ट्र की भावना ने इस विद्रोह को प्रशस्त किया। भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवियों के हिन्दू वीरों की वीरता की प्रशस्तियाँ गाईं।

बाबू गुलाबराय ने रीतिकाल की चार न्यूनताएँ बताई हैं जो निम्नलिखित हैं—(१) काव्यांगों के विवेचन के साथ शब्द-शक्ति का यथोचित विवेचन नहीं हुआ। (२) नाट्यशास्त्र के विवेचन का भी अभाव रहा क्योंकि हिन्दी में नाटक के लक्ष्य ग्रन्थ नहीं थे। (३) विषयों का संकोच हो गया था। कवि परम्परा का अनुमान कर रहे थे। इससे व्यक्तिगत प्रतिभा का प्रदर्शन कम हुआ। (५) इतना अवश्य कहा जायगा कि यद्यपि ये जीवन की अनेकरूपता को अपने काव्य में न ला सके तथापि इन्होंने शृङ्गार के संकुचित क्षेत्र में पारिवारिक जीवन को बाँधकर उसमें सौन्दर्य-दर्शन की चेष्टा की।

हम पहले कह आए हैं कि रीतिकालीन काव्य में संस्कृत रीति काव्य का अनुकरण किया गया था। इस अनुकरण में भी पूर्णता के दर्शन नहीं होते। इसमें संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के समान समस्त काव्य सिद्धान्तों का न तो पूर्ण विवेचन ही हो सका और न विकास ही। हिन्दी-रीतिकाव्य अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण लिखने में लगा रहा। रीति और वक्रोक्ति की विवेचना न के बराबर हुई। हिन्दी में समस्त रसों और रसांगों की विस्तृत व्याख्या करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। अलंकारों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण देने वाले ग्रन्थ प्रचुर परिमाण में हैं। प्रस्तुत अलंकारों के भेदों का विवेचन और अलंकारत्व पर सैद्धान्तिक प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों का पूर्ण अभाव है। इस न्यूनता का कारण यह है कि इन कवियों के सम्मुख कोई वास्तविक काव्य-शास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्य शास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण न कर केवल साहित्य-रसिकों को काव्य-शास्त्र के विषयों से परिचित कराना था। इसी से इनमें खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी नहीं है। इससे हिन्दी काव्य-शास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। एक बात में ये कवि संस्कृत के लक्षणकारों से आगे बढ़े हुए थे। वह यह थी कि ये कवि अत्यन्त भावुक और सहृदय थे अतः इनके काव्यों में रसों और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत हुए जिन्हें देखकर आचार्य शुक्ल जैसे कट्टर मर्यादावादी आलोचक को भी कहना

पड़ा कि—"ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षणग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी ।"

रीतिकाल के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त अब हिन्दी में रीतिकाव्यों की परम्परा का विकास देखना भी आवश्यक है । रीतिकाल का प्रवर्त्तक किसे माना जाय—केशव को या चिन्तामणि को ? यह प्रश्न विवादस्पद है । डा० श्याम-सुन्दरदास केशव को रीतिकाल का सर्वप्रथम कवि मानते हैं और आचार्य शुक्ल चिन्तामणि को । आचार्य शुक्ल का कहना है कि केशव की प्रारम्भ की हुई काव्य-शास्त्रीय विवेचना का अनुकरण परवर्ती कवियों ने नहीं किया । केशव के पचास वर्ष बाद चिन्तामणि ने जिस विवेचना का प्रारम्भ किया था परवर्ती कवियों ने उसी का अनुकरण किया । अतः चिन्तामणि ही रीतिकाव्य के प्रवर्त्तक माने जाने चाहिए । रीतिकाव्य के प्रवर्त्तक भले ही चिन्तामणि हों परंतु इस परम्परा के सर्वप्रथम कवि आचार्य केशव ही हैं । वैसे तो भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में रीतिकाव्य की नींव पड़ चुकी थी । केशव से पूर्व भी अनेक रीति ग्रन्थों का सृजन हो चुका था जिनमें नन्ददास का 'रस-मंजरी', मोहनलालमिश्र का 'शृङ्गारसागर' तथा करनेस बंदीजन के 'करणाभरण', 'श्रुतिभूषण', और 'भूपभूषण' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं । रहीम का 'वरवैनायिका भेद' भी इसी परम्परा का ग्रन्थ है । परन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ महत्वपूर्ण नहीं है । केशव की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक पुस्तकें इस परम्परा में अत्यंत महत्व-पूर्ण स्थान रखती हैं । रीतिकाव्य के रूप में लिखा गया सर्वप्रथम ग्रन्थ कृपाराम का 'हित-तरंगिणी' माना जाता है ।

केशव ने हिन्दी में शुद्ध साहित्यिक रचना का एक नवीन मार्ग खोल दिया । उन्होंने अपनी उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला । वे चमत्कारवादी थे और अलङ्कार सिद्धान्त पर आस्था रखते थे । उनकी रचनाओं का आधार भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्य तथा अलङ्कार शेखर, काव्य कल्पलता आदि ग्रन्थ हैं । लक्षणकारों में केशव के उप-रान्त चिंतामणि का नाम आता है । इन्होंने अत्यन्त सरल रूप में काव्य-शास्त्र की व्याख्या की है । लक्षणकारों में चिन्तामणि से बढ़कर सुगम, स्पष्ट और रमणीय लक्षण देने वाला और दूसरा आचार्य नहीं । इनके प्राप्त ग्रन्थों में 'पिंगल', 'रसमंजरी', 'शृङ्गार मंजरी', 'कविकुल कल्पतरु' हैं । आगे के कवियों ने चिंतामणि की पद्धति को ही स्वीकार किया । चिन्तामणि के साथ उनके भाई भूषण और मतिराम की गणना की जाती है । इनमें से भूषण ने वीर रस और मतिराम ने शृङ्गारको अपनाया । दोनों ही में विलक्षण काव्य प्रतिभा थी । दोनों में ही प्रवन्ध रचना की भी प्रतिभा थी परन्तु युग की पर-

परम्परा और प्रवाह से प्रभावित होकर उन्हें रीति-ग्रन्थों की रचना करनी पड़ी। "रीति पद्धति को लेकर वीर काव्य लिखने वाला भूषण के समान दूसरा कवि नहीं, जबकि भावों की मनोरम सुकुमारता में मतिराम अद्वितीय हैं।"

रीतिकाल की प्रथम अर्द्ध-शताब्दी में कुलपति, सुखदेव और देव के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। कुलपति ने 'काव्य प्रकाश' के आधार पर 'रस-रहस्य' नामक ग्रन्थ लिखकर ध्वनि का विवेचन किया। सुखदेव ने लगभग ७२ ग्रन्थ लिखे जिनमें छन्दों और रसों का विवेचन किया है। काव्य की दृष्टि से इनके उदाहरण महत्वपूर्ण और सरस हैं। देव के ग्रन्थों में विचार की स्पष्टता, वर्गीकरण की मौलिकता तथा उदाहरणों की रमणीयता द्रष्टव्य है। इनके लक्षणों से इनके उदाहरण अधिक मौलिक, मार्मिक, सरस और स्पष्ट हैं। देव शब्द-शक्ति के मर्मज्ञ थे। शब्द और वर्णों का संतुलन कर, उनकी भावानुकूल गति की व्यवस्था करना देव की विशेषता है। उपर्युक्त सभी कवियों में आचार्यत्व की प्रधानता थी।

"पूर्ण पांडित्य और व्यापक विदग्धता को लेकर मर्म स्पर्शी, ललित काव्य के प्रणेता बिहारी" इस काल के ज्वाजल्यमान नक्षत्र थे। इनकी सतसई लक्षण रहित रीतिग्रन्थ है। इसमें लगभग सभी पद्धतियों के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। अलङ्कार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सभी 'गागर सागरवत' उनकी सतसई में व्याप्त हैं। वे बड़े सजग और सूक्ष्म दृष्टि वाले कलाकार थे। छोटे से दोहे में एक सम्पूर्ण दृश्य को अपनी पूर्ण सुन्दरता और क्रियाकलाप के साथ स्पष्ट कर देना बिहारी की सबसे बड़ी विशेषता है। देव के उपरान्त रीति काव्य का खूब विस्तार हुआ। कालिदास, सूरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ आदि ने इस परम्परा को खूब बढ़ाया। कालिदास के 'कालिदास हजारा' में एक हजार कवियों की रचनाओं का संग्रह है। सूरति मिश्र के 'काव्य सिद्धान्त' में काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों का सुन्दर और अधिकार पूर्ण विवेचन हुआ है। श्रीपति ने अपने 'काव्य सरोज' में काव्य स्वरूप, काव्य कारण, प्रयोजन, दोष, गुण, अलङ्कार आदि पर विचार किया है। श्रीपति पहले आचार्य हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती केशव आदि की रचनाओं के दोषों का विवेचन किया है। सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि' एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें काव्य-शास्त्र पर प्रकाश डाला गया है। ये व्यंग्य को ही प्राण मानते हैं। इन्होंने पद्य-लक्षणों के साथ साथ गद्य में उनकी व्याख्या की है।

भिखारीदास रीतिकाल के अन्तिम बड़े आचार्य हैं। इनके ग्रन्थों में 'काव्य निर्माण', 'शृंगार निर्माण' 'छन्दोर्णव विषय' और 'रस सारांश' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका विवेचन स्पष्ट और वैज्ञानिक है। कतिपय नवीन प्रसंगों जैसे अलं-

कारों का वर्गीकरण, काव्य भाषा और तुक आदि पर इन्होंने मौलिक रूप से प्रकाश डाला है। रीतिकाल के अन्तिम प्रसिद्ध कवि पद्माकर रीति-परम्परा के अन्तिम प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। इनके 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' इसी पद्धति के ग्रन्थ हैं। वर्ण साम्य और शब्द मैत्री इनकी विशेषता है। बेनी कवि का 'नवरस-तरंग' काव्य की दृष्टि से सुन्दर है परन्तु लक्षण अच्छे नहीं हैं। प्रताप साहि के 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' की प्रसिद्धि नायिका भेद,अलङ्कार और व्यँग्यार्थ के साथ-साथ गूढ़ता के लिए भी है। उपर्युक्त रीति पद्धति के कवियों के अतिरिक्त इस युग में कुछ ऐसे भी कवि हुए जो रीति परम्परा से प्रभावित अवश्य रहे किंतु सर्वथा मुक्त भी रहे। अपने विचार और विषय के स्वातन्त्र्य का उन्होंने अपहरण नहीं होने दिया। स्वच्छन्द रीति से काव्य रचना करने वाले इन कवियों में घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखे फिर भी इनके काव्य में 'उदाहरणों' के सुन्दर रूप मिलते हैं।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में रीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–१—लक्षणों के आधारभूत ग्रन्थ सँस्कृत अथवा पूर्ववर्ती हिंदी काव्य शास्त्र हैं। २—इनमें काव्य की विशेषताओं को समझने और समझाने का प्रयत्न है। ३—सैद्धान्तिक रूप से काव्य शास्त्र का विकास नहीं है। इनमें सर्वकालीन अथवा युग विशेष की काव्य समस्याओं का भी पूर्ण विवेचन और समाधान नहीं मिलता। ४—इस पद्धति पर रचे गए काव्य के लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुए। ६—उदाहरणों में अधिकांश बड़े ही सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। ७—उनमें भाषा का, परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता, उक्ति का वैचित्र्य और चमत्कार तथा भाव की मर्म स्पर्शिनी अभिव्यंजना मिलती है। कवित्व की दृष्टि से यह काव्य बड़ा मनोरम और समृद्ध है।

भाषा की दृष्टि से रीतिकाल हिन्दी साहित्य का सबसे समृद्ध काल है। आचार्य शुक्ल ने इस काल के कवियों पर भाषा में मिश्रण करने एवं व्याकरण के नियमों को भंग करने का दोष लगाया है। भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द अपना लेने से उसकी अभिव्यंजना शक्ति बढ़ती ही है, घटती नहीं। व्याकरण के नियमों का उल्लंघन इसलिए हुआ कि कवि स्वभाव से मौजी होता है। वह अपनी इच्छानुसार शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा करता है जैसा कि भूषण ने किया है। यह दोष अवश्य है परंतु इतना बड़ा नहीं जितना कि उसे समझा जाता है। वास्तविकता तो यह है कि इस काल का सा भाषा सौंदर्य अन्यत्र दुर्लभ है। भाषा में कोमल शब्दावली, मुहावरे, कहावतें आदि जितने सुन्दर रूप में इस

काल में प्रयुक्त हुए हैं उतने पहले कभी नहीं हुए । बेनी प्रवीन, घनानन्द, बिहारी, देव, दास, मतिराम, पद्माकर आदि कवियों ने भाषा का जो मनोरम तथा संगठित रूप उपस्थित किया वह आधुनिक युग में भी दुर्लभ है । घनानन्द का एक सवैया दृष्टव्य है—

"प्रेम सदा अति ऊँचो लहे सुकहै इहि भाँति की **बात** छकी ।
सुनि कै सब के मन **लालच दौरे** पै बौरे लखें सब बुद्धि चकी ।
जग की **कबिताई के धोखें** रहैं ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी ।
समझै कविता घनानन्द की **हिय आँखन नेह की पीर तकी ।**

उपर्युक्त प्रत्येक पंक्ति का एक-एक शब्द मंजा हुआ है—प्रत्येक पंक्ति दो-दो, तीन-तीन मुहावरों से सज्जित तथा प्रवाहपूर्ण है । भाषा की यह कलात्मकता उस युग के अनेक कवियों की विशेषता है । बिहारी और देव की शब्दशक्ति की सभी धाक मानते हैं । संक्षेप में, भाषा का यह संघठन रीतिकालीन कवियों में सर्वत्र प्राप्त होता है । भाषा का वास्तविक तत्व अथवा प्राण, उसके मुहावरों को पहचानने तथा उनका प्रयोग करने में इस युग के कवि जितने सावधान रहे हैं उनके आज के कवि भी नहीं हैं । "भाषा का लालित्य, उसकी अभिव्यंजन-शक्ति, उसका चलतापन, उसकी स्वाभाविक संगीतात्मकता आदि का सुखद संयोग उस युग में हुआ, उसकी ब्रजभाषा-माधुरी और उसकी लोकप्रियता में चार चाँद लग गये ।"

रीतिकालीन काव्य पर एक सबसे बड़ा आक्षेप उसमें घोर अश्लीलता का होना है । यह सत्य है कि इस काव्य में शृङ्गार का अश्लील चित्रण हुआ है और वह भी बहुत बड़े परिणाम में । परन्तु सूर, विद्यापति आदि के अनेक पद अश्लीलता में इनसे भी बाजी मार ले जाते हैं । फिर भी अश्लीलता का यह चित्रण आश्रयदाताओं की मनोभावनाओं को संतुष्ट करने के लिए ही अधिक हुआ है । कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति उस ओर नहीं हुई । प्रायः सभी शृंगारी कवियों ने शृङ्गार की इस अतिशयता से ग्लानि अनुभव कर भगवान से अपने उद्धार की प्रार्थना की है । यदि वे स्वभाववश ऐसा करते तो उनके लिखे हुए भक्ति से ओतप्रोत ऐसे पद नहीं मिलते जिनमें उनके दुख, नैराश्य, आत्मग्लानि क्षोभ आदि साकार हो उठे हैं । रीतिकालीक चित्रणों के भीतर हेय प्रसंग और चित्रण वे हैं जहाँ काम शास्त्र के आधार पर या वासनात्मक रूप में शास्त्रीय आधार के बहाने रति आदि का खुला और सीधा चित्रण है । ये प्रसंग अवश्य वर्ज्य हैं । दूसरा दोष यह माना जाता है कि यह काव्य समाज को प्रगति देने में समर्थ नहीं है । इसमें सामाजिक आदर्श और प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति नहीं । परन्तु बिहारी, वृन्द, विक्रम आदि की सतसइयों; गिरधर, दीनदयालगिरि

आदि की कुण्डलियों; बैताल, घाघ के छप्पयों और कहावतों तथा रसनिधि, रसलीन आदि के दोहों में व्यक्तिगत अनुभव और दृष्टिकोण के आधार पर समाज और व्यक्ति के जीवन में उपयोगी ऐसी अनेक बातें मिलती हैं जो आज भी मार्ग प्रदर्शन की क्षमता रखती हैं।

इस काल के साहित्य के विषय में एक और भ्रमात्मक धारणा यह फैली हुई है कि इस युग में प्रेम और शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य विषयों पर लिखा ही नहीं गया। परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। उसमें वीर काव्य को तो सभी स्वीकार करते हैं। उसमें भक्ति-काव्य की भी रचनाएँ हुई हैं। निर्गुणोपासना और सगुणोपासना के भाव बराबर दिखाई देते हैं। इसी युग में ही जगजीवनदास, यारी, दरिया, पलटू, शिवनारायण आदि निर्गुण सम्प्रदायों के प्रचारक हुए। प्रेम मार्गी कवि नूर मुहम्मद, निसार, ख्वाजाअहमद, आलम आदि इसी युग की देन है। इतना ही नहीं विशुद्ध शृङ्गारी कवि बिहारी, देव, पद्माकर आदि ने भक्ति-भाव से ओतप्रोत छन्द लिखे हैं। इसके साथ ही नीति, उपदेश, हास्य आदि पर प्रचुर रचनाएँ हुई हैं। इनका उद्देश्य लोक व्यवहार की शिक्षा तथा सामाजिक व्यंग्य है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति को व्यवहार पटु बनाने का प्रचुर प्रयत्न इन कवियों द्वारा हुआ है। इन कवियों ने वास्तविक जीवन में व्याप्त आशाओं, लालसाओं, आकांक्षाओं, रूप-तृष्णा, सौंदर्य प्रेम, विलास, त्याग, साहस, खीझादि का यथातथ्य वर्णन किया है। लोकजीवन के बीच वास्तविक बातों का अनुभव और ज्ञान संग्रह के रूप में हमें इस युग में ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जो राजनीति, कामशास्त्र, शालिहोत्र, ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक, भोजन-शास्त्र, माँस पाक, सुरापान, मैत्री, संगीत शास्त्र आदि पर लिखे गए हैं। विषयों की इतनी विभिन्नता होते हुए भी काव्य की दृष्टि से शृङ्गार-प्रधान रचनाएँ ही अधिक महत्व की होने के कारण उन्हीं की ओर हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ जिससे हम अन्य रचनाओं की ओर ध्यान न दे सके।

संक्षेप में भावानुभूति रसात्मकता, कलाकौशल, संगीतात्मकता, भाषा सँगठन आदि सभी काव्य गुणों से इस युग का काव्य परिपूर्ण है। उसमे अश्लीलता अवश्य है। परंतु जिस प्रकार हम शृङ्गारात्मक कृष्ण काव्य के अश्लील अंशों को निकाल कर शेष भाग स्वतन्त्रतापूर्वक नवयुवकों को पढ़ने को देते हैं उसी प्रकार इस काल के काब्य का भी इसी प्रकार का सँकलन कर विद्यार्थियों को दे सकते हैं।

:—:

काल में प्रयुक्त हुए हैं उतने पहले कभी नहीं हुए । बेनी प्रवीन, घनानन्द, बिहारी, देव, दास, मतिराम, पद्माकर आदि कवियों ने भाषा का जो मनोरम तथा संगठित रूप उपस्थित किया वह आधुनिक युग में भी दुर्लभ है । घनानन्द का एक सवैया दृष्टव्य है—

"प्रेम सदा अति ऊँचो लहे सुकहै इहि भाँति की **बात छकी** ।
सुनि कै सब के मन **लालच दौरे** पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी ।
जग की **कबिताई के धोखें** रहैं ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी ।
समझै कविता घनानन्द की **हिय आँखन नेह की पीर तकी** ।

उपर्युक्त प्रत्येक पंक्ति का एक-एक शब्द मंजा हुआ है—प्रत्येक पंक्ति दो-दो, तीन-तीन मुहावरों से सज्जित तथा प्रवाहपूर्ण है । भाषा की यह कलात्मकता उस युग के अनेक कवियों की विशेषता है । बिहारी और देव की शब्दशक्ति की सभी धाक मानते हैं । संक्षेप में, भाषा का यह संघठन रीतिकालीन कवियों में सर्वत्र प्राप्त होता है । भाषा का वास्तविक तत्व अथवा प्राण, उसके मुहावरों को पहचानने तथा उनका प्रयोग करने में इस युग के कवि जितने सावधान रहे हैं उनके आज के कवि भी नहीं हैं । "भाषा का लालित्य, उसकी अभिव्यंजन-शक्ति, उसका चलतापन, उसकी स्वाभाविक संगीतात्मकता आदि का सुखद संयोग उस युग में हुआ, उसकी ब्रजभाषा-माधुरी और उसकी लोकप्रियता में चार चाँद लग गये ।"

रीतिकालीन काव्य पर एक सबसे बड़ा आक्षेप उसमें घोर अश्लीलता का होना है । यह सत्य है कि इस काव्य में शृङ्गार का अश्लील चित्रण हुआ है और वह भी बहुत बड़े परिणाम में । परन्तु सूर, विद्यापति आदि के अनेक पद अश्लीलता में इनसे भी बाजी मार ले जाते हैं । फिर भी अश्लीलता का यह चित्रण आश्रयदाताओं की मनोभावनाओं को संतुष्ट करने के लिए ही अधिक हुआ है । कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति उस ओर नहीं हुई । प्रायः सभी शृंगारी कवियों ने शृङ्गार की इस अतिशयता से ग्लानि अनुभव कर भगवान से अपने उद्धार की प्रार्थना की है । यदि वे स्वभाववश ऐसा करते तो उनके लिखे हुए भक्ति से ओतप्रोत ऐसे पद नहीं मिलते जिनमें उनके दुख, नैराश्य, आत्मग्लानि क्षोभ आदि साकार हो उठे हैं । रीतिकालीक चित्रणों के भीतर हेय प्रसंग और चित्रण वे हैं जहाँ काम शास्त्र के आधार पर या वासनात्मक रूप में शास्त्रीय आधार के बहाने रति आदि का खुला और सीधा चित्रण है । ये प्रसंग अवश्य वर्ज्य हैं । दूसरा दोष यह माना जाता है कि यह काव्य समाज को प्रगति देने में समर्थ नहीं है । इसमें सामाजिक आदर्श और प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति नहीं । परन्तु बिहारी, वृन्द, विक्रम आदि की सतसइयों; गिरधर, दीनदयालगिरि

आदि की कुण्डलियों; बैताल, घाघ के छप्पयों और कहावतों तथा रसनिधि, रसलीन आदि के दोहों में व्यक्तिगत अनुभव और दृष्टिकोण के आधार पर समाज और व्यक्ति के जीवन में उपयोगी ऐसी अनेक बातें मिलती हैं जो आज भी मार्ग प्रदर्शन की क्षमता रखती हैं।

इस काल के साहित्य के विषय में एक और भ्रमात्मक धारणा यह फैली हुई है कि इस युग में प्रेम और शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य विषयों पर लिखा ही नहीं गया। परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। उसमें वीर काव्य को तो सभी स्वीकार करते हैं। उसमें भक्ति-काव्य की भी रचनाएँ हुई हैं। निर्गुणोपासना और सगुणोपासना के भाव बराबर दिखाई देते हैं। इसी युग में ही जगजीवनदास, यारी, दरिया, पलटू, शिवनारायण आदि निर्गुण सम्प्रदायों के प्रचारक हुए। प्रेम मार्गी कवि नूर मुहम्मद, निसार, ख्वाजाअहमद, आलम आदि इसी युग की देन है। इतना ही नहीं विशुद्ध शृङ्गारी कवि बिहारी, देव, पद्माकर आदि ने भक्ति-भाव से ओतप्रोत छन्द लिखे हैं। इसके साथ ही नीति, उपदेश, हास्य आदि पर प्रचुर रचनाएँ हुई हैं। इनका उद्देश्य लोक व्यवहार की शिक्षा तथा सामाजिक व्यंग्य है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति को व्यवहार पटु बनाने का प्रचुर प्रयत्न इन कवियों द्वारा हुआ है। इन कवियों ने वास्तविक जीवन में व्याप्त आशाओं, लालसाओं, आकांक्षाओं, रूप-तृष्णा, सौंदर्य प्रेम, विलास, त्याग, साहस, खीझादि का यथातथ्य वर्णन किया है। लोकजीवन के बीच वास्तविक बातों का अनुभव और ज्ञान संग्रह के रूप में हमें इस युग में ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जो राजनीति, कामशास्त्र, शालिहोत्र, ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक, भोजन-शास्त्र, माँस पाक, सुरापान, मैत्री, संगीत शास्त्र आदि पर लिखे गए हैं। विषयों की इतनी विभिन्नता होते हुए भी काव्य की दृष्टि से शृङ्गार-प्रधान रचनाएँ ही अधिक महत्व की होने के कारण उन्हीं की ओर हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ जिससे हम अन्य रचनाओं की ओर ध्यान न दे सके।

संक्षेप में भावानुभूति रसात्मकता, कलाकौशल, संगीतात्मकता, भाषा सँगठन आदि सभी काव्य गुणों से इस युग का काव्य परिपूर्ण है। उसमे अश्लीलता अवश्य है। परंतु जिस प्रकार हम शृङ्गारात्मक कृष्ण काव्य के अश्लील अंशों को निकाल कर शेष भाग स्वतन्त्रतापूर्वक नवयुवकों को पढ़ने को देते हैं उसी प्रकार इस काल के काव्य का भी इसी प्रकार का सँकलन कर विद्यार्थियों को दे सकते हैं।

:—:

६—आधुनिक काल

साधारणतः आधुनिक युग का प्रारम्भ सन् १८५० से माना जाता है। यह सन् भारतेन्दु का जन्मकाल है और आधुनिक युग का प्रथम चरण भारतेन्दु से सम्बन्धित है। भारतेन्दु युग का विवेचन करने के लिए हमें उस समय का विवेचन करना पड़ेगा जब यूरोपिय संस्कृति और आदर्शों के सम्पर्क से भारतीय जीवन में नव-जागरण का स्पन्दन प्रारम्भ हुआ था। इसी को लक्ष्य कर अनेक विद्वान इस काल को 'पुनर्जागरण काल' भी कहते हैं। सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध के असफल हो जाने से ब्रिटिश शासन सत्ता हमारे देश में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गई। इस असफलता से उन शक्तियों का तीव्र ह्रास हुआ जो मध्यकालीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति की पोषक थीं। उनका पराभाव होने से एक नवीन आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली का सूत्रपात हुआ। सामन्ती-व्यवस्था अपने पूर्व रूप में लुप्त होने लगी। इस परिवर्तन के लक्षण बहुत पहले से दिखाई देने लगे थे। चाहे अँग्रेज यहाँ आते या न आते, यह परिवर्तन अवश्यम्भावी था। प्रख्यात कम्युनिस्ट लेखक रजनी पामदत्त का तो यहाँ तक कहना है कि विदेशियों के आगमन से इस क्रांति में विलम्ब ही हुआ। अंग्रेजों ने हमारे निरन्तर विकासमान उद्योग-धन्धों को नष्ट कर हमारी सामाजिक और आर्थिक उन्नति पर एक ताला सा डाल दिया। रीतिकाल के अन्त के साथ ही पुरानी सामन्ती-व्यवस्था और संस्कृति का अन्त होगया और उसके बाद आधुनिक काल का व्यावसायिक क्रांति और संस्कृति का नव जागरण युग प्रारम्भ हुआ जिससे पूँजीवादी व्यवस्था का उत्कर्ष बढ़ने लगा। भारत की साहित्यिक आत्मा, जो सीमित और रूढ़िवादी सामाजिक जीवन के कारण निष्प्राण हो रही थी, इस नवीन संस्कृति के आगमन एवं संघर्ष से जाग उठी।

प्रसिद्ध आलोचक डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में—"संसार के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का महत्वपूर्ण स्थान है। कार्ल मार्क्स, डारविन, भारतेन्दु, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, टाल्स्टाय आदि महापुरुषों के त्याग और तपस्या का यही काल था। इन वैज्ञानिकों, समाज-सुधारकों और साहित्यिकों ने मानव-विकास के मार्ग में अड़ी हुई बड़ी-बड़ी शिलाओं को अपने सबल हाथों से ठेलकर एक ओर कर दिया।......हिंदुस्तान में सन् ५७ के

पहले रीतिकालीन परम्परा का जोर था—यह वह संस्कृति थी जो समाज को निकम्मा बनाए थी।······एक दिन वह महल ढह कर गिर पड़ा।······ लाखों किसानों का रक्त बहा। नवाबी का अन्त हुआ। लोगों ने एक सुख की सांस ली।" इस वक्तव्य से उक्त परिवर्तन की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है।

प्रसिद्ध आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने आधुनिक युग की प्रेरक विभिन्न परिस्थितियों का विवेचन करते हुए लिखा है कि—"आधुनिक युग का आरम्भ उत्पादन, यातायात और वितरण के नए साधनों के साथ होता है। अंग्रेजों ने भारत की आर्थिक व्यवस्था में अनेक नए परिवर्तन किए। एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग-धन्धों को आमूल तहस-नहस किया, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने विदेशी पूँजी से नए उद्योग-धन्धे भी भारत में स्थापित करने शुरू किए।······रेल, तार, डाक आदि जो उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता कायम करने के लिए खड़े किए, वे भारत में एक नए जीवन और संस्कृति के दूत भी बन गए। अंग्रेजी शिक्षा का जो अस्त्र उन्होंने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए चलाया था, सुदर्शन चक्र की भाँति उलट कर उन्हीं के मर्म-स्थान पर लगा।"इस नवीन शिक्षा से जाति में नव-चेतना का जागरण हुआ।

हमारा भक्तिकालीन साहित्य जनता का साहित्य था और रीतिकालीन साहित्य दरबारों का। आधुनिक हिंदी साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नए वर्ग का साहित्य है जो नवीन शासन और आर्थिक प्रणाली के फलस्वरूप भारतीय रंगमंच पर प्रवेश कर रहा है। यह साहित्य वस्तुतः भारतीय मध्यम वर्ग की सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है। इसका प्रधान कारण यह है कि पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने से राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भारतीय दृष्टिकोण बदल रहा था और इसी बदलते हुए दृष्टिकोण से प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास प्रारम्भ हुआ। नव-जागरण से उत्पन्न विचार-स्वातन्त्र्य के प्रभाव से हमारे साहित्य ने रूढ़ि के बन्धनों को तोड़ कर एक नए युग में प्रवेश किया।

ब्रह्म समाज और आर्य समाज के रूप में हमारा धार्मिक दृष्टिकोण सुधारवादी रूप ग्रहण करने लगा था। राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ने धार्मिक रूढ़ियों का विरोध कर सामाजिक सुधार की आवाज बुलन्द की। राममोहन ने पश्चिम से प्रेरणा ली और स्वामी जी ने प्राचीन वैदिक संस्कृति की नई व्याख्या दी। दूसरी ओर विभिन्न करों, अकालों तथा राजकीय अत्याचारों से जनता में जागृति हुई। इस हलचल के युग में रीतिकालीन शृङ्गारिक भावना लुप्त हो चली।

मुद्रण-कला के प्रचार ने भी इस काल के साहित्य को सर्व-सुलभ और जनप्रिय बनाने में बहुत योग दिया। पहले साहित्य एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित था। प्रेस ने उसे प्रजातांत्रिक रूप देकर जन साधारण के लिए सुलभ बना दिया। समाचार-पत्र, उपन्यास, कहानियाँ आदि प्रेस के कारण खूब प्रचारित हुईं। "इस प्रकार प्रेस ने साहित्य के प्रचार में, उसकी अभिवृद्धि में और उसकी नई-नई शाखाओं के उत्पन्न करने में ही सहायता नहीं दी बल्कि उसकी दृष्टि के समूल परिवर्तन में भी योग दिया। प्रेस के साथ ही साथ पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस काल के साहित्य को बहुत प्रभावित किया। इतिहास और पुरातत्व के शोध में, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन में, और नई पुरानी भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन में यूरोपिय पंडितों ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया। इसने आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप से हिंदी साहित्य का उपकार किया।" (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी–हिंदी-साहित्य) अंग्रेजों के प्रयत्न से हिंदी गद्य के सुव्यवस्थित रूप का प्रचार हुआ। इन्होंने भारतीय विद्वानों द्वारा हिंदी-उर्दू की पुस्तकें भी लिखवाईं।

इसके अतिरिक्त ईसाई मिशनरियों ने भी हिंदी का प्रचार करने में योग दिया। उन्होंने अपनी धार्मिक पुस्तकों का हिंदी अनुवाद करके, ईसाई धर्म के प्रचारार्थ, जनता में वितरित किया। अंग्रेजों की प्रेरणा से कई समाचार पत्र भी निकले। शिक्षा प्रसार के लिए स्कूलों और कालेजों की स्थापना की गई। शिक्षा संस्थाओं एवं शासकीय कार्यों में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सरकार द्वारा हिंदी की उपेक्षा कर उर्दू को आश्रय दिया गया। देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। परन्तु जनता ने हिंदी के प्रोत्साहन एवं प्रचार में पूर्ण योग दिया। हिंदी-प्रेमियों ने स्थान-स्थान पर पाठशालाएँ स्थापित कर हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था की। इस प्रकार समस्त विरोधों और उपेक्षाओं को पद-दलित कर, हिंदी, केवल अपनी आन्तरिक प्राण शक्ति के बल पर आगे बढ़ती गई। सन् १८५५ में 'इण्डियन नेशनल काँग्रेस' की स्थापना हुई जिसने आगे चलकर भारतीय चिन्तनधारा को बहुत अधिक प्रभावित किया। वह क्रमशः सामाजिक सुधार और धार्मिक प्रचार के उत्साह को राजनीतिक आन्दोलन के रूप में बदल देने में समर्थ हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारतवर्ष की साहित्यिक चेतना प्रधान रूप से राष्ट्रीय चेतना के रूप में प्रकट हुई। उस समय न तो वैज्ञानिक विवेचन का ही प्रश्न उठा और न 'वर्ग' और 'वाद' का ही। उस समय हम यही सोच रहे थे कि–"हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।" इस काल की कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी साहित्यिक कृतियों में इस राजनीतिक चेतना का

प्रभाव लक्षित होता है। साथ ही इन साहित्यिक भावों, विचारों तथा शैली पर अँग्रेजी का प्रभाव पड़ रहा था। इस काल के साहित्य की इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुये डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं कि—"उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हिन्दी लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं में नव-भारत की राजनीतिक और आर्थिक महत्वकांक्षायें प्रकट करके अपने चारों ओर के धर्म और समाज की पतित अवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करते हुये भविष्य के उन्नत और प्रशस्त जीवन की ओर इङ्गित किया है।"

आधुनिक युग की पृष्टभूमि का संक्षिप्त परिचय देते हुए बाबू गुलाबराय ने लिखा है—"अँग्रेजी राज्य के आने से लोगों का ध्यान जीवन की कठोर वास्तविकताओं की ओर गया। जीवन संग्राम बढ़ा और साथ ही जातीय जीवन की जागृति हुई।...लोग अपनी सभ्यता को महत्व देने लगे। हिन्दू लोगों ने विदेशी धर्मों का मुकाबिला करने के लिए अपने धर्म को बुद्धिवाद के आलोक में परिष्कृत करना प्रारम्भ किया।...ऐसे बुद्धिवाद और प्रतिद्वन्द्विता के समय में जनता के भावों के प्रकाशन के लिए पद्य उपयुक्त माध्यम नहीं हो सकता था। अतः अङ्गरेजी राज्य के साथ-साथ गद्य का युग आया।...पद्य में ब्रजभाषा का साम्राज्य था किन्तु नवीन युग के आ जाने पर उसकी कोमल-कांत पदावली जीवन की सङ्घर्षमयी कठोर भूमि के लिए अनुकूल न सिद्ध हो सकी। ब्रजभाषा गद्य के उपयुक्त न ठहरी। अरबी फारसी भी व्यवहार योग्य भाषाएँ न थीं।" इसका परिणाम यह हुआ कि खड़ी बोली पहले केवल गद्य की भाषा स्वीकार की गई और बाद में गद्य-पद्य दोनों का माध्यम बनी।

परिस्थितियों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल की सबसे प्रधान प्रवृत्ति राष्ट्रीयता, देश प्रेम अथवा स्वतन्त्रता की भावना थी। राष्ट्रीय वीरों का गान, राष्ट्र पतन के लिये दुख प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता और तत्परता तथा हिन्दू जातीयता, ये आधुनिक काल के प्रारम्भिक उत्थान की प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं। भारतेन्दु काल से प्रारम्भ होकर ये प्रवृत्तियाँ निरन्तर विकसित, परिमार्जित और अन्य अनेक नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होती हुई चली आ रही हैं। बीसवीं शताब्दी में आकर इनमें कुछ नितान्त नवीन प्रवृत्तियों का मिश्रण हो गया है, जैसे रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि। भारतेन्दु काल से द्विवेदी काल तक इस साहित्य की धारा एकरस चली आई। छायावादी युग में आकर इसमें अकस्मात् परिवर्तन दिखाई दिवा। राजनीतिक आन्दोलनों की असफलता ने युवकों को निराश और पलायनवादी बना दिया। इस निराशा, पलायन की भावना और साथ ही सौंदर्य की भावना ने छायावाद को जन्म दिया।

यहाँ आकर हिन्दी काव्य मानव जीवन से हट कल्पना लोक में बिहार करने लगा। छायावाद का प्रारम्भ सन् १९२० के लगभग माना जाता है। सन् १९३५ के बाद हिंदी साहित्य में पुनः एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया दिखाई दी जिसने छायावाद की काल्पनिकता का विरोध कर साहित्य को जन जीवन की ठोस, वास्तविक भूमि पर आने को ललकारा। यह नवीन परिवर्तन 'प्रगतिवाद' कहलाया जो आज साहित्य की सबसे प्रबल विचारधारा है। प्रयोगवाद घोर प्रतिक्रियावादी विचारधारा है जिसके समर्थक भाषा सम्बन्धी नवीन परन्तु अनर्गल प्रयोगों को महत्त्व देते हैं।

इस काल की सबसे प्रधान घटना खड़ी बोली गद्य का आरम्भ और खड़ी बोली द्वारा ब्रजभाषा को अपदस्थ कर स्वयं गद्य-पद्य का माध्यन बन जाना है। यह हिंदी साहित्य के इतिहास की नहीं अपितु विश्व साहित्य के इतिहास की सबसे अभूतपूर्व घटना है कि केवल ५० वर्षों के छोटे से समय में एक सर्वथा उपेक्षित और नगण्य भाषा ब्रजभाषा जैसी पूर्ण, साहित्यिक रूप से समृद्ध और जनप्रिय भाषा को दबाकर साहित्य की एकमात्र भाषा बन बैठी। इस काल में साहित्य कभी जन-जीवन को छूता हुआ चला है और कभी उसकी उपेक्षा भी की है। परिवर्तन बहुत शीघ्र और अस्थायी होते रहे हैं। यह काल हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में सबसे अधिक घटना पूर्ण, परिवर्तन शील और बहुमुखी रहा है। इसी कारण बहुत से विद्वान इसे हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग भी कहते हैं। इसमें साहित्य के प्रत्येक अंग का पूर्ण विकास हुआ है। साथ ही विभिन्न साहित्यिक रूपों और प्रवृत्तियों की विविधता रही है। यह पूर्ववर्ती साहित्य से अधिक प्रगतिशील और आशाजनक है। इसके कई कारण हैं—१—गद्य का विकास, २—राष्ट्रीय भावों की प्रधानता। आज की राष्ट्रीयता में आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, आदि सभी समस्याओं का समावेश है। ३—शुद्ध शृङ्गारिकता—भक्ति की मर्यादा एवं रीति की अति से दूर माध्यम मार्ग—शुद्ध वातावरण। ४—आज का साहित्य जीवन के अधिक समीप है। पहले कल्पना थी और अब वास्तविकता का प्राधान्य है। इस युग में छायवाद, हालावाद एवं प्रयोगवाद को छोड़कर सर्वत्र मानव जीवन को प्रधानता दी गई है। ५—दार्शनिकता की अभिव्यक्ति छायावाद और रहस्यवाद के रूप में हुई है। ६—साहित्य के सभी अङ्गों का पूर्ण विकास। पहले कविता थी और आज गद्य के साथ सब कुछ है। ७—वादों की प्रधानता—अन्य युगों में वाद की प्रधानता नहीं थी। इस युग में तो वादों की बाढ़ सी आगई है जिनमें से अधिकांश क्षणिक प्रभाव डालकर समाप्त हो गए हैं।

यहाँ तक हम आधुनिक काल की परिस्थितियों तथा प्रमुख प्रवृत्तियों का

विवेचन कर आए। इस काल को विद्वानों ने कई विभोगों में बाँटा है। अतः इस काल के क्रमिक विकास का संक्षिप्त अध्ययन आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल के इतिहास को तीन उत्थानों में विभाजित किया है—१—प्रथम उत्थान, सम्वत् १९२४-५०, २—द्वितीय उत्थान, सम्वत् १९५०-७५, ३—तृतीय उत्थाल सम्वत् १९७५ से प्रारम्भ। अन्य आलोचकों ने इस काल को भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावादी युग में विभाजित किया है। परन्तु 'छायावाद' प्रमुख रूप से केवल आधुनिक हिन्दी-कविता से सम्बन्धित है। इसलिए गद्य साहित्य को इसके अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। कुछ आलोचकों ने छायावादी काल के विभिन्न साहित्यांगों के प्रतिनिधि साहित्यकारों के नाम पर इसे 'प्रेमचन्द-प्रसाद शुक्ल-काल' माना है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने तृतीय उत्थान को 'नवयौवन' काल की संज्ञा दी है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तृतीय उत्थान को तीन मोटे विभागों में बाँटा है। १—सन् १९२० से १९३० तक—पुराने संस्कारों के प्रति विद्रोह और नवीन संस्कारों के बीजारोपण का समय; २—सन् १९३० से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक—असन्तोष का निश्चित रूप धारण करना, नवीन रचनात्मक विचारधाराओं की उद्भावना; ३ द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ (१९३९) से अब तक—नवीन साहित्यिकों में मतभेद। इसी को कुछ लोग साहित्य में गतिरोध भी कहते हैं।

प्रथम उत्थान—(भारतेन्दु युग) भारतेन्दु आधुनिक साहित्य के पिता माने जाते हैं। उनका युग आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रवेश द्वार है। इस युग को हम संक्रांति अथवा सन्धि का युग भी कह सकते है। यह युग प्राचीन परम्पराओं और मर्यादाओं की रक्षा करते हुये भी नवीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना को लेकर आगे बढ़ा। इस युग में खड़ी बोली को सर्व प्रथम गद्य का माध्यम स्वीकार किया गया। पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही। भारतेन्दु के नेतृत्व में खड़ी बोली का अभूतपूर्व विकास और प्रसार हुआ। परन्तु इस युग का अधिकांश पद्य ब्रजभाषा में ही लिखा गया। उस पर मध्यकालीन परम्परा का बहुत प्रभाव है। खड़ी बोली और ब्रजभाषा का सङ्घर्ष भी इसी युग में प्रारम्भ हो गया। इस युग में अनेक नवीन गद्य रूपों का विकास हुआ। इन नए रूपों में पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि का आरम्भ और विकास हुआ।

हिन्दी गद्य के प्रवर्त्तकों में चार प्रथम पुरुषों के नाम आते हैं। मुं० सदासुखलाल (सुखसागर), इंशाअल्लाखाँ (रानी केतकी की कहानी), लल्लूजीलाल (प्रेमसागर), और सदल मिश्र (नासिकेतोपाख्यान)। इस युग में खड़ी बोली गद्य की रूप रेखा प्रस्तुत हो रही थी। इस नव-निर्माण के कार्य में अनेक

पत्र-पत्रिकाओं का भी यथेष्ठ योग रहा। इनमें उदन्त मार्तण्ड, कविवचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन विशेष उल्लेखनीय हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास जाता है। देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यास और पं० किशोरीलाल गोस्वामी के तथाकथित सामाजिक उपन्यासों ने हिन्दी में उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। इन उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य की प्रधानता है—चरित्र-चित्रण पर कम ध्यान दिया है। हिन्दी में नाटक भी लिखे जा रहे थे। भारतेन्दु से पूर्व प्रबोध-चन्द्रोदय, देवमाया प्रपंच, रुक्मिणी हरण आदि नाटक लिखे गये थे। परन्तु हिंदी का सर्व प्रथम आधुनिक नाटक गिरधरदास का 'नहुष' माना जाता है। इसके उपरान्त भारतेन्दु ने दर्जनों मौलिक और अनुवादित नाटक हिन्दी साहित्य को भेंट किए। इनके नाटकों में साहित्यिकता के साथ-साथ नाटकीय गुण भी हैं। आलोचना का प्रारम्भ श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयम्वर' की आलोचना से हुआ। लेखकों, पुस्तकों और साहित्यिक रूपों की विवेचना इसी युग से प्रारम्भ हुई। इस युग के लेखकों ने पाश्चात्य आलोचना शैली का अध्ययन कर अपने युग के लेखकों के सम्मुख नए आदर्श उपस्थित किथे। इसी युग में निबन्ध, जीवनी आदि का भी प्रारम्भ हो गया था।

काव्य के क्षेत्र में इस युग के कलाकारों ने प्राचीन परम्परा को अपनाया तो अवश्य परन्तु उसे विकास के नए पथ पर भी अग्रसर किया। भारतेन्दु ने प्रकृति, शृङ्गार, कृष्ण-लीला आदि का वर्णन अपनी स्वतंत्र अनुभूति से किया। काव्य में सामाजिक और राजनीतिक विषयों का समावेश प्रथम बार इसी युग में हुआ। इस नवीन परिवर्तन से हमारा ध्यान शास्त्रीय पद्धतियों से हटकर जीवन की ओर बढ़ रहा था। राजनीतिक परिवर्तन से उत्पन्न विषम परिस्थि-तियों का चित्रण इस युग के लेखकों का प्रधान कार्य रहा। उन्होंने निरन्तर "टिक्कस", अकाल और महामारी जैसी आपदाओं का वर्णन किया। राजनीतिक और सामाजिक सुधार के लिए उच्चकोटि के व्यंग्य और हास्य का आश्रय लिया गया। ऐसे तीखे और मार्मिक व्यंग्य के दर्शन हिन्दी साहित्य में फिर नहीं हो सके। उस युग की परिस्थिति में यही जनता का तीव्रतम अस्त्र बन सकता था। इस युग के लेखक उस वर्ग के लिए लिए लिख रहे थे जिसके वे स्वयं अङ्ग थे। यह साहित्य सामन्तों का साहित्य न होकर मध्यम वर्ग का साहित्य था। परन्तु यह युग नवीन विधाओं, नवीन भाषा और नवीन विचारों का प्रयोग काल था। इसलिए इस साहित्य में एक नटखट चपल सरल बालक का-सा उन्मुक्त उल्लास, खीझ और मस्ती थी। वहाँ बनावट के लिए कम स्थान था। इस युग का साहित्य नवीन विचारधारा की आकुलता तो व्यक्त करता है किन्तु

उसमें अभी परिष्कार, गम्भीरता और विकास की बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी आगे आने वाले युग ने पूरी की। इस काल के गद्य लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो कम है पर व्यक्तित्व से वह ओतप्रोत है। यह गद्य सीधा, स्पष्ट तथा सहज-सशक्त है। इस काल के साहित्यकारों में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। ये प्रमुख रूप से निबन्धकार हैं।

द्वितीय उत्थान—(द्विवेदी युग)—विचारों के क्षेत्र में नवीन और बहुमुखी सामग्री एकत्र करने वाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस युग की प्रेरक शक्ति थे। आपने अपने प्रखर व्यक्तित्व की ऐसी अमिट छाप युग चेतना पर छोड़ी कि इस काल को आलोचकों ने "द्विवेदी-युग" की संज्ञा दी। "नए विचार और नई भाषा, नया शरीर और नई पोशाक, दोनों ही नई हिन्दी को द्विवेदी जी की देन है। इसी कारण वे नई हिन्दी के प्रथम और युग प्रवर्त्तक आचार्य माने जाते हैं। द्विवेदी जी और उनके साथियों का महत्व नए निर्माण के लिए प्रचुर और अनेक मुख सामग्री भेंट करने में है।" (नन्द-दुलारे वाजपेयी) द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक के रूप में युग की भाषा और उसके साहित्य की रूप रेखा का निर्माण करते रहे। आपने खड़ी बोली को परिष्कृत कर उसे काव्य की भाषा के पद पर आसीन करा कर ब्रज भाषा और खड़ी बोली के द्वन्द्व को समाप्त कर दिया। इस युग में हिन्दी साहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ठ परिमार्जन और विकास हुआ। कविता, कथा-साहित्य और आलोचना में प्रौढ़ता के दर्शन हुए। इस युग की अनेकरूपता को लक्ष्य कर डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है कि—"पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वनखण्ड के स्थान पर महाकाव्य, खण्ड-काव्य, आख्यानक काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबन्ध काव्य, गीतकाव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना प्रधान, भाव प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएं हुईं। समालोचना और निबन्धों की भी अपूर्व उन्नति हुई।"

इस युग के लेखकों पर पाश्चात्य साहित्य और विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा। वे रीतिकालीन शास्त्रीय और परम्परावादी साहित्य से भिन्न, अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए नए माध्यम और नए मार्ग खोज रहे थे। उसके लिए इन लेखकों ने अपनी कला का शृङ्गार किया परन्तु इनके भावों, अनुभूति और कल्पना में वह गहराई नहीं आने पाई जो आगे चलकर छायावाद में दिखाई दी। भाषा का परिमार्जन खूब हुआ किन्तु हम लक्ष्य से

पत्र-पत्रिकाओं का भी यथेष्ठ योग रहा। इनमें उदन्त मार्तण्ड, कविवचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन विशेष उल्लेखनीय हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास जाता है। देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यास और पं० किशोरीलाल गोस्वामी के तथाकथित सामाजिक उपन्यासों ने हिन्दी में उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। इन उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य की प्रधानता है—चरित्र-चित्रण पर कम ध्यान दिया है। हिन्दी में नाटक भी लिखे जा रहे थे। भारतेन्दु से पूर्व प्रबोध-चन्द्रोदय, देवमाया प्रपंच, रुक्मिणी हरण आदि नाटक लिखे गये थे। परन्तु हिंदी का सर्व प्रथम आधुनिक नाटक गिरधरदास का 'नहुष' माना जाता है। इसके उपरान्त भारतेन्दु ने दर्जनों मौलिक और अनुवादित नाटक हिन्दी साहित्य को भेंट किए। इनके नाटकों में साहित्यिकता के साथ-साथ नाटकीय गुण भी हैं। आलोचना का प्रारम्भ श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयम्वर' की आलोचना से हुआ। लेखकों, पुस्तकों और साहित्यिक रूपों की विवेचना इसी युग से प्रारम्भ हुई। इस युग के लेखकों ने पाश्चात्य आलोचना शैली का अध्ययन कर अपने युग के लेखकों के सम्मुख नए आदर्श उपस्थित किये। इसी युग में निबन्ध, जीवनी आदि का भी प्रारम्भ हो गया था।

काव्य के क्षेत्र में इस युग के कलाकारों ने प्राचीन परम्परा को अपनाया तो अवश्य परन्तु उसे विकास के नए पथ पर भी अग्रसर किया। भारतेन्दु ने प्रकृति, शृङ्गार, कृष्ण-लीला आदि का वर्णन अपनी स्वतंत्र अनुभूति से किया। काव्य में सामाजिक और राजनीतिक विषयों का समावेश प्रथम बार इसी युग में हुआ। इस नवीन परिवर्तन से हमारा ध्यान शास्त्रीय पद्धतियों से हटकर जीवन की ओर बढ़ रहा था। राजनीतिक परिवर्तन से उत्पन्न विषम परिस्थितियों का चित्रण इस युग के लेखकों का प्रधान कार्य रहा। उन्होंने निरन्तर "टिक्कस", अकाल और महामारी जैसी आपदाओं का वर्णन किया। राजनीतिक और सामाजिक सुधार के लिए उच्चकोटि के व्यंग्य और हास्य का आश्रय लिया गया। ऐसे तीखे और मार्मिक व्यंग्य के दर्शन हिन्दी साहित्य में फिर नहीं हो सके। उस युग की परिस्थिति में यही जनता का तीव्रतम अस्त्र बन सकता था। इस युग के लेखक उस वर्ग के लिए लिए लिख रहे थे जिसके वे स्वयं अङ्ग थे। यह साहित्य सामन्तों का साहित्य न होकर मध्यम वर्ग का साहित्य था। परन्तु यह युग नवीन विधाओं, नवीन भाषा और नवीन विचारों का प्रयोग काल था। इसलिए इस साहित्य में एक नटखट चपल सरल बालक का-सा उन्मुक्त उल्लास, खीझ और मस्ती थी। वहाँ बनावट के लिए कम स्थान था। इस युग का साहित्य नवीन विचारधारा की आकुलता तो व्यक्त करता है किन्तु

उसमें अभी परिष्कार, गम्भीरता और विकास की बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी आगे आने वाले युग ने पूरी की। इस काल के गद्य लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो कम है पर व्यक्तित्व से वह ओतप्रोत है। यह गद्य सीधा, स्पष्ट तथा सहज-सशक्त है। इस काल के साहित्यकारों में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। ये प्रमुख रूप से निबन्धकार हैं।

द्वितीय उत्थान—(द्विवेदी युग)—विचारों के क्षेत्र में नवीन और बहुमुखी सामग्री एकत्र करने वाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस युग की प्रेरक शक्ति थे। आपने अपने प्रखर व्यक्तित्व की ऐसी अमिट छाप युग चेतना पर छोड़ी कि इस काल को आलोचकों ने "द्विवेदी-युग" की संज्ञा दी। "नए विचार और नई भाषा, नया शरीर और नई पोशाक, दोनों ही नई हिन्दी को द्विवेदी जी की देन है। इसी कारण वे नई हिन्दी के प्रथम और युग प्रवर्त्तक आचार्य माने जाते हैं। द्विवेदी जी और उनके साथियों का महत्व नए निर्माण के लिए प्रचुर और अनेक मुख सामग्री भेंट करने में है।" (नन्द-दुलारे वाजपेयी) द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक के रूप में युग की भाषा और उसके साहित्य की रूप रेखा का निर्माण करते रहे। आपने खड़ी बोली को परिष्कृत कर उसे काव्य की भाषा के पद पर आसीन करा कर ब्रज भाषा और खड़ी बोली के द्वन्द्व को समाप्त कर दिया। इस युग में हिन्दी साहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ठ परिमार्जन और विकास हुआ। कविता, कथा-साहित्य और आलोचना में प्रौढ़ता के दर्शन हुए। इस युग की अनेकरूपता को लक्ष्य कर डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है कि—"पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वनखण्ड के स्थान पर महाकाव्य, खण्ड-काव्य, आख्यानक काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबन्ध काव्य, गीतकाव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण हाने लगा। गद्य में घटना प्रधान, भाव प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएं हुईं। समालोचना और निबन्धों की भी अपूर्व उन्नति हुई।"

इस युग के लेखकों पर पाश्चात्य साहित्य और विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा। वे रीतिकालीन शास्त्रीय और परम्परावादी साहित्य से भिन्न, अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए नए माध्यम और नए मार्ग खोज रहे थे। उसके लिए इन लेखकों ने अपनी कला का शृङ्गार किया परन्तु इनके भावों, अनुभूति और कल्पना में वह गहराई नहीं आने पाई जो आगे चलकर छायावाद में दिखाई दी। भाषा का परिमार्जन खूब हुआ किन्तु हम लक्ष्य से

अभी दूर थे। अभी अपने साहित्य का पथ निर्धारित करने में व्यस्त थे। इस निर्धारित पथ का सुचारु उपयोग छायावादी कवियों ने किया।

मैथिलीशरण गुप्त इस युग के सर्वोत्तम साहित्यिक प्रतिनिधि हैं। इन्होंने अनेक छोटे-बड़े काव्यों का सृजन कर प्रतिनिधि कवि की पदवी प्राप्त की है। इनके काव्य में प्रवाह, गति और एक सीमा तक गाम्भीर्य भी है। भारत-भारती, साकेत और यशोधरा इनके सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ माने जाते हैं। द्विवेदी-युग की सफलता और असफलता दोनों का निदर्शन गुप्तजी के साहित्य में होता है। इनके काव्य द्वारा खड़ी बोली के स्वरूप में अधिक स्पष्टता और माधुर्य आया। उसमें व्यंजना की गम्भीरता और कोमलता भी आई परन्तु फिर भी भाषा में एक अटपटापन शेष रह गया जिसका परिमार्जन छायावादी कवियों ने किया। गुप्त जी की अपेक्षा हरिऔध-साहित्य में अधिक प्रौढ़ता, कलात्मकता, कल्पना, अनुभूति और गाम्भीर्य है। हरिऔध निरन्तर भिन्न-भिन्न शैलियों के प्रयोग करते रहे तथा किसी भी शैली का समर्थ प्रयोग करने की क्षमता रखते थे। आपका 'प्रिय-प्रवास' हिन्दी का प्रथम सफल महाकाव्य है जिसमें संस्कृत के अतुकान्त छन्दों का पुनः प्रचलन किया गया है। पं० श्रीधर पाठक ने अँग्रेजी अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया। इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन हुआ। इस काल के अन्य कवियों में सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, राय देवीप्रसाद पूर्ण, गोपालशरणसिंह सत्यनारायण कविरत्न, एक भारतीय आत्मा आदि प्रसिद्ध हैं।

इस युग में गद्य का भी समुचित विकास और प्रसार हुआ। वास्तव में इस युग में गद्य की ही प्रधानता रही। समालोचना का विकास सन्तोषजनक हुआ। द्विवेदी जी स्वयं उच्चकोटि के आलोचक थे। आपकी आलोचनाओं में भाषा-सम्बन्धी भूलों एवं दोष-निदर्शन की ही अधिकता रहती थी। मिश्र बन्धुओं ने 'नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' लिखे। पं० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना खूब प्रसिद्ध हुई। 'देव बड़े कि बिहारी' इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखीं गईं। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक एक अत्यन्त गम्भीर एवं सारगर्भित पुस्तक लिखी। इस आलोचना में प्राचीन शास्त्रीय और नवीन—पाश्चात्य दोनों प्रभाव कार्य कर रहे थे। नाटकों के क्षेत्र में बंगला के अनूदित नाटकों का खूब प्रचार हुआ किन्तु अभी तक हिन्दी-नाटकों में किसी स्वतन्त्र परम्परा का विकास नहीं हो पाया था। उपन्यासों में गोपालराम गहमरी और खत्रीजी के उपन्यासों की धूम थी। अनुवाद भी खूब हुए। इन रचनाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान, चरित्र-चित्रण आदि की कमी

थी । द्विवेदी युग में हिन्दी साहित्य को सम्पन्न, बहुमुखी और सशक्त बनाने का प्रयत्न किया जा रहा था । इसमें आधुनिक साहित्य शैली का निर्माण हो चुका था । यह समय हमारे देश में गम्भीर राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल का युग था । इसी कारण देशभक्ति का स्वर इस युग में सबसे प्रमुख रहा । प्रेरणा बहुमुखी रही । इसी से उसमें कलात्मकता का पूर्ण विकास नहीं होने पाया । द्विवेदीजी जैसा साहित्य का सजग और सतर्क प्रहरी अहर्निशि हमारी भाषा और साहित्य का परिष्कार कर उसे आदर्श की ओर उन्मुख करने में दत्तचित्त रहा । यह एक प्रकार से नव-निर्माण का काल था । इसी कारण इस काल के साहित्य में अपेक्षित सरसता और नवीनता का अभाव मिलता है। साहित्य इतिवृत्तात्मकता के संकुचित घेरे में बंधकर चला, इसलिए उसका अधिक बहुमुखी विकास नहीं हो सका, यद्यपि आगे होने वाले बहुमुखी विकास का पूर्ण आभास इसी युग में मिलने लगा था ।

तृतीय उत्थान—(नव-यौवन या नव-जागरण काल) इस युग में साहित्य की विभिन्न विधाओं में विस्तार, गाम्भीर्य, मार्मिकता, परिष्कार एवं सुन्दर कला के दर्शन हुए । प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास रंगभूमि, प्रेमाश्रम, गोदान आदि; प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक और कामायनी जैसा काव्य ; पंत, महादेवी, निराला के अनेक काव्य संग्रह (पन्त—पल्लव, गुञ्जन, ग्राम्या; निराला–अनामिका, गीतिका, परिमल ; महादेवी–रश्मि, सान्ध्यगीत, दीप-शिखा) आदि तथा आचार्य शुक्ल के अनेक आलोचनात्सक ग्रन्थ एवं निबन्ध संग्रह प्रकाश में आए । यह हिन्दी-साहित्य का प्रौढ़तम रूप है । यह युग काव्य में छायावाद, उपन्यास में प्रेमचन्द, नाटक में प्रसाद और आलोचना में शुक्लजी का युग है । राजनीतिक दृष्टि से यह साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की पराजय का युग है । इस युग में हमने पूर्ण उत्साह, लगन, संगठन और आत्मविश्वास के साथ विदेशी शासन से टक्कर ली । यह नवीन उल्लास इस काल के साहित्य में कलात्मक रूप में मुखरित हो उठा । तृतीय उत्थान विचित्र साहित्यिक युग है । इस युग का कथा-साहित्य यथार्थवादी, नाट्य-साहित्य ऐतिहासिक, आलोचना-साहित्य पुरातनवादी और शास्त्रीय है । यह विविधता इस युग की बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है ।

इस काल में सभी शैलियों का पूर्ण विकास हुआ । विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं के प्रभाव का इस शैली निर्माण में विशेष हाथ रहा । डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में—"हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अंग्रेज़ी

साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजना, बंगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू का प्रवाह ग्रहण किया।"

हिन्दी कथा-साहित्य का पूर्ण विकसित रूप प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में दिखाई दिया। उनके विभिन्न उपन्यासों और कहानियों में रोचकता और कलात्मकता के साथ-साथ तीव्रतम सामाजिक चेतना भी मिली। उनका दृष्टिकोण जनवादी था। उनके प्रमुख पात्र और चरित्र उसी धातु के गढ़े हुए थे जिसके वे स्वयं थे। उनमें जीवन की परिपूर्ण निष्ठा है। उनके उपन्यासों में करुणा है परन्तु निराशा नहीं। वे आस्थावान और प्रगतिशील लेखक हैं। उनकी रचनाएं साहित्यिक भूख को तो शान्त करती ही हैं साथ ही आन्तरिक चेतना को भी प्रेरणा देतीं हैं। 'कौशिक' और 'सुदर्शन' प्रेमचन्द की ही भाँति अपने कथा-साहित्य में उदार, यथार्थवादी परम्परा का पोषण करते रहे जिसके मूल में आदर्श की चेतना थी। प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारों में जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और यशपाल नए पथों का अनुसरण कर रहे हैं। प्रेमचन्द ग्राम्य-जीवन के चित्रकार थे और ये मध्यम वर्ग के। कुछ सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों ने विशेष प्रसिद्धि पाई। नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया। इन नाटकों में उच्चकोटि की साहित्यिकता है; साथ ही इनमें इतिहास का गहरा मनन और अध्ययन, कथावस्तु का सफल निर्वाह, गम्भीर चरित्र-चित्रण, गहरी अनुभूति आदि के दर्शन होते हैं। अन्य नाटककारों में रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविन्ददास, उदयशङ्कर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने आधुनिक, यूरोप से प्रभावित, नाट्यशैली को अपनाने का प्रयत्न किया है। इस काल में एकांकी नाटकों का भी सुन्दर विकास हुआ है। इधर भारतीय जन-नाट्य-संघ (इप्टा) ने रंगमंच की परम्परा को विकसित करने का प्रयत्न किया है, फिर भी हमारा नाट्य साहित्य साहित्य के अन्य अङ्गों के समान समृद्ध नहीं है।

समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदीजी आदि की बदौलत एक नवीन साहित्यचेतना तो उत्पन्न हुई पर साहित्यिक मार्ग दर्शन ठीक तरह से न हो सका। यह कार्य आचार्य शुक्लजी की समीक्षाओं ने किया। शुक्लजी का प्राचीन साहित्य का अध्ययन गम्भीर और विशाल था। साथ ही वे एक सामाजिक द्रष्टा और विचारक भी थे। काव्य के स्वरूप की उनकी पैठ गहरी थी। उन्हें श्रेष्ठ रचना की मार्मिक पहचान थी। "उनमें साहित्य को असाहित्यिक वस्तुओं और प्रवृत्तिओं से एक दम दूर रखने का अनुपम विवेक था। शुक्लजी के इस

विवेक का मूल्य और महत्व हम आज अच्छी तरह समझ पाते हैं, जब कि कोरे दार्शनिक या साम्प्रदायिक ग्रन्थों की बहुत सी बेकार चर्चा साहित्यिक अनुशीलन के नाम पर हमारे ऊपर लादी जा रही है।" (नन्ददुलारे वाजपेयी) आचार्य शुक्ल ने समालोचना और निबन्ध को बहुत ऊँचा उठाया। उनके तुलसी, सूर, जायसी का अध्ययन, चिन्तामणि और हिन्दी साहित्य का इतिहास इस काल के अप्रतिम उपहार हैं। उनके उत्तराधिकारी आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान प्रमुख हैं। इनका दृष्टिकोण शास्त्रीय, वैज्ञानिक और उदार है।

छायावाद ने आधुनिक काव्य परम्परा को विकसित और परिमार्जित कर उसे एक सहज माधुरी और सुकुमारता प्रदान की। यह अन्तर्मुखी गीतिकाव्य की नवीन परम्परा है। इस नवीन प्रगीत काव्य के प्रतिनिधि कवि प्रसाद, पंत, महादेवी और निराला हैं। प्रसाद के आँसू, लहर और कामायनी से प्रारम्भ होकर यह धारा पन्त और निराला के काव्य में प्रवाहित होती हुई महादेवी वर्मा के अश्रु विनिर्मित काव्य में विलीन होती है। इस काव्य में सुन्दर शब्दविन्यास, कल्पना विलास, तीव्र अनुभूति, प्रौढ़ता और सौष्ठव है।

श्री नगेन्द्र के शब्दों में सन् १९३० के लगभग कवियों की एक नई पीढ़ी शुरू हुई। इस काल को छायावाद का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। इस पीढ़ी के कवि अहंवादी, अन्तर्मुखी और नियतिवादी हैं। इसका आरम्भ भगवतीचरण वर्मा के काव्य से होता है। इसके पोषकों में बच्चन, नरेन्द्र, अंचल और अज्ञेय प्रमुख हैं। इनमें नरेन्द्र कुछ दूर पर आलोक की किरण भी देख लेते हैं। इनकी सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत तीव्र है। इनकी कल्पना एक अधिक उदार मानव संस्कृति का स्वप्न देखती है। यह प्रवृति कथा-साहित्य में कुछ विकृत रूप में इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के उपन्यासों में परिलक्षित होती है।

सन् १९३६ से हिंदी में एक नवीन प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ जिसे 'प्रगतिवाद' कहते हैं। इसमें छायावाद की अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया है। शुक्लजी इसे समाजवादी धारा मानते हैं। इसका प्रारम्भ काव्य में पन्त की युगवाणी से हुआ है जिसमें यथार्थवाद का चित्रण है। इसका कलाकार एक नवीन शोषण रहित सामाजिक संस्कृति का निर्माण करना चाहता है जो सामाजिक विषमता का अन्त कर दे। इसमें वर्ग-संघर्ष का स्वर सबसे तीव्र है। प्रेमचन्द, पन्त और निराला इसके प्रधान उन्नायकों में माने जाते हैं। (अब न तो पन्तजी को स्वयं पन्तजी ही और न प्रगतिवादी आलोचक प्रगतिवादी मानते हैं। क्योंकि 'उत्तरा' की भूमिका में पन्तजी ने अपने ग्राम्या-युग-

वाणी वाले रूप से भिन्नता स्पष्ट की थी। यह भूमिका सन् १९४९ में लिखी गई थी।) कवियों में नरेन्द्र शर्मा, अंचल, दिनकर, सुमन, नागार्जुन, केदार तथा कथा साहित्य में यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, भगवत शरण उपाध्याय आदि प्रमुख हैं। आलोचकों में रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान और अमृतराय ने नवीन मार्क्सवादी पद्धति को अपनाया है। ये लोग किसी भी काल विशेष की सामाजिक परिस्थितियों और उसके कथा सृजन में एक अन्तरंग सम्बन्ध देखते हैं और उसका विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं। इस साहित्य में आज दो विचार- धाराओं का संघर्ष चल रहा है—एक मनोविश्लेषण की पद्धति जो साहित्य को अधिकाधिक रूपहीन और अहंवादी बनाती है, दूसरी समाजवादी पद्धति जो कलाकार को उसके सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत करती है।

नवीनतम गद्य साहित्य में कुछ नई विधाओं के स्वरूप के दर्शन भी होने लगे हैं जिनमें रेडियो नाटक, रिपोतर्ज़ि, इन्टरव्यू, रेखाचित्र आदि प्रधान हैं। विभिन्न विश्वविद्यालयों में महत्वपूर्ण शोध कार्य हो रहा है जिससे हिन्दी साहित्य की अनेक भ्रान्त धारणाएँ खण्डित हुई हैं। साथ ही भाषा-विज्ञान, पुरातत्व आदि के कार्य में भी काफी प्रगति हुई है। संक्षेप में नवीन हिन्दी साहित्य जन-जीवन को साथ लेकर चल रहा है जिसमें युग की प्रेरणाएँ और संघर्ष मुखरित हो उठे हैं। भविष्य उज्ज्वल, आशाप्रद और श्रेष्ठ दिखाई दे रहा है।

—:०:—

७—हिन्दी गद्य का विकास

खड़ीबोली गद्य का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की सबसे महत्वपूर्ण, वेगवान, उपयोगी और आश्चर्यपूर्ण घटना है। संसार के प्रत्येक साहित्य में प्रथम पद्य का विकास हुआ और फिर गद्य का। मानव जीवन में गद्य का अपना अलग महत्व है। यह मनुष्य के विचारों को व्यक्त करने का सबसे प्रमुख और सुगम साधन है। परंतु प्रत्येक साहित्य में फिर भी, पद्य के बाद गद्य का विकास मिलता है। विद्वानों का मत है कि वाणी का प्रथम प्रस्फुटन गद्य में ही हुआ होगा। फिर साहित्य की प्रथम रचना गद्य में न होकर पद्य में क्यों हुई ? इसके मूल में मानव की भावनात्मक प्रवृत्ति ही प्रधान कारण रही है। उसने प्रकृति एवं संसार के रहस्य से आतंकित होकर अज्ञात शक्तियों के सम्मुख नतमस्तक होकर प्रार्थना की थी। यही प्रार्थना कालान्तर में धार्मिक भावना बनी। हृदय की इसी अनुभूति का प्रस्फुटन पद्य के रूप में हुआ।

गद्य का सम्बन्ध प्रधानतः मस्तिष्क से और पद्य का हृदय से माना जाता है। आदिम मानव का मस्तिष्क इतना परिष्कृत और चिन्तनशील नहीं था। वह हृदय पर पड़े हुए प्रभावों को व्यक्त करने के लिए पद्य का सहारा लेने लगा। उसके हृदय में सौंदर्य की भावना शाश्वत रही। इसलिए उसने अज्ञात शक्तियों से प्रभावित होकर जो कुछ भी कहा उसे सुन्दर बनाकर कहना चाहा। कहा जाता है कि सङ्गीत की भावना भी मानव की आदि भावना है। इसलिए मानव ने सङ्गीत की सहायता से अपनी इस सुन्दर भावना को व्यक्त किया जिसने कविता का रूप धारण कर लिया। मानव के साधारण व्यावहारिक कार्य गद्य में व्यक्त होते रहे। परन्तु जैसे-जैसे भौतिक सभ्यता की उन्नति होने लगी मानव अधिकाधिक गद्य का प्रयोग करने लगा। प्रारम्भ में गद्य के शक्तिहीन होने का एक प्रधान कारण यह भी रहा है कि उस समय भाषा की अभिव्यंजना शक्ति शिथिल होती है। कविता के द्वारा हम अपने रागात्मक भावों को ही व्यक्त कर सकते हैं, व्यावहारिक भावों को नहीं। इसलिए जब तक भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हो जाता, सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने की क्षमता उसमें नहीं आ जाती, तब तक सशक्त गद्य का सृजन असम्भव है।

लगभग आठ सौ वर्षों के लम्बे समय तक हिन्दी गद्य का विकास क्यों नहीं हो पाया, इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि हिन्दी साहित्य के जन्म के उपरान्त ही देश पर विदेशियों का अधिकार हो गया। वे अपनी भाषा लेकर आए। दैनिक व्यवहारों में स्थानीय गद्य का प्रयोग होता रहा। साहित्य स्रष्टा अपने रागात्मक भावों को व्यक्त करते रहे। दैनिक व्यवहार की अन्य आवश्यक समस्याओं की ओर उनका ध्यान नहीं गया। वे कविता के माध्यम से अपने स्वामी और भगवान का यशगान करते रहे। गम्भीर विवेचन की उन्होंने आवश्यकता ही अनुभव नहीं की। फिर गद्य की उन्नति कैसे होती? गद्य दैनिक बोलचाल तक ही सीमित रहा। उसे साहित्य में कोई स्थान नहीं मिला। यह उस नई गुलामी का परिणाम था जिसने हिन्दी के साहित्यकार को बहुमुखी चिंतन से विरतकर केवल आत्मकल्याण और धार्मिक भावना तक ही सीमित रखा। दूसरा कारण यह है कि उस समय साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रांतीय भाषाओं का प्रयोग हो रहा था। राजस्थानी, ब्रज, अवधी साहित्यिक भाषाएँ बनी रहीं। विषय भी वही पुराने धार्मिक और शृंगारिक रहे। गम्भीर मनन एवं विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई। इसलिए गद्य उपेक्षित रहा। यदि साहित्य की एक ही भाषा रहती तो सम्भव था कि उस सम्पूर्ण भाषा-प्रदेश के गद्य को भी प्रोत्साहन मिलता क्योंकि उस अवस्था में उस सम्पूर्ण प्रदेश के निवासी जिनकी अपनी अलग-अलग भाषाए थीं, पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए एक ही गद्य रूप को अपनाते। ऐसी दशा में निश्चित रूप से गद्य का एक निश्चित स्वरूप बन जाता। तीसरा कारण राष्ट्रीय भावना का अभाव है। इस अभाव के कारण सम्राट अशोक के पश्चात् कोई भी एक भाषा राष्ट्रीय भाषा का पद नहीं प्राप्त कर सकी। यह ऐतिहासिक सत्य है कि गद्य उसी भाषा का पनपता है जो राष्ट्रभाषा होती है। प्रान्तीय भाषाएँ अपने-अपने प्रान्त की राष्ट्रभाषा होती हैं। उनमें एकता की भावना होती है। परन्तु हिन्दी प्रदेश में तो ब्रज, अवधी आदि भाषाएँ प्रचलित रही हैं जिनकी अभिव्यंजना शक्ति केवल कविता तक ही सीमित रही है। चौथा कारण हमारा अत्यधिक धार्मिक दृष्टिकोण रहा है। धार्मिक भावना में आत्मानुभूति का प्रदर्शन होता है जिसका माध्यम पद्य ही बन सकता है। गद्य की आवश्यकता तो गम्भीर दार्शनिक, शास्त्रीय, राजनीतिक, आर्थिक विवेचनों के लिए पड़ती है। आधुनिक काल से पूर्व का साहित्य उक्त विवेचनों से शून्य है। फिर गद्य को प्रोत्साहन कैसे मिलता? डॉ० श्यामसुन्दरदास के अनुसार "गद्य मनुष्य के व्यावहारिक भाव-विनिमय का साधन होने के कारण, अधिक स्पष्ट और नीरस होने को बाध्य है। उसकी नित्य प्रति की उपयोगिता उसी सुकुमार कला का

अपहरण करके बदले में उसे एक दृढ़ता और पुष्ट शक्ति प्रदान करती है जिसका अलग महत्त्व है।" परन्तु हमारा धार्मिक और शृङ्गारपरक साहित्य नीरस होने के लिए प्रस्तुत नहीं था। उसे गद्य की आवश्यकता नहीं थी। अस्तु,

आधुनिक काल से पूर्व भी हिन्दी गद्य का अस्तित्व था परन्तु वह अत्यन्त अस्पष्ट, अपरिमार्जित और नगण्य है। प्राचीन गद्य के दो रूप मिलते हैं—ब्रजभाषा गद्य और खड़ी बोली गद्य। ब्रजभाषा गद्य का सबसे प्राचीन नमूना चौदहवीं शताब्दी के एक गोरखपंथी ग्रन्थ में मिलता है। इसके उपरान्त कृष्ण भक्तों के ब्रजभाषा गद्य में लिखे हुए कुछ ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें गोस्वामी विट्ठलनाथ का 'शृङ्गार रस मण्डन' नामक ग्रन्थ है जिसका गद्य अव्यवस्थित है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता" तथा औरङ्गजेब के समय में लिखा गया "दो सौ वैष्णवन की वार्ता" नामक दो साम्प्रदायिक ग्रन्थ मिलते हैं। इनका उद्देश्य साहित्यिक न होकर वल्लभ-मत का प्रचार करना है। इनमें प्रयुक्त गद्य का स्वरूप सुव्यवस्थित और चलता हुआ है। लाला सीताराम 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' को पहला महत्वपूर्ण गद्य ग्रन्थ मानते हैं। इसमें प्रतिपाद्य विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। क्षितिमोहन सेन ने दादू पंथियों के लिखे हुए अनेक ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनका भाषा की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है। सम्वत् १६६० के लगभग नाभादास ने 'अष्टयाम' नामक एक ब्रजभाषा गद्य-ग्रन्थ लिखा। इसी समय का लिखा हुआ किसी अज्ञातनामा लेखक का 'नासिकेतोपाख्यान' नामक गद्य ग्रन्थ भी मिला है। सम्वत् १७६७ में सुरति मिश्र ने संस्कृत से 'बैताल पच्चीसी' का ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया जिसका आगे चलकर, लल्लूजीलाल ने खड़ीबोली गद्य में अनुवाद किया था। परवर्ती काल में ब्रजभाषा गद्य में साधारणतः दो प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये—कुछ साहित्यिक ग्रन्थों की टीकाएँ और कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ। टीकाओं में हरिचरनदास की बिहारी सतसई और कविप्रिया की टीका, बाबा रामचरन की रामचरितमानस की टीका, प्रतापसाहि की मतिराम के 'रसराज' की टीका आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गए। स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रियादास की सेवकचंद्रिका, हीरालाल की 'आइने अकबरी' की भाषा बचनिका (सं० १८५२), लल्लूजीलाल का हितोपदेश का अनुवाद आदि ग्रन्थों का सृजन हुआ। परन्तु इन ग्रन्थों से ब्रजभाषा गद्य का कोई विकास नहीं प्रकट होता। गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् विकास न होने के कारण ब्रजभाषा गद्य जहाँ का तहाँ रह गया।

खड़ी बोली गद्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ गंग कवि का 'चन्द छन्द बरनन की

महिमा' माना जाता है। इसकी भाषा आधुनिक खड़ीबोली के आसपास है। इसमें तत्सम् शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। शुरू-शुरू में मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य लिखा था जिसे वे 'हिन्दवी' कहते थे। शाह मीरानजी बीजापुरी, शाह बुरहान खान और सैयद मुहम्मद गेसूदराज के लिखे पुराने गद्य भी प्राप्त हुए हैं। सम्वत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा-योग-वशिष्ठ' नामक ग्रन्थ बहुत साफ सुथरी खड़ी बोली गद्य में लिखा। इसका गद्य सुन्दर और परिमार्जित है। इसके उपरान्त पंडित दौलतराम ने 'जैन पद्मपुराण' का खड़ीबोली गद्य में अनुवाद किया। किन्तु इसकी भाषा में निरंजनी जी का सा सौन्दर्य और परिमार्जन नहीं है। अतः हम 'योग वशिष्ट' को परिमार्जित खड़ीबोली गद्य का प्रथम ग्रन्थ और निरंजनी जी को उसका प्रथम प्रौढ़ लेखक मान सकते हैं। इसके उपरान्त लगभग दो सौ वर्ष तक खड़ीबोली पद्य का क्षेत्र सूना पड़ा रहा।

खड़ीबोली गद्य के उक्त विकास का इतिहास और आगे बढ़ाने से पूर्व यह देख लेना अत्यन्त आवश्यक है कि खड़ी बोली अकस्मात् ब्रजभाषा को अपदस्थ कर एकाएक साहित्य की भाषा कैसे बन बैठी। इसके कारण ऐतिहासिक थे। यदि मध्ययुग की धार्मिक परिस्थिति ब्रजभाषा के उत्कर्ष में सहायक हुई तो राजनीतिक परिस्थिति ने खड़ी बोली को प्रोत्साहन दिया। मुसलमानों के साथ उर्दू के रूप में यह चारों ओर फैल गई। ब्रजभाषा का साहित्यिक महत्व घटने लगा। आधुनिक काल में खड़ी बोली की इतनी आशातीत उन्नति का प्रधान कारण उसका गद्य रहा है। इस काल की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि साहित्य का केन्द्र राजसभा से हटकर जन-साधारण में आ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रूढ़िगत काव्य-भाषा ब्रज को हटाकर उसके स्थान पर खड़ी बोली की स्थापना की गई क्योंकि उस समय खड़ी बोली जनसाधारण की बोलचाल की भाषा थी। खड़ी-बोली गद्य-साहित्य की मूलाधार बनी। परिवर्तन के ये लक्षण अठारहवीं सदी के अन्त से ही आरम्भ हो गए थे। मुगलों के पराभाव के समय बाहर की तीन शक्तियों ने हिन्दी-क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयत्न किया—अफगान, मराठा और अङ्गरेज। अन्त में अङ्गरेज विजयी हुए। उस परिवर्तन का प्रभाव मध्यदेश की भाषा हिन्दी पर पड़ना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि काव्य भाषा ब्रजभाषा का महत्व घटा। उधर मुसलमानों का सहयोग पाकर मेरठ, बिजनौर, दिल्ली की बोली खड़ीबोली, उर्दू का रूप धारण कर आगे बढ़ रही थी। शासन कार्य के सुचारु संचालन के लिए अँग्रेजों को गद्य की आवश्यकता हुई। फोर्ट विलियम कालेज

के अँग्रेज अधिकारियों की प्रेरणा से कुछ विद्वानों ने खड़ी बोली गद्य में ग्रन्थ लिखे। खड़ी बोली के उत्कर्ष के यही कारण थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में वास्तविक रूप में हिन्दी गद्य का सूत्रपात हुआ। इस समय तक साहित्य में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था। इस काल में खड़ीबोली गद्य की प्रतिष्ठा करने वाले चार लेखक हुए—मुंशी सदा-सुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूजीलाल और सदल मिश्र। इन्होंने क्रमशः सुख-सागर, रानी केतकी की कहानी, प्रेमसागर और नासिकेतोपाख्यान नामक ग्रन्थ लिखे। कहा जाता है कि इनको ये ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता के अध्यापक सर जान ग्रिलक्राइस्ट से मिली थी। परन्तु आचार्य क्षितिमोहन का कहना है कि जब अँग्रेजों की ओर से पुस्तकें लिखने की व्यवस्था हुई उसके दो एक वर्ष पहले ही मुंशी सदासुखलाल की 'ज्ञानोपदेश' वाली पुस्तक और इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जा चुकी थी। उन दिनों खड़ीबोली जनता के व्यवहार की भाषा थी। इसलिए उसकी प्रगति का सम्पूर्ण श्रेय फोर्ट विलियम कालेज को ही नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः उन दिनों हिन्दी गद्य अपनी आन्तरिक प्राणशक्ति के बल पर ही आगे बढ़ा। खड़ीबोली गद्य के इन चार लेखकों में से किसी की भी भाषा साफ सुथरी नहीं थी। सदासुखलाल की भाषा में पण्डिताऊपन है, इंशा की भाषा में अरबी फारसी का अधिक प्रभाव है, लल्लूजीलाल का गद्य ब्रजभाषा के प्रयोगों से ओत प्रोत है। इनमें से केवल सदल मिश्र की भाषा ही अधिक व्यावहारिक, परि-मार्जित और संस्कृत थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"इनकी भाषा में भावी खड़ी बोली का मार्जित रूप स्पष्ट हुआ। आगे चलकर साहित्य में जो भाषा गृहीत हुई उसका गठन बहुत कुछ सदल मिश्र की भाषा पर हुआ है।"

इन लेखकों के पश्चात् सम्वत् १९१५ तक हिंदी गद्य क्षेत्र पुनः सूना सा पड़ा रहा। ईसाई धर्म प्रचारक गद्य का थोड़ा बहुत प्रचार अवश्य करते रहे। उन्होंने ही पहले पहल शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें प्रस्तुत कराईं। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय के धार्मिक सुधार-सम्बन्धी आन्दोलनों से भी इस गद्य के विकास में काफी सहायता प्राप्त हुई। पंजाब में हिंदी के प्रचार का अधिकांश श्रेय स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायिओं को ही है। सन् १८२४ में कालेज और स्कूलों के पाठ्यक्रमों में हिंदी को स्थान दिया गया। आगरा कालेज में हिंदी की विशेष व्यवस्था की गई। १८३३ में 'आगरा बुक सोसा-इटी' की स्थापना हुई जिसने अच्छे-अच्छे पाठ्यग्रन्थ प्रस्तुत कराए। इन पाठ्य ग्रन्थों की भाषा का स्वरूप अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित था।

संवत् १९११ में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द शिक्षा विभाग के इन्सपेक्टर नियुक्त हुए। उनके सतत प्रयत्नों से ही हिंदी को शिक्षा-विधान में स्थान प्राप्त हुआ था। इस प्रयत्न में नवीन चन्द्र राय का भी महत्वपूर्ण हाथ रहा था। सितारे हिंद ने हिन्दी की रक्षा की भावना से उसका 'आमफहम' तथा 'खास पसन्द' रूप अधिक अपनाया। साथ ही ऐसी ही भाषा में 'इतिहास तिमिर नाशक', 'वीरसिंह वृतान्त' तथा 'राजा भोज का सपना' आदि ग्रन्थ लिखे। इस भाषा में संस्कृत शब्दों की अपेक्षा अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य था। इस भाषा के विरोध में राजा लक्ष्मणसिंह अपनी संस्कृत गर्भित भाषा लेकर उपस्थित हुए। वे विशुद्ध हिंदी के पक्षपाती थे जिसका रूप 'शकुन्तला' नाटक में मिलता है। कालान्तर में भारतेन्दु ने हिंदी के साहित्याकाश में उदय होकर अपनी अपूर्व प्रभा से उक्त राजाद्वय के भ्रमाँधकार को दूर कर माध्यम मार्ग की सुखद एवं प्राणदायक चंद्रिका विकीर्ण कर हिन्दी साहित्य का पथ सुगम बनाया।

इस समय एक ओर शासक वर्ग अङ्गरेजी शिक्षा के प्रचार का उद्योग कर रहा था तो दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से हिंदी साहित्य का भी प्रचार किया जा रहा था। पश्चात्य साहित्य के अध्ययन से भारतीय जनता में नवीन भावनाओं एवं आशाओं की जागृति हुई। उन्हें अपने जातीय साहित्य में उन बातों का अभाव खटकने लगा जो अङ्गरेजी साहित्य की अपनी विशेषताएँ थीं। हिंदी के प्रतिभावान लेखकों ने शीघ्र ही अँग्रेजी साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर साहित्य के विभिन्न अङ्गों की पूर्ति करना प्रारम्भ कर दिया। नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि नए-नए साहित्यांगों का प्रारम्भ, प्रचार और उन्नति होने लगी। भारतेन्दु इस नवीन चेतना के अग्रदूत थे।

भारतेन्दु ने उपर्युक्त राजाद्वय की परस्पर विरोधिनी अतिवादी शैलियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसके लिये उन्होंने बोलचाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया जिसमें तत्सम् शब्दों के तद्भव रूपों का ही विशेष प्रयोग किया गया। उनकी दो शैलियाँ हैं। १—शुद्ध हिन्दी—साधारण और सरल विषयों पर इसी शैली में लिखा। २—संस्कृत प्रधान शैली-इसमें ऐतिहासिक और विवेचना सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया। इस शैली में भाव-गाम्भीर्य था। भारतेन्दु की भाषा प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों से रहित और पण्डिताऊपन से दूर है। अरबी और संस्कृत आदि के बोझ से बोझिल भाषा उन्हें पसन्द नहीं थी। भारतेन्दु के समकालीन लेखकों ने उनके भाषा संस्कार विषयक इस महान प्रयत्न की सराहना की और उनके अनुकरण पर लिखित भाषा को 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' कहा। आज की खड़ीबोली उसी का

विकसित रूप है । भारतेंदु मण्डल के अन्य लेखकों में लाला श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, बालमकुन्द गुप्त, प्रेमघन आदि प्रसिद्ध हैं । विषयों और रुचि की भिन्नता के अनुसार इनका गद्य भी भिन्न है । ये विभिन्न शैलियाँ कालक्रम से संस्कृत प्रधान होती गईं । भारतेंदु युग गद्य के विकास की दृष्टि से प्रारम्भिक युग था । इसमें साहित्य निर्माण का कार्य तो प्रारम्भ हो गया किन्तु भाषा के परिमार्जन और शुद्धता की ओर कम ध्यान दिया गया ।

भारतेंदु युग हिन्दी साहित्य के इतिहास में हिन्दी प्रचार की दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । डाक्टर श्रीकृष्णलाल भारतेंदु से पूर्व के साहित्य को 'गोष्ठी साहित्य' कहते हैं जो एक सीमित वर्ग विशेष में ही प्रचार पा रहा था । भारतेंदु ने जन साधारण में उसके प्रचार की आवश्यकता अनुभव की । फलस्वरूप भारतेंदु ने अपने लेखों और भाषणों द्वारा तथा गौरीदत्त और अयोध्या प्रसाद खत्री ने हिन्दी प्रचार का झण्डा उठाकर चारों ओर घूम-घूमकर अपने भाषणों द्वारा इसका प्रचार किया । दूसरी ओर देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी पाठकों की संख्या को बढ़ा रहे थे । कहा जाता है कि खत्री जी के 'चन्द्रकांता सन्तति' नामक उपन्यास पढ़ने के लिए असंख्य लोगों ने हिंदी सीखी थी । इसके साथ ही 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' एवं बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्रों ने भी उस समय का प्रतिनिधित्व कर हिन्दी गद्य के विकास एवं प्रचार में समुचित योग दिया । भारतेंदु मण्डल के लेखकों ने हिन्दी, संस्कृत, अरबी, फारसी, अङ्गरेजी आदि भाषाओं के शब्दों का खुलकर प्रयोग किया । इन लोगों ने समालोचना (इसका सूत्रपात प्रेमघन जी ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में किया था), नाटक और उपन्यास (श्री निवास दास का 'परीक्षा गुरु' हिंदी का पहला उपन्यास माना जाता है) आदि लिखकर हिन्दी गद्य की चतुर्मुखी उन्नति की । "संक्षेप में उन्नीसवीं सदी गद्य-निर्माण का समय था । उसमें गद्य का विकास और विस्तार हुआ । भाषा-व्याकरण की व्यवस्था लाना और काट-छाँट का काम आगे द्विवेदी युग में हुआ । द्विवेदी युग में विषयों का विस्तार बढ़ा और उनमें अपेक्षाकृत गहराई भी आई किन्तु निबंधों की पृष्ठभूमि में रहने वाला निजीपन, हृदयोल्लास और चलतेपन के लिए हरिश्चंद्र युग चिर स्मरणीय रहेगा ।" (बाबू गुलाबराय)

भारतेंदु युग प्रयोगकाल होने के कारण स्वच्छंदता का युग था । उस समय के हिन्दी गद्य में परिमार्जन और शुद्धता की कमी थी । इस कमी की ओर सर्व प्रथम महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान गया । उन्होंने अशुद्ध भाषा

लिखने वाले लेखकों की कटु आलोचना कर उन्हें शुद्ध भाषा लिखने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने स्वयं लेख लिख-लिखकर शुद्ध खड़ी बोली गद्य का उदाहरण उपस्थित किया। भाषा परिष्कार एवं भाषा समृद्धि के लिए द्विवेदी जी के सम्मुख अनेक समस्यायें थीं। पहली समस्या भाषा की अराजकता की थी। संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अङ्गरेजी पढ़े-लिखे मनुष्य जब हिंदी लिखने लगे तो उनकी भाषा और भावों पर उपर्युक्त भाषाओं की छाया पड़ने लगी। पंजाब के हिंदी भाषियों की भाषा पर उर्दू का एवं कलकत्ते के हिंदी भाषियों पर बँगला की कोमलकांत पदावली का प्रभाव पड़ा। स्वयं हिंदी प्रांत, उत्तर-प्रदेश, में भी अनेक प्रकार की भाषाओं का प्रयोग हो रहा था जिनका शब्द-भण्डार एक दूसरे से भिन्न था। कहीं पूरबी बोली, कहीं ब्रजभाषा और कहीं बुन्देलखण्डी के शब्दों का खुलकर प्रयोग हो रहा था। सर्वसाधारण में हिंदी प्रचार के साथ ही साथ विस्तृत हिंदी प्रदेश में अनेक साहित्यिक केन्द्र बन गए थे। इस प्रकार एक साथ ही अनेक रुचि, आदर्श, रूढ़ि और परम्परा का प्रयोग और संघर्ष प्रारम्भ हो गया जिससे साहित्य और भाषा विश्रृङ्खल हो गई और चारों और अराजकता सी फैल गई।

दूसरी समस्या व्याकरण की थी। नए लेखक अपने उत्साह में यह बिल्कुल भूल गए कि भाषा में व्याकरण का भी कोई स्थान है या नहीं। वे मनमाने ढङ्ग से लिखने लगे। तीसरी समस्या भाषा की शब्द-भण्डार के न्यूनता की थी। हिंदी का शब्द-भण्डार इतना अपर्याप्त था कि उसमें सभी भावों की व्यंजना नहीं हो सकती थी। विशेष रूप से अनुवाद करते समय यह कमी बहुत खटकती थी। कभी-कभी मौलिक भाव प्रकाशन के लिए भी लेखकों को बोलचाल के शब्दों का सहारा लेना पड़ता था जिससे भाषा के स्वरूप में गँवा-रूपन की झलक आ जाती थी। हिंदी में अब तक केवल पद्य ही लिखा जाता था। पद्य की भाषा का शब्द भँडार बहुत सीमित होता है। वहाँ तो अलङ्कार, व्यंजना, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि की सहायता से काम चल जाता है परन्तु गद्य में इन साधनों का सहारा नहीं लिया जा सकता। इसलिए उस समय हिंदी के शब्द भँडार को बढ़ाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उपर्युक्त समस्याओं का समाधान कर गद्य की भाषा को स्थिरता प्रदान की। उन्होंने अपने सम्पादकीय तथा अन्य लेखों द्वारा भाषा की अस्थिरता की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित कर उसे दूर करने का आह्वान किया। साथ ही उन्होंने विराम चिन्हों के प्रयोग तथा 'पैराग्राफों' की ओर भी उनका ध्यान दिलाया। इस प्रकार भाषा की अर्थ व्यंजना और तार्किकता में स्पष्टता आई।

शब्दों को उन्होंने तीन वर्गों में विभाजित किया—(१) **प्रान्तज,** जिन्हें किसी प्रांत विशेष में ही समझा जा सकता है, (२) **क्षणभंगुर,** जो किसी विशेष कारण से केवल कुछ समय के लिए ही गढ़ लिए गए हों, (३) **व्यापक,** जो हिंदी प्रदेश के सभी लोगों की समझ में आ सकें । इन तीनों वर्गों में से उन्होंने 'व्यापक' शब्दों के प्रयोग के लिए ही लेखकों को उत्साहित किया । शब्द भंडार की वृद्धि के लिये अँग्रेजी, बंगला, मराठी आदि भाषाओं का सहयोग लिया गया । बीसवीं शताब्दी में हिंदी का प्रचार उपयोगी साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं और उपन्यासों द्वारा हुआ । इनके लिए विज्ञान, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, व्यापार तथा समाचार-पत्र सम्बन्धी अनेक शब्दों का अंग्रेजी से हिंदी में रूपान्तर किया गया । साथ ही हिंदी में कितने ही नए शब्द अँगरेजी शब्दों तथा वाक्यांगों के आधार पर गढ़े गए । अङ्गरेजी के बाद हिंदी शब्द भंडार बंगला का ऋणी है । कलकत्ता हिंदी का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है । बंगला से बहुत से अनुवाद हिंदी में किए गए । इन अनुवादों द्वारा अनेक नए शब्द हिंदी को मिले । गद्य की कोमल-कांत-पदावली भी बंगला की ही देन है । अङ्गरेजी और बंगला के अतिरिक्त मराठी और संस्कृत ने भी हिंदी शब्द भंडार की अभिवृद्धि में बहुत बड़ा योग दिया । संस्कृत के शब्द भण्डार पर तो हिंदी का पैतृक अधिकार था । आज भी हम नये शब्दों के लिए संस्कृत की ही शरण लेते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ हिंदी के लेखक, जो पहले उर्दू में लिखते थे, जब हिंदी में लिखने लगे तो अपने साथ अरबी, फारसी तथा उर्दू के अनेक शब्द ले आये । इस प्रकार हिंदी शब्द भण्डार की उन्नति हुई ।

हिंदी के उपर्युक्त नए शब्द भण्डार में दो विशेषताएँ मिलती हैं । पहली यह कि नए शब्दों में नब्बे प्रतिशत से अधिक शब्द संस्कृत धातु रूपों के आधार पर बनाये गये हैं । जब नए शब्द गढ़ने की आवश्यकता अनुभव हुई तो संस्कृत ही ऐसी भाषा पाई गई जिसकी निश्चित धातुओं के आधार पर असंख्य शब्द सरलतापूर्वक गढ़े जा सकते थे । दूसरी विशेषता यह थी कि बहुत से शब्द केवल इसलिए प्रयुक्त हो रहे थे कि वे नए और श्रुति मधुर थे जैसे 'नव' के लिये 'अभिनव' । दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है । ऐसे ही अन्य शब्द जैसे प्रधावित, प्रसाधन, प्राखर्य, प्रभावना आदि का प्रयोग हो रहा था जबकि इनसे सरल और समान अर्थ वाले शब्द धावित, साधन, प्रखरता, भावना आदि भाषा में पहले से ही प्रयुक्त हो रहे थे । उस समय तो ये नवीन शब्द खटकते थे परंतु कलांतर में जब गद्य में लय और संगीत लाने का प्रयत्न होने लगा तब ये ही शब्द द्विगुणित उपयोगी प्रमाणित हुए । शब्द भंडार की तरह हिंदी गद्य शैलियों पर भी उपर्युक्त भाषाओं का प्रभाव पड़ा ।

शैली के क्षेत्र में हिंदी गद्य शैली के विकास के दो पक्ष हैं—प्रथम हिंदी की जातीय शैली तथा द्वितीय भिन्न-भिन्न लेखकों की व्यक्तिगत शैली। हिंदी की जातीय शैली में किसी एक साहित्य की विशेषता को ग्रहण किया गया और जो विशेषताएँ अपनी जातीय विशेषता से मेल नहीं खातीं थीं उनका बहिष्कार किया गया। इस प्रकार उक्त ग्रहण एवं त्याग की नीति से हिंदी ने अपनी जातीय शैली का निर्माण किया जिसमें "अङ्गरेजी साहित्य की स्पष्ट भाव व्यंजकता, बँगला की सरलता औद्व मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू गद्य का प्रवाह ग्रहण किया। साथ ही साथ उसने अपनी प्रकृति से मेल न खाने के कारण उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, अगम्भीरता और अतिशयोक्ति, मराठी की अलंकारिकता, बंगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास-यमक-प्रियता और अद्भुद शब्द जाल को बिल्कुल नहीं अपनाया।"

भारतेन्दु काल तक हिंदी की जातीय शैली का निर्माण नहीं हो पाया था परंतु व्यक्तिगत शैली का आरम्भ बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त द्वारा हो चुका था। परंतु इन व्यक्तिगत शैलियों का सर्वसाधारण पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। वास्तविक व्यक्तिगत शैली का आरंभ द्विवेदी युग में आकर हुआ। इस युग के नवीन शैलीकारों में सर्वश्रेष्ठ शैली महावीर प्रसाद द्विवेदी की थी। कठिन से कठिन और अत्यन्त जटिल समस्या को भी वे अपनी घरेलू और चित्ताकर्षक सरल शैली में स्पष्ट करने में सफल हुए। श्यामसुन्दरदास की शैली में भाषण की विशेषताएँ हैं। उनकी शैली स्पष्ट, सरल और विस्तारपूर्ण है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की शैली में बातचीत की सभी मुग्धकारी विशेषताएँ मिलती हैं। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने अत्यन्त पांडित्यपूर्ण जटिल, क्लिष्ट और दुरूह शैली अपनाई। इन लेखकों के अतिरिक्त अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा आदि ने भी अपनी विशिष्ट शैलियों में गद्य की रचना की। इन लोगों ने गद्य के विभिन्न अङ्गों कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि का प्रचुर साहित्य रचा। अस्तु,

उपर्युक्त सम्पूर्ण समस्याओं—भाषा की अराजकता, व्याकरण के नियमों का उल्लङ्घन, तथा शब्द भण्डार की समस्या का हल करने में महावीरप्रसाद द्विवेदी का सबसे बड़ा हाथ रहा है। वे अपने युग की प्रेरक शक्ति थे। साहित्य जगत में उनकी आलोचना का आतङ्क था। इस प्रकार इस मनीषी साहित्यकार ने हिन्दी के अव्यवस्थित रूप को व्यवस्थित कर उस उज्ज्वल भविष्य की नींव डाली जिसके हम उपभोक्ता और अधिकारी हैं। इसके लिए हिन्दी भाषा और हिन्दी भाषी जनता उनकी चिर ऋणी रहेगी।

द्विवेदी युग में गद्य की भाषा का पर्याप्त परिमार्जन हो चुका था परन्तु फिर भी उसमें प्रौढ़ विषयों के व्यक्तीकरण की क्षमता नहीं आ पाई थी। गद्य के विकास का पूर्ण और बहुमुखी रूप वर्त्तमान काल में आकर पूर्ण हुआ। शैली के विकास की दृष्टि से इस युग में रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और प्रसाद महत्वपूर्ण हैं। द्विवेदी युग की शैली उच्चकोटि के गम्भीर, विचारात्मक विषयों का प्रतिपादन करने में अशक्त थी। उसकी शैली व्यास प्रधान थी। अब ऐसी समास प्रधान शैली की आवश्यकता थी जो थोड़े में विस्तृत और गम्भीर विषय का प्रतिपादन करने में सक्षम हो। शुक्लजी ने इस प्रकार की समास-प्रधान शैली को जन्म देकर हिन्दी गद्य की शक्ति को प्रौढ़ता प्रदान की। इससे गद्य के विकास में अपूर्व सहयोग मिला। उनकी शैली में उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से झलकता है। साथ ही उसमें अद्भुत संयम और गठीलापन है। उनकी भाषा में एक भी वाक्य व्यर्थ नहीं होता। विचारों का गुम्फन इतना सघन होता है कि उसमें न तो पुनरावृत्ति होती है और न कहीं क्रम टूटता है। उनकी शैली में इतनी प्रौढ़ता है जो उनके परवर्ती गद्य लेखकों में भी नहीं दिखाई पड़ती। आज सर्वत्र उसी शैली का अनुकरण किया जा रहा है। सभी उनसे प्रभावित हैं।

कहानी और उपन्यास लेखकों के लिए प्रेमचन्द ने एक नवीन शैली का निर्माण किया। उत्कर्ष एवं विशदता की दृष्टि से प्रेमचन्द अद्वितीय कलाकार हैं। हिन्दी कथा-साहित्य को मनोवैज्ञानिकता की नींव पर खड़ा करने का श्रेय उन्हीं को है। शैली की दृष्टि से उनका 'ग़बन' नामक उपन्यास बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। उन्होंने सरल और मिश्रित गद्य का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जो जन-साधारण की भाषा का रूप था। उसका कारण यह था कि वे उर्दू से हिन्दी में आए थे। अतः उनकी भाषा में प्रवाह, कहावतों और मुहावरों के सफल प्रयोग ने एक रवानगी ला दी। भाषा का यही चलता हुआ रूप उनके निबन्धों में भी मिलता है। प्रेमचन्द के अनेक परवर्ती कथाकारों ने इस शैली का अनुकरण किया जिनमें सुदर्शन, कौशिक, जैनेन्द्र आदि प्रमुख हैं। इधर कथा क्षेत्र में कुछ नवीन शैलियों के भी दर्शन हुए हैं जो प्रेमचग्द की शैली से अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित हैं। इसका विशेष कारण यह है प्रेमचन्दजी के कथा-साहित्य में मनोविज्ञान आदि की गम्भीर तथा जटिल समस्याओं का अङ्कन नहीं है जब कि आज के कथासाहित्य में इनकी प्रधानता है। प्रेमचन्दजी सीधीसादी सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को लेकर चले थे। इन नवीन शैलीकारों में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा आदि प्रमुख हैं।

नाटक के क्षेत्र में प्रसाद नवीन शैली के जन्मदाता माने जाते हैं। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा प्राचीन आर्य संस्कृति और ऐतिहासिक तत्त्वों का विवेचन और अन्वेषण किया। इससे उसमें दुरूहता आ गई है। इस दुरूहता का प्रधान कारण विषय की जटिलता और एक नवीन शैली का प्रणयन ही था। नाटक के अतिरिक्त गद्य के प्रायः सभी क्षेत्रों कहानी, उपन्यास, निबन्ध में भी उनकी एक विशिष्ट शैली के दर्शन होते हैं। प्रसादजी उच्चकोटि के कलाकार थे। अतः उन्होंने अपने भावों को भाषा के माध्यम से बड़ी ही कलात्मक शैली में व्यक्त किया है। नाटक के क्षेत्र में प्रसादजी की शैली का परवर्ती नाटककारों पर बहुत प्रभाव पड़ा है जिनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी आदि प्रमुख हैं। हिन्दी गद्य के अन्य वर्तमान शैलीकारों में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, वियोगी हरि, निराला आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रगतिवादी युग में एक नवीन शैली का प्रयोग किया जा रहा है जो जन भाषा के अत्यधिक निकट है। कथा और निबन्ध साहित्य में प्रगतिवादी कलाकार सरल भाषा का प्रयोग कर रहे हैं परन्तु आलोचना के लिए उन्हें भी अपनी पूर्ववर्ती शैलियों का अनुकरण करना पड़ता है। इस नवीन शैली में भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि भारतेन्दु युग का चुभता हुआ साहित्यिक व्यंग्य, जो द्विवेदी काल में लुप्त हो गया था, इस काल में पुनः दिखाई देने लगा है। आज इसी शैली में नाटक, उपन्यास, कहानी, तथा निबन्धों की रचना की जा रही है। अभी यह नवीन शैली का प्रयोगकाल है इससे उसमें यथेष्ठ गम्भीरता नहीं आ पाई है परन्तु यह निश्चित है कि भावी गद्य साहित्य इसी शैली में लिखा जायगा क्योंकि यह जन साधारण की भाषा में लिखी जाती है। संक्षेप में हिन्दी गद्य साहित्य का यही विकास है।

८—उपन्यास : स्वरूप और विकास

स्वरूप

वर्त्तमान हिन्दी-उपन्यास हिन्दी साहित्य के लिए सर्वथा एक नई देन है। 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में आज ग्रहण किया जाता है वह मूल 'उपन्यास' शब्द से पूर्णतः भिन्न है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपन्यास शब्द का प्रयोग आजकल के उपन्यास के अर्थ में नहीं होता था। संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग नाटक की सन्धियों के उपभेद के लिए हुआ है। इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गई है-"उपन्यासः प्रसादनम्" अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार—"उपपत्तिकृत्तोह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तित": अर्थात् किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उपन्यास में प्रसन्नता देने की शक्ति तथा युक्तियुक्त रूप में अर्थ को उपस्थित करने की प्रवृत्ति के कारण इस प्रकार की कथा प्रधान रचनाओं का नाम उपन्यास पड़ा हो क्योंकि 'उपन्यास' शब्द से यही ध्वनि निकलती है। किन्तु यह अनुमान उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि नाटक साहित्य के 'उपन्यास' शब्द और आधुनिक प्रचलित 'उपन्यास' में केवल नाम का ही साम्य है, प्रकृति का नहीं। 'उपन्यास' का शब्दार्थ है, उप=निकट, न्यास=रखना, अर्थात् सामने रखना। इसके द्वारा उपन्यासकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई नवीन मत रखना चाहता है। यह तो हुआ 'उपन्यास' संज्ञा का हिन्दी अर्थ। अब हमें उपन्यास के लिए प्रचलित भिन्न-भिन्न भाषाओं के नामों की तुलना एवं व्याख्या कर यह देखना है कि यह संज्ञा उचित है अथवा नहीं।

भारत की कई प्रान्तीय भाषाओं में यह शब्द भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। दक्षिणी भाषाओं तेलगू आदि में यह शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में हिन्दी के व्याख्यान, 'वक्तृता' आदि शब्द प्रचलित हैं। 'उपन्यास' शब्द का दक्षिण में किया गया प्रयोग उत्तर भारतीय प्रयोग की अपेक्षा संस्कृत साहित्य की प्रयोग परम्परा से अधिक सम्बद्ध है। अमरूक के प्रसिद्ध श्लोक 'निर्यातः शन कैरलीक वचनोपन्यासाली जणै', में का 'उपन्यास' शब्द बहुत कुछ इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। दक्षिण की उक्त भाषाओं में अँग्रेजी

'नावेल' शब्द के लिए उसी की तौल पर एक संस्कृत शब्द 'नवल' गढ़ लिया गया है। यह शब्द वास्तव में उपन्यास की प्रकृतिगत सर्वोत्तम विशेषता का परिचायक है। उपन्यास वस्तुतः ही 'नवल' अर्थात् नया और ताजा साहित्यांग है। हिन्दी में 'कथा', 'आख्यायिका' आदि शब्दों को छोड़कर अंग्रेजी नावेल का प्रतिशब्द 'उपन्यास' ही माना गया है। अभी तक इस बात का अन्वेषण नहीं हो सका है कि 'उपन्यास' शब्द का प्रचलित अर्थ में सर्व प्रथम प्रयोग किसने किया था। उक्त प्रयोक्ता ने इस नवीन शब्द के प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि यह साहित्यांग प्राचीन कथाओं और आख्यायिकाओं से भिन्न जाति का है। उपन्यास शब्द के, ऊपर दिए गए, अर्थ के अनुसार यद्यपि यह शब्द पुरानी परम्परा के प्रयोग के अनुकूल नहीं पड़ता तथापि उसका प्रयोग उपन्यास की विशिष्ट प्रकृति के साथ बिल्कुल बेमेल नहीं कहा जा सकता।

विभिन्न विद्वानों ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए इस शब्द के शाब्दिक अर्थ की ओर इसी कारण ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने उपन्यास की विशेषता एवं गुण को दृष्टि में रखकर ही उपन्यास की परिभाषा उपस्थित की है। डाक्टर श्यामसुन्दरदास, "मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा" को उपन्यास मानते हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में उपन्यास–"मानव-चरित्र का चित्र" मात्र है। उनके अनुसार––"मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" बाबू गुलाबराय का मत है कि––"उपन्यास कार्य-कारण शृङ्खला में बँधा हुआ वह गद्य-कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।" भगवतशरण उपाध्याय साहित्य के अन्य अङ्गों के समान उपन्यास को जीवन का दर्पण मानते हैं। कहानी का विस्तार उसमें प्रवहमान जीवन को प्रकट करता है। कुछ विद्वान उपन्यास को "आधुनिक युग का महाकाव्य" कहते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेजी साहित्यकार एच० जी० वेल्स उपन्यास को एक "Harmless opiate for vacant mind and vacant hours" मात्र मानते हैं। सम्भव है किसी युग में उपन्यास का उद्देश्य केवल मनोरंजन रहा हो परन्तु आज का उपन्यास सत्य का नाना रूपी चित्रण कर जीवन को उदात्त बनाता है। इसी विशेषता को लक्ष्य कर नलिनविलोचन शर्मा ने लिखा है कि — "हिन्दी उपन्यास का इतिहास, किसी भी देश के उपन्यास के इतिहास की तरह, हिन्दी-भाषा क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है।"

तत्वों की दृष्टि से विद्वानों ने उपन्यास के छः तत्व माने हैं—१–कथावस्तु, २—चरित्र-चित्रण, ३—कथोपकथन, ४—शैली, ५—देशकाल, ६—उद्देश्य या बीज। तत्वों का यह वर्गीकरण यूरोपिय हैं। उक्त छः तत्वों में से तीन प्रमुख माने जाते हैं—कथानक या घटनाक्रम, चरित्र या पात्र और बीज या उद्देश्य। जहाँ कहीं बीज या उद्देश्य नहीं होता वहां मनोरंजन ही उद्देश्य होता है। अब उपन्यास के कथानक और पात्रों का निश्चित स्वरूप स्थिर करने में भी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं क्योंकि नवीन उपन्यासकार कथानक और पात्रों का नया स्वरूप गढ़कर नवीन प्रयोग कर रहे हैं। पहले हम तीन प्रमुख तत्वों पर विचार करेंगे।

१—कथावस्तु या घटना-क्रम—किसी उपन्यास की मूल कहानी को कथावस्तु कहा जाता है। इस घटना-शृङ्खला का उदय, विकास और अन्त निश्चित सा होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि उपन्यास की सारी घटनाएँ आपस में ऐसी सम्बद्ध हों कि यदि उनमें से एक को भी पृथक् कर दिया जाय तो वह विशृङ्खलित हो जायगी, उसका क्रम टूट जायेगा। इन घटनाओं में औचित्य का ध्यान रखना नितांत आवश्यक है। व्यर्थ की घटनाओं का समावेश कथावस्तु को शिथिल, विकृत एवं सारहीन बना देता है। घटनाचक्र की एकता और संगठन पर बल देते हुए भगवतशरण उपाध्याय कहते हैं कि—"कहानी के उस विस्तार में कला की दृष्टि से रस का संचरण और परिपाक होता है। घटनाचक्र की एकता या अनेकमुखी जीवन धारा का स्वस्थ विलयन ही उसका पाक है। घटनाचक्र की एकता वस्तु गठन के रूप में, उपन्यास के रस को कलत्व प्रदान करती है।" परन्तु आज का नवीन उपन्यासकार यह समझने लगा है कि वास्तव में घटनाओं में, जब वे सांसारिक जीवन में घटती हैं, कोई क्रम नहीं होता। घटनाओं के प्रवाह को हम पकड़ नहीं सकते। जीवन बिखरी हुई असम्बद्ध घटनाओं का नाम है। इसलिए युरोप के कुछ उपन्यासों में विशृङ्खलित, असम्बद्ध, बिखरे जीवन के चित्र भर दिए गए हैं। हिन्दी में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'गर्म राख' नामक उपन्यास भी ऐसा ही है। इन लोगों के सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि घटनाओं का क्रम क्या हो ? उनका जीवन से क्या सम्बन्ध हो ? इसके लिए यह हल निकाला गया है कि घटनाएँ चाहे सत्य हों या काल्पनिक, उन्हें दैनिक जीवन के आधार पर गढ़ना आवश्यक है। साथ ही घटना-क्रम केवल न्याय संगत ही न हो उसमें आकस्मिक घटनाएं भी हों क्योंकि वास्तविक जीवन में आकस्मिक घटनाएँ घटा करती हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम उपर्युक्त 'गर्म राख' जैसे नवीन उपन्यासों में प्रकट हुआ है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक एडविन म्योर का कहना

है कि उपन्यास के तत्वों में कथानक ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण और स्पष्ट है। इसी पर उपन्यास का ढाँचा खड़ा होता है। कथानक का चुनाव इतिहास, पुराण, जीवनी आदि कहीं से भी किया जा सकता है। आज जीवन से सम्बन्धित कथानक को ही अधिक महत्व दिया जाता है क्योंकि उसमें हमारे दैनिक जीवन की स्वाभाविकता रहती है। कथानक को रोचक होना चाहिए क्योंकि उपन्यास मनोरंजन का प्रधान साधन है। रोचकता के लिए उसमें उत्सुकता, कौतूहल और नवीनता का होना आवश्यक है। साथ ही उसमें अलौकिकता या असम्भाव्य घटनाओं का चित्रण नहीं होना चाहिए क्योंकि आज का बुद्धिवादी युग इन्हें स्वीकार नहीं करता। इसलिए उसमें जीवन की वास्तविकता का चित्रण आवश्यक है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से कथानक साहसिक, प्रेम-प्रधान, तिलिस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक, पौराणिक और सामान्य जीवन से सम्बन्धित आदि अनेक भागों में बाँटा जा सकता है। कथावस्तु को उपस्थित करने के तीन ढङ्ग आजकल बहुत प्रचलित हैं—१—लेखक तटस्थ दर्शक की भाँति उसका वर्णन करता है, २—कथावस्तु नायक या किसी अन्य पात्र के मुंह से कहलाई जाती है। ३—पात्रों की शृङ्खला के रूप में उसका वर्णन होता है। अब तीसरे ढङ्ग का प्रयोग समाप्त सा हो चला है।

चरित्र-चित्रण और पात्र—उपन्यास में पात्रों का चरित्र-चित्रण सजीवता, सत्यता और स्वाभाविकता के साथ अत्यन्त प्रभावशाली ढङ्ग से होना चाहिए। पात्र की प्रकृति के अनुरूप ही उसके कार्य और बातें होना आवश्यक है। पात्रों की चरित्रगत विभिन्नताएं कथावस्तु के उचित विकास में सहायक होती हैं। इस युग में पात्रों सम्बन्धी प्राचीन एवं नवीन धारणाओं में अन्तर आ गया है। पहले नायक और नायिका पर ही विशेष बल देकर अन्य पात्रों की उपेक्षा की जाती थी। आज सबको समान महत्व दिया जाता है। पहले जहाँ कुछ पात्र देवता और कुछ राक्षस बना दिये जाते थे वहाँ आज के देवताओं के चारित्रिक दोषों का प्रदर्शन एवं राक्षसों में देवत्व का आरोप किया जाने लगा है। इसका कारण मनोविज्ञान का क्रान्तिकारी अन्वेषण है। आज पात्रों के बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डाला जाता है। आज पात्रों का व्यक्तित्व सर्वथा स्वतन्त्र होता है। उपन्यासकार उसे कठपुतली नहीं बनाता। स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति-युक्त और निरन्तर गतिशील पात्रों का चरित्र-चित्रण दो प्रकार से होता है—एक में लेखक स्वयं वर्णन द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण करता है और दूसरे प्रकार में लेखक पात्रों के विषय में स्वयं कुछ न कहकर पात्रों से ही अपने और दूसरे पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डलवाता है। यह प्रणाली सांकेतिक या नाटकीय कहलाती है। आज इसी

प्रणाली को अधिक प्रश्रय दिया जा रहा है। घटना-प्रधान कथानक में पात्रों का चरित्र घटनाओं द्वारा स्पष्ट होता है। चरित्र दो प्रकार के होते हैं—टाइप (वर्ग विशेष के प्रतिनिधि) और विशिष्ट व्यक्तित्व वाले। 'गोदान' का होरी पहले प्रकार का पात्र है और 'शेखर : एक जीवनी' का शेखर दूसरे प्रकार का। पात्रों के दो भेद और हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी। आज वही उपन्यास श्रेष्ठ समझे जाते हैं जिनके पात्रों में आदर्श और यथार्थ का मिश्रण होता है।

उद्देश्य या बीज—उपन्यास के उद्देश्य या बीज से तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। उपन्यास में जीवन का चित्रण होता है। इसलिए उपन्यासकार, जीवन के साधारण और असाधारण व्यापारों का मानव जीवन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका अङ्कन करता है। सभी उपन्यासों में कुछ विशेष विचार और सिद्धांत स्वतः ही आ जाते हैं। कुछ लोग उपन्यास का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानते हैं किंतु आज के उपन्यासों में मनोरंजन के साथ ही साथ किसी विशिष्ट उद्देश्य का प्रतिपादन भी होता है। श्रेष्ठ उपन्यास लेखक अनुभवी और विचारशील होते हैं। वे लोगों के भावों, विचारों और व्यवहारों आदि का भली-भाँति निरीक्षण कर उनके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं और उस अनुभव और ज्ञान की सहायता से नैतिक महत्व का ऐसा चित्र अङ्कित करते हैं जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इससे पाठक शिक्षा ग्रहण कर नैतिक सिद्धांत और आदर्शों का महत्व समझते हैं। किन्तु इस उद्देश्य का चित्रण उपदेश, व्याख्यान या भाषण के रूप में व्यक्त न होकर विभिन्न सूक्तियों और वाक्यों के रूप में बिखरा रहता है। पात्रों के परस्पर विरोधी विचारों का संघर्ष उस उद्देश्य की उत्कृष्टता सिद्ध करता है। उपन्यासकार अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन अप्रत्यक्ष रूप से वार्तालाप या घटनाओं के द्वारा करता है। यदि सीधा सिद्धान्त का चित्रण किया जायगा तो इससे उपन्यास में नीरसता और अरोचकता आ जायगी। उद्देश्य महान् और प्रभावशाली होना चाहिए। उसकी अभिव्यक्ति की शैली और परिस्थितियाँ भी प्रभावोत्पादक होनी चाहिए। इस अभिव्यक्ति के दो ढङ्ग हैं—आत्मकथनात्मक और विश्लेषणात्मक। पहले ढङ्ग में उद्देश्य की अभिव्यक्ति सरल और सुन्दर ढङ्ग से होती है। कहीं-कहीं लेखक कथावस्तु, शैली और तथ्य-कथन के ढङ्ग से भी विशिष्ट नैतिक उद्देश्य का प्रतिपादनक कर देते हैं। यह नाटकीय ढङ्ग कहलाता है। विश्लेषणात्मक प्रणाली में लेखक आलोचक की भाँति पात्रों का गुण-दोष विवेचन करता हुआ अपने उद्देश्य को स्पष्ट करता है। इनमें नाटकीय ढङ्ग अधिक कलापूर्ण माना जाता है। एक आलोचक के

शब्दों में "आज के उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और उसके द्वारा मानव मन के गहनतम स्तरों की व्याख्या करना है।"

कथोपकथन—नाटक में इस तत्व का एकाधिकार होता है परंतु उपन्यास में आवश्यकतानुसार ही इसका उपयोग किया जाता है। यह कथावस्तु के विकास तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायक होता है। इससे कथावस्तु में नाटकीयता और सजीवता आ जाती है। इसके द्वारा प्रासंगिक घटनाओं का भी वर्णन कर दिया जाता है। पात्रों की आन्तरिक मनोवृत्तियों के स्पष्टीकरण में भी यह सहायक होता है। इसका विधान पात्रों के चरित्र, स्वभाव, देश, स्थिति, शिक्षा, अशिक्षा आदि के अनुसार होना चाहिए। पात्रों के वार्तालाप में स्वाभाविकता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

देशकाल—पात्रों के चित्रण को पूर्णता एवं स्वाभाविकता देने के लिए देशकाल या वातावरण का ध्यान रखना जरूरी है। घटना का स्थान, समय, तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान उपन्यासकार के लिए आवश्यक है। चरित्रों का चित्रण उनके अनुसार ही होना चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यासों का तो यह प्राण है। यदि कोई लेखक चन्द्रगुप्त और चाणक्य को सूट बूट में चित्रित करे तो उसकी मूर्खता एवं ऐतिहासिक अनभिज्ञता पर हँसी आये बिना न रहेगी। देश, काल और वातावरण का वर्णन वहीं तक उचित है जहाँ तक कि वह कथा प्रवाह में सहायक हो।

शैली—उपन्यासकार को अपने भाव एवं विचारों को व्यक्त करने के लिए सरस और सरल भाषा शैली का प्रयोग करना चाहिए। सम्पूर्ण उपन्यास की रचना शैली एक सी हो। भाषा का प्रयोग तत्कालीन समाज के दृष्टिकोण से हो तो अधिक श्रेयस्कर होता है। परन्तु उसमें सरलता का होना अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी में उपन्यास-लेखन की चार शैलियाँ प्रचलित हैं—कथाशैली जैसे प्रेमचन्द का 'रंगभूमि'; आत्मकथा शैली, जैसे इलाचन्द्र जोशी का 'घृणा-मयी'; पत्र-शैली, जैसे उग्र का 'चन्द हसीनों के खतूत'; डायरी शैली जैसे 'शोणित तर्पण'। पत्र और डायरी शैलियों में हिन्दी में कम उपन्यास लिखे गये हैं।

उपन्यासों के विभिन्न प्रकारों को निश्चित करने के कई आधार माने जाते है। इनमें से कुछ तो किसी विशेष तत्व अथवा घटना, चरित्र आदि की प्रधानता के आधार पर किये जाते हैं और कुछ कार्य अथवा वर्ण्य विषय के आधार पर। तत्वों के आधार पर उपन्यासों के तीन भेद माने गये हैं—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और नाटकीय। वर्ण्य विषय के आधार पर अनेक भेद किये गये हैं; यथा धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक, आर्थिक, यौन

सम्बन्धी, प्राकृतिक आदि । परन्तु तत्व, वर्ण्य विषय, शैली आदि सभी विशेषताओं को ध्यान में रखकर विद्वानों ने उपन्यासों के चार प्रधान भेद माने हैं—(१) घटना प्रधान (२) चरित्र प्रधान (३) नाटकीय (४) ऐतिहासिक । इनमें से प्रत्येक 'प्रकार' की संक्षिप्त रूपरेखा निम्नलिखित है—

घटना प्रधान—इन उपन्यासों में चमत्कारिक घटनाओं की प्रधानता रहती है । पाठकों के कौतूहल और उत्सुकता को निरन्तर जागृत रखने में ही इनकी सफलता मानी जाती है । पाठक वर्णित घटनाओं के जाल में ही उलझा रहता है । ये पाठक के हृदय में विस्मय को जागृत कर उसे निरन्तर मुग्ध रहती हैं । इनमें पात्रों का महत्व कथा की अपेक्षा गौण रहता है । यहाँ घटनाएँ ही प्रधान रहती हैं । पात्र घटनाओं के चक्कर में पड़कर चमत्कारपूर्ण ढंग से उनमें से बाहर निकल आते हैं । इनका अन्त आनन्दमय होता है । घटनाओं के इस उतार-चढ़ाव में पाठक पूर्णतया डूब जाता है । उसका ध्यान घटनाओं की वास्तविकता, अवास्तविकता और पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर नहीं जा पाता । विस्मयजनक परिस्थितियों के जटिल विकास और उनके चमत्कार में वह पात्रों को पूर्णतया भूल जाता है । इसी कारण पात्रों का चारित्रिक विकास इन उपन्यासों में कोई महत्व नहीं रखता । साहित्यिक दृष्टि से इन उपन्यासों का मूल्य कम माना जाता है । इनमें वास्तविक जीवन का चित्रण न होकर प्रायः काल्पनिक एवं चमत्कारपूर्ण जीवन का प्राधान्य रहता है । इनकी कथावस्तु प्रेमाख्यान, पौराणिक कथाओं और जासूसी तथा तिलस्मी घटनाओं से निर्मित होती है । हिन्दी के प्रारम्भिक युग में ऐसे उपन्यासों की भरमार थी । जासूसी, ऐयारी और तिलस्मी उपन्यास उस समय खूब लिखे गये । चन्द्रकान्ता संतति, भूतनाथ आदि उपन्यास इसी श्रेणी के हैं । ऐसे उपन्यासों के विषय में प्रसिद्ध उपन्यासकार स्टीवेन्सन ने लिखा है–"उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता इसी में है कि वह एक ऐसी भ्राँति की सृष्टि कर रोचक परिस्थितियों का इतना कुशल अङ्कन करे कि पाठकों की कल्पना उससे आकृष्ट हुए बिना न रह सके । और वे उस क्षण के लिए स्वयं को कहानी का एक पात्र समझने लगें और उनके कार्यों को वैयक्तिक रूप से अपना समझ कर अनुभव करने लगें ।"

चरित्र प्रधान—इनमें घटनाओं के स्थान पर पात्रों की प्रधानता रहती है । घटनाएँ गौण होती हैं । चरित्र-प्रधान होने के कारण इनका कथानक प्रायः शिथिल और असंगत होता है । इनमें पात्रों के चारित्रिक विकास पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है । पात्र घटनाओं से पूर्ण स्वतन्त्र रहते हैं । वे स्वयं परिस्थितियों के निर्माता होते हैं न कि परिस्थितियाँ उनकी । जैसे-तैसे पात्रों का चारित्रिक विकास होता जाता है घटनाएँ उनके इंगितों पर नाचती जाती है ।

पात्रों के चारित्रिक गुण दोष प्रारम्भ से अन्त तक एकरस रहते हैं। केवल उपन्यास के विस्तार के साथ-साथ उनके विषय में पाठक के ज्ञान में वृद्धि होती रहती है। इन चरित्रों में परिवर्तन नहीं होता। घटनाएं केवल पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर ही प्रकाश डालतीं हैं। कौतूहल का अभाव रहता है। इससे इनमें एक प्रकार की शिथिलता और गतिहीनता आ जाती है। परन्तु ये उपन्यास समाज, देश तथा जाति की चारित्रिक विशेषताओं का प्रदर्शन करते हैं इसलिए घटना-प्रधान उपन्यासों से इनका महत्व अधिक माना गया है। हिन्दी में जैनेन्द्र, उग्र, ऋषभचरण, चतुरसेन शास्त्री के कुछ उपन्यास इसी वर्ग के हैं। कुछ लोग प्रेमचन्द के 'गवन' तथा 'गोदान' जैसे उपन्यासों को भी इसी वर्ग का ही मानते हैं।

नाटकीय—उपन्यास कला की दृष्टि से इस वर्ग के उपन्यास सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। कथावस्तु और पात्र दोनों का इनमें समान सन्तुलन होता है। पात्रों की विचार धारा और उनके कार्य भावी घटनाओं की गतिविधि को प्रभावित करते हैं। घटनाएँ और पात्र परस्पर सम्बन्धित रहते हुए भी स्वतंत्र होते हैं। इस प्रकार इन उपन्यासों में आरम्भ से अन्त तक पात्रों और घटनाओं का पूर्ण सामंजस्य रहता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें कल्पित जीवन के स्थान पर वास्तविक सामाजिक जीवन का चित्रण होता है। इसलिए इनकी कथावस्तु तर्क संगत और स्वतः विकासमान रहती है। घटनाएँ जीवन के नियमों द्वारा संचालित होकर निर्धारित पथ पर अग्रसर होती रहती हैं। समय की गति का इनमें पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। समय की गति के साथ विकसित होते-होते पात्र और घटनाएँ पूर्णतः स्पष्ट हो जाती हैं। इससे इनका अन्त कलात्मक और सुन्दर होता है। पात्रों और घटनाओं दोनों का अन्त हो जाता है। परन्तु इन उपन्यासों में घटना स्थल संकीर्ण और सीमित होता है। उसी संकुचित दायरे में सारा कार्य-कलाप समाप्त हो जाता है। प्रेमचन्द के उपन्यास इसी कोटि के हैं।

ऐतिहासिक—इनमें भी पात्रों और घटनाओं का समन्वित रूप मिलता है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता इनका देश-काल चित्रण है। इन उपन्यासों का यह प्राण है। यदि इनमें देशकाल का पूर्ण और संगत-चित्रण नहीं होता तो इनका कोई मूल्य नहीं रह जाता। इनकी ऐतिहासिकता का रक्षक यही देशकाल चित्रण है। देशकाल के चित्रण से अभिप्राय यह है कि जिस देश अथवा स्थान का और इतिहास के जिस काल का वर्णन हो, वह उचित, यथार्थ और ठीक होना चाहिए। कोरिया को हिमालय पर्वत पर बताना और सिकन्दर के समय इस्लामी वेषभूषा और रीति रिवाजों का वर्णन करना देश और काल का

विरोध है क्योंकि कोरिया हिमालय पर न होकर चीन के उत्तर पूर्वी समुद्र तट पर स्थित है और सिकन्दर के समय तक इस्लाम के प्रवर्त्तक मुहम्मद साहब क जन्म भी नही हुआ था। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासकार को वर्णित युग और प्रान्त की संस्कृति, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों, रहन-सहन, रीति रिवाजों आदि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। साथ ही उस युग का कथानक गढ़ने के लिए एक अपूर्व कल्पना शक्ति की भी पूर्ण आवश्यकता है जिससे तत्कालीन जीवन का सर्वाङ्गीण, आन्तरिक और प्रभावोत्पादक चित्रण हो सके। इसलिए इन उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का पूर्ण योग रहता है। इनमें से एक का भी अभाव होने से सफल ऐतिहासिक उपन्यास की रचना नहीं हो सकती। ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहासज्ञों, पुरातत्व वेत्ताओं आदि द्वारा संग्रहीत नीरस तथ्यों को कल्पना द्वारा जीवित और सुन्दर बना देता है। दूसरे शब्दों में वह इतिहास की कंकालवत् नीरस अस्थियों पर कल्पना का रक्त माँस चढ़ा कर उन्हें माँसल और आकर्षक बनाता है।

कुछ विद्वानों ने उपन्यासों का एक पाँचवाँ वर्ग माना है—**सामाजिक उपन्यास**। इनमें सामयिक युग के विचार, आदर्श और समस्यायें चित्रित रहती हैं। सामयिक समस्याओं का चित्रण इनका मुख्य उद्देश्य होता है। इन पर राजनीतिक सामाजिक धारणाओं और मतवादों का विशेष प्रभाव रहता है। इनमें लेखक अपने समय के आदर्शों के रूप में पात्रों का चित्रिण करता है। आज के प्रगतिवादी लेखकों के अधिकाँश उपन्यास तथा प्रेमचन्द के कुछ उपन्यास इसी वर्ग के हैं।

उपन्यासों के विभिन्न प्रकारों का उपर्युक्त विवेचन सर्वाङ्गीणता का दावा नहीं कर सकता क्योंकि आज उपन्यासों के वस्तुचयन एवं शैलियों में इतनी शीघ्रता से परिवर्तन हो रहे हैं कि उन्हें अभी निश्चित वर्गों में बाँधना सम्भव नहीं प्रतीत होता। आज मार्क्सीय विचारधारा से प्रभावित कुछ ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं जिन्हें शुद्ध प्रचारवादी उपन्यास कहा जा सकता है। कुछ उपन्यासों में मनोविज्ञान के नाम पर नग्नवासना का खुलकर प्रदर्शन हो रहा है। ऐसे उपन्यासों को अभी किसी निश्चित वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

विकास

हम उपन्यास का स्वरूप निरूपण करते समय कह आए हैं कि गद्य की अनेक विधाओं के समान हिन्दी-उपन्यास भी आधुनिक युग की ही देन है। परन्तु कुछ आलोचक संस्कृत के 'कादम्बरी', 'दशकुमार चरित' आदि कथा-ग्रन्थों

को भी उपन्यास मानते हैं और इसी धारणानुसार हिन्दी उपन्यासों की परम्परा का सम्बन्ध वहीं से जोड़ते हैं। कुछ विद्वान इस परम्परा का प्रारम्भ सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक काव्य-ग्रन्थों से मानते हैं परन्तु उक्त सभी ग्रन्थों को ध्यान पूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें औपन्यासिक तत्वों का पूर्ण अभाव है। अतः उन्हें हम उपन्यास नहीं मान सकते। "संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर आधुनिक हिन्दी-काव्य तक की परम्परा अविच्छिन्न चली आई है परन्तु हिन्दी का उपन्यास, साहित्य का वह पौधा है जिसे यदि सीधे पश्चिम से नहीं लिया गया हो तो उसका कलम बंगला से तो लिया ही गया था न कि संस्कृत के कथाकार सुबंधु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी।" संस्कृत एवं सूफी ग्रन्थों में आधुनिक उपन्यास के कोई भी लक्षण नहीं मिलते। हाँ, बंगला के उपन्यासों का हिंदी-उपन्यासों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गद्य के अन्य अङ्गों के समान हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का जनक भी भारतेन्दु युग ही रहा है। इसकी परम्परा वहीं से प्रारम्भ होती है। विवेचन की सुविधा के लिए हम इस विकास को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं जो निम्नलिखित हैं—

१—प्रथम अवस्था (सन् १८५० से १९०० तक)
२—द्वितीय अवस्था (सन् १९०० से १९१५ तक)
३—तृतीय अवस्था (सन् १९१५ से १९३६ तक)
४—आधुनिक काल (सन् १९३६ से आज तक)

१—प्रथम अवस्था—(सन् १८५० से १९०० तक) कुछ आलोचक इंशाअल्लाखाँ रचित 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास मानते हैं। यद्यपि उपन्यास कला की दृष्टि से इस छोटी सी कथा-पुस्तक का कोई मूल्य नहीं है तथापि सर्व प्रथम प्रारम्भिक कृति होने के नाते इसका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है। आचार्य शुक्ल कथावस्तु और वर्णन प्रणाली की दृष्टि से लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' को हिंदी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास मानते हैं। परन्तु हिंदी का प्रथम उपन्यासकार वे पंडित किशोरीलाल गोस्वामी को ही स्वीकार करते हैं जो लालाजी के परवर्ती उपन्यासकार हैं। इस विषय में शुक्लजी का मत दृष्टव्य है। आप लिखते हैं—"और लोगों ने भी उपन्यास लिखे पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते हैं। पर गोस्वामीजी वहीं घर कर के बैठ गये।" आजकल 'परीक्षागुरु' ही सर्व सम्मति से हिंदी का सर्व प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। आधुनिक अर्थ में यही पहला उपन्यास था। इसमें हमें सर्व प्रथम सामाजिक जीवन चित्रित करने का प्रयास

मिलता है । परीक्षा गुरु से पूर्व भारतेन्दु ने भी 'हमीरहठ' नामक उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था जो पूर्ण न हो सका ।

डाक्टर श्रीकृष्णलाल हिंदी उपन्यास के क्रमिक विकास का मूल 'तोता-मैना' और 'सारंग-सदावृक्ष' जैसी कहानियों में खोजते हैं । उनके अनुसार ये कहानियाँ सन् १८६० के लगभग लिपिबद्ध हुई होंगी । इनमें किसी व्यक्ति-विशेष का वर्णन न होकर केवल एक मौखिक वाद-विवाद है किन्तु 'गुलवकावली,' 'छबीली भटियारिन' और 'हातिमताई' में व्यक्ति विशेष के दर्शन होते हैं जिनमें मानव चरित्र के सरल और सामान्य गुणों का समावेश मिलता है ।··· ···किंतु इन उपन्यासों के रहते हुए भी देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकाँता' (सन् १८९१) से पहले हिन्दी में उपन्यास के साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा न हो सकी ।" (डाक्टर श्रीकृष्णलाल) किशोरीलाल गोस्वामी 'चन्द्रकांता' से भी पूर्व सन् १८८९ में 'कुसुमकुमारी' की रचना कर चुके थे यद्यपि उसका प्रकाशन १९०१ से पहले न हो सका था । इस प्रकार डाक्टर श्रीकृष्णलाल खत्रीजी को हिंदी में उपन्यास के साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा करने वाला मानते हैं । परन्तु भारतेन्दु काल में भी अनेक उपन्यास लिखे गए थे जिनके द्वारा उपन्यास के साहित्यिक स्वरूप का श्री गणेश हो गया था । लाला श्रीनिवासदास के उपरांत ठाकुर जगमोहनसिंह ने काव्य गुणों से परिपूर्ण 'श्यामा स्वप्न' नामक उपन्यास लिखा । इसमें उपन्यास की वास्तविकता के स्थान पर काव्य-सौंदर्य ही अधिक है । इसी समय अद्भुत और आश्चर्यजनक घटनाओं से परिपूर्ण 'आश्चर्य वृतांत' नामक उपन्यास पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने लिखा । यह साधारण कोटि का परन्तु मनोरंजक उपन्यास है । इसके पश्चात् बाबू राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिन्दू' और पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक छोटे-छोटे उपन्यास लिखे ।

इस काल में उपर्युक्त कुछ मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अनुवादों का कार्य भी आरम्भ हुआ । ये अनुवाद विशेषत: बंगला और अँग्रेजी उपन्यासों से किए गए । अनुवादों का आरम्भ भारतेन्दु ने 'पूर्ण प्रकाश' और 'चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यासों से किया । तत्पश्चात बाबू गदाधरसिंह ने 'बंग विजेता' और 'दुर्गेश नन्दिनी' का तथा बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता' और 'मरता क्या न करता' आदि अनूदित उपन्यास लिखे । राधाचरण गोस्वामी ने 'सावित्री', 'विरजा', 'मृण्मयी' का तथा प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इन्द्रा', 'युगलांगुरीय' और 'राधारानी' के अनुवाद किए । इन अनुवादों में भाषा का स्वरूप तो उपलब्ध होता है पर वृत्त तथ्यहीन हैं । इन अनुवादों द्वारा एक लाभ यह हुआ कि हिंदी पाठकों को नए ढङ्ग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों

का परिचय मिल गया। इससे मौलिक उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति और योग्यता का श्रीगणेश हुआ।

द्वितीय अवस्था—(१९०० से १९१५ तक) इस युग में अनुवाद भी खूब हुए और मौलिक उपन्यास भी खूब लिखे गए। प्रथम युग के अन्तिम चरण के अनुवादों का क्रम द्वितीय युग में खूब विकसित हुआ। अच्छे मौलिक उपन्यास कुछ काल उपरान्त ही लिखे गए। द्वितीय अवस्था रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री और गोपालराम गहमरी के अनुवादों से प्रारम्भ होती है। वर्माजी ने 'ठगवृतान्त-माला', 'अकबर', 'अबला-वृतांत माला', तथा 'चित्तौर-चातकी' का; खत्री जी ने 'इला', और 'प्रमिला' का, तथा गहमरी जी ने 'चतुर-चंचला', 'भानुमती,' 'नए बाबू', 'बड़े भाई' तथा अन्य उपन्यासों के अनुवाद किए। ऐतिहासिक अनूदित उपन्यासों में उदितनारायणलाल का 'दीपनिर्वाण', रामचंद्र वर्मा का 'छत्रसाल' और गोस्वामी जी का 'तारा' आदि उल्लेखनीय हैं। इस काल में बंगला के प्रायः सभी प्रसिद्ध उपन्यासकारों-बंकिमचंद्र दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, शरत बाबू, चारुचंद्र आदि के प्रसिद्ध उपन्यासों के अनुवाद हुए। रवीन्द्र बाबू के भी 'आँख की किरकिरी' आदि उपन्यासों का अनुवाद भी इसी युग में हो गया था। इस अनुवाद कार्य में योग देने वाले अनुवादकों में पं० ईश्वरी-प्रसाद शर्मा और पं० रूपनारायण पाण्डेय विशेष उल्लेखनीय हैं। बंगला के अतिरिक्त मराठी, गुजराती के भी कई उपन्यासों का अनुवाद हुआ। इसी समय अंग्रेज़ी से 'लन्दन-रहस्य' तथा 'टामकाका की कुटिया' नामक उपन्यास अनूदित हुए। गङ्गाप्रसाद गुप्त ने उर्दू से 'पूना में हलचल' तथा हरिऔधजी ने 'वेनिस का बाँका' नामक अनुवाद किए। इन अनुवादों की भाषा प्रथम अवस्था के अनुवादों की अपेक्षा सजीव और परिमार्जित थी। लिखने का ढङ्ग भी मनो-रंजक था। इन अनुवादों ने हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श ऊँचा करने में योग दिया क्योंकि इनका स्तर हिंदी के मौलिक उपन्यासों से श्रेष्ठ था।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्व-साधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थे।" ये इस 'द्वितीय अवस्था' से पूर्व ही नरेन्द्र मोहिनी, कुसुमकुमारी, वीरेन्द्रवीर आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। इस काल में आकर उन्होने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकांता', 'चन्द्रकांता संतति' तथा 'भूतनाथ' का सृजन किया। इन उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य की प्रधानता है; रस संचार, भाव-विभूति या चरित्र चित्रण की नहीं। आचार्य शुक्ल घटना-प्रधान रचनाओं को, जिनमें जीवन के विविध पक्षों का चित्रण नहीं होता, साहित्य-कोटि में नहीं मानते।

परन्तु खत्रीजी के इन उपन्यासों का एक ऐतिहासिक महत्व है। कहा जाता है कि हिन्दी के जितने पाठक इन उपन्यासों ने उत्पन्न किए उतने और किसी ने भी नहीं किए। साथ ही इन्हें पढ़कर कितने ही नवयुवक हिन्दी के लेखक हो गए। प्रेमचन्द खत्रीजी के उक्त उपन्यासों तथा उसी प्रकार के अन्य ऐय्यारी और तिलस्मी घटनाओं से परिपूर्ण उपन्यासों का बीजांकुर फारसी पुस्तक 'तिलस्मे-होशरुबा' से मानते हैं। इन उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन करना है। खत्री जी इस उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—"चन्द्रकांता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिए नहीं कि लोग उनकी सच्चाई-झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिए कि पाठक का कौतूहल वर्धन हो।" अपने इस उद्देश्य में ये उपन्यास पूर्णतः सफल हुए हैं। खत्री जी की इस परम्परा को आगे बढ़ाने वालों में गोपालराम गहमरी और बाबू हरिकृष्ण जौहर विशेष उल्लेखनीय हैं। गहमरी जी ने 'जासूस' नामक मासिकपत्र निकाल कर इस परम्परा को आगे बढ़ाया। गहमरी जी के उपन्यासों में कल्पना के साथ बुद्धि का भी योग है। लिखने का ढंग भी अपेक्षाकृत अधिक मनोरंजक है। वास्तव में गहमरी जी हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की परम्परा डालने वाले हैं। इन्होंने लगभग ५०–६० उपन्यास लिखे हैं। खत्री जी और गहमरी जी के अतिरिक्त तिलस्मी और जासूसी उपन्यास लिखने वालों में देवीप्रसाद शर्मा, मदनमोहन पाठक, विश्वेश्वरप्रसाद वर्मा, रामलाल वर्मा, जयरामदास गुप्त, चन्द्रशेखर पाठक आदि का भी नाम आता है।

इसी काल में "उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी हैं।" इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक, ऐयारी तथा जासूसी आदि सभी प्रकार के उपन्यास लिखे। इनके 'तारा', 'तरुण तपस्विनी', रजिया बेगम' आदि उपन्यासों में साहित्यिकता के साथ-साथ सामाजिकता के भी दर्शन हुए। इनमें—"समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रंग-रूप, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है।······ इस द्वितीय उत्थान काल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं।" (आचार्य शुक्ल) इन्होंने लगभग ६५ उपन्यास लिखे। उपन्यासों में वासनात्मक चित्रणों एवं उद्गारों की भरमार है। विशेष रूप से 'चपला' नामक उपन्यास के सम्बन्ध में इस बात की बहुत आलोचना की गई थी। साथ ही आपने उपन्यास लेखन में भाषा की विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया। कभी क्लिष्ट संस्कृत गर्भित शैली अपनाई और कभी उर्दू प्रधान शैली। इस अस्थिरता के कारण ये भाषा का एक सुव्यवस्थित रूप स्थिर करने में असमर्थ रहे। शैली की दृष्टि से देवकीनन्दन खत्री की शैली अत्यन्त सरल

और सरस रही। उसे 'हिन्दुस्तानी' का पूर्व रूप कह सकते हैं। गोस्वामी जी के उपन्यासों में सामाजिक तत्व मिलते अवश्य हैं परन्तु उनका महत्व सामाजिक जीवन और मानव-चरित्र की गहराइयों में पैठने पर अवलम्बित न होकर कथानक की चतुराई, घटना बाहुल्य द्वारा मनोरंजन उत्पन्न करने के कारण ही विशेष है। इस प्रकार खत्री जी, गहमरी जी एवं गोस्वामी जी भारतेन्दु युग के अन्तिम चरण एवं द्वितीय अवस्था के प्रथम चरण के प्रमुख उपन्यासकार हैं। इनके उपरान्त हरिऔध जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक उपन्यास लिखकर भाषा के सरलतम रूप के प्रयोग किए। इनमें औपन्यासिक कौशल नहीं है। इसी समय लज्जाराम मेहता ने "प्राचीन हिन्दू मर्यादा, हिन्दू धर्म और हिन्दू पारिवारिक व्यवस्था की सुन्दरता और समीचीनता दिखाने के लिए" 'धूर्त रसिकलाल', हिन्दू-गृहस्थ', 'आदर्श दम्पत्ति' आदि छोटे बड़े अनेक उपन्यास लिखे। बाबू ब्रजनन्दनसहाय ने बँगला शैली में 'राधाकान्त' और 'सौन्दर्योपासक' दो उपासक लिखकर हिन्दी में भाव प्रधान उपन्यास लिखने की परम्परा डाली।

इस प्रकार इस काल में उपन्यास कला का आरम्भ तो होगया परन्तु उसमें गम्भीरता नहीं आ पाई। इन उपन्यासों में जीवन की समस्याएँ नहीं थीं, उनके समाधान नहीं थे, उपदेश या नीति के प्रचार में कला नहीं थी और न जीवन के गम्भीर पक्षों का ही कोई चित्रण था। इसलिए इनका मूल्य उपन्यासों के विकास की परम्परा जानने की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है।

तृतीय अवस्था—(१९१५ से १९३६ तक) इस काल में आकर हिन्दी उपन्यास-साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। नलिन विलोचन शर्मा का यह कथन है कि—"समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है, जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में।" उपन्यास की दूसरी परिभाषा बताते हुए इसी बात को इस प्रकार कहा गया है कि "उपन्यास, औद्योगिक क्रान्ति के युग का महाकाव्य" है। इसलिए विकास की इस तृतीय अवस्था में उपन्यास-कहानी साहित्य ही सबसे अधिक समृद्ध हुआ। भारतेन्दु युग में सामाजिक उथल पुथल प्रारम्भ हुई थी लेकिन उसका पूर्ण विकास द्विवेदी युग और छायावादी युग में आकर हुआ। इससे पूर्व उपन्यास के क्षेत्र में विभिन्न परन्तु साधारण प्रयोग मात्र किए जा रहे थे। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के लगभग हमारे साहित्यकार देश और समाज की समस्याओं के प्रति अधिक सचेत हो उठे। प्रेमचन्द इस नवीन क्रांतिकारी चेतना के अग्रदूत बनकर उपन्यास क्षेत्र में आए। हिन्दी उपन्यासों का वास्तविक प्रारम्भ प्रेमचन्द से ही मानना चाहिए। क्योंकि उन्हीं के समय में उपन्यास प्रेम-कथा, तिलस्मी,

ऐयारी जासूसी चमत्कारों तथा धार्मिक उपदेशात्मक क्षेत्रों को छोड़कर समाज में आया। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस युग का राजनीतिक और सामाजिक भारत साकार हो उठा है। "गोदान के रचयिता प्रेमचन्द जी हिन्दी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचन्द उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार चढ़ाव हैं।" उनके उपन्यास मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। "प्रेमचन्द में हिन्दी उपयास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएं सम्मिलित होकर महानद बनीं।" प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में मानव जीवन दर्शन उनका लक्ष्य बना। साथ ही भाषा, कला तथा विधान के क्षेत्र में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। आदर्श और यथार्थ के चित्रण द्वारा जीवन संघर्ष और चेतन जगत का सुन्दर चित्रण हुआ। इसी कारण प्रेमचन्द इस युग के जन्मदाता और उपन्यास-सम्राट माने गये। उन्होंने सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, गबन, गोदान आदि मौलिक सामाजिक उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र को समृद्ध और शक्तिशाली बनाया ; इन उपन्यासों में वस्तुचित्रण, कथोपकथन आदि के प्रौढ़तम रूप के दर्शन हुए। इनके माध्यम से निम्न और मध्यवर्ग के सुन्दर चित्र सामने आए और साथ ही राष्ट्रीय भावना को बल मिला। उन्होंने द्विवेदी युग में लिखना प्रारम्भ किया, छायावादी युग में उनकी कला ने पूर्ण विकास पाया और बाद में प्रगतिशील विचारधारा के साथ वे आगे बढ़े ; इसका मुख्य कारण था, तत्कालीन भारतीय जीवन की असाधारण गतिशीलता, प्रेमचन्द का इस जीवन से घनिष्ठ परिचय और उनकी अनन्य प्रतिभा।

इस युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकारों में प्रसाद, कौशिक, उग्र, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा आदि प्रमुख हैं। काव्य और नाटक के आदर्शवादी प्रसाद ने 'कंकाल' और 'तितली' नामक दो यथार्थवादी उपन्यास लिखे। उधर सुधार की भावना से लिखने की प्रतिज्ञा करने वाले 'उग्र' ने वर्जित विषयों पर 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'चंद हसीनों के खतूत', 'शराबी' आदि अनेक उपन्यास समाज की दुर्बलताओं को नग्न रूप में प्रकट करने के लिए लिखे। कुछ आलोचकों ने इन घोर अश्लील यथार्थवादी उपन्यासों को 'घासलेटी साहित्य' के नाम पुकारा। इन दोनों कलाकारों का यह विरोधाभास साहित्य की एक अनौखी वस्तु है। प्रसाद के उपन्यासों में प्रेमचन्द की अपेक्षा बौद्धिक सघनता अधिक है। इनके अतिरिक्त कौशिक के 'मां' और 'भिखारिणी', प्रतापनारायण श्रीवास्तव के विदा, विकास, विजय और विसर्जन; भगवतीचरण वर्मा के चित्रलेखा, तीन वर्ष, टेढ़ेमेढ़े रास्ते, आखरी दाँव; चतुरसेन शास्त्री के

परख, हृदय की प्यास, वैशाली की नगर वधू, सोमनाथ आदि सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास; राजा राधिकारमणप्रसादसिंह के राम रहीम, सूरदास, टूटा तारा आदि अनेक प्रसिद्ध उपन्यास निकले। इनके अतिरिक्त इसी काल में इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर, नरोत्तम नागर आदि ने कुछ मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे। अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के दीप' तथा अंचल का 'चढ़ती धूप' भी सुन्दर उपन्यास हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों गढ़कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, मृगनयनी, कचनार, सोना आदि लिखकर हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र को समृद्ध बनाया और आगे बढ़ाया। इस काल के छायावादी कवियों ने भी उपन्यास साहित्य को विकसित किया। प्रसाद का उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'निराला' ने भी कई उपन्यास लिखे। जिन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है। 'अप्सरा' आदि मूलतः प्रेम-कथाएँ हैं। सन् ३६ के बाद उन्होंने 'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि यथार्थवादी उपन्यास लिखे जिनमें जीवन की कठोर, निर्मम वास्तविकता कथा के प्रवाह को सबल बनाती है। इस विषय में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि उपर्युक्त उपन्यासकारों में से अनेक प्रेमचन्द काल से लेकर अब तक बराबर लिखते चले आरहे हैं परन्तु उनका दृष्टिकोण अब भी वही है। इसीलिए उनकी और उनके उपन्यासों की गणना आधुनिक काल में न कर उसी काल में करदी गई है। उपर्युक्त जीवित कलाकारों में लगभग सभी अभी तक नवीन उपन्यासों की रचना कर इस क्षेत्र को समृद्ध बना रहे हैं।

आधुनिक काल—(सन् १६३५ से अब तक)—प्रेमचन्द की विरासत को उनके उत्तराधिकारी संभालने में असमर्थ रहे। उनके पश्चात् वह वेगवती धारा कई शाखाओं में बँट गई। प्रेमचन्द के बाद कुछ दिनों जैनेन्द्र की खूब चर्चा रही परन्तु आगे चलकर वे अध्यात्म के चक्कर में पड़कर लोकपरलोक की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त हो गए और अब भी हैं। प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यास-साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि—"प्रेमचंद की किसान-परम्परा को तजकर हिंदी उपन्यास अनेक नई शाखाओं में बढ़ा—तत्व और रूप दोनों ही दृष्टि से। एक धारा निम्न मध्यवर्ग के जीवन, उसकी निराशाओं और असफलताओं को अपनाती है। इसके प्रमुख परिचायक जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अश्क आदि हैं। दूसरी धारा व्यक्तिवादी, अहंवादी, नाशवादी दृष्टिकोण को अपनाती है। इसके प्रतिनिधि भगवतीचरण वर्मा अज्ञेय आदि हैं। एक धारा मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव में कुण्ठित, अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि पं० इलाचंद्र जोशी रहे हैं। एक अन्य धारा भारतीय श्रमजीवी वर्ग की अग्रगामी शक्तियों के सम्बन्ध

जोड़ती है और भविष्य की धरती को संजोती है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि यशपाल रांगेय राघव, पहाड़ी, भगवतशरण उपाध्याय, नागार्जुन आदि हैं।" उपर्युक्त वक्तव्य से आधुनिक काल की विभिन्न औपन्यासिक प्रवृत्तियों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

इस युग में प्रधान रूप से प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यास लिखे गए जिन पर मार्क्सवादी विचारधारा का अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा है। इस विचारधारा के लेखकों का नेता यशपाल को माना जा सकता है। यशपाल के 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' 'दिव्या' आदि सुन्दर उपन्यास हैं जिनका दृष्टिकोण साम्यवादी है। राहुल साँकृत्यायन के सिंह सेनापति, जय यौधेय आदि उपन्यासों में इतिहास का वही प्राचीन वर्ग-संघर्ष किंचित अनैतिकता के पुट के साथ उभर आया है। रांगेय राघव ने ऐतिहासिक एवं सामाजिक अनेक उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र में खूब काम किया है। आपकी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। आपका दृष्टिकोण वैज्ञानिक समाजवादी है। घरोंदे, अंधेरे के जुगुनू, मुर्दों का टीला, कब तक पुकारूँ एवं नव प्रकाशित अनेक औपन्यासिक जीवनियाँ आपकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इस तरुण कलाकार से हिन्दी को बहुत आशा है। उपेन्द्रनाथ अश्क के दोनों उपन्यास 'गिरती दीवारें' और 'गर्मराख' विशेष प्रसिद्ध हो चुके हैं। नागार्जुन के 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'रतिनाथ की चाची' भी मार्क्सिय विचारधारा के उपन्यास हैं। अमृतलाल नागर ने 'बूँद और समुद्र' तथा 'महाकाल' नामक उपन्यासों में इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। राजेन्द्र यादव ने 'उखड़े हुए लोग' लिखकर उच्चवर्गीय समाज की विकृतियों पर बड़ा सशक्त प्रहार किया है। उपर्युक्त सभी कलाकारों ने अपने उपन्यासों में वर्ग संघर्ष, सामाजिक विषमता, दरिद्रता आदि का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित चित्रण किया है। प्रेमचंद के 'गोदान' की अस्पष्ट भावना का यहाँ आकर विकास हुआ है। जीवन की यथार्थता का अंकन इन उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य है। इसी कारण इनमें व्यंग का आधिक्य है। इस वर्ग के लेखकों का मत है कि हमारा वर्तमान समाज सड़ गया है अतः उसमें आमूल परिवर्तन होना चाहिये। इसी भावना से प्रेरित होने के कारण इस काल के अधिकाँश उपन्यासों में क्रांति की एक विध्वंसक ज्वाला के दर्शन होते हैं। परंतु जीवन की यथार्थता के आधिक्य से कला प्रारम्भ में कुछ उपेक्षित सी होने लगी थी परंतु बाद में लोग सम्हल गए और अब नवीनतम उपन्यासों में पुनः सुन्दर कला के दर्शन होने लगे हैं। कुछ उपन्यासों में सेक्स की प्रधानता होने के कारण अश्लीलता का भी समावेश होने लगा है।

उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक एक अनोखा उपन्यास लिखा है। यह हिन्दी में अपने ढङ्ग का प्रथम उपन्यास है। हिन्दी की महिला लेखिकाओं में श्रीमती उषादेवी मित्रा और कुमारी कंचनलता सब्बरलाल के उपन्यासों में भारतीय नारी का सुन्दर चित्रण मिलता। इधर हिन्दी में कुछ नए उपन्यासकारों का उदय हुआ है जिनसे इस विधा की उन्नति की बड़ी आशायें हैं। इनमें कमलेश्वर, आनंद-प्रकाश जैन, यादवेन्द्र शर्मा चंद्र, रजनी पनिकर, हिमांशु श्रीवास्तव, फणीश्वर-नाथ रेणु आदि उल्लेखनीय हैं।

संक्षेप में आज हिन्दी-उपन्यास-साहित्य निरन्तर विकसित होता जा रहा है। आज समाज में साहित्य के इस अङ्ग की अत्यधिक माँग है। दिन-प्रतिदिन अनेक नये उपन्यास और लेखक प्रकाश में आते जा रहे हैं। औपन्यासिक शैली तथा टैक्नीक में नये प्रयोग हो रहे हैं। इस प्रगति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि हिंदी उपन्यासों का भविष्य उज्ज्वल और महान् है।

इधर कुछ दिनों से हिन्दी में एक नए प्रकार के उपन्यास लिखे जाने प्रारम्भ हुए हैं जिन्हें आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। इनमें किसी अंचल विशेष के समग्र जीवन का चित्रण होता है। रेणु, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, उदयशंकर भट्ट आदि के कुछ आंचलिक उपन्यासों ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है।

९—कहानी : स्वरूप और विकास—

स्वरूप

कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति मानव में आदि काल से लेकर आज तक बराबर एकसी रही है। "फिर क्या हुआ ?" की भावना, सभ्य और असभ्य सभी जातिययों में समान रूप से पाई जाती है। जिन जातियों या भाषाओं का कोई साहित्य नहीं है उनमें भी दन्तकथाओं के रूप में कहानियों का प्रचलन है। बाल्यावस्था से ही मानव में कहानी सुनने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। बचपन में हम 'नानी की कहानी' सुना करते हैं जिनमें मुख्यरूप से "एक था राजा, एक थी रानी" की कथायें ही होती हैं। बड़े होने पर जैसे-जैसे हमारी जिज्ञासा और ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है वैसे-वैसे हमारी कहानियों के विषय भी बदलते जाते हैं। आज बालकों को शिक्षा देने का सबसे सुन्दर, रोचक और सरल माध्यम कहानी ही माना जाता है। आज कहानी हमारे साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय अंग है क्योंकि इसके द्वारा पाठकों को बहुत थोड़े समय में मनोरंजन और ज्ञान की एक साथ उपलब्धि होती है। इसी भावना को लेकर कहानी मानव के आदि-काल से लेकर, अनेक परिवर्त्तनों और परिवर्द्धनों को पार करती हुई, आज तक चली आ रही है। असाहित्यिक बोलियों में कुछ सीमा तक कहानी का वही पुरानी रूप प्रचलित है परंतु आज के साहित्य में उसका एक स्वतंत्र कला के रूप में विकास हो चुका है।

आज हमारे कथा-साहित्य के दो प्रमुख अंग है—कहानी और उपन्यास। इन दोनों में कुछ समानताएँ होने के कारण हिंदी के पूर्ववर्ती कुछ आलोचकों ने यह मत प्रकट किया था कि—"कहानी को कटा-छटा उपन्यास और उपन्यास को विस्तारपूर्वक कही गई कहानी कहा जा सकता है।" इसी बात को दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि एक ही चीज का कहानी लघु संस्करण है और उपन्यास वृहद् संस्करण। यहाँ तुलना का आधार केवल 'आकार' है। यदि हम इस कथन को प्रामाणिक मान लें तो तात्विक दृष्टि से इन दोनों में कोई अंतर नहीं रह जायगा। परंतु वास्तविकता इससे भिन्न है। आज कहानी और उपन्यास कला की दृष्टि से कुछ समानताएँ रखते हुए भी दो पूर्णतः भिन्न विधाएँ मानी जातीं हैं।

विभिन्न विद्वानों ने कहानी की एक परिभाषा निश्चित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु जब हम कहानी के विकास को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आज की कहानी हमारी बूढ़ी दादी और नानी की कहानियों की वंशज होती हुई भी उससे सर्वथा भिन्न अपना स्वतन्त्र विकास करने में समर्थ हुई है। जो वस्तु इतनी लचीली और परिवर्तनशील हो उसे परिभाषा के कठोर बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। इसी कारण कहानी की, विभिन्न विद्वानों द्वारा निश्चित की हुई विभिन्न परिभाषाएँ एक जागरूक पाठक को संतोष नहीं दे पातीं और न उनके द्वारा कहानी-कला से अपरिचित किसी सामान्य व्यक्ति को कहानी की समस्त विशेषताओं का सम्यक् ज्ञान ही कराया जा सकता है। नीचे दिये हुए उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

पाश्चात्य जगत में कहानियों के जन्मदाता एडगर एलन पो के शब्दों में कहानी—"रसोद्रेक करने वाला एक आख्यान है जो एक ही बैठक में पढ़ा जा सके।" दूसरे लब्ध प्रतिष्ठ कलाकार एच० जी० वेल्स का भी यही मत है कि—"कहानी तो बस वही है जो लगभग बीस मिनट में साहस और कल्पना के साथ पढ़ी जाय।" उक्त परिभाषाओं द्वारा केवल कहानी के आकार पर ही प्रकाश डाला गया है। इसी मत की पुष्टि करते हुए प्रसिद्ध आलोचक हडसन ने कहानी को उपन्यास का आने वाला रूप कह कर उपन्यास और कहानी के बीच विषय और शिल्पगत अभेदत्व स्थापित किया है। परंतु हमारे वयोवृद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"ऐसा कहना वैसा ही असङ्गत होगा होगा जैसा चौपाया होने की समानता के आधार पर मेढ़क को एक छोटा बैल और बैल को एक बड़ा मेढ़क कहना।" वस्तुस्थिति यह है कि कहानी और उपन्यास में आकार-प्रकार का भेद तो है ही, साथ ही उनकी विषयवस्तु, शिल्प और शैली में भी पर्याप्त अन्तर है। डाक्टर श्यामसुन्दरदास कहानी का विवेचन करते हुए कहते हैं कि "आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को रखकर लिखा गया नाटकीय आख्यान है।" परन्तु आधुनिक एकांकियों में भी एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव की ही अवतारणा की जाती है। इसलिए यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाय तो एकांकी और कहानी के बीच एक विभाजक-रेखा खींचना असम्भव हो जायगा। इस प्रकार अपने स्वरूप और लक्ष्य में आज की छोटी कहानी वैयक्तिक निबन्ध, शब्दचित्र और रिपोर्ताज से भी भिन्न है।

कहानी के स्वरूप का विवेचन करते हुए हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार प्रेमचंद ने लिखा था कि—"कहानी (गल्प) एक रचना है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का

उद्देश्य रहता है।......उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा बृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता। न उसमें उपन्यास की भाँति सभी रसों का सम्मिश्रण ही होता है। वह एक रमणीय उद्यान नहीं जिसमें भाँति-भाँति के फूल बेल बूटे सजे हुए हैं बल्कि एक ऐसा गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।" इस कथन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कहानी जीवन का एक खण्ड चित्र है जो सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या न कर केवल उसके एक घनीभूत क्षण (Frozen moment) को अनावृत्त कर हमारे सम्मुख रख देता है। अच्छी कहानी केवल जीवन के उन घनीभूत क्षणों को ही सामने रख कर लिखी जा सकती है। हमारे जीवन में सदैव घटनाएँ घटती रहती हैं परंतु हम प्रत्येक घटना को याद नहीं रखते। कुछ घटनाएँ ही ऐसी होती हैं जो हमारे ऊपर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाती हैं। जब ऐसी घटनाएँ कहानी के रूप में अपने सम्पूर्ण घनत्व के साथ पाठकों के सामने आती हैं तो पाठक उनसे अभिभूत हो उठता है। यही कहानी का सबसे बड़ा प्रभाव और सफलता है।

कहानी में मानसिक संघर्ष की प्रधानता रहती है क्योंकि अज्ञेय के शब्दों में—"कहानीकार एक प्रकार से मानसिक संघर्ष में जीता है। संघर्ष कला की जननी है।" इसलिये कहानीकार का संघर्षपूर्ण मानव-जीवन से निकट का परिचय होना आवश्यक है। साथ ही उसमें उन विशिष्ट संघर्ष पूर्ण क्षणों को पकड़ने की क्षमता भी होनी चाहिये अन्यथा उसकी कहानी प्रभावहीन और निष्पन्द हो जायगी। उसमें अपेक्षित तीव्रता और प्रभाव नहीं उत्पन्न हो सकेगा। वह उन संघर्ष पूर्ण विशिष्ट क्षणों को अपने पूर्ण घनत्व के साथ चरित्र और कथावस्तु के परिपार्श्व पर आधारित कर अत्यन्त प्रभावशाली बना देता है। इसलिए कहानी में चरित्र और कथावस्तु का इतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं होता जितना कि उस चरम बिन्दु—लक्ष्य का। कहानी की उपर्युक्त विशिष्टता को लक्ष्य कर आधुनिक अंग्रेजी आलोचकों ने कहानी को जीवन का 'स्नेपशॉट' (Snap Shot) माना है। दूसरे शब्दों में हम उसे जीवन का टुकड़ा भी कह सकते हैं और बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"वह टुकड़ा ऐसा होता है कि छिपकली की पूँछ की भाँति बिल्कुल सफाई से अलग हो जाता है", फिर भी उसमें प्राणों का स्पन्दन होता रहता है। उसमें सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बाहर से कोई घटना नहीं जोड़नी पड़ती। वह छोटी होते हुए भी किसी बड़े तथ्य का उद्घाटन करती है और जितना ही वह तथ्य व्यापक होता है उतनी ही कहानी उत्तम होती है। उस बड़े तथ्य के उद्घाटन में

कहानीकार का वैयक्तिक दृष्टिकोण प्रधान रहता है। इसी कारण उसकी तुलना गीतकाव्य से की जा सकती है क्योंकि कहानी में भी वैयक्तिक दृष्टिकोण की वही प्रधानता और वही तन्मयता होती है।

सर ह्यू बाल पोल के शब्दों में—"कहानी कहानी होनी चाहिये अर्थात् उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का लेखा-जोखा होना चाहिए और वह आकस्मिकता से पूर्ण हो। उसमें क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास हो जो कौतूहल द्वारा चरम विंदु और संतोषजनक अन्त तक ले जाय।" इस परिभाषा से सिद्ध होता है कि कहानी की सभी घटनाएँ एवं पात्र सार्थक होने चाहिए। साथ ही उसमें तीव्रता और कौतूहल भी हो। बाबू गुलाबराय की निम्नलिखित परिभाषा से कहानी का स्वरूप और उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाते हैं—"छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है। जिसमें एक दिन या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति केन्द्रित घटना या घटनाओं का आवश्यक परंतु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढङ्ग से उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहल पूर्ण वर्णन हो।" इस प्रकार कहानी एक ही निश्चित लक्ष्य की ओर उन्मुख होने के कारण उपन्यासों से भिन्न अपनी एक नई शैली बनाने में समर्थ हुई है। उपन्यासों से ही नहीं, पुरानी कहानियों से भी आधुनिक कहानी की शैली नितांत भिन्न हो गई है।

आज कहानी का आधार जीवन का कोई रहस्य, मनोवैज्ञानिक सत्य या जीवन के यथार्थ स्वभाव का चित्रण करना बन गया है। प्रेमचंद इस बात को जानते थे। उन्होंने कहा भी है—"वर्तमान आख्यायिका का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिल्कुल ही गौण है।.... कहानी एक घटना, मनः स्थिति या वाह्य परिस्थिति है जिसमें मनोवैज्ञानिक सत्य या मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्‌घाटन संभव हो।" आज का कहानी साहित्य अपने समष्टि रूप में इसी सत्य का उद्‌घाटन कर रहा है। आज के समाज में कथासाहित्य के अङ्गों में जितनी कहानी लोकप्रिय है उतना उपन्यास भी नहीं। इस अङ्ग की प्रभाव डालने की शक्ति अपरिमित है। इसलिए कहानीकारों को बहुत संभलकर इसका प्रयोग करना चाहिये। आचार्य शुक्ल कहानी के इसी प्रभाव का स्वीकार कर उथली कहानियां लिखने वाले कहानीकारों को सावधान करते हुये कहते हैं कि—"आख्यायिकाओं की बड़ी शक्ति है। वे समाज की प्रवृत्तियों को जहाँ अभिव्यक्त करती हैं, वहाँ उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकती हैं। इसलिए कहानी में नंगापन और फूहड़पन कहानी कला की कोई सेवा नहीं कर

सकता ।" कहानी द्वारा कुरुचि उत्पन्न करना, व्यक्ति, समाज, देश को बहुत बड़ी हानि पहुँचाना है । सस्ती भावुकता का चित्रण मन पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल पाता । जिस प्रकार शाश्वत साहित्य के निर्माण के लिए मानव-मन की चिरंतन और सार्वकालिक भावनाओं का आश्रय लेना आवश्यक है, उसी प्रकार उत्कृष्ट कहानी को भी मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर ही आधारित होना चाहिये । इन चिरन्तन भावनाओं की अभिव्यक्ति भी उच्च स्तर पर और उत्कृष्टतम शैली द्वारा होनी चाहिये । प्रेम एक चिरंतन भावना है । आधुनिक अधिकाँश कहानियों का मुख्य विषय प्रेम के विविध स्वरूपों का चित्रण करना बन गया है । "उसने कहा था" नामक कहानी में गुलेरीजी ने इसी भावना को अपना आधार बनाया है किंतु आज की प्रकाशित असंख्य कहानियों में से ऐसी कितनी हैं जो प्रभावोत्पादकता और कलात्मक उत्कृष्टता में उसकी सीमा को भी छू सकें । आज की अधिकाँश कहानियों में क्रम हीनता, चरित्र की अस्पष्टता, संवादों की अस्वाभाविकता, वातावरण के सृजन करने वाले वर्णन का अभाव, आकर्षक और प्रभाव शून्य आदि और अन्त, कहानी के मध्य में ही रहस्योद्घाटन, कल्पना की ऊँची उड़ान और प्रवाह रहित बोझिल भाषा आदि के भयंकर दोष भरे रहते हैं जिनके कारण कहानी नीरस और कलाशून्य बन जाती है ।

कहानी के उपर्युक्त विवेचन के साथ यह भी आवश्यक है कि उसके आकार पर भी एक दृष्टि डाल ली जाय । प्रारम्भिक विदेशी आलोचकों ने समय के अनुसार कहानी का आकार निर्धारित कर रखा था कि कहानी इतनी बड़ी होनी चाहिये, जो एक घण्टा या कम से कम बीस मिनट में समाप्त करली जाय । आधुनिक कुछ आलोचक जीवन की भीषण व्यस्तता को देख कर यह कह उठे हैं कि कहानी केवल पाँच मिनट में ही समाप्त हो जानी चाहिये । परंतु यथार्थ में कहानी के आकार की कोई निश्चित सीमा नहीं बाँधी जा सकती । हाँ, इतना अवश्य है कि कहानी का आकार बढ़ते-बढ़ते कहीं उपन्यास न बन जाय । ऐसा होने पर लेखक कहानी के प्राण—लक्ष्य या प्रभाव–से बहुत दूर जा सकता है और वहीं कहानी की कलात्मकता नष्ट हो जाती है । कहानी का प्राण उसका प्रभाव है । श्रेष्ठ कलाकार इस प्रभाव को कभी-कभी अत्यन्त संक्षेप में ही स्पष्ट कर जाते हैं । कहानी छोटी होते हुए भी श्रेष्ठ बन सकती है । संसार की सबसे छोटी कहानी केवल तीन वाक्यों में ही समाप्त हो गई है । वह इस प्रकार है—

"दो व्यक्ति रेलगाड़ी के पहले दर्जे के डिब्बे में बैठे यात्रा कर रहे थे । उनमें से एक ने दूसरे से पूछा—'तुमने प्रेत देखा है ?'

दूसरे ने कहा—'तुमने नहीं……?'—और गायब हो गया।"

तीन वाक्यों के इस लघु अवतरण में वही उत्सुकता, वही तीव्रता और घनत्व वर्तमान है जो कहानी की जान होती है। अतः कहानी के आकार पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता। परन्तु आज के अवकाश हीन अत्यन्त व्यस्त जीवन में यदि कहानी आकार में छोटी हो तो अच्छा है क्योंकि आज के मनुष्य के पास इतना अवकाश नहीं है कि वह लम्बे-लम्बे उपन्यास और भीमकाय महाकाव्य आद्योपान्त पढ़ सके। इसलिए आज उसके मनोरंजन, ज्ञान-वर्द्धन आदि के लिए छोटी कहानियाँ, एकांकी नाटक आदि ही मुख्य साधन बन सकते हैं।

तत्वों की दृष्टि से विद्वानों ने कहानी के छः प्रमुख तत्व माने हैं—१—कथावस्तु, २—चरित्र-चित्रण, ३—कथोपकथन, ४—देश काल तथा वातावरण, ५—वर्णन शैली, और ६—उद्देश्य। इन तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार से है—

कथानक—कथानक के विकास की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं—१—**प्रारम्भ**—कहानी का आरम्भ किसी पात्र के परिचय, वातावरण के वर्णन या दो पात्रों के कथोपकथन द्वारा होता है। इसका रोचक होना आवश्यक है। २—**आरोह**—इसमें पात्र की मानसिक अवस्था, स्थिति या भावना का विकास दिखाया जाता है। ३—**चरम स्थिति**—जहाँ पर कहानी की रोचकता अथवा सुन्दरता में क्षण भर में स्तब्धता आ जाती है और पाठक के हृदय में कम्पन होने लगता है। दुखान्त कहानियों में यह स्थिति अन्त में आती है। ४—**अवरोह** (पतन)—'आगे क्या हुआ' की जिज्ञासा या उत्सुकता का समाधान ही अवरोह है। ५—**अन्त या उपसंहार**—इसमें कहानी का परिणाम निहित रहता है। वातावरण, घटना और चरित्रों के पूर्ण विकास के अनन्तर कथानक का अन्त होता है। कुछ कहानियों में इस अवस्था पर आकर सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन कर दिया जाता है तथा कुछ में यह परिणाम अस्पष्ट रह कर पाठकों को मनन करने की सामग्री देता है। आजकल की कुछ कहानियों में कहीं-कहीं कथानक की समाप्ति चरमस्थिति या क्लाइमेक्स पर पहुँच कर हो जाती है। कथानक का चुनाव जीवन की किसी भी घटना से किया जा सकता है। हमारी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति के द्वारा नगण्य से नगण्य घटना भी उत्कृष्ट कथावस्तु का आधार बन सकती है।

२—**चरित्र चित्रण**—यह कहानी का महत्वपूर्ण अङ्ग है। पात्रों का चरित्र चित्रण लेखक की अनुभूति, जीवन सम्बन्धी ज्ञान एवं अनुभव और

उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर निर्भर करता है। पाठक के हृदय में पात्रों के प्रति सहानुभूति का उदय होना सफल चरित्र का प्रतीक है। पात्र यद्यपि लेखक की कल्पना की उपज होते हैं किंतु यदि उनका व्यक्तित्व स्वतन्त्र न होकर लेखक की हाथ की कठपुतली बन जाता है तो वे व्यर्थ हैं। उन्हें सफल पात्र नहीं माना जा सकता। पात्र के चारित्रिक विकास को स्पष्ट करने के लिये पात्र की वैयक्तिक, मानसिक परिस्थितियों का विवरण अवश्य होना चाहिए। चरित्र-चित्रण चार प्रकार से किया जाता है—१—वर्णन द्वारा, २—संकेत द्वारा, ३—वार्तालाप द्वारा, ४—घटनाओं द्वारा। चरित्र निरूपण में चार बातों का प्रमुख स्थान होता है–वास्तविकता, संक्षिप्तता, स्वाभाविकता और आंशिकता।

३—**कथोपकथन**—यह पात्रों के चरित्र-चित्रण में तो सहायक होता ही है साथ ही इसके द्वारा कहानी में रोचकता और सजीवता का भी समावेश हो जाता है। इससे चरित्र-चित्रण में बल मिलता है। इनके द्वारा ही हम पात्रों के दृष्टिकोण, आदर्श तथा उद्देश्य से परिचित हो सकते हैं। विशेष रूप से कथोपकथन कहानियों में तीन प्रकार की सहायता करता है—चरित्र चित्रण में, घटनाओं को गतिशील बनाने में तथा भाषा-शैली का निर्माण करने में। इसलिए भाषा की स्वाभाविकता के साथ साथ कथोपकथन स्थान, समय और परिस्थिति के अनुकूल होने चाहिए। क्योंकि ऐसा होने पर ही वह कहानी में प्रवाह, सजीवता और उत्सुकता उत्पन्न कर सकता है। इसके द्वारा मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का भी सुन्दर चित्रण होता है इसलिए वह जितना ही मनोभावों के अनुकूल होगा उतना ही उस कहानी की कलात्मकता और उत्कृष्टता में सहायक होगा। अधिक लम्बे, भावुकतापूर्ण और कवित्वमय कथोपकथन कहानी की स्वाभाविक गति को शिथिल बना देते हैं।

४—**देश, काल तथा वातावरण**—उपन्यास के समान कहानी में भी इनकी आवश्यकता होती है। देश, काल तथा वातावरण के चित्रण स्वाभाविक, आकर्षक, यथासम्भव पात्रों की मानसिक स्थिति के अनुकूल परन्तु छोटे होने चाहिए। ऐतिहासिक कहानियों में तो इनकी आवश्यकता और भी अधिक होती है। सामाजिक कहानियों में प्रवृत्ति विशेष के अनुसार उनसे सम्बन्धित आचार-विचार, रीति नीति का ध्यान रखना अनिवार्य है। भाव प्रधान कहानियों में प्रकृति का सचेतन और संवेदन शील चित्रण कर वातावरण का निर्माण किया जाता है।

५—**शैली**—इसका सम्बन्ध कहानी के सम्पूर्ण तत्वों से रहता है। इसलिए कहानी की वर्णन शैली सरल, सुबोध, सरस, प्रवाहपूर्ण और धारावाहिक

होनी चाहिए। सुन्दर शैली द्वारा ही लेखक गूढ़ से गूढ़ भावनाओं और सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में सफल होता है। लक्षणा, व्यंजना इत्यादि शब्द शक्तियाँ तथा अलङ्कार और मुहावरों द्वारा वर्णन शैली को उत्कृष्ट रूप दिया जा सकता है। हास्य, व्यंग्य, प्रवाह और चित्रोपमता शैली की अन्य विशेषताएं हैं। भाषा की सजीवता और शक्तिमत्ता कहानी में गति उत्पन्न कर देती है। अपनी संक्षिप्तता के कारण कहानी की शैली अधिक व्यंजना प्रधान होती है। उसकी गति अत्यन्त तीव्र होती है। कहानीकार के पास इतना समय नहीं कि वह ठहर कर प्रत्येक घटना और दृश्य का विस्तृत वर्णन दे सके। वह संक्षेप में बहुत कुछ कह जाता है। उसमें 'गागर में सागर' भरने की प्रवृत्ति होती है। कहानीकार की शैली को प्रत्यक्ष शैली कहा जा सकता है। वह शैली पाठक के अन्तरंग मित्र की सी होती है। वह घरेलू आदमी की तरह गपशप करता है। कहानियों के विषय के अनुरूप ही शैली में परिवर्तन होता रहता है। व्यंग्य प्रधान कहानियों की शैली व्यंग्यपूर्ण होती है और भावात्मक तथा वर्णनात्मक कहानियों में भावुकता और विवरण की प्रधानता रहती है।

कहानी की भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसमें सफल चित्र खड़े करने की सामर्थ्य हो और ओज और माधुर्य गुणों की अवस्थिति विषयानुकूल और रसानुकूल हो। भाषा के विषय का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ हिंदी-कहानी-साहित्य में चार प्रकार की भाषा शैलियाँ प्रचलित हैं।

१—शुद्ध संस्कृत गर्भित भाषा—प्रसाद जी इसके प्रतिनिधि हैं। इनके विदेशी पात्र भी शुद्ध साहित्यिक हिंदी बोलते हैं। भाषा-विषयक प्रसाद जी का कथन था कि—"भिन्न-भिन्न देश और वर्ग वालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग करने से रचनाओं को अजायब घर बनाना पड़ता है जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाता है और सामाजिकों के लिए भी इतनी भाषाओं से परिचय रखना असम्भव है।......अतएव भाषा विविधता के लिए तर्क न करना हितकर है, स्वरूप भिन्नत्व केवल वेशभूषा से ही व्यक्त कर देना चाहिए।" अपने सम्पूर्ण साहित्य में प्रसाद जी ने इसी विचारधारा का निर्वाह किया है।

२—दूसरी शैली के प्रतिनिधि प्रेमचंद हैं। आपकी भाषा सरल, सरस और पात्रानुकूल है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में आपने—"किसानों की बातचीत में असाधारण रूप से देहात के मुहावरों और शब्दों को अपनाया है जबकि शहर के मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं। उनकी भाषा जितनी

सरल और चमत्कार पूर्ण है उतनी ही वह जनता की भाषा में छिपे हुए वैचित्र्य और साहित्यिकता की गवाही देती है।"

३—तीसरी भाषा-शैली उग्र जी की फड़कीली लाक्षणिक शैली है। उनकी लोचदार भाषा पाठकों के हृदय में गढ़कर रह जाती है।

४—अज्ञेय और यशपाल की रोचक भाषा जो सरल से सरल और गहन से गहन भावों को मूर्त कर देने में पूर्ण सफल है।

आजकल कहानी लिखने की पाँच प्रणालियाँ या शैलियाँ हैं—आत्म चरित्र प्रणाली, ऐतिहासिक अथवा वर्णनात्मक प्रणाली, कथोपकथनात्मक प्रणाली, पत्रात्मक प्रणाली, डायरी प्रणाली।

५—**उद्देश्य**—कहानी का उद्देश्य साधारण रूप से मनोरंजन होता है; साथ ही उसमें जीवन सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या भी रहती है। संक्षेप में कहानी के उद्देश्य निम्नलिखित माने जा सकते हैं—(१)—किसी विशिष्ट प्रवृत्ति को जगा कर हृदय को संवेदन शील बनाना, (२) विचार या सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन और प्रचार करना, (३) सुन्दर भाव चित्रों द्वारा मनोरंजन करना। इसके अतिरिक्त कहानीकार का सबसे बड़ा उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह यथार्थ के सुरुचिपूर्ण सन्देश द्वारा उच्च आदर्श का अव्यक्त परन्तु स्पष्ट उपदेश दे सके। आज के युग की यही माँग है।

कहानी के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि—"एक तत्व, एक संवेदना, एकार्थी प्रेरणा, एक प्रयोजन, एक स्वरूप तथा एक प्रकार की सर्वत्र मनोहरता कहानी की विशेषता है।" (सद्गुरु शरण अवस्थी) कहानी में किसी भी सशक्त विचारधारा का प्रभाव या किसी भी वाद का समन्वय मिल सकता है परन्तु जहाँ उसे प्रचार भावना ने छू लिया वहीं उसकी कला मलिन हो जाती है। ऐसी स्थिति में चाहे टालसटाय हों चाहे प्रेमचन्द, सफल कहानी नहीं लिख सकते।

विकास

कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति मानव में आदिकाल से चली आ रही है। हमारा प्राचीन वाँगमय वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, महाभारत, रामायण आदि में अनेक कथाएँ बिखरी पड़ीं हैं। इसी प्रकार बौद्ध जातक, पंचतंत्र, हितोपदेश, वृहत् कथा, कथा सरित्सागर, बैताल पंचविंशतिका, शुक सप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशिका, दशकुमार चरित्र, आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अनेक प्रकार की कथाओं का संग्रह है। इसके उपरान्त ब्रजभाषा गद्य में 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में कदाचित हिन्दी की पहली गद्यमय कहानियाँ

लिखीं गईं। सं० १६६० के लगभग लिखे गए 'नासिकेतोपाख्यान' ग्रन्थ में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई कहानियाँ किसी अज्ञातनामा लेखक ने लिखी थीं। सम्वत् १७६७ में सूरति मिश्र ने संस्कृत के 'बैताल पंच विंशतिका' की कहानियाँ लेकर ब्रजभाषा में 'बैताल पच्चीसी' नामक कहानियों का ग्रन्थ लिखा। खड़ीबोली गद्य में लिखे गए लल्लूजीलाल, सदल मिश्र और इंशा अल्लाखाँ के ग्रन्थ भी एक प्रकार से विभिन्न कथाओं के संग्रह मात्र माने जा सकते हैं। अगर 'कहानी' शब्द मात्र से ही कहानी का अर्थ लिया जाय तो इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी की सर्व प्रथम मौलिक कहानी मानी जा सकती है। इन सभी कहानियों में एक विचित्र बात थी—उनकी सामाजिक तटस्थता तथा तत्कालीन परिस्थितियों से एक अजीब सा बिरस विलगाव। इनमें कथा को छोड़कर कहानी के तत्वों का पूर्ण अभाव था।

'रानी केनकी की कहानी' के निर्माण काल के आसपास ही लल्लूजीलाल ने 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पच्चीसी' का उर्दू से रूपान्तर किया। संवत् १८६८ में इन्होंने 'हितोपदेश' की कहानियों का ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया। परन्तु हिंदी के उपर्युक्त तीनों गद्य-प्रवर्त्तकों की रचनाओं का उद्देश्य भाषा का स्वरूप स्थिर करना था। इसी कारण वर्ण्य विषय की साहित्यिक उत्कृष्टता और उसके कलात्मक रूपों की अभिव्यंजना की ओर इनका ध्यान नहीं गया। इन तीनों लेखकों के उपरान्त ५० बर्ष तक गद्य साहित्य की विशिष्ट रचनाएँ नहीं होतीं। कहानियों का वास्तविक आरम्भ तो इनके प्रायः सौ वर्ष बाद होता है।

भारतेन्दु युग में यद्यपि 'कहानी कला' जैसी किसी वस्तु का प्रादुर्भाव चाहे भले ही न हो सका हो किन्तु लघु-कथानकों की वस्तु में आश्चर्यजनक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। राजा शिवप्रसाद लिखित 'राजा भोज का सपना', राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा', भारतेन्दु का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'मूषा पैगम्बर' आदि रचनाएँ अन्योक्ति पद्धति की सफल कहानियाँ थीं। परन्तु जिस अर्थ में बाद में कहानी को लिया गया उसमें इन कथाओं को भी शामिल नहीं किया जा सकता। इनमें चरित्र-चित्रण और कथोपकथन का अभाव था। यहाँ आकर केवल एक परिवर्तन यह दिखाई दिया कि लेखकों की पूर्व उल्लिखित सामाजिक तटस्थता भंग हो गई। प्राचीन उपदेशात्मक तथा गम्भीरतम रूपरेखा के स्थान पर स्वच्छन्द एवं तीखे व्यंग्य का जन्म हुआ। कथाएँ थीं तो यद्यपि यमलोक और स्वप्नलोक की परन्तु लेखक क्षण भर के लिए भी संसार के कटु यथार्थ से दूर नहीं हुआ। फिर भी गद्य की अन्य

विधाओं के समान हिन्दी कहानी को भारतेन्दु युग की उपज नहीं माना जा सकता ।

जिस प्रकार हिन्दी-उपन्यास रचना पर बँगला और अँग्रेजी का प्रभाव काम कर रहा था उसी प्रकार हिंदी कहानी भी इन दोनों भाषाओं से प्रभावित थी । हिंदी में सर्व प्रथम कहानी लाने का श्रेय एकमात्र 'सरस्वती' मासिक पत्रिका को ही है । इसी पत्रिका के माध्यम से हिंदी कहानी कला के आरम्भ के अविकल प्रयत्न और प्रयोग हुए जिनसे उसमें मौलिकता आई । सरस्वती के प्रथम अङ्क में किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी प्रकाशित हुई जिस पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' के इतिवृत्त की छाया थी । आचार्य शुक्ल ने 'इन्दुमती' (सम्वत् १९५७) को ही हिन्दी की सर्व प्रथम मौलिक कहानी माना है । यह कहानी गोस्वामीजी का मौलिक प्रयास था । गोस्वामीजी की दूसरी मौलिक कहानी 'गुलबहार' सम्वत् १९५९ में निकली । इस पर बँगला शैली का प्रभाव था । गिरिजाकुमार घोष ने 'पार्वती नन्दन' के नाम से बँगला की अनेक कहानियों का हिन्दी में भाषानुवाद किया । इसी समय (सं० १९७४) बंगमहिला नामक एक महिला ने कुछ मौलिक कहानियाँ लिखीं जिनमें 'दुलाई वाली' प्रसिद्ध है । प्रसंगानुकूल कथोपकथन, स्वाभाविकता और मार्मिकता के कारण इसे युग की अत्यन्त सफल कहानी कहा जा सकता है । इससे भी पहले भगवानदास 'प्लेग की चुड़ैल', पं० रामचन्द्र शुक्ल 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा गिरिजादत्त वाजपेयी 'पण्डित और पण्डितानी' नामक कहानियाँ लिख चुके थे । इनमें से मार्मिकता की दृष्टि से इन्दुमती, ग्यारह वर्ष का समय और दुलाई वाली कहानियाँ हिन्दी की पहली मौलिक और साहित्यिक कहानियाँ मानी जा सकती हैं । यह काल एक प्रकार से हिंदी कहानी का प्रयोगकाल था । इस काल से आगे हिन्दी कहानी की भावी प्रगति को हम तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं—प्रसादयुग, प्रेमचंद युग और प्रगतिवादी युग ।

प्रसाद युग—हिंदी-कहानी-कला के विकास की दृष्टि से 'इन्दु' द्वारा जयशंकरप्रसाद, 'सरस्वती' द्वारा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और 'हिंदी गल्पमाला' द्वारा इलाचन्द्र जोशी के अभ्युदय ने समष्टि रूप से एक नए और अपूर्व स्वस्थ युगद्वार को खोला । 'इन्दु' के प्रकाशन ने द्विवेदीकालीन एकरसता के अन्त का आभास दिया । रचनात्मक साहित्य के लिए यह पत्रिका अत्यन्त उर्वर प्रमाणित हुई । प्रसाद के इस क्षेत्र में आने से हिंदी कहानी का भाग्य चमक उठा । सन् १९११ में उन्होंने 'इन्दु' में अपनी 'ग्राम' नामक सर्वप्रथम मौलिक कहानी छपवाई । उस समय तक विकसित हिंदी कहानी को दृष्टि में रखते हुए इसकी

लिखीं गईं। सं० १६६० के लगभग लिखे गए 'नासिकेतोपाख्यान' ग्रन्थ में संस्कृत ग्रन्थों के ग्राधार पर लिखी गई कहानियाँ किसी ग्रज्ञातनामा लेखक ने लिखी थीं। सम्वत् १७६७ में सूरति मिश्र ने संस्कृत के 'बैताल पंच विंशतिका' की कहानियाँ लेकर ब्रजभाषा में 'बैताल पच्चीसी' नामक कहानियों का ग्रन्थ लिखा। खड़ीबोली गद्य में लिखे गए लल्लूजीलाल, सदल मिश्र ग्रौर इंशा ग्रल्लाखाँ के ग्रन्थ भी एक प्रकार से विभिन्न कथाग्रों के संग्रह मात्र माने जा सकते हैं। ग्रगर 'कहानी' शब्द मात्र से ही कहानी का ग्रर्थ लिया जाय तो इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी की सर्व प्रथम मौलिक कहानी मानी जा सकती है। इन सभी कहानियों में एक विचित्र बात थी—उनकी सामाजिक तटस्थता तथा तत्कालीन परिस्थितियों से एक ग्रजीब सा बिरस विलगाव। इनमें कथा को छोड़कर कहानी के तत्वों का पूर्ण ग्रभाव था।

'रानी केनकी की कहानी' के निर्माण काल के ग्रासपास ही लल्लूजीलाल ने 'सिंहासन बत्तीसी' ग्रौर 'बैताल पच्चीसी' का उर्दू से रूपान्तर किया। संवत् १८६८ में इन्होंने 'हितोपदेश' की कहानियों का ब्रजभाषा गद्य में ग्रनुवाद किया। परन्तु हिंदी के उपर्युक्त तीनों गद्य-प्रवर्त्तकों की रचनाग्रों का उद्देश्य भाषा का स्वरूप स्थिर करना था। इसी कारण वर्ण्य विषय की साहित्यिक उत्कृष्टता ग्रौर उसके कलात्मक रूपों की ग्रभिव्यंजना की ग्रोर इनका ध्यान नहीं गया। इन तीनों लेखकों के उपरान्त ५० बर्ष तक गद्य साहित्य की विशिष्ट रचनाएँ नहीं होतीं। कहानियों का वास्तविक ग्रारम्भ तो इनके प्राय: सौ वर्ष बाद होता है।

भारतेन्दु युग में यद्यपि 'कहानी कला' जैसी किसी वस्तु का प्रादुर्भाव चाहे भले ही न हो सका हो किन्तु लघु-कथानकों की वस्तु में ग्राश्चर्यजनक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। राजा शिवप्रसाद लिखित 'राजा भोज का सपना', राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा', भारतेन्दु का 'एक ग्रद्भुत ग्रपूर्व स्वप्न', 'मूषा पैगम्बर' ग्रादि रचनाएँ ग्रन्योक्ति पद्धति की सफल कहानियाँ थीं। परन्तु जिस ग्रर्थ में बाद में कहानी को लिया गया उसमें इन कथाग्रों को भी शामिल नहीं किया जा सकता। इनमें चरित्र-चित्रण ग्रौर कथोपकथन का ग्रभाव था। यहाँ ग्राकर केवल एक परिवर्तन यह दिखाई दिया कि लेखकों की पूर्व उल्लिखित सामाजिक तटस्थता भंग हो गई। प्राचीन उपदेशात्मक तथा गम्भीरतम रूपरेखा के स्थान पर स्वच्छन्द एवं तीखे व्यंग्य का जन्म हुग्रा। कथाएँ थीं तो यद्यपि यमलोक ग्रौर स्वप्नलोक की परन्तु लेखक क्षण भर के लिए भी संसार के कटु यथार्थ से दूर नहीं हुग्रा। फिर भी गद्य की ग्रन्य

विधाओं के समान हिन्दी कहानी को भारतेन्दु युग की उपज नहीं माना जा सकता ।

जिस प्रकार हिन्दी-उपन्यास रचना पर बँगला और अँग्रेजी का प्रभाव काम कर रहा था उसी प्रकार हिंदी कहानी भी इन दोनों भाषाओं से प्रभावित थी । हिंदी में सर्व प्रथम कहानी लाने का श्रेय एकमात्र 'सरस्वती' मासिक पत्रिका को ही है । इसी पत्रिका के माध्यम से हिंदी कहानी कला के आरम्भ के अविकल प्रयत्न और प्रयोग हुए जिनसे उसमें मौलिकता आई । सरस्वती के प्रथम अङ्क में किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी प्रकाशित हुई जिस पर शेक्सपियर के 'टैम्पेस्ट' के इतिवृत्त की छाया थी । आचार्य शुक्ल ने 'इन्दुमती' (सम्वत् १६५७) को ही हिन्दी की सर्व प्रथम मौलिक कहानी माना है । यह कहानी गोस्वामीजी का मौलिक प्रयास था । गोस्वामीजी की दूसरी मौलिक कहानी 'गुलबहार' सम्वत् १६५६ में निकली । इस पर बँगला शैली का प्रभाव था । गिरिजाकुमार घोष ने 'पार्वती नन्दन' के नाम से बँगला की अनेक कहानियों का हिन्दी में भाषानुवाद किया । इसी समय (सं० १६७४) बंगमहिला नामक एक महिला ने कुछ मौलिक कहानियाँ लिखीं जिनमें 'दुलाई वाली' प्रसिद्ध है । प्रसंगानुकूल कथोपकथन, स्वाभाविकता और मार्मिकता के कारण इसे युग की अत्यन्त सफल कहानी कहा जा सकता है । इससे भी पहले भगवानदास 'प्लेग की चुड़ैल', पं० रामचन्द्र शुक्ल 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा गिरिजादत्त वाजपेयी 'पण्डित और पण्डितानी' नामक कहानियाँ लिख चुके थे । इनमें से मार्मिकता की दृष्टि से इन्दुमती, ग्यारह वर्ष का समय और दुलाई वाली कहानियाँ हिन्दी की पहली मौलिक और साहित्यिक कहानियाँ मानी जा सकती हैं । यह काल एक प्रकार से हिंदी कहानी का प्रयोगकाल था । इस काल से आगे हिन्दी कहानी की भावी प्रगति को हम तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं—प्रसादयुग, प्रेमचंद युग और प्रगतिवादी युग ।

प्रसाद युग—हिंदी-कहानी-कला के विकास की दृष्टि से 'इन्दु' द्वारा जयशंकरप्रसाद, 'सरस्वती' द्वारा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और 'हिंदी गल्पमाला' द्वारा इलाचन्द्र जोशी के अभ्युदय ने समष्टि रूप से एक नए और अपूर्व स्वस्थ युग-द्वार को खोला । 'इन्दु' के प्रकाशन ने द्विवेदीकालीन एकरसता के अन्त का आभास दिया । रचनात्मक साहित्य के लिए यह पत्रिका अत्यन्त उर्वर प्रमाणित हुई । प्रसाद के इस क्षेत्र में आने से हिंदी कहानी का भाग्य चमक उठा । सन् १६११ में उन्होंने 'इन्दु' में अपनी 'ग्राम' नामक सर्वप्रथम मौलिक कहानी छपवाई । उस समय तक विकसित हिंदी कहानी को दृष्टि में रखते हुए इसकी

सम्भावनाएँ काफी आशाप्रद थीं। उनकी 'तानसेन', 'रसिया बालम', आदि कहानियों पर बंगला का प्रभाव था। इसके उपरान्त उनकी अनेकानेक उच्च-कोटि की कहानियाँ प्रकाशित हुईं जिनमें छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी, बिसाती, इन्द्रजाल, मधुवा, पुरस्कार, स्वर्ग के खण्डहर आदि हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधियाँ मानी गई हैं। उनकी अधिकाँश कहानियाँ ऐतिहासिक हैं या सामाजिक होते हुए भी ऐतिहासिक शृङ्गार में डूबी हुई हैं। उनमें कौतूहल की प्रधानता है। इन कहानियों की ओजपूर्ण संस्कृतनिष्ठ शैली उचित वातावरण उत्पन्न कर उसके प्रभाव को अत्यधिक घनीभूत बना देती है। अन्तर्द्वन्द्व और भावानुकूल प्रकृति का चित्रण इनकी विशेषता है। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि के कलात्मक रूप ने इनकी कहानियों में अपूर्व नाटकीय रमणीयता का समावेश कर दिया है। इन कहानियों में भावुकता का प्राधान्य है। हास्यरस सम्राट जी० पी० श्रीवास्तव ने अपनी हास्यरस पूर्ण कहानियाँ इसी समय लिखनी प्रारम्भ कीं। इनकी सर्वप्रथम कहानी 'पिकनिक' 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह की 'कानों में कंगना' नामक कहानी भी अत्यन्त लोकप्रिय हुई। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की पहली कहानी 'रक्षाबन्धन' सन् १९१३ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इस काल के अन्य कहानी-लेखकों में ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री, विश्वम्भरनाथ जिज्जा आदि का नाम उल्लेखनीय है। कौशिकजी की कहानियों में पारिवारिक जीवन का अध्ययन, निरीक्षण और मनन अत्यन्त सूक्ष्म और गंभीर है। उनकी 'ताई' हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों में मानी जाती है। सन् १९१५ में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की दूसरी कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई। इससे पूर्व वे 'सुखमय जीवन' नामक एक और कहानी लिख चुके थे। 'उसने कहा था' लहनासिंह की आत्मार्पण की करुण कहानी, पवित्र प्रेम के लिए किए गए निस्वार्थ बलिदान की कहानी है। अपने सहज पुलकित रसोद्रेक के कारण ही यह हिंदी कहानी साहित्य का 'माइल स्टोन' बन सकी। 'उसने कहा था' के साथ हिन्दी कहानी ने अपने विकास की मंजिल शुरू की। शुक्लजी इसे हिंदी की सर्व श्रेष्ठ कहानी स्वीकार करते हुए कहते हैं कि— "इसमें यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है।......इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।" इसी एक कहानी ने गुलेरीजी को अमर बना दिया है। हिंदी की यही सबसे पहली सर्वाङ्गपूर्ण यथार्थवादी कहानी है जो कला की प्रत्येक कसौटी पर पूर्णरूप से खरी उतरती है।

प्रसाद युग में कहानी की कई शैलियाँ सामने आईं। इस काल में प्रधान

रूप से चार प्रकार की कहानियाँ लिखी गईं। १—प्रसाद और राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की आदर्शवादी भावुकतापूर्ण कहानियां, २—कौशिक और ज्वालादत्त शर्मा की घटनापूर्ण पारिवारिक कहानियाँ, ३—गुलेरी और चतुरसेन शास्त्री की यथार्थवादी कहानियाँ, ४—जिजा और जी० पी० श्रीवास्तव की हास्यरसपूर्ण कहानियां। प्रेमचन्द भी इस युग के अन्तिम चरण में कहानियाँ लिखने लगे थे। इस प्रकार प्रसाद, गुलेरी और प्रेमचन्द का अभ्युदय, हिन्दी-कहानी कला की अनन्त साधना, जो पिछले पचास वर्षों से की जा रही थी, के फलस्वरूप था। प्रेमचन्द और प्रसाद, इन दो महान् कथा-शिल्पियों से दो पृथक और अनन्य कला-संस्थानों के निर्माण हुए, जिनके अन्तर्गत हिन्दी के अनेकानेक विकासयुगीन कहानीकारों ने अपनी अमूल्य कलाकृतियाँ दीं।

प्रेमचन्द युग—प्रसाद युग के अन्त तक आते-आते इस बात की काफी सम्भावना थी कि हिन्दी कहानी अपने सामने फैले हुए विस्तृत मार्गों में से कोई सरल और हल्का मार्ग चुनकर आगे बढ़ती। उसके सामने भावुकता, रहस्य-रोमांच, दर्शन आदि अनेक तरह के विकल्प आ चुके थे। हृदयेश की अपार भावुकता से लेकर गहमरी की जासूसी कहानियों तक में से कोई भी मार्ग चुना जा सकता था। उस समय बहुत कम कलाकार ऐसे थे जो कहानी कला की सम्भावनाओं के विषय में काफी दूर तक सोचते थे। इसी समय एक नये विश्वास के साथ प्रेमचन्द ने कहानी को अपनी विचारधारा के प्रकटीकरण का माध्यम चुना। उन्होंने उसे एक साधारण सी शैली की सीमा से ऊपर उठा कर जीवन के संघर्षों को व्यक्त करने के लिए एक प्रभावशाली अस्त्र बनाया। कहानी की सामाजिक उपयोगिता का उद्देश्य उभर कर सामने आने से सभी विकल्प मिट गए।

प्रेमचन्द का प्रादुर्भाव हिन्दी-कहानी-साहित्य की सबसे अभूतपूर्व घटना थी। सामयिक सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करने वाली प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रकाश में आईं। प्रेमचन्द से पूर्व हमारा कहानी-साहित्य दूसरे साहित्यों के ऋण से अपना काम चला रहा था। प्रेमचन्द ने आकर उसे स्वावलम्बी बनाया। उन्होंने विभिन्न साहित्यों की टेकनीक का अध्ययन कर स्वयं अपनी कहानी कला की टेकनीक बनाई और उसे चरम विकास दिया। वे जनता के लेखक थे। अपनी कहानियों द्वारा उन्होंने सहस्रों मूक और दीन किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व किया जो पहले साहित्य में अछूत माने जाते थे। इनकी कहानियाँ प्रायः घटना प्रधान हैं। इनका सांसारिक जीवन का ज्ञान अत्यन्त विस्तृत और सूक्ष्म था। इसी से वे अपनी कहानियों में हमारी सामयिक राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं का सफल चित्रण करने में समर्थ

हो सके । 'कामना तरु', 'आत्माराम' और 'शतरंज के खिलाड़ी' इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ मानी जाती हैं ।

"प्रेमचन्द यथार्थवादी परम्परा के कर्णधार हैं, अतएव इनकी कहानी-कला में समस्त शिल्पगत प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, जो वस्तुतः कहानी कला की आधार शिलाएँ हैं ।...इनके शिल्प विधान में कथानक, चरित्र और शैली तीनों में आश्चर्यजनक सुगमता और कला का सहज आकर्षण मिलता है ।" इस दृष्टि से ये कहानियाँ हिन्दी साहित्य में सर्वोत्कृष्ट मानी जाती हैं । वे कला और विषय की दृष्टि से विश्व की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक कहानियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं ।

प्रेमचन्द के समय में ही उत्साही नवयुवकों का एक दल कथा-साहित्य के गगन में उज्ज्वल नक्षत्रों के समान प्रदीप्त हो उठा था । इनमें सुदर्शन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, नवीन, हृदयेश, उग्र, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, विनोदशङ्कर व्यास, निराला, इलाचन्द्र जोशी आदि उल्लेखनीय हैं । सुदर्शन एक प्रकार से प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी माने जा सकते हैं । बख्शी जी ने कुछ भावात्मक कहानियाँ लिख कर इस क्षेत्र को त्याग दिया । हृदयेश की कवित्वपूर्ण कहानियाँ भी इसी युग में लिखी गई । इस युग के प्रायः सभी उपन्यासकारों ने कहानियाँ लिखी हैं । कुछ कवियों ने भी कहानियाँ लिखीं हैं जैसे पन्त, निराला, महादेवी, भगवती चरण वर्मा आदि ।

प्रगतिवादी युग—प्रेमचन्द-युग के कहानीकारों से थोड़ी अलग हटकर एक नई पीढ़ी ऐसी उठ रही थी जिसने मनोविश्लेषण को अपनी कहानियों का आधार बनाया । इलाचन्द्र जोशी इसका प्रारम्भ अपने उपन्यासों में पहले ही कर चुके थे पर कहानी के क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिल सकी । उनकी अधिकाँश कहानियाँ 'डायरी के पन्ने' बनकर ही रह गई । उनके पश्चात् अज्ञेय ने इस धारा को सफलता पूर्वक आगे बढ़ाया । उनकी पगोडा, अकलङ्क, शत्रु, रोज, शरणार्थी आदि कहानियों में शैली की एक नई ताजगी दिखाई दी । अज्ञेय तथा 'प्रतीक' (मासिक पत्रिका) के साथ कवियों एवं लेखकों का एक नया मण्डल उठा जिसने काफी विश्वास के साथ मनोविश्लेषण के क्षेत्र में नए प्रयोग किए । 'पहाड़ी' तथा 'अश्क' की आरम्भिक रचनाओं में उनकी रोमानी प्रवृति काफी उभर कर सामने आई । इनके अतिरिक्त शम्भूनाथसिंह, श्रीराम शर्मा, देवीदयाल चतुर्वेदी, आरसीप्रसादसिंह, बलवन्त सिंह आदि ने इस दिशा में अच्छा प्रयास किया । इन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, युद्धजनीन प्रभावों से

काफी हद तक अपनी कला को अप्रभावित रखा परन्तु ये लोग प्रेमचन्द की विशेषता की रक्षा करने में असमर्थ रहे।

इसी समय अन्य लेखकों का एक दूसरा वर्ग सामने आया जिसने न केवल सामाजिक तथा राजनीतिक संघर्षों का उचित निराकरण किया है अपितु एक नवीन दृष्टिकोण के बल पर समाज के स्तर-भेद करके छोटे से छोटे सम्बन्धों का निराकरण प्रस्तुत किया है। स्त्री-पुरुष, प्रेम, वासना, जातिगत, धर्मगत रूढ़ियाँ, धारणायें सबको नई कसौटी पर कस कर निर्णय देने के ये विश्वासी रहे हैं। इन पर मार्क्सीय विचारधारा का प्रभाव रहा है। इन नवीन कलाकारों में यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, कृष्णदास, अमृतलाल नागर, ख्वाजा अहमद अब्बास, राजेन्द्र यादव, प्रभाकर माचवे, अमृतराय, नरेन्द्र शर्मा, विष्णु प्रभाकर आदि उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द के बाद यशपाल ने साहित्य के इस अङ्ग की समृद्धि में सर्वाधिक योग दिया है। प्रेमचन्द का 'हँस' (मासिक पत्रिका) इस नवीन मण्डल का केन्द्र रहा था। राहुल, भगवतशरण ने ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। विचार प्रधान कहानी लेखकों में सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, कन्हैयालाल मिश्र, चन्दकिरण सौनरिक्सा, रावी आदि उल्लेखनीय हैं। रावी अपने ढङ्ग की विचित्र लघु-कथाएँ लिख रहे हैं जो प्रायः उपदेश प्रधान रहती हैं। बिहार प्रान्त में रामवृक्ष बेनीपुरी तथा नलिन विलोचन शर्मा ने कहानी लिखने का नवीन प्रयोग किया है। देवेन्द्र सत्यार्थी के भी कई सुन्दर कहानी संग्रह सामने आए हैं। इधर तरुण कहानीकारों की एक नई पीढ़ी और सामने आई है जिनकी कहानियों में नवीन टेक्नीक, नई आशा, नए क्षेत्र और नई सम्भावनाएँ हैं। विषय और कला की दृष्टि से इन कलाकारों में निश्चित रूप से ऐसी प्रतिभा मिलती है जिससे हिन्दी कहानी का भविष्य अत्यन्त आशाप्रद दिखाई पड़ता है। इनमें मोहन राकेश, कमलेश्वर, आनन्द प्रकाश जैन, मार्कण्डेय, मन्नू भंडारी, रमेश वक्षी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आज कहानी क्षेत्र में कुछ महिलाएं भी अपनी लेखनी का उपयोग कर रही हैं। इनमें तेजरानी पाठक, कमला चौधरी, होमवती, सत्यवती मलिक, प्रसिद्ध हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' द्वारा महादेवी वर्मा ने कथा-साहित्य को कुछ नए सुन्दर रेखाचित्र दिए हैं। इनके अतिरिक्त आजकल पाश्चात्य श्रेष्ठ कहानीकारों की कहानियों का भी अनुवाद किया जा रहा है। सन्तोष गार्गी, कान्तिचन्द सौनरिक्सा ने मोपासा, टालसटाय, चेखव, पर्लबक आदि की सुन्दर कहानियों के अनुवाद किये हैं। इधर गोर्की, कुप्रिन आदि की श्रेष्ठ कहानियों के अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। रूसी कहानी साहित्य की

चुनी हुई श्रेष्ठ कहानियों के संग्रह भी प्रकाश में आए हैं जिन्होंने हिन्दी के नवीन कहानीकारों को काफी प्रभावित किया है। समष्टि रूप से हिन्दी कहानियों ने कला के अनेक विधानों के साथ सामयिक जीवन, इतिहास एवं संस्कृति के अनेक अङ्गों का स्पर्श किया है। बंगाल के अकाल, कलकत्ते और पंजाब के जन-संहार, युद्ध-कालीन एवं युद्धोत्तर कालीन अव्यवस्था, मध्य वित्तों के आर्थिक और नैतिक संघर्ष, स्वतन्त्रता आदि का चित्रण इन कहानियों में हुआ है। कहानियों की बीसियों सस्ती मासिक पत्रिकाएं निकल रही हैं। इनका दृष्टिकोण केवल व्यवसाय है। नई परिस्थिति के कारण कहानी लेखकों की बाढ़ सी आ गई है। उसके व्यावसायिक रूप का विकास हो रहा है। परन्तु लोकप्रिय कहानियाँ प्रेम, सेक्स समस्याओं और जीवन के छोटे-मोटे चित्रों तक ही सीमित हैं।

प्रसिद्ध आलोचक ठाकुरप्रसादसिंह ने कहानी साहित्य का सिंहावलोकन करने के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष दिया है—"हिंदी के कथा साहित्य ने बड़ी ही तन्मयता से अपना कार्य पूरा किया है, उत्तरदायित्व का ज्ञान उसे अपेक्षाकृत और शैलियों से अधिक रहा है। यद्यपि प्रेमचन्द सा कोई व्यक्तित्व इस बीच नहीं हुआ, किन्तु समस्याओं का निराकरण बड़ी ही शक्ति से किया गया है। आज आवश्यकता है कि समाज-शक्ति इस वर्तमान कुण्ठा का स्थान शीघ्र से शीघ्र ले। जीवन की व्याख्या के नये मूल्यों के प्रति विश्वास की भावना और दृढ़ होने से यह सम्भव हो सकेगा।"

—:०:—

१०—निबन्ध : स्वरूप और विकास

स्वरूप

निबन्ध का विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा था कि—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।" शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन से यह प्रमाणित होता है कि गद्य का पूर्ण विकसित और शक्तिशाली रूप निबन्ध में ही चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है इसलिए भाषा की दृष्टि से निबन्ध गद्य-साहित्य का सबसे अधिक परिपक्व और उन्नततम रूप है। अन्य गद्य रूपों में भाषा केवल माध्यम न होकर साध्य का एक अंग बन जाती है। साधारण लेख तथा निबन्ध में पर्याप्त अन्तर होता है। साधारण लेख में लेखक का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रहता है और निबन्ध में यह व्यक्तित्व सबसे ऊपर उभर कर सामने आता है। यह वैयक्तिकता निबन्ध का सबसे प्रधान और महत्वशाली गुण है। केवल एक इसी गुण द्वारा हम साधारण लेख से निबन्ध को अलग करने में सफल हो जाते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन काल से बौद्धिक तथा तार्किक विषयों की विवेचना के लिए निबन्ध का आश्रय ग्रहण किया जाता रहा है, किन्तु अपने उस रूप में वे आधुनिक निबन्ध की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आ पाते। आजकल हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विभिन्न आलोचनात्मक लेखों में से बहुत कम ऐसे होते हैं जिन्हें शुद्ध निबंध माना जा सके क्योंकि उनमें न लेखक की वैयक्तिक शैली का प्रकाशन होता है, न लेखक का व्यक्तित्व ही उभर पाता है और न उसमें रसात्मकता ही होती है।

साहित्य-रूप की दृष्टि से निबन्ध सबसे अधिक आधुनिक रूप है। हिन्दी साहित्य में काव्य, नाटक, कथा-साहित्य आदि की पूर्व-परम्परा विकसित, अर्द्ध-विकसित अथवा केवल अभिप्राय की दृष्टि से अवश्य मिलती है। यहाँ तक कि एकांकियों का पूर्व रूप भी हमारे संस्कृत साहित्य में किसी न किसी रूप में प्राप्त हो ही जाता है। परन्तु निबन्ध ही साहित्य का एक ऐसा अंग है, जिसके पूर्व रूप के दर्शन हमें हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में ढूंढ़ने से भी, भारतेन्दु युग से पूर्व, कहीं भी नहीं होते। जब हमारे यहाँ पहले गद्य ही नहीं था तो उसका उत्कृष्टतम रूप निबन्ध कहाँ से मिलता।

संस्कृत में 'निबन्ध' शब्द का अर्थ है 'बाँधना' अर्थात् निबंध वह है जिसमें विशेषरूप से बंध या संगठन हो तथा जिसमें अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण या ग्रन्थन हो। 'हिंदी-शब्द-सागर' में इस शब्द का अर्थ है—"बन्धन वह व्याख्या है, जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो।" परन्तु आज का 'निबंध' अपने पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द 'ऐसे' (Essay) के अर्थ में ही ग्रहण किया जाता है जिसका अर्थ है 'प्रयत्न'। 'ऐसे' शब्द की उद्भावना फ्रांस के मौनटेन नामक सज्जन द्वारा हुई थी जो आधुनिक निबंध-साहित्य का जनक माना जाता है। उसका कहना था कि "मेरी इस प्रकार की रचना साहित्य की एक विशिष्ट नूतन पद्धति के सम्बन्ध में प्रयास मात्र है।" यह प्रयत्न 'प्रयास मात्र' होने के कारण मौनटेन की रचनाओं में विशृङ्खलता है। उनमें व्यक्त विभिन्न विचारों में सम्बद्धता नहीं है। परन्तु मौनटेन ने निबन्ध की सबसे बड़ी विशेषता 'वैयक्तिता' को प्रधानता देकर अपने निबन्ध लिखे थे। उसने स्पष्ट लिखा था कि—"यह मेरी अपनी भावनाएँ हैं; इसके द्वारा किसी नवीन सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता, इनके द्वारा मैं अपने आपको पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ।" प्रारम्भ में निबंध में गम्भीरता या तर्कपूर्ण विवेचन का कोई स्थान नहीं माना जाता था। प्रसिद्ध अंग्रेजी समालोचक डा० जानसन के शब्दों में "निबंध मन की उस शिथिल तरंग का नाम है जो अनियमित और अपरिपक्व है तथा जिसमें क्रम-बद्धता नहीं होती।" यह परिभाषा निबंध के सम्पूर्ण महत्व को गौण बना देती है। अगर केवल क्रमबद्धता न हो तो माना जा सकता है परन्तु बुद्धि के अजीर्ण को उसमें कैसे स्वीकार किया जा सकता है। एक अन्य विद्वान् ने निबंध को—"किसी मजेदार और बहुश्रुत व्यक्ति के भोजनोत्तर एकान्त सम्भाषण" की संज्ञा दी है। इसी के आधार पर किसी ने निबंध को—"हँसी-हंसी में ज्ञान वितरण करने वाला" कहा है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में–"निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सभ्यता के साथ किया गया हो।"

प्रारम्भ में जब निबंध लेखन आरम्भ हुआ तो उसके विषय में आम धारणा यह थी कि उसमें लेखक को अपना व्यक्तित्व नहीं प्रदर्शित करना चाहिए। इसी कारण उस समय निबन्धों में उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग वर्जित माना जाता था। हास्य अथवा व्यंग को भी तब कोई महत्वपूर्ण स्थान निबन्ध में नहीं दिया जाता था। परन्तु कालान्तर में यह धारणा बदल गई। स्वाभाविकता के साथ अपने भावों को प्रकट कर देना ही, जिसमें दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह लेखक का व्यक्तित्व झलक उठे, सच्चे निबंध का लक्षण समझा गया। जिस

निबन्ध में वर्ण्य-विषय तो हो परन्तु व्यक्ति नदारद हो उसे सच्चा निबन्ध नहीं माना जा सकता। सच्चे और सुन्दर निबन्ध में वर्ण्य-विषय का प्रस्फुटन इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि निबन्ध-लेखक के व्यक्तित्व का प्रस्फुटन। लेखक का व्यक्तित्व जितना ही आकर्षक होगा उतना ही वह हमें अधिक प्रभावित करेगा। लेखक का विषय पर अधिकार होता है न कि विषय का लेखक पर। निबन्ध लेखन के लिये यह आवश्यक नहीं कि विषय महत्वपूर्ण ही हो। विश्व की तुच्छ से तुच्छ वस्तु निबन्ध का विषय बन सकती है। लेखक के व्यक्तित्व के स्पर्शमात्र से स्पन्दित होकर वह महत्वपूर्ण बन जाती है। निबन्ध लेखक किसी भी प्रकार के विषय को मानकर नहीं चलता परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी कृति विश्रृङ्खलित और निरर्थक वस्तु है। मौनटेन अपने निबन्धों में विषयान्तर सा करता जाता है किन्तु अन्त में वह सूत्र को इस प्रकार घुमाता है कि विषयांतर नहीं रह जाता। उसमें भी एक प्रकार की कलात्मक संपूर्णता आ जाती है। अच्छे और सुन्दर निबन्ध लिखने के लिए पाँच चीज़ों की आवश्यकता है—१—लेखक का व्यक्तित्व आकर्षक हो; २—उसका हृदय संवेदनशील हो; ३—सूक्ष्म-निरीक्षण की उसमें असाधारण शक्ति हो; ४—जीवन की विशद् अनुभूति हो; ५—मनुष्यों तथा समाज के रीति-रिवाजों से उसका सजीव परिचय हो।

बाबू गुलाबराय के मतानुसार निम्नलिखित बातें प्रायः सभी निबन्धों में पाई जाती हैं।

(१) निबन्ध अपेक्षाकृत आकार में छोटी गद्य रचना के रूप में होता है। अधिकाँश निबन्ध गद्य में ही लिखे जाते हैं परन्तु कुछ निबन्ध पद्य में भी लिखे गये हैं, जैसे Pope's essay on man और महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'हे कविते' नामक निबन्ध। निबन्ध के आकार की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। वह बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी।

(२) निबन्ध में लेखक के निजीपन और व्यक्तित्व की झलक होती है। साहित्य की अन्य विधाओं में लेखक का व्यक्तित्व कुछ अंशों तक ओझल रह सकता है किंतु निबन्ध में नहीं। कारण यह है निबन्ध में लेखक जो कुछ लिखता है उसको अपने निजीपन के रूप अथवा अपने विशेष दृष्टिकोण से लिखता है। उसमें उसके व्यक्तिगत अनुभव रहते हैं।

(३) निबन्ध में अपूर्णता और स्वच्छन्दता के रहते हुए भी वह स्वतः पूर्ण होता है। उसे कुछ अंशों में गद्य का मुक्तक काव्य भी कह सकते हैं जिसमें प्रगीत काव्य का सा निजीपन और तन्मयता रहती है। जिस प्रकार कहानी जीवन के अङ्ग की झाँकी है उसी प्रकार निबन्ध भी जीवन का एक दृष्टिकोण

हैं। वह जीवन की एक नई झलक लेकर आता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह विषय का पूर्ण प्रतिपादन ही करे। वह अपनी रुचि के अनुसार विषय का कोई एक अंश चुन लेता है।

(५) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है। वह केवल वर्णनमात्र न होकर लेखक की प्रतिभा की चमक-दमक से पूर्ण होता है। यहाँ तक कि दार्शनिक या सैद्धान्तिक निबन्ध दर्शन और सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक सजीव होता है। उसमें उत्तम शैली का उभार लाने के लिए ध्वनि, हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिकता और कुछ अलङ्कारों का प्रयोग भी होता है। वह अपनी प्रतिभा से सामान्य विषय को भी असामान्य और नगण्य को महान् बना देता है।

निबन्ध को हम गद्य में अभिव्यक्त एक प्रकार का 'स्वगत भाषण' भी कह सकते हैं। उसमें लेखक का व्यक्तित्व प्रधान होने के कारण ऐसे निबन्धों को साहित्य के अन्तर्गत गृहीत नहीं किया जा सकता जिनमें दार्शनिक वाद-विवाद, विधान अथवा राजनीति का ऐसा विवेचन किया गया हो कि उसमें लेखक का व्यक्तित्व प्रतिफलित नहीं हो सका हो। इसलिए आत्म निवेदन अथवा निजी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में ही निबन्ध-कला का चरम उत्कर्ष माना गया है। इसमें लेखक को अपनी वैयक्तिक प्रतिभा के प्रकाशन का पूर्ण अवसर मिलता है। उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर 'साहित्य-विवेचन' के लेखक द्वय ने निबन्ध की निम्नलिखित परिभाषा निर्धारित की है—"निबंध गद्य-काव्य की वह विधा है जिसमें लेखक एक सीमित आकार में इस विविध रूप-जगत के प्रति अपनी भावात्मक तथा विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करता है।"

विषय की दृष्टि से निबंधों की कोई सीमा नहीं निश्चित की जा सकती। हम पहले कह आए हैं कि विश्व की तुच्छ से तुच्छ वस्तु निबन्ध का विषय बन सकती है। प्रत्येक वस्तु, भाव और क्रिया निबंध का विषय बनाई जा सकती है। हिंदी में विषयों की विविधता के लिए भारतेन्दु युग सबसे आगे है। द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण होने के कारण विषयों में वह मनमौजीपन, आकर्षण और विविधता नहीं मिलती जो भारतेन्दु युग में थी। यहाँ विविध विषयों पर लिखे गए निबंधों की तालिका देने से निबंध का आकार अत्यन्त विस्तृत और उबा देने वाला हो जायगा। इसलिए पाठकगण इतने से ही संतोष कर लें कि उनके छींकने और खाँसने तक पर निबंध लिखे गये हैं और लिखे जा सकते हैं। इसी विषय-बिभिन्नता को दृष्टि में रख कर विद्वानों ने निबंधों को चार वर्गों में बाँट दिया है- —

(१) वर्णनात्मक निबंध (Descriptive essays)

(२) विवरणात्मक निबन्ध (Narrative essays)

(३) विचारात्मक निबंध (Reflective essays) इन्हें 'विवेचनात्मक' भी कह सकते हैं।

(४) भावात्मक निबंध (Emotional essays)

उपर्युक्त चारों वर्गों में से वर्णनात्मक का सम्बन्ध अधिकतर देश से, विवरणात्मक का काल से, विचारात्मक का तर्क (मस्तिष्क) से तथा भावात्मक का हृदय से होता है। यद्यपि काव्य के चारों तत्त्व कल्पना, राग, बुद्धि और शैली —सभी प्रकार के निबंधों में आवश्यक होते हैं तथापि विवरणात्मक एवं वर्णनात्मक निबंधों में कल्पना-तत्त्व का प्राचुर्य रहता है। विचारात्मक निबंधों में बुद्धि-तत्त्व तथा भावात्मक निबंधों में राग-तत्त्व की प्रधानता रहती है। शैली-तत्त्व चारों में समान रूप से रहता है।

वर्णनात्मक निबंध———इनमें प्राकृतिक उपकरणों तथा भौतिक पदार्थों को स्थिर रूप में देखकर वर्णन किया जाता है। इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण देश से रहता है। इनकी वर्णन-शैली व्यास-शैली कहलाती है जिसमें वर्ण्य-विषय की लम्बी-चौड़ी विवेचना होती है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"निर्मल वेत्रवती पर्वत को विदार कर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से सम भूमि पर, जो स्वयं पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्ददायक वाद्यनाद मीलों से कर्णकुहर में प्रवेश करता है और जलकरण उड़-उड़ कर मुक्ताहार की छवि दिखाते और रवि किरण के संयोग से सैकड़ों इन्द्रधनुष बनाते हैं।" [कृष्णबल्देव वर्मा]।

ठा० जगमोहनसिंह का 'श्यामा स्वप्न' तथा मिश्र-बन्धुओं का 'रूसी-जापानी-युद्ध' ऐसे ही निबन्ध हैं।

विवरणात्मक निबन्ध—इनका सम्बन्ध अधिकाँश में काल से है। इनमें वस्तु को उसके स्थिर रूप में न देखकर उसके गतिशील रूप में देखा जाता है। शिकार, पर्वतारोहण, दुर्गम प्रदेशों की यात्रा, साहस पूर्ण कृत्य आदि का वर्णन इन निबन्धों का वर्ण्य विषय रहता है। वर्णनात्मक निबन्धों के समान इनमें भी व्यास-शैली का ही प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण—"आकाश बादलों से घिरा था। रात अँधेरी। पता नहीं चलता था, कहाँ आकर गाड़ी रुकी और फिर कहाँ के लिए रवाना हो गई है। अज्ञात और अदृश्य की ओर बढ़े जा रहे थे। फिर भी निश्चिन्तता थी। सो सकते थे, पर सो नहीं सके। पानी बरस जाने से लैम्प के आस-पास और पूरे डिब्बे में पतङ्गों की भरमार थी। इन बिना टिकटों के यात्रियों की संख्या का

प्रश्न ही क्या ? अपने प्रदीप्त प्रेमी के निकट आकर आत्म-समर्पण का अधिकार उनका था ।" (सियारामशरण गुप्त : 'हिमालय की झलक')

श्रीराम शर्मा के शिकार सम्बन्धी, राहुलजी के यात्रा सम्बन्धी निबन्ध इसी वर्ग के हैं ।

विचारात्मक या विवेचनात्मक निबंध—इनमें बौद्धिक विवेचन की प्रधानता रहती है, इसी कारण इनका सम्बन्ध बुद्धि से माना गया है । दर्शन, अध्यात्म, मनोविज्ञान आदि की विवेचना इनमें होती है । यह निबन्धों का सबसे गम्भीर और सुलझा हुआ रूप होता है । आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ़ में विचार दबा-दबाकर ठूँसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हो ।" ऐसे निबंधों के लेखक की वैयक्तिक अनुभूतियाँ जितनी विस्तृत होंगीं, उसका मानव जीवन का अध्ययन जितना गम्भीर होगा उतनी ही उसे सफलता मिलेगी । इन निबन्धों में व्यास शैली और समास शैली दोनों का ही प्रयोग किया जाता है । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और डा० श्यामसुन्दरदास के विचारात्मक निबंध व्यास शैली में तथा आचार्य शुक्ल के समास शैली में लिखे गए हैं ।

समास शैली का उदाहरण—"दुख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है । क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है । करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है ।" (करुणा : आचार्य शुक्ल)

व्यास शैली—"कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है । असभ्य अथवा अर्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत । तुलसीदास की रामायण के खास-खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं । पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता ।"

(महावीरप्रसाद द्विवेदी)

विचारात्मक निबन्धों के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक आदि कई प्रकार होते हैं ।

भावात्मक निबन्ध—इनमें बुद्धि-तत्व की अपेक्षा भाव-तत्व की प्रधानता होती है क्योंकि इनका सम्बन्ध भावना अर्थात् हृदय से है । इनमें रागात्मकता अधिक होने से कवित्वपूर्ण उद्‌गार एवं शैली का सौन्दर्य आ जाता है जिससे इनमें एक विशेष हार्दिक सौन्दर्य, तड़प और सजीवता का समावेश हो जाता

है । इनमें प्रायः तीन प्रकार की शैलियों का उपयोग किया जाता है—धारा शैली, तरङ्ग शैली और विक्षेप शैली । "धारा शैली में भावों की धारा प्रवाह-मय रहकर प्रायः एक गति से चलती है किन्तु तरंग शैली में वे भाव लहराते हुए से प्रतीत होते हैं, तरंग की भाँति वे उठते और गिरते प्रतीत होते हैं । विक्षेप शैली में वह कुछ-कुछ उखड़ी हुई रहती है, उसमें तारतम्य और नियं-त्रण का अभाव रहता है ।" (गुलाबराय—काव्य के रूप)

धारा-शैली का उदाहरण—"जो धीर हैं, जो उद्वेग रहित हैं, वही संसार में कुछ कर सकते हैं । जो लोहे की चादर की भाँति जरा ही में गर्म हो जाते हैं और जरा ही में ठण्डे पड़ जाते हैं, उनके किए क्या हो सकता है, मसल है—जो बादल गरजते हैं, वे बरसते नहीं ।" पद्मसिंह शर्मा एवं सर्दार पूर्णसिंह के निबन्धों में धारा शैली का उत्कृष्टतम रूप मिलता है ।

तरङ्ग-शैली—"मैं तुम्हारी एक तस्वीर खींचना चाहता हूँ । मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो, कलम की जीभ को बोल लेने दो । किन्तु हृदय और मसि पात्र दोनों तो काले हैं । तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध विराम, अल्ह-ड़ता का अभिराम, केवल श्याम मात्र होगा ।"

(माखनलाल चतुर्वेदी—साहित्य-देवता)

विक्षेप-शैली—"आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज आती है मैं भूला नहीं हूँ । आज भी उन पत्थरों से न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रति वर्ष उस सुन्दर साम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है, वे कठोर और निर्जीव पत्थर भी प्रति वर्ष उस सुन्दर साम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की उस करुण कथा के इस दुखान्त को देखकर पिघल जाते हैं और इन पत्थरों में से अनजाने एक आँसू ढुलक पड़ता है ।"

(महाराजकुमार रघुवीरसिंह—ताज)

विकास

हिन्दी में नाटकों के समान निबन्ध-साहित्य की उत्पत्ति और विकास का श्रेय भी भारतेन्दु युग को दिया जाता है । यह वह समय था जब भारतीय समाज में एक नवीन सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का उदय हो रहा था । इस नवीन-चेतना का प्रतिनिधित्व और प्रकाशन तत्कालीन हिन्दी की पत्र-पत्रिकायें जैसे हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, ब्राह्मण, सार-सुधानिधि, प्रदीप आदि कर रही थीं । हिन्दी के प्रारम्भिक निबन्ध छोटे-छोटे लेखों के रूप में, जो समाचार पत्रों के आवश्यक अङ्ग होते हैं, इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे । इन समाचार पत्रों के सम्पादक ही इन लेखों के लेखक होते थे । उस

भारतेंदु युग या प्राथमिक प्रयास—भारतेन्दु के निबन्ध निबन्ध-साहित्य के क्षेत्र में प्रथम प्रयास हैं जिनमें निबन्ध के वास्तविक गुण विद्यमान हैं। इस प्रकार भारतेन्दु हिन्दी के सर्व प्रथम निबन्ध लेखक माने जा सकते हैं। उन्होंने अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे थे परन्तु उनके उच्चकोटि के सुन्दर एवं कलात्मक निबन्ध अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाये हैं। सम्भवतः इसी कारण डा० श्रीकृष्णलाल ने भारतेन्दु को हिन्दी का प्रथम निबन्ध लेखक न मानकर बालकृष्ण भट्ट को माना है। भारतेन्दु के निबन्धों में विषय और शैली की दृष्टि से पूरा वैविध्य है। इनकी नाटकीय शैली और स्रोत का ढङ्ग अत्यधिक प्रभावात्मक है। स्रोतों में विभिन्न सम्बोधनों और व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनोखे बंधनों और अतिशयोक्ति के द्वारा अद्भुत चमत्कार आ गया।

इस काल के अन्य निबन्ध-लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बद्रीनारायण 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० राधाचरण गोस्वामी आदि प्रमुख है। इनमें पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, और बाबू बालमुकुन्द गुप्त की वृहद्‌यत्री को हम इस काल के निबन्ध लेखकों का प्रतिनिधि मान सकते हैं। ये तीनों लेखक प्रतिभाशाली साहित्यकार थे। मिश्रजी का सा उल्लास और मस्ती आज तक किसी अन्य लेखक में देखने को भी नहीं मिली। वे लिखते समय नियमों का बन्धन स्वीकार नहीं करते। उनकी भाषा अकृत्रिम, सजीव और ग्रामीण है। उसमें गाम्भीर्य का अभाव है। परंतु कहावतों, मुहावरों, अनुप्रास और श्लेष के चमत्कार द्वारा वे पाठक से पूरी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। वे बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात करते हैं जैसे उनका यह निबन्ध कि—"तो भला बतलाइये तो आप क्या हैं ?" निबन्ध का विषय उनकी विचारधारा को नियन्त्रित न कर स्वयं ही विचारधारा से नियंत्रित होता है। विषय जो मन में आया उठा लिया और फिर उसके माध्यम से अपने मन की बातें कह दीं। 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'मरे को मारे शाह मदार' आदि निबन्ध उनकी सुन्दर व्यक्तिनिष्ठ शैली के उदाहरण हैं।

भट्ट जी मिश्रजी के श्रेष्ठ सहयोगी थे। वे गम्भीर विद्वान थे। भारतेन्दु की विचारात्मक तथा व्याख्यात्मक शैली ने भट्ट जी के निबन्धों में विकास पाया। इनके निबन्धों में विनोद प्रियता एवं गम्भीर बात को सुबोध और रोचक ढङ्ग से कहने का प्रयास मिलता है। हास्य को वे बहुत महत्व देते थे। उन्होंने अपने समय में नव प्रकाशित 'सरस्वती' की गम्भीरता मिश्रित नीरसता की आलोचना करते हुए लिखा था कि—"सच पूछो तो हास्य ही लेख का

जीवन है। लेख पढ़ कुंद की कली समान दाँत न खिल उठे तो वह लेख ही क्या।" उनके निबन्धों में कहीं-कहीं सुन्दर भावात्मक शैली का भी सुन्दर प्रयोग मिलता। वे पाठक से आत्मीय ढंग से बात अवश्य करना चाहते हैं परंतु इसके लिये मिश्रजी की सी ग्रामीणता को नहीं अपनाते। उन्होंने विभिन्न विषयों, जैसे साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि पर निबन्ध लिखे हैं। इनकी शैली के कई रूप मिलते हैं जैसे, विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक आदि। इनके विचारात्मक निबन्ध तर्क पुष्ट शैली में व्यवस्थित ढंग से लिखे गए हैं।

इस काल के तीसरे प्रमुख निबन्ध लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त हैं। इन्होंने गद्य को परिमार्जित कर उसे प्रांजलता प्रदान की। इनका व्यंग्य अधिक शालीन, सांकेतिक और व्यंजक है। इसलिये गद्य शैली के विकास में गुप्तजी का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। गुप्तजी द्वारा सम्पादित 'हिन्दी बंगवासी' 'भाषा गढ़ने की टकसाल' कहलाता था। हिन्दी गद्य शैली को लेकर इनमें और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी में खूब नोंक-झोंक चलती रहती थी। विषय की दृष्टि से गुप्तजी ने अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे जैसे जीवन चरित, हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि परन्तु इनकी विशेष प्रसिद्धि का कारण इनकी व्यग्यात्मक गद्य रचनाएँ 'शिव शम्भु का चिट्ठा' और 'खत' हैं। इनमें एक प्रकार की नाटकीयता आ गई है जिससे इनके राजनीतिक व्यंग्य अत्यन्त प्रभावशाली और आकर्षक बन गये हैं। गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण ढंग से कहते-कहते अपने हृदय का क्षोभ और दुख अत्यन्त संयत और प्रभावपूर्ण ढंग से कह देना इनकी विशेषता है। इस युग के अन्य निबन्धकारों ने कोई विशेष महत्वपूर्ण निवन्ध न लिखकर साधारण निबन्ध और टिप्पणियाँ ही लिखीं हैं जिनमें उपर्युक्त प्रमुख लेखकों का ही अनुसरण है।

भारतेंदु युग के निबन्ध-लेखकों के विषय में डाक्टर रामविलास शर्मा का निम्नलिखित मत उनकी सम्पूर्ण विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं—"जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्य-प्रति निबन्ध लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गई थी। दूसरी बात यह कि निबन्ध ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा उस युग के धक्कड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे।...... उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कहकर संतोष न कर सकते थे। वे उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे और एक मित्र की भाँति घुल मिलकर उसे अपनी बात समझाना चाहते थे।...साहित्य

की सच्ची सप्राणता उस शैली में है जहाँ लेखक और पाठक के बीच कोई दुराव नहीं रह जाता। सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया। कृत्रिम शैली में लेखक पाठक का आत्मीय बन ही नहीं सकता। इसीलिये भारतेंदु युग की गद्य शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबन्धों में ही मिलते हैं।" आचार्य शुक्ल ने इस युग की इसी निश्छलता और तन्मयता को लक्ष्य कर कहा था कि यह "युग बच्चे के समान हँसता-खेलता आया था। जिसमें बच्चों की सी ही निश्छलता, अक्खड़पन, सरलता और तन्मयता थी।" भारतेन्दु युग के बाद आज तक हिन्दी निबन्धों में ऐसी सरलता और आत्मीयता फिर कभी न मिल सकी। बाबू गुलाबराय के शब्दों में निबन्धों की पृष्ठ भूमि में रहने वाला निजीपन, हृदयोल्लास और चलतेपन के लिए हरिश्चन्द्र युग चिर-स्मरणीय रहेगा।

द्विवेदी युग—भारतेंदु युग वृद्धि, फैलाव और भाषा के परिमार्जन का युग था। द्विवेदी युग ने उस एकत्रित सामग्री को सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया। बीसवीं शताब्दी में शिक्षितों की सख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। हिन्दी लेखकों का ध्यान 'सामाजिक मनुष्य' की ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि इस युग में लेखकों और पाठकों दोनों ही में प्रतिष्ठा की भावना बहुत अधिक आ गई। दूसरे शब्दों में इसे 'अभिजात्य भावना' का आरम्भ भी कह सकते हैं। लेखकों से यह अपेक्षा की जाने लगी कि वे भारतेंदु युगीन उच्छृङ्खलता को छोड़ कर संस्कृत ढंग से, शिष्टतापूर्वक बातें करें। अब लेखक का पाठक से पूछना— "तो भला बताइये आप क्या हैं?" स्वप्न में भी असम्भव हो गया। फलस्वरूप नैतिक निबन्ध लिखे जाने लगे जिनमें पत्रकारिता की स्वच्छन्दता के स्थान पर विवेचना और गाम्भीर्य की वृद्धि हुई। निबन्ध का रूप सार्वजनिक न रहकर शिष्ट समाज की वस्तु बन गया। भाषा और साहित्य का प्रश्न एक नये रूप में सामने आया। विषय की दृष्टि से निबन्धों का पर्याप्त विस्तार हुआ। इस विषय विभिन्नता के कारण भाषा की शक्ति बढ़ी। अब निबन्ध मात्र मनोरंजन के साधन न रहकर उपयोगिता के आधार माने जाने लगे। इसके साथ ज्ञान विस्तार की प्रवृत्ति आई। फलस्वरूप पुरातत्व सम्बन्धी एवं आलोचनात्मक लेख लिखे गये। अंग्रेजी और मराठी के सुन्दर निबन्धों के अनुवाद हुए। हिन्दी निबन्धों में हार्दिकता की अपेक्षा बौद्धिकता का प्राधान्य हो चला। लेखकों ने साहित्य की अपेक्षा नैतिक आदर्शों का ध्यान अधिक रखा।

द्विवेदी जी के निबन्ध 'ज्ञान राशि के संचित कोष' ही हैं। साहित्य की महत्ता, कवि और कविता, प्रतिभा, नाटक, उपन्यास आदि निबन्ध सरल और सुबोध शैली में पाठकों की ज्ञान वृद्धि करते हैं। इस काल के अन्य निबन्धकारों

जीवन है। लेख पढ़ कुंद की कली समान दाँत न खिल उठे तो वह लेख ही क्या।" उनके निबन्धों में कहीं-कहीं सुन्दर भावात्मक शैली का भी सुन्दर प्रयोग मिलता। वे पाठक से आत्मीय ढंग से बात अवश्य करना चाहते हैं परंतु इसके लिये मिश्रजी की सी ग्रामीणता को नहीं अपनाते। उन्होंने विभिन्न विषयों, जैसे साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि पर निबन्ध लिखे हैं। इनकी शैली के कई रूप मिलते हैं जैसे, विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक आदि। इनके विचारात्मक निबन्ध तर्क पुष्ट शैली में व्यवस्थित ढंग से लिखे गए हैं।

इस काल के तीसरे प्रमुख निबन्ध लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त हैं। इन्होंने गद्य को परिमार्जित कर उसे प्रांजलता प्रदान की। इनका व्यंग्य अधिक शालीन, सांकेतिक और व्यंजक है। इसलिये गद्य शैली के विकास में गुप्तजी का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। गुप्तजी द्वारा सम्पादित 'हिन्दी बंगवासी' 'भाषा गढ़ने की टकसाल' कहलाता था। हिन्दी गद्य शैली को लेकर इनमें और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी में खूब नोंक-झोंक चलती रहती थी। विषय की दृष्टि से गुप्तजी ने अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे जैसे जीवन चरित, हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि परन्तु इनकी विशेष प्रसिद्धि का कारण इनकी व्यग्यात्मक गद्य रचनाएँ 'शिव शम्भु का चिट्ठा' और 'ख़त' हैं। इनमें एक प्रकार की नाटकीयता आ गई है जिससे इनके राजनीतिक व्यंग्य अत्यन्त प्रभावशाली और आकर्षक बन गये हैं। गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण ढंग से कहते-कहते अपने हृदय का क्षोभ और दुख अत्यन्त संयत और प्रभावपूर्ण ढंग से कह देना इनकी विशेषता है। इस युग के अन्य निबन्धकारों ने कोई विशेष महत्वपूर्ण निबन्ध न लिखकर साधारण निबन्ध और टिप्पणियाँ ही लिखीं हैं जिनमें उपर्युक्त प्रमुख लेखकों का ही अनुसरण है।

भारतेंदु युग के निबन्ध-लेखकों के विषय में डाक्टर रामविलास शर्मा का निम्नलिखित मत उनकी सम्पूर्ण विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं—"जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्य-प्रति निबन्ध लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गई थी। दूसरी बात यह कि निबन्ध ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा उस युग के धक्कड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे।...... उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कहकर संतोष न कर सकते थे। वे उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे और एक मित्र की भाँति घुल मिलकर उसे अपनी बात समझाना चाहते थे।...साहित्य

की सच्ची सप्राणता उस शैली में है जहाँ लेखक और पाठक के बीच कोई दुराव नहीं रह जाता । सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया । कृत्रिम शैली में लेखक पाठक का आत्मीय बन ही नहीं सकता । इसी-लिये भारतेंदु युग की गद्य शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबन्धों में ही मिलते हैं ।" आचार्य शुक्ल ने इस युग की इसी निश्छलता और तन्मयता को लक्ष्य कर कहा था कि यह "युग बच्चे के समान हँसता-खेलता आया था । जिसमें बच्चों की सी ही निश्छलता, अक्खड़पन, सरलता और तन्मयता थी ।" भारतेन्दु युग के बाद आज तक हिन्दी निबन्धों में ऐसी सरलता और आत्मी-यता फिर कभी न मिल सकी । बाबू गुलाबराय के शब्दों में निबन्धों की पृष्ठ भूमि में रहने वाला निजीपन, हृदयोल्लास और चलतेपन के लिए हरिश्चन्द्र युग चिर-स्मरणीय रहेगा ।

द्विवेदी युग—भारतेंदु युग वृद्धि, फैलाव और भाषा के परिमार्जन का युग था । द्विवेदी युग ने उस एकत्रित सामग्री को सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया । बीसवीं शताब्दी में शिक्षितों की सख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई । हिन्दी लेखकों का ध्यान 'सामाजिक मनुष्य' की ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि इस युग में लेखकों और पाठकों दोनों ही में प्रतिष्ठा की भावना बहुत अधिक आ गई । दूसरे शब्दों में इसे 'अभिजात्य भावना' का आरम्भ भी कह सकते हैं । लेखकों से यह अपेक्षा की जाने लगी कि वे भारतेंदु युगीन उच्छृङ्खलता को छोड़ कर संस्कृत ढंग से, शिष्टतापूर्वक बातें करें । अब लेखक का पाठक से पूछना— "तो भला बताइये आप क्या हैं ?" स्वप्न में भी असम्भव हो गया । फलस्वरूप नैतिक निबन्ध लिखे जाने लगे जिनमें पत्रकारिता की स्वच्छन्दता के स्थान पर विवेचना और गाम्भीर्य की वृद्धि हुई । निबन्ध का रूप सार्वजनिक न रहकर शिष्ट समाज की वस्तु बन गया । भाषा और साहित्य का प्रश्न एक नये रूप में सामने आया । विषय की दृष्टि से निबन्धों का पर्याप्त विस्तार हुआ । इस विषय विभिन्नता के कारण भाषा की शक्ति बढ़ी । अब निबन्ध मात्र मनोरंजन के साधन न रहकर उपयोगिता के आधार माने जाने लगे । इसके साथ ज्ञान विस्तार की प्रवृत्ति आई । फलस्वरूप पुरातत्व सम्बन्धी एवं आलोचनात्मक लेख लिखे गये । अंग्रेजी और मराठी के सुन्दर निबन्धों के अनुवाद हुए । हिन्दी निबन्धों में हार्दिकता की अपेक्षा बौद्धिकता का प्राधान्य हो चला । लेखकों ने साहित्य की अपेक्षा नैतिक आदर्शों का ध्यान अधिक रखा ।

द्विवेदी जी के निबन्ध 'ज्ञान राशि के संचित कोष' ही हैं । साहित्य की महत्ता, कवि और कविता, प्रतिभा, नाटक, उपन्यास आदि निबन्ध सरल और सुबोध शैली में पाठकों की ज्ञान वृद्धि करते हैं । इस काल के अन्य निबन्धकारों

में पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पण्डित माधवप्रसाद मिश्र, पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू गोपालराम गहमरी, बाबू व्रजनन्दनसहाय, पण्डित पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह प्रसिद्ध हैं। डा० श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय एवं मिश्र बन्धु भी इसी युग और श्रेणी के हैं परन्तु वे प्रेरणा प्राप्त करने में द्विवेदीजी के ऋणी न होकर स्वयं ही प्रभाव केन्द्र थे। श्यामसुन्दरदास ने 'समाज और साहित्य', 'कला का विवेचन' आदि अनेक निबन्ध लिखे जिनमें पांडित्यपूर्ण ओज एवं अर्जित ज्ञान का गाम्भीर्य है पर निबन्ध की वह आत्मा नहीं जिसके कारण साहित्यिक दृष्टि से उनकी कोई रचना उच्चकोटि का निबंध कहला सके। मिश्र बन्धुओं के निबन्ध भी शिक्षामूलक अधिक हैं। "उनके निबन्धों में शिक्षक का अहं अनुचित रूप में तो नहीं था किन्तु वह सहज में परिलक्षित हो जाता है।" बाबू गुलाबराय के 'समाज और कर्तव्य पालन' जैसे निबन्धों की अपेक्षा उनके 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी कलम का राज़' जैसी रचनाओं में उच्चकोटि की निबन्ध कला के दर्शन होते हैं। उन्होंने अनेक आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं परन्तु उनमें वह रोचकता और प्रवाह नहीं मिलता जो उनके लिखे हुए विनोदमयी शैली के संस्मरणात्मक निबंधों में है। ये निबन्ध अत्यन्त उच्च-कोटि के माने जाते हैं। साहित्यिक विषयों पर बख्शी जी ने भी कई सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा के फड़कती शैली में लिखे गये निबन्धों की भावुकता भी दर्शनीय है। बनारदास चतुर्वेदी, मोहनलाल महतो आदि ने भी इसी काल में कुछ सुन्दर संस्मरणात्मक और चरितात्मक निबन्ध लिखे हैं।

उपर्युक्त निबन्धकारों में से द्विवेदी युग में तीन निबंधकार ऐसी उच्चकोटि के हुए हैं जिनकी तुलना हिन्दी साहित्य के किसी भी निबंधकार से नहीं की जा सकती। उनकी विशिष्टता केवल उन्हीं तक सीमित होकर रह गई। उनकी शैली का अनुकरण न हो सका। ये तीन निबंधकार हैं—पं० माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्णसिंह। मिश्रजी के निबंधों में त्यौहारों एवं तीर्थ स्थानों के प्रति अतीव निष्ठा के साथ देशप्रेम और सनातन धर्म के प्रति अटूट आस्था के दर्शन होते हैं इनके 'सब मिट्टी होगया' जैसे निबंध में एक मार्मिक उच्चकोटि के निबन्धकार का रूप मिलता है। विचार और शैली की दृष्टि से गुलेरीजी इस युग के सर्वाधिक प्रगतिशील निबन्धकार हैं। इनका व्यंग्य अन्य निबन्धकारों की अपेक्षा अधिक तीव्र और मार्मिक होता है। अब तक के लेखकों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं में थी। 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहि कुठाँव' और 'संगीत' जैसे निबंधों में इनकी चमत्कारपूर्ण शैली का पूर्ण उभार दिखाई देता है। सरदार पूर्णसिंह ने एक नई लय और गति के साथ निबन्धों की परम्परा को नये मानवतावादी

मार्ग की ओर उन्मुख किया। सभ्य आचारण और प्रेम के द्वारा ये समाज का कल्याण देखते थे। 'श्रम' का महत्व हिन्दी-साहित्य को इनकी एक सर्वथा नवीन देन थी। इनकी भाषा में एक नवीन लक्षणा और व्यंजना शक्ति का चमत्कार है। भावों को मूर्त्त रूप देने की इनकी क्षमता अद्भुत है। इनके निबन्ध 'प्रभावाभिव्यंजक' शैली के निबन्ध माने जाते हैं क्योंकि सजीव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव व्यंजना, गम्भीर विचार संकेत और भाषा की ओजस्विता विशेष प्रभाव की सृष्टि करते हैं।

आधुनिक युग—'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध-क्षेत्र में पदार्पण करने से निबन्ध-साहित्य में एक नया जीवन आया। द्विवेदी युग में विषयविस्तार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ किंतु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी।'' (गुलाबराय—काव्य के रूप)

शुक्लजी के रूप में हिन्दी को सर्व प्रथम एक महान् निबन्ध लेखक मिला। इनके गम्भीर निबन्ध 'चिन्तामणि' और 'विचार बीथी' के नाम से संग्रहीत हुये हैं। 'शुक्लजी का हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक है और जीवन अध्यापक का।' हृदय की सरलता और मस्तिष्क की गम्भीरता उनके लेखों में कल्याण-भावना के साथ घुली-मिली है। साथ ही गहन विचार-बीथियों के बीच-बीच सरस भाव स्रोत मिलते हैं। उनकी यह तन्मयता दर्शनीय होती है। निबन्धों में गठन, भाषा का गम्भीर रूप, प्रवाह एवं ओज प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। कहीं-कहीं गम्भीर हास्य के छींटे भी मिल जाते हैं जो उनके निबंधों को 'लोहे के चने' बनने से बचते रहते हैं। विचारधारा शृङ्खलाबद्ध और तर्कपूर्ण होती है जिसका प्रकटीकरण समास-शैली द्वारा होता है। उन्होंने द्विवेदी युग की शास्त्रीय गद्य शैली को एक नया रूप देकर उसे बहुत ऊँचा उठा दिया। विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से इनमें एक वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है। इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि बहुत दूर तक जाती है। इनके निबन्ध 'शैली ही व्यक्ति है' (Style is the Man himself) की उक्ति के पूर्ण प्रतीक हैं। इनके निबन्धों के किसी भी अंश को देखकर हम तुरन्त कह उठते हैं कि 'यह तो शुक्लजी बोल रहे हैं।' इसी कारण आलोचकों ने उन्हें आलोचक-सम्राट के साथ हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ लेखक घोषित किया है। उनका व्यक्तित्व युगान्तरकारी था। आज का हिन्दी संसार उनके लिये तरस रहा है।

शुक्ल जी की परम्परा में उन निबन्धकारों का उल्लेख किया जा सकता है जो शैली और विचार की दृष्टि से तो उनसे नहीं मिलते पर साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। इनमें नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद

द्विवेदी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि प्रमुख हैं। हजारी-प्रसाद में एक विशेष साँस्कृतिकता और शास्त्रीयता के साथ-साथ विनोद प्रियता भी है। नगेन्द्र के निबन्धों में पाश्चात्य अनुशीलन की छाप है। रामविलास शर्मा की भाषा भावानुकूल, सरल और व्यंगपूर्ण होती है। भारतेन्दु युग के उपरांत इन्हीं के निबन्धों में व्यंग्य का विकसित रूप प्रथम बार दिखाई दिया है। यहाँ शांतिप्रिय द्विवेदी का उल्लेख भी आवश्यक है। उनकी प्रकृति आलो-चक से अधिक निबन्धकार की है। जो स्वच्छन्दता और संवेदन शीलता निब-न्धकार के लिये अपेक्षित है वह इनमें मौजूद है। छायावाद के च रों प्रसिद्ध कवि प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी को साहित्यिक और आलोचनात्मक निबन्धों के लेखक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ये लेख फुटकर निबन्ध और पुस्तकों की भूमिका के रूप में हैं।

भावात्मक शैली के निबन्धकारों में राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुर-सेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रसिद्ध हैं। यात्रा सम्बन्धी निबन्धों के लेखकों में स्वामी सत्यदेव, राहुल और देवेन्द्र सत्यार्थी प्रमुख हैं। श्रीराम शर्मा के शिकार सम्बन्धी निबन्ध भी हिन्दी में अपने ढङ्ग के अकेले हैं। जैनेन्द्र ने भी अनेक निबन्ध लिखे हैं लेकिन वे दार्शनिक की बोझिलता से नीरस हो गए हैं। इनके अतिरिक्त सद्गुरु शरण अवस्थी, भगवती चरण वर्मा, भदंत आनंद कौशल्यायन आदि ने भी सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। इधर प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव, प्रकाश चन्द्र गुप्त, नामवर सिंह के भी विभिन्न प्रकार के साहित्यिक निबन्ध देखने में आ रहे हैं। संस्मरणात्मक निबन्धों के लेखकों में बाबू गुलाब-राय और महादेवी वर्मा विशिष्ट स्थान रखते हैं। गुलाबराय की 'मेरी अस-फलताएँ' तथा 'मेरे निबन्ध' ऐसी ही रचनायें हैं। महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाओं' में अपने ऐसे ही निबन्धों को संगृहीत किया है।

वर्तमान आधुनिकतम निबन्धों को देखकर यह आशा की जाती है कि "आगे साहित्य में विषय-वैविध्य ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा 'विशेषज्ञ' लेखक भी भी बढ़ते जाँयगे। इन विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर साहित्यिक निबन्ध भी अलग-अलग रुचि के लोगों की गम्भीर जिज्ञासापूर्ति के साधन बनते जायँगे।" (विजय शङ्कर मल्ल) समष्टि रूप से हमारा निबन्ध साहित्यि क्रमशः समृद्ध होता जा रहा है परन्तु आधुनिक निबन्ध लेखकों की रुचि सामाजिक और राज-नीतिक विषयों की अपेक्षा आलोचनात्मक निबंध लिखने में अधिक रमती है। आज आलोचनात्मक लेखों की भरमार हो रही है। उनमें विषय-वैविध्य का अभाव सा है। आज ऐसे निबन्ध लेखकों की आवश्यकता है जो आलोचनात्मक निबन्ध ही न लिखकर सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि विभिन्न प्रकार के निबन्ध लिख सकें।

———

११—नाटक : स्वरूप और विकास

स्वरूप

"काव्येषु नाटक रम्यम्; नाटकान्त कवित्वम्" संस्कृत के इन वाक्यों के अनुसार काव्य कला का नाटक सर्वश्रेष्ठ अङ्ग माना गया है। इसका कारण यह है कि नाटक की प्रभावोत्पादक शक्ति वांगमय के अन्य अङ्गों की अपेक्षा अधिक स्थायी, गहरी और व्यापक होती है क्योंकि उसमें हम वास्तविकता का अनुभव करते हैं। श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किए जाते हैं परन्तु दृश्य काव्य में हमें कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता। वहाँ कल्पना की कमी को पात्रों की भाव-भंगी पूरी कर देती है। श्रव्यकाव्य में अमूर्त्त का विधान होता है और दृश्यकाव्य में मूर्त्त का। साधारण बुद्धि के लिए मूर्त्त और प्रत्यक्ष जितना बोधगम्य होता है उतना अमूर्त्त नहीं। इसलिये नाटक, साहित्य के अन्य अङ्गों की अपेक्षा, साधारण जनता के अधिक नजदीक होने के कारण उसकी अपनी चीज है। शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्व समस्त काव्यांगों से अधिक है। संसार में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका प्रदर्शन नाटक में न हो सके। नाट्यशास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि—

"न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विवधानि च।।"

अर्थात् 'योग, कर्म, सम्पूर्ण साहित्य, सारे शिल्प और संसार के विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाय।' साथ ही इसमें वास्तविकता का अनुकरण जीते-जागते साधनों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार लोकहित तथा लोक-रंजन के उद्देश्य को लिए हुए, शिक्षित-अशिक्षित सब का समान रूप से मनोरंजन करने वाला एवं विविध कलाओं से संयुक्त होने के कारण नाटक साहित्य का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण अङ्ग है।

विद्वानों ने नाटक के मूल में अनुकरण की प्रवृत्ति को मुख्य माना है। अनुकरण की प्रवृत्ति मानव की स्वभावगत प्रवृत्ति है। हम बचपन से अनुकरण करना आरम्भ कर देते हैं। बच्चों के गुड्डे-गुड़ियों के, राजारानी के खेल, मदारियों द्वारा बंदर-भालुओं के नाच आदि में इसी प्रवृत्ति का प्रकाशन होता है। नाटक में भी हम अपने पूर्व पुरुषों, देवी-देवताओं एवं समकालीन व्यक्तियों का

अनुकरण देखते हैं। अनुकरण के साथ ही नाटक के मूल में तीन मनोवृत्तियाँ और काम करती हैं। अनुकरण द्वारा मानव अपनी आत्मा का विस्तार देखना चाहता है। बच्चा अपनी संकुचित सीमाओं से ऊपर उठना चाहता है इसलिये बड़ों का अनुकरण करता है। साथ ही नाटक द्वारा समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति का अन्य वर्ग के व्यक्तियों से परिचय हो जाता है। मजदूर राजा-महाराजाओं के जीवन से परिचित हो जाता है और राजा-महाराजा मजदूर के जीवन को देख लेते हैं। इस प्रकार मानव-सभ्यता के सम्पूर्ण रूपों का वहाँ प्रदर्शन हो जाता है। इसमें मानव-जाति की रक्षा का भाव भी सम्मिलित रहता है। उसमें हम अपनी जाति के भूत और वर्तमान को देखकर अनुप्राणित हो उठते हैं जो हमारे हृदय में जाति की रक्षा का भाव उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त दूसरों के अनुकरण में एक प्रकार से हमारी आत्मा की अभिव्यक्ति भी हो जाती है। इसमें पात्र अभिनय द्वारा और दर्शक नाटक को देखकर अपने भावों को प्रकाशित करने का अवसर पा जाते हैं। इस प्रकार नाटक के मूल में मानव की चार मनोवृत्तियाँ काम करती रहती हैं—

१—अनुकरण।

२—पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार।

३—जाति की रक्षा।

४—आत्माभिव्यक्ति।

कथा-साहित्य की भाँति नाटक का मूल उद्देश्य भी मनोरंजन ही है, प्रकारान्तर से चाहे वह उपदेश दे या किसी समस्या को सुलझाये, यह दूसरी बात है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने नाटक की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई, इस बात का विवेचन करते हुए लिखा है कि "एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुखी हुए। इस पर इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने जाकर ब्रह्मा जी से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिससे सबका रञ्जन हो सके। इस पर ब्रह्माजी ने चारों वेदों को बुलाया और उनकी सहायता से 'पंचम् वेद' नाटक की रचना की। इसके लिए उन्होंने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिया।" उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि नाटक में संवाद, गान, नाट्य और रस प्रधान तत्व हैं। साथ ही नाटक कथा-साहित्य का एक अंग है इसलिए उसमें कथानक भी होता है और उस कथानक को आगे बढ़ाने वाले पात्र भी। इसमें इस कथानक के वर्णन की रीति भी उपन्यास-कहानी से भिन्न होती है। परन्तु फिर भी नाटकीय कथावस्तु और औपन्यासिक कथावस्तु के तत्वों में पर्याप्त समानता है। भारतीय प्राचीन आर्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्व माने हैं—वस्तु,

नायक और रस। यूरोपिय विद्वानों ने इन तत्वों की संख्या ६ मानी है—१—कथावस्तु, २—पात्र, ३—कथोपकथन, ४—देश-काल, ५—उद्देश्य और ६—शैली। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ये छः तत्व भारतीय आचार्यों के तीन तत्वों में ही समाहित हो जाते हैं। भारतीय आचार्यों ने 'अभिनय' को भी एक तत्व माना है। कोई-कोई 'वृत्ति' को भी एक तत्व मानते हैं परन्तु वृत्तियाँ क्रिया प्रधान शैलियाँ होने के कारण अभिनय के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। यूरोप में रस को न मानकर उद्देश्य को प्रधानता दी जाती है परन्तु हमारे यहाँ रस ही नाटक का प्राण माना गया है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रधान रूप से यूरोपीय शैली का अनुकरण किया गया है। (यद्यपि उन पर भारतीय शैली का भी पर्याप्त प्रभाव है) इसलिये युरोपीय विद्वानों द्वारा निर्धारित तत्वों के भारतीयकरण का विवेचन ही यहाँ अपेक्षित होगा जो निम्नलिखित है—

कथावस्तु (Plot)—नाटक की कहानी को कथा वस्तु या कथानक कहते हैं। नाटककार को अपनी कथावस्तु के चयन में उपन्यास लेखक के समान अधिक सामग्री का प्रयोग करने का अधिकार नहीं होता। उसे अभिनय के लिये निश्चित समय का ध्यान रखते हुए एक निश्चित मर्यादा का पालन करते हुए चलना पड़ता है। उसकी कथावस्तु इतनी बड़ी होनी चाहिये जिसका तीन-चार घण्टों में पूरा अभिनय हो सके। इसलिये नाटककार को कथानक की विस्तृत सामग्री में से अपने मतलब के तथ्य चुन लेने पड़ते हैं। कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक अर्थात् मुख्य कथा और प्रासङ्गिक अर्थात् प्रसङ्गवश आई हुई गौण कथा। यह मुख्य कथा के विकास और सौंदर्य-वर्धन में सहायक होती है।

प्रासङ्गिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है—पताका तथा प्रकरी। मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलने वाली 'पताका' तथा बीच में समाप्त हो जाने वाली 'प्रकरी' कहलाती है। जैसे रामायण में राम की कथा के साथ-साथ अन्त तक चलने वाली सुग्रीव की कथा 'पताका' और शकुन्तला-नाटक के छठे अङ्क में कंचुकी और दासियों का वार्तालाप 'प्रकरी' कही जायगी। आधार के भेद से कथावस्तु के तीन प्रकार माने गये हैं—१—प्रख्यात, जिसका आधार इतिहास, पुराण या जनश्रुति होती है, २—उत्पाद्य, जो नाटककार की अपनी कल्पना है; ३—मिश्र, जिसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण होता है।

नाटकों में कार्य या व्यापार की दृष्टि से पाँच अवस्थाएँ मानी गईं हैं—१—**प्रारम्भ**—इनमें किसी फल के लिये इच्छा होती है जिसे प्राप्त करने के लिए दो व्यक्तियों (नायक और प्रति नायक) में विभिन्न आदर्शों, उद्देश्यों,

सिद्धान्तों आदि के कारण संघर्षमयी घटना का आरम्भ होता है। २—**विकास** इसमें उस संघर्ष का विकास एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाता है। इच्छा की पूर्ति का प्रयत्न होता है। ३—**चरमसीमा**—जब उक्त संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और एक पक्ष की विजय प्रारम्भ होने लगती है और फल प्राप्ति की सम्भावना दिखाई देने लगती है। ४—**उतार**—यहाँ फल की प्राप्ति की सम्भावना में निश्चितता आ जाती है। ५—**अन्त या समाप्ति**—यहाँ संघर्ष का अन्त होकर फल की प्राप्ति हो जाती है। यह वर्गीकरण यूरोपीय विद्वानों का किया हुआ है। भारतीय प्राचीन आचार्यों का वर्गीकरण भी इसी प्रकार का है, केवल नाम का भेद है जो उसी क्रम से इस प्रकार है—१—प्रारम्भ, २—प्रयत्न, ३—प्राप्त्याशा, ४—नियताप्ति और ५—फलागम। उक्त दोनों दृष्टिकोणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है अन्तर केवल संघर्ष के विषय में है। संघर्ष पाश्चात्य नाटकों का प्राण माना जाता है जब कि हमारे यहाँ इसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता। प्राचीन अध्यात्म प्रधान आदर्श वादी नाटकों में इसका अभाव नहीं खटकता परन्तु आज के संघर्षपूर्ण वातावरण में संघर्ष के अभाव में नाटक निष्प्राण रह जायगा। इसलिये उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है।

उक्त अवस्थाओं की सहायता के लिए संस्कृत के आचार्यों ने पांच अर्थ प्रकृतियाँ और पाँच सन्धियाँ और मानी हैं। कथानक को मान्य फल प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारपूर्ण अंश को 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं। ये पाँच मानी गई हैं १—बीज, २—विन्दु ३—पताका, ४—प्रकरी, ५—कार्य। अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों में मेल कराने का कार्य सन्धियों द्वारा सम्पन्न होता है। ये विभिन्न सन्धियाँ विभिन्न अवस्थाओं की समाप्ति तक चलती हैं। उनके अनुकूल अर्थ-प्रकृतियों से उनका मेल कराती हैं। इनकी संख्या भी पाँच है—१—मुख, २—प्रतिमुख, ३—गर्भ, ४—अवमर्श या विमर्श, ५—निर्वहण या उपसंहार। इस प्रकार अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से और सन्धियाँ रूपक-रचना से सम्बन्धित हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार माना गया है—

अर्थ-प्रकृति	**अवस्था**	**सन्धि**
१—बीज	आरम्भ	मुख
२—विन्दु	प्रयत्न	प्रतिमुख
३—पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
४—प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श
५—कार्य	फलागम	निर्वहण या उपसंहार

इसी प्रकार कथावस्तु के भी दो भेद किए हैं—दृश्य और सूच्य। 'दृश्य' में घटनाओं का रंगमंच पर अभिनय दिखाया जाता है। 'सूच्य' में रंगमंच पर घटित न होने वाली घटनाओं की सूचना मात्र दिला दी जाती है। 'सूच्य' कथावस्तु की सूचना देने वाले साधनों को अर्थोक्षेपक कहते हैं जिनकी संख्या भी पाँच है—१—विष्कम्भक, २—चूलिका, ३—अङ्कास्य, ४—अङ्कावतार, और ५—प्रवेशक।

उपर्युक्त अवस्थायें, सन्धियाँ, अर्थ-प्रकृतियाँ एवं अर्थोक्षेपक आदि का उपयोग प्राचीन नाटकों में किया जाता था परन्तु आज का नाटक सर्वथा स्वतन्त्र रूप से विकसित हो रहा है। उसमें आजकल एक ही प्रधान कथा रहती है। आकार में भी वह छोटा होता है। प्रायः तीन अङ्कों में ही नाटक समाप्त हो जाता है। इसलिए उसमें कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाओं का तो निर्वाह हो सकता है परन्तु सन्धियों और अर्थ-प्रकृतियों के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं रहा है। इसी कारण हमने ऊपर अवस्थाओं का तो संक्षिप्त विवेचन दे दिया और सन्धियों, अर्थ-प्रकृतियों तथा अर्थोक्षेपकों का केवल उल्लेख करके छोड़ दिया है। आज जब उनकी कोई उपयोगिता ही नहीं रही है तो उनका विवेचन भी व्यर्थ है।

पात्र—नाटक में घटनाओं का आधार पात्र रहते हैं। प्रमुख पात्र 'नायक' कहलाता है। वह कथा का नेता होता है जो कथा को फल की ओर अग्रसर करता है। वही फल प्राप्ति का अधिकारी भी होता है। नायक की पत्नी या प्रेमिका 'नायिका' कहलाती है। हमारे यहाँ नायक को सर्वगुण सम्पन्न माना गया है। उसे विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, लोक प्रिय, पवित्र, वाक्पटु, उच्चकुलोद्भव, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, स्मृतियुक्त, प्रज्ञावान, कलावान, आत्मसम्मानी, सूर, तेजस्वी, दृढ़, शास्त्रज्ञ, और धार्मिक होना चाहिए। परन्तु आज का दृष्टिकोण बदला हुआ है। आज उसमें उपर्युक्त गुणों का होना अनिवार्य नहीं माना जाता। साधारण से साधारण और बुरे से बुरा व्यक्ति भी आज नाटक का नायक बन सकता है और बन रहा है।

संस्कृत के आचार्यों ने नायक चार प्रकार के माने हैं। १—**धीरोदात्त**—इसमें शक्ति, क्षमा, स्थिरता, दृढ़ता, गम्भीरता, आत्म सम्मान तथा उदारता आदि गुण होने चाहिए जैसे राम। **धीर ललित**—यह श‍ृङ्गार प्रिय, सुखान्वेशी, कलाविज्ञ, कोमल और स्थिर चित्त वाला होता है। इसमें ललित गुणों की प्रधानता होने के कारण यह श‍ृङ्गार के अधिक उपयुक्त होता है जैसे दुष्यन्त। ३—**धीरप्रशान्त**—यह सन्तोषी, शान्तिप्रिय और सुखान्वेषी होता है। क्षत्रियों में ये गुण नहीं पाये जाते इसलिये ऐसा नायक ब्राह्मण या वैश्य होता है जैसे

'मालती-माधव' का नायक माधव। ४—**धीरोद्धत**—यह मायावी, आत्म प्रशंसा परायण, धोखेबाज और चपल होता है, जैसे रावण। दुर्गुणों के कारण कुछ आचार्य ऐसे व्यक्तियों को नायक नहीं मानते।

नायिका में भी नायक के से ही गुण होने चाहिये। इसके आठ प्रधान गुण माने जाते हैं।

"जा कामिनि वे देखिये पूरन आठौ अङ्ग।
ताहि बखाने नायिका त्रिभुवन मोहन रङ्ग॥
पहिले जोवन रूप गुन, सील प्रेम पहिचान।
कुल वैभव भूषण बहुरि, आठों अङ्ग बखान॥

भरत मुनि ने चार प्रकार की नायिकाएँ मानी हैं (१) दिव्या, (२) नृपतिनीर, (३) कुल स्त्री तथा (४) गणिका। परन्तु आधुनिक विवेचक तीन प्रकार की नवीन नायिकाएँ मानते हैं—१— स्वकीया—यह नायक की विवाहिता पत्नी होती है, २—परकीया—यह नायक की विवाहिता न होकर दूसरे की पत्नी या अविवाहिता भी हो सकती है। ३—सामान्या—इसे गणिका या वेश्या भी कहते हैं। आज के नाटकों में यह आवश्यक नहीं है कि नायिका नायक की पत्नी या प्रिया ही हो। नाटक की कोई भी प्रमुख स्त्री पात्र नायिका मानी जा सकती है। नायक का विरोधी पात्र प्रतिनायक या खल-नायक कहलाता है। प्रासङ्गिक कथावस्तु का नायक, जो प्रमुख नायक का सहायक होता है, 'पीठमर्द' कहलाता है। इसके अतिरिक्त विदूषक, विट और चेट भी प्रमुख पात्र होते हैं। संस्कृत नाटकों में 'विदूषक' का होना अनिवार्य माना जाता था परन्तु आज नहीं माना जाता। चेट नायक का अनुचर होता है। विट वाद्य-गायन में निपुण नायक का अन्तरंग सेवक होता है।

चरित्र चित्रण—नाटकों में भी चरित्र चित्रण उपन्यास की ही तरह होता है। पात्रों की मानसिक और भावात्मक परिस्थितियों के चित्रण द्वारा उनकी आंतरिक और वाह्य वृत्तियों को प्रकाशित किया जाता है। परन्तु उपन्यासकार की भाँति नाटककार विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष रूप से चरित्र चित्रण नहीं कर सकता। उसे परोक्ष या अभिनयात्मक ढङ्ग से काम लेना पड़ता है। वह पात्रों के विषय में स्वयं कुछ न कह कर या तो नाटक के एक पात्र से दूसरे पात्र के चरित्र पर प्रकाश डलवाता है या कोई पात्र स्वयं अपने चरित्र का उद्घाटन करता है। कथावस्तु, घटनाओं और कथोपकथन द्वारा नाटकीय पात्रों के चरित्र का उद्घाटन होता है। प्रमुख रूप से इस चरित्रचित्रण के तीन प्रकार माने गये हैं—

१—कथोपकथन द्वारा—पात्रों के पारस्परिक वार्त्तालाप से हम उनके

चरित्रों की विशेषताओं का अनुमान लगा सकते हैं।

२—**स्वगत-कथन द्वारा**—यह यद्यपि आज कल अस्वाभाविक माना जाने लगा है परन्तु चरित्र-चित्रण का यह एक उत्कृष्ट प्रकार है। जब कोई पात्र एकांत में स्वयं कुछ सोचता है और अपने विचारों को व्यक्त करता है तब उसकी चारित्रिक विशेषताएँ प्रत्यक्ष हो उठतीं हैं। वह एक प्रकार से उसकी आत्म-स्वीकृति होती है। आंतरिक संघर्ष का चित्रण तो स्वगत-कथन द्वारा ही होता है।

३—**कार्य-कलाप द्वारा**—मनुष्य के कर्म उसके चरित्र के सबसे अच्छे परिचायक होते हैं। मनुष्य के अच्छे-बुरे होने का अनुमान हम उसके कार्यों द्वारा ही लगा पाते हैं।

कथोपकथन— कथा-क्रम के विकास और चरित्र चित्रण के लिये कथोपकथन की अनिवार्य उपयोगिता मानी जाती है। कथोपकथन की सफलता पर एक प्रकार से नाटक की सफलता निर्भर करती है। उसमें नाटकीय वस्तु का विकास इसी के द्वारा सम्पन्न होता है। नाटकीय लाघव (Dramatic economy) लाने के लिए कथोपकथन छोटा ही न हो वरन् ऐसा भी हो जो चरित्र पर प्रकाश डाल सके। इसलिये नाटक में निरर्थक वार्तालाप के लिये कोई स्थान नहीं रहता। चरित्र-चित्रण में कथोपकथन का महत्व ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। इसके लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन लम्बे और अस्वाभाविक न होकर पात्रों की परिस्थितियों के अनुकूल हों। साथ ही कथोपकथन अभिनय के भी उपयुक्त होने चाहिए क्योंकि उनका अभिनय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे यहाँ आचार्यों ने कथोपकथन के तीन प्रकार माने हैं १—नियत श्राव्य—इसमें रंगमंच पर उपस्थित प्रत्येक पात्र के सम्मुख बात न कर कुछ निश्चित पात्रों से ही की जाती है। २—सर्व श्राव्य—इसे प्रकट या प्रकाश्य भी कहते हैं। यह सबके सुनने के लिए होता है। ३—अश्राव्य—यह रंगमंच पर उपस्थित किसी भी पात्र के द्वारा न सुना जाकर केवल दर्शकों द्वारा ही सुना जाता है। इसे स्वगत-कथन या स्वगत-भाषण भी कहते हैं। आज स्वगत-कथन को अनुचित माना जाने लगा है परन्तु नाटक में इसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साधारण रूप से जब कोई व्यक्ति अपने आप बोलने लगता है तो अस्वाभाविक लगता है, परन्तु नाटक में पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को प्रकाशित करने के लिए नाटककार के पास इसके अतिरिक्त और कोई उपयुक्त साधन नहीं रह जाता। परन्तु स्वगत-कथन में एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह लम्बा न होकर संक्षिप्त हो। आकाश-भाषित भी एक प्रकार का स्वगत-कथन ही है। इसमें पात्र आकाश की ओर देखकर इस प्रकार बात

करता है मानो कोई व्यक्ति ऊपर बैठा हुआ उसकी बात सुन रहा हो और उत्तर दे रहा हो। यूरोपिय नाटकों में स्वगत को हटा कर एक नया साधन अपनाया गया है। इसके अनुसार बोलने वाले पात्र के एक नवीन अन्तरंग मित्र की अवतारणा की जाती है जिससे वह अपने मन के सम्पूर्ण भेद और विचार निस्संकोच होकर व्यक्त कर देता है।

देशकाल तथा वातावरण—उपन्यास की भाँति नाटक में भी देशकाल तथा वातावरण का चित्रण उपयुक्त, पूर्ण और हृदयग्राही होना चाहिए। इससे पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता और वास्तविकता आ जाती है। इसलिए प्रत्येक युग, प्रत्येक देश तथा वातावरण का चित्रण उसकी संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन और वेशभूषा के अनुरूप होना चाहिये। परन्तु इस चित्रण में रंगमंच की सुविधाओं और सीमित स्थान का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन ग्रीक आचार्यों ने नाटक में देश तथा काल की समस्या पर विचार कर 'संकलन-त्रय' का विधान किया था। इसके अनुसार स्थल, कार्य तथा काल की एकता पर विशेष ध्यान देना पड़ता था। उनका मत था कि किसी नाटक में घटित घटना किसी एक ही कृत्य से, एक ही स्थान से सम्बन्धित हो और एक ही दिन में घटी हो। परन्तु आज इस सिद्धान्त का पालन नहीं किया जाता। वर्तमान एकांकियों में अवश्य कुछ सीमा तक इसका पालन हो रहा है।

उद्देश्य—नाटक के उद्देश्य के विषय में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है। भारतीय आचार्यों ने नाटक में रस को प्रमुखता देते हुए ही रस-सिद्धान्त की स्थापना की थी। संस्कृत के नाटकों में कोई न कोई रस अङ्गी रूप से रहता है। उसके साथ दूसरे रस भी अङ्ग-रूप से विद्यमान रहते हैं। उनमें रसों का समावेश रस-मैत्री और रस-विरोध के नियमों के आधार पर किया गया है। हमारा देश आदर्शवादी रहा है अतः यहाँ साहित्य की रचना सदैव सोद्देश्य रही है। धर्म, अर्थ और काम जीवन के तीन प्रत्यक्ष उद्देश्य माने गये हैं, अतः यहाँ नाटक द्वारा इन तीनों की या इनमें से किसी एक की प्राप्ति नाटक का उद्देश्य माना गया है। पाश्चात्य नाटकों में व्यक्त या अव्यक्त रूप से कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। वह किसी प्रकार की जीवन मीमांसा या विचार सामग्री के रूप में आता है। आन्तरिक और वाह्य-सङ्घर्ष द्वारा ही दर्शक या पाठक उस उद्देश्य को समझने में सफल होते हैं। उद्देश्य की प्राप्ति के साथ ही संघर्ष का शमन हो जाता है। नाटककार अपने इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से स्वयं न कर कथोपकथन के द्वारा ही व्यक्त करता है। इसलिए इसमें एक अस्पष्टता रहती है। अनेक बार

उद्देश्य कथानक में ही व्यंजित होता है। परन्तु अक्सर नाटककार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट पात्र के माध्यम द्वारा ही करता है। हम नाटककार का वास्तविक उद्देश्य भली प्रकार तभी जान सकते हैं जब पात्रों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर नाटककार के असली विचारों को समझ सकें। नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हमें निम्नलिखित बातों का ज्ञान होता है—

१—नाटककार हमारे सम्मुख किस नैतिक आदर्श को उपस्थित करता है ? उसका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या है ? नाटक में अभिव्यक्त उद्देश्य हमारे जीवन को किस रूप में प्रभावित करता है ?

२—नाटककार द्वारा चित्रित आदर्श हमारे सामने उसके देश तथा समाज के नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों को प्रस्तुत करते हैं। उससे हमें यह मालूम हो जाता है कि उसका देश नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से कितना उन्नत और कितना पतित है।

३—नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जीवन के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण रखता है अथवा यथार्थवादी ? उसमें निराशा का आधिक्य है अथवा आशा का ?

शैली—नाटक की शैली में भी साहित्य के अङ्गों के लिए अपेक्षित शैली का ध्यान रखना पड़ता है। कथोपकथन की शैली ही नाटक की प्रधान शैली है। शैली को नाटक में 'नाट्यमातरः' अर्थात् नाटक की माताएँ कहा गया है। ये चार प्रकार की होती हैं। १—कौशिकी वृत्ति—इसका सम्बन्ध श्रृङ्गार और हास्य से है। इसमें गीत- नृत्य की बहुलता रहती है। गायन प्रधान होने के कारण इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी गई है। २—सात्वती वृत्ति—इसका सम्बन्ध शौर्य, दान, दया आदि से है। यह आनन्द को बढ़ाती है। इसमें वीर, रौद्र और अद्भुत रस का समावेश रहता है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी गई है। ३—आरभटी वृत्ति—इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष आदि के द्वारा रस की उत्पत्ति की जाती है। इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद से कही जाती है। भारती वृत्ति—इसका सम्बन्ध स्त्रियों से न होकर केवल पुरुषों से होता है। इसका सम्बन्ध शब्दों से तथा प्रायः सब रसों से होता है तथा इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से बताई गई है।

उक्त विवेचन के उपरान्त नाटक के अभिनय और रंगमंच का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है क्योंकि इन दोनों के अभाव में नाटक का अस्तित्व व्यर्थ है।

अभिनय—भारतीय आचार्यों के अनुसार अभिनय नाटक का प्रमुख अंग

है। दूसरों के अनुकरण को अभिनय कहा जाता हैं। इसी के साथ नाटक का उदय हुआ है। यह नाटक की अभिव्यक्ति का प्रधान साधन है। भरत मुनि ने अभिनय के चार प्रकार माने हैं। १–आंगिक इसमें शरीर के विभिन्न अङ्गों के संचालन द्वारा भाव और कार्य प्रकट किये जाते हैं। यह तीन प्रकार का माना गया है–१–शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत। २–वाचिक—इसका सम्बन्ध वाणी से है। इसके द्वारा आंगिक अभिनय को स्पष्टता प्रदान की जाती है। इसके लिए स्वरशास्त्र, व्याकरण, छन्द शास्त्र, बोलने और पाठ करने की विधियाँ आदि का ज्ञान आवश्यक बताया गया है। अभिनय के इस भेद के कारण ही हमारे यहां कथोपकथन को नाटक का पृथक तत्व नहीं माना गया क्योंकि कथोपकथन सम्बन्धी सब निर्देश वाचिक अभिनय में आ जाते हैं। ३—आहार्य–इसमें वेशभूषा, आभूषण, वस्त्र तथा विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा का उल्लेख रहता है। इसके अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, देवता तथा सम्पन्न व्यक्ति आदि गौर वर्ण के होते थे। साथ ही राजे-महाराजे मुकुटधारी और विदूषक गँजे हुआ करते थे। ४ सात्विक---इसमें स्वेद, रोमाँच, कम्प, स्तम्भ और अश्रु आदि द्वारा सात्विक भावों का प्रदर्शन किया जाता था। इसका सम्बन्ध भावों से है। साधारण आंगिक अभिनय से इसमें यही अन्तर है कि उसमें गतियों का अभिनय हो सकता है परन्तु सात्विक में केवल भावों का ही।

रङ्गमंच—नाटक की सार्थकता उसके अभिनीत होने में ही है यद्यपि कुछ नाटक केवल पढ़ने के लिये ही होते हैं। जैसे प्रसाद के अधिकांश नाटक। भरत मुनि ने नाटकों को अभिनीत करने के लिये रङ्गमंचों का विषद् विवेचन किया है। प्राचीनकाल में नाटकों का अभिनय होता था इसलिये रङ्गमंच की सुचारु व्यवस्था थी, रङ्गमंच की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि की सीमायें निश्चित थीं। परन्तु हिंदी में नाटकों का अभाव होने के कारण रंगमंच का कोई विकास नहीं हो पाया। आधुनिक काल में आकर जब नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई तो रंगमंच की ओर लोगों का ध्यान गया। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का रंगमंच अत्यन्त निम्नकोटि का और अव्यवस्थित था। भारतेन्दु ने इसमें कुछ सुधार किये। उसी समय से हिन्दी के रंगमंच का अस्तित्व प्रारम्भ होता है। कुछ समय तक इसका विकास हुआ परन्तु बहुत थोड़े रूप में। उसे पूर्णता कभी प्राप्त न हो सकी। सिनेमा के आविष्कार ने तो उसे प्रायः समाप्त ही कर दिया। इधर एकांकियों के प्रचलन से पुनः रंगमंच की उन्नति की ओर हिन्दी संसार का ध्यान गया है।

विकास

नाट्कों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डाक्टर

रिजवे नाटकों की उत्पत्ति के मूल में मृतक वीरों की पूजा को ही प्रधान मानते हैं। उनके अनुसार मृतात्माओं की प्रसन्नता तथा उनके प्रति अपना आदर भाव प्रकट करने के लिए नाटक किये जाते थे। यह कथन आंशिक रूप से सत्य है। यदि इसे पूर्ण रूप से सत्य मान लिया जाय तो नाटक की सीमाओं को बहुत संकुचित कर देना पड़ेगा। डाक्टर पिसेल पुतलियों के नाच से नाटक की उत्पत्ति मानते हैं। सूत्रधार, स्थापक आदि शब्दों द्वारा इस मत की पुष्टि होती है। कठपुतलियों का उल्लेख वृहत्कथा, बाल रामायण तथा महाभारत आदि में मिलता है। अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान नाटक की उत्पत्ति वेद से मानते हैं। वेदों में आये हुए कुछ सम्वादों को नाटक का मूल रूप माना जा सकता है। हमारे यहाँ बाल्मीकि रामायण, हरिवंश पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी नाटकों का उल्लेख आता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारा नाट्य-साहित्य संसार का प्राचीनतम साहित्य है।

भारतीय नाट्य-कला की उत्पत्ति के विषय में अनेक विदेशियों की यह भी धारणा है कि यह यूनानी नाट्यकला की नकल है या उससे प्रभावित है। इस विचारधारा के लोग 'यवनिका', 'यवनी' और 'शकारि' आदि शब्दों के आधार पर यह कहते हैं कि इन शब्दों पर यूनान का प्रभाव है। लेकिन 'यवनिका' की व्युत्पत्ति 'युगि भ्रमणो' के अर्थ में और 'जवनिका' की 'जवाच्छदेन' के अर्थ में पाई जाती है। प्रसादजी ने 'जवनिका' को मूल शब्द माना है। 'जव' का अर्थ है त्वरा। जो त्वरापूर्वक उठाया या गिराया जाय वह 'जवनिका'। यवनिका इसी से बना है। दूसरी बात यह है कि यूनानी नाटकों में 'जवनिका' (ड्राप-सीन) होती ही नहीं। 'यवनी' और 'शकारि' पर भी यूनानी प्रभाव नहीं है। तीसरी बात यह कि भारतीय और यूनानी नाटकों के तत्वों में भी पर्याप्त अन्तर है। यूनानी नाटक दुखांत होते हैं जबकि हमारे नाटक सुखांत हैं। यूनानी नाटकों में केवल चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है जबकि हमारे यहाँ प्रकृति चित्रण और रस की प्रधानता है। यूनानी नाटक बहुधा खुले हुए मैदानों में खेले जाते थे और ऐसे अखाड़ों आदि के मध्य में होते थे जिनमें और भी अनेक प्रकार के खेल तमाशे होते थे जबकि भारतीय नाटकों का अभिनय विशेष प्रकार के प्रेक्षाग्रहों में होता था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नाट्य-कला भारतीय मनीषियों की स्वतन्त्र चिन्तन की उत्पत्ति है न कि यूनानी नाट्य कला से प्रभावित।

साथ ही हमारी नाट्यकला संसार की प्राचीनतम नाट्यकला है। भरत मुनि के अनुसार, जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, स्वयं ब्रह्मा ने इसकी रचना कर इसे पंचम वेद माना था क्योंकि इसके द्वारा शूद्रों के मनोरंजन का

भी विधान किया था। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से भी पूर्व नाटकों का उल्लेख मिलता है। आचार्य पाणिनी की अष्टाध्यायी, जिसका रचनाकाल ४०० ई० पू० माना जाता है, में 'कृष्णाश्व' और 'शिलालिन' नामक दो नाटककारों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के कुछ काल बाद रचित हरिवंश पुराण में लिखा है कि 'बज्रनाभ' नगर में 'रामजन्म' और 'कौवेरारम्भभिसार' नामक नाटकों का सफल अभिनय हुआ। ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग 'भास' ने 'स्वप्नवासवदत्ता' आदि १३ नाटक लिखे। ईसा की चौथी-पांचवी शताब्दी में कालिदास ने नाट्यकला को चरम विकास पर पहुंचा दिया। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भारतीय नाट्यकला अत्यन्त प्राचीन और मौलिक है।

नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतया दो मत ठहरते हैं। पहला यह कि भारत में नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ और दूसरा यह कि उनका उदय लौकिक और सामाजिक कृत्यों से हुआ। यह विदेशी विद्वानों की धारणा है। परन्तु वे यह भेद करते समय यह भूल जाते हैं कि हमारे यहाँ धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्यों में कभी कोई भेद नहीं रहा है। यहाँ एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है। भारत में धर्म मानव जीवन का अभिन्न अङ्ग रहा है। इसलिए जीवन में आनन्द के जितने साधन हैं उनका मूल धर्म में ही है। नाटक की रचना के मूल में भी धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही प्रधान उद्देश्य माना गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय नाटकों का उदय वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों पर होने वाले अभिबयात्मक नृत्य, सम्वाद आदि से हुआ। बाद में रामायण, महाभारत काव्य ग्रन्थों आदि से उसे अन्य सामग्री मिली जिससे उसका रूप पूर्ण हो गया जिसका विकास संस्कृत नाटकों में मिलता है। परन्तु संस्कृत नाटकों की यह परम्परा हिन्दी में विकास नहीं पा सकी। बीच में सैकड़ों वर्षों के लिए उसका स्रोत प्रवाह रुक गया।

गद्य की अन्य विधाओं के समान वर्तमान नाटक-साहित्य का विकास भी भारतेन्दु-युग से ही माना जाता है। भारतेन्दु से पूर्व सब मिलाकर हिन्दी में एक दर्जन भी नाटक नहीं मिलते और जो हैं भी उनमें वार्तालाप, प्रवेश और प्रस्थान के अतिरिक्त नाटकत्व के कोई भी प्रधान लक्षण नहीं हैं। यद्यपि हिन्दी को संस्कृत और प्राकृत नाटकों की अमूल्य पैतृक सम्पत्ति प्राप्त थी तथापि हिन्दी के साहित्यकार उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व उसका उपयोग न कर सके। इसके कई कारण थे। कुछ विद्वानों का मत है कि हमारे यहाँ कोई राष्ट्रीय रङ्गमंच नहीं था, अन्य लोग नाटक का अभाव गद्य साहित्य के अभाव और हीनता के कारण भी मानते हैं। हिन्दी का गद्य न के बराबर था और नाटकों में

गद्य की प्रधान आवश्यकता होती है। तीसरा मत यह है कि मुसलमान शासकों ने नाटकों को नहीं पनपने दिया क्योंकि इस्लाम में किसी की नकल उतारना पाप माना गया है। परन्तु ये तीन कारण प्रधान न होकर गौण कारण हैं। मुसलमानी शासन में हिन्दुओं ने अनेक सुन्दर राजप्रासादों, मन्दिरों आदि का निर्माण किया था। यदि वे चाहते तो राष्ट्रीय रङ्गमंच का निर्माण कर सकते थे। 'दोसौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' आदि गद्य ग्रन्थों में प्रयुक्त गद्य का भी विकास किया जा सकता था। मुस्लिम शासकों में औरङ्गजेब को छोड़कर अन्य कोई भी शासक इतनी संकीर्ण धार्मिक बुद्धि का नहीं था जो नाटक के विकास में बाधा डालता। हिन्दी का प्रथम नाटक 'इन्दर-सभा' एक मुसलमान शासक की अभिभावकता में लिखा और खेला गया था। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास न होने के कारण इनसे भिन्न थे।

हिन्दी में नाटक-साहित्य का विकास न होने के कारणों में सर्व प्रमुख कारण यह था कि ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के पश्चात संस्कृत नाटकों का स्तर बहुत गिर गया था। मौलिकता और परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से यह काल अत्यन्त दरिद्र माना जाता है। इस काल के प्रमुख संस्कृत-नाटककारों मुरारि, राजशेखर, जयदेव आदि के नाटकों में नाटकीय तत्वों का पूर्ण अभाव है। इनके सभी नाटकों में शिथिल कथानक, वर्णनात्मक कविताओं और प्रगीत मुक्तकों की भरमार है। ये नाटक चरित्र, सम्वाद, अन्तर्द्वन्द्व और सभी दृष्टियों से खोखले हैं। हिन्दी को यही पिछली परम्परा विरासत के रूप में मिली थी। इसी कारण बनारसीदास का 'समय-सार' (सं० १५९३), प्राणचन्द चौहान का 'रामायण महानाटक' (सं० १६६७), रघुराय नागर का 'सभासार' (सं० १७५७) और लच्छिराम का 'करुणा भरण' (सं० १७७२) आदि सभी नाटक प्रायः छन्दोबद्ध हैं। इसका दूसरा कारण यह था कि सन्तों की निराशा-मूलक वाणी के कारण नाट्य सृजन की प्रेरणा कुण्ठित हो गई थी। सभी सन्तों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया था कि संसार में केवल दुःख ही दुःख है। इस दुःखवाद की प्रधानता के कारण ऐहिक जीवन के प्रति उत्साह समाप्त हो गया। नाटक प्रगतिशील जीवन का चित्र है, अजगर की भांति आलस्य का जीवन बिताने वालों के जीवन का नहीं। अतः ऐसी दशा में नाटकों की क्या आशा की जा सकती थी। तीसरा कारण यह था कि हिन्दी का प्रारम्भिक काल मार-काट से परिपूर्ण क्षुब्ध वातावरण का काल था। इस अशान्ति के युग में नाटक का विकास असम्भव था। बहुत समय की अशान्ति और उत्पीड़न ने जातीय जीवन को निरुत्साहित कर दिया था। परन्तु सोलहवीं सदी में आते-आते वैष्णव आन्दोलन ने जन-जीवन को झकझोर कर उठा दिया। इसी आन्दोलन ने

रामलीला और रासलीला के रूप में जनता को उनकी नाट्यशालाएँ भेंट कीं। इन्हीं के द्वारा तुलसी और सूर की रचनाएँ झोंपड़ियों तक पहुँच सकीं। परन्तु रीतिकाल में चिंतनहीनता पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। कवियों और जनता के बीच दुर्लंघ्य खाई थी। संस्कृत नाटकों की पिछली परम्परा का स्रोत भी सूख गया था। ऐसी दशा में कौन नाटक लिखता।

अंग्रेजी राज्य के आगमन ने जीवन की वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान आर्कषित हुआ। उस शांतिपूर्ण युग में हमारी समस्याओं की अभिव्यक्ति नाटकों द्वारा होने लगी। भारतेन्दु युग में नाटक साहित्य का विकास प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दु से पूर्व भी हिन्दी में कई नाटक लिखे गये थे जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त हृदय राम का 'हनुमन्नाटक', देव कवि का 'देवमाया प्रपंच', महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन', महाराज जसवन्तसिंह का 'प्रबोध चन्द्रोदय', ब्रजवासीदास का 'प्रबोध चन्द्रोदय', नेवाज कवि का 'शकुन्तला' तथा हरिराम का 'सीता स्वयंवर' आदि नाटक भी पूर्व भारतेन्दु काल में लिखे गये थे। उपर्युक्त नाटकों में से कुछ नाटकीय कविता तथा कुछ अनुवाद हैं। इसी समय के दो रंगमंचीय नाटक और मिलते हैं—अमानत का लिखा हुआ 'इन्दर सभा' तथा एक अन्य कवि का लिखा हुआ 'जानकी मङ्गल'। 'इन्दर सभा' गीत-नाट्य परम्परा का प्रथम नाटक माना जा सकता है। इसकी रचना सं० १८५०, ६० के लगभग हुई थी। यह अपने गीतों के कारण बहुत लोकप्रिय रहा था। इन सभी नाटकों में पद्य की प्रधानता और नाटकीय नियमों का अभाव था। साहित्यिक दृष्टि से इनका मूल्य नगण्य है। भारतेन्दु से पहले के मौलिक नाटकों में दो उल्लेख योग्य हैं—महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' तथा भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र का 'नहुष'। अनूदित नाटकों में राजा लक्ष्मणसिंह का 'अभिज्ञान शकुन्तला' का हिंदी अनुवाद बहुत प्रसिद्ध हुआ जिसमें मूल कृति का सा सौन्दर्य पाया जाता है। इसका गद्य खड़ी बोली का और पद्य ब्रज भाषा में है। एक प्रकार से खड़ी बोली में लिखा गया यह हिन्दी का सर्व प्रथम अनूदित नाटक है। कालक्रमानुसार इनके उपरान्त भारतेन्दु का नाम आता है।

भारतेन्दु से पूर्व पारसी थियेटरों का युग भी महत्वपूर्ण है। सन् १८७० के लगभग पेस्टनजी फ्रामजी ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' खोली जिसके उपरान्त अनेक अन्य कंपनियों की स्थापना हुई। इन्होंने कोई प्रसिद्ध नाटककार तो नहीं उत्पन्न किया परन्तु हमें एक अत्यन्त उपयोगी वस्तु दी—रङ्गमंच। प्रत्येक कंपनी का अपना नाटककार होता था जो कंपनी के लिए नाटक लिखता था। इनमें 'रौनक' बनारसी, बिनायक प्रसाद ताबिल बना-

रसी, अहसान लखनवी बहुत प्रसिद्ध हैं। 'रौनक' की 'गुलवकावली' और 'इन्साफे महमूद' प्रसिद्ध नाटक हैं। संक्षेप में भारतेन्दु पूर्व युग की यही नाटक परम्परा है।

भारतेन्दु के हिन्दी-साहित्य में पदार्पण करते ही उसका प्रत्येक क्षेत्र एक नवीन चेतना से भर उठा। नाटक-साहित्य भी इसके प्रभाव से न बच सका। हिन्दी नाटकों का वास्तविक विकास भारतेन्दु युग से ही माना जाना चाहिए। भारतेन्दु का युग प्राचीन और नवीन के संघर्ष का युग था। उनके नाटकों में इस संघर्ष की तीव्र ध्वनि है। भारतेन्दु ने दो प्रकार के नाटक लिखे—मौलिक और अनूदित। मौलिक नाटकों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, प्रेमजोगिनी आदि हैं। इन नाटकों में उन्होंने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से सामग्री ली है। चन्द्रावली में प्रेम का आदर्श, नीलदेवी में ऐतिहासिक वृत्त, भारतदुर्दशा में देशदशा आदि का चित्रण है। उनके अनूदित नाटकों में विद्या सुन्दर, पाखण्ड बिडम्बन, धंनजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, भारत जननी आदि हैं। उनका सत्य हरिश्चन्द्र मौलिक नाटक माना जाता है परन्तु आचार्य शुक्ल उसमें एक बंगला नाटक की छाया देखते हैं। इनके नाटकों पर बङ्गला और संस्कृत के नाटकों का प्रभाव है। बङ्गला नाटक अंग्रेजी से प्रभावित हैं। इस तरह इनके नाटकों में अज्ञात रूप से भारतीय और यूरोपीय नाट्यकला का सुन्दर समन्वय हुआ है। जिन्दादिली भारतेन्दु के नाटकों की विशेषता है। सभी नाटक अभिनेय हैं।

भारतेन्दु के प्रभाव से उनके समकालीन सभी साहित्यकारों ने नाटक लिखे जिनमें भारतेन्दु के अतिरिक्त दो लेखक प्रभावशाली थे—प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्णदास। मिश्र जी ने गो संकट, कलि प्रभाव, जुआरी ख्वारी और हम्मीर हठ नामक चार नाटक लिखे। राधाकृष्णदास ने महारानी पद्मावती, महाराणा प्रताप, दुखिया बाला आदि अनेक सुन्दर नाटकों का निर्माण किया। इनके अतिरिक्त श्रीनिवासदास ने रणधीर-प्रेममोहिनी, संयोगिता स्वयंवर, तप्ता-सम्वरण; प्रेमघन ने भारत सौभाग्य; बाबू गोपालचन्द्र ने 'बूढ़े मुंह मुंहासे लोग चले तमाशे'; बाबू केशवदास ने सज्जाद सम्बल, शमशादसौसन; गजाधर भट्ट ने मृच्छकटिक; अम्बिकादत्त व्यास ने 'लतिका' आदि नाटक इसी काल में लिखे। साहित्यिक दृष्टि से उक्त नाटकों का मूल्य अधिक नहीं माना जाता। इनमें मौलिकता और नाटकीय गुणों का अभाव है। इन नाटकों की दो विशेषताएँ हैं। १—देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि दैवी पात्रों का अभाव और इनके स्थान पर मनुष्य की बुद्धि और भावों के चमत्कार का प्रदर्शन। इस प्रकार

इस काल में नाटक साहित्य का मनुष्य के जीवन से निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया। २—पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग हुआ। आलोचक बच्चनसिंह के शब्दों में "शैली की दृष्टि से इस पूरे काल में नाटकों का अपेक्षित विकास न हो सका।" बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास आदि के नाटकों के कथानक अत्यन्त शिथिल हैं। चरित्रों का व्यक्तित्व नाटककारों के व्यक्तित्व से लिपटा रह गया, उनकी स्वतन्त्र स्थिति न बन सकी। संस्कृत का स्वगत-भाषण और काव्यात्मक वातावरण भी बहुत कुछ ज्यों का त्यों रह गया। रीतिकालीन कविता के प्रभाव से चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी बढ़ी। हाँ, जहाँ तक वस्तुचयन की विविधता तथा सामान्य पात्रों के चुनाव का प्रश्न है इस काल के नाटक संस्कृत की घिसी पिटी परिपाटी को काफी पीछे छोड़ चुके थे।

इस काल के उपरान्त महावीरप्रसाद द्विवेदी का सुधारवादी युग आया। इसमें नाटक के विकास में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। भारतेन्दु युग की प्रवृत्तियाँ थोड़े बहुत अन्तर के साथ यथावत् चलती रहीं। इस काल में ऐतिहासिक नाटक विशेष रूप से अधिक लिखे गये। इन नाटकों के नायक सात्विक वृत्ति वाले महापुरुष रहे। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामने', मिश्रबन्धु का 'शिवाजी' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं। प्रेमचन्द ने 'कर्बला' नाटक लिखकर सर्व प्रथम मुस्लिम संस्कृति पर सहानुभूति पूर्वक विचार किया। इसके अतिरिक्त अन्य नाटकों के विषय बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, मुकद्दमेबाजी आदि सामाजिक बुराइयों के निराकरण के लिये चुने गए। बद्रीनाथ भट्ट ने 'मिस अमेरिका' और 'विवाह विज्ञापन' नामक प्रहसन लिखकर क्रमशः रीतिकालीन अश्लीलता और पाश्चात्य सभ्यता की कृत्रिमता पर प्रकाश डाला। जी० पी० श्रीवास्तव ने भी कुछ प्रहसन लिखे जिनका स्तर काफी नीचा रहा।

इस काल में मौलिक नाटकों के अभाव में अनुवादों की परम्परा चली। अनुवाद बङ्गला, संस्कृत और अंग्रेज़ी से हुए। बाबू सीताराम ने नागानन्द, मृच्छकटिक, मालती माधव का संस्कृत से अनुवाद किया। ये अनुवाद भाषा की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हुये हैं। बंगला से द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का रूप-नारायण पांडेय और रामकृष्ण वर्मा ने अनुवाद किया। ये अनुवादित नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुए। नाथूराम प्रेमी और धन्यकुमार जैन ने भी अनेक बंगला नाटकों का अनुवाद किया। अंग्रेज़ी नाटकों के हिन्दी अनुवादकों में गंगाप्रसाद पांडेय, पुरोहित गोपीनाथ, मथुराप्रसाद उपाध्याय प्रमुख हैं। इन्होंने विशेष रूप से शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया है।

उपर्युक्त अनुवादों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के मौलिक नाटकों का सृजन

भी इस काल में हुआ। इनमें से एक प्रकार के नाटक वे थे जिनके नायक सात्विक वृत्ति वाले थे। (इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है)। दूसरे प्रकार के नाटक वे थे जिन पर पारसी नाट्यकला का प्रभाव था। इनमें राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताव, आगाहश्र कश्मीरी और हरिकृष्ण जौहर प्रमुख हैं। तीसरे प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें दृश्य काव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य के गुण अधिक हैं। इनमें मिश्रबन्धु का 'नेत्रोतचीन'; बद्रीनाथ भट्ट का चन्द्रगुप्त, बेनचरित्र, दुर्गावती आदि; राय देवीप्रसाद पूर्ण का चन्द्रकला, भानकुमार; मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'मिलन मधुर' नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। यहाँ तक प्रायः भारतेन्दु की मिश्रित शैली पर ही नाटक लिखे गए। इसके उपरान्त नाटककारों ने भारतेन्दु पद्धति का त्याग कर अँग्रेजी पद्धति अपनाई। इसके प्रभाव स्वरूप नाटकों में से प्रस्तावना, विष्कंभक आदि को उड़ा दिया गया। अंकों को दृश्यों में विभाकिया गया। दृश्य और सूच्य का भेद भी गायब हो गया। मंच पर उपस्थित करने वाले दृश्यों में कोई बन्धन नहीं स्वीकार किया गया। यहीं से हिन्दी नाटकों का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। इस काल में नाटक जगत में जयशङ्करप्रसाद का आविर्भाव हुआ। इसे नाटक का उत्थान युग या प्रसाद युग कह सकते हैं।

जिस प्रकार कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द के पदार्पण करने से एक युगान्तरकारी परिवर्तन आया था उसी प्रकार प्रसाद के नाटक-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से हिन्दी-नाट्य-साहित्य का कायाकल्प हो गया। आधुनिक हिन्दी नाटकों के पूर्ण साहित्यिक स्वरूप का प्रस्फुटन इन्हीं नाटकों में दिखाई दिया। इन्होंने गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता, संस्कृति और परम्परा का चित्र उपस्थित करने वाले नाटक लिखे। इन्होंने अपने नाटकों के कथानक महाभारत के उत्तरार्द्ध काल से लेकर सम्राट हर्षवर्धन के काल तक के लिए क्योंकि यही काल भारतीय सभ्यता के गौरव का काल है। प्रसाद जी के प्रयत्न और प्रभाव से हिन्दी नाट्यकला में बहुत परिवर्तन हुए। नाटकों के बाह्य आकार और अवयवों के विन्यास में वैचित्र्य आया। प्राचीन नाट्य शास्त्र में वर्जित दृश्यों आदि का दिखाया जाना तथा अन्य अनेक नियमों का उल्लंघन हुआ। वध, आत्महत्या, युद्ध आदि वर्जित दृश्यों को खुलकर दिखाया गया। इन्होंने मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण को अपना आधार बना कर पात्रों का अङ्कन किया। इनकी नाट्यकला में भारतीय और युरोपिय दोनों प्रणालियों का सुन्दर समन्वय हुआ। इन्होंने जहाँ भी कोई उपयोगी

तत्व देखा उसे निस्संकोच ग्रहण कर लिया। परन्तु इसमें अन्धानुकरण की भावना नहीं थी। इसी कारण योरोप में प्रचलित शील वैचित्र्यवाद का पूर्ण अनुसरण न करके रस-विधान और शील-वैचित्र्य का सामंजस्य रखा। प्रसाद के नाटक निम्नलिखित हैं—स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, कामना, जन्मेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, सज्जन, करुणालय, प्रायश्चित और एक घूँट।

प्रसाद का युग राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक उथल-पुथल का युग था। इस परिस्थिति ने हमें बाध्य किया कि हम अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के विषय में सोचें। उस समय कोई हल नहीं सूझता था। प्रसाद ने इसलिए प्रेरणा ग्रहण करने के लिए अतीत की ओर देखा। पद दलित जाति के लिए उसका अतीत बड़ा आकर्षक होता है। दूसरा कारण यह था कि प्रसाद मूलतः दार्शनिक थे। शैवागम के 'आनन्द' की उपासना के कारण उन्होंने घबड़ाना नहीं सीखा था। उनका दृढ़ विचार था कि अखंड भारतीयता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान यदि सम्भव है तो भारतीयता के उज्ज्वलतम उदाहरणों को ही भारतीयों के सम्मुख रखना चाहिए। इसके लिए वे प्राचीन भारत और नवीन यूरोप को एक साथ लेकर चले। ऐतिहासिक अनुशीलन और नवीन कल्पना के योग से उन्होंने नाट्यकला में नवीनता की उद्भावना की। नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता यूरोप की देन थी। प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिकता होते हुए भी इसी कारण आधुनिकता की छाप है। इस प्रकार उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, उनका दार्शनिक चिन्तन, उनकी स्वाभाविक चरित्र कल्पना, उनका राष्ट्रीयता के प्रति उत्कट आग्रह, उनका संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज करना आदि ऐसी बातें हैं जो उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित करती हैं।

प्रसाद जी के पश्चात् हिन्दी में दो नाटककारों ने विशेष कार्य किया है—हरिकृष्ण प्रेमी और उदयशंकर भट्ट। प्रेमी जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में मुगलकालीन राजपूती गौरव की झलक और हिन्दू-मुस्लिम एकता का चित्रण किया। 'रक्षाबन्धन' इनका प्रसिद्ध नाटक है। अन्य नाटकों में 'स्वप्न-भंग', 'आहुति', 'विषपान' आदि उल्लेखनीय हैं। भट्टजी ने अधिकांशतः पौराणिक नाटक लिखे। संगर विजय, अम्बा, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इनके अतिरिक्त इसी काल में उग्र, माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्दवल्लभ पन्त, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, पंत, सत्येन्द्र, रामनरेश त्रिपाठी, चतुरसेन शास्त्री आदि ने अनेक नाटकों का सृजन कर हिन्दी नाटक साहित्य को आगे बढ़ाया। उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त दो नाटककार विशेष रूप से और

उल्लेखनीय हैं—लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास । मिश्र ने इब्सन और शॉ से प्रभावित होकर नवीन प्रकार के समस्या-नाटक लिखे जिनमें सिंदूर की होली, सन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें संस्कृत नाट्य शास्त्र के नियमों के उल्लंघन के साथ-साथ पात्रों की संख्या भी कम है। सङ्गीत और स्वगत-कथनों का पूर्ण बहिष्कार है। साथ ही रंग-मंच के निर्देश ब्यौरे के साथ दिए हैं। ये चरित्र प्रधान यथार्थवादी नाटक हैं। सेठजी भी इसी पंथ के अनुगामी हैं। उनके प्रकाश, हर्ष और कर्तव्य तीन नाटक प्रसिद्ध हैं। इनमें मिश्रजी के नाटकों की अपेक्षा अभिनेयता अधिक है।

उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त इस काल में कई अन्य शैलियों में लिखे गए नाटक भी मिलते हैं जैसे नाट्य रूपक, गीति नाट्य, भावनाट्य एवं एकाङ्की। आजकल एकाङ्कीयों का प्रचलन बहुत बढ़ता जा रहा है। साथ ही रेडियो-नाटक का भी खूब प्रसार हो रहा है। आधुनिक नाटककार बड़े-बड़े नाटक लिखने की अपेक्षा छोटे-छोटे नाटक लिखना अच्छा समझते हैं क्योंकि आज जनता में इन्हीं की माँग है और इन्हीं का सबसे अधिक अभिनय होता है।

— :o: —

१२—आलोचना : स्वरूप और विकास

स्वरूप

प्रत्येक वस्तु के परखने और उसके गुण दोष निश्चित करने की प्रवृत्ति हरेक व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्रत्येक मनुष्य को किसी वस्तु के लिए "अच्छी है या बुरी है, या इस श्रेणी की है" इस प्रकार कोई न कोई मत निश्चित करना होता है। आलोचना इन विभिन्न रूपों की विश्लिष्ट व्याख्या कर उनके सत्य स्वरूप का उद्घाटन करती हैं। कला के सम्पर्क से उत्पन्न रसानुभूति की आलोचना भौतिक व्याख्या है। आलोचक विश्लेषण करता है, वह हमारे मस्तिष्क में उन तत्वों की विश्लिष्ट चेतना उत्पन्न करता है जो किसी साहित्यिक कृति अथवा उसके किसी अंश को रसमय या नीरस बनाते हैं। काव्य की विशेषताओं को सामान्य नाम देने का अर्थात् सामान्य रूप में प्रकट करने का नाम ही आलोचना है। इसकी सहायता से पाठक सत्-असत् साहित्य के विधायक तत्वों की सचेत अवगति प्राप्त करता हैं। इसके द्वारा साहित्य का रस-ग्रहण एक अन्य व्यापार न रहकर चेतना मूलक व्यापार बन जाता है। आलोचनाशास्त्र की जानकारी रखने वाला पाठक अधिक सचेत भाव से साहित्य का रस लेता है। इससे हमारी रस-संवेदना का शिक्षण और परिष्कार होता है।

आलोचना की परिभाषा करते हुए डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि—"साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचना करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।···यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।" आलोचना के कार्य और प्रभाव को स्पष्ट करते हुए बाबू गुलाबराय कहते हैं कि—"आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है।"

संस्कृत आचार्यों ने कवि की सृष्टि को 'नियतिकृति नियम रहिताम्" मानकर भी उसे 'व्यवहार विदे' और 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' भी माना है। इस कवि की सृष्टि के रहस्य से पाठक को परिचित कराना ही सच्चे आलोचक

का कार्य और कर्त्तव्य है। यदि कोई मनीषी कलाकार जीवन की व्याख्या करता है तो एक निष्पक्ष और विद्वान् आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। इसलिए विद्वानों ने आलोचना के दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किये हैं—सत्साहित्य के निर्माण का प्रोत्साहन तथा असत् साहित्य का निराकरण। परंतु यदि दोष छिद्रान्वेषण के लिए ही आलोचना की जाती है तो उसका स्तर अत्यन्त छिछला और सत्साहित्य के लिए घातक हो उठता है। यदि आलोचना के मूल में परस्पर राग-द्वेष की भावना कार्य कर रही हो तो वह कभी भी हमारी मार्ग दर्शक नहीं बन सकती। सम्भवत: अपने समय की इसी राग-द्वेष पूर्ण आलोचना को देखकर भगवान् बुद्ध को अपने शिष्यों को यह चेतावनी देनी पड़ी थी कि—'वादं जातं नो उपेति', अर्थात् जहाँ वाद हो रहा हो–आलोचना हो रही हो वहाँ कभी न जाना चाहिए। इसलिए आलोचक के लिए विद्वान, आलोच्य वस्तु का पूर्ण ज्ञाता, उदार हृदय और निष्पक्ष होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि आलोचना होगी अवश्य; उसे रोका नहीं जा सकता।

साहित्य और आलोचना में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। अत्यन्त प्राचीन काल से हम इन दोनों को साथ-साथ चलता पाते हैं। जहाँ साहित्य है, वहाँ किसी न किसी रूप में आलोचना भी है। इसलिये भगवान बुद्ध के आदेशानुसार उसके प्रति उपेक्षा तो नहीं दिखाई जा सकती। आवश्यकता केवल इस बात की है कि आलोचक अपने विवेक को सदैव जागृत रखे। वह पाठक और लेखक के मध्य माध्यम का कार्य करता है। "उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व है। एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है तो दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वास-पात्र और प्रतिनिधि समझा जाता है। कवि की भाँति वह द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही होता है। लोक व्यवहार तथा शास्त्र का ज्ञान, प्रतिभा और अभ्यास आदि साधन जैसे कवि के लिये अपेक्षित हैं उसी प्रकार समालोचक के लिए भी।" इस प्रकार आलोचक का महत्व और कृति, कवि या लेखक के महत्व और कृति से किसी भी दशा में न्यून नहीं होता। दोनों का उत्तरदायित्व समान है। इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए आलोचना को साहित्य का एक अंग माना है।

हिन्दी में 'आलोचना' शब्द आजकल साहित्यिक समालोचना के लिये प्रयुक्त होता है जो अँग्रेजी शब्द 'लिटेरेरी क्रिटिसिज्म' (literary criticism) का समानार्थी है। 'क्रिटिसिज्म' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस', जिसका अभिप्राय विवेचन करना या निर्णय देना है, से मानी जाती है।

यूरोप में इस शब्द की परिधि में किसी कृति विशेष के समुचित अध्ययन के साथ ही उसके सृजन की प्रक्रिया, उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व तथा उसके युग एवं तत्कालीन प्रवृत्तियों का अध्ययन आदि सभी बातों का समावेश माना जाता है। पश्चिमी आलोचना के आदि गुरु प्लेटो साहित्य में ही नहीं वरन् साहित्यकार में भी श्रेष्ठ चरित्र, श्रेष्ठ आचरण तथा सत्यानुसरण का समावेश चाहते थे। उनके लिये वही साहित्य श्रेष्ठ तथा पठनीय है जो सत्य सन्देश द्वारा श्रेष्ठाचरण में सहयोग दे सके। वह आलोचना का नैतिकतावादी मानदण्ड था जिसका आधार 'आदर्श' था। परन्तु इसकी दृष्टि सीमित थी। अरस्तू ने इस दृष्टिकोण का परिष्कार और परिवर्धन कर साहित्य के 'सम्भावित सत्य' की स्थापना की। उनके अनुसार साहित्यकार जिस सत्य की अभिव्यक्ति करता है उसमें हमें विज्ञान की सत्यता के दर्शन नहीं होंगे। उसकी सत्य की अभिव्यक्ति दूसरे प्रकार की होगी। उसमें हमें वैज्ञानिक सत्य के दर्शन न होकर सम्भावित सत्य के दर्शन होंगे। यह यथार्थवादी दृष्टिकोण था। इस प्रकार यूरोपिय समीक्षा पद्धति में रचना के विषय, सौन्दर्य सिद्धान्त, रचनाकार की जीवनी आदि की दृष्टि से रचना के गुण दोषों और रचनाकार की अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन किया जाता है।

भारतीय आलोचना या समीक्षा, अत्यन्त प्राचीन होती हुई भी, पश्चिमी आलोचना से भिन्न और विलक्षण है। संस्कृत के समीक्षा शब्द का अभिप्राय 'अन्तर्भाष्य' तथा 'अवान्तरार्थ विच्छेद' मात्र माना जाता रहा है। इसी कारण समीक्षकों का ध्यान प्रधानतः आलोच्य ग्रन्थों तक ही सीमित रहता आया है। संस्कृत साहित्य में आलोचना उस भाव या ज्ञान को कहते हैं जिसकी सहायता से आलोचित ग्रन्थ का उचित ज्ञान प्राप्त हो सके। इसमें काव्य-तत्व के दार्शनिक अध्ययन एवं शास्त्रीय व्याख्यादि, अथवा अधिक से अधिक रचना शैलियों की परीक्षा पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। परन्तु पाश्चात्य आलोचना में क्रमशः साहित्यिक कृतियों के व्यावहारिक पक्ष को भी पूरी महत्ता प्रदान की गई है। अतएव भारतीय समीक्षा का क्षेत्र जहाँ अधिकतर काव्य-शास्त्र तक ही सीमित रहा है वहाँ पश्चिमी आलोचना एवं उससे प्रभावित हिन्दी आलोचना का सम्पर्क आधुनिक मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के साथ भी स्थापित हो गया है जिससे उसने एक स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है।

संस्कृत साहित्य में आलोचना की छः पद्धतियाँ प्रचलित थीं जिनका थोड़ा बहुत अनुकरण हिन्दी के वर्तमान साहित्यकारों ने भी किया है। ये छः पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं—(१) आचार्य पद्धति, (२) टीका पद्धति, (३) शास्त्रार्थ

पद्धति, (४) सूक्ति पद्धति, (५) खण्डन पद्धति, और (६) लोचन पद्धति। इन पद्धतियों का दृष्टिकोण केवल एक पुस्तक अथवा साहित्य के किसी एक विशेष गुण की आलोचना करना ही रहा है। ये विस्तृत अथवा सार्वदेशिक और सार्व-कालिक साहित्य को अपना आधार बनाने में असफल रही हैं। परन्तु इनकी इस सीमित एवं एकाङ्गी आलोचना को विस्तृत क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता था और किया जाता है। इन पद्धतियों की संक्षिप्त व्याख्या निम्न-लिखित है—

१—**आचार्य पद्धति**—संस्कृत के आचार्य अपने लक्षण ग्रन्थों में व्याख्यादि के लक्षणों का निरूपण करते थे। जिन लक्ष्य ग्रन्थों को वे उत्कृष्ट समझते थे उन्हें रस, अलङ्कार आदि के सुन्दर उदाहरणों के रूप में और जिन्हें निकृष्ट समझते थे उन्हें अधम काव्य या दोषों के रूप में उद्धृत करके उनके गुण दोषों की यथोचित समीक्षा करते थे। 'काव्यप्रकाश', 'काव्यदर्पण' आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। मध्ययुगीन हिन्दी आचार्यों ने अपने रीति-ग्रन्थों में अपनी ही रच-नाओं के उदाहरण दिए और दोषों की अवहेलना की। आधुनिक काल में भी इस पद्धति पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं जैसे—गुलाबराय का 'नवरस', कन्हैया-लाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम', शुक्लजी का 'रस मीमांसा', रामदहिन मिश्र का 'काव्य दर्पण', हरिऔधजी का 'रसकलश' आदि।

२—**टीका पद्धति**—इसमें सिद्धान्त की अपेक्षा आलोच्य ग्रन्थ को अधिक महत्व दिया गया था। टीकाकार टीका लिखते समय कवि के आशय को तो स्पष्ट करके बताते ही थे साथ ही उसकी उक्तियों की विशेषताओं तथा रस-ध्वनि, अलङ्कार आदि का भी उल्लेख करते थे। इस पद्धति ने रचनागत अर्थ पर ही अधिक ध्यान दिया। संस्कृत में मल्लिनाथ की टीकाएं प्रसिद्ध हैं। हिंदी में पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी सतसई', रत्नाकर का 'बिहारी रत्नाकर,' दीनजी की 'बिहारी बोधिनी' आदि इसी कोटि की कृतियाँ हैं। इस पद्धति पर हिन्दी साहित्य में तीन प्रकार की रचनाएं हुईं—अर्थ परिचय, रचना परिचय और रचनाकार के परिचय के रूप में।

३—**शास्त्रार्थ पद्धति**—पूर्ववर्ती समीक्षकों से असहमत होने पर परवर्ती आलोचकों ने तर्कपूर्ण उक्तियों के द्वारा दूसरों के मत का खण्डन और अपने मत का मण्डन करने के लिए शास्त्रार्थ पद्धति चलाई। इन लोगों ने विपक्ष के दोषों और स्वपक्ष के गुणों को ही देखने की चेष्टा की। 'रस गंगाधर' तथा 'काव्य विवेक' इसके सुन्दर उदाहरण हैं। हिन्दी साहित्य में 'बिहारी और देव', 'देव और बिहारी' इसी पद्धति की रचनाएं हैं। लेख रूप में भी शास्त्रार्थ पद्धति पर आलोचनाएँ प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं। संस्कृत साहित्य में

इस पद्धति पर लिखित आलोचना का विषय समीक्षा सिद्धान्त था किन्तु हिन्दी में अधिकतर लक्ष्य ग्रन्थों को ही लेकर विवाद उठा है।

४—सूक्ति पद्धति—सुन्दर लगने वाली वस्तु का प्रशंसा करना मनुष्य का स्वभाव है। संस्कृत काव्यों और कवियों के विषय में प्रशंसात्मक उक्तियाँ कही गईं हैं? यथा—

"उपमा कालिदासस्य भारवेर्थगौरवम् ।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥"

संस्कृत की यह परम्परा हिन्दी में भी अविराम बनी रही। यथा—"सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास" आदि। आधुनिक हिन्दी साहित्य में संपादकों और भूमिका लेखकों ने ही ऐसी आलोचनाएँ लिखीं हैं।

५—खंडन पद्धति—मनुष्य के जो लोचन केवल गुणग्राही होते हैं वह केवल दोष ग्राही भी हो सकते हैं, इसी सहज बुद्धि ने पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'चित्र-मीमांसा-खण्डन' आदि को जन्म दिया। यह पूर्णरूपेण दोष दर्शन प्रणाली है। हिंदी में ऐसे आलोचकों में स्वर्गीय द्विवेदी जी को माना जा सकता है।

६—लोचन पद्धति—आलोचना का उत्कृष्टतम रूप इसी पद्धति में प्रकट होता है। इसमें आलोचक आलोच्य विषय के अर्थ को पूर्णतया हृदयंगम कराके रचना की अर्न्तदृष्टि की विशद समीक्षा करता है। संस्कृत में 'ध्वन्यालोक' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। आचार्य शुक्ल के इतिहास आदि की समीक्षा शैली इसी लोचन पद्धति और पश्चिमी समालोचना प्रणाली का मिश्र रूप है। प्राचीन भारतीय आलोचकों ने आलोच्य रचना सुन्दर या असुन्दर क्यों हैं—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये रचनाकार की जीवनी, विषय का इतिहास एवं तत्कालीन समाज आदि को दृष्टि में रखकर आलोचना नहीं की। ये विशेषताएँ यूरोपीय समीक्षा शैली ने ही हिन्दी को प्रदान कीं।

संस्कृत की उपर्युक्त विभिन्न समीक्षा-पद्धतियों के सीमित और एकांगी दृष्टिकोण के कारण उसका उपयोग विस्तृत क्षेत्र में नहीं हो सका, फिर भी तत्वों की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी आलोचना पद्धति और प्राचीन संस्कृत समीक्षा पद्धति में विशेष अन्तर नहीं है। यूरोप में आलोचना के तीन तत्व माने गए हैं—वस्तु, रीति और आदर्शीकरण। भारतीय आलोचना के भी तीन तत्व हैं—शब्द, अर्थ और रस। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है। आदर्शीकरण रस का एक अङ्ग है। यूरोपीय कल्पना का स्थान हमारी प्रतिभा ले सकती है। वहाँ का 'कला जीवन के लिए' वाला सिद्धान्त हमारे 'कला का प्राण है पुरुषार्थ' वाले

सिद्धान्त का ही प्रतिरूप है। भारतीय आलोचना ने रस, अलङ्कार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि या चमत्कार को ही कवित्व माना और तदनुकूल काव्यों की उत्तमता और अनुत्तमता का विवेचन किया है। यूरोपिय आलोचकों ने काव्यगत सुन्दरता या असुन्दरता की कारणभूति परिस्थितियों पर भी उदारतापूर्वक विचार किया। कलाकृतियों की समीक्षा करते समय वे रसादि तक ही सीमित नहीं रहे। उन्होंने यह भी विवेचन किया कि कलाकार ने अपनी कृति में मानव और प्रकृति के विविध रूपों की कितनी और कैसी व्याख्या की है, हृदय और मस्तिष्क की विविध प्रवृत्तियों का कितना सूक्ष्म और सुन्दर विश्लेषण किया है, जीवन और जगत को कितनी दृष्टियों से देखने का प्रयास किया है।

आज के हिन्दी आलोचक का दृष्टिकोण साहित्य के विशिष्ट गुणों या अङ्गों की सीमित आलोचना से हटकर विश्व साहित्य को आधार मानकर आलोचना करने का बन चुका है। आज हिंदीसाहित्य में पश्चिम और पूर्व की दोनों विचार-धारायें आकर मिल गई हैं, फलस्वरूप साहित्य-समीक्षा में कई नवीन दृष्टिकोणों का उदय हुआ है। इन सम्पूर्ण दृष्टिकोणों को हम चार मोटे विभागों में बांट सकते हैं। १—रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि पुनरुत्थान करने वाली सैद्धान्तिक समीक्षा, २—आत्म प्रधान या प्रभाववादी समीक्षा, ३ – व्याख्यात्मक समीक्षा; और ४—निर्णयात्मक समीक्षा।

सैद्धान्तिक समीक्षा—इसमें साहित्य के विभिन्न रूपों के विवेचन द्वारा साहित्यिक सिद्धांतों की स्थापना होती है। जब लोक रुचि सूत्रबद्ध हो जाती है और कुछ प्रवर्त्तक कवियों की अमर रचनाओं का विश्लेषण कर उनके नमूनों के आधार पर सिद्धांत और नियम निर्धारित किए जाते हैं तब सैद्धांतिक आलोचना का जन्म होता है। इसका विषय है साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण। साहित्य क्या है? कविता क्या है? लक्ष्य क्या है? यह पद्धति इसका स्वरूप निर्धारित करती है। यह समालोचना का शास्त्रीय पक्ष है। प्लेटो और अरस्तू के काव्य सिद्धान्त से लेकर कालरिज, एडीसन, वर्डसवर्थ, रिचर्ड्स, क्रोचे, इलियट, आदि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ और हमारे यहाँ के भरत मुनि का नाट्य शास्त्र, दण्डी का काव्यादर्श, मम्मट का काव्य प्रकाश, विश्वनाथ का साहित्य दर्पण, पण्डितराज जगन्नाथ का रस गंगाधर आदि इसी प्रकार के आलोचना ग्रन्थ हैं। हिन्दी में रीतिकाल के लक्षण ग्रन्थ, श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', शुक्लजी की 'चिन्तामणि' (विशेष रूप से दूसरा भाग), सुधांशुजी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम', रामदहिन मिश्र का 'काव्य

दर्पण', बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। सदैव से गम्भीर आलोचनाओं में इन्हीं ग्रन्थों का विशेष महत्व रहा है। इसी कारण श्यामसुन्दरदास सैद्धान्तिक आलोचना को समालोचना का चिरन्तन स्वरूप मानते हैं। अन्य प्रकार की आलोचनाएं नवीन युग की उपज हैं।

आत्मप्रधान समीक्षा—इसमें आलोचक आलोच्य विषय का विवेचन करते हुए उसमें इतना तल्लीन या उसके इतना विमुख हो जाता है कि विवेचन को छोड़कर भाव लहरी में बह जाता है। आलोच्य रचना का विषय उसके भावों का आलम्बन बन जाता है। ऐसी आलोचनाएँ इसी कारण रचनात्मक साहित्य का अङ्ग बन जाती हैं। इसमें आलोचक किसी विशिष्ट विवेचन-पद्धति को न अपनाकर अपनी रुचि अथवा आदर्श के अनुरूप ही आलोच्य-ग्रन्थ की आलोचना कर अपना निर्णय देता है। इस आलोचना के समर्थक यह कहते हैं कि आलोचना के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि कृति हम को अच्छी लगी या बुरी। इसलिए ऐसे आलोचक किसी भी शास्त्र का आधार न लेकर अपने ही ऊपर पड़े हुए प्रभावों एवं अपने विचारों का ही सहारा लेते हैं। वह एक प्रकार की 'सत् असत् विवेक बुद्धि' में विश्वास रख अपनी ही रुचि को अन्तिम प्रमाण मानते हैं। अनेक विद्वान् इस आत्मप्रधान आलोचना को विशेष उपादेय नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार इससे आलोच्य विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। हिन्दी में जैनेन्द्र, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि इसी प्रकार के आलोचक हैं। इस आलोचना का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसे समझने के लिए एक दूसरी आलोचना पुस्तक चाहिए। जब तक इनका भाष्य न हो तब तक वे पाठकों की समझ में नहीं आतीं। केवल प्रभाव को समझने में ही जब इतनी कठिनाई है तब कृति की रचना-विधि या शिल्प-विधान तथा अन्य बातों को कैसे समझा जा सकता है।

व्याख्यात्मक—इसमें आलोचक सिद्धान्तों और आदर्शों को त्याग कर एक अन्वेषक के रूप में कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहृदयता पूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या और विवेचन करता है। इस कार्य में आलोचक का रूप न्यायाधीश का न होकर शुद्ध रूप से एक अन्वेषक का रहता है। वह रचयिता के ढङ्ग, दृष्टिकोण और मत से उदारतापूर्वक अपने विचारों का सामंजस्य स्थापित करके उसकी आलोचना करता है। अतः वह न्यायपूर्ण और बुद्धि-सङ्गत होती है। इसमें विभिन्न कलाकारों की रचनात्मक आलोचना होती है परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से उनका स्थान

नहीं निर्धारित किया जाता । इसका सबसे सरल और प्रारम्भिक रूप टिप्पणियों और भाष्यों में मिलता है ।

बाबू गुलाबराय व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक रूप से उपस्थित होने वाली चार अन्य आलोचना पद्धतियों को मानते हैं—ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक और समाजवादी । ऐतिहासिक आलोचना में कवि का मूल स्रोत ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों में खोजकर कवि पर उसका प्रभाव आँका जाता है और साथ ही साहित्यिक परम्पराओं के बीच में उसकी स्थापना की जाती है । तुलनात्मक आलोचना में पूर्ववती, समकालीन और परवर्ती साहित्यकारों के साथ कवि और उसके साहित्य की तुलना कर उसके महत्व को स्थापित किया जाता है । इसमें मूल्य या स्थान-निर्धारण की भावना रहने से, रुचि विशेष के अनुसरण के कारण अथवा पक्षपात के परिणाम स्वरूप, किसी भी कवि के प्रति अन्याय किया जा सकता है । हिन्दी में 'देव बड़े कि बिहारी' विवाद इसी का परिणाम था । यह पद्धति तभी श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है जब कि आलोचक का दृष्टिकोण पूर्ण वैज्ञानिक हो तथा वह अनासक्त भाव से दोनों पक्षों की समान सहानुभूति से विवेचना करे ।

मनोवैज्ञानिक आलोचना में कवि के जीवन और काव्य तथा काव्यांगों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा कवि के वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभाव को कृति का आधार देखा जाता है । इस वर्ग के आलोचक काव्य को मन:स्थिति का चित्रण या अङ्कन मानते हैं । परन्तु मनोवैज्ञानिक आलोचक अपनी विवेचना में इतने खो जाते हैं कि कृति की उपेक्षा हो जाती है । आत्मप्रधान या प्रभाववादी आलोचक तो प्रभाव को काव्यात्मक ढङ्ग से व्यक्त कर देते हैं पर मनोवैज्ञानिक आलोचक अन्तर्मन की गत्थियाँ सुलझाने में कृति के रहस्य की ओर से उदासीन रहते हैं । उनकी भाषा-शैली प्रभाववादियों से भी दुरूह होती है । समाजवादी आलोचना में साहित्य को वर्ग विशेष की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है । इसमें वर्ग-संघर्ष के आदर्शों और विचारधाराओं को प्रमुखता दी जाती है । यह आलोचना अपेक्षाकृत स्पष्ट होती है । लेकिन समाजवादी आलोचक प्राय: राजनीति के दर्पण में ही कृति को देखते हैं । संघर्ष, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और सामन्तशाही के आधार पर आलोचना करना और साहित्यिकता की उपेक्षा करना इनका फैशन है । परन्तु इस आलोचना से एक सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि जन-जीवन से दूर रहकर मनमाने ढङ्ग से साहित्य-सृजन करने वाले लेखक और कवियों की ऊल-जलूल, आडम्बर पूर्ण, थोथी रचनाओं के प्रति जनता में तिरस्कार की भावना आ जाती है क्योंकि

यह उनकी कलई खोल कर रख देती है । इधर प्रगतिवादी आलोचना में पर्याप्त सन्तुलन आता जा रहा है ।

निर्णयात्मक आलोचना—इसमें सामान्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर आलोच्य ग्रन्थों के गुण दोषों का विवेचन कर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्यांकन किया जाता है और उन्हीं के अनुकूल उनको श्रेणीबद्ध भी किया जाता है । इसमें समालोचक का रूप न्यायाधीश का होता है । वह निर्णय देता है । कलाकार की मौलिकता या प्रतिभा पर ध्यान न देकर वह उस पर शास्त्रीय नियमों को लागू कर उसकी रचना की परीक्षा करता है । उसकी जिज्ञासा 'यह काव्य कैसा होना चाहिए था' के रूप में होती है । यूरोप में कुछ समय तक अरस्तू के नियम ईश्वरीय वाक्य समझे जाते रहे थे और भारत में मम्मट और विश्वनाथ के सिद्धान्त हमारी आलोचना के आधार रहे थे । इस आलोचना को शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं । परन्तु कुछ आलोचक शास्त्रीय नियमों की अवगणना कर कृति के अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव के अनुसार अपना निर्णय देते हैं । इसमें आलोचक की अपनी भावानुभूति प्रबल रहती है । निर्णायक आलोचकों का एक दूसरा वर्ग कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को पूर्णतया अनुभव कर अपना निर्णय देता है । ऐसे आलोचक उच्चकोटि के माने जाते हैं । केवल शास्त्रीय नियमों पर आधारित आलोचना को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता क्योंकि यह भले-बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति को रोकने वाली होती है । पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धुओं की आलोचना इसी प्रकार की मानी गई है ।

समालोचना के उपर्युक्त विभिन्न प्रकारों के अतिरिक्त आजकल कुछ प्रमुख आलोचक इन सभी प्रकार की पद्धतियों की मिली-जुली ढङ्ग की आलोचना लिखने लगे हैं । इस नवीन मिश्रित आलोचना पद्धति के अनुसार "साहित्य-विवेचन" के लेखक-द्वय ने वर्तमान काल की आलोचना के मुख्य तत्वों की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित की हैं—

१—समालोचना में ऐतिहासिक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि के समय की राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है । (ख) कवि के समय में प्रचलित विभिन्न आदर्शों तथा उद्देश्यों का समीक्षा की जाती है ।

२—समालोचना में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि या कलाकार के जीवन, उसकी पारिवारिक परिस्थितियों के विश्लेषण के साथ उसकी मानसिक स्थितियों का तादात्म्य बैठाया जाता है । (ख) कवि के

काव्य की, उसकी विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार, व्याख्या की जाती है।

१—समालोचना के व्यवस्थात्मक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि के काव्य का अध्ययन किया जाता है; विषय, भाषा-शैली, रस-परिपाक तथा मूर्तिमत्ता इत्यादि के अनुसार साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या का प्रयत्न किया जाता है। (ख) आलोच्य रचना के उद्देश्य को स्पष्ट किया जाता है।

४—समालोचना में तुलनात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जाता है। (क) देश तथा काल की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए आलोच्य कवि या कलाकार की पूर्ववर्ती तथा सामयिक कवियों के साथ तुलना करके उसका साहित्य में स्थान निर्धारित किया जाता है।

आलोचना के उपर्युक्त विस्तृत क्षेत्र के कारण आज का आलोचक अपनी आलोचना में सार्वभौम दृष्टिकोण का संतुलन रखने में असमर्थ हो रहा है। वह रुचि विशिष्टता से एक ही तत्व को महत्व देता है।

विकास

हिन्दी गद्य की अन्य विधाओं के समान वर्तमान हिन्दी समालोचना भी एक प्रकार से पाश्चात्य साहित्य की ही देन है। संस्कृत आलोचना पद्धतियों का विवेचन करते हुए हम ऊपर कह आए हैं कि उसका आधार विस्तृत अथवा सार्वदेशिक और सार्वकालिक साहित्य नहीं था। आज उसका संकीर्ण और सीमित दृष्टिकोण अत्यन्त विस्तृत और व्यापक बन गया है। हम साहित्य के विशिष्ट गुणों या अङ्गों की सीमित आलोचना से हटकर आज विश्वसाहित्य को आधार मानकर उसकी आलोचना करने लगे हैं। आज हम सम्पूर्ण विश्व की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक गतिविधिओं के प्रकाश में अपने साहित्य का मूल्याङ्कन करते हैं। अब साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं माना जाता है। इसी कारण अब रस, अलङ्कार, ध्वनि आदि का विवेचन रूढ़ि का पालन मात्र माना जाता है। आज तो हम यह देखते हैं कि इस संघर्षशील युग में हमारे साहित्यकार युग की भावनाओं का प्रकाशन निष्पक्ष रूप से अङ्कित करने में सफल हैं या नहीं। अपने इस विस्तृत रूप तक आने में हिन्दी आलोचना ने मुक्त हृदय से पश्चिमी आलोचना का पथ-प्रदर्शन स्वीकार किया है। इसी कारण आज इसे पाश्चात्य-साहित्य की देन माना जाता है। अस्तु,

हिन्दी साहित्य में आलोचना पहले-पहल केवल काव्यगत गुण-दोषों तक ही सीमित रही है। भक्तिकाल में उसका रूप टीकाओं के रूप में मिलता है।

'मानस' की विविध टीकाएँ और उसके विभिन्न अर्थों की परम्परा काफी समय तक चलती रही। भक्तिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने तत्कालीन कृष्ण साहित्य की पद्यानुबद्ध विवरणात्मक आलोचनाएं लिखीं। इसके लिए नाभादास का 'भक्तमाल' दृष्टव्य है। उदाहरण के लिए उनका सूर विषयक पद दर्शनीय है—

"सूर कवित्त सुन कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै।
उक्ति चोज अनुप्रास वरन, अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ, अद्भुत तुक भारी ॥
प्रतिबिम्बित दिव्य दृष्टि, हृदय हरि लीला भासी।
जन्म करम गुन रूप सबै, रसना परकासी ॥
विमल बुद्धि गुन और की, जो यह गुन श्रवननि करै।
सूर कवित्त सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै ॥

इसके अतिरिक्त "सूर सूर तुलसी ससी" तथा "तुलसी गंग दुबो भए सुकविन के सरदार" जैसे प्रशंसा अथवा अप्रशंसा सूचक सूत्रों का प्रचार था। ये आलोचनाएँ भक्ति-भावना को तो बल देती थीं परन्तु साहित्यिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण थीं।

रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों के रूप में रस, अलङ्कार, छन्द, नायक, नायिका के विभिन्न भेदों-उपभेदों का वर्गीकरण करने में ही समालोचना का रूप समाप्त हो गया। उस समय निर्माण की सुघरता, विभाव और अनुभावों आदि की यथाक्रम योजना, विभिन्न संचारी, व्यभिचारी भावों के नियमबद्ध निरूपण, आदि ही काव्य के मुख्य लक्षण रह गए। काव्य समीक्षा भी इन्हीं रचनात्मक बारीकियों और पद्धति-रक्षा के उपक्रमों तक सीमित रही। रीति काल में प्रधान रूप से दो प्रकार की समीक्षा पद्धति के दर्शन हुए—अलंकारवादी और रसवादी। केशव और उनके अनुयायी अलङ्कारों के विवेचन में दत्तचित्त रहे। चितामणि, मतिराम, देव, बिहारी आदि ने रसों को प्रमुखता दी। इन दोनों में ही समीक्षा के स्थान पर अपने युग की काव्य-रचनाओं का आकलन करने की प्रवृत्ति ही मुख्य थी। परन्तु इस प्रकार की समालोचना साहित्य का अनुशासन करना तो दूर रहा, उसका मार्ग निर्देश भी न कर सकी।

उन्नीसवीं सदी में गद्य के अन्य अङ्गों के विकास के साथ-साथ समालोचना भी अपना नया स्वरूप धारण कर आगे बढ़ी। भारतेन्दु युग में आकर हिन्दी साहित्य के नवीन एवं बहुमुखी विकास ने आलोचना के स्वरूप और प्रकार में नए तत्वों का समावेश किया। साहित्यिक विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक

हो गया । गद्य में उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्धादि का आरम्भ हो चुका था । उनके विवेचन के लिए नए प्रतिमानों की आवश्यकता थी । साहित्यिक नवीनता के कारण इस काल की समीक्षा में रीतिकालीन पद्धति का प्रभाव तो था परन्तु किसी विशेष शास्त्रीय नियम का पालन नहीं हो रहा था । भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण दोषों का उद्घाटन कर रहे थे । अनुवादों की परीक्षा के लिए भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के अतिरिक्त भावों की सम्यक् अवतारणा का प्रश्न भी समीक्षकों के सम्मुख था । इस नवीन समालोचना के विकास में तत्कालीन पत्रिकाएँ 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'ब्राह्मण', 'हिंदी प्रदीप' आदि का प्रमुख भाग रहा । इनमें प्रायः कुछ नोट समालोचना के नाम से प्रकाशित होते थे । भारतेन्दु ने स्वयं 'मुद्राराक्षस' की भूमिका तथा 'नाटक' नामक पुस्तक लिखकर समालोचना का पथ-प्रदर्शन किया । परन्तु ये नोट के रूप में लिखे गए निबन्ध समालोचना न होकर केवल पुस्तक परिचय का रूप ही ग्रहण कर सके । यह हिन्दी की नवीन प्रयोग कालीन समीक्षा का स्वरूप था । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में "हम इन्हें आने वाली समालोचना का प्रारम्भिक रूप मान लें तो सम्भवतः कोई अनुचित नहीं होगा ।" इस समीक्षा के प्रवर्त्तकों में भारतेन्दु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, बालमुकुंद गुप्त, प्रताप-नारायण मिश्र, गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री आदि थे ।

गम्भीर लेखों के रूप में पुस्तकों की विस्तृत आलोचना 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका से प्रारम्भ की । उन्होंने श्रीनिवास-दास के 'संयोगिता स्वयम्वर' नाटक की बड़ी विशद् और कड़ी आलोचना लिखी । इसी समय पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी उक्त पुस्तक की आलोचना 'हिंदी प्रदीप' में लिखी । इन दोनों आलोचनाओं में केवल दोष-दर्शन की प्रवृत्ति ही अपनाई गई । आलोचना का पुस्तक रूप में प्रारम्भ महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी कालिदास की आलोचना' से हुआ । इसमें संस्कृत के विद्वानों द्वारा कालिदास के काव्य सम्बन्धी भाषा और व्याकरण के दोषों को ही हिंदी में उपस्थित किया गया । इसी प्रकार उन्होंने "नैषध चरित चर्चा' तथा 'विक्र-मांकदेव चरित्र चर्चा' नामक पुस्तकों में भी इसी प्रणाली को अपनाया । आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों को दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिये । स्वतन्त्र समालोचना के रूप में नहीं ।"

द्विवेदी जी के अनेक समकालीन लेखकों में मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि ने रीतिकालीन साहित्य की विस्तृत

समीक्षा में पूर्ण योग दिया। द्विवेदी जी और इन आलोचकों के उपर्युक्त दूसरे वर्ग में बड़ा अन्तर था। द्विवेदी जी रीति परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। परन्तु दूसरा वर्ग रीतिकालीन साहित्य को ही वास्तविक साहित्य मानकर उसी की विवेचना में लगा रहा। इस वर्ग ने भक्ति साहित्य की ओर आँख उठाकर भी न देखा! तुलसीदास का महत्व हमने डाक्टर ग्रियर्सन से सीखा और जायसी का आचार्य शुक्ल से। उपर्युक्त दूसरा वर्ग बिहारी, केशव, पद्माकर और देव आदि को ही उत्कृष्ट साहित्य-सृष्टाओं के रूप में स्वीकार कर उनकी पूजा करता रहा। उस समय हमारे साहित्य में ऐसे आलोचकों की कमी नहीं थी जिन्होंने बिहारी की प्रतिद्वन्द्विता में देव को तो ला रखा पर कबीर, मीरा, रसखान, घनानंद और जायसी के लिए मौन धारण किये रहे।

द्विवेदी जी ने उपर्युक्त ग्रन्थों की आलोचना द्वारा निर्णयात्मक और परिचयात्मक समालोचना का सूत्रपात किया। 'कालिदास की निरंकुशता' में निर्णयात्मक समालोचना के तथा अन्य दो पुस्तकों में परिचयात्मक समालोचना के दर्शन हुए। इनमें उन्होंने भाषा तथा व्याकरण के व्यतिक्रम ही दिखाए। साथ ही सामाजिक आदर्शों को प्रधानता दी और प्राचीन कवियों की तुलना में भारतेन्दु और मैथिलीशरण गुप्त के काव्योत्थान की सराहना की। मिश्रबन्धु द्विवेदी युग के दूसरे बड़े आलोचक थे। उन्होंने अपने 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ में हिंदी के नौ सर्वश्रेष्ठ कवियों की भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से तुलनात्मक समालोचना उपस्थित कर उनका स्थान निर्धारित किया। इसमें आपने बिहारी से देव को श्रेष्ठ प्रमाणित किया। इसके कारण 'बिहारी बड़े कि देव' नामक विवाद उठ खड़ा हुआ जिसे लेकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' पर एक तुलनात्मक समालोचना लिखी जिसमें सतसई-परम्परा का सुन्दर उद्घाटन किया गया। शर्मा जी शब्दों के अद्भुत शिल्पी और अभिव्यंजना सौन्दर्य के परम पारखी थे। इसके उत्तर में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखी। इस आलोचना में तर्क और व्यक्तित्व की छाप है। इसमें यद्यपि उन्होंने देव का पक्ष लिया तथापि बिहारी के महत्व को भी पूर्णतया स्वीकार कर अपनी निष्पक्षता का परिचय दिया। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक निकली जिसमें उन्होंने मिश्रबन्धुओं के भद्दे आक्षेपों का उत्तर देते हुए कृष्णबिहारी मिश्र की बातों पर भी सहृदयता पूर्वक विचार विचार किया।

द्विवेदी कालीन आलोचना के विकास में दो पत्रिकाओं का विशेष हाथ रहा- —'सरस्वती' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'। इनमें 'पुस्तक-समीक्षा' या

'पुस्तक-परिचय' के साथ-साथ गवेषणात्मक और सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी गम्भीर लेखों का प्रकाशन हुआ। डा० श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास, रत्नाकर, अम्बिकादत्त व्यास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि के सुन्दर आलोचनात्मक निबंध निकले। गुणदोष प्रणाली विवेचन से भिन्न समालोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले सर्व प्रथम ग्रन्थ के रूप में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' नामक पुस्तक इसी काल में लिखी गई। सैद्धान्तिक समालोचना का वास्तविक सूत्रपात इसी से माना जा सकता है। इसमें उन्होंने नव-प्रकाशित पुस्तकों की चर्चा के रूप में समालोचना, हिंदी में समालोचना प्रथा, समालोचक का ग्रन्थ सम्बन्धी ज्ञान, सहृदयता, सत्यता आदि पर प्रकाश डालते हुए बीच में अँग्रेजी समालोचना-पद्धति का भी परिचय दिया। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का एक ऐतिहासिक मूल्य माना जा सकता है।

इसी काल में बाबू श्यामसुन्दरदास ने विश्वविद्यालयों की उच्च-कक्षाओं के लिये साहित्य-सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' लिखा। साथ ही आपने तुलसीदास और भारतेन्दु पर गवेषणात्क आलोचनाएँ भी लिखीं जिनमें प्राच्य एवं पाश्चात्य समालोचना सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय किया गया। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'विश्व साहित्य' में पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के प्रचलित मतों का दिग्दर्शन कराते हुए यूरोपीय साहित्य का परिचय कराया। इसी समय हिंदी आलोचना क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का उदय हुआ। यह हिन्दी समीक्षा की आरम्भिक और नवचेतन अवस्था थी। शुक्लजी के आते ही इस क्षेत्र की कायापलट हो गई।

शुक्लजी की समीक्षा के स्पष्टतः दो क्षेत्र रहे—एक साहित्य की धाराओं का क्षेत्र और दूसरा प्रसिद्ध रचनाओं का क्षेत्र। प्रथम में प्रधानतः उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आता है और द्वितीय में प्रधानतः तुलसी, सूर तथा जायसी की समीक्षाएँ। इन समीक्षाओं द्वारा शुक्लजी ने रस और अलङ्कार शास्त्र को नई मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी। इस प्रकार रस और अलङ्कार उस समय बहिष्कृत होने से बच गए। उन्होंने इस कार्य के लिए तुलसी और जायसी जैसे श्रेष्ठ कवियों को चुना और उनके श्रेष्ठ काव्य-सौंदर्य के साथ रस और अलङ्कार का विन्यास करके रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया। साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी उच्च मानसिक भूमि पर की कि लोग यह भूल गए कि रस और अलङ्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता है। आपका भारतीय और पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन गम्भीर और विस्तृत था, इसी कारण आप इन दोनों का समन्वय करने में समर्थ हो सके। साथ ही उन्होंने

हिंदी साहित्य में सर्व प्रथम कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तःप्रवृत्तियों के उद्घाटन का सफल प्रयास किया। सूर, तुलसी और जायसी की आलोचनाएँ इसका प्रमाण हैं। ये पाँडित्यपूर्ण, विश्लेषणात्मक गम्भीर आलोचनाएँ मार्मिक, स्पष्ट और विस्तृत अध्ययन से परिपूर्ण हैं। अपने 'इतिहास' में आपने इतिहास के साथ-साथ प्रसिद्ध कवियों की अन्तरंग और बहिरंग विशेषताओं पर प्रकाश डाला। ये आलोचनाएँ विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक होने के साथ ही साथ वैयक्तिक रुचि पर आधारित न होकर सर्वमान्य साहित्यिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इस क्षेत्र में शुक्ल जी ने जो कार्य किया वह अत्यन्त ठोस, गंभीर और सराहनीय है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्लजी ने युग प्रवर्त्तक का कार्य किया, वह हिन्दी के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।" आलोचकों ने शुक्लजी को न समझकर उनकी कटु आलोचना भी की है। परंतु इन आलोचनाओं को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक निर्बल व्यक्ति किसी अत्यधिक सबल व्यक्ति पर आक्रमण करने का साहस तो करता है परन्तु उसकी विराट शक्ति का आभास पाकर एवं उससे भयभीत होकर उसके सम्मुख नत-मस्तक हो जाता है। शुक्लजी के उपरान्त हिन्दी में ऐसे प्रखर व्यक्तित्व के दर्शन फिर नहीं हुए।

'साहित्यालोचन' की प्रणाली पर बाद में अनेक विद्वानों ने विभिन्न ग्रन्थ लिखे। इनमें नलिनीमोहन सान्याल का 'समालोचना तत्व', लक्ष्मीनारायण सुधांशु का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन', रामदहिन मिश्र का 'काव्य दर्पण' आदि प्रसिद्ध हैं। साथ ही विभिन्न कवियों पर भी अनेक समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनमें 'गुप्तजी की काव्य धारा', 'महाकवि हरिऔध', 'प्रसाद की नाट्यकला', 'सुमित्रानन्दन पन्त' आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'केशव की काव्य कला', 'कविवर रत्नाकर', 'सुकवि समीक्षा' आदि ग्रन्थों में प्राचीन तथा नवीन कवियों पर अच्छे समीक्षात्मक निबन्ध लिखे गये हैं। इन सब पर शुक्लजी का प्रभाव है। शुक्ल-धारा के अनुयायिओं में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पांडेय, शिलीमुख, कृष्णशङ्कर शुक्ल, डा० रामविलास शर्मा, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा और बाबू गुलाबराय आदि प्रमुख हैं।

शुक्ल जी के पश्चात् हिन्दी समालोचना कई दिशाओं में आगे बढ़ी है। कितने ही नये समीक्षक इस क्षेत्र में आये हैं। आज हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारों पर विचारपूर्ण निबन्ध और पुस्तकें लिखी जा रही हैं। प्राचीन साहित्य का अनुशीलन तथा शोध सम्बन्धी कार्य भी हो रहा है। डा० बड़थ्वाल, हजारीप्रसाद

द्विवेदी, राहुलजी आदि ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किये हैं। विभिन्न विश्व-विद्यालयों में थीसिसों (अन्वेषक पत्रों) का कार्य चल रहा है। इनमें नवीन एवं प्राचीन साहित्य और साहित्यकारों पर गवेषणात्मक सामग्री का उद्घाटन एवं आकलन किया जा रहा है। 'इतिहास' को विभिन्न कालों में बाँटकर उसका विस्तृत अध्ययन करने का भी प्रयत्न हुआ है। एक-एक विषय पर विभिन्न लेखकों की दर्जनों पुस्तकें निकल रही हैं। इनमें अनेक महत्वपूर्ण हैं। इन आलोचकों में रामकुमार वर्मा, व्रजेश्वर वर्मा, माताप्रसाद गुप्त, रांगेग राघव, भगीरथ मिश्र, रामरतन भटनागर, सत्येन्द्र, नगेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बड़थ्वाल, नन्ददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा आदि उल्लेखनीय हैं।

इधर कुछ समय से वादों या विशेष मतों की ओर नवीन समीक्षकों की प्रवृत्ति बढ़ रही है जिसके कारण हिन्दी समीक्षा कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गई है। इनमें मार्क्सवादी विचार-पद्धति सबसे सशक्त और विस्तृत है। इसके प्रमुख आलोचकों में डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव आदि की गणना की जाती है। दूसरी ओर इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, नगेन्द्र, नलिनविलोचन शर्मा आदि मनोवैज्ञानिक प्रभाववादी समीक्षा को लेकर चल रहे हैं। प्रभाकर माचवे, चन्द्रवलीसिंह, भगवतशरण उपाध्याय आदि आलोचक अपनी बुद्धिवादी प्रखर समीक्षा पद्धति द्वारा आधुनिक साहित्य की गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण और मनन करने में संलग्न हैं। परन्तु इन समस्त आलोचकों में अभी एक भी ऐसा नहीं दिखाई देता जो आचार्य शुक्ल के समान, साहित्यिक गतिविधि पर व्यापक प्रभाव डालने में समर्थ हो। आज लेखकों और कवियों की अपेक्षा हिन्दी साहित्य में आलोचकों की बाढ़ सी आ गई है जिससे ठोस साहित्य के निर्माण में एक गत्यावरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई है। आज का प्रत्येक लेखक और कवि समालोचक बनने का प्रयत्न कर रहा है जिससे पारस्परिक कटुता और छिछली व्यक्तिगत आलोचनाओं के दर्शन हो रहे हैं। आज एक ऐसे प्रखर व्यक्तित्व की आवश्यकता है जो इस बिखरे हुए मण्डल को एकत्र कर साहित्य का पथ-प्रदर्शन कर सके।

आज के हिन्दी-आलोचकों में केवल दो ही आलोचक ऐसे हैं जो शुक्ल जी की स्पष्ट, निर्भीक एवं मार्मिक आलोचना की याद दिलाते हैं। वे हैं पं० नन्ददुलारे वाजपेयी एवं डा० रामविलास शर्मा। इन दोनों आलोचकों में पर्याप्त सैद्धान्तिक मतभेद रहते हुए भी एक गहरी अन्तर्दृष्टि की ऐसी समानता है जो उनकी आलोचनाओं को अधिक स्पष्ट, खरी और सर्वजन-सुलभ बना देती है। आप दोनों को बिना किसी भी सन्देह या पक्षपात के आचार्य शुक्ल का सच्चा उत्तराधिकारी माना जा सकता है। आपसे हिन्दी साहित्य को बहुत बड़ी आशायें हैं।

१३—हिन्दी भाषा का विकास

विद्वानों ने हिन्दी भाषा का प्रारम्भ १००० ई० से माना है। इस समय तक हिंदी का प्रयोग साहित्य में होने लगा था। परन्तु हिंदी एकाएक तो साहित्य की भाषा नहीं बन गई होगी ? साधारण नियम के अनुसार पहले उसका रूप साधारण बोलचाल की भाषा का रहा होगा। धीरे-धीरे जनवादी साहित्यकारों ने उसका प्रयोग साहित्य में करना प्रारम्भ कर दिया होगा। इसलिए हिन्दी के विकास-क्रम का विवेचन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम १००० ई० से पहले की हिन्दी का रूप समझ लें।

हिन्दी का बोलचाल का क्या रूप था इसका प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का अनुमान है कि "सम्भवतः ईसवी सन् ७७८ के पहले से वह बोली जाती रही होगी।" इसके समर्थन में उन्होंने दक्षिणाचार्य चिन्होद्योतन की 'कुवलयमाला कथा' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस पुस्तक में एक हाट का उल्लेख है जिसमें आए हुए देश-विदेश के व्यापारी अपनी-अपनी बोली में माल बेचते हैं। मध्यप्रदेश के व्यापारी के मुख से उसने—"तेरे मेरे आउ" कहलाया है। हिन्दी मध्यदेश की भाषा है अतः उस व्यापारी ने मध्यदेश की बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया होगा। इस वाक्य में हिन्दी के दो सर्वनाम 'तेरे, मेरे' और एक क्रियापद 'आउ' का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। हिन्दी की बोलचाल का सर्वप्रथम रूप इसी ग्रन्थ में मिलता है। सातवीं शताब्दी के पुष्य नामक एक कवि का केवल उल्लेख मिलता है जिसकी भाषा हिन्दी कही गई है। नवीं और दसवीं शताब्दी में जब धर्म प्रचारकों ने अपने अपने धर्मों का प्रचार जनता में करना आरम्भ किया तो उन्होंने इसी हिन्दी बोली को अपना माध्यम बनाया। इससे हिन्दी पनपने लगी। "पश्चिम में जैन लोगों और पूरब में बज्रयानी संतों की अपभ्रंश की रचनाओं में जहाँ तहाँ हिन्दी की बोली झलकने लगी।" सरहपा का एक पद द्रष्टव्य है—

"जहँ मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
तहि बट चित विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥"

सरहपा का समय आठवीं-नवीं शताब्दी माना गया है। ९९० ई० के लगलग जैन पण्डित देवसेन सूरि ने भी इसी भाषा का प्रयोग किया है।

'जो जिन सासण भासियउ, सो मइ कहियत सारु ।
जो पाले सइ भाउ करि, सो तरि पावउ पारु ॥

११०० ई० के लगभग के अपभ्रंश साहित्य में देशी शब्दों का प्रयोग इतना अधिक होने लगा कि हेमचन्द्र को 'देशी नाममाला' में उन्हें संग्रह करने की सूझी। हिन्दी शब्दों की इसी अधिकता को लक्ष्य कर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और गुलेरी प्रभृति विद्वानों ने इस भाषा को 'पुरानी हिन्दी' के नाम से सम्बोधित किया। अतः हम कह सकते हैं कि १००० ई० के लगभग हिन्दी का साहित्य में प्रयोग होने लगा था। इसलिए हिन्दी का विकास इस समय से मानना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ संवत् १०५० से माना है। अन्य विद्वान भी इसी समय को हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल मानते हैं। अतः हिन्दी भाषा के विकास क्रम को देखने के लिए हमें हिन्दी साहित्य के समानान्तर ही चलना पड़ेगा।

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने इस विकास के इतिहास को तीन कालों में विभाजित किया है :—

१—**प्राचीन काल**—(१००० ई० से १५०० ई० तक), जब अपभ्रंश तथा प्राकृतों का प्रभाव हिन्दी भाषा पर मौजूद था तथा साथ ही हिन्दी की बोलियों के निश्चित स्पष्ट रूप विकसित नहीं हो पाये थे।

२—**मध्य काल** (१५०० ई० से १८०० ई० तक) जब हिन्दी से अपभ्रंशों का प्रभाव बिल्कुल हट गया था और हिन्दी की बोलियाँ, विशेषतया खड़ी बोली, ब्रज और अवधी, अपने पैरों पर स्वतन्त्रता पूर्वक खड़ी हो गई थीं।

३—**आधुनिक काल**—(१८०० ई० बाद) जब से हिन्दी की बोलियों के मध्यकाल के रूपों में परिवर्तन आरम्भ हो गया, तथा साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से खड़ी बोली ने हिन्दी की अन्य बोलियों को दबा दिया।

प्राचीनकाल

डाक्टर श्यामसुन्दरदास का मत है कि—"हेमचन्द्र के समय से पूर्व हिन्दी का विकास होने लग गया था और चन्द के समय तक उसका कुछ-कुछ रूप स्थिर हो गया था। अतएव हिन्दी का आदिकाल हम सं० १०५० के लगभग मान सकते हैं।" इस काल से पूर्व के कई ऐसे ग्रन्थकारों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने हिन्दी में ग्रन्थ लिखे थे। इनमें पुष्यकवि (७१५ ई०) का अलङ्कार शास्त्र, अब्दुल एराकी (८७० ई०) का कुरान का हिंदी अनुवाद, मसउद साद सालया (९०० ई०) का हिन्दी का एक दीवान, कालिंजर के राजा नंद

(१०१३ ई०) का सुल्तान महमूद की प्रशंसा में लिखा हुआ हिन्दी का एक शेर आदि का उल्लेख किया गया है परन्तु इन रचनाओं के कोई नमूने नहीं मिलते। हिंदी के प्राचीनतम और सर्व सुलभ ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो की भाषा के विषय में काफी मतभेद है। उसमें भाषा की इतनी मिलावट है कि उसके मूल स्वरूप का पता लगाना कठिन है।

जिस समय हिन्दी भाषा का विकास हो रहा था उसी समय उसे एक ऐसा भयङ्कर धक्का लगा जिससे वह अब तक नहीं पनप पाई। इसके लिए हमें तत्कालीन परिस्थिति को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी भाषा का इतिहास जिस समय से आरम्भ होता है उस समय हिन्दी प्रदेश तीन राज्यों में विभक्त था—दिल्ली-अजमेर का चौहान वंश, कन्नौज का राठौर वंश और महोबा का परमार वंश। नरपति नाल्ह का अजमेर से और चंद कवि का दिल्ली से सम्बन्ध रहा था। कन्नौज के अन्तिम राजा जयचन्द का दरबार साहित्य चर्चा का मुख्य केन्द्र था परन्तु वहाँ हिन्दी को कोई सन्मान प्राप्त न होकर संस्कृत तथा प्राकृत का ही बोलबाला था। महोबा के राजकवि जगनिक का नाम तो आज तक प्रसिद्ध है। इन तीनों राज्यों के संरक्षण में हिन्दी पनप रही थी। ११९१ ई० तक इन तीनों राज्यों का अस्तित्व था परन्तु अगले दस-बारह वर्षों में ही मुहम्मद गोरी ने इन्हें एक-एक कर हरा दिया और इस प्रकार हिंदी के जन्मस्थान मध्यदेश पर विदेशियों का अधिकार हो गया। "हिन्दी भाषा के इतिहास के सम्पूर्ण प्राचीन काल में मध्यदेश पर तथा उसके बाहर शेष उत्तर भारत पर भी तुर्की मुसलमानों का साम्राज्य कायम रहा (१२०६–१५२६ ई०)। इनकी मातृभाषा तुर्की थी तथा दरबार की भाषा फारसी।" अतः इस विदेशी शासन काल के लगभग ३०० वर्षों तक, दिल्ली के राजनीतिक केन्द्र रहते हुए भी, हिन्दी भाषा को राज्य की ओर से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। केवल दिल्ली के अमीर खुसरो ने कुछ तो मनोरंजन के लिए और कुछ मुसलमानों में हिंदी का प्रचार करने के उद्देश्य से हिन्दी में कुछ रचनाएं लिखीं। इसी समय पूर्वी भारत में धार्मिक आन्दोलनों के कारण कुछ हिंदी की रचनाएँ लिखी गईं। इस प्रकार के आन्दोलनों में गोरखनाथ, रामानन्द तथा कबीर का कार्य विशेष उल्लेखनीय रहा।

हिंदी भाषा की प्राचीनकाल की सामग्री डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार नीचे लिखे भागों में विभक्त की जा सकती है—

१—शिलालेख, ताम्रपत्र, तथा प्राचीन पत्रादि।

२—अपभ्रंश काव्य।

३—चारण काव्य, जिनका आरम्भ गंगा की घाटी में हुआ था, किन्तु

राजनीतिक उथल-पुथल के कारण बाद को जो प्रायः राजस्थान में लिखे गए; तथा धार्मिक ग्रन्थ व अन्य काव्य ग्रन्थ ।

४—हिन्दी अथवा पुरानी खड़ी बोली में लिखा साहित्य ।

हिन्दी भाषा का प्राचीन या प्रारम्भिक युग विदेशी शासन का युग था । अतः उस काल के हिन्दू राजाओं द्वारा शिलालेख आदि खुदाए जाने की सम्भावना अपेक्षाकृत कम है । हिन्दी के सबसे प्राचीन नमूने पृथ्वीराज तथा समरसिंह के दरबारों से सम्बन्धित मिले थे परन्तु वे भी अब अप्रामाणिक घोषित किए जा चुके हैं । डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल एवं राहुल सांकृत्यायन ने नाथपंथ तथा बज्रयानी सिद्ध साहित्य पर प्रकाश डालकर अनेक ग्रन्थों का पता लगाया है । इनमें से कई बहुत प्राचीन हैं । इनके रचयिताओं का समय ७०० ई० से १३०० ई० तक माना गया है । कुछ विद्वान इनकी प्रामाणिकता में भी संदेह करते हैं । इनकी भाषा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो चुका है कि इन सिद्धों की भाषा हिन्दी न होकर स्पष्टरूप से अपभ्रंश (मागधी) है । इस साहित्य का परिचय हरिप्रसाद शास्त्री के 'बौद्धगान और दोहा' नामक ग्रन्थ से हुआ था ।

गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्राचीन भाषा के कुछ उदाहरण संकलित किए हैं परन्तु इन पर राजस्थानी का प्रभाव अधिक है । दूसरे इनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें हिन्दी के अन्तर्गत न मानकर अपभ्रंश साहित्य के अन्तर्गत माना है । इन उदाहरणों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि हिन्दी भाषा का विकास होने से पूर्व उसका क्या रूप था । इस काल की भाषा का तीसरा रूप चारण, धार्मिक तथा लौकिक काव्य ग्रन्थों में सुरक्षित माना जाता है । चारण काव्यों की भाषा, भाषाशास्त्र की दृष्टि से संदिग्ध मानी गई है । इस भाषा को उस काल की भाषा नहीं माना जा सकता । इस कारण से तथा अन्य अनेक कारणों से लगभग सभी चारण ग्रन्थ अप्रामाणिक सिद्ध हो चुके हैं । परन्तु उनमें कहीं-कहीं प्राचीन भाषा के कुछ नमूने अवश्य मिल जाते हैं । इन ग्रन्थों की भाषा उतनी प्राचीन इस कारण नहीं मानी जाती कि उसमें हिन्दी की उस अवस्था के लक्षण नहीं मिलते जब उसका विकास हो रहा था । इसका कारण यह माना जाता है कि बहुत समय तक ये ग्रन्थ मौखिक रूप में ही प्रचलित रहे थे । बाद में जाकर उनका संग्रह किया गया, इसी से भाषा में नवीनता आगई । किसी भी चारण काव्य की हस्तलिखित प्रति १५०० ई० से पूर्व की नहीं मिली है ।

दक्खिनी या हिन्दवी भाषा का प्रारम्भ मुहम्मद तुगलक के दक्षिण आक्र-

मरण (१३२६) के बाद हुआ। इसकी प्रारम्भिक रचनाएँ सूफी फकीरों ने लिखीं जिनकी लिपि फारसी थी। इस भाषा का रूप अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन माना जाता है। इस काल के साहित्य में विद्यापति का नाम भी बड़े आदर से लिया जाता है। परन्तु उनकी पदावली की भाषा हिन्दी न होकर मैथिली है। इनके किसी भी वर्त्तमान संग्रह की भाषा पन्द्रहवीं शताब्दी से पुरानी नहीं मानी जाती। विद्यापति चौदहवीं शताब्दी में हुए थे। कबीर (१४२३ ई०) आदि सन्त कवियों की भाषा के विषय में भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वे अपने मूलरूप में उपलब्ध हैं। उनकी सधुक्कड़ी भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। कबीर के काव्य में कहीं तो पंजाबी का घोर प्रभाव लक्षित होता है और कहीं पूरवी हिन्दी का।

इस काल में केवल अमीर खुसरो ही एक ऐसा कवि है जिसकी भाषा में साहित्यिक हिन्दी के दर्शन होते हैं। सन् १३५० के लगभग खुसरो ने हिन्दी भाषा की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि—"हिन्दी में मिलावट नहीं खपती और उसका व्याकरण नियमबद्ध है।" (बड़थ्वाल–बोली से साहित्यिक भाषा) डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा खुसरो की भाषा को भी प्रामाणिक नहीं मानते। उनका कहना है कि—"इनकी हिन्दी कविता में नमूने का आधार एक मात्र जनश्रुति है। आधुनिक काल में लेखबद्ध किये जाने के कारण खुसरो की हिन्दी आधुनिक खड़ी बोली हो गई है।" परन्तु डाक्टर बड़थ्वाल खुसरो की भाषा को प्राचीन मानते हैं। उनका कहना है कि—"खुसरो के नाम से आज जो कविता है उसमें चाहे कितना ही परिवर्तन क्यों न हो गया हो निश्चय ही मूल रूप में वह वही भाषा थी जिसे हम आज हिन्दी कहते हैं—

"श्याम वरन की एक है नारी। माथे ऊपर लागे प्यारी॥
या का अरथ जो कोई खोलै। कुत्ते की वह बोली बोले॥"

हिन्दी के प्राचीन रूप की विवेचना करते हुए आगे डाक्टर बड़थ्वाल कहते हैं कि आरम्भ में मध्य देश में हिन्दी का एक सर्वग्राह्य रूप रहा होगा जो विकसित होकर ब्रज, अवधी और खड़ी बोली के अलग-अलग रूपों में मिलता है। उनका मत है कि गोरख, जलंधर, चौरंगी, कणेरी आदि योगियों की वाणी से उस भाषा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। नामदेव, मीरा, रैदास आदि मध्यदेशीय और बाहरी साधु सन्तों में भी भाषा का प्रायः यही स्वरूप दिखाई देता है।

हिन्दी भाषा का प्राचीन काल मुसलमानी प्रभुत्व का काल है। अतः यह स्वाभाविक है कि हिंदी से उनकी भाषाओं का आदान प्रदान अवश्य हुआ होगा। चन्द आदि में इसके उदाहरण भी मिल जाते हैं। चन्द की कविता में

मशाल, शेख, सुल्तान, याकूब, आदि अरबी के, शक्कर, कमान, रूख, शाह आदि फारसी के तथा उजबक आदि तुर्की भाषा के शब्दों का खुल कर प्रयोग हुआ है। चन्द की दूसरी भाषा प्राकृत के ढङ्ग की है। उसमें कम्म, धम्म आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। चन्द की तीसरी भाषा सरल है। वह ब्रज से बहुत मिलती जुलती है। अनुमान है कि वही स्वच्छ और सरल होकर ब्रज भाषा बनी होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी अपने विकास के आदिकाल में चारों ओर से शक्ति ग्रहण करती हुई विकसित होती जा रही थी। उसने संस्कृत के समान अपने को नियमबद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया था। आदान प्रदान करने वाली भाषा बड़ी शक्तिशाली होती है। वह कभी मरती या स्थिर नहीं होती। हिन्दी का वह गुण आज भी अक्षुण्ण है।

इस काल के प्रसिद्ध कवियों में नरपति नाल्ह, चन्द, जगनिक, गोरखनाथ, अमीर खुसरो, विद्यापति तथा कबीर विशेष प्रसिद्ध हैं।

मध्यकाल

हिन्दी भाषा के आदि काल में भाषा का एक सर्वमान्य साहित्यिक रूप था जिसमें खड़ी बोली, ब्रजभाषा तथा कहीं-कहीं अवधी के रूपों का प्रयोग हो रहा था। कबीर में पूर्वी हिन्दी अथवा अवधी के रूप मिलते हैं। पृथ्वीराज रासो में कहीं-कहीं ब्रजभाषा की झलक दिखाई पड़ती है, जैसे—

"एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनन्द।
तिहिं रिपुजय पुरहरन को भय पृथिराज नरिन्द॥"

यह भाषा ब्रजभाषा से बहुत कुछ मिलती जुलती है। सम्भव है वही स्वच्छ और सरल होकर शुद्ध ब्रजभाषा बनी होगी। अमीर खुसरो के काव्य में खड़ी बोली के सुन्दर रूप के दर्शन होते हैं। कुछ विद्वान् खड़ी बोली को ही आधुनिक उर्दू का पूर्व रूप मानते हैं। उनका मत है कि खड़ी बोली में विदेशी शब्दों के अधिक प्रयोग से उसका रूप उर्दू का हो गया था। उर्दू मुसलमानों की भाषा मानी जाती है। मध्यकाल में हिंदी के तीन रूपों ब्रज, अवधी और खड़ी बोली में से ब्रज और अवधी ही पनपीं। खड़ी बोली में नाम मात्र का साहित्य रचा गया। यह एक आश्चर्य है कि मुसलमानी शासन में एक ऐसी बोली, जिसे मुसलमानों ने अपना रखा था, साहित्य में न पनप सकी और ब्रज और अवधी पनप गईं। इसके कारण राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही थे।

मध्यकाल तक आते-आते तुर्कों का प्रभुत्व समाप्त होकर मुगलों का साम्राज्य स्थापित होने लगा था। सत्ता के इस परिवर्तन के संक्रान्ति काल में कुछ समय तक राजपूतों का भी प्रभुत्व रहा था। इन राजपूतों ने हिंदी को विशेष प्रोत्साहन दिया। दूसरे, मुगल शासक यह समझते थे कि बिना जनता

की सहानुभूति प्राप्त किए भारत पर शासन करना असम्भव है। इसलिए उन लोगों ने जनता से सम्पर्क स्थापित करना आरम्भ किया। जनता से सम्पर्क जनता की ही बोली में स्थापित किया जा सकता है। अकबर आदि ने यही किया। जनता की बोली हिन्दी थी। जब उसके कवियों का शाही दरबार में सम्मान होने लगा तो जनता भी स्वच्छन्द रूप से उसे लेकर आगे बढ़ी। इधर अकबर आदि ने भी इस भाषा को अपनाया। अकबर, जहाँगीर और यहाँ तक कि औरंगजेब ने भी हिंदी में कविता की। मुगलों की, विशेषकर, अकबर की उदारता ने हिंदी साहित्य को पनपने का अवसर प्रदान किया।

सामाजिक कारणों में सबसे प्रबल कारण धार्मिक आन्दोलन थे। इन धार्मिक प्रचार सम्बन्धी आन्दोलनों के प्रचारकों ने जनता के हृदय तक पहुँचने के प्रयत्न की आवश्यकता का अनुभव किया। कबीर आदि इसका श्रीगणेश कर चुके थे। सूफी कवियों ने भी यही किया। बाद में तो राम के जन्मस्थान की भाषा अवधी और कृष्ण के जन्मस्थान की भाषा ब्रज ने धार्मिक आन्दोलन का सहारा पाकर अपना साहित्यिक विकास किया। इस प्रकार धर्म की सहायता पाकर ये भाषाएँ आगे बढ़ चलीं। खड़ी बोली को यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका इसलिये उसका विकास रुक गया।

डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने मध्यकालीन भाषा की तीन अवस्थाएँ मानी हैं। "इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल थी। पीछे से क्रमशः उसमें स्थिरता आई जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँच कर पुनः डाँवाडोल हो गई। हिन्दी के विकास की चौथी अवस्था सम्वत् १९०० से प्रारम्भ होती है।" मध्यकाल के प्रथम भाग में हिन्दी की पुरानी बोलियों ने विकसित होकर ब्रज, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण कर लिया। ब्रज और अवधी धार्मिक आश्रय पाकर साहित्यिक बन गईं और आगे बढ़ीं। खड़ी बोली आंशिक रूप से राजनीति का सहारा पाकर विकसित होती रही। उसकी विकास गति बहुत धीमी रही। अब हमें हिन्दी के इन तीनों रूपों का अलग-अलग विकास देखना है।

"अवधी और ब्रजभाषा के दो मुख्य साहित्यिक रूपों का विकास सोलहवीं सदी में ही प्रारम्भ हुआ। इन दोनों में ब्रजभाषा तो समस्त हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई किन्तु अवधी में लिखे गए 'राम चरित मानस' का हिंदी जनता में सबसे अधिक प्रचार होने पर भी साहित्य के क्षेत्र में अवधी भाषा का प्रचार नहीं हो सका।" (डा० धीरेन्द्र वर्मा) कृष्ण भक्ति के अधिक प्रचार ने ब्रजभाषा को प्रधानता दी। सूर ने सोलवहीं सदी के आरम्भ में इसे सर्व प्रथम साहित्यिक रूप दिया। उसके बाद तो ब्रजभाषा में भक्ति का स्रोत

अवाध रूप से प्रवाहित हो चला। भाषा के इन तीनों रूपों की विवेचना करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि इनकी उत्पत्ति कैसे हुई थी। इस विषय में डा० श्यामसुन्दरदास का कहना है कि, "पुरानी बोलियों ने किस प्रकार नया रूप धारण किया इसका क्रमवद्ध विवरण देना अत्यन्त कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे एक बार ही साहित्य के लिये स्वीकृत न हुई होंगी। इस अधिकार और गौरव को प्राप्त करने में उनको न जाने कितने वर्षों तक साहित्यिकों की तोड़-मरोड़ सहनी तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखनी पड़ी होगी।" डाक्टर साहब ने इन तीनों भाषाओं को बोलियाँ माना है परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि इनकी उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई थी। डाक्टर बड़थ्वाल ने इस पर कुछ प्रकाश डाला है। उनका अनुमान है कि—"आरम्भ में हिन्दी का मध्यदेश भर में एक सर्वग्राह्य रूप प्रचलित रहा होगा जिसमें खड़ी, ब्रज आदि के रूप छिपे रहे होंगे।" अपने मत के समर्थन में उन्होंने गोरख, जलन्धर आदि योगियों की वाणियों के उदाहरण दिये हैं। हिन्दी से पूर्व मध्यदेश की सर्वमान्य भाषा शौरसेनी अपभ्रंश थी। अतः ब्रज और खड़ीबोली की उत्पत्ति इसी से मानी जा सकती है। अवधी की प्रकृति अर्द्ध मागधी अपभ्रंश से मिलती जुलती है। अतः उसमें मागधी और शौर-सेनी का प्रभाव माना जा सकता है। अस्तु,

हम ऊपर कह आये हैं कि कृष्णभक्ति के प्रचार के साथ साथ ब्रजभाषा का महत्व बढ़ा। सूर, नन्ददास, कुम्भनदास, हितहरिवंश, परमानन्द, हरिराम, व्यास आदि भक्त कवियों की वाणी ने उसमें प्राण और सौंदर्य का संचार किया। रसखान आदि मुसलमान भक्त कवियों ने भी उसे ही माध्यम बना कर अपने सरस उद्‌गारों को साकार रूप दिया। कृष्ण भक्ति के साथ-साथ ब्रज भाषा समस्त उत्तर भारत में फैल गई। बंगाल में चन्डीदास, गुजरात में नरसी मेहता और महाराष्ट्र में तुकाराम आदि ने इसी भाषा में काव्य रचना की। यह एक प्रकार से उत्तर भारत की काव्य भाषा बन गई। इस समय तक उसमें पर्याप्त गाम्भीर्य और शक्ति आ गई थी। रीतिकाल में आकर उसकी प्रांजलता, सौन्दर्य और शक्ति अपने चरम रूप में दिखाई दी। बिहारी, देव, मतिराम, केशव, चिन्तामणि, घनानन्द, सेनापति आदि ने इसका खूब अल-ङ्कार-शृङ्गार किया। भूषण ने उसे वीर रस की पुट दी। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि के रूप में ब्रज-भाषा गद्य के भी दर्शन हुए परन्तु उसका पर्याप्त विकास न हो सका। यह भाषा यहाँ तक सर्व प्रिय हुई कि—"बङ्गाल में ब्रजबूलि नाम से उसका एक अलग रूप चल पड़ा जो कृत्रिम होने पर भी उसका महत्व बतलाता है।" (डा० बड़थ्वाल)

सूर के समय तक ब्रजभाषा काव्य-भाषा का रूप धारण कर चुकी थी। उस पर प्राचीन काव्य भाषा का पूरा पूरा प्रभाव था। क्रिया, सर्वनाम आदि के प्रयोग में प्राकृत और अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव था। इसका कारण यह था कि यह पुरानी सार्वदेशिक काव्य भाषा का विकसित रूप है। यह मध्यदेश की प्रधान बोली होने के कारण प्रमुखता पा गई। चुने हुए उपयुक्त विदेशी शब्दों का खुलकर प्रयोग होने लगा। अष्टछाप के कवियों तक यह रूप रहा। परन्तु उनके बाद के कुछ कवि, जिनका भाव और भाषा पर अधिकार नहीं था, अरुचिपूर्ण ढङ्ग से विदेशी शब्दों का व्यवहार करने लगे। परन्तु घनानन्द तक आते-आते भाषा की विशुद्धता पर पुनः ध्यान दिया जाने लगा। घनानन्द इस आन्दोलन के अगुआ थे। अनिच्छित विदेशी प्रयोगों का बहिष्कार होने लगा। विशुद्धता की यह भावना आधुनिक काल में रत्नाकर आदि में भी दिखाई दी।।

अवधी भाषा का प्रथम रूप हमें कबीर आदि सन्तों की सधुक्कड़ी भाषा में मिलता है जो काशी के आस-पास रहते थे। यह अवधी का असांस्कृतिक एवं अपरिमार्जित रूप था। आगे चलकर जायसी आदि प्रेमाख्यानक कवियों ने इसे अपने साहित्य का माध्यम बनाकर इसके रूप को कुछ परिमार्जित किया। अन्त में तुलसी ने उसे प्रौढ़ता प्रदान कर साहित्यिक आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया। प्रेमाख्यानक कवियों की अवधी बोलचाल की अवधी थी। तुलसी ने उसे संस्कृत के योग से परिमार्जित और प्रांजल बनाकर साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया। अवधी में अधिकतर प्रबंध काव्य ही अच्छे लिखे गये। जायसी का 'पद्मावत', कुतवन की 'मृगावती', शेखनवी का 'ज्ञान दीप', नूर-मुहम्मद की 'इन्द्रावती' आदि सूफी कवियों द्वारा रचित प्रबन्ध काव्य हैं। अवधी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ तुलसीदास का 'रामचरित मानस' माना जाता है। तुलसी यद्यपि मूलरूप से अवधी के कवि थे परन्तु वे भी ब्रजभाषा के प्रभाव से न बच सके। विनय-पत्रिका, गीतावली आदि में उन्होंने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। सोलहवीं सदी के बाद अवधी में कोई भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा गया। वह तुलसी द्वारा चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई और उनके बाद साहित्यिक क्षेत्र से लुप्त सी हो गई।

प्राचीन अपभ्रंश की कविता में खड़ी बोली का रूप दिखाई देने लगा था। अवधी और ब्रज के समान ही प्राचीन होने पर भी उसे साहित्य में यथेष्ट सम्मान न प्राप्त हो सका। परन्तु समय-समय पर इसने उठकर अपने अस्तित्व का परिचय अवश्य दिया।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं हिन्दी साहित्य में खड़ीबोली की झलक

बहुत प्राचीन काल से मिलने लगती है । दक्षिणाचार्य चिंहोद्योतन के ग्रन्थ 'कुवलयमाला कथा' में इसके रूप की झलक सर्व प्रथम मिलती है—"तेरे मेरे आउ" में तेरे मेरे स्पष्ट रूप से खड़ी बोली के शब्द हैं । इससे प्रमाणित होता है कि उस समय मध्यदेश में खड़ी बोली का प्राचीन रूप बोला जाता था । बारहवीं शताब्दी के अन्त में एक ओर तो अपभ्रंश काव्य में खड़ी बोली के कुछ क्रियापदों का रूप मिलता है और दूसरी ओर मराठा भक्त नामदेव के काव्य में खड़ी बोली के सुन्दर रूप के दर्शन होते हैं । पहले उदाहरण के लिए हेमचन्द्र का दोहा द्रष्टव्य है—

"भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि हमारा कन्तु ।
लज्जेज्जं तु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एन्तु ।।"

इस दोहे में प्रयुक्त 'हुआ', 'मारिया', 'हमारा', 'भग्गा' आदि शब्द खड़ी बोली के हैं ।

खड़ी बोली का सबसे स्वस्थ और शुद्ध रूप अमीर खुसरो की कविता में मिलता है । खुसरो का समय १२५५-१३१५ ईसवी है । खुसरो के उपरान्त कबीर आदि के काव्य में भी खड़ी बोली के दर्शन होते हैं । आगे चलकर जब ब्रज और अवधी साहित्यिक भाषाएँ बन गईं, खड़ी बोली काव्य लुप्त सा हो चला । अकबर के समय इसमें गंग भाट ने 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक एक गद्य ग्रन्थ लिखा । इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के आस पास है । इसमें तत्सम् शब्दों का प्रयोग भीं पर्याप्त मात्रा में हुआ है । शुरू में मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य लिखा था जिसे वे 'हिन्दी भाषा' कहते थे । शाह मीरान बीजापुरी, शाह बुरहान खान और गेसूदराज के लिखे पुराने गद्य प्राप्त हुए हैं । संवत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग-बशिष्ठ' नामक ग्रन्थ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखा । और फिर पं० दौलतराम ने 'जैन पद्मपुराण' का इसमें अनुवाद किया । इसके उपरान्त लगभग दो सौ वर्ष तक हिन्दी गद्य का क्षेत्र सूना पड़ा रहा । पुनः लल्लूजी लाल, इंशा आदि की भाषा में खड़ीबोली गद्य के दर्शन हुए और तब से विकास करते हुए यह भाषा आज साहित्य की एक मात्र भाषा बन गई है । गद्य के क्षेत्र में तो उसका एकाधिकार है । यह तो हुआ खड़ी बोली गद्य का विकास ।

खुसरो के उपरान्त खड़ी बोली का पद्य उत्तर भारत में नहीं पनप सका । जब मुसलमानों ने दक्षिण भारत को जीत लिया तो यह उनके साथ दक्षिण में चली गई । वहाँ की मुस्लिम सल्तनतों में इसका पालन पोषण होता रहा । प्राचीन काल में खड़ी बोली के तीन नाम प्रचलित थे—हिन्दवी, हिन्दी और दक्खिनी । यह जन-साधारण की भाषा थी । हिन्दवी शब्द बहुत पुराना है ।

शेख अशरफ (१५०३ ई०), मुल्ला वजही (१६२१ ई०) आदि दक्खिनी विद्वानों ने खड़ी बोली के रूप के लिए हिन्दवी शब्द का प्रयोग किया है।

खड़ीबोली बहुत प्राचीन काल से बोलचाल की भाषा रही है। साहित्य के क्षेत्र में इस बोलचाल की भाषा का सर्वप्रथम प्रयोग मुसलमानों ने किया। इसका कारण था। खड़ीबोली का मुख्य स्थान मेरठ के आसपास होने के कारण और भारत में मुस्लिम शासन का केन्द्र दिल्ली रहने के कारण पहले पहल मुसलमानों की सहायता से इसका व्यवहार बढ़ा। जैसे-जैसे मुसलमान भारत के विभिन्न भागों में फैलते गए अपने साथ इस भाषा को भी लेते गए। इसी कारण बहुत से विद्वान खड़ीबोली को मुसलमानों की भाषा समझ बैठे हैं। हिन्दुओं ने खड़ीबोली को साहित्यिक भाषा के रूप में इस काल में आकर अपनाया है। इसका कारण यह था कि हिन्दी के आरम्भिक काल में विद्वानों की भाषा संस्कृत थी। साहित्य की भाषा अपभ्रंश थी। उस समय बोलचाल की भाषा भी अवश्य रही होगी। मुसलमान विदेशी थे। उनके लिए हिन्दुओं की संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का कोई मूल्य नहीं था क्योंकि वे जनसाधारण की भाषाएँ नहीं थीं। वे साधारण बोलचाल की भाषा अपनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने मध्यदेश की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी खड़ीबोली का सहारा लिया। मुस्लिम सन्त और फकीर अपने धर्म का प्रचार इसी भाषा में करने लगे। सूफी सन्तों के विषय में डाक्टर अब्दुल हक ने लिखा है कि—"इन बुजुर्गों के घरों में हिन्दी बोलचाल का रिवाज था और चूंकि यह उनके मुफीद मतलब था इसलिए वह अपनी तालीम व तकलीम में भी इसी से काम लेते थे।" क्रमशः मुस्लिम संस्कृति और राज्य के विस्तार के साथ-साथ इस खड़ीबोली (हिन्दी) की भी व्यापकता बढ़ती गई।

यह विदेशी परम्परा खड़ीबोली को साथ लेकर चौदहवीं सदी में दक्खिनी प्रदेशों में मुसलमानी फौजों, सन्तों और दर्वेशों के साथ गई। दक्षिणी का सम्बन्ध उत्तरी भारत के मुसलमानों से रहा था इसलिए हिन्दी वहाँ खूब फली फूली। उत्तरी भारत में खड़ी बोली के उस काल में न पनपने के दो कारण थे। पहला यह कि यहाँ मुस्लिम आक्रान्ता निरन्तर आते रहे और अपने साथ अरबी और फारसी का प्रभुत्व लाए। अरबी और फारसी की प्रतिद्वन्द्विता में हिंदी के पनपने में बाधा पड़ी। दक्षिणी प्रदेशों में फैले हुए मुसलमानों के लिए भाषा का सरलतम रूप हिन्दी ही परम्परागत सम्बन्ध स्थापित रखने का एकमात्र साधन था। बहमनी राज्यों के दफ्तरों में तो उसे 'सरकारी जबान' का पद प्राप्त था। उत्तर भारत में अठारहवीं सदी तक हिंदी कभी भी सरकारी

ज़बान नहीं रही। दूसरा कारण था कि उत्तर भारत में उस समय साहित्यिक क्षेत्र में ब्रज और अवधी का प्रभुत्व था। ऐसी उन्नत साहित्यिक भाषाओं के सामने खड़ीबोली को कोई नहीं पूछता था। इसलिए साहित्य में उसे स्थान न मिल सका। मुसलमान भी बढ़िया उच्चकोटि की रचनाएँ फारसी में लिखते थे पर जनसाधारण के समझने लायक सिद्धान्त और किस्से कहानियाँ हिन्दी में ही लिख देते थे। इस प्रकार उत्तर की समृद्ध साहित्यिक देशी भाषाओं के प्रभाव से दूर दक्षिण में हिन्दी पनपती रही। यह आश्चर्य का विषय है कि दिल्ली मेरठ की इस लाड़ली बेटी का पालन दक्षिण में विदेशियों द्वारा किया गया।

दक्षिण में भी बली औरंगाबादी से पूर्व तक खड़ीबोली का रूप पूर्णतः भारतीय और शुद्ध रहा परन्तु बली की प्रसिद्ध दिल्ली यात्रा के उपरांत इसमें अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य होने लगा और यह उर्दू का रूप धारण करने लगी। उसके बाद विकसित होते-होते यह आज उत्तर भारत की सर्वप्रिय भाषा और समस्त भारत की राष्ट्रभाषा बन गई है। परन्तु यहाँ तक आते-आते इसके दो रूप हो गए हैं—हिन्दी और उर्दू। हिन्दा और उर्दू भिन्न भाषाएँ न होकर हिन्दी की ही दो शैलियाँ हैं। यहाँ लगे हाथों हम एक भ्रम का और निराकरण कर लें। कुछ लोगों का कहना है कि खड़ीबोली की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से न होकर किसी बोली से हुई है जिसका पूर्व इतिहास नहीं मिलता। उनकी धारणा है कि शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई है क्योंकि शौरसेनी शूरसेन (मथुरा) की भाषा थी। इस भ्रम का कारण यह है ये लोग शौरसेनी अपभ्रंश के क्षेत्र को सीमित करके देखते है। शौरसेनी अपभ्रंश अपने समय में उत्तर भारत की सर्वप्रधान भाषा थी। उसका क्षेत्र राजस्थान और पंजाब से लेकर बिहार तक था। ऐसी दशा में सम्पूर्ण मध्यदेश की भाषाएँ शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित रहीं होंगी। विद्वानों का मत है कि खड़ीबोली की उत्पत्ति शौरसेनी, पंजाबी और पैशाची की मिश्रित अपभ्रंश से हुई। विद्वानों का यह तर्क संगत है क्योंकि पैशाची भाषा का प्रभाव किसी समय समस्त मध्यदेश में व्याप्त था। पंजाबी खड़ीबोली की पड़ोसिन है। दूसरे, ब्रजभाषा और खड़ीबोली में कोई विशेष अन्तर भी नहीं है। अतः खड़ी बोली का मूलाधार शौरसेनी मानी जा सकती है।

कुछ लोगों का, जिनमें डाक्टर ग्रियर्सन प्रमुख हैं, यह मत है कि खड़ीबोली का रूप प्राचीन नहीं है। सन् १८०० के लगभग लल्लूजीलाल ने अपने प्रेमसागर में इसका रूप निरूपण किया और तब से खड़ीबोली का प्रचार बढ़ा। ग्रियर्सन ने स्पष्ट लिखा है कि—"Such a language didnot exist in India before...when, therefore, Lallujilal wrote his

Premsagar in Hindi, he was inventing an altogether new language." उक्त मत कितना हास्यप्रद है यह कहना बेकार है। संसार के इतिहास में आज तक किसी एक व्यक्ति ने कभी किसी भाषा को उत्पन्न नहीं किया है। आगे चलकर उक्त महोदय कहते हैं कि–"इसका आरम्भ हाल में हुआ है और इसका व्यवहार गत शताब्दी के आरम्भ से अंग्रेजी प्रभाव के कारण होने लगा है····लल्लूजीलाल ने डा० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध प्रेमसागर लिखकर ये सब परिवर्तन किए थे। जहाँ तक गद्य भाग का सम्बन्ध है, वहां तक यह ग्रन्थ ऐसी उर्दू भाषा में लिखा गया था जिसमें उन स्थानों पर भारतीय आर्य शब्द रख दिये गए थे जिन स्थानों पर उर्दू लिखने वाले लोग फारसी शब्दों का व्यवहार करते हैं।" जो व्यक्ति प्रेमसागर की भाषा को उर्दू कह सकता है उसकी बुद्धि के लिए क्या कहा जाय। उसके भ्रमों का कहीं अन्त नहीं है।

खड़ी बोली के विकास में एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना घटी है। जब तक भारत में पठानों का प्रभुत्व रहा खड़ीबोली का विकास होता रहा परन्तु जैसे ही यहाँ मुगलों का साम्राज्य स्थापित हुआ राजनीति में खड़ीबोली हटकर फारसी का प्रभाव बढ़ा। इसका कारण यह था कि मुगलों के साथ भारत में ईरानी विचारधारा और संस्कृति आई और उसका प्रचार हुआ। साहित्य के क्षेत्र में अवधी और ब्रजभाषा का प्रभुत्व बढ़ रहा था अतः खड़ीबोली की पूर्ण उपेक्षा हुई। शेरशाह सूरी ने अपने शासन कार्य में दो भाषाओं को स्वीकृति प्रदान कर रखी थी—हिन्दी और फारसी। उसकी हिन्दी खड़ीबोली हिन्दी थी। परन्तु अकबर के शासनकाल में केवल फारसी ही राजभाषा रही। राज्य के सम्पूर्ण पद फारसी दाँ लोगों के हाथ में थे। इसलिए सरकारी नौकरियों के लालच से राजा टोडरमल ने हिन्दुओं को फारसी भाषा पढ़ने की सलाह दी जिससे हिन्दुओं को नौकरियाँ मिल सकें। इस प्रकार खड़ीबोली की पूर्ण उपेक्षा रही। पठान शासक खड़ीबोली को इसलिए प्रोत्साहन देते थे कि उनकी अपनी बोली पश्तो का अधिक सांस्कृतिक मूल्य नहीं था। दूसरे वे योद्धा थे। मध्यप्रदेश में रहते-रहते उन्होंने यहाँ की जनता की बोली को अपना लिया था। खड़ीबोली की जन्मभूमि रुहेलखण्ड है जो पठानों का गढ़ रहा है। इस तरह खड़ीबोली के विकास में राजनीतिक उलट-फेरों ने बहुत महत्वपूर्ण भाग अदा किया है।

आधुनिक काल

यदि मध्ययुग की धार्मिक परिस्थिति ब्रजभाषा के उत्कर्ष में सहायक हुई तो राजनीतिक परिस्थिति ने खड़ीबोली को प्रोत्साहन दिया। मुसलमानों के

साथ उर्दू के रूप में यह चारों ओर फैल गई। ब्रजभाषा का साहित्यिक महत्व घटने लगा। आधुनिक काल में खड़ीबोली की इतनी आशातीत उन्नति का प्रधान कारण उसका गद्य रहा। इस काल की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि साहित्य जन-साधारण की वस्तु बन गया। उसका केन्द्र राजसभा से हटकर शिक्षित जन-समुदाय में आ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रूढ़िगत काव्य भाषा ब्रज को हटाकर उसके स्थान पर खड़ीबोली की स्थापना की गई और दूसरी तरफ खड़ीबोली-गद्य साहित्य का मूलाधार बन गया।

परिवर्तन के ये लक्षण अठारहवीं सदी के अन्त से ही प्रारम्भ हो गये थे। मुगलों के पराभाव के समय बाहर की तीन शक्तियों ने हिन्दी क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयत्न किया—अफगान, मराठा और अँग्रेज। इनमें परस्पर खूब युद्ध हुए। अन्त में अँग्रेज विजयी हुए और सन् १८५६ तक आगरा व अवध प्रांत पर उनका एकाधिकार स्थापित हो गया। इस परिवर्तन का प्रभाव मध्यदेश की भाषा हिंदी पर पड़ना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा का महत्व घटा। उधर मुसलमानों के प्रचार के कारण मेरठ-बिजनौर की बोली, खड़ीबोली, उर्दू का रूप धारण कर आगे बढ़ रही थी। शासन कार्य के सुचारु संचालन के लिए अँग्रेजों को गद्य की आवश्यकता हुई। फलस्वरूप फोर्ट विलियम कालेज के अँग्रेज अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूजीलाल ने खड़ीबोली गद्य का तथाकथित सर्वप्रथम प्रयोग 'प्रेमसागर' द्वारा किया। (यद्यपि खड़ीबोली गद्य इससे पहले भी लिखा जा चुका था) परन्तु इस गद्य पर ब्रजभाषा का प्रभाव रहा। बाद में साहित्यिक क्षेत्र में भारतेन्दु के प्रभाव से और धार्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रभाव से खड़ीबोली गद्य का खूब प्रचार हुआ। उन्नीसवीं सदी तक काव्य की भाषा ब्रजभाषा रही और गद्य की खड़ी बोली।

प्राचीन विचारधारा के लोग, जिन्हें प्राचीन के प्रति अत्यधिक मोह होता है, ब्रजभाषा की हिमायत करते रहे। शिक्षा प्रसार, मुद्रण कला और पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार से काव्य भाषा ब्रज और शिक्षित जनता की भाषा खड़ीबोली के बीच का यह अन्तर जनता को असह्य हो उठा। फलस्वरूप महावीरप्रसाद द्विवेदी और अयोध्याप्रसाद खत्री ने ब्रजभाषा के विरुद्ध झण्डा उठाया। जनता के सहयोग से उन्हें सफलता मिली। इस सफलता का एक कारण यह भी था कि ब्रजभाषा की कविता में विनाश के अंकुर थे। बदरीनाथ भट्ट के शब्दों में—"भाषा के इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है जब असली कवित्व शक्ति न रहने पर भी लोग बनावटी भाषा में कुछ भी भला-बुरा लिखकर शब्दों

की खींचा-तानी करते हुए अपनी लियाकत का इजहार करते हैं और चाहे जैसी अश्लील या अनर्गल बात को छन्द के खोल में छिपा हुआ देख, लोग उसी को कविता समझने और समझाने लगते हैं।" उन्नीसवीं सदी में ब्रजभाषा कविता इसी अवस्था को पहुँच गई थी। रूढ़िगत अलङ्कारों के भार से लदी हुई यह काव्य की भाषा प्रगति के मार्ग पर बढ़ने में असमर्थ थी। अस्तु, बीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य की प्रगति और विकास का इतिहास खड़ीबोली साहित्य का इतिहास है।

खड़ीबोली के प्रारम्भिक रूप पर ब्रजभाषा का थोड़ा-बहुत प्रभाव रहा। परन्तु बाद में जाकर इस प्रभाव को दूर कर वह विशुद्ध बन गई। परन्तु अपने साहित्यिक रूप में यह मेरठ-बिजनौर की बोली से दूर हट गई है। यह भिन्नता अभी अधिक नहीं हो पाई है। खड़ीबोली हिन्दी एक जीवनी शक्ति से ओत-प्रोत सशक्त भाषा है। वह बाहर से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में संकोच नहीं करती। उसका व्याकरण अभी जटिल नहीं हो पाया है। यहाँ संक्षेप में खड़ी-बोली के रूपों पर भी विचार कर लिया जाय। इस समय हिंदी के स्वरूप निर्धारण के विषय में दो मत हैं। एक पक्ष उसे पूर्ण रूप से संस्कृत गर्भित बना कर उसकी शुद्धता की रक्षा करना चाहता है। दूसरा पक्ष यह चाहता है कि हिन्दी एक उन्मुक्त स्त्रोतस्विनी के समान चारों ओर से बल संचित करती हुई जनता रूपी कगारों के साथ-साथ बहती रहे। भाषा तभी जीवित रहती है जब वह जनता की अपनी बोली के आस-पास रहती है। दूर हटते ही उसका रूप तो सुन्दर हो जाता है परंतु उसकी जीवनी शक्ति मारी जाती है। इस कारण आज जनता का बहुमत इस पक्ष में है कि हिन्दी जन-साधारण की भाषा का रूप ग्रहण कर आगे बढ़े।

खड़ी बोली का साहित्य बहुत तेजी से पनपा है। अवधी और ब्रज से उसे बड़ी सहायता मिली है क्योंकि थोड़े से रूप भेद से इन तीनों की शब्द सम्पत्ति एक ही है। संस्कृत से भी उसने बहुत लिया। अरबी, फारसी, अँग्रेजी आदि शब्दों से भी उसे परहेज नहीं है। इतना सब कुछ होते हुए भी उसमें वैज्ञानिक और औद्योगिक शब्दावली का अभाव खटकता है।

हिंदी की अन्य प्रादेशिक बोलियाँ अपने-अपने प्रांतों में आज भी पूर्ण रूप से जीवित हैं। ग्रामीण जनता अपनी स्थानीय बोली का ही प्रयोग करती है। नागरिक जनता में से शिक्षित समुदाय खड़ी बोली का प्रयोग करता है और अशिक्षित समुदाय ऐसी बोली बोलता है जिसमें उक्त प्रदेश की ग्रामीण बोली और खड़ी बोली का अद्‌भुत मिश्रण होता है।

—: o :—

१४—दक्खिनी हिन्दी

दक्षिण के मुसलमान जो हिंदी बोलते हैं उसे दक्खिनी हिंदी या केवल दक्खिनी नाम दिया गया है। कुछ विद्वान इसे 'सरल दक्खिनी उर्दू' अथवा 'हिंदुस्तानी' भी कहते हैं। इस हिंदी के बोलने वाले बम्बई, बड़ौदा, बरार, मध्यप्रदेश, कोचीन, कुर्ग, हैदराबाद (दक्षिण), मद्रास, मैसूर और ट्रावनकोर तक में पाये जाते हैं। यह भाषा यद्यपि फारसी अक्षरों में लिखी जाती है परन्तु उत्तरी भारत की उर्दू की तरह उसमें अरबी फारसी के शब्दों की भरमार नहीं रहती। इस बोली के बोलने वालों की संख्या लगभग ६३ लाख बताई जाती है।

दक्खिनी हिन्दी वर्तमान खड़ी बोली का ही एक रूप है। खड़ी बोली साहित्यिक हिन्दी के विकास में चौदहवीं पन्द्रहवी शताब्दी के दक्षिण भारत के लेखकों—रियासतों के नवाबों, उनके दरबारी कवियों तथा फकीरों इत्यादि—ने महत्वपूर्ण योग दिया था। इस कार्य में मुसलमानों का हाथ अधिक रहने और रचनाओं की लिपि फारसी होने के कारण इसे प्रायः उर्दू समझने की भूल होती चली आई है। वास्तव में दक्खिनी हिन्दी आधुनिक खड़ी बोली के आदि रूप का विकसित रूप है। डा० बाबूराम सक्सेना ने गम्भीर अध्ययन एवं विवेचन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि खड़ी बोली के विकास और समृद्धि में दक्षिणी रियासतों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण योग देकर उसे मुगल साम्राज्यकालीन राष्ट्रभाषा का रूप देने का प्रयत्न किया था।

प्राचीनकाल में खड़ी बोली के तीन नाम प्रचलित थे—हिन्दवी, हिन्दी और दक्खिनी। संस्कृत निष्ठ हिन्दी से यह भाषा कई बातों में भिन्न है। यह जन साधारण की भाषा थी। हिन्दी अथवा हिन्दवी शब्द का अर्थ है—हिंदुओं की भाषा। हिंदी शब्द बहुत पुराना है। शेख अशरफ (१५०३ ई०) मुल्ला वजही (१६३५ ई०) आदि प्रसिद्ध दक्खिनी विद्वानों ने इस भाषा के लिए स्पष्ट रूप से 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग किया है। इब्न निशाती, रुस्तमी आदि लेखकों ने इसे 'दक्खिनी कहा है। शाह बुर्हानुद्दीन जानम बीजापुरी इसे हिन्दी कहते हैं। प्रकारान्तर से इन तीनों शब्दों का अभिप्राय एक ही भाषा से है। 'हिंदवी' शब्द का प्रचार इन्शाअल्लाखां तक भी था। उन्होंने ऐसी कहानी कहने का प्रयत्न किया जिसमें—"हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।" इंशा

की इस बात से यह प्रमाणित होता है कि 'हिंदवी' उस समय की जन साधारण की बोलचाल की भाषा थी। तभी इंशा इस भाषा में हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास या कहानी कहने के लिए उत्सुक थे। दूसरी बात यह कि उस समय तक यह भाषा उत्तरी भारत में साहित्य की भाषा नहीं बनी थी। उस समय इस भाषा में साहित्य लिखना दुष्कर कार्य समझा जाता था। इंशा इस भाषा के विषय में जनमत का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते-चालते हैं ज्यों का त्यों ही डौल रहे और छांव किसी की न हो। वह नहीं होने का।" इन्शा अपनी सफलता के विषय में इसलिए शंकित हैं कि हिन्दवी के साहित्यिक रूप 'दक्खिनी' का प्रचार उस समय उत्तर भारत में नहीं था। वहाँ उस समय यह भाषा उपेक्षणीय समझी जाती थी। यह सब कुछ होते हुए भी इस भाषा की साहित्यिक शक्ति का इससे बड़ा और सशक्त प्रमाण और क्या हो सकता है कि यह इतने अल्प काल में ही खड़ी बोली का रूप धारण कर सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की प्रधान भाषा और भारत की राष्ट्रभाषा बन बैठी।

'हिन्दवी' के इस रूप का नाम दक्खिनी क्यों पड़ा? यह प्रश्न विचारणीय है। इसका किसी भी दक्खिनी आर्य या द्रविड़ भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। पारिवारिक दृष्टि से यह उत्तर भारत की आर्य भाषाओं और विशेष रूप से हिन्दी से सम्बन्धित है। इसका 'दक्षिणी' नाम पड़ने का कारण ऐतिहासिक माना जाता है। अलाउद्दीन खिलजी ने १३०२ ई० तक दक्षिण का कर्नाटक तक का प्रदेश जीतकर अपना साम्राज्य दृढ़ बना लिया था। कुछ समय बाद मुहम्मद तुगलक ने दक्षिण पर अपना अधिकार कायम रखने के लिये दौलताबाद को राजधानी बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु दक्षिण पर उत्तर भारत का यह अधिकार अधिक दिनों तक न रह सका। फीरोजशाह के समय में दक्षिण पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया। वहाँ छोटी-छोटी सल्तनतें कायम हो गई। इन सल्तनतों के संस्थापक प्रमुख रूप से उत्तर भारत के मुसलमान सर्दार ही रहे। इसलिए दक्षिण के उस अपरिचित भाषा वाले प्रदेश में उनका मोह उत्तर भारत की भाषा के प्रति ही अधिक रहा जिसे वे अपने साथ दक्षिण में लाये थे। ये छोटे राज्य हिन्दी के लेखकों और कवियों को संरक्षण देते रहे। १७ वीं शताब्दी तक वहाँ इस भाषा में अच्छे साहित्य का निर्माण होता रहा। परन्तु औरंगजेब ने जब पुनः दक्षिण पर अधिकार कर लिया तो ये साहित्यकार तितर-बितर हो गए। लेकिन न्यूनाधिक रूप में वहाँ साहित्य सृजन होता रहा। हैदराबाद में निजामशाही की स्थापना के उपरांत

इस राज्य में दक्षिणी भाषा के साहित्यकारों को निरंतर आश्रय और प्रोत्साहन मिलता रहा। इस प्रकार इस भाषा का सम्बन्ध प्रमुख रूप से दक्षिणी राज्यों से रहा। इसी कारण इसे 'दक्खिनी' के नाम से पुकारा गया।

जिस समय दक्षिण में यह भाषा पनप रही थी उस समय वहाँ मराठी-तेलगू, कन्नड़ आदि भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य का सृजन होरहा था। इन समृद्ध साहित्यिक भाषाओं की प्रतिद्वन्द्विता में दक्खिनी का साहित्य क्योंकर पनप सका? इसका कारण यह था कि इसके मूल में वहाँ के मुसलमानों का विशेष हाथ था। बहमनी, आदिलशाही, कुतुबशाही आदि सल्तनतों ने हिन्दुओं से निकट सम्पर्क स्थापित कर उन्हें उच्चपदों पर आसीन किया। मुसलमानों ने अपने अरबी फारसी आदि के साहित्य के साथ भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य को भी अवश्य देखा होगा। परंतु दक्षिणी हिन्दू इस भाषा के प्रति पूर्ण रूप से उदासीन रहे क्योंकि वहाँ उनकी अपनी मातृभाषाएँ थीं। इसी से सत्रहवीं शताब्दी तक के दक्खिनी लेखकों एवँ कवियों में सब मुसलमान हैं। इसका कारण यह भी था कि हिन्दी के आदिकाल में विद्वानों की भाषा संस्कृत थी। साहित्य की भाषा अपभ्रंश मानी जाती थी। परन्तु भाषा शास्त्रियों की धारणा है कि उस समय भी अपभ्रंश के साहित्यिक रूप के साथ उसका बोल चाल का रूप भी अवश्य रहा होगा। इस बोलचाल की भाषा द्वारा उस समय अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित किये जाते होंगे। प्रसिद्ध यात्री अल्बेरुनी (१०२५ इ०) ने लिखा है कि उस समय (भारत में मुस्लिम शासन स्थापित होने से पूर्व) यहाँ एक ही भाषा के दो रूप थे—एक साहित्य की दूसरी जन-साधारण की। अल्बेरुनी का मत दृष्टव्य है—"Further, the language is divided into a neglected Vernacular one, only in use among the Common people, and a clasaical only in use among the upper & educated classes, which is much cultivated and subject to the rules of grammatical inflection and etymology and to all the niceties of grammer of rhetoric."

Alberuni's India, Dr. E. C. Sachan.

अनुमान किया जाता है कि यह बोलचाल वाली भाषा अपभ्रंश का ही सरल रूप रही होगी।

साहित्य के क्षेत्र में इस बोलचाल की भाषा को सर्वप्रथम मुसलमानों ने अपनाया। उस समय हिन्दू अपनी प्रचलित साहित्यिक भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में साहित्य रच रहे थे। विदेशियों के लिए इन भाषाओं का कोई

मूल्य नहीं था क्योंकि वे जनसाधारण की भाषाएँ नहीं थीं। मुसलमान साधारण बोलचाल की भाषा को अपनाना चाहते थे। भारतीय जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए उन्होंने इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी खड़ी बोली को अपनाया। मुस्लिम संत और फकीर अपने धर्म का प्रचार इसी भाषा में करने लगे। डा० अब्दुल हक ने सूफी सन्तों के विषय में लिखा है कि—"इन बुजुर्गों के घरों में भी हिन्दी बोलचाल का रिवाज था और चूँकि यह उनके मुफीद मतलब था इसलिए वह अपनी तालीम और तकलीम में भी इसी से काम लेते थे।" क्रमशः मुस्लिम संस्कृति और राज्य के विस्तार के साथ-साथ इस खड़ी बोली (हिन्दी) की भी व्यापकता बढ़ती गई।

उत्तर भारत में इस हिन्दी के सर्व प्रथम कवि अमीर खुसरो (१२५३–१३२५ ई०) माने जाते हैं। इनकी हिन्दी बोलचाल की साधारण भाषा थी जिसमें खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा का भी पुट था। खुसरो के पूर्व शेख फरीउद्दीन शकरगँजी एवं खुसरो के समकालीन शेख सरफुद्दीन बू अली कलँदर नामक सन्तों ने इस भाषा में कविताएँ लिखी थीं। कलन्दर का एक दोहा दृष्टव्य है—

"सजन सकारे जायँगे और नैन मरेंगे रोय।
विधना ऐसी रैन कर भोर कदी ना होय॥"

इस तरह उत्तर भारत में खड़ी बोली में काव्य निर्माण १५ वीं शताब्दी तक का प्राचीन मिलता है। इसके उपरान्त यह परम्परा कई शताब्दियों तक लुप्त रही। अस्तु,

डा० सक्सेना लिखते हैं कि "सचाई यह है कि हिन्दी खड़ी बोली के जो प्राचीन ग्रन्थ इस समय मिलते हैं वे विदेशियों की कृतियाँ हैं। इस बात को स्वीकार करने में कोई लज्जा की बात नहीं कि हमारी भारतीय बोली हिंदी को नए आए हुए विदेशियों ने साहित्य का माध्यम बनाया। जब इन्होंने इसे अपनाया उस समय भारतीय परम्परा में ऊँचे दर्जे का साहित्य संस्कृत में रचा जा रहा था, पर काव्य, नाटक, कथा, कहानी आदि प्राकृतों और अपभ्रंशों में लिखे जा रहे थे। भारतीय परम्परा के अनुकूल ही इस हिन्दी में भी लोक गीत और लोक कथाएँ रही होंगी जो मौखिक थीं और जिनका कोई लिखा निशान बाकी नहीं। विदेशियों की विद्याओं की भाषा यहाँ की संस्कृत के मुकाबले की फारसी थी और विदेशी परम्परा वाले बढ़िया मार्के की चीजें फारसी में लिखते थे पर जनसाधारण के समझने लायक सिद्धान्त और किस्से-कहायियाँ हिन्दी में ही लिख देते थे।"

यह विदेशी परम्परा खड़ी बोली को साथ लेकर चौदहवीं शताब्दी में दक्खिनी प्रदेशों में मुस्लिम फौजों, सन्तों और दरवेशों के साथ गई। दक्षिण भारत का फारस से कभी भी सीधा सम्पर्क नहीं रहा। उसका सम्बन्ध उत्तरी भारत के मुस्लिम शासकों से था। इसीसे वहाँ हिन्दी खूब फली-फूली। उत्तरी भारत में मुस्लिम आक्रान्ता निरन्तर आते रहे और अपने साथ अरबी और फारसी का प्रभुत्व लाते रहे। इसी से वहां हिन्दी के पनपने में बाधा पड़ी। दक्षिणी प्रदेशों में फैले हुए मुसलमानों के लिए भाषा का सरलतम रूप हिन्दी ही परम्परागत सम्बन्ध स्थापित करने का एकमात्र साधन था। इसलिए दक्षिण की सभी सल्तनतों ने इसकी बृद्धि में योग दिया। बहमनी सल्तनत के तो दफ्तरों में हिन्दी का प्रयोग होता था। वह वहाँ 'सरकारी जवान' थी। उत्तर में हिंदी अठारहवीं शताब्दी तक कभी भी 'सरकारी जवान' नहीं रही।

दक्खिनी के पहले लेखक ख्वाजा बन्दानवाज़ गेसूदराज मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२) हैं। आपने मीराज़ुल आशकीन, हिदायत नामा और रिसाला सेहवारा नामक तीन रिसाले लिखे। इनके पौत्र अब्दुला हुसेनी ने भी 'निशातुल इश्क' नामक एक ग्रन्थ लिखा। आदिलशाही और कुतुबशाही सल्तनतों ने दक्खिनी साहित्य को सदैव संरक्षण दिया। इन राज्यों के सुल्तान स्वयं भी कवि थे। इनमें मुहम्मद कुली कुतुबशाह और इब्राहीम आदिलशाह उल्लेखनीय हैं। वीदर राज्य में भी कुछ साहित्य रचा गया। शाह मीरानजी, बुर्हानुद्दीन जानिम, इब्ननिशाती आदि इस भाषा के प्रमुख साहित्यकार माने जाते हैं। सन् १६८५-८६ में औरंगजेव ने इन सल्तनतों को समाप्त कर दिया। इस काल में यहाँ वली औरङ्गावादी, जईफी, वहरी, वजही, इंशस्ती, बेलूरी आदि अच्छे कवि हुए।

१७२३ ई० में आसफजाह दक्खिन के सूबेदार नियुक्त हुए। कुछ दिनों तक तो आसफजाही खानदान मुगलों के आधीन रहा, फिर स्वतन्त्र हो गया। वली औरङ्गावादी एक बार दिल्ली गए। उनकी इस दिल्ली यात्रा का परिणाम दो प्रभावों के रूप में पड़ा। दिल्ली के साहित्यकारों ने तो फारसी को छोड़कर हिन्दी या रेखता को अपनाना शुरू कर किया और 'दक्खिनी' के साहित्यकारों ने 'दक्खिनी' में स्वदेशी शब्दों के स्थान पर अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग कर इस भाषा के स्वरूप को स्टैण्डर्ड बनाने का प्रयत्न किया। दिल्ली से दक्षिण का सम्पर्क बढ़ता गया। उन्नीसवीं शताब्दी में दिल्ली का केन्द्र टूट गया। दिल्ली के कलाकार लखनऊ और हैदराबाद चले गये। लखनऊ की नबाबी भी समाप्त होने पर शायरों का यह आश्रय भी समाप्त हो गया। "दिल्ली और लखनऊ के दरवारों में रंडियों, भांड़ों और शायरों का जमघट लगा रहता था। एक दिन

वह महल ढलकर गिर पड़ा : लखनऊ और दिल्ली की बुलबुलें उड़ गईं और अपने लिए दूर-दूर आशियाने खोजने लगीं।''—रामपुर और हैदराबाद में फिर बुलबुलें चहकने लगीं।'' (डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु युग) इनमें से हैदराबाद कलाकारों का सुन्दर आश्रय बना। दिल्ली के हफीज दक्खिन चले गये। परन्तु इन नवीन कलाकारों की कृतियों में से 'दक्खिनी' की विशेषतायें गायब होने लगीं। उन पर फारसी का गहरा रंग चढ़ गया था।

अब तक दक्खिनी के सभी कलाकार मुसलमान हुए परन्तु आसफजाही राज्य में कुछ हिंदुओं ने भी दक्खिनी में रचनाएँ कीं जिनमें लाला मोहनलाल 'मेहताब' और लाला लक्ष्मीनारायण 'शफीक' उल्लेखनीय हैं। बीसवीं शताब्दी तक आते-आते हैदराबाद ही इस भाषा का एकमात्र पोषक रह गया। परन्तु इस समय तक यह भाषा अपना स्वाभाविक रूप खोकर उर्दू का रूप धारण कर चुकी है। अब यहाँ के सभी साहित्यकारों की भाषा खालिस उर्दू है। फिर भी दो एक कवियों ने दक्खिनी को अपनाया है। इनमें 'हलम' की ठुमरियाँ और अजमत के हिन्दी छन्द अच्छे बन पड़े हैं।

दक्खिनी का क्षेत्र दक्षिण भारत का मध्यभाग और विशेष रूप से हैदराबाद रहा है। यद्यपि आज वहाँ दक्खिनी का साहित्यिक और राजभाषा का रूप नष्ट होगया है और स्टेंडर्ड उर्दू उसका स्थान ले चुकी है फिर भी हैदराबाद के ऊँचे से ऊँचे अधिकारी अब भी बोलचाल में दक्खिनी का व्यवहार करते हैं। शैली की दृष्टि से हम दक्खिनी के सम्पूर्ण साहित्य को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। दक्खिनी के प्रसिद्ध कवि वली औरङ्गावादी से पूर्व का साहित्य और उनके बाद का साहित्य। वली से पूर्व का साहित्य सरल, शुद्ध खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप है। इसमें अरबी फारसी के शब्दों का बहुत कम प्रयोग है। संस्कृत शब्दों के भी अद्भुत रूप ही प्रयुक्त हुए हैं। बहुलता तद्भव और देशज शब्दों की ही है। शैली शुद्ध रूप से भारतीय परम्परा और संस्कृति से प्रभावित है। इसी साहित्य का दूसरा रूप उस समय से प्रारम्भ होता है जब वली साहब दिल्ली की यात्रा कर वापस आए और अपनी मौलिकता, स्वतन्त्रता और उदारता खोकर अरबी फारसी के रंग में सराबोर हो गये। उन्होंने लौटकर इस भाषा में विदेशी शब्द और शैली का प्रयोग आरम्भ कर दिया। धार्मिक पक्षपात के जोश में यह कार्य खूब पनपा और कालान्तर में दक्खिनी ने उर्दू का रूप धारण कर लिया।

दक्खिनी के पुराने साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि उसमें विदेशी शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। मुस्लिम लेखकों ने अपने धार्मिक ग्रन्थों (जैसे मीराजुल आशकीन) में अरबी शब्दों का प्रयोग किया है तथा कहानी

किस्से के ग्रन्थों (जैसे 'सरबस' आदि) में देशी शब्दों का ही एकछत्र राज्य है। डा० अब्दुल हक का अनुमान है कि दक्खिनी भाषा में—"फारसी हिंदी का अलफ़ाज का तनासुब एक और अढ़ाई का रहता है और सारी मसनवी का यही हाल है।" इसी तरह गवासी की भाषा के विषय में एक विद्वान का मत है कि—"गवासी के कलाम में हिन्दी अल्फाज ज्यादा पाये जाते हैं।" यह मत समानरूप से दक्खिनी के लगभग सभी ग्रन्थों पर लागू हो सकता है। इस भाषा के सरलतम रूप के लिए निम्नलिखित कविता द्रष्टव्य है—

"विरागी जो कहाते हैं उसे घरबार करना क्या।
हुई जोगिनी जो कोई पी की उसे संसार करना क्या॥
जो पीवे प्रीत का पानी उसे क्या काम पानी सों।
जो भोजन दुख का करते हैं उसे आधार करना क्या॥

(कुल्लयात वली)

भाषा की उपर्युक्त सरलता की प्रवृत्ति वली में भी मिलती है परन्तु उस पर फारसी का प्रभाव इतना गहरा पड़ता जा रहा था कि वह अपनी कविता का प्रारम्भ तो स्वाभाविक रूप से करता था परन्तु फौरन ही सतर्क होकर फारसी के दामन में जा छिपता था। उदाहरण देखिए—

"तुझ मुख की झलक देख गई जोत चन्द्र सों!
तुझ मुख पर अर्क देख गई आब गहर सों॥"

इसी प्रवृत्ति ने वली को उर्दू का 'बाबा आदम' की पदवी से विभूषित किया और उसी के प्रयत्न से उसकी 'रेखता' हिन्दी से फारसी बन चली और बन संवर कर 'उर्दू' के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

दक्खिनी के ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों के रूपों में कुछ अन्तर तो इस कारण पड़ गया कि लिपि फारसी थी। इस कारण अरबी फारसी शब्द ज्यों के त्यों रह गये। दक्खिनी के प्रारम्भिक ग्रन्थों में शब्दों का रूप उच्चारण की सुगमता के अनुकूल मिलता है जैसे बकरीद। अरबी फारसी के कुछ ऐसे शब्दों के रूप मिलते हैं जो आज उर्दू के लिखित रूप में तो प्राप्त नहीं होते पैर बोलचाल में अब भी मिल जाते हैं जैसे—महरवान (मेहर्वान) जागा (जगह), जाव (जवान) जानबर (जानवर) आदि। इसके लेखक विदेशी भाषाओं के विद्वान नहीं थे इसलिए उनका अक्षर विन्यास गलत हुआ है जैसे नाज़ुक का नाजक। कहीं-कहीं छन्दों में जरूरत के कारण भी शब्दों के रूपों में परिवर्तन कर दिया गया है। अनेक स्थानों पर विदेशी संज्ञाओं से क्रियायें बनाने की प्रवृत्ति भी मिलती है जैसे—फाम से फामना=समझना। व्याकरण की दृष्टि से यह प्रयोग

अशुद्ध है । कहीं-कहीं विदेशी शब्दों को देशी शब्दों के साथ मिलकार बनाये हुए समासों के रूप भी मिलते हैं तथा गुलवाड़ी=फुलवाड़ी ।

विदेशी शब्दों के उपर्युक्त प्रयोगों से यह प्रमाणित होता है कि इन लेखकों ने इन शब्दों का प्रयोग भावों को चतुरता पूर्वक प्रकट करने के लिए ही किया था । वैसे इन शब्दों के प्रति उन्हें कोई विशेष मोह नहीं था । इस भाषा में भारतीय शब्दों की प्रधानता थी । बहुत से शब्द तो तत्सम् रूप में जैसे के तैसे प्रयुक्त हुए हैं—अङ्ग, अम्बर, उत्तम, कुच, वस्तु, रोमावलि, सेवक, दिवाकर, सँभोग, संग्राम आदि । इन तत्सम् शब्दों के रहते हुए भी प्रधानता तद्भव रूपों की है जैसे—अप्सरा=अपछरी; अधिक=अदिक, अदिख; स्तुति=अस्तोत; उडुगन आदि । कुछ क्रिया-शब्द जो साहित्यिक हिन्दी में नहीं मिलते इस भाषा में प्रयुक्त हुए हैं । जैसे—उचाना (ऊपर उठाना), दिसाना (दिखाई देना), (बनाना), चितरना (चित्रित करना) आदि । साथ ही कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया गया है जो उत्तर भारत की हिन्दी के न तो साहित्यिक रूप में मिलते हैं और न बोलचाल के रूप में, जैसे—अनत्रती (अनजाने), अंभू (आँसू), उन्मार्ग, उभाल, छलाँग, बादल आदि । इस शब्दों में से कुछ आर्य भाषा परिवार के हैं और कुछ सम्भव है द्रविड़ या मुंडा परिवार की भाषाओं से लिए गए हैं।

भाषा का स्वरूप प्रायः शब्दावली के ऊपर निर्भर करता है । हिन्दी और उर्दू का वर्तमान रूप इसका प्रमाण है । शब्दावली के अतिरिक्त व्याकरण रूपों पर भी भाषा का स्वरूप आश्रित रहता है । विदेशी शब्दों को देशी व्याकरण रूप देकर उन्हें स्वदेशी बना लिया जाता है । कालान्तर में ये पूर्ण स्वदेशी से प्रतीत होने लगते हैं । दक्खिनी में यह प्रवृत्ति खूब मिलती है । इसके ग्रन्थकारों ने अनेक स्थानों पर स्वदेशी ध्वनियों को अपरिचित विदेशी ध्वनियों के स्थान पर प्रयोग कर उनसे क्रियायें हिन्दी के नियमों के अनुकूल बनाई हैं ।

शब्दावली और व्याकरण के रूपों के अतिरिक्त प्रत्येक देश में अन्य साहित्यिक परम्पराएँ भी होती हैं ।किसी को मनाने या प्रसन्न करने के लिए 'पांव पड़ना' भारतीय मुहावरा है । इसका 'दक्खिनी' के कई ग्रन्थों में प्रयोग मिलता है । साथ ही भारतीय अलङ्कारों और पान खाने की परम्परा भी भारतीय ही है । वली के पदों में इनका खुलकर प्रयोग हुआ है जैसे—'और कान में बाला के नजिक यह बाली" तथा "करने को दिल का चूना आता पान खाकर ।" परम्परा निर्वाह के साथ प्रत्येक देश के कुछ अपने कवि-सम्प्रदाय होते हैं । जैसे फारसी में गुल व बुलबुल का, भारत में कमल और भौंरे तथा चन्द्र और चकोर का । उर्दू साहित्य में इन भारतीय कवि-सम्प्रदायों का बहिष्कार है । परन्तु

'दक्खिनी' में इनका बहुधा प्रयोग हुआ है। जैसे "कंवल का दिल खिला, सीनः की दह में" तथा "अगर नै है आशिक चकोर चाँद का।"

प्राचीन कथानकों का उल्लेख और भी अधिक प्रभावशाली होता है। सीता राम, हनुमान आदि की चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख दक्खिनी ग्रन्थों में प्रायः मिल जाता है। इसी तरह भारतीय नदियों, पर्वतों आदि का वर्णन और उनसे दी हुई उपमाएँ भी इस साहित्य में मिलती हैं। वली ने उज्जैन के वर्णन में शिप्रा नदी का सुन्दर वर्णन किया है। प्रियतम और प्रेयसी का भेद और वर्णन भारतीय परम्परा है। मुहम्मदवली कुतुबशाह ने अपनी प्रत्येक प्रेयसी पर कविता लिखी है। वली ने अपनी दिल्ली यात्रा से पूर्व अपनी माशूक स्त्री का वर्णन किया है। परन्तु वली के दिल्ली से लौटने पर यह क्रम बदल गया।

वली की उपर्युक्त दिल्ली यात्रा के उपरान्त दक्खिनी कवियों का माशूक फारसी शैली पर स्त्रीलिंग की जगह पुल्लिंग बन गया। वली पर उत्तर भारत की दूषित फारसी परम्परा का ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा कि न केवल प्रेयसी का वर्णन ही प्रकृति विरुद्ध हो गया बल्कि अरबी-फारसी की शब्दावली का अनुपात भी बढ़ गया। धीरे-धीरे वली के बाद के दक्खिनी साहित्य की रूपरेखा उर्दू का रूप ग्रहण करती चली गई। साथ ही उस पर भारतीय परम्पराओं, कवि-सम्प्रदायों, शब्दावली आदि का जो प्रभाव था वह क्रमशः क्षीण होते-होते नष्ट हो गया। परिणाम यह हुआ कि जो दक्षिण पहले हिन्दी अथवा हिन्दवी का सबसे प्रबल समर्थक, प्रचारक और पोषक था उसने अपनी इस पालिता पुत्री का गला घोंटकर उसे समाप्त कर दिया और उसके अवशेषों पर उर्दू का महल खड़ा किया। अतः दक्खिनी भाषा अपने प्रारम्भिक रूप में पूर्णतः भारतीय रही परन्तु कालान्तर में उसने विदेशी रूप धारण कर लिया। वली औरङ्गाबादी की दिल्ली यात्रा इस भाषा के लिए अत्यन्त घातक प्रमाणित हुई।

१५—देवनागरी लिपि

देवनागरी लिपि की उत्पत्ति ब्राह्मी लिपि के एक रूप नागरी लिपि से मानी जाती है। इसके रूप प्राचीन शिलालेखों और ताम्रपात्रों के रूप में मिले हैं। अशोक के शहबाजगढ़ी के और मनसेहरा नामक स्थानों के लेख खरोष्ठी लिपि में हैं। खरोष्ठी लिपि में लिखे गए शिलालेखों की संख्या ब्राह्मी लिपि के शिलालेखों की तुलना में बहुत कम है। ब्राह्मी उस समय, एक प्रकार से, राष्ट्रीय लिपि थी। खरोष्ठी शब्द का अर्थ है 'गधे के होठ वाली'। इसका यह नाम कैसे पड़ा, इसका विवेचन नहीं मिलता। यह पश्चिमोत्तर प्रदेश की लिपि थी जिसमें कोई वैज्ञानिकता नहीं थी। यह उर्दू के समान दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा इसे आर्य लिपि न मानकर अनार्य लिपि मानते हैं। सुप्रसिद्ध लिपि विशेषज्ञ पंडित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा इसकी उत्पत्ति ईरान की प्राचीन राजकीय लिपि 'अरमाइक्' से मानते हैं। उनका मत है कि जब ईरानी भारत आए तो हिन्दी भाषा के पढ़े-लिखे लोगों ने इसमें कुछ परिवर्तन कर एक काम चलाऊ लिपि बनाली। इसका प्रचार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ईसा की तीसरी या चौथी सदी तक रहा। बाद में यह लुप्त हो गई।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ यूरोपीय विद्वान, जिनमें बूलर और बेवर प्रमुख हैं, इसका सम्बन्ध पश्चिमी एशिया की किसी प्राचीन लिपि से जोड़ते हैं। बूलर का कहना है कि ब्राह्मी लिपि के २२ अक्षर उत्तरी सेमेटिक लिपियों से लिये गये थे और बाकी उन्हीं अक्षरों के आधार पर बना लिए गये थे। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न विद्वान इसकी उत्पत्ति कीलाक्षर, फनीसी, चीनी, सामी आदि लिपियों से मानते हैं। परन्तु उन्होंने अपनी इन मान्यताओं के कोई ठोस प्रमाण नहीं दिये हैं। उपर्युक्त सभी लिपियों और ब्राह्मी लिपि में पर्याप्त मौलिक अन्तर है। ओझाजी इसे "भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार" मानते हैं।

ईसा की चौथी शताब्दी तक इस लिपि का प्रचार लगभग समस्त उत्तर भारत में रहा था। इसकी प्राचीनता और सर्वाङ्ग सुन्दरता के कारण इसका कर्त्ता चाहे ब्रह्मा माना गया हो और इसी कारण इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो,

चाहे यह ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण ब्राह्मी कहलाई हो और ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा के लिये सर्वोत्तम साधन होने के कारण इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो, परन्तु यह निश्चित है कि भारत आने वाले किसी भी विदेशी यात्रा ने यह नहीं कहा कि यह विदेशी लिपि है या इसका आधार विदेशी है। इसका उद्गम कहीं से हुआ हो परन्तु यह मौर्यकाल में भारत की राष्ट्रीय लिपि थी। इसमें लिखे गए प्राचीनतम लेख ई० पू० पाँचवी सदी तक के मिले हैं। अशोक के शिलालेखों की लिपि यही थी। ई० पू० ५०० से लेकर ३५० ई० तक के लेखों को सामान्यतः यही नाम दिया गया है। इसके उपरान्त इसके दो भेद हो जाते हैं—उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी शैली का प्रचार प्रायः विन्ध्याचल के उत्तर में और दक्षिणी का उसके दक्षिण में रहा ,

उत्तरी ब्राह्मी के पाँच रूप मिलते हैं—१—गुप्तलिपि, २—कुटिल लिपि, ३—नागरी लिपि, ४—शारदा लिपि और ५—बंगला लिपि। चौथी शताब्दी के उपरान्त की लिपि का नाम 'गुप्त लिपि' है जिसका प्रचलन गुप्तकाल में था। कुटिल लिपि इसी का विकसित रूप है। अक्षरों की कुटिल आकृति के कारण ही यह कुटिल लिपि विकसित होकर नवीं शताब्दी में 'शारदा' बनी। कुटिल लिपि से ही नागरी और काश्मीर की प्राचीन शारदा लिपि का विकास हुआ। शारदा से वर्तमान काश्मीरी, ढाकरी तथा गुरुमुखी लिपियाँ विकसित हुई हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से, दसवीं सदी के लगभग प्राचीन बंगला लिपि का विकास हुआ। नागरी लिपि का प्रचार उत्तर में तो नवीं सदी के आसपास मिलता है, परन्तु दक्षिण में आठवीं सदी से सोलहवीं सदी तक पाया गया है। नागरी से वर्तमान कैथी, महाजनी, राजस्थानी, गुजराती आदि लिपियों का विकास हुआ है। प्राचीन बंगला लिपि से वर्तमान नैपाली, वर्तमान बंगला, मैथिली और उड़िया लिपियाँ निकली हैं। इस प्रकार हमने देखा कि उत्तरी भारत की अधिकतर लिपियाँ नागरी लिपि की ही सन्तानें हैं, इसलिये वर्तमान देवनागरी लिपि से इनका निकट का सम्बन्ध और समानता है।

ब्राह्मी की दक्षिणी शैली के अन्तर्गत पश्चिमी, मध्यवर्ती, तेलगू, कन्नड़ी, ग्रन्थम, कलिंग तथा तमिल लिपि का विकास हुआ। इन लिपियों का देवनागरी लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः यहाँ इनका विवेचन अपेक्षित नहीं है।

नागरी लिपि के उदाहरण उत्तरीभारत में दसवीं सदी तक के भी पाए गये हैं। ग्यारहवीं सदी से इस लिपि की प्रभुता बराबर रही है। दक्षिण की नागरी लिपि 'नन्दि नागरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका दूसरा नाम 'ग्रन्थम् लिपि' है। इस लिपि में वहाँ संस्कृत के ग्रन्थ अब भी लिखे जाते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि दक्षिण की अन्य लिपियाँ संस्कृत उच्चारणों को

यथावत् उच्चरित करने में असमर्थ हैं। इसलिए संस्कृत ग्रन्थों के लिये इस लिपि का प्रयोग किया जाता है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश आदि के दसवीं सदी तक के सभी शिलालेख, पत्रादि इसी लिपि में लिखे गये थे। इसके विषय में ओझा जी का मत दृष्टव्य है। वे लिखते हैं कि—"दसवीं शताब्दी की उत्तरी भारत की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की भाँति अ, आ, घ, प, म, य, ष और स के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में दोनों अंश मिलकर एक सिर की लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है। ११ वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती जुलती है और १२ वीं शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है·······ई० सन् की १२ वीं शताब्दी से लगातार अब तक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप में चली आ रही है।" (ओझा–भारतीय प्राचीन लिपिमाला) इस प्रकार वर्तमान देवनागरी लिपि दसवीं सदी की नागरी लिपि का ही विकसित रूप है। पिछले सौ वर्षों से, जब से मुद्रणकला का आविष्कार हुआ है, देवनागरी लिपि के छापे के रूपों में संयुक्त व्यंजनों के ऊपर नीचे के सम्मिलित रूपों (च्च, क्क, आदि) को हटाकर (च्च, क्क) आगे पीछे लिखे हुए रूपों को ही अपनाया गया है।

वर्तमान नागरी लिपि में अक्षर ध्वनियों के क्रम से ही लिखे जाते हैं। केवल 'इ' की मात्रा (ि) और रेफा (˚) अपवाद हैं। उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ नीचे और ए, ऐ, ओ, औ की वर्णों के ऊपर लगाई जाती हैं। जिन व्यंजनों के अन्त में स्पष्ट रूप से खड़ी पाई नहीं है, जैसे (छ, ट, द आदि) उनमें संयुक्त व्यंजनों को अब भी ऊपर नीचे के क्रम से लिखा जाता है, जैसे–ट्ट, द्द आदि। रकार के तीन रूप मिलते हैं—(्र ˚ ्)। ख से कभी-कभी रव का भ्रम हो जाता है।

देवनागरी लिपि के समान वर्तमान नागरी अङ्कों का विकास भी ब्राह्मी अङ्कों से हुआ है। अङ्कों का विवेचन करते हुए ओझा जी ने लिखा है कि—"लिपियों की तरह प्राचीन और अर्वाचीन अङ्कों में भी अन्तर है। यह अन्तर केवल उनकी आकृति में ही नहीं किंतु अङ्कों के लिखने की रीति में भी है। वर्तमान समय में जैसे १ से ६ तक अङ्क और शून्य है और इन १० चिन्हों से अङ्क विद्या का सम्पूर्ण व्यवहार चलता है वैसा प्राचीन काल में नहीं था। उस समय शून्य का व्यवहार हीं नहीं था और दहाई, सैकड़ा, हजार आदि के लिए भी अलग अलग चिन्ह थे।" अङ्कों की इन दो प्रकार की शैलियों को विद्वानों ने "प्राचीन शैली" और 'नवीन शैली' की संज्ञा दी है।

अङ्कों की इस 'प्राचीन शैली' का रूप सर्वप्रथम अशोक के शिलालेखों में

मिलता है। बूलर का अनुमान है कि इन अङ्कों को ब्राह्मणों ने बनाया था। कुछ अन्य विद्वान ब्राह्मी लिपि के समान इन अङ्कों को भी विदेशी अङ्कों से प्रभावित मानते हैं। पाँचवीं सदी के लगभग नवीन शैली के अङ्क जनसाधारण में प्रचलित हो चुके थे यद्यपि शिलालेख आदि में अङ्क प्राचीन शैली में ही लिखे जाते थे। इस शून्यवाली नवीन शैली की उत्पत्ति भी, ओझा जी के मतानुसार, भारत की ही उपज है। यहाँ से यह अरब गई और अरब से यूरोप पहुँची।

हमारी लिपि का नाम नागरी या देवनागरी क्यों पड़ा इसका अभी तक कोई निश्चित प्रमाण या उल्लेख नहीं मिल सका है। "नागरी" शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। विद्वानों का एक पक्ष इसका सम्बन्ध नागर ब्राह्मणों या नागर अपभ्रंश से मानता है। अर्थात् नागर ब्राह्मणों में प्रचलित होने के कारण अथवा नागर अपभ्रंश से उत्पन्न होने के कारण यह नागरी कहलाई। डा० बाबूराम सक्सेना इस मत को संदिग्ध मानते हैं। कुछ लोग इसका अर्थ 'नागर' से सम्बन्धित अर्थात् नगर के लोगों की लिपि से लगाते हैं। दक्षिण में इसे 'नन्दि नागरी' कहते हैं तो इस शब्द से 'नन्दिनगर' नामक किसी प्राचीन राजधानी का भास होता है। शाम शास्त्री का मत है कि प्राचीन काल में देवताओं की मूर्तियाँ बनाने के पूर्व उनकी उपासना संकेत चिन्हों द्वारा होती थी जो त्रिकोण या चक्रों आदि में बने हुए मंत्रों के, जो 'देवनगर' कहलाते थे, मध्य में लिखे जाते थे। अतः देवनागर के आधार पर इसका नाम देवनागरी पड़ा। कह नहीं सकते कि यह कल्पना कहाँ तक ठीक है। ताँत्रिक युग में 'नगर लिपि' नाम प्रचलित था।

हिन्दी लिपि आज संसार की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि मानी जाती है। इसमें संसार की लगभग सभी भाषाओं की ध्वनियों को उच्चरित कर सकने की शक्ति है। इस लिपि की विशेषता है कि इसमें जो लिखा जाता है उसका उच्चारण बिल्कुल वही किया जाता है। ससार की अब तक ज्ञात अन्य किसी भी लिपि में यह गुण नहीं मिलता। हम अपने दैनिक जीवन में उर्दू और रोमन लिपियों की इस निर्बलता पर व्यंग्यपूर्वक हंसते हैं कि इन लिपियों का कोई निश्चित नियम नहीं है क्योंकि इनमें लिखा कुछ जाता है और उसका उच्चारण कुछ और ही किया जाता है। एक ही अक्षर को भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रयोग करने से उसके उच्चारण में भी अन्तर पड़ जाता है। परन्तु देव नागरी लिपि में ऐसा नहीं होता। वहाँ एक निश्चित ध्वनि के लिए एक निश्चित वर्ण का प्रयोग ही उचित माना गया है। इसीलिए इसे सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि माना गया है।

यद्यपि हिन्दी प्रदेश में उर्दू, रोमन, कैथी, मुड़िया आदि अनेक लिपियों का व्यवहार किया जाता है परन्तु देवनागरी लिपि का स्थान इनमें सर्वोच्च है। मुद्रण में तो, इस प्रदेश में, एकमात्र इसी लिपि का व्यवहार होता है। इस लिपि में जहाँ स्वर और व्यंजन की ध्वनियों के सैद्धान्तिक संकेत विद्यमान हैं वहाँ ध्वनि के आधार पर स्वर और व्यंजन का वर्गीकरण भी किया है। अतः इसमें स्वरों और व्यंजनों की वर्णमाला अलग-अलग है। इतना ही नहीं वरन् उच्चारण, अवयव, आभ्यन्तर और वाह्य प्रयत्न के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है उन्हीं के प्रतीक स्वर और व्यंजन के वर्ण हैं। जैसे 'अ', 'इ', 'आ', 'ओ' आदि के उच्चारण के लिए जैसी मुख की आकृति बनती है उसी से मिलते-जुलते हुए ये वर्ण भी बने हैं। 'अ' के उच्चारण में आधा मुख खुलता है और जिह्वा मध्य में रहती है। 'आ' की मात्रा मुख के पूरे खुलने की द्योतक है, 'उ' में मुख बन्द होने का स्वरूप है। 'औ' और 'ऐ' की 'ौ', 'ै' दोहरी मात्राएँ मुँह के जबड़ों के दुहरे चलने की द्योतक हैं। एक अंग्रेज ने हिन्दी की वैज्ञानिकता को परखने के लिए उन वर्णों के स्वरूप के मिट्टी के खोखले रूप बनाए। उसने जब उनमें फूंक मारी तो उनमें से लगभग उन्हीं वर्णों की सी ध्वनि सुनाई दी। यह प्रयोग इस लिपि की वैज्ञानिकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

हिन्दी वर्णमाला के स्वर व्यंजनों से भिन्न हैं। इनके उच्चारण में स्थानों से बिना टकराए हुए मुख की आवाज निकल जाती है पर व्यंजनों में हवा उच्चारण स्थानों को छूती हुई या उनसे रगड़ खाती हुई निकलती है। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वर और व्यंजन अलग-अलग होने चाहिए। देवनागरी लिपि में यह भेद स्पष्ट है। वहाँ स्वर और व्यंजन अलग अलग हैं।

व्यंजनों में उच्चारण स्थान के अनुसार पाँच वर्ग हैं—कंठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य। अन्तस्थ और ऊष्म ध्वनियाँ भी अलग हैं। अनुनासिक ध्वनियों का विशेष विवरण है। शब्दों के साथ पड़ जाने से ध्वनियों में अन्तर पड़ जाता है, इसलिए प्रत्येक वर्ग के साथ अपना अनुनासिक है। इसकी समस्त रचना लिपि ध्वनि सिद्धान्त पर आधारित है। जिस प्रकार की ध्वनि है उसी प्रकार की उसकी लिखावट है। यदि कोई प्रत्येक ध्वनि का ठीक उच्चारण करता या सुनता है तो उसी प्रकार वह उसे लिख भी सकता है। एक ध्वनि के लिए एक ही अक्षर है, अनेक नहीं। उर्दू में जैसे 'ज' ध्वनि के लिए जीम, जुआद, जोय, जे आदि तथा अंग्रेजी में 'सी' (C) और 'के' (K) दोनों ही 'क' के लिए प्रयुक्त होते हैं ऐसा हिन्दी में नहीं होता। इसके अतिरिक्त हिंदी में लगभग सभी तरह की ध्वनियाँ हैं। ङ, ध, ठ, थ आदि ध्वनियाँ रोमन लिपि में हैं ही नहीं। हिंदी की महाप्राण ध्वनियों को उर्दू और अँग्रेजी में 'ह' (H)

का योग करा के व्यक्त किया जाता है। जैसे (ख) के लिए 'क' (K) और ह' (H) का योग किया जायगा। पर 'क' और 'ख' में सैद्धान्तिक भेद है। उच्चारण की दृष्टि से दोनों दो पृथक व्यंजन हैं। देवनागरी लिपि में महाप्राण ध्वनियों के लिए अलग वर्ण बने हैं।

मात्राओं की दृष्टि से देवनागरी वर्णमाला पूर्ण है। इसमें ह्रस्व और दीर्घ में स्पष्ट भेद हैं। हिन्दी मात्राएँ स्थान अवश्य अधिक घेरती हैं परंतु इससे उच्चारण में किसी भी प्रकार के भ्रम या आशंका को स्थान नहीं रहता। उर्दू के जेर, जवर, पेश, व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होते। अतः वहाँ लिपि की अव्यवस्था के कारण उच्चारण और भाषा दोनों में अन्तर आ जाता है। 'मन्दिर' उर्दू में 'मन्दर' रह जाता है। रोमन लिपि में मात्राओं का तो कोई नियम ही नहीं हे। 'इ' और 'ई' दोनों के लिए एक ही वर्ण प्रयुक्त होता है, 'यू' (U) का 'उ', 'अ', और 'ऊ' की मात्राओं के लिए प्रयोग होता है। 'ए' के लिए भी कोई नियम नहीं है। इन अनियमों के कारण ही हिंदी शब्द जब उर्दू या अँग्रेजी में लिखे जाते हैं तो बड़े हास्यास्पद लगने लगते हैं। हिंदी का 'कुँवर बहादुर' अँग्रेज़ी में 'कँवर बहादुर' ही लिखा जायगा। 'रामचन्द्र' और 'पुत्र' तो उर्दू के प्रभाव के कारण पश्चिमी भारत (पंजाबी आदि) में 'रामचन्दर' और 'पुत्तर' हो गए हैं। प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक कृष्णचन्द्र को उनके साथी 'करसनचन्दर' कह कर पुकारते हैं। देवनागरी लिपि में यह शक्ति है कि इसमें सभी ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। मात्राओं में अँग्रेजी के 'ई' और 'ओ' आदि के लिए कुछ कठिनाई अवश्य हैं। अंग्रेज़ी के 'EGG' और 'MODET' हिंदी में 'एग' और 'मौडिल' अथवा 'माडल' रूप में उचित ध्वनि नहीं देते। डिक्शनरियों में इनके लिए प्रथक मात्राओं का प्रयोग किया गया है परंतु जनसाधारण में उनका प्रचार नहीं है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय लिपि बनाने के लिए 'एँग' और 'मॉडल' के चित्र भी बनाए गए हैं परंतु सामान्य प्रयोग के संकेत अभी नहीं आए हैं। इसी प्रकार दक्षिण की कुछ भाषाओं में 'ए' और 'ओ' के तीन-तीन रूप प्रयुक्त होते हैं जिनका हिन्दी में अभाव है। विद्वान उक्त ध्वनियों के उच्चारण में देवनागरी लिपि को असमर्थ मानते हैं।

इस लिपि में वर्णों की संख्या काफी बड़ी है। अंग्रेजी और उर्दू की अपेक्षा इसमें वर्ण अधिक हैं फिर भी चीनी आदि भाषाओं की भाँति हजारों नहीं हैं। मात्राओं के अलग-अलग संकेतों, ि, ी, ु, ू, े, ै, ो, ौ, के कारण भी वर्णमाला बड़ी हो गई है। जैसा ऊपर संकेत किया गया है महाप्राण ध्वनियों और अनुनासिक ध्वनियों के विकल्प के कारण भी अन्य लिपियों से इसमें वर्णों

की संख्या अधिक हो जाती है। अतः आरम्भ में वर्णमाला सीखने में कुछ कठिनाई होती है। और अभ्यास करने में नया सीखने वाला मात्राएँ लगाने में गलती करता है।

देवनागरी लिपि की उपर्युक्त कमी के कारण मुद्रण और टायप राइटर के लिए इस लिपि को कुछ विद्वान उचित नहीं मानते। मुद्रण में तो विशेष कठिनाई नहीं होती। केवल वर्णों की संख्या ही बढ़ जाती है। उससे कम्पोजिंग में कठिनाई होती है परन्तु अब अभ्यास द्वारा उस पर विजय प्राप्त कर ली गई है। इस पुस्तक की छपाई को देखकर पाठकों को इस बात का विश्वास हो जायगा। हिन्दी की इसी वर्णमाला के कारण शुद्ध लिपि के लिए बहुत बड़ा टाइपराइटर चाहिए। इसके कारण टाइपिस्ट की गति भी नहीं बढ़ने पाती। वर्णों एवं मात्राओं में बहुत कमी कर देने पर ही हिन्दी का टाइप राइटर बन सका है। फिर भी उससे टाइप करने की स्पीड और अँग्रेजी में टाइप करने की स्पीड में बहुत अन्तर है जो लगभग आधे का है। हिन्दी फ, भ, और प की छपाई में भूल होने की सम्भावना अधिक रहती है। हिन्दी अनुनासिकों की शुद्ध लिपि का प्रयोग कठिन हो गया है। गङ्गा के स्थान पर 'गंगा' होता जा रहा है।

इन्हीं कमियों को लक्ष्य कर देवनागरी लिपि में सुधार करने की आवाज उठाई जा रही है। सभी का यह मत है कि वर्णों की कम कर देनी चाहिए। ऋ, ष, ङ, ञ आदि को हटाकर क्रमशः रि, श और ण का प्रयोग यथेष्ठ है। कुछ लोगों का मत है कि महाप्राण ध्वनियों को भी हटा देना चाहिए। उनके स्थान पर 'ह' का संयोग करके काम चलाना चाहिये। महाप्राण ध्वनियों में 'ह' का संयोग मात्र ही नहीं वरन् इससे लिपि की वैज्ञानिकता में अन्तर पड़ेगा।

आधुनिक विद्वान देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता स्वीकार करते हुए भी उसके स्वरों और मात्राओं का विरोध करते है। वे इसे संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं। काका कालेलकर इनके मुखिया हैं। उन्होंने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा अपनी नवीन योजना को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न भी किया है। उनका मत था कि केवल एक वर्ण 'अ' में ही अन्य मात्राएँ लगाई जा सकती हैं जैसे अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै आदि। इस प्रकार वे केवल छः वर्णों इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, की संख्या कम कर लेते हैं। शेष फिर भी वैसे ही रहते हैं। इस परिवर्तन से एक बड़ी हानि यह होगी कि हमारा समस्त प्राचीन वांगमय उसी पुरानी लिपि में लिखा गया है। अतः उसमें भी परिवर्तन करना पड़ेगा। भावी पाठक प्राचीन लिपि को समझ नहीं पावेगा। काका कालेलकर की यह नवीन पद्धति 'स्वराखड़ी' कहलाती है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा से प्रकाशित सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य इसी पद्धति में छापा जा रहा है। परन्तु आजकल इस पद्धति का विरोध हो रहा है।

टाइप राइटिंग का, केवल व्यापारिक क्षेत्र में परिवर्तन कर देने से कोई विशेष हानि नहीं होगी। सुविधा के लिए चिठ्ठी पत्री में वर्णमाला छोटी की जा सकती है। परन्तु मुद्रण के क्षेत्र में परिवर्तन करने से उपर्युक्त हानियों की ही अधिक सम्भावना है, लाभ की कम। उसमें अप्रयुक्त ध्वनियों जैसे ऋ, ष आदि को निकाला जा सकता है। अनुनासिक के लिए विन्दु (ं) का प्रयोग ही यथेष्ट माना जा सकता है। देवनागरी लिपि में परिवर्तन करने का एक सामूहिक प्रयत्न किया जा रहा है। इसके लिए अनेक समितियों का निर्माण हो चुका है जो समय समय पर अपना निर्णय देती रहीं है। सात वर्ष (१९५३) पहले उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा एक देवनागरी लिपि सुधार सम्मेलन किया गया था।

देवनागरी लिपि में सुधार करने का आन्दोलन मुख्यतः दो कारणों से चला है। प्रथम कारण यह है कि समय, शक्ति और धन का अपव्यय किये बिना मुद्रक कला के नवीनतम साधनों का पूरा पूरा लाभ उठाया जा सके। दूसरा यह कि भारतीय भाषाओं में विशेकर अपभ्रंशों से निकली हुई उत्तर भारत की समस्त भाषाओं में, लिपि सम्बन्धी कुछ एकता और एकरूपता अवश्य होनी चाहिये। यह इसलिये आवश्यक है कि एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य की भाषा को सरलता से सीख सके और हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में लोगों के गुजराती, बंगला आदि सीखने तथा इन प्रदेशों के लोगों के हिन्दी सीखने के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो एवं भ्रातृत्व- भावना जागृत हो।

प्रसिद्ध दक्षिणी विद्वान् श्री अनन्त शयनम आयंगर ने यह आशा प्रकट की है कि भविष्य में दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ भी देवनागरी लिपि के परिवर्तित एवं संशोधित रूप को स्वीकार कर लेंगी। इससे देवनागरी लिपि ही भारत की एकमात्र राष्ट्रीय लिपि बन जायगी। हिन्दी अब राष्ट्रभाषा बन चुकी है। इसलिये अब वह केवल हिन्दी वालों की ही न रहकर सारे राष्ट्र की सम्पत्ति बन गई है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि अहिंदी भाषी लोगों की सुविधा-असुविधा और आवश्यकतानुसार, लिपि के मूलरूप की रक्षा करते हुए, आवश्यक और उचित संशोधन कर लेना चाहिए। 'देवनागरी लिपि सुधार सम्मेलन' के विद्वानों और लिपि विशेषज्ञों ने नागरी लिपि में कम से कम परि-वर्तन कर और उसके मूल सौंदर्य की रक्षा करते हुए अनेक बहुमूल्य सुझाव दिये। उन्होंने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि देवनागरी का रूप न बिगड़ने पावे। उसकी विशेषताएँ यथापूर्व बनी रहें और उसका जो नया रूप हो वह

अहिंदी भाषियों के लिए तो सुगम हो ही, हिंदी भाषियों के लिए नए अभ्यास की आवश्यकता न पड़े। इस सम्मेलन में 'इ' की मात्रा, अ का रूप, अङ्क ९ के नये रूप, व्यंजनों के नये स्वरूप, शिरोरेखा और चिन्ह संयुक्त अक्षर तथा नए अक्षर पर विचार किया गया है जिसका सारांश निम्नलिखित है—

'इ' की मात्रा—सम्मेलन के सदस्यों ने केवल 'इ' की मात्र में ही परिवर्तन स्वीकार किया है। अन्य मात्राएँ ज्यों की त्यों स्वीकार कर ली हैं। नवीन सुझाव के अनुसार अब छोटी 'इ' की मात्रा 'ि' होगी तथा बड़ी 'ई' की मात्रा पूर्ववतः 'ी' होगी। पाई शिरोरेखा के नीचे पूरी पूरी खींचने पर बड़ी 'ई' का बोध होगा और शिरोरेखा के नीचे जरा सी खड़ी पाई निकाल देने पर छोटी 'इ' का बोध होगा। यह अन्तर इस प्रकार है—छोटी 'इ' और बड़ी 'ई' की मात्राएँ क्रमशः 'ि' 'ी' होगी। अ के अतिरिक्त स्वराक्षरों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

'अ' का रूप—'अ' के प्रचलित दो रूपों 'अ' और 'अ' में से सुविधा के दृष्टिकोण से केवल एक ही रूप 'अ' को स्वीकार किया है।

९ की नई सूरत—'नरेन्द्र देव समिति' के सुझाव को स्वीकार कर नागरी अङ्कों में बम्बइया टाइप के ९ को मान्यता दी गई जो प्रचलित भी है। '९' के रूप को उड़ा दिया गया।

व्यंजनों के नये स्वरूप—अक्षर व्यंजनों में से 'ख', 'छ', 'झ', 'ण', 'ध', 'भ', 'ल' आदि में परिवर्तन किए गये। 'ख' का र व से भ्रम न हो इस लिए र के नीचे के वक्र को घुमाकर व के वृत्त के नीचे जोड़ देने का निर्णय हुआ जैसे—'ख'। 'छ' के रूप में इतना अन्तर हुआ कि वह शिरोरेखा के नीचे खड़ी पाई से शुरू न होकर 'छ' की गोलाई से शुरू हो और नीचे की घुण्डी की पूँछ काट दी जाय जैसे—'छ'। झ के भी दो रूप हैं—झ और झ। इनमें से 'झ' को स्वीकार किया गया। 'ण' के भी दो रूप हैं—ण और ण। इनमें 'ण' को स्वीकार किया गया। इसकी शिफारिश नरेन्द्र देव कमेटी ने भी की थी। ध और भ में शिरोरेखा के बाएँ भाग को घुमाकर अक्षर का अंश बना दिया गया जैसे ध और भ। 'ल' का मराठी रूप न माना जाकर प्राचीन रूप 'ल' ही स्वीकार किया गया। क्ष, त्र, ज्ञ में से त्र को निकाल दिया गया।

शिरोरेखा और चिन्ह—शिरोरेखा को यथापूर्व स्वीकार कर लिया गया। विराम चिन्हों में अँग्रेजी के पूर्ण विराम (फुलस्टॉप) को छोड़कर अँग्रेजी में प्रयुक्त सभी सम्बोधन व विराम चिन्ह अपना लिए गये हैं। पूर्ण विराम वही स्वीकार किया गया जो प्रचलित है—(।)। 'सरिता' आदि मासिक पत्रों में प्रयुक्त पूर्ण विराम (.) का विरोध किया गया।

संयुक्त अक्षर—संयुक्ताक्षर बनाने के लिए केवल क, फ, के आधे अक्षर रखे गये हैं। शेष व्यंजनों में हलन्त (्) लगाकर या आखिरी खड़ी पाई हटा कर संयुक्त अक्षर बनाए जायंगे। इस तरह द्य, द्व आदि के स्थान पर अब द्‌य या द्‌व लिखा जायगा। अनुस्वार व अनुनासिक चन्द्र बिन्दु, दोनों चिन्हों का प्रयोग होगा। विसर्ग रहने के कारण अंग्रेजी कोलन (:) नहीं रखा गया।

देवनागरी लिपि का परिवर्तित रूप

अ इ ई उ ऊ ए ऐ

ा ि ी ु ू े ै

ं ँ ः ो ौ ृ ॄ

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व

श ष स ह

क्ष ज्ञ ळ ् क् फ् ह

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

नया अक्षर—हिन्दी में मराठी भाषा से एक नया अक्षर लिया गया है जिसकी ध्वनि ल और ड़ के बीच की होती है। इसका रूप 'ळ' है। यह ध्वनि वेद में पाई जाती है।

उपर्युक्त परिवर्तनों एवं संशोधनों के अतिरिक्त अभी विदेशी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं में कुछ ऐसी ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण हिन्दी वर्णमाला द्वारा नहीं किया जा सकता। 'ए' और 'ओ' ध्वनियों में ह्रस्व व दीर्घ का अन्तर बताने वाली कोई ध्वनि देवनागरी लिपि में नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक ध्वनियाँ हैं जिनका शुद्ध उच्चारण करने के लिए हमें अपनी लिपि में नए प्रतीक और चिन्ह बनाने पड़ेंगे। विशेषज्ञ इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। इस सम्मेलन में उपस्थित प्रायः सभी विद्वानों ने काका कालेलकर की 'स्वराखड़ी' का घोर विरोध किया। कुछ समय पूर्व 'नरेन्द्रदेव नागरी लिपि सुधार समिति' के सामने मध्यप्रदेश के श्री कामताप्रसाद सागरीय ने एक नई लिपि का रूप उपस्थित किया था। उक्त समिति ने इस लिपि को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि यह लिपि वर्तमान नागरी लिपि से इतनी भिन्न है कि उसे पहचानने में बहुत कठिनाई होती है। नरेन्द्रदेव समिति ने 'सागरीय लिपि' के केवल भ और ध को स्वीकार कर लिया था। भ और ध के वही रूप इस सम्मेलन में भी स्वीकार कर लिए गये हैं।

भारत में सबसे अधिक प्रचलित लिपि देवनागरी लिपि ही रही है। इसलिए राष्ट्रभाषा के लिए, युग के अनुरूप सुधार कर, इसे ही इस योग्य बनाना पड़ेगा जिससे कि वह सम्पूर्ण ध्वनियों को व्यक्त कर सके। देवनागरी लिपि का परिवर्तित एवं संशोधित रूप ऊपर के चार्ट में दिया जा रहा है।

यह नवीन लिपि कुछ दिनों तक प्रयोग में लाई गई परन्तु बाद में इसका घोर विरोध हुआ। अतः उसे हटा कर पुनः पुरानी लिपि ही काम में लाई जाने लगी है।

जब से भारत में राष्ट्रीयता का आन्दोलन चला है तभी से भारतीय मनीषी राष्ट्रीय एकता के लिए एक भाषा और एक लिपि की आवश्यकता का अनुभव करते आए हैं। जो लोग यह समझते हैं कि एक लिपि का नारा अभी हाल की उपज है वे भ्रम में है। बीसवीं सदी के आरम्भ से ही एक लिपि की मांग उठाई जाती रही है। इस आन्दोलन के आरम्भ से ही बहुमत देवनागरी लिपि की उपयोगिता को स्वीकार कर उसे ही राष्ट्र-लिपि बनाने पर जोर देता आया है। इस लिपि के समर्थकों में बंगाली, मराठी और मद्रासी विद्वान भी रहे हैं। इसे समझने के लिए लिपि-आन्दोलन को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है।

लिपि के विषय में सबसे प्रथम महत्वपूर्ण मत कलकत्ता हाई कोर्ट के माननीय जस्टिस सारदाचरण मित्र का है। उन्होने कलकत्ता युनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट में एक लेख पढ़कर सुनाया था। उस निबन्ध में उन्होंने बड़ी सुन्दर

उक्तियों और दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर यह स्पष्ट किया था कि अब भारतवर्ष में एक लिपि की आवश्यकता है। उनके मतानुसार केवल देवनागरी लिपि ही एक ऐसी लिपि है जो समस्त भारत में प्रचलित की जा सकती है। मित्र महादय तो यहाँ तक इस लिपि से प्रभावित हुए थे कि वे इसका प्रचार ब्रह्मा, चीन, जापान और लंका तक में करना चाहते थे। उन्होंने भारत भर की समस्त प्रचलित लिपियों में नागरी को ही सबसे सुगम, सुन्दर और विस्तृत माना था। वे इसे संसार की समस्त लिपियों में भी सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने अपने निबन्ध में यह भी बताया था कि भारत में मुद्रण कला का प्रचार होते ही बम्बई, काशी और कलकत्ता आदि में संस्कृत के अच्छे-अच्छे ग्रन्थ देवनागरी लिपि में ही छापे गए थे।

जस्टिस महोदय के उपर्युक्त निबन्ध के छपने के उपरान्त कलकत्ता में एक समिति की स्थापना की गई जिसका नाम 'एक लिपि विस्तार परिषद्' रखा गया। इस समिति ने 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्रिका निकालनी प्रारंभ की जिसमें हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती, उर्दू, उड़िया, तामिल इत्यादि अनेक भाषाओं के लेखादि देवनागरी लिपि में छापे जाते थे। इस पत्रिका का उद्देश्य यह प्रमाणित करना था कि देवनागरी अक्षर भारत की प्रत्येक भाषा को शुद्ध रूप से व्यक्त कर देने की क्षमता रखते हैं। इस पत्रिका के लगभग ५० वर्ष उपरान्त दिल्ली से आत्माराम एण्ड सन्स ने 'देवनागर' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली है। इसमें भी विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखादि देवनागरी अक्षरों में छापे जाते हैं।

यदि प्रमुख भारतीय भाषाओं की लिपि एक ही रहती तो यहाँ भी यूरोप की तरह भिन्न-भिन्न भाषाओं के पढ़ने की सुविधा रहती। हमारी हिन्दी और मराठी भाषाओं की लिपि तो देवनागरी है ही, बंगला, गुजराती, गुरुमुखी, उड़िया व असमी लिपियों का आधार भी देवनागरी लिपि ही है। उनमें केवल रूप का भेद है। वे मूल में एक ही हैं। सब अक्षर वही हैं जो देवनागरी लिपि में हैं। केवल उनकी बनावट में स्थान-भेद के कारण कुछ अन्तर पड़ गया है। नागरी लिपि जानने वाला इन लिपियों को सरलता से सीख सकता है। उपर्युक्त लिपियों में बंगला, असमी और उड़िया में अधिक साम्य है। दक्षिण की भाषाओं के मूलाधार भी नागरी अक्षर ही बताए जाते हैं परन्तु उनके रूप इतने भिन्न हैं कि उन्हें समझ लेना, नागरी लिपि से परिचित व्यक्ति के लिए असम्भव है। कुछ विद्वानों का मत है कि नागरी लिपि को लंका, ब्रह्मा और तिब्बत ने भी कुछ रूप भेद के साथ अपनाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत की भाषाओं में से एक बड़ी संख्या ने नागरीलिपि या उसके किंचित रूप

भेद युक्त स्वरूप को स्वीकार कर लिया है। ऐसी दशा में यदि नागरी लिपि को ही सब भाषाओं की लिपि स्वीकार कर लिया जाय तो असंगत न होगा।

यहाँ हमें यह भी देख लेना चाहिए कि अहिंदी प्रांतों में नागरीलिपि की क्या स्थिति थी और अब क्या है ? महाराष्ट्र में, कुछ सीमा तक, लिखने में मुड़िया अक्षरों का प्रयोग होता था परंतु अब उसका प्रचार घट रहा है। वहाँ छापे में केवल नागरी अक्षरों का ही प्रयोग होता है। पहले महाराष्ट्र की लिपि दूसरी थी परंतु उन्होंने नागरी की शक्ति और सौन्दर्य से प्रभावित होकर बहुत दिन हुए तभी इसे स्वीकार कर लिया था। गुजराती भाषा के लिए गुजराती अक्षरों का प्रयोग होता है। ये अक्षर नागरी से बहुत मिलते-जुलते हैं। इनकी उम्र १५० वर्ष से अधिक नहीं है। इनमें मात्रा चिह्न नागरी से आये हैं। इसी से वे संस्कृत को नागरी लिपि में ही लिखते हैं। गुजराती लिपि की पुस्तकों में जब बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक या संस्कृत नाम आते हैं तो उन्हें नागरी अक्षरों में ही छापा जाता है। गुजराती अक्षर भी संस्कृत अक्षरों से मिलते हैं। इससे गुजरातियों को नागरी लिपि अपनाने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

बिहार में लिखा-पढ़ी का काम कैथी अक्षरों में करते हैं। आज वहाँ छपाई का सारा काम प्रायः नागरी अक्षरों में ही होता है परंतु कुछ पुस्तकें कैथी लिपि में भी छपती हैं लेकिन बहुत कम। उत्तर भारत की प्रमुख लिपियों में केवल बंगला लिपि का प्रश्न बड़ा जटिल है। बङ्गालियों को अपनी लिपि की प्राचीनता का गर्व है। इन दोनों लिपियों में बहुत समानता है। इसलिए बंगाली संस्कृत की पुस्तकें अपनी ही लिपि में छाप लेते हैं परन्तु वेदादि ग्रन्थ अभी तक देवनागरी में ही छपते हैं। बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपनी व्याकरण कौमुदी चार भागों में तैयार की थी। इनमें से पहले तीन भाग बंगला अक्षरों में छपे थे और चौथा भाग, जिसमें सूत्र थे, देवनागरी में छपवाया था और उन सूत्रों की व्याख्या बंगाली में। सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार बंकिमबाबू ने एक लेख लिखकर अपना मत प्रकट किया था कि भारत में केवल एक ही लिपि होनी चाहिए और वह केवल देवनागरी ही हो सकती है। आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व 'माडर्नरिव्यू' के प्रसिद्ध सम्पादक बाबू रामानन्द चटर्जी ने 'चतुर्भाषी' नाम का एक पत्र निकालने का प्रयत्न किया था जिसमें हिन्दी, बङ्गला, मराठी और गुजराती चार भाषाओं के लेख होते और सब देवनागरी अक्षरों में छपते। जस्टिस मित्र, बंकिमबाबू, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एवं रामानन्द जैसे बंगाली विद्वानों ने देवनागरी लिपि को अपनाने की अभिलाषा उसकी पूर्णता, सम्पन्नता और सौन्दर्य को देखकर ही प्रकट की थी।

कुछ लोग रोमन या अरबी लिपि को ही भारत की राष्ट्रीय लिपि बनाना चाहते हैं। रोमन लिपि का प्रश्न उठाना तो व्यर्थ की बात है क्योंकि इससे हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक या धार्मिक जीवन से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। आश्चर्य है कि सुभाष बोस जैसे देश प्रेमी न मालूम किस दृष्टिकोण से इसे अपनाने की सलाह दे रहे थे। अब प्रश्न केवल अरबी लिपि का रह जाता है। अरबी लिपि या उसके आधार पर बनी हुई लिपियों में भारत की केवल तीन भाषाएँ लिखी जाती हैं—सिन्धी, पश्तो और उर्दू। सिंध में आज से लगभग सौ वर्ष पहले तक नागरी या मुंडी लिपि का प्रयोग होता था। अंग्रेजी के आजाने पर यह प्रश्न उठा कि सिंधी भाषा किस लिपि में लिखी जाय। सरकारी अफसर आम जनता को मुन्डी या हिंदी लिपि का प्रयोग करते देखते थे अतः वे नागरी लिपि को रखना चाहते थे। किंतु प्रमुख आमिल लोग नागरी के स्थान पर अरबी या फारसी लिपि को अपनाना चाहते थे। उनके प्रभाव से वहाँ अरबी लिपि स्वीकार करली गई। पाकिस्तान बन जाने के उपरान्त उर्दू लिपि का प्रश्न नहीं उठता। पश्तो पर तो विचार करना ही व्यर्थ है। आज भारत में, और वह भी देश के मध्य भाग में, एक ऐसी भाषा है जिसके बोलने वाले लगभग १६ करोड़ हैं। वह नागरी लिपि में ही लिखी जाती है। अतः जनसंख्या के लिहाज से भी नागरी को ही अपनाना अधिक श्रेयस्कर है।

—:o:—

१६—भारत की राष्ट्रभाषा

भारतीय संविधान द्वारा हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार करली गई है। भारत में अनेक देशी-विदेशी एवं प्रान्तीय समृद्ध भाषाओं के रहते हुए हिंदी को ही क्यों भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया यह प्रश्न विचारणीय है। साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से अंग्रेजी हिन्दी से अधिक समृद्ध है। संस्कृत भाषा का साहित्य संसार की प्राचीन भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। अरबी, फारसी भाषाओं की गणना संसार की समृद्धिशालिनी भाषाओं में की जाती है। दक्षिण भारत की भाषाएं साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से हिंदी से न्यून नहीं ठहरतीं। उत्तर भारत की प्रान्तीय आर्य भाषाओं में से महाराष्ट्री, गुजराती और बंगला भाषाएँ साहित्यिक समृद्धि के क्षेत्र में यदि हिन्दी से श्रेष्ठ नहीं है तो कुछ सीमा तक न्यून भी नहीं हैं। फिर इन सब भाषाओं के रहते हुए हिंदी को ही क्यों राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया ? इस स्वीकृति के मूल में प्राचीन भारतीय राष्ट्रभाषा की वह परम्परा कार्य कर रही है जिसने हिन्दी को जन्म देकर यह महत्वपूर्ण पद प्रदान किया है। हिन्दी मध्यदेश की भाषा है। भारत का प्राचीन इतिहास बताता है कि भारत-राष्ट्र की राष्ट्रभाषा का पद सदैव मध्यदेश की भाषा को मिलता रहा है। धार्मिक आग्रह के कारण कुछ समय तक अन्य भाषाएँ जैसे पाली आदि भारत की राष्ट्रभाषाएं बन गई थीं परन्तु उस धार्मिक आग्रह के मूल में काम करने वाले राजकीय प्रभुत्व की समाप्ति के साथ उन भाषाओं का वह गौरव भी नष्ट हो गया। कालान्तर में उनका अस्तित्व एक प्राचीन धार्मिक भाषा अथवा एक प्रान्तीय विभाषा के रूप में ही सुरक्षित रहा है। ऐसे समय में जब पुनः राष्ट्र भाषा की आवश्यकता अनुभव की गई तो मध्यदेश की भाषा ने ही आगे बढ़कर उस आवश्यकता की पूर्ति की। ऐसा क्यों हुआ, इसके लिए हमें राष्ट्रभाषा की प्राचीन परम्परा को देखना पड़ेगा।

भारतवासियों की सभ्यता और संस्कृति सदैव से समन्वय और सामंजस्य पर आधारित रही है। इसी समन्वय और सामंजस्य की भावना ने प्राचीन भारत की भाषा समस्या को सुलझा लिया था। उन्होंने संस्कृत को सम्पूर्ण भाषाओं की प्रकृति तथा अन्य भाषाओं को उनकी 'विकृति' मान कर एक ओर

तो एक को अनेक कर दिया और दूसरी ओर फिर अनेक में से एक को प्रधानता देकर उसे चलित या सर्वसाधारण में प्रचलित राष्ट्रभाषा के रूप में अपना लिया। इस प्रक्रिया में विनाश किसी भी भाषा का नहीं हुआ परन्तु विकास सब का हुआ। यदि श्रुतियों के काल को छोड़ भी दिया जाय तब भी बाल्मीकीय रामायण से यह प्रमाणित होता है कि उस समय संस्कृत समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी। दक्षिण के द्रविड़ देशों में भी उसका प्रचार था। प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर रांगेय राघव तो यह मानते हैं कि "किसी समय वैदिक संस्कृत भी आमफहम जुबान रही थी। यह जब साहित्यिक बन गई तब भाषा बदली और पहली प्राकृत का बोलबाला हुआ। उस प्राकृत के भौगोलिक भेदों से कई रूप थे। उनमें से मेरठ की बोली बढ़ी और वह सबने स्वीकार करली। वह संस्कृत कहलाती है।" डाक्टर साहब ने संस्कृत को मेरठ की बोली से विकसित साहित्यिक भाषा माना है परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि इस मत का आधार क्या है। उनका यह मत यदि सही है तो वर्त्तमान हिंदी का राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करना उसका वंशगत दायित्व है। पहले भी मेरठ की बोली ही राष्ट्रभाषा बनी थी और अब भी मेरठ की ही बोली (खड़ी बोली) राष्ट्रभाषा मानी गई है। भाषा के इतिहास की यह परम्परा अभूतपूर्व है।

वाल्मीकीय संस्कृत-भाषा के दो रूप हैं—द्विजी और मानुषी। अशोक बाटिका में जब सीता के पास हनुमान पहुंचे तो उनके सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि वे द्विजी वाणी में बात करें या मानुषी में। यदि वे द्विजी में बात करते तो सीता उन्हें मायावी रावण मान लेती क्योंकि रावण विद्वान था। उस समय द्विजी विद्वत् वर्ग की भाषा थी। साधारण जनता उसी के बोलचाल वाले रूप में बोलती थी। यही सोचकर हनुमान ने 'मानुषी' का प्रयोग किया। हनुमान द्रविड़ थे। मानुषी उनकी अपनी भाषा नहीं थी। परन्तु द्विजी और मानुषी का प्रचार उस समय दक्षिण भारत तक में था। इसी से हनुमान दोनों भाषाएँ जानते थे। यह उस काल में संस्कृत की व्यापकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। आगे चलकर संस्कृत साहित्य की भाषा के रूप में प्रचलित रही और मानुषी विकसित होकर पहली प्राकृत बन गई। भाषा के इन दोनों रूपों का प्रचार उस समय सम्पूर्ण आर्यावर्त में था। कुछ विद्वानों की ऐसी मान्यता है।

पाणिनि ने संस्कृत का व्याकरण लिखकर उसे पूर्ण बना दिया। प्राकृत अपने स्वाभाविक रूप में प्रचलित रही। इस प्रकार बहुत समय तक संस्कृत साहित्यिक राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित रही और प्राकृत सामान्य की-राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित होती रही। सम्पूर्ण भारत में प्राचीन काल में सुदूर स्थित

प्रदेशों से निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए संस्कृत का प्रयोग होता रहा। इसका प्रमाण सुदूरवर्ती भाषाओं पर पड़ा हुआ संस्कृत का प्रभाव है।

गौतम बुद्ध ने या महावीर स्वामी ने किसी नवीन भाषा का निर्माण नहीं किया था। संस्कृत का शिष्ट रूप तो अनुशासित होने के कारण एक रूप हो गया था पर उसका प्राकृत रूप सदैव परिवर्तनशील रहा। इसी परिवर्तनशीलता के कारण एक ही भाषा के देश काल के भेद से अनेक रूप हो गये जो 'प्राकृत' कहलाए। यह भाषा का 'मानुषी' या जन-साधारण का रूप था। गौतमबुद्ध ने अपने सद्धर्म का प्रचार करने के लिए उसी 'मानुषी' रूप को अपनाया। इस धर्म के प्रचार से भाषा के द्विजी रूप 'संस्कृत' का प्रचार कम हो चला। जैनियों ने पहले तो अर्द्धमागधी को अपनाया किन्तु कालान्तर में उन्हें भी अपने धर्म को व्यापकता देने के लिए संस्कृत को अपनाना पड़ा और उनकी भाषा 'जैन-संस्कृत' कहलाई। इसका कारण यह था कि अर्धमागधी एक प्रान्त विशेष की भाषा थी। सम्पूर्ण देश में उसका समझा जाना असम्भव था। इसलिए जैनियों को संस्कृत अपनानी पड़ी।

बौद्धों ने मागधी को अपनाया जिसे कहीं-कहीं पाली भी कहा गया है। परंतु मागधी भाषा पाली से बहुत भिन्न थी। इसी कारण बौद्ध ग्रन्थों में मागधी को तो मानुषी भाषा कहा गया है और पाली को देवगण तथा बुद्धगण की भाषा। बौद्धों ने प्रचलित भाषा को क्यों अपनाया और उसका रूप क्या था, इस विषय में श्री चन्द्रवली पांडेय का मत द्रष्टव्य है—"जब बौद्धों को एक व्यापक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता हुई, तो उनकी दृष्टि उस भाषा पर पड़ी जो न जाने कितने दिनों से शिष्ट तथा चलित रूपों में देश की राष्ट्रभाषा थी। उसके शिष्ट रूप का ग्रहण तो इसलिए सम्भव न था कि वह द्विजों की भाषा थी और जनता से कुछ दूर थी। मागधी का प्रसार इसलिए असम्भव था कि वह प्रान्तीय तथा अति सामान्य भाषा थी। निदान निश्चित हुआ कि देववाणी के चलित या मानुषी रूप को ग्रहण किया जाय और उसी में 'बुद्धवचन' का संग्रह भी कर दिया जाय।" (भाषा का प्रश्न—पांडेय) परन्तु कालान्तर में धर्म के सूक्ष्म तत्वों के विवेचनार्थ बौद्धों को भी संस्कृत अपनानी पड़ी। जैनों ने भी उसे इसी कारण अपना लिया था। इस प्रकार संस्कृत पुनः राष्ट्रभाषा बन गई।

बौद्धों ने अपनी भाषा को देवगण की भाषा या देववाणी भी कहा है। देववाणी को 'ब्राह्मी' भी कहा गया है। वह सम्पूर्ण ब्रह्मावर्त (उत्तर भारत) की भाषा थी, इसी से उसे ब्राह्मी कहा गया। इस भाषा का दूसरा नाम 'भारती' भी है। इससे सिद्ध होता है कि—"भारत की राष्ट्रभाषा का नाम भी

भारती और देववाणी इसलिए पड़ा कि वह भारत की संतानों यानी भारतीयों की भाषा तथा सरस्वती और दृद्वती के मध्य देवनिर्मित देश की वाणी थी।"

प्राकृतों के प्रभुत्व के साथ कुछ समय तक महाराष्ट्री भाषा का बहुत प्रचार हुआ। परन्तु यह जनसाधारण की भाषा न होकर काव्य की प्रमुख भाषा रही। विद्वानों ने महाराष्ट्री को किसी की भी प्रकृति नहीं कहा है। प्रत्युत पैशाची तथा मागधी की प्रकृति शौरसेनी को ठहराया है और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत को माना है। शौरसेनी संस्कृत का विकसित मानुषी भाषा का रूप था।

प्राकृतों के उपरान्त अपभ्रंशों का युग आया। विद्वानों ने शौरसेनी प्राकृत को अन्य प्राकृतों की 'प्रकृति' कहा है। अपने समय में वही भारत की जन-साधारण की राष्ट्रभाषा थी। इसी शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश का विकास हुआ। आगे चलकर अपनी परम्परागत समृद्धि के कारण शौरसेनी अपभ्रंश भारत की राष्ट्रभाषा बनी। उस समय शूरसेन प्रदेश भारतीय राज्य शक्ति का केन्द्र था। राज्य शक्ति का सहयोग पाकर वह आगे बढ़ी। राज्याश्रय पाकर वह देश-देशान्तरों में फैलने लगी। मुसलमानों के आने के समय तक यह भारत की राष्ट्र भाषा थी। यही अपभ्रंश आगे चल कर हिन्दी के रूप में विकसित हुई।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में ब्रज और अवधी प्रधान काव्य भाषाएं बनीं। परन्तु सुदूर प्रदेशों की जनता में पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए मेरठ प्रदेश की बोली खड़ीबोली का व्यवहार होता रहा जो खड़ीबोली के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है। काव्य भाषाएँ बहुत समय तक बढ़ती रहीं परन्तु साधारण व्यवहार खड़ी बोली में ही होता रहा। राजकार्य का संचालन इसी बोली द्वारा सम्पन्न किया जाता रहा। दक्षिण में तो शासक वर्ग में इसी का प्राधान्य था। उन्नीसवीं सदी में जब विशृङ्खलित भारत को पुनः एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ तो ऐसे आड़े समय में खड़ी बोली ने ही सामने आकर हमारी सहायता की। तूफान की तेजी से उसका विकास हुआ और बहुत थोड़े समय में ही वह सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की एकमात्र भाषा बन बैठी। उसके इस अप्रत्याशित विकास में उसकी उस प्राणशक्ति की कहानी छिपी हुई है जिसे वह युग-युगान्तरों से संचित करती आ रही थी। यदि खड़ी बोली में वह परम्परागत शक्ति न होती तो वह कदापि भारत की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती थी। संस्कृत भी मेरठ प्रदेश की भाषा थी और खड़ी बोली भी वहीं की है। इस प्रकार खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के रूप में अपना कर भारतीय जनता ने इतिहास की पुनरावृत्ति की है।

भारतीय राष्ट्रभाषा की परम्परा का विकास दिखाते हुए हमने यह सिद्ध कर दिया है कि हिंदी भारत की परम्परागत राष्ट्रभाषा की आधुनिक कड़ी है। इसका स्वरूप कैसा होना चाहिए ? इस विषय में विद्वानों का मत है कि आज भारत की राष्ट्रभाषा का स्वरूप प्रेमचन्द की हिंदुस्तानी का ही हो सकता है। पाकिस्तान बन जाने से उर्दू का प्रश्न कुछ काल के लिए समाप्त सा हो गया था परन्तु गत दो एक वर्षों से कुछ प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ (सम्प्रदायवादी) पुनः उर्दू के प्रश्न को साम्प्रदायिक स्तर पर उभार रही हैं। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि भारत में उर्दू का जो विशाल साहित्य रचा गया है, उसका क्या होगा, यदि हम उर्दू का पूर्ण बहिष्कार कर दें तो। उर्दू के बहिष्कार का प्रश्न संकीर्ण सम्प्रदायवाद और हिन्दी उर्दू की परम्परा और विकास को ठीक तरह से न समझने का परिणाम है। वस्तुतः हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ नहीं हैं वरन् एक ही भाषा (हिन्दी) की दो शैलियाँ हैं जिन्हें सम्प्रदायवादियों ने धार्मिक रंग देकर एक दूसरे से प्रथक करने का प्रयत्न किया है। इस प्रथकी-करण के मूल में विदेशी अंग्रेज़ों का बहुत बड़ा हाथ और राजनीतिक उद्देश्य रहा है। १९वीं सदी से पूर्व हिन्दी-उर्दू में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। यह भेद की खाई अँग्रेजों ने चौड़ी की। परन्तु जब कि फूट डालने वाले अंग्रेज़ चले गये हैं तो हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि इन दो सगी बहिनों के मन-मुटाव को दूर कर उन्हें पुनः एक कर दें।

उर्दू को अपना लेने से हिन्दी को एक समृद्ध साहित्य की निधि मिल जायगी। इसके लिए डाक्टर रांगेय राघव का सुझाव निम्नलिखित है—"उर्दू का पूर्ण इतिहास हिन्दी साहित्य में ले लिया जाय। उर्दू की मँजाहट, नफासत, चुभन हिन्दी साहित्य के गौरव का विषय बन जायगी। उर्दू वालों का कोई नुकसान नहीं होगा। वे नागरी लिपि में एक अधिक कीमती और बड़े साहित्य के वारिस हो जाएंगे। आपस की फूट न रहेगी। और सबसे बड़ी बात होगी कि तब अपने आप नई भाषा का जन्म होगा।" (भाषा का प्रश्न—रांगेय राघव) इस मिलन का परिणाम यह होगा कि भाषा के विकास का रास्ता खुल जायगा। फिर काका कालेलकर आदि के समान एक कृत्रिम नवीन-भाषा की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु इस मार्ग की सबसे बड़ी बाधा काँग्रेस सरकार की तुष्टीकरण की नीति है। वह अब भी मुसलमानों को (सम्प्रदायवादी मुसलमानों को) खुश रखने के लिए उर्दू और हिन्दी को दो प्रथक् भाषाओं के रूप में देखती है। भाषा के प्रश्न को लेकर भारतीय जनता के साथ काँग्रेस सरकार ने जो सबसे बड़ा मजाक किया था, वह था मौलाना अबुलकलाम आजाद को भारत का शिक्षामंत्री बनाना। इसमें

कोई सन्देह नहीं कि मौलाना साहब एक उदार व्यक्ति थे और नवीन भारत के निर्माताओं में से एक थे। उनका निधन भारतीय राष्ट्र की एक ऐसी क्षति है जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में सम्भव नहीं। परन्तु किसी व्यक्ति की उदारता ही उसे शिक्षा मंत्री के महत्वपूर्ण पद पर आसीन कराने के लिए यथेष्ठ नहीं है। हमारा शिक्षा मन्त्री ऐसा हो जिसे देश की प्राचीन परम्परा, इतिहास, संस्कृति के क्रमिक विकास का ज्ञान हो। साथ ही वह देश की प्रधान भाषाएँ भी जानता हो। शिक्षा मन्त्री के लिए शिक्षा विज्ञान का भी ज्ञाता होना आवश्यक है। हमारे मौलाना अरबी फारसी के विद्वान थे परन्तु उनमें उपर्युक्त वर्णित ज्ञान का अभाव था। उनका ज्ञान अरबी और फारसी भाषा की परंपरा, इतिहास और संस्कृति तक सीमित था। वे राष्ट्रभाषा हिन्दी को धारा प्रवाह रूप से नहीं बोल पाते थे। ऐसी दशा में घूम फिर कर उनका ध्यान अरबी फारसी और उर्दू की तरफ चला जता था। हिन्दी के विषय में उनकी अनभिज्ञता ने उन्हें हिन्दी के प्रति उदासीन बना रखा था। हमारा शिक्षामन्त्री ही अगर राष्ट्रभाषा के प्रति उदासीनता दिखाए तो उसके पद का महत्व व्यर्थ है। मौलाना साहब की उर्दू पक्षिपातिनी नीति से सम्पूर्ण हिन्दी संसार क्षुब्ध हो उठा था। उर्दू कलाकारों, उर्दू संस्थाओं आदि को सरकारी सहायता मुक्त हस्त होकर प्रदान की जा रही थी और हिन्दी वाले ऐसे देखते रह जाते थे जैसे वे सौतेले पुत्र हों।

हिंदी के प्रति इस उपेक्षापूर्ण नीति के लिये अकेले मौलाना ही जिम्मेदार नहीं थे अपितु हमारे नेहरू इत्यादि वे नेता भी हैं जो सोचते अँग्रेज़ी में हैं और बोलते टूटी-फूटी हिन्दी में हैं। जब तक बागडोर इन अँग्रेज़ीदाँ नेताओं के हाथ में रहेगी तब तक हिंदी को अपना पद पूरी तरह से हासिल करने के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में हमारा विश्वास केवल हिंदी की अप्रतिम शक्ति को देखकर ही डगमगाता नहीं है। सदियों से भयंकर सम्प्रदायवादी शासक भी हिंदी का विकास रोकने में असमर्थ रहे हैं तो पूँजीवादी व्यवस्था के इन ध्वंसावशेषों में इतनी शक्ति कहाँ कि उसकी गति को रोक सकें। हिंदी के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व हिंदी उर्दू के लेखकों के सम्मिलित प्रयत्न पर निर्भर कर रहा है। यदि ये दोनों मिलकर एक हो जायँ तो हमारा धार्मिक मतभेद भी नष्ट हो जायगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम हिंदी उर्दू को दो भिन्न भाषाएँ न मानकर एक भाषा मानें। डाक्टर रांगेय राघव के शब्दों में यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब—"समस्त उर्दू साहित्य को, अधिक सरल होने के कारण नागरी लिपि में लेकर, हिंदी साहित्य में जोड़-कर हिंदी साहित्य के इतिहास को फिर से लिखा जाय।" वे इसके लिये

राजनीतिक एवं सामाजिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं—"भाषा का प्रश्न मुहब्बत का सवाल नहीं है। वह वैज्ञानिक प्रश्न है। जनवाद उसका आधार है। आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक अन्तर्भुक्ति जनताओं को समीप लाती है। यह साम्प्रदायिकता, जातीयता, इस समाज की विषमता के कारण हैं। भाषा के प्रश्न को सुलझाना इसलिए सीधे ही हमारे जनवादी प्रगतिशील आन्दोलन से सम्बन्ध रखता है। शोषणहीन समाज में ही जनताएँ एक दूसरे की सीमा को तोड़कर गले मिलती हैं और पारस्परिक वैमनस्य दूर होता है।" उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि शोषणहीन वर्गयुक्त समाज की स्थापना होने पर यह भाषा भेद स्वतः ही समाप्त हो जायगा।

इस वर्ग संघर्ष का अन्त करने की शक्ति भारतीय भाषाओं में से हिन्दी में ही सबसे अधिक है। उसका विकास जनवाद के बल पर हुआ है। उसने सदैव धार्मिक संकीर्णता और पुरोहित वर्ग का घोर विरोध किया है। कबीर, तुलसी का साहित्य इसका प्रमाण है। हिन्दी जनता की भाषा है। उसके पास एक समृद्ध विरासत है। अतः इस कार्य को केवल हिन्दी ही कर सकती है।

हिंदी के राष्ट्रभाषा हो जाने से भाषावार प्रान्तों का प्रश्न राजनीतिक उद्देश्य को लेकर आगे आया है। भाषावार प्रान्तों के निर्माण से राष्ट्रभाषा का कोई अहित नहीं हो सकता। प्रान्तीय भाषाएँ फलती-फूलती रहेंगी और हिंदी उन्हें एक कड़ी में बाँधने का कार्य करती रहेगी। प्रान्तीय भाषाएँ ही नहीं वरन् बोलियों में भी साहित्य का निर्माण होना चाहिए। हिन्दी दूसरे प्रान्तों पर लादी नहीं जा रही। उसका उद्देश्य हिंदी साम्राज्यवाद की स्थापना का कभी भी नहीं रहा और न है। 'हिंदी साम्राज्यवाद' के भय का हौवा संकीर्ण प्रान्तीयतावादियों ने उठा रखा है। इसमें कोई तथ्य नहीं। हिंदी सबकी सेवा करना चाहती है। वह दूसरी भाषाओं से विनिमय में भी संकोच नहीं करती। वह एक ऐसी अजस्र प्रवाहिनी स्रोतस्विनी के समान है जिसमें दूसरी भाषाओं रूपी नदियों का संयोग अनिवार्य है। जिस दिन वह एक कृत्रिम नहर का रूप धारण कर लेगी उसी दिन उसका राष्ट्रभाषा का गौरवमय पद समाप्त हो जायगा।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा के स्वरूप के साथ ही उसका अपना इलाका है, जिसका भूत और वर्तमान अत्यन्त समृद्ध और उज्ज्वल है। हिन्दी भाषी क्षेत्र की इसी समृद्धि से मुग्ध होकर हिंदी के वर्तमान प्रखर आलोचक डाक्टर रामविलास शर्मा ने लिखा है—"हिन्दी भाषी इलाका भारत का सबसे बड़ा इलाका है। संख्या के लिहाज से हिन्दुस्तानी जाति दुनियाँ की तीन चार सबसे बड़ी जातियों में गिनी जायगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई

हैं। यहीं की नदियों के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अनुष्टुप और चौपाइयाँ गाई हैं। तानसेन और फैयाज खाँ, हाली, मीर, अकबर, गालिब, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल और विश्वनाथ के मन्दिर यही के हाथों ने गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ों साल तक यहीं का आकाश गुँजाया है। अठारह सौ सत्तावन में यहीं की धरती हिन्दुओं और मुसलमानों के खून से सींची गई हैं। जिस दिन यह विशाल हिंद प्रदेश एक होकर नये जन-जीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसकी संस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी। किसानों और मजदूरों की एकता, जो जनता के संयुक्त मोर्चे की मुख्य शक्ति है, वह दिन निकट लायेगी। हिंदी और उर्दू के लेखकों को इस जनता के हितों को ध्यान में रखकर अपनी जातीय परम्परा के अनुसार लोकप्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास में आगे बढ़ना चाहिए।" (प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ—डा० रामविलास शर्मा) उपर्युक्त वक्तव्य में 'जातीय परम्पराओं' से डाक्टर शर्मा का उद्देश्य हिन्दू, मुसलमान दो जातियों से न होकर केवल एक भारतीय जाति से ही है।

१७—गीतिकाव्य : स्वरूप और विकास

आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार कविता के दो भेद माने गये हैं—१—व्यक्तित्व प्रधान अथवा विषयीगत (Subjective) और विषय-प्रधान अथवा विषयगत (Objective)। इसी भेद को स्वीकार करते हुए डा० श्यामसुन्दरदास ने भी कविता के दो भेद माने हैं—"एक तो वह जिसमें कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ़ निकालता है, और दूसरा वह जिसमें वह अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूँढ़ निकालता है उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को भावात्मक व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभिव्यजक कविता कह सकते हैं। दूसरे विभाग को हम विषय प्रधान अथवा भौतिक कविता कह सकते हैं।" इसके अनुसार कविता के दो मोटे भेद हुए—भाव प्रधान और विषय प्रधान।

भाव-प्रधान कविता में कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की प्रधानता रहती है। भाव-प्रधानता के कारण उसमें गीतात्मकता का विशेष स्थान रहता है। इसी कारण इसे गीति-काव्य या प्रगीत काव्य कहते हैं। अँग्रेजी में इसे लिरिक (Lyric) कहा जाता है।

भारतीय दृष्टिकोण से काव्य के दो भेद किये गए हैं—श्रव्य और दृश्य। इनमें से निबन्ध के भेद से श्रव्य काव्य के दो भेद माने गये हैं—प्रबन्ध काव्य और निर्बन्ध या मुक्तक काव्य। मुक्तक काव्य में मन की किसी अनुभूति, भाव या कल्पना का चित्रण किया जाता है। इस मुक्तक काव्य के भी दो भेद माने गए हैं—१ पाठ्य मुक्तक, २—गेय मुक्तक। पाठ्य मुक्तक में विषय की प्रधानता रहती है। उसके छंद पाठ्य अधिक होते हैं, गेय कम। गेय मुक्तक में भावनाओं और वैयक्तिक अनुभूतियों के प्राधान्य के कारण रागात्मकता आ जाती है। ये स्वर, ताल तथा लय में बँधे हुए और गेय होते हैं। ये गेय मुक्तक ही गीतिकाव्य या प्रगीतिकाव्य कहलाते हैं।

गीति काव्य की उत्पत्ति तभी होती है जब भावों के आवेश से प्रेरित होकर निजी उद्गारों को काव्योचित भाषा में प्रकट किया जाता है। व्यक्ति के

व्यक्तित्व और उसकी आन्तरिक अनुभूतियों तथा भावों को, सजीव भाषा में साक्षात कराने की क्षमता ही प्रगीतकाव्य की विशेषता है। व्यक्तिगत भाव और अनुभूति की तीव्रता उसमें रागात्मकता का समावेश कर देती है। गीतिकाव्य की इन्हीं विशेषताओं को लक्ष्य कर महादेवी वर्मा ने गीतिकाव्य का विवेचन करते हुए लिखा है कि "सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है।" अतः गीतिकाव्य के तीन प्रधान लक्ष्य हुए—रागात्मकता, निजीपन और अनुभूति की प्रधानता। दूसरे शब्दों में हम इन्हें गेयत्व, स्वानुभूति का भाव और कोमल भाव की सघनता भी कह सकते हैं।

उपर्युक्त तीनों विशेषताएँ गीतिकाव्य की आभ्यन्तर और बाह्य विशेषताएँ हैं। गीतिकाव्य की आभ्यन्तर विशेषता इस बात में है कि उसके भीतर आत्मा की—अपनी निजी अनुभूति घनीभूत रूप में प्रकट हो। वर्णन चाहे किसी वस्तु का हो पर गीति के भीतर आकर वह वस्तु का कल्पनागत वर्णन न रह कर कवि की अपनी अनुभूति के भीतर आया हुआ वर्णन हो जाता है। उसके भीतर कवि की आत्मा और भावनाएं ही प्रतिविम्बित और झाँकती हुई मिलेंगी। इस आधार पर आत्मानुभूति को गीति काव्य की प्रमुख विशेषता माना जा सकता है।

इस आत्मानुभूति के अन्तर्गत कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक विशेषताओं का आधार अवश्य ग्रहण करता है, परन्तु वह आधार अलक्ष्य ही रहता है। कवि की सफल भावना हमारी अनुभूतियों और प्रेरणाओं को उकसाती है। डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में—"कवि की पावन, शुद्ध पारदर्शी दृष्टि, वस्तु के भीतर कुछ ऐसे रहस्यपूर्ण और गुप्त तथ्य देखती है जो हमारे लिए नवीन होकर भी सत्य और तथ्यपूर्ण हैं। यह कवि की सूझ है, उसकी अन्वेषक शक्ति है, उसकी पवित्र व्यापक अनुभूति है और उसको साथ लेकर चलने वाली सूक्ष्म कल्पना है, जो वर्णन को इतना अपना लेती है कि वस्तु अपनी—हृदय की संगी—हो जाती है, और अपनाव के साथ-साथ हमारी असंख्य भावनाएँ उससे सम्बन्धित होकर ऐसी जाग उठती हैं कि फिर उनको सुलाना कठिन है। वे जागकर एक प्रेरणा भरती हैं और तब हम समझते हैं कि कवि इतना प्रतिभा-सम्पन्न और अन्तर्दर्शी है।" इस प्रकार आत्मानुभूति गीतिकाव्य की आभ्यन्तर विशेषता है।

गीति काव्य की अन्य वाह्य विशेषताएँ—रागात्मकता, वैयक्तिकता और कोमल भावों की सघनता भी स्वानुभूति पर ही अवलम्बित है। अनुभूति की तीव्रता कवि को गाने के लिए प्रेरित करती है और वह स्वाभाविक रूप से गा

उठता है । अतः गेयता भी स्वतः सिद्ध सी है । गेयत्व का एक और रहस्य है । किसी भी भाव का अनुभव हम बार-बार करना चाहते हैं । गीति की स्वर लहरियाँ बार-बार वहीं जाकर अनुभूति पर प्रभाव डालतीं हैं । स्वर की दीर्घता और संक्षिप्तता अनुभूतियों को उकसाती है, उसकी कोमलता कानों को मधुर लगती है और संवादन कल्पना को सजग और विकसित कर देता है । इस प्रकार गीति की गेयता उसका आवश्यक गुण है ।

गीतिकाव्य का सम्बन्ध हृदय से है । अतएव उसका अंतरङ्ग अथवा वस्तु तत्व हृदय के अनुरूप ही बहुत कोमल, सरल और भावना पूर्ण होना चाहिये । भावना की सुकुमारता के साथ ही साथ भाषा भी सरल, मधुर और व्यञ्जक होनी चाहिए । उसका प्रकरण सुन्दर, मनोहर, संक्षिप्त होने पर ही प्रभावोत्पादक बनता है । उसमें कल्पना का नवीन और उन्मुक्त होना भी आवश्यक है । भावों की अभिव्यक्ति तीव्रतम होनी चाहिए जिससे उसका प्रभाव अधिक से अधिक पड़े । साथ ही भाव विच्छिन्न और अस्पष्ट न हों । सुकुमारता की रक्षा के लिये संगीत का प्राधान्य तथा कोमल रसों का समावेश होना अत्यधिक आवश्यक है । इसीलिए शान्त, शृङ्गार और वात्सल्य गीतिकाव्य के प्रिय रस रहे हैं । उपर्युक्त सम्पूर्ण विशेषताओं को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—संगीत से पूर्ण भावाभिव्यक्ति, अन्तर्जगत का चित्रण, प्रकरण अथवा भावना की सुन्दरता और व्यंजकता, शब्दों का मधुर चयन, भाषा का भावना से सामंजस्य, साक्षात् प्रभाव और संक्षिप्तता । उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर गीति काव्य की निम्नलिखित परिभाषा निर्धारित की जा सकती है—'कविता की मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति, जब मधुर शब्दों द्वारा स्वाभाविक गीतिमय और गेय स्वर लहरी में तीव्रता के साथ प्रकट होती है तो उसे गीति कहा जाता है ।'

यहाँ गीतिकाव्थ से सम्बन्धित एक भ्रम का निवारण कर लेना चाहिए । साधारणतः यह समझा जाता है कि प्रत्येक गीति या गान गीति काव्य के अन्तर्गत ले लिया जाता है । परन्तु गीतिकाव्य की परिधि में केवल वही पद आ सकते हैं जो कवि की अपनी अनुभूति को अपने रूप से प्रकट करने वाले हों, अन्य पद नहीं । इसी प्रकार कवि के स्वानुभूति सम्बन्धी वे कथन भी इसके क्षेत्र के बाहर हैं जो सहज तथा स्वाभाविक नहीं । साथ ही जो गाए नहीं जा सकते या जिनमें नीति, उपदेश या किसी प्रकार का वर्णन रहता है । गान को इसके अन्तर्गत इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि गान या पद उन्हें कहते हैं जो संगीत के स्वरों के नियमानुसार, साज पर या बिना साज की सहायता से भी गाए जा सकें उनमें आत्मानुभूति हो या न हो । गीति में आत्मानुभूति का होना अत्यन्त आवश्यक है ।

गीति को हम दो वर्गों में भी विभाजित कर सकते हैं—१—शुद्ध गीति और २—प्रगीत मुक्तक। शुद्ध गीति में स्वानुभूति निरूपण करने वाले गीत आते हैं जिनमें प्रायः प्रथम या द्वितीय पंक्ति, टेक के रूप में, पद पूरा होने पर दुहराई जाती है। प्रगीत मुक्तक में अन्य छन्द हैं जिनमें स्वानुभूति का तीव्र प्रकाशन संगीतात्मक शब्दों में होता है; वे ललित स्वर के साथ पढ़े जा सकते हैं, शास्त्रीय पद्धति पर सैट करके साज पर चाहे न गाए जा सकें। इस दृष्टि से देखने से भारतीय साहित्य का अधिकांश गीतिकाव्य गीति के क्षेत्र से बाहर है क्योंकि उसमें उपर्युक्त दोनों विशेषताएँ एक साथ नहीं मिलतीं। विद्यापति एवं अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने राधाकृष्ण की लीला का वर्णन एक दर्शक के रूप में किया है और पद के अन्तिम चरण में अपनी छाप डालने के साथ यह भाव भी प्रकट कर दिया है कि उस वर्णन में वे भी कहीं दर्शक के रूप में और कहीं वर्णन करने वाले के रूप में उपस्थित हैं। इस प्रकार पूरे गीत में कवि की स्वानुभूति अपने रूप में न होकर दूसरे की अनुभूति के रूप में हुई है। अतः ऐसे पदों को शुद्ध गीति भावना के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। सगुणोपासक भक्त कवियों के गीतों में जहाँ भी राम या कृष्ण की लीला का वर्णन है वहाँ पर न सूर में, न उनके साथियों में और न तुलसी में ही शुद्ध गीतिभावना पाई जाती है। केवल इनके विनय-गीतों में ही गीति भावना का सहज रूप विद्यमान है। सूर के विनय के पदों एवं तुलसी की विनयपत्रिका के अधिकांश पदों में विनय-गीति की उत्कृष्ट भावना खेलती मिलती है।

विद्वानों ने आकार और वृत्ति के अनुसार गीति काव्य को निम्नलिखित बारह वर्गों में विभाजित किया है—

१—प्रेमगीत, २—व्यंग गीत, ३—धार्मिक गीति, ४—शोक गीत, ५—युद्ध गीत, ६—वीर गीत, ७—नृत्य गीत, ८—सामाजिक गीत, ९—उपालम्भ गीत, १०—गीति नाट्य, ११—सम्बोधन गीत और १२—सानेट—चतुर्दश पदी गीत। इन वर्गों के अतिरिक्त हिंदी में आजकल राष्ट्रीय गीति, उपदेशात्मक गीत, विचार-प्रधान गीत आदि अनेक प्रकार के गीत और लिखे जाने लगे हैं।

गीतों के उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रकारों को मोटे रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—लोक गीत और साहित्यिक गीत। गीतिकाव्य की उत्पत्ति वास्तव में लोक-गीतों के रूप में हुई थी। साहित्यिक गीत उसी का विकसित रूप है। लोक गीत जन-साधारण के जीवन के अधिक निकट और उससे घुले मिले रहते हैं। उनमें जीवन की वासना, घृणा, प्रेम, लालसा, उल्लास, विषाद आदि की उन प्रारम्भिक अनुभूतियों का चित्रण होता है जिन पर सामाजिक

शिष्टाचार का प्रभाव नहीं होता। उनमें वर्णन शैली आदि की कृत्रिमता न होकर पूर्ण स्वाभाविकता होती है। न उन पर साहित्यिक रूढ़ियों और प्रतिबन्धों का ही कोई प्रभाव होता है। वे मानव-मन की सहज स्वभाविक अनुभूतियों के अधिक निकट होते हैं। इसलिए उनमें हमारे भावों, अनुभूतियों और जीवन का शुद्ध और यथार्थ रूप अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ प्रकट होता है। "लोकगीत वस्तुतः उस मानव-संस्कृति और समाज के प्रतिनिधि हैं जो कि नागरिक वातावरण और कलात्मक साहित्यिकता से दूर ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित हैं। शिष्ट, मर्यादित और कलात्मक गीत समाज के केवल उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि नागरिक तथा सुसंस्कृत है। इसलिए लोकगीत किसी भी देश की जन-संस्कृति, विचारधारा और चिन्तन पद्धति की जानकारी में साहित्यिक गीतों की अपेक्षा अधिक सहायक होते हैं।" (साहित्य-विवेचन)

लोक-गीत गीतिकाव्य की अविकसित और साहित्यिक गीत विकसित अवस्था है। लोक गीत का गायक सामाजिकता में अपने व्यक्तित्व को तिरोहित कर देता है। ये लोक गीत विभिन्न संस्कारों, उत्सवों, शारीरिक श्रमों के अवसरों, घरेलू कार्यों आदि सभी मौकों पर गाए जाते हैं। इनमें हृदय का उत्साह और मनोरंजन की भावना निरंतर विद्यमान रहती है। दूसरे लोक-गीत पारिवारिक सम्बन्धों से सम्बन्धित रहते हैं जिनमें स्त्रैण भावना का प्राधान्य रहता है। साहित्यिक गीतों में कोमलता मिश्रित पौरुष भावना का प्राधान्य पाया जाता है। ये गीत विशिष्ट वर्ग के होने के कारण इनका प्रभाव क्षेत्र सीमित रहता है। इसके विपरीत लोक गीत सामाजिक जीवन के अधिक निकट होने के कारण अपने प्रभाव-क्षेत्र का निरंतर विस्तार करते रहते हैं। इनमें कवि के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है।

गाँवों में प्रेम, संयोग-वियोग, विवाह, बेटी की विदाई आदि से सम्बन्धित अनेक सुन्दर लोक गीतों का प्रचलन है। यद्यपि उनमें कलात्मक सौंदर्य अधिक नहीं रहता परंतु उनके भाव सौन्दर्य की तुलना में अधिकांश साहित्यिक गीत फीके पड़ जाते हैं। एक गीत द्रष्टव्य है—बेटी की विदा का प्रसङ्ग है। ससुराल जाते समय बेटी अपने मायके के लोगों के भावों का संकेत कितने मार्मिक ढङ्ग से करती है—

"सावन सेंदुरा माँग भरी वीरन, चुनरी रंगायो अनमोल।
माया ने दीनों नौ मन सौनवाँ कि ददुली ने लहर पटोर ॥
भय्या ने दीनो चढ़न को घोड़िला भौजी मोतिन को हार।
सावन सेंदुर ... ...

माया के रोवे ते नदिया बहति है दढुली के रोये सागर पार ।
भैया के रोये ते पटुका भीजत है भौजी के दुइ दुई आँस ।।
सावन सेंदुरा माँग भरी वीरन, चुनरी रंगायो अनमोल ।।"

पारिवारिक संस्कृति की विशेषता को लेकर चलने वाली भावधारा इस गीत में जितनी गहरी है, उसके भीतर प्रतिध्वनित व्यंग्य उतना ही प्रखर है। इसी कारण हमारे लोक गीतों का जितना सांस्कृतिक महत्व है उतना साहित्यिक गीतों का नहीं । साथ ही स्वाभाविकता, तीव्रता, सघनता और गहरे पारदर्शी एवं हृदय द्रावक संकेतों से जितने हमारे लोकगीत ओतप्रोत हैं उतने साहित्यिक गीत नहीं । आज हिन्दी में लोक गीतों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । अनेक विद्वानों, पर्यटकों आदि ने इस क्षेत्र में कठिन परिश्रम द्वारा उनका संग्रह किया है । यहाँ लोकगीतों का विवेचन इसलिये अपेक्षित था कि अधिकांश विद्वान गीत-काव्य के इस सर्वाधिक उपयोगी एवं सर्वश्रेष्ठ अङ्ग को गीत काव्य का विवेचन करते समय उपेक्षा की दृष्टि से देखते आए हैं । लोकगीतों का प्रचलन साहित्यिक गीतों से बहुत पुराना है परंतु हिन्दी गीतकाव्य के विकास के साथ-साथ इनका विकास दिखाने से निबन्ध का कलेवर बढ़ जाने का भय था। इसलिए अब हिन्दी गीतकाव्य के विकास का संक्षिप्त इतिहास ही अपेक्षित है जो निम्नलिखित है—

हिंदी गीतिकाव्य अपनी परम्परा के लिये संस्कृत साहित्य का ऋणी है । इसका इतिहास वेदों से प्रारम्भ होता है । सामवेद संगीतात्मक गीतों का ही संग्रह है । स्वयं वेदों के गायकों ने वेदों को गीत कहा है । वेदों के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिये, भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छंदों में स्तुति की गई है । उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विकास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है । उषा-विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है, इन्द्र विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। उषा-विषयक ऋचाएं नितान्त सरस, सहज तथा भव्य भावना से परिपूर्ण हैं । उनमें उषा के विभिन्न रूपों का चित्रण है । एक श्लोक द्रष्टव्य है—कवि की दृष्टि उषा के रम्य रूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप में देखकर प्रसन्न हो उठता है । वह कहता है—

"कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ।।
ऋग्वेद १।१२३।१०।

शिष्टाचार का प्रभाव नहीं होता। उनमें वर्णन शैली आदि की कृत्रिमता न होकर पूर्ण स्वाभाविकता होती है। न उन पर साहित्यिक रूढ़ियों और प्रतिबन्धों का ही कोई प्रभाव होता है। वे मानव-मन की सहज स्वभाविक अनुभूतियों के अधिक निकट होते हैं। इसलिए उनमें हमारे भावों, अनुभूतियों और जीवन का शुद्ध और यथार्थ रूप अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ प्रकट होता है। "लोकगीत वस्तुतः उस मानव-संस्कृति और समाज के प्रतिनिधि हैं जो कि नागरिक वातावरण और कलात्मक साहित्यिकता से दूर ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित हैं। शिष्ट, मर्यादित और कलात्मक गीत समाज के केवल उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि नागरिक तथा सुसंस्कृत है। इसलिए लोकगीत किसी भी देश की जन-संस्कृति, विचारधारा और चिन्तन पद्धति की जानकारी में साहित्यिक गीतों की अपेक्षा अधिक सहायक होते हैं।" (साहित्य-विवेचन)

लोक-गीत गीतिकाव्य की अविकसित और साहित्यिक गीत विकसित अवस्था है। लोक गीत का गायक सामाजिकता में अपने व्यक्तित्व को तिरोहित कर देता है। ये लोक गीत विभिन्न संस्कारों, उत्सवों, शारीरिक श्रमों के अवसरों, घरेलू कार्यों आदि सभी मौकों पर गाए जाते हैं। इनमें हृदय का उत्साह और मनोरंजन की भावना निरंतर विद्यमान रहती है। दूसरे लोक-गीत पारिवारिक सम्बन्धों से सम्बन्धित रहते हैं जिनमें स्त्रैण भावना का प्राधान्य रहता है। साहित्यिक गीतों में कोमलता मिश्रित पौरुष भावना का प्राधान्य पाया जाता है। ये गीत विशिष्ट वर्ग के होने के कारण इनका प्रभाव क्षेत्र सीमित रहता है। इसके विपरीत लोक गीत सामाजिक जीवन के अधिक निकट होने के कारण अपने प्रभाव-क्षेत्र का निरंतर विस्तार करते रहते हैं। इनमें कवि के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है।

गाँवों में प्रेम, संयोग-वियोग, विवाह, बेटी की विदाई आदि से सम्बन्धित अनेक सुन्दर लोक गीतों का प्रचलन है। यद्यपि उनमें कलात्मक सौंदर्य अधिक नहीं रहता परंतु उनके भाव सौन्दर्य की तुलना में अधिकांश साहित्यिक गीत फीके पड़ जाते हैं। एक गीत द्रष्टव्य है—बेटी की विदा का प्रसङ्ग है। ससुराल जाते समय बेटी अपने मायके के लोगों के भावों का संकेत कितने मार्मिक ढङ्ग से करती है—

"सावन सेंदुरा माँग भरी वीरन, चुनरी रंगायो अनमोल।
माया ने दीनों नौ मन सौनवाँ कि ददुली ने लहर पटोर॥
भय्या ने दीनो चढ़न को घोड़िला भौजी मोतिन को हार।
सावन सेंदुर ... ...

माया के रोवे ते नदिया बहति है ददुली के रोये सागर पार ।
भैया के रोये ते पटुका भीजत है भौजी के दुइ दुई आँस ।।
सावन सेंदुरा माँग भरी वीरन, चुनरी रंगायो अनमोल ।।''

पारिवारिक संस्कृति की विशेषता को लेकर चलने वाली भावधारा इस गीत में जितनी गहरी है, उसके भीतर प्रतिध्वनित व्यंग्य उतना ही प्रखर है। इसी कारण हमारे लोक गीतों का जितना सांस्कृतिक महत्व है उतना साहित्यिक गीतों का नहीं। साथ ही स्वाभाविकता, तीव्रता, सघनता और गहरे पारदर्शी एवं हृदय द्रावक संकेतों से जितने हमारे लोकगीत ओतप्रोत हैं उतने साहित्यिक गीत नहीं। आज हिन्दी में लोक गीतों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अनेक विद्वानों, पर्यटकों आदि ने इस क्षेत्र में कठिन परिश्रम द्वारा उनका संग्रह किया है। यहाँ लोकगीतों का विवेचन इसलिये अपेक्षित था कि अधिकांश विद्वान गीत-काव्य के इस सर्वाधिक उपयोगी एवं सर्वश्रेष्ठ अङ्ग को गीत काव्य का विवेचन करते समय उपेक्षा की दृष्टि से देखते आए हैं। लोकगीतों का प्रचलन साहित्यिक गीतों से बहुत पुराना है परंतु हिन्दी गीतकाव्य के विकास के साथ-साथ इनका विकास दिखाने से निबन्ध का कलेवर बढ़ जाने का भय था। इसलिए अब हिन्दी गीतकाव्य के विकास का संक्षिप्त इतिहास ही अपेक्षित है जो निम्नलिखित है—

हिंदी गीतिकाव्य अपनी परम्परा के लिये संस्कृत साहित्य का ऋणी है। इसका इतिहास वेदों से प्रारम्भ होता है। सामवेद संगीतात्मक गीतों का ही संग्रह है। स्वयं वेदों के गायकों ने वेदों को गीत कहा है। वेदों के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिये, भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छंदों में स्तुति की गई है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विकास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है। उषा-विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है, इन्द्र विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। उषा-विषयक ऋचाएँ नितान्त सरस, सहज तथा भव्य भावना से परिपूर्ण हैं। उनमें उषा के विभिन्न रूपों का चित्रण है। एक श्लोक द्रष्टव्य है—कवि की दृष्टि उषा के रम्य रूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप में देखकर प्रसन्न हो उठता है। वह कहता है—

''कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ।।
ऋग्वेद १।१२३।१०।

अर्थात् हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बन कर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मित वदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरण-रहित करती हो।' यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी है। यहाँ उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मितवदना सुन्दर रूप को प्रकट करने वाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की भावना से जाने वाली उषा के ऊपर कितनी सयुक्तिक तथा सरस है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इस प्रकार के सुन्दर भावपूर्ण गीतों से ओतप्रोत है।

श्रीमद्भागवत गीता में आकर गीत शब्द का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ। गीता का अर्थ भी यही है कि जो गाया जा सके या गाया गया हो। वैदिक साहित्य के पश्चात् बौद्ध साहित्य की थेरी गाथाओं का स्थान आता है। उनमें वैराग्य के प्रति हार्दिक राग और उत्साह है। वास्तव में गाथा शब्द का अर्थ भी गीत ही है। कबीर पर इन थेरी गाथाओं का बहुत प्रभाव पड़ा था। उदाहरण के लिए 'थेरी गाथा' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं--

"काल का भवरण्य सदिता वेलितग्गा मम मुद्धजा अदु,
ते जराय सालवख्य सदिसा सच्चावादि बचन अनज्ञथा ॥"

अर्थात् भौंरे के समान मेरे काले, चिकने और घुँघराले केश बुढ़ापे के कारण आज सन और वल्कल जैसे हो गए हैं। परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है। सत्यवादी की यह बात झूठ नहीं है।

वाल्मीकि रामायण को गेय और पाठ्य दोनों ही माना गया है। कालिदास का मेघदूत खण्डकाव्य होते हुए भी उसमें वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता है जो उसे गीतिकाव्य के निकट खींच लाती है। इससे आगे चलकर प्राकृत और अपभ्रंश में गीतों की यह परम्परा अक्षुण्ण रही। इस काल में वीर रस के ओजपूर्ण और प्रेम के कोमल गीतों की रचनाएँ हुईं किंतु वीर-गीत भावों की न्यूनता के कारण साहित्य में अच्छा स्थान नहीं पा सके। हिन्दी के आदि युग तक इन वीर गीतों का खूब प्रचलन रहा परन्तु बाद में दासता के साथ ही वे लुप्त हो गए।

संस्कृत में गीतकाव्य का वास्तविक, संस्कृत और उन्नत रूप गीत गोविन्दकार जयदेव में मिलता है। उनके गीत राग-रागिनियों में बंधे हुए हैं। उनमें कोमल-कान्त-पदावली द्वारा अत्यन्त सरस गीतों की रचना की गई है। जयदेव माधुर्य को अपनी कविता का सबसे बड़ा गुण समझते थे और उसी माधुर्य के कारण उनका नाम आज तक संस्कृत के प्रमुख गीतकारों में सम्मान पूर्वक लिया जाता है। जयदेव से यह परम्परा विद्यापति और चण्डीदास को मिली।

विद्यापति के पदों में पद-लालित्य, सरसता, हृदय का रस और उक्ति वैचित्र्य सभी कुछ है। विद्यापति जयदेव से प्रभावित अवश्य हैं परन्तु जयदेव के गीतों में लोक सुलभ भावना उतनी साफ और सीधी शैली में नहीं उतर पाई है जितनी कि विद्यापति में। विद्यापति के गीतों में यद्यपि अलंकार, रस, नायिका-भेद, साहित्यिक प्रयोग आदि परम्परागत हैं, उनकी शैली प्राचीन संस्कृत एवं अपभ्रंश के प्रभाव से ओतप्रोत है, फिर भी वे लोकगीति-परम्परा के बहुत अधिक समीप हैं। इसी कारण भाव-सौंदर्य, भाव-विस्तृति, सङ्गीतात्मकता और वेदना की तीव्रता में जयदेव कभी-कभी उनसे पीछे रह जाते हैं। विद्यापति का एक पद दृष्टव्य है।

"नन्दक नन्दन कदम्बक तरुतर।
धिरे धिरे मुरलि बजाव ॥
समय संकेत निकेतन बइसल।
बेरि बेरि बोल पठाव ॥
सामरि तोरा लागि, अनुखन विकल मुरारि।
जमुना क तिरे उपवन उदवेगल, फिरि-फिरि ततहि निहारि।
गोरस बेचए अइबत जाइत, जनि-जनि पुछ बनमारि ॥"

इसी प्रकार के गीतों से प्रभावित होकर विद्वानों ने हिन्दी-गीति काव्य की स्वतन्त्र परम्परा का विकास विद्यापति से माना है।

विद्यापति के उपरान्त हिंदी में गीतिकाव्य के दर्शन सर्व प्रथम कबीर आदि सन्त कवियों के काव्य में होते हैं। कबीर ने विरह निवेदन के रूप में सुन्दर गीतों का सृजन किया है। थेरी गाथाओं की दुख वादी वैयक्तिक भावना कबीर के पदों में एक उन्नत रूप में प्रकट हुई—

"बालम आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे ॥
आनन भावै नींद न आवै ग्रिह बिन धरै न धीर रे।
ज्यूँ कामी कूँ कामिनि प्यारी ज्यूँ प्यासे को नीर रे ॥

किन्तु वैयक्तिक भावना का आरोप होते हुए भी आराध्य निराकार होने के कारण वह आत्मीयता कबीर में नहीं छू सकी जो कि मीरा में साकार प्रेमी के लिए आत्म-निवेदन में है। कबीर के—

"साँई बिन दरद करे जो होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख रोय ॥"

से मीरा के—

दरस बिन दूखन लागे नैन ।

जब ते तुम बिछुरे पिय प्यारे, कबहुँ न पायो चैन ।।"

में कहीं अधिक मार्मिकता है ।

विद्यापति और कबीर की गीति-परम्परा का प्रभाव सूर पर अधिक पड़ा। सूर में भावुकता और हार्दिक वृत्ति बहुत प्रबल है इसलिए उनके गीतों में विदग्धता और तन्मयता की मात्रा बहुत गहरी है। सूर के पदों में वात्सल्य, शान्त और शृङ्गार रस की प्रधानता के साथ आत्म-निवेदन, वियोग-वर्णन एवं बाल-यौवन के शृङ्गारी चित्र अधिक हैं। प्रबन्धात्मकता के होते हुए भी हार्दिकता के योग से उन पदों का गीत-सौन्दर्य विशेष निखर सका है। कृष्ण के वियोग में विरहिणी गोपियों की आँखें निरन्तर आँसू बरसाती रहती हैं—

निस दिन बरसत नैन हमारे ।

सदा रहति पावस रितु हम पै जब तें स्याम सिधारे ।।

दृग अंजन न रहत निसि-बासर कर-कपोल भए कारे,

कंचुकि पट सूखत नहिं कबहों उर बिच बहत पनारे ।।"

विरह की यह एक सार्वभौम दशा है और इन शब्दों में उसकी वही सजीवता और मार्मिकता सूर की भावुकता से जीवन्त हुई है। तुलसी में इस तरह की भावुकता की कमी तो नहीं है लेकिन उनमें सामाजिकता का आग्रह आत्मीयता से अधिक है। फलस्वरूप उनकी रचनाओं में वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की अपेक्षा सामूहिक चेतना का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। 'विनय पत्रिका' के गीतों की तन्मयता और उल्लास गीतकाव्य की अमूल्य निधि है। नीचे की पंक्तियों में आत्म समर्पण की कितनी सहज अभिव्यंजना हुई है—

"जाऊँ कहाँ तजि चरण तिहारे ।

काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे ।।"

रीतिकालीन काव्य में (जैसे रसखान, घनानन्द, बोधा, आलम, ठाकुर आदि में) हमें स्वानुभूति के दर्शन लौकिक प्रेम के आश्रय में होते हैं पर उनमें भी कृष्ण भक्ति की छाया है। इन गीतों को हम शुद्ध गीति काव्य के अन्तर्गत न मान कर प्रगीत मुक्तकों में मान सकते हैं क्योंकि इनमें कोमल भाव का घनीभूत प्रकाशन, स्वानुभूति और सङ्गीतात्मक मधुर शब्दावली के दर्शन होते हैं। इनके अतिरिक्त रीतिकालीन शेष साहित्य में गीतों का विकास रुक सा गया।

"मध्यकालीन गीति कविता का सबसे बड़ा दान हिंदी साहित्य को यह मिला कि व्यक्ति के अपने हास-रोदन के माध्यम में सामूहिक दुःख-सुख को वाणी का रूप मिला। इन दिनों जब लोक-संवेद्य भक्ति गीतों की बाढ़ सी आई

थी लोक-जीवन की सांगीतिकता के शास्त्रीय पुनरुत्थान के प्रयत्न भी चल रहे थे। भाव और भाषा को साहित्यिक सुषमा का श्रृङ्गार दिया जा रहा था। सङ्गीत की नई-नई राग-रागिनियों का जामा पहनाया जा रहा था। काव्य के क्षेत्र में स्वर और वाणी को समान अधिकार मिल रहा था। रीतिकालीन आलङ्कारिक मोह से गीत सौन्दर्य को धक्का अवश्य लगा; किन्तु उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भारतेन्दु युग के गीतों ने सर्वथा नवीन और ऐश्वर्यमय युग की सूचना दी। शास्त्रीय सङ्गीत के नियमित बन्धनों में जो वाणी रुद्ध थी, भारतेन्दु की साधना से उसे मुक्ति मिली।''

आधुनिक युग में भारतेन्दु काल से पुनः गीतिकाव्य का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दु एवं सत्यनारायण ने ब्रज भाषा की पद शैली में राधा कृष्ण की प्रेमानुभूति में सुन्दर गीत रचे। इस प्रकार के गीतों में वियोगी हरि के गीत भी सुन्दर और मार्मिक बन पड़े। यद्यपि इनके पहले भी गीतों में परिवर्तन होने लगा था किन्तु उसका पूर्ण विकास प्रसाद युग में आकर हुआ। अतएव शुद्ध रूप में आधुनिक गीति काव्य का प्रारम्भ प्रसाद से ही माना जा सकता है। द्विवेदी युग भारतेन्दु-युग और प्रसाद-युग का सन्धि काल है। इस युग में वस्तुतत्व और वर्णन प्रणाली का ही प्राधान्य रहा। इस युग के गीतकारों में श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त प्रधान हैं। गुप्तजी ने किसी स्वतंत्र गीतकाव्य की रचना नहीं की। उनके गीत प्रबन्ध काव्यों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। साकेत और यशोधरा के कतिपय गीत हिन्दी गीति-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। ठाकुर गोपालशरणसिंह की 'कादम्बिनी' के कतिपय गीत तथा शिवाधार पांडेय के गीत सहृदयता से ओतप्रोत हैं। द्विवेदी युग का गीतिकाव्य का प्रच्छन्न स्रोत छायावाद में आकर पूर्ण रूपेण प्रस्फुटित हो सका।

प्रसाद युगीन गीतों का विवेचन करने से पूर्व भक्तिकालीन गीतिकाव्य और आधुनिक गीतिकाव्य का पारस्परिक अन्तर देख लेना आवश्यक है। यह ऊपर कह आए हैं कि भक्तिकाल में शास्त्रीय सङ्गीत के नियमित बन्धनों में जो वाणी रुद्ध थी, भारतेन्दु की साधना से उसे मुक्ति मिली। उसी समय से शास्त्रीय सङ्गीत का संस्कार कर उसे लोक-ग्राह्य बनाने के प्रयत्न प्रारम्भ हुए। महाराष्ट्र के भातखंडे स्कूल और बङ्गाल के टैगोर स्कूल ने काव्य और सङ्गीत की संगति के लिए उसका परिष्कार प्रारम्भ किया। इस प्रकार अंग्रेजी संगीत का भी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव संगीतात्मकता पर ही नहीं पड़ा, बल्कि काव्य के अन्तर-दर्शन पर भी उसकी छाप पड़ी। गीत-कविता धीरे-धीरे सामूहिक धरातल से हटकर आत्मनिष्ठ बनती गई। अब उसमें सङ्गीतात्मकता गौण होकर उसका प्रधान उपजीव्य हृदय के भाव बने। इस प्रकार पिछले गीतों से यह

पूर्णतया पृथक सी हो गई। इसने अपनी पृथक स्वतन्त्र सत्ता कायम करली। भक्तिकालीन गीत मुख्यतया गाने के लिए रचे गये थे। आज की गीत कविता मुख्यतया कविता है, सङ्गीत नहीं। इसके गीतों में अनुभूति होती है। उन गीतों का अन्तर वस्तु-प्रेम था, इनका आधार अनन्त जगत है। उनकी वैयक्तिक अनुभूति वस्तु-प्रेम था, इनकी प्रत्यक्ष है। छायावाद ने आकर तो गीतिकाव्य को विषय, भाव और वैचित्र्य की दृष्टि से छन्द और सांगीतिकता का बहुत बड़ा वैभव प्रदान किया। स्वानुभूति मात्र अपने सुख-दुख, विरह-मिलन के हास-अश्रु की लड़ियों का ही शृङ्गार नहीं करती—देशात्मबोध, मानवीयता, प्रकृति-चित्रण, आत्मदर्शन आदि की विविधता से वह ऐश्वर्यशालिनी है। नवीन छन्द, नई ध्वन्यात्मकता, नई उपमाएँ, अभिव्यंजना के नए प्रकार, नई अर्थशक्ति, आदि के समावेश से यह समृद्ध बन गई है। अस्तु,

प्रसाद ने अपने नाटकीय गीतों के रूप में अत्यन्त सुन्दर गीत लिखे। 'अरुण यह मधुमय देश हमारा'' गीत अपनी मधुरिमा और भाव सबलता के लिए प्रसिद्ध है। पन्त, निराला और महादेवी ने गीतकाव्य के इस नवीन रूप में संगीत के प्राण फूँके। महादेवी की भाव-सबलता और तन्मयता उनके स्फुट गीतों में साकार हो उठी। गुप्त, प्रसाद, महादेवी, रामकुमार वर्मा, नवीन आदि के गीत संगीत की देशी प्रणाली पर अवस्थित हैं। सूर, तुलसी और मीरा की गीत शैली से उनमें विशेष भेद नहीं है। किन्तु पन्त और निराला ने प्रचलित प्रणाली से भिन्न संगीत की सृष्टि की। बंगाल में टैगोर स्कूल ने जिस प्रकार गीतकाव्य में संगीत के नए प्रयोग किए, उसी प्रकार यह कार्य हिंदी में पन्त और निराला ने किया। 'ज्योत्स्ना' के नाट्य गीतों के बाद 'युगान्त' से पन्त की काव्य धारा बदल गई। अतः गीत काव्य के क्षेत्र में निराला और महादेवी के गीत ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। निराला के अधिकाँश गीतों में उनकी कला अभिव्यक्ति के प्रति जिनकी सचेष्ट है उतनी अभिव्यक्ति के प्रति तन्मयता नहीं है। उनकी 'गीतिका' के गीतों में रागात्मक उत्तेजना के स्थान पर सांकेतिक अभिव्यंजना गहरी हो गई है, तन्मयता के बजाय संगीतात्मकता का प्राधान्य है। महादेवी के गीत सहज गतिशीलता, आत्म विस्मृति, भाव-विदग्धता और संगीत में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी रचनाओं में वाणी की प्रधानता और चित्रात्मकता का अनोखा सौन्दर्य है, इसलिए उनमें रस और सौन्दर्य का अपूर्व सम्मिलन घटित हुआ है। पन्त में प्रगीतात्मक सामर्थ्य अद्भुत है, गीत प्रतिभा अपेक्षाकृत कम। शब्द-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, लाक्षणिक वैभव, ध्वन्यात्मकता आदि में पन्त अप्रतिम हैं किंतु

जिस तीव्र आत्मानुभूति से गीत कविता का जन्म होता है, पन्त में उसका अभाव है।

प्रसाद और निराला आधुनिक गीत युग के दो छोर हैं—महादेवी बीच की कड़ी।

इन कवियों ने प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अत्यन्त भावुक गीतों का निर्माण किया है। प्रकृति को सचेतन रूप में देखने वाले कवियों में पन्त और महादेवी प्रमुख हैं। दिनकर, नवीन, नेपाली, अंचल, सुमन, रांगेय-राघव आदि कवियों के गीतों में देश-प्रेम और नव-जागरण का स्वर प्रबल है। इनमें आवेश की प्रधानता है। प्रसाद और पन्त में आवेश के स्थान पर सांस्कृतिक एवं कोमल भावनाओं का ही प्रकाशन हुआ है जो गीतकाव्य का सार है।

हमारे छायावादी गीतों पर अंग्रेज़ी के कवियों, विशेषकर वर्डस्वर्थ, शेली कीट्स, वायरन आदि का विशेष प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के फलस्वरूप मानव एवं प्रकृति-प्रेम से सम्बन्धित गीतों का विकास हुआ। साथ ही नारी प्रेम का समावेश भी इसी काल में हुआ है। नारी के सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण तो पहले भी हुआ करता था, परन्तु उस चित्रण में प्रगीतात्मकता नहीं आने पाई थी। नारी के सौन्दर्य, स्वभाव, कोमलता, करुणा, शान्ति, सहनशीलता एवं संवेदनशीलता आदि गुणों की ओर संकेत करते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति इस युग में हुई अवश्य परन्तु प्रधान आकर्षण नारी के रूप सान्दर्य का ही रहा।

'बच्चन' की 'मधुशाला' एक भिन्न प्रकार के मस्ती और खुमार से भरे हुए गीतों को लेकर आई परन्तु यह खुमार शीघ्र ही समाप्त हो गया। इसके पश्चात् उनके 'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' आदि में सुन्दर स्वस्थ एवं संयत गीतों के दर्शन हुए। इनके अतिरिक्त उदयशङ्कर भट्ट, रमाशङ्कर शुक्ल, तारा पांडेय, नरेन्द्र, आरसी, केसरी, सुमन, सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र, नेपाली, अंचल, धर्मवीर भारती आदि अच्छे गीतकार हैं। इनमें कुछ छाया-वादी हैं और कुछ प्रगतिवादी तथा अन्य प्रयोगवादी। युवक वर्ग अधिकांशतः प्रगतिवादी है। प्रगतिवादी और छायावादी गीतों में प्रधान अन्तर यह है कि आज वासना नग्न रूप में झाँकने लगी है जबकि छायावाद में उस पर कला का आवरण पड़ा हुआ था। आज के गीतों में कला का स्तर ऊँचा नहीं है।

गीतकाव्य का विवेचन करते हुए प्रसिद्ध आलोचक हंस कुमार तिवारी ने विभिन्न प्रकार के गीतकारों एवं गीतों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि–

"फिर भी हमें स्वीकार करना पड़ता है कि गीत-कविता अपने चरमोत्कर्ष पर अभी नहीं पहुँची है। उसमें जिस सर्वजन-संवेद्य विशेषता की अनिवार्यता है वह गुण अभी इसमें नहीं आ पाया है, न संवेदनीयता में, न संगीतात्मकता में। अतएव अभी हमें उस दिन की अपेक्षा है, जब गीति-कविता लोक-जीवन से मिल जाय और कवियों की वाणी जन-जन के अधरों पर थिरक उठे।"

—: o :—

१८— हिंदी पत्र-पत्रिकाएँ

पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि से आज हिन्दी भाषा समृद्ध मानी जाती है। हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने अपने सवा सौ वर्ष के जीवन में काफी प्रगति की है। आज तो पत्रों की इतनी भरमार है कि प्रत्येक शहर में प्रति मास दो चार पत्रों का प्रकाशन आरम्भ होता है और दो चार किसी अभाव के कारण बन्द हो जाते हैं। यह सभी जानते हैं कि पत्र-पत्रिकाएँ हमारे सामाजिक जीवन को कितना प्रभावित करती हैं। हम देश-विदेश की प्रत्येक हलचल का नवीनतम लेखा-जोखा उन्हीं के द्वारा प्राप्त करते हैं। छोटे-छोटे नगरों में तो पत्रों की पहुँच केवल शिक्षित वर्ग तक ही रहती है। अन्य वर्ग वाले पत्र खरीदना पैसे का अपव्यय मानते हैं परन्तु कलकत्ता, बम्बई जैसे विशाल नगरों में निम्न कोटि के व्यक्ति भी, जो अटक-अटक कर पढ़ पाते हैं, अखबार लिए हुऐ दिखाई देते हैं। यह सामाजिक चेतना का प्रतीक है। अतः जिस प्रकार हम अपने साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका ऐतिहासिक विकास देखते हैं उसी प्रकार पत्रों का ऐतिहासिक विकास सम्बन्धी ज्ञान भी हमारे साहित्यिक ज्ञान की अभिवृद्धि में सहायक हो सकता है क्योंकि पत्र-पत्रिकाएँ हमारे साहित्य का एक अत्यन्त उपयोगी एवं समृद्ध अङ्ग हैं।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत करने का सर्व प्रथम श्रेय बाबू राधाकृष्णदास को है। उन्होंने हिन्दी के 'सामाजिक पत्रों का इतिहास' नामक पुस्तक लिखकर इस दिशा में सर्वप्रथम पग बढ़ाया था। इसके उपरांत बाबू बालमुकुन्द गुप्त के विभिन्न लेखों के संग्रहीत रूप 'गुप्त निबंधावली' के द्वारा इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा। उसमें गुप्तजी द्वारा प्रस्तुत लगभग १५ उर्दू अखबारों एवं २५ हिंदी अखबारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उपर्युक्त दोनों सूत्रों के आधार पर हिन्दी संसार राजा शिवप्रसाद द्वारा प्रकाशित 'बनारस अखबार' (सन् १८४५) को हिन्दी का सर्व प्रथम अखबार मानने लगा था परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'उदन्त मार्तन्ड' को हिन्दी का सर्वप्रथम अखबार मानते हैं, जिसका प्रकाशन ३० मई, १८२६ को श्री जुगलकिशोर शुक्ल के सम्पादकत्व में हुआ था। 'उदन्त मार्तन्ड' हिन्दी का सर्वप्रथम समाचार-पत्र था इसका प्रमाण उसकी प्रारम्भिक विज्ञप्ति है—"यह उदन्त मार्तन्ड अब पहले पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेतु जो आज तक किसी ने नहीं चलाया

पर अंग्रेजी ओ फारसी ओ बंगले में जो समाचार का कागज छपत है उसका सुख उन बोलियों के जानने ओ पढ़ने वालों को ही होता है इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेय ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषा को उपज न छोड़े, इसलिए बड़े दयावान करुणा और गुणीन के निधान सब के कल्यान के विषय गवरनर जेनरुल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाठ ठाटा……।"

इस पत्र में खड़ी बोली का उल्लेख 'मध्यदेशीय भाषा' के नाम से किया गया है। लगभग एक वर्ष से कुछ अधिक चलकर यह पत्र धनाभाव, ग्राहकाभाव और सरकारी सहायता न मिलने के कारण बन्द हो गया। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असम्भव था।

हिन्दी के इस प्रथम समाचार पत्र से पूर्व अन्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओं में कुछ पत्रों का निकलना प्रारम्भ हो चुका था। सन् १८१० में कलकत्ते से 'हिन्दुस्तानी' नामक एक लिथो-पत्र निकला। १८१६ में बंगला का प्रथम पत्र 'बंगाल गजेट' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् १८१८ में श्रीरामपुर के पादरियों के प्रसिद्ध समाचार-पत्र 'समाचार के दर्शन' हुए। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के अनुसार सन् १८३३ में उर्दू का पहता अखबार दिल्ली से प्रोफेसर मुहम्मद हुसैन आजाद के पिता द्वारा निकाला गया जिसके नाम का पता नहीं चलता। परन्तु डाक्टर रामरतन भटनागर के अनुसार सन् १८२३ में 'शम्शुल अखबार' का प्रकाशन हो चुका था। सबसे प्रसिद्ध और पहले प्रकाशित उर्दू अखबारों में लाहौर के 'कोहेनूर' का विशेष महत्व है। इसका प्रकाशन १८५० में हुआ था। इस पत्र ने थोड़े ही दिनों में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त करली थी। इससे भी पूर्व दिल्ली के 'उर्दू अखबार' ने, जो १८३३ में प्रकाशित हुआ था, विशेष प्रसिद्धि पाई थी। १८२७ में मराठी के प्रथम पत्रों का इतिहास भारत की अन्य भाषाओं कें समाचार पत्रों के साथ ही प्रारम्भ होता है।

हिंदी पत्रों के विकास का अध्ययन करने के लिए उसके इतिहास को निम्नलिखित पाँच युगों में विभाजित किया जा सकता है—

१—पूर्व भारतेन्दु युग—(सन् १८२६ से १८६७ तक)
२—भारतेन्दु युग—(सन् १८६७ से १८८५ तक)
३—उत्तर भारतेन्दु युग—(सन् १८८५ से १९०३)
४—द्विवेदी युग—(सन् १९०३ से १९२० तक)
५—वर्तमान युग—(सन् १९२० से आज तक)

१—पूर्व भारतेन्दु युग (सन् १८२६-१८६६)—हिन्दी के सर्व प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके उपरान्त सन्

१६२६ में कलकत्ते से 'बंगदूत' निकला । इसके सम्पादक नीलरत्न हलदार थे । यह साप्ताहिक था जिसका प्रकाशन प्रति रविवार को होता था । इसके उपरान्त दूसरा उल्लेख योग्य पत्र बनारस से राजा शिवप्रसाद की प्रेरणा से सन् १८४५ में 'बनारस अखबार' नामक निकला । यह रद्दी कागज पर लिथो द्वारा छापा जाता था । एक महाराष्ट्री सज्जन गोविन्द रघुनाथ अत्ते इसके सम्पादक थे । इसकी भाषा में हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी रहती थी । सन् १८४६ में मौलवी नासुरुद्दीन के सम्पादकत्व में 'मार्तण्ड' नामक एक पत्र हिंदी उर्दू, बंगला, फारसी और अंग्रेजी में एक साथ निकाला गया । इसके तीन वर्ष बाद १८४६ में 'मालवा अखबार' नामक एक साप्ताहिक पत्र हिंदी-उर्दू में एक साथ प्रकाशित हुआ ।

"जिस प्रकार गद्य लिखने की नींव आधुनिक हिंदी में उर्दू गद्य से दो एक साल ही पीछे पड़ी, वैसे ही समाचार पत्र की नींव भी दो चार साल बाद ही पड़ गई थी ।" (बालमुकुन्द गुप्त) गुप्त जी ने उपर्युक्त बात लाहौर के 'कोहेनूर' और बनारस के 'सुधाकर' नामक पत्र का एक साथ ही प्रकाशन देख कर कही थी । 'सुधाकर' का सम्पादन तारामोहन मित्र नामक एक बंगाली सज्जन ने किया था । 'सुधाकर' यद्यपि बहुत दिन नहीं चल सका फिर भी अपनी एक अमर यादगार छोड़ गया—वह हैं काशी के प्रसिद्ध जोतिर्विद् महामहोपाध्याय स्वर्गीय पंडित सुधारक द्विवेदी । कहा जाता है कि जिस दिन सुधाकर द्विवेदी का जन्म हुआ था उसी दिन डाकिये ने सुधाकर पत्र का पहला नम्बर लाकर जिस समय दिया था उसी समय घर के भीतर से सुधाकर जी के चाचा को भतीजा होने का शुभ समाचार सुनाया गया था । इसलिए उन्होंने पत्र के नाम पर भतीजे का नाम सुधाकर रखा था ।

सुधाकर का प्रकाशन 'बनारस अखबार' की भाषा-नीति के विरोध में किया गया था । इसी वर्ष कलकत्ता से जुगल किशोर शुक्ल के सम्पादन में 'साम्यदण्ड मार्तन्ड', सन् १८५२ ने सदासुखलाल के सम्पादन में 'बुद्धिप्रकाश' और सन् १८५३ में ग्वालियर से लक्ष्मणप्रसाद के सम्पादन में 'ग्वालियर गजट' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ । इसके उपरान्त १८५४ में कलकत्ता से हिंदी का सर्वप्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' का प्रकाशन श्यामसुन्दर सेन के सम्पादन में हुआ । १८५४ से १८६० तक हिंदी में किसी भी पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ नहीं किया गया । १८६१ में पुनः हिंदी के ६ समाचार पत्र निकले । इसी वर्ष आगरा से राजा लक्ष्मण सिंह ने 'प्रजा-हितैषी' निकाला । 'सुधाकर' और 'प्रजाहितैषी' की भाषा विषयक नीति 'बनारस अखबार' की विरोधी

पर अंग्रेजी ओ फारसी ओ बंगले में जो समाचार का कागज छपत है उसका सुख उन बोलियों के जानने ओ पढ़ने वालों को ही होता है इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेय ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषा को उपज न छोड़े, इसलिए बड़े दयावान करुणा और गुणीन के निधान सब के कल्यान के विषय गवरनर जेनरल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाठ ठाटा......।"

इस पत्र में खड़ी बोली का उल्लेख 'मध्यदेशीय भाषा' के नाम से किया गया है। लगभग एक वर्ष से कुछ अधिक चलकर यह पत्र धनाभाव, ग्राहकाभाव और सरकारी सहायता न मिलने के कारण बन्द हो गया। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असम्भव था।

हिन्दी के इस प्रथम समाचार पत्र से पूर्व अन्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओं में कुछ पत्रों का निकलना प्रारम्भ हो चुका था। सन् १८१० में कलकत्ते से 'हिन्दुस्तानी' नामक एक लिथो-पत्र निकला। १८१६ में बंगला का प्रथम पत्र 'बंगाल गजेट' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् १८१८ में श्रीरामपुर के पादरियों के प्रसिद्ध समाचार-पत्र 'समाचार के दर्शन' हुए। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के अनुसार सन् १८३३ में उर्दू का पहता अखबार दिल्ली से प्रोफेसर मुहम्मद हुसैन आजाद के पिता द्वारा निकाला गया जिसके नाम का पता नहीं चलता। परन्तु डाक्टर रामरतन भटनागर के अनुसार सन् १८२३ में 'शम्शुल अखबार' का प्रकाशन हो चुका था। सबसे प्रसिद्ध और पहले प्रकाशित उर्दू अखबारों में लाहौर के 'कोहेनूर' का विशेष महत्व है। इसका प्रकाशन १८५० में हुआ था। इस पत्र ने थोड़े ही दिनों में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त करली थी। इससे भी पूर्व दिल्ली के 'उर्दू अखबार' ने, जो १८३३ में प्रकाशित हुआ था, विशेष प्रसिद्धि पाई थी। १८२७ में मराठी के प्रथम पत्रों का इतिहास भारत की अन्य भाषाओं के समाचार पत्रों के साथ ही प्रारम्भ होता है।

हिंदी पत्रों के विकास का अध्ययन करने के लिए उसके इतिहास को निम्नलिखित पाँच युगों में विभाजित किया जा सकता है—

१—पूर्व भारतेन्दु युग—(सन् १८२६ से १८६७ तक)
२—भारतेन्दु युग—(सन् १८६७ से १८८५ तक)
३—उत्तर भारतेन्दु युग—(सन् १८८५ से १९०३)
४—द्विवेदी युग—(सन् १९०३ से १९२० तक)
५—वर्तमान युग—(सन् १९२० से आज तक)

१—पूर्व भारतेन्दु युग (सन् १८२६-१८६६)—हिन्दी के सर्व प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके उपरान्त सन्

१८२९ में कलकत्ते से 'बंगदूत' निकला। इसके सम्पादक नीलरत्न हलदार थे। यह साप्ताहिक था जिसका प्रकाशन प्रति रविवार को होता था। इसके उपरान्त दूसरा उल्लेख योग्य पत्र बनारस से राजा शिवप्रसाद की प्रेरणा से सन् १८४५ में 'बनारस अखबार' नामक निकला। यह रद्दी कागज पर लिथो द्वारा छापा जाता था। एक महाराष्ट्री सज्जन गोविन्द रघुनाथ अत्ते इसके सम्पादक थे। इसकी भाषा में हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी रहती थी। सन् १८४६ में मौलवी नासुरुद्दीन के सम्पादकत्व में 'मार्तण्ड' नामक एक पत्र हिंदी उर्दू, बंगला, फारसी और अंग्रेजी में एक साथ निकाला गया। इसके तीन वर्ष बाद १८४९ में 'मालवा अखबार' नामक एक साप्ताहिक पत्र हिंदी-उर्दू में एक साथ प्रकाशित हुआ।

"जिस प्रकार गद्य लिखने की नींव आधुनिक हिंदी में उर्दू गद्य से दो एक साल ही पीछे पड़ी, वैसे ही समाचार पत्र की नींव भी दो चार साल बाद ही पड़ गई थी।" (बालमुकुन्द गुप्त) गुप्त जी ने उपर्युक्त बात लाहौर के 'कोहेनूर' और बनारस के 'सुधाकर' नामक पत्र का एक साथ ही प्रकाशन देख कर कही थी। 'सुधाकर' का सम्पादन तारामोहन मित्र नामक एक बंगाली सज्जन ने किया था। 'सुधाकर' यद्यपि बहुत दिन नहीं चल सका फिर भी अपनी एक अमर यादगार छोड़ गया—वह हैं काशी के प्रसिद्ध जोतिर्विद् महामहोपाध्याय स्वर्गीय पंडित सुधारक द्विवेदी। कहा जाता है कि जिस दिन सुधाकर द्विवेदी का जन्म हुआ था उसी दिन डाकिये ने सुधाकर पत्र का पहला नम्बर लाकर जिस समय दिया था उसी समय घर के भीतर से सुधाकर जी के चाचा को भतीजा होने का शुभ समाचार सुनाया गया था। इसलिए उन्होंने पत्र के नाम पर भतीजे का नाम सुधाकर रखा था।

सुधाकर का प्रकाशन 'बनारस अखबार' की भाषा-नीति के विरोध में किया गया था। इसी वर्ष कलकत्ता से जुगल किशोर शुक्ल के सम्पादन में 'साम्यदण्ड मार्तन्ड', सन् १८५२ ने सदासुखलाल के सम्पादन में 'बुद्धिप्रकाश' और सन् १८५३ में ग्वालियर से लक्ष्मणप्रसाद के सम्पादन में 'ग्वालियर गजट' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके उपरान्त १८५४ में कलकत्ता से हिंदी का सर्वप्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' का प्रकाशन श्यामसुन्दर सेन के सम्पादन में हुआ। १८५४ से १८६० तक हिंदी में किसी भी पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ नहीं किया गया। १८६१ में पुनः हिंदी के ६ समाचार पत्र निकले। इसी वर्ष आगरा से राजा लक्ष्मण सिंह ने 'प्रजा-हितैषी' निकाला। 'सुधाकर' और 'प्रजाहितैषी' की भाषा विषयक नीति 'बनारस अखबार' की विरोधी

थी। उस समय के अधिकाँश पत्र आगरा से प्रकाशित होते थे क्योंकि आगरा उन दिनों (और आज भी) शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र था। सन् १८६६ में गुलाब-शंकर के सम्पादन में 'तत्व बोधिनी' का प्रकाशन हुआ।

साधारणतया उस युग में उर्दू पत्रों की भरमार थी। उर्दू पत्रों में कहीं कहीं हिन्दी का भी कुछ अंश छाप दिया जाता था। सरकार की हिंदी-विरोधी नीति के कारण हिन्दी पत्रों की बिक्री बहुत कम हो पाती थी। दूसरी बात यह थी कि उस समय तक हिंदी पत्रकार भाषा-शैली के सम्बन्ध में किसी निश्चित दिशा का अनुकरण नहीं कर सके थे। इनके पत्रों की भाषा अस्थिर और प्रकाशन अव्यवस्थित रहता था। समाचार भी ठीक ढंग और नियमित रूप से नहीं छापे जाते थे। इसी कारण उस समय उर्दू पत्र जनता में अधिक लोकप्रिय थे। इसलिए इस युग को हम हिंदी पत्रों का प्रयोग काल कह सकते हैं। भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी पत्रों का जन्म हो चुका था पर वातावरण और सहायकों के अभाव के कारण वे न पनप सके।

२—**भारतेन्दु युग—(सन १८६७—१८८५)**—इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। सन् १८६७ में भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसे हम हिन्दी का सबसे प्रथम महत्वपूर्ण पत्र कह सकते हैं। इस पत्रिका से कुछ दिन पूर्व ही 'वृत्तान्तविलास' (१८६७) और ज्ञान दीपक' (१८६६) का प्रकाशन चल रहा था परन्तु भाषा, कला और पत्रकारिता की दृष्टि से इनका कोई विशेष मूल्य नहीं था। पहले पहल 'कवि-वचन सुधा' में केवल कवियों की रचनाएँ ही प्रकाशित होती थीं, समाचार नहीं छापे जाते थे। परन्तु जब आगे चलकर इसका रूप साप्ताहिक हो गया तो इसमें विभिन्न निबन्धों और समाचारों को भी स्थान मिलने लगा। इसके अनु-करण पर 'हिन्दू-बान्धव' और 'ज्ञान प्रदायिनी' आदि प्रकाशित हुए परन्तु अस-फल रहे। सन् १८७३ में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का प्रकाशन हुआ। 'कविवचन सुधा' से लेकर 'हरिचन्द्र मैगजीन' तक भारतेन्दु भाषा-शैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग खोजते रहे। परन्तु आठ संख्याओं के बाद यह भी बन्द हो गई। सन् १८७३ में ही भारतेन्दु ने 'बाल बोधिनी' निकाली। यह केवल सरकारी सहायता से ही कुछ दिन चल सकी फिर बन्द कर देनी पड़ी। सन् १८७४ में 'श्री हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' एवं 'स्त्रीजन की प्यारी' का प्रकाशन कराया गया। इन पत्रों में सरकार के विरुद्ध सैकड़ों लेख, कविता एवं टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं। 'कविवचन सुधा' के पंच पर रुष्ट होकर काशी के मजिस्ट्रेट ने भारतेन्दु के पत्रों को **शिक्षा-विभाग** के लिए खरीदने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। भारतेन्दु की इस निर्भीकता ने उस काल के अनेक पत्रों को प्रोत्साहित किया था।

सन् १८७४ में लाला श्री निवासदास ने दिल्ली से 'सदादर्श' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। १८७६ में 'काशी पत्रिका' निकली। सन् १८७७ का साल हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में विशेष महत्व रखता है। इसी वर्ष बालकृष्ण भट्ट का 'हिंदी प्रदीप', लाहौर से 'मित्रविलास' एवं पं० रुद्रदत्त शर्मा के सम्पादन में 'भारत मित्र' का प्रकाशन हुआ। 'हिंदी-प्रदीप' का नामकरण भारतेन्दु ने किया था। यह लगभग ३३ वर्ष तक चलता रहा। १८७८ में दुर्गाप्रसाद मिश्र ने 'उचित कला' एवं सदानन्द मिश्र ने कलकत्ते से 'सार सुधानिधि' नामक पत्र निकाले। १८७९ में उदयपुर राज्य के संरक्षण में 'सज्जन कीर्त्ति सुधाकर', १८८० से खड्गविलास प्रेस से रामदीनसिंह के सम्पादन में 'क्षत्रिय पत्रिका', १८८१ में प्रेमघन की 'आनन्द कादम्बिनी' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। पुस्तकों की आलोचना सर्व प्रथम 'आनन्द कादम्बिनी' में ही निकली थी। १८८२ में अम्बिकादत्त व्यास की 'वैष्णव पत्रिका' के दर्शन हुए। १८८३ में प्रताप नारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' निकाला जो परिष्कृत भाषा एवं हास्यव्यंग के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय बन गया। १८८५ में द्वितीय दैनिक पत्र 'हिन्दुस्तान' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसी वर्ष कानपुर से 'भारतोदय' का भी जन्म हुआ। इस काल में असंख्य पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन एवं धुरन्धर विद्वानों के सहयोग से इस कला की खूब उन्नति हुई फिर भी उसमें परिपक्वता आने में अभी देर थी।

३—उत्तर-भारतेन्दु-काल—(१८८५-१९०३)—१८८५ में शिवदत्त की 'काव्यामृतवर्षिणी', कानपुर के भारतोदय (दैनिक), १८८९ में अजमेर के 'राजस्थान समाचार' के दर्शन हुए। राजस्थान समाचार स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों का प्रचारक पत्र था। १८९० में बूँदी से रामप्रताप शर्मा के सम्पादन में 'सर्व हित' निकला। यह पत्र भाषा, साहित्य, धर्म एवं समाज विषयक सुन्दर सामग्री से परिपूर्ण रहता था। इसी वर्ष बाबू कृष्णचन्द बैनर्जी ने 'हिंदी बंगवासी' (साप्ताहिक) निकाला जिसकी भाषा-शैली बंगला से प्रभावित थी। कुछ समय तक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने भी इसका सम्पादन किया था। १८३३ में मिर्जापुर से प्रेमघन जी का 'नागरी नीरद', १८९६ में बम्बई से 'वेङ्कटेश्वर समाचार' एवं आगरा से ठाकुर हनुमन्तसिंह के 'राजपूत' का उदय हुआ। इनमें से 'राजपूत' बहुत दिनों तक चलता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में स्त्री-समस्या और शिक्षा पर भी कुछ सुन्दर पत्र निकले जिनमें 'सुगृहिणी' एवं 'भारत भगिनी' क्रमशः १८८८ और १८८९ में प्रकाशित हुए। ये दोनों ही पत्रिकाएँ प्रयाग से निकली थीं।

भारतेन्दु युग और उत्तर भारतेन्दु युग में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रि-

काओं की संख्या लगभग ३००, ३५० के है। इनमें अधिकांश मासिक और साप्ताहिक हैं। मासिक पत्रों में निबन्ध, उपन्यास, वार्ता आदि के रूप में सुन्दर साहित्यिक सामग्री का प्रकाशन हुआ। साप्ताहिक पत्रों में समाचारों और उन पर महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं। उस समय दैनिक पत्रों की अधिक माँग नहीं थी। इन सम्पूर्ण पत्रों ने उस काल में जनता में जागृति फैलाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था। इस सम्पूर्ण काल का आदर्श भारतेन्दु की पत्रकारिता थी। सब उनसे प्रभावित थे। इस काल में १८९५ में काशी से प्रकाशित होने वाली 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का साहित्यिक क्षेत्र में विशेष स्थान है। इसमें गम्भीर साहित्य-समीक्षा का प्रारम्भ हुआ। इसलिए डा० रामरतन भटनागर इसे एक 'निश्चित प्रकाश-स्तम्भ' मानते हैं। इस काल में हमारी पत्रकार कला का अनेक दिशाओं में विकास हुआ। प्रारम्भिक पत्र शिक्षा प्रचार और धर्म-प्रचार तक ही सीमित थे। भारतेन्दु ने सामाजिक, राजनीतिक एव साहित्यिक विचारधाराओं को विकास दिया। धर्म के क्षेत्र में आर्य समाज और सनातन धर्म के प्रचारक विशेष प्रयत्नशील थे। ब्रह्मसमाज और राधास्वामी मत का प्रचार करने वाले भी कुछ पत्र इस काल में निकले। मिर्जापुर जैसे ईसाई केन्द्रों से ईसाई मत का प्रचार करने वाले कुछ पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इन सभी पत्रों का,आज के युग में, जब कि हमारी पत्रकार कला उन्नति के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न कर रही है, विशेष महत्व नहीं प्रतीत होता। परन्तु इन्हीं पत्रों ने हिन्दी की गद्य शैली को पुष्ट करने एवं जनता में जीवन की नवीन ज्योति भरने का सराहनीय कार्य किया था। इस दृष्टि से इनका महत्व अक्षुण्ण रहेगा।

इनमें से आज वही पत्र हमारे साहित्यिक इतिहास के क्रमिक विकास में विशेष महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने भाषा, शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में विशेष कार्य किया है। साहित्यिक दृष्टि से इस काल के पत्रों में हिन्दी प्रदीप ब्राह्मण, क्षत्रिय पत्रिका, आनन्द-कादम्बिनी, भारतेन्दु, देवनागरी प्रचारक, नागरी नीरद, साहित्य-सुधानिधि आदि का विशेष महत्व है। राजनीतिक दृष्टि से भारत मित्र, सार-सुधानिधि, हिन्दुस्तान, भारत जीवन, भारतोदय और हिंदी बंगवासी उल्लेखनीय हैं। "इन पत्रों में हमारे १९ वीं शताब्दी के साहित्य-रसिकों, हिन्दी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिंतकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है।" बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानन्द मिश्र, रुद्रनाथ शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास और बालमुकुन्द गुप्त जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबन्ध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास-परिहास और स्केच आज हमें अलभ्य हो रहे हैं। इतने जीवट के पत्रकार हमें बीसवीं

शताब्दी में भी नहीं दिखाई देते। आज भी हमारे पत्रकार इनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।"

(डा० रामरत्न भटनागर)

४—**द्विवेदी युग**—(१९०३-१९२०)—सन् १९०३ में 'सरस्वती' मासिक का प्रकाशन रत्नकार जी तथा श्यामसुन्दरदास के सम्पादन में प्रारम्भ हुआ। प्रकाशन के कुछ दिनों ही बाद इसका सम्पादन-भार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सुदृढ़ कन्धों पर आ गया जिसने हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित किया। इस समय तक हिंदी लेखकों और पाठकों दोनों का ही एक प्रकार से अभाव सा था। फलस्वरूप 'सरस्वती' में लगभग एक वर्ष तक द्विवेदी जी को ही सम्पूर्ण लेख लिखने पड़े। हिंदी की इस निर्धनता की ओर उन्होंने हिंदी प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया और नवीन लेखकों को उत्साहित एवं प्रेरित कर अनेक आलोचक, नाटककार, कवि, उपन्यास लेखक, कहानीकार एवं निबन्ध लेखक उत्पन्न किए। मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, निराला, प्रसाद रायकृष्णदास, गणेशशङ्कर विद्यार्थी आदि साहित्यकार एवं पत्रकार द्विवेदीजी की प्रेरणा से उत्साहित होकर आगे आये। इस काल में आकर हिंदी-पत्रकारिता के स्वरूप एवं स्तर में बहुत परिवर्तन होगया। उन्नीसवीं सदी की पत्रकारिता की विविधता और बहुरूपता का इसमें विकास हुआ। उन्नीसवीं सदी के पत्रकारों को एक अव्यवस्थित भाषा-शैली का सहारा लेकर ही आगे बढ़ना पड़ा था। जनता में उस समय हिन्दी के प्रति अभिरुचि न्यून थी। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और बीसवीं सदी तक आते-आते हिंदी पत्र साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में नेतृत्व करने लगे। इस सदी में धार्मिक और सामाजिक सुधार के आन्दोलन पीछे पड़ गये। राजनीतिक और साहित्यिक चेतना ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। भारतीय जीवन में उस समय तक राष्ट्रीय चेतना भली प्रकार विकसित हो चुकी थी अतः हिन्दी पत्र इस चेतना के अग्रदूत बन कर आगे बढ़े।

सन् १९०७ में 'अभ्युदय' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो पहले अर्द्ध साप्ताहिक और फिर प्रथम महायुद्ध के दौरान में दैनिक के रूप में प्रकाशित होने लगा। १९०९ में प्रयाग से राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले कर्मयोगी, एवं प्रसादजी के प्रयत्न से पंडित रूपनारयण पाण्डेय के सम्पादन में 'इन्दु' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। १९१३ में कानपुर से अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' निकाला। इसी के आदर्श से प्रेरित होकर 'कर्मवीर', 'स्वराज्य', 'सैनिक संदेश और 'नवशक्ति' का प्रकाशन हुआ। १९१४ में कलकत्ते के कुछ मारवाड़ी सज्जनों के प्रयत्न से 'कलकत्ता समाचार' निकला। १९१७ में मूलचन्द अग्रवाल

ने दैनिक 'विश्व-मित्र' को जन्म दिया। इसके पूर्व १९१५ में प्रयाग की विज्ञान परिषद ने 'विज्ञान' एवं साहित्य सम्मेलन ने १९११ में 'सम्मेलन पत्रिका' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था।

इसी काल में शृङ्खलित उपन्यास-कहानी के रूप में कई पत्र प्रकाशित हुए जैसे—'उपन्यास' (१९०१), हिन्दी नाविल (१९०१), उपन्यास लहरी (१९०२), उपन्यास सागर (१९०३), उपन्यास बहार (१९०७), एवं उपन्यास प्रचार (१९१२)। समालोचना के क्षेत्र में 'समालोचक' (१९०२) और ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित 'इतिहास' (१९०५) प्रकाशित हुए। इन पत्रों का दृष्टिकोण एकांगी था। 'सरस्वती' विविध विषयों एवं स्तम्भों के साथ आगे बढ़ी थी इस कारण उसे सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। इससे उत्साहित होकर और 'सरस्वती' को आदर्श मानकर कुछ और मासिक पत्र निकले जिनमें 'भारतेन्दु' (१९०५), 'नागरी हितैषिणी पत्रिका' १९०५), 'नागरी प्रचारक' (१९०६) और 'इन्दु' (१९०९) प्रमुख हैं। साहित्यिक चेतना की दृष्टि से इस युग का नेतृत्व 'सरस्वती' और 'इन्दु' के हाथों में था। "एक तरह से हम उन्हें उस युग की साहित्यिक पत्रकारिता का शीर्षमणि कह सकते हैं।" इन दोनों ने हिंदी पत्रकारिता को एक नई दिशा की ओर उन्मुख किया।

इस काल में हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ साहित्यिक क्षेत्र में तो नेतृत्व ग्रहण किए रहीं परन्तु राजनैतिक क्षेत्र का नेतृत्व हिंदी की पत्रिकाओं के हाथों में न रहकर बंगला और मराठी पत्रों के हाथ में था क्योंकि ये दोनों प्रान्त ही उस समय राजनीतिक चेतना के केन्द्र थे। उन्नीसदीं सदी में कलकत्ता के भारतमित्र, बङ्गवासी आदि ही हमारी राजनैतिक चेतना के उचित वक्ता थे। इनमें 'भारतमित्र' का स्थान सर्वोपरि है। जैसे चुभते हुए राजनैतिक व्यंग इस पत्र में निकले वैसे व्यंगों के दर्शन आज भी नहीं होते। ये सम्पूर्ण पत्र कलकत्ता से निकले थे। परन्तु हिंदी-क्षेत्र में भी अभ्युदय, प्रताप, कर्मयोगी, हिंदी केसरी आदि पत्रों ने राजनैतिक क्षेत्र में आगे कदम बढ़ाया था। प्रथम महायुद्ध के दौरान में कई दैनिक हिंदी पत्रों का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। जैसे—कलकत्ता समाचार, स्वतंत्र, विश्वमित्र, बेंकटेश्वर समाचार, विजय आदि।

५—वर्तमान युग— (सन् १९२० से आज तक) १९२० के लगभग महात्मा गाँधी द्वारा राजनैतिक नेतृत्व ग्रहण करते ही भारत में नव-जीवन की लहर दौड़ गई। फलस्वरूप १९२१ से हिंदी पत्रकारिता ने भी करवट बदली। राष्ट्रीय चेतना और साहित्यिक नवीन चेतना का प्रकाशन इनका प्रधान उद्देश्य बना। इस काल में राजनैतिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में क्राँतिकारी परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन को लाने में हमारे पत्रकारों ने भी अपना महत्वपूर्ण

भाग अदा किया । इसी समय विश्वविद्यालयों में हिंदी को सम्मान पूर्ण स्थान मिला । काँग्रेस ने महात्मा गान्धी के नेतृत्व में हिंदी को भारत की राष्ट्र भाषा घोषित किया । इस भावना से प्रेरित होकर इस युग में कुछ ऐसे कृती सम्पादक सामने आए जिन्हें अँग्रेजी, बङ्गला, मराठी आदि की पत्रकारिता का अच्छा ज्ञान था । फलस्वरूप हिंदी पत्रकारिता का स्तर उन्नत होने लगा । राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ हिन्दी पत्रों के सम्मान एवं महत्व में भी वृद्धि होने लगी । राष्ट्रीय आन्दोलन को ग्रामीणों एवं श्रमिकों तक पहुँचाने में इन्होंने बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई । इससे रुष्ट हो कर अँग्रेजी सरकार ने नए-नए कानून बनाकर हिंदी पत्रों की स्वतन्त्रता पर समय-असमय भयंकर आघात किए परन्तु हमारे इस युग के अधिकाँश पत्रकार कर्मठ राष्ट्रसेवी एवं निर्भीक व्यक्ति थे । उन्होंने सरकारी अत्याचारों का दृढ़ता पूर्वक सामना किया और इसके लिए वे लोग किसी भी प्रकार का त्याग करने में किसी से भी पीछे नहीं रहे ।

सन् १९२१ में नवलकिशोर प्रेस (लखनऊ) से माधुरी का प्रकाशन आरम्भ हुआ । इसका सम्पादन भार समय-समय पर पं० कृष्णबिहारी मिश्र, प्रेमचन्द, मातादीन शुक्ल जैसे प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों ने उठाया । कुछ समय तक माधुरी का स्थान हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में अत्यन्त सम्मानपूर्ण और प्रमुख रहा । माधुरी की लोकप्रियता से प्रभावित होकर 'महारथी', 'श्री शारदा', 'मनोरमा' आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ परन्तु ये कुछ दिन चलकर ही बन्द हो गईं । १९२३ में 'चाँद' निकला । इस पत्र ने अपने राष्ट्रीय विचारों के कारण अत्यन्त प्रसिद्धि पाई और साथ ही भयंकर अत्याचार भी सहे । इसके मारवाड़ी अङ्क ने मारवाड़ी समाज की कुरीतियों का नग्न प्रदर्शन किया और 'फाँसी अंक' ने सरकार को रुष्ट कर दिया । ये दोनों अंक तुरन्त जब्त कर लिए गए । बाद में महादेवी वर्मा के सम्पादन में यह भारतीय महिलाओं का एकमात्र मुखपत्र बन गया । इसके बाद समालोचक (१९२४), चित्रपट (१९२५) का उदय हुआ । १९२६ में 'कल्याण' को जन्म दिया गया जो आज तक हिंदी का सर्वप्रमुख एवं एकमात्र धार्मिक पत्र रहा है । १९२७ में लखनऊ से दुलारेलाल भार्गव ने 'सुधा' निकाली । इसके बाद क्रमशः विशालभारत (१९२८), त्यागभूमि (१९२८), हँस (१९३०), विश्वामित्र (१९३३), रूपाभ (१९३८), साहित्य सन्देश (१९३८), कमला (१९३९), जीवन साहित्य (१९४०), विश्वभारती (१९४२), संगम (१९४२), नया साहित्य (१९४५), पारिजात (१९४५), हिमालय (१९४६), साधना (१९४८), आलोचना (१९५१) आदि मासिक (आलोचना-त्रैमासिक) पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ ।

ये सभी पत्रिकाएँ प्रमुख रूप से साहित्यिक साधना को ही अपना लक्ष्य बनाकर चली हैं। साथ ही इनमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं विभिन्न समसामयिक समस्याओं पर भी लेखादि प्रकाशित होते रहते हैं। हिंदी के अनेक उच्चकोटि के उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ आदि पहले-पहल इन्हीं पत्रों में प्रकाशित होकर फिर पुस्तक के रूप में जनता के सामने आईं।

पिछले कुछ वर्षों से हिंदी में सुन्दर सामग्री से युक्त अनेक मासिक, त्रैमासिक पत्र निकलने प्रारम्भ हुए हैं जिनमें से अजन्ता, कल्पना, ज्ञानोदय, युगचेतना, नयासमाज, अवन्तिका, सरिता, पाटल, आजकल, नई धारा, समाज, राष्ट्रभारती, राष्ट्रवाणी, सुप्रभात, नवनीत, लहर, आदर्श, साहित्यकार आदि मासिक पत्रिकाएँ प्रमुख हैं। त्रैमासिक पत्र भी निकले हैं जैसे परिकल्पा, दर्शन आदि। इनके अतिरिक्त अर्द्धवार्षिक एवं वार्षिक संकलनों के रूप में कुछ नवीन परन्तु नितान्त उपादेय पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा है, जैसे संकेत, निकष, हँस आदि। अनेक अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी अनेक पत्र-पत्रिकाएँ हिंदी में प्रकाशित होने लगी हैं जो हिंदी का राष्ट्रभाषा के रूप में व्यापक प्रचार करने का प्रमुख साधन हैं।

सन् १९५८ में आगरा से प्रसिद्ध हिंदी आलोचक डा० रामविलास शर्मा के सम्पादन में 'समालोचक' नामक एक नवीन साहित्यिक आलोचनात्मक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसने पहला अङ्क 'सौन्दर्यशास्त्र' जैसे गहन एवं हिंदी में अभी तक अछूते समझे जाने वाले विषय पर निकाल कर हिंदी जगत में अपना प्रमुख स्थान बना लिया है। इसका यह विशेषाँक अपने विषय पर एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ के समान उपयोगी एवं लोकप्रिय प्रमाणित हुआ है। इन नवीन प्रयासों को देखते हुए हिंदी पत्रकारिता का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल और महान दिखाई देता है।

हिंदी साहित्य के इतिहास का लिखना तो उपर्युक्त पत्र-पत्रिकाओं के सहयोग के अभाव में नितान्त असम्भव है। सामयिक साहित्यिक गति-विधियों एवं विचारधाराओं का जैसा सुसंगत एवं क्रमिक विकास इनके द्वारा मिलता है वैसा पुस्तकों द्वारा असम्भव है। आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास सरस्वती, इंदु, माधुरी, त्यागभूमि, विशाल भारत, सुधा, हंस और रूपाभ आदि पत्रिकाओं के अभाव में लिखना असम्भव ही है। इसलिए साहित्यिक निर्माण में इनका महत्त्व सर्वाधिक है। इनमें हमें साहित्य का 'सक्रिय, सप्राण, गतिशील रूप' प्राप्त होता है।

इस युग की राजनैतिक-पत्र-पत्रिकाओं में कर्मवीर (१९२४), सैनिक (१९२४), स्वदेश (१९२५), हिन्दू पंच (१९२६), जागरण (१९२९), हिंदी

मिलाप (१९२९), स्वराज्य (१९३१), नवयुग (१९३२), हरिजन सेवक (१९३२), विश्वबन्धु (१९३३), नवशक्ति (१९३४), योगी, (१९३४), हिन्दू (१९३६), देशदूत (१९३८), राष्ट्रीयता (१९३८), लोकवाणी (१९४२), हुँकार (१९४२), संसार (१९४३), सन्मार्ग (१९४३) और विप्लव आदि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इनमें से अधिकाँश साप्ताहिक और शेष मासिक हैं। इनमें उच्चकोटि की सम्पादन कला के दर्शन होते हैं।

दैनिक पत्रों में 'आज' ने हिन्दी दैनिकों का उसी प्रकार पथ प्रदर्शन किया है जिस प्रकार 'सरस्वती' ने मासिक पत्रों का किया था। 'आज' और उसके सम्पादक बाबूराव विष्णुराव पड़ारकर का पत्रिकारिता के क्षेत्र में वही महत्व है जो साहित्यिक क्षेत्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी और सरस्वती का है। 'आज' ने हिन्दी को अनेक नए प्रतिभाशाली पत्रकार दिये हैं। 'आज' से प्रेरित होकर निकलने वाले हिन्दी दैनिकों में सैनिक (१९२८), शक्ति (१९३०), प्रताप (१९३१), नवयुग (१९३१ नवराष्ट्र १९३३), भारत (१९३३), लोकमान्य (१९३३), विश्वमित्र (कलकत्ता १९१७, बम्बई १९३१ एवं दिल्ली १९४१), नवभारत (१९३४), राष्ट्रवाणी (१९४२), संसार (१९४३), नया हिंदुस्तान (१९४४), जयहिन्द (१९४६) और सन्मार्ग (१९४६) महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पत्र और भी महत्वपूर्ण हैं जो किसी से प्रभावित न होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए हैं। इनमें हिन्दुस्तान, अमृतपत्रिका, नवभारत टाइम्स, जन-सत्ता विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से जनसत्ता कुछ ही दिनों चलकर बन्द हो गया। दैनिक पत्रकार-कला का विकास द्वितीय महायुद्ध के दौरान में विशेष रूप से हुआ था। इनके अतिरिक्त प्रत्येक नगर में दो चार स्थानीय दैनिक पत्र निकल रहे हैं जो स्थानीय जनता की मानसिक भूख को शान्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

साप्ताहिक पत्रों में आजकल धर्मयुग, हिन्दुस्तान एवं अनेक दैनिक पत्रों के साप्ताहिक संस्करण विशेष महत्वपूर्ण हैं।

इस युग की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं को हम निम्नलिखित विषयों के अन्तर्गत बाँट सकते हैं—

१—**धार्मिक एवं दार्शनिक**—दयानन्द सन्देश, वैदिक धर्म (सतारा), आर्य-जगत, आर्यावर्त, प्रेम सन्देश, सन्मार्ग, सिद्धान्त (काशी) जिनवाणी, जैन जगत, जैन मित्र, धर्मदूत (सारनाथ), भानूदय (मिशन प्रेस, जबलपुर), अदिति (पाँडेचेरी), कल्पवृक्ष (उज्जैन), गीता धर्म (बनारस), कल्याण, भारभीय संस्कृति, कबीर सन्देश (बाराबंकी), दादू सेवक (जयपुर)।

२—**ऐतिहासिक एवं शोधपत्र**—इतिहास (दिल्ली), नागरी प्रचारिणी

पत्रिका (काशी), शोध पत्रिका (उदयपुर), हिन्दुस्तानी (प्रयाग), भारतीय विद्या (बम्बई) ।

३—**साहित्यिक एवं शैक्षणिक**—जनवाणी (काशी), नया समाज (कलकत्ता), विश्ववाणी (प्रयाग), हंस (काशी), आलोचना (दिल्ली), साहित्य सन्देश (आगरा), आँधी, (काशी), कल्पना (मेरठ), माया (प्रयाग), रानी (कलकत्ता), सरिता, (नई दिल्ली), सुकवि (कानपुर), दृष्टिकोण (पटना), समालोचक (आगरा) ।

४—**राजनीतिक**=अमरज्योति (कानपुर), जीवन-साहित्य (नई दिल्ली) युगधारा (काशी), मजदूर आवाज (दिल्ली), निर्भीक (कोटा), संघर्ष (लखनऊ), विप्लव (लखनऊ), अरुणोदय (इटावा), पाँचजन्य (लखनऊ), चेतना, (काशी), किसान (कानपुर) ।

५—**हास्यरस प्रधान**—चाबुक (कलकत्ता),, नोकझोंक (आगरा) तरंग (काशी) ।

६—**शिक्षा**—शिक्षा (लखनऊ), नई तालीम (वर्धा), शिक्षक बन्धु (अलीगढ़) ।

७—**स्वास्थ्य**—आरोग्य (गोरखपुर), स्वास्थ्य सुधा (नई दिल्ल), जावन सखा (प्रयाग) ।

८—**वैज्ञानिक**—विज्ञान (प्रयाग) ।

९—**अर्थशास्त्र**—अर्थ सन्देश (वर्धा), उद्यम (नागपुर), व्यापार (कलकत्ता), उद्योग (कानपुर) ।

१०—**बालकोपयोगी**—खिलौना (प्रयाग), चमचम (प्रयाग), शिशु (प्रयाग), बालभारती (दिल्ली), चन्दा मामा (मद्रास) ।

११—**स्त्रीयोपयोगी**—कन्या (बनारस) जननी (प्रयाग), जागृत महिला (उदयपुर), दीदी (प्रयाग) ।

१२—**कला, सङ्गीत व सिनेमा**—कलानिधि (काशी) नृत्यशाला (हाथरस) लेखक (प्रयाग), सङ्गीत (हाथरस), सारंग (नई दिल्ली), अभिनय (कलकत्ता), कौमुदी (दिल्ली), रजतपट (बम्बई), सिनेमा (कानपुर), चित्रपट (दिल्ली), रंगभूमि (दिल्ली) हिंदी स्क्रीन (बम्बई) ।

१३—**कानून**—न्याय बोध (नागपुर)

उपर्युक्त विवेचन एवं विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी पत्रकार कला साहित्य के अन्य अङ्गों के समान ही बहुमुखी और समृद्ध है । उसमें मुख्यत: हमारे मध्यवर्गीय समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और

राजनैतिक चेतना का क्रमिक इतिहास है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित चुकी है। कई प्रान्तों में वही एकमात्र राज्य-भाषा है। इससे हिन्दी पत्रकारिता को विशेष प्रोत्साहन मिला है जो उसे निरन्तर विकास पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है।

१६—प्रकृति-चित्रण

प्रकृति और मानव अनादि काल से एक दूसरे के सहयोगी अथवा विरोधी होकर रहते रहे हैं। वे परस्पर लड़े झगड़े भी और मिल कर एक भी हो गये। इस प्रकार प्रकृति मानव की आदि सहचरी है। सृष्टि के उषाकाल में जब आदि मानव ने अपने नेत्र खोले होंगे तो उसको सर्व प्रथम प्रकृति का ही साहचर्य और सहयोग प्राप्त हुआ होगा। "दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रही है। प्रकृति के विविध कोमल-परुष, सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मानव की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है इसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम में मानव जाति का भाव जगत ही नहीं उसके चिन्तन की दिशाएँ भी प्रकृति से विविध रूपात्मक परिचय द्वारा तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।"

(महादेवी वर्मा)

हमारा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इस प्रकृति के विविध रूपों की अवतार कथा है। वैदिक ऋषियों ने उषा, मारुत, इन्द्र, वरुण, सूर्य, चन्द्र, गिरि, सरिता वन, उपवन जैसे सुन्दर गतिशील, जीवनमय और व्यापक प्रकृति रूपों को देख कर आश्चर्यान्वित और भाव विभोर होकर उनकी वन्दना की। सामवेद की ऋचाएँ इसकी साक्षी हैं। परन्तु मानव ने प्रकृति में अलौकिक और विस्मय-कारी रूप को ही एक मात्र नहीं देखा था। बल्कि—"वह प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में अपने लघुतम अस्तित्व पर विचार कर रहा था कि यकायक प्रकृति ने अपना मनोमुग्धकारी रूप पलटा, अगाध जलनिधि ने अपनी फेनिल लहरों को उगलना आरम्भ किया और उसका गम्भीर निनाद मानव के कर्ण कुहरों को विदीर्ण करने लगा। समस्त वातावरण में एक भय और आतंक छा गया। ...... जो कुछ भी सौम्य और सुन्दर था वह रौद्र बन गया।...... मानव भय से कम्पित और जड़ हो गया।...... परन्तु प्रकृति का यह रूप भी स्थायी नहीं रहा, शान्त वातावरण का आभास होने पर मानव ने नेत्रोन्मीलन किया।... उसके हृदय से भय के भाव तिरोहित हो गए। उसने प्रकृति को पुनः चिर सह-चरी के रूप में देखा। सिन्धु, जलद, गिरि, सूर्य, में अन्तर्निहित माँगलिक भावना का भी उसने अनुभव किया। इस प्रकार उसने प्रकृति के उपादानों के

अद्भुत, रौद्र एवं शिव एवं सुन्दर रूपों का अवलोकन कर नवीन भावनाओं को ग्रहण किया।" (डा० किरणकुमारी गुप्ता)।

इस सहज सौन्दर्य बोध के उपरान्त, मानव के हृदय में, जो जिज्ञासा मूलक चिन्ता जागी वह भी प्रकृति को केन्द्र बनाकर घूमती रही। वेदांत का अद्वैत-मूलक सर्ववाद हो या सांख्य का द्वैतमूलक पुरुष-प्रकृतिवाद, सब चिन्तन सरणियाँ प्रकृति के धरातल पर रह कर महाकाश को छूती रहीं। क्रमशः मानव-मस्तिष्क अधिकाधिक विचार शील होता गया। उसकी यह विचार शीलता दो सरणियों में विभक्त हो गई—कवि और वैज्ञानिक! कवि ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया और प्रकृति को अपने आनन्द में उल्लसित एवं कष्ट में विपन्न अनुभव किया। वह मानव हृदय की विभिन्न भावनाओं की क्रीड़ा-भूमि बन गई। वैज्ञानिक ने प्रकृति के मूल में एक सर्वव्यापी चेतना का अनुभव कर उसके रहस्य को समझने का प्रयत्न किया। इसके लिए उसने प्रकृति के वाह्य रूप का अवलोकन कर उसकी संचालिका शक्ति के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। साथ ही उसके मन में प्रकृति से संघर्ष कर उस पर विजय प्राप्त करने की इच्छा भी बलवती हो उठी। प्रकृति और विज्ञान का यह संघर्ष आदिकाल से लेकर अब तक बराबर चला आ रहा है। परन्तु कवि भावुक प्राणी होता है। वह वैज्ञानिक विश्लेषणादि एवं संघर्ष से दूर रहता है। उसका प्रधान उद्देश्य काव्य के माध्यम से अपने मन पर प्रकृति के विभिन्न रूपों के पड़े हुए प्रभावों को ही व्यक्त करना है। इसी कारण काव्य में प्रारम्भ से अब तक प्रकृति का विशिष्ठ स्थान रहा है। भारतीय-काव्य का इतिहास इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

वैदिक-साहित्य का निर्माण प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में हुआ था। आरण्यकों और उपनिषदों में उस ज्ञान का लेखा-जोखा है जो उनके रचयिताओं को प्रकृति के साहचर्य से प्राप्त हुआ था। इस काल तक प्रकृति बहिर्मुखी ही अधिक थी परन्तु परवर्ती काल में वह क्रमशः अधिकाधिक अन्तर्मुखी होती चली गई। परिणाम-स्वरूप सूत्रकाल में साहित्य से उसका बहिष्कार सा हो गया परन्तु संस्कृत के महाकाव्य काल में पुनः उसके स्वरूप के दर्शन हुए। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में अनेक स्थलों पर प्रकृति का अत्यन्त मनोरम चित्रण हुआ है।

बौद्धकाल में भी प्रकृति-वर्णन हुआ। 'मारविजय' में बुद्ध तथा कामविजय के संबंध में प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किए गए हैं। बुद्धजातकों की अनेक घटनाएँ प्रकृति प्राँगण में ही घटित हुई हैं जिनकी पृष्ठभूमि शुद्ध प्रकृति है। गुप्तकाल में प्रकृति-वर्णन एक निश्चित दिशा में आ गया। कालिदास ने

'कुमार सम्भव', 'रघुवंश' एवं 'मेघदूत' में प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र उपस्थित किए। कुमार सम्भव का प्रथम सर्ग विशुद्ध प्रकृति-वर्णन है। इस समय तक महाकाव्यों का निर्माण होने लगा था। महाकाव्यों में प्रकृति वर्णन, नदी, सरोवर, वन, पर्वत, आदि का चित्रण शास्त्रकारों ने आवश्यक माना था। अतएव समस्त संस्कृत महाकाव्यों में उत्कृष्ट कोटि का प्रकृति वर्णन हुआ है। 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपाल बध', 'नैषधीय चरित' में प्रकृति के भिन्न-भिन्न चित्रों के रूप मिलते हैं। 'कादम्बरी' में तो श्लिष्ट प्रकृति-चित्रण अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है।

प्रकृति-वर्णन की यह परम्परा हिन्दी साहित्य में नहीं आ सकी। इसका कारण था हिन्दी में महाकाव्यों का अभाव। हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग से पूर्व केवल चार-पाँच महाकाव्य मिलते हैं। इनमें से 'पृथ्वीराज रासो' और 'रामचन्द्रिका' में प्रकृति-वर्णन की महाकाव्यवाली पद्धति को ही अपनाया गया है। हमारे यहाँ हिंडोला गीतों में बारहमासे के रूप में प्रकृति का सुन्दर चित्रण बहुत प्राचीन काल से होता आया है जिसका रूप विद्यापति और जायसी में भी मिलता है। विद्यापति ने उद्दीपन रूप में प्रकृति को अपनाया था। जायसी ने मानव-जीवन के साथ प्रकृति का तादात्म्य स्थापित किया था। प्रकृति वर्णन तुलसी ने भी किया परन्तु उसमें उपदेश की भावना का प्राबल्य रहा। बाद में दीनदयाल गिरि आदि ने अपनी अन्योक्तियों में प्रकृति का खुल कर प्रयोग किया। रीतिकाल में प्रकृति केवल उद्दीपन के रूप में अपनाई गई। इस काल में वह न तो आलम्बन रही और न कल्पना का क्षेत्र।

आधुनिक युग के प्रकृति-वर्णन पर यूरोप का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यूरोप के प्रकृतिवादी कवियों से हिन्दी कवियों को प्रकृति वर्णन की नई प्रेरणा मिली। इसका यह रूप भारतेन्दु और द्विवेदी युग तक रहा। इसमें प्रकृति का आलंबन रूप प्रधान रूप से अपनाया गया। बाद में प्रकति के प्रति विभिन्न नवीन दृष्टिकोण अपनाए जाने लगे। शुक्लजी ने 'बुद्ध चरित्र' में प्रकृति का चित्रात्मक वर्णन उपस्थित किया। हरिऔध एवं गुप्तजी ने अपनी प्रारम्भिक कृतियों में प्रकृति के चित्रात्मक वर्णन को ही अपनाया। गोपालशरणसिंह आदि ने प्रकृति के माध्यम से परोक्ष सत्ता तक पहुँचने का प्रयत्न किया। प्रकृति का उद्दीपन वाला रूप भी अपनाया गया। 'रत्नाकर' ने उद्दीपन रूप के साथ ही साथ प्रकृति का अत्यन्त प्रभावोत्पादक चित्र उपस्थित किया। पन्त, प्रसाद, महादेवी, निराला आदि ने प्रकृति में अपनी विभिन्न मनोदशाओं का प्रतिबिम्ब देखकर उसे विभिन्न रूपों में चित्रित किया। इनमें प्रकृति कहीं पर तो प्रकृति-प्रिया के रूप में सहचरी, प्रेमिका एवं समस्त कोमल भावनाओं के

आलम्बन रूप में उपस्थित हुई है और कहीं परोक्ष-सत्ता का रहस्यात्मक अवगुण्ठन हटाकर जीवात्मा के मिलन का आमन्त्रण देती है।

प्रकृति चित्रण के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन द्वारा हमने यह बात देखी कि एक ही काल में एक ही वर्ग के कवियों का प्रकृति के प्रति भिन्न दृष्टिकोण रहा है। भक्तिकाल में सूर ने अपने उपास्य कृष्ण के सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए उपमान रूप में प्रकृति का उपयोग किया। तुलसी, श्रीमद्भागवत से प्रभावित होकर, प्रकृति में ज्ञान और उपदेश ढूँढ़ते फिरे हैं। रीतिकाल में सेनापति, देव, बिहारी, घनानन्द आदि ने यद्यपि रीति परम्परा का पालन किया है किन्तु उनके अभिव्यक्तीकरण में महान अन्तर है। आधुनिक काल में प्रकृति के उपासक प्रसाद, पन्त और निराला आदि ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों को अपनाया है। प्रसाद ने प्रकृति देवी के चरणों में समस्त वसुधा को समर्पित कर दिया है, पन्त ने प्रेयसी प्रकृति की रूप सुधा का पान किया है। निराला ने उसे संवाहिका शक्ति मानकर उसमें मानवीय भावनाओं का आरोपण किया है। इस प्रकार जब एक ही काल में एक ही वर्ग के कवियों के दृष्टिकोणों में इतना अन्तर हो जाता है तो उनकी रचना को उनके अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित करना अत्यन्त दुस्तर कार्य प्रतीत होता है। फिर आलोचकों ने प्रकृति चित्रण के स्थूल वर्ग माने हैं, जैसे—आलम्बन, उद्दीपन, अलङ्कार, मानवीकरण, उपदेश और नीति का माध्यम, उसमें परम तत्व का आभास आदि।

विवेचन की सुविधा के लिए हम प्रकृति-चित्रण को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१—आलम्बन या यथातथ्य रूप में प्रकृति चित्रण, २—प्रकृति में मानव भावनाओं का आरोप (मानवीकरण), ३—मानव भावनाओं और कार्यों की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति चित्रण जिसके अन्तर्गत प्रकृति कहीं अनुकूल बनकर आती है और कहीं प्रतिकूल, ४—उद्दीपन के रूप में, ५—प्रतीकात्मक रूप में, ६—बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में, ७—उपदेशिका के रूप में, ८—अलंकार प्रदर्शन के रूप में, ९—दूतिका के रूप में, १०—रहस्यात्मक रूप में, ११—मानवीकरण के रूप में।

१—प्रस्तुत रूप में या आलम्बन अथवा यथातथ्य चित्रण के रूप में—इस रूप में प्रकृति कवि के लिए साधन न बन कर साध्य बन जाती है। कवि प्रकृति का निरीक्षण करता और उसके सूक्ष्मतम तत्वों के प्रति आकर्षित होता है। वह प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का पृथक-पृथक परिगणन न कर सबको एकत्रित कर संलिष्ट वर्णन करता है। उसका मन प्रकृति दर्शन में रम जाता है। वह आत्म-विभोर हो उठता है और अपनी तल्लीनता में हृदय की मुक्तावस्था को

प्राप्त होता है। इस रूप में प्रकृति का वर्णन संस्कृत में बाल्मीकि, कालिदास और भवभूति आदि ने तथा हिंदी में सेनापति, तुलसी, 'हरिऔध', पन्त, प्रसाद गुप्त और आचार्य शुक्ल आदि कवियों ने किया है। इसमें प्रकृति का शुद्ध वर्णन होता है। उसमें मानवी भावों का आरोप कहीं भी नहीं होता। आचार्य शुक्ल ऐसे वर्णन को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' नामक काव्य ग्रन्थों में आलम्बन रूप के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उन्होंने प्रकृति के उग्र और रम्य दोनों रूपों का चित्रण किया है। रात्रि की भयङ्करता और निस्तब्धता का रूप दृष्टव्य है—

"समय था सुनसान निशीथ का, अटल भूतल में तम राज्य था।
प्रलयकाल समान प्रस्तुत हो, प्रकृति निश्चल, नीरव शान्त थी।।"

सौम्य तथा रम्य रूप—

"गिरीन्द्र में व्याप्त विलोकनीय थी बनस्थली बीच प्रशंसनीय थी।
अनूप शोभा अवलोकनीय थी बसंत जम्बालिनि कल जम्बु की।।"

प्रकृति के उपासक प्रसाद ने प्रकृति के विराट, भव्य आदि सभी रूपों के दर्शन किए हैं। उन्हें प्रकृति में इतनी अधिक संवेदन शीलता का आभास मिला है कि वह उनके काव्य का एक प्रधान अङ्ग बन गई है। कामायनी में प्रकृति के इन विविध रूपों के सुन्दर दर्शन होते हैं। प्रकृति का विकराल रूप देखिए—

"पंचभूत का भैरव मिश्रण शम्पाओं के सकल निपात।
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।।
धंसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास।।"

रम्य रूप—"उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।।"

तथा

नव कोमल आलोक बिखरता हिम संसृति पर भर अनुराग।
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।।"

पन्त मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उनकी विभिन्न कविताओं में प्रकृति के संश्लिष्ट रूप के सुन्दर चित्र मिलते है। वे प्रकृति के सौंदर्य से इतने अभिभूत होगए हैं कि उन्हें बाला के सुन्दर बाल भी आकर्षित नहीं कर पाते—

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को।।"

उन्होंने प्रकृति से प्रेम का सम्बन्ध तोड़ कर प्रेमिका के प्रेमपाश में बंध जाने में असमर्थता प्रकट की है। प्रकृति के सहज सौन्दर्य के दर्शन से उन्हें मानव सौन्दर्य से अधिक आत्म-तुष्टि और आनन्द का अनुभव होता है। रीतिकालीन कवियों में केवल सेनापति ने ही आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण किया है। उनके ऋतु विषयक वर्णन इसके उदाहरण हैं।

२—**प्रकृति में मानव भावनाओं का आरोप**—इसके अन्तर्गत प्रकृति के उपादान अपने वास्तविक स्वरूप को बनाए रखकर केवल उन भावनाओं से युक्त दिखाई देते हैं जो मानव-हृदय की वस्तुएँ हैं। जिस प्रकार प्रातःकाल मनुष्य शय्या से उठकर अपना मुख दर्पण में देखता है उसी प्रकार किरणें भी सबेरा होने पर अपना मुख दर्पण में देखतीं हैं—

किरणों ने कर दिया सबेरा,
हिमकण दर्पण में मुख हेरा,
मेरा मुकुर मंजु मुख तेरा, उठ पंकज पर पड़े पराग।"

(यशोधरा-गुप्त)

३—**पृष्ठभूमि के रूप में**—आलम्बन रूप में किए गए प्रकृति चित्रण और पृष्ठभूमि के रूप में किए गए प्रकृति चित्रण में बहुत थोड़ा अन्तर है। आलम्बन रूप का कोई विशिष्ट प्रयोजन न होकर मात्र प्रकृति का संश्लिष्ट रूप उपस्थित करना होता है। किन्तु पृष्ठभूमि के रूप में किया गया चित्रण सप्रयोजन होता है; उसमें मानवीय भावों की छाया होती है। 'वैदेही बनवास' में सीता के वन-प्रवास से पूर्व, शान्त प्रकृति अकस्मात् उद्वेलित हो उठती है। उसके रूप में अमङ्गल की छाया आ जाती है—

"थी सब ओर शान्ति दिखलाती, प्रकृति नटी नर्तनरत थी।
फूली फिरती थी प्रफुल्लिता उत्सुकता तरङ्गित थी।
उसी समय बढ़ गया वायु का वेग क्षितिज पर दिखलाया।
एक लघु जलद खण्ड पूर्व में जो बढ़ वारिद बन पाया॥

प्रसाद की कामायनी में इस रूप में प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। मनु के हृदय की निराशा नष्ट होकर उसमें आशा का संचार हो रहा है। प्रकृति भी इसी आशा के संदेश से ओत प्रोत हो रही है—

"उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विपन्न मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिरसे
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में शरद विकास नए सिर से॥"

४—**उद्दीपन रूप में**—इसमें प्रकृति कवियों के लिए अनुराग का विषय न होकर नायक और नायिका के अनेकानेक भावों को उद्दीप्त करने का साधन मात्र बन जाती है। प्रकृति में भावों को उद्दीप्त करने की प्रबल शक्ति है। इसी शक्ति को लक्ष्य कर हमारे कवियों ने चिरकाल से प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन किया है। रस-रास में चाँदनी और समीर का तथा विरह में ऋतुओं तथा बारहमासा का वर्णन इसी प्रवृत्ति का फल है। उद्दीपन रूप में प्रकृति की सुरम्य छटाएँ सुख की अनुभूति को तीव्र कर देती हैं और वियोग में वे ही दृश्य पूर्वानुभूत सुखों की याद दिलाकर विरह वेदना को और भी विषम बना देते हैं। इसी कारण उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण दो रूपों में मिलता है :— १—जहाँ संयोगावस्था में प्रकृति प्रेमियों के आनन्द की भावना को उद्दीप्त करने में सहायक होती है। २—जहाँ प्रकृति विरहावस्था में विरहियों की विरह भावना को और उद्दीप्त करती है। परन्तु हमारे यहाँ अधिकांश विप्रलम्भ श्रृङ्गार में ही प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन हुआ है। जब नायक नायिका में उत्कृष्ट प्रेम होने पर प्रिय समागम नहीं होता तो विप्रलम्भ श्रृङ्गार की सृष्टि होती है। वियोग तीन प्रकार का होता है—मान, प्रवास और मृत्यु। कवियों ने अधिकतर प्रवास जन्य-विरह का ही वर्णन किया है। तुलसी के राम सीता-विरह से व्याकुल होकर इसी अवस्था में—"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृग नैनी।" कहते फिरते थे। "घन घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।" में राम प्रकृति की उद्दीपन-शक्ति से व्याकुल होकर सीता को याद करते हैं।

सूर की गोपियाँ भी कृष्ण के वियोग में तल्लीन बैठी हैं। उन्हें रह रह कर पुरानी स्मृति आती है। प्राचीन क्रीड़ा स्थल उन्हें कृष्ण की याद दिलाते हैं।

"बिन गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजें।
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूले अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार सजीवन दधि सुत किरन भानु भई भुजें।"

इसी प्रकार का वर्णन विद्यापति ने भी किया है—

"चयन चान तन अधिक उतापए उपबन बन उपरोली रे।
समय बसंत कंत रह दुर देश जानल विधि प्रतिकूले रे।"

संयोग श्रृङ्गार में प्रेमी-प्रेमिका का संयोग होने पर प्रकृति के दृश्य पारस्परिक आकर्षण में वृद्धि करते हैं। शीतल-सुरभित समीर, चन्द्र ज्योत्स्ना, निर्झर तट, वृक्ष-पत्रों का मरमर शब्द और खग-कुल का कल-कूजन

दोनों के आकर्षण में एक प्रकार की तीव्रता, सरसता, और माधुर्य का संचार कर देते हैं। देव का एक पद द्रष्टव्य है—

"चाँदनी मचल बैठी चाँदनी के कौतुक कौ,
चाँदनी सी राधा बिछी चाँदनी विशाल है।
चन्द्र की कला सी देवता सी देवदासी,
संग फूल के दुकूल पैन्हैं फूलन की माल है।
फूटत फुहार वे अमल-जल झलकत,
चमकैं चँदोवा मणि-माणिक महाल है।
बीच जरतारन की हीरन की जगमगी,
ज्योतिन की मोतिन की झालर है।"

५—**प्रतीकात्मक रूप में**—कवि भाव-साम्य के आधार पर प्रकृति के उपादानों में से कुछ ऐसे प्रतीक चुन लेता है जो उसके भावों के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, जैसे अन्धकार निराशा का प्रतीक; प्रकाश=आशा का प्रतीक; दीपक=साधना का प्रतीक आदि। निम्नाङ्कित पद में प्राकृतिक पदार्थों का प्रतीक रूप में अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है—

"नयन में जिसके **जलद** वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर **दीपक** हूँ,
फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह धूल हूँ,
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ,

इसमें रेखाङ्कित शब्द प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

६—**बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में**—जहाँ प्रकृति के और मानव के कार्य-कलापों में समता सी दिखाई देती है। गौतम-पत्नी यशोधरा अपने पुत्र को गोद में बैठा कर गा रही है। गुप्त जी ने इसका दृश्य खींचते हुए कहा है—

"रवि पर नलिनी का, पितृ-छवि पर मौन दृष्टि तव जा रही।
वहाँ अङ्क में मधुप, यहाँ मैं, गिरा एक गुण गा रही।"

उधर नलिनी (कमलिनी) सूर्य की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देख रही है और इधर गोपी राहुल को गोद में लिये गौतम के ध्यान में बैठी है। उधर नलिनी के अङ्क में मधुप बैठा है और इधर राहुल। उधर मधुप उषा का गुण गा रहा है और इधर राहुल गौतम की प्रशंसा कर रहा है।

७—**उपदेशिका के रूप में**—मनुष्य ने प्रकृति के कार्य कलाप को अनेक रूपों में आदर्श मानकर उससे बल, ज्ञान और सान्त्वना प्राप्त की है। सर्वसहा पृथ्वी क्षमा और सहनशक्ति का आदर्श है। पर्वत चारित्रिक दृढ़ता का, पवन

४—**उद्दीपन रूप में**—इसमें प्रकृति कवियों के लिए अनुराग का विषय न होकर नायक और नायिका के अनेकानेक भावों को उद्दीप्त करने का साधन मात्र बन जाती है। प्रकृति में भावों को उद्दीप्त करने की प्रबल शक्ति है। इसी शक्ति को लक्ष्य कर हमारे कवियों ने चिरकाल से प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन किया है। रस-रास में चाँदनी और समीर का तथा विरह में ऋतुओं तथा बारहमासा का वर्णन इसी प्रवृत्ति का फल है। उद्दीपन रूप में प्रकृति की सुरम्य छटाएँ सुख की अनुभूति को तीव्र कर देती हैं और वियोग में वे ही दृश्य पूर्वानुभूत सुखों की याद दिलाकर विरह वेदना को और भी विषम बना देते हैं। इसी कारण उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण दो रूपों में मिलता है :— १—जहाँ संयोगावस्था में प्रकृति प्रेमियों के आनन्द की भावना को उद्दीप्त करने में सहायक होती है। २—जहाँ प्रकृति विरहावस्था में विरहियों की विरह भावना को और उद्दीप्त करती है। परन्तु हमारे यहाँ अधिकाँश विप्रलम्भ शृङ्गार में ही प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन हुआ है। जब नायक नायिका में उत्कृष्ट प्रेम होने पर प्रिय समागम नहीं होता तो विप्रलम्भ शृङ्गार की सृष्टि होती है। वियोग तीन प्रकार का होता है—मान, प्रवास और मृत्यु। कवियों ने अधिकतर प्रवास जन्य-विरह का ही वर्णन किया है। तुलसी के राम सीता-विरह से व्याकुल होकर इसी अवस्था में—"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृग नैनी।" कहते फिरते थे। "घन घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।" में राम प्रकृति की उद्दीपन-शक्ति से व्याकुल होकर सीता को याद करते हैं।

सूर की गोपियाँ भी कृष्ण के वियोग में तल्लीन बैठी हैं। उन्हें रह रह कर पुरानी स्मृति आती है। प्राचीन क्रीड़ा स्थल उन्हें कृष्ण की याद दिलाते हैं।

"बिन गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजें।
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूले अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार सजीवन दधि सुत किरन भानु भई भुजें।"

इसी प्रकार का वर्णन विद्यापति ने भी किया है—

"चयन चान तन अधिक उतापए उपबन बन उपरोली रे।
समय बसंत कंत रह दुर देश जानल विधि प्रतिकूले रे।"

संयोग शृङ्गार में प्रेमी-प्रेमिका का संयोग होने पर प्रकृति के दृश्य पारस्परिक आकर्षण में वृद्धि करते हैं। शीतल-सुरभित समीर, चन्द्र ज्योत्स्ना, निर्झर तट, वृक्ष-पत्रों का मरमर शब्द और खग-कुल का कल-कूजन

दोनों के आकर्षण में एक प्रकार की तीव्रता, सरसता, और माधुर्य का संचार कर देते हैं। देव का एक पद द्रष्टव्य है—

"चाँदनी मचल बैठी चाँदनी के कौतुक कौ,
चाँदनी सी राधा बिछी चाँदनी विशाल है।
चन्द्र की कला सी देवता सी देवदासी,
संग फूल के दुकूल पैन्हें फूलन की माल है।
फूटत फुहार वे अमल-जल झलकत,
चमकैं चँदोवा मणि-माणिक महाल है।
बीच जरतारन की हीरन की जगमगी,
ज्योतिन की मोतिन की झालर है।"

५—प्रतीकात्मक रूप में—कवि भाव-साम्य के आधार पर प्रकृति के उपादानों में से कुछ ऐसे प्रतीक चुन लेता है जो उसके भावों के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, जैसे अन्धकार निराशा का प्रतीक; प्रकाश=आशा का प्रतीक; दीपक=साधना का प्रतीक आदि। निम्नाङ्कित पद में प्राकृतिक पदार्थों का प्रतीक रूप में अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है—

"नयन में जिसके **जलद** वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर **दीपक** हूँ,
फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह धूल हूँ,
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ,

इसमें रेखाङ्कित शब्द प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

६—**विम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में**—जहाँ प्रकृति के और मानव के कार्य-कलापों में समता सी दिखाई देती है। गौतम-पत्नी यशोधरा अपने पुत्र को गोद में बैठा कर गा रही है। गुप्त जी ने इसका दृश्य खींचते हुए कहा है—

"रवि पर नलिनी का, पितृ-छवि पर मौन दृष्टि तव जा रही।
वहाँ अङ्क में मधुप, यहाँ मैं, गिरा एक गुण गा रही।"

उधर नलिनी (कमलिनी) सूर्य की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देख रही है और इधर गोपी राहुल को गोद में लिये गौतम के ध्यान में बैठी है। उधर नलिनी के अङ्क में मधुप बैठा है और इधर राहुल। उधर मधुप उषा का गुण गा रहा है और इधर राहुल गौतम की प्रशंसा कर रहा है।

७—उपदेशिका के रूप में—मनुष्य ने प्रकृति के कार्य कलाप को अनेक रूपों में आदर्श मानकर उससे बल, ज्ञान और सान्त्वना प्राप्त की है। सर्वसहा पृथ्वी क्षमा और सहनशक्ति का आदर्श है। पर्वत चारित्रिक दृढ़ता का, पवन

अनवरत सेवा वृत्ति का, सरिता और वृक्ष परोपकार, मुक्तदान तथा समदृष्टि का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। तुलसीदास को प्रकृति का प्रत्येक तत्व उपदेश देता सा प्रतीत होता है। प्रकृति उनके लिये एक गम्भीर गुरु की भाँति आदर्श बन गई है—

"बरषहिं जलद भूमि नियराए, जथा नवहिं बुध विद्या पाए।
बुन्द-अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के बचन संत सहैं जैसे।
दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।"

तुलसी के अतिरिक्त रहीम और वृन्द कवि ने भी नीति के दोहे लिखे हैं। उन्होंने प्रकृति से उपमा लेकर मनुष्य की कुप्रवृत्तियों का वर्णन किया है और उसके सम्मुख नीति विषयक ज्ञान रखा है। गिरिधर कविराय और दीनदयाल की कुण्डलियाँ इस प्रकार के नीति सम्बन्धी भावों से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार के प्रकृति के उपयोग में यद्यपि प्रकृति का स्थान गौण ही होता है और उदेशात्मक भावना को प्रधानता मिलती है तथापि तुलसी आदि द्वारा इस प्रकार का प्रयोग खटकता नहीं है।

८—**अलङ्कार प्रदर्शन के रूप में**—अनादिकाल से ही प्रकृति और मानव का साहचर्य होने के कारण कवि प्रायः सौन्दर्य के सभी उपमान प्रकृति के क्षेत्र से ही ढूंढ़ता रहा है। मृग शावकों के नेत्रों में प्रिय के नेत्रों की सी सरलता का अनुभव करता है और मदमत्त गज की मंथर गति में अपने प्रिय की गति का साम्य देखता है। इस प्रकार कवि जड़ और चेतन, प्रकृति और मानव में साम्य उत्पन्न कर देता है और प्राकृतिक वस्तुओं को चेतन मानव के शरीरांगों का उपमान बनने के कारण विशेष महत्व मिल जाता है।

कवियों ने मुख की उपमा शशि और कमल से दी है। केशजाल की उपमा मधुपगन से दी जाती है। पन्त ने मृणालतन्तु, मेघ, रेशम, लहर तथा अन्धकार आदि उपमानों का प्रयोग केशों के लिए किया है—

"घने लहरे रेशम से बाल
मलिन्दों से उलझी गुंजार,
मृणालों से मृदु तार,
मेघ से संध्या का शृङ्गार।"

नेत्रों की उपमा खंजन, मीन, कमल, तरंग और मृग से दी जाती रही है। नासिका के लिये प्रायः शुक नासिका का प्रयोग हुआ है। दन्त पंक्ति के उपमान दाड़िम, मुक्ता, कुन्दकली और तारकावली हैं। इस प्रकार मानव सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए कवियों ने प्रकृति के उपकरणों का ही चयन किया है। प्रसाद श्रद्धा का वर्णन करते हैं—

'नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग।''

रूपकालंकार—''देखो माई सुन्दरता को सागर।
तनु अलि श्याम अगाध अम्बुनिधि कटि-पट पीत तरंग।
चितवन चलत अधिक रुचि उपजत भंवर परत अंग अंग।।''

उत्प्रेक्षालंकार—''अति सुदेस मृदु चिकुर हरत मनमोहन सुख बगराई।
मानो प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली घिर आई।।''

इसी प्रकार रूपकातिशयोक्ति, प्रतीप, अन्योक्ति, अपन्हुति आदि अलङ्कारों में प्रकृति के उपादानों का सहयोग है।

प्रकृति का उपमान अर्थात् अलंकार रूप में प्रयोग अप्रस्तुत रूप में होता है। यद्यपि प्रकृति और मानव के इस प्रकार के संयोग में प्रकृति का स्थान गौण हो जाता है, तो भी यह मानना पड़ेगा कि कवि मानव-सौन्दर्य को अति-रंजित करने वाले प्राकृतिक उपादानों के प्रयोग से केवल जड़ और चेतन, प्रकृति और मानव में साम्य ही नहीं स्थापित कर देता है अपितु प्रकृति के प्रति अपने हृदय का अनुराग और उल्लास भी प्रकट करता है। जहाँ कवि प्रचलित उपमानों का परम्परा भुक्त प्रयोग नहीं करता वहाँ तो उसका प्रकृति के प्रति उत्साह एक अत्यन्त आकर्षक एवं मनोमुग्धकारी रूप में प्रकट होता है। प्रसाद का ''खिला हो ज्यों बिजली का फूल'' और ''नील घनशावक से सुकुमार'' तथा गुप्तजी के ''रत्नाभरण भरे अंगों में ऐसे सुन्दर लगते थे, ज्यों प्रफुल्ल बल्ली पर सौ-सौ जुगनूँ जगमग करते थे'' आदि प्रयोग कवि-हृदय का वास्तविक प्रेम व उत्साह प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार के अलङ्कार काव्य के अलङ्कार मात्र ही नहीं वरन् कवि हृदय की वास्तविक अनुभूति का परिचय भी देते हैं।

९—**दूतिका के रूप में**—प्राचीनकाल से कवि प्रकृति के उपादानों से, दूत के रूप में, संदेशवाहक का कार्य लेते रहे हैं। कालिदास का मेघदूत इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। नागमती ने भी 'परेवा' के द्वारा अपना सन्देश भेजा था। हरिऔध ने पवन से दूत का कार्य लिया है। राधा कृष्ण के पास पवन के द्वारा अपना सन्देश भेजती है—

''ज्योंही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी।
शोभावाली अमित कितनी कुंज पुंजें मिलेंगी।''

इससे आगे वह कहती है कि जब तुझे कृष्ण मिल जायँ तो उनसे मेरा संदेश कह देना। गुप्तजी की यशोधरा भी अपना संदेश नदी के द्वारा भेजती है—

"नदी प्रदीप दान ले ।
कह देना इतना ही उनसे जब उनको पहचान ले ।
धाय तुम्हारे सुत की गोपा बैठी है बस ध्यान ले ।"

१०—**रहस्यात्मक रूप में**—रहस्यवादी प्रकृति में परम तत्व के दर्शन करता है और इस प्रकार प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। प्रकृति और पुरुष को एक मान लेने की भावना भारत की प्राचीन परम्परा है। वैदिक काल से ही मानव ने प्रकृति में उसी परम तत्व के दर्शन किए हैं। प्रकृति के रौद्ररूप में उसने सर्वशक्तिमान् की भ्रू भंगिमा और पूर्ण प्रफुल्लित पुष्प में परमतत्व की मृदु मुस्कान का अनुभव किया है। "लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल" के अनुसार सकल बसुधा उसी चेतन शक्ति से अनुरंजित और अनुप्राणित प्रतीत होती है। जहाँ तक उनकी दृष्टि जाती है, सारी सृष्टि में उन्हें विश्वात्मा का ही सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। जायसी हृदय में ही उस अखंड ज्योति के सकल लोक में दर्शन करते हैं—

"बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥"

आधुनिक कवियों ने भी इसी भावना को व्यक्त किया है। कवि प्रसाद के मन में विश्वचक्र को देखकर जिज्ञासा होती है—

"महानील इस परम व्योम के अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्करण, किसका करते से संधान॥

११—**मानवीकरण के रूप में**—प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही मानवीकरण है। सूर्य, चन्द्र, वायु, जल और मेघ आदि को देवत्व प्रदान करना और क्रमशः सूर्य, सोम, मरुत, वरुण एवं इन्द्र आदि शुभ नामों से सम्बोधित करना मानवीकरण की प्रवृत्ति को प्रकट करता है। अंग्रेज़ी की रोमांटिक कविताओं में इस प्रकार के चित्रों का प्राचुर्य है। अँग्रेज़ी की इसी रोमांटिक कविता के प्रभाव स्वरूप हिन्दी छायावादी काव्य में मानवीकरण की प्रवृत्ति का बाहुल्य दिखाई पड़ा है। छायावाद में, प्रकृति में मानव रूप, मानव गुण, मानव क्रिया और मानव भावनादि का आरोप किया गया है। छायावाद से पूर्व हिन्दी काव्य में मानवीकरण की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती।

कामायनी में प्रसाद ने 'धरा' को मानवती-वधू का रूप दिया है—

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी॥"

पन्त कुंज में बिखरी हुई किरण को देखकर उससे कहते हैं—

२०—शैली और व्यक्तित्व

शैली और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले शैली की संक्षिप्त रूपरेखा समझ लें। प्रस्तुत विवेचन से शैली का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा—

काव्य के लिये दो वस्तुएँ आवश्यक हैं—वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार। वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार को शैली कहते हैं। बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में वस्तु और शैली का पार्थक्य उतना ही असम्भव है, जितना कि 'म्यांऊ' की ध्वनि का बिल्ली से। तलवार की धातु और उसका आकार, जिसमें तलवार का स्थूल रूप शामिल है, अलग नहीं किया जा सकता। यदि वस्तु है तो उसका कोई न कोई आकार होगा और यदि आकार है तो किसी न किसी पदार्थ का होगा। साहित्य की उत्पत्ति भाव, विचार और कल्पना द्वारा होती है। यदि यह भाव, विचार और कल्पना हमारे मन में ही उत्पन्न होकर लीन हो जायँ तो संसार को उनसे कोई लाभ न हो। मनुष्य अपने विचारों और कल्पनाओं को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, विचारों और कल्पनाओं को स्वयं जानना चाहता है। यही विनिमय संसार के साहित्य का मूल है। शैली ही इसे साकार रूप देती है।

साहित्याचार्यों ने शैली के अनेक उपकरण माने हैं—शब्द, वाक्य, गुण, वृत्तियाँ और रीतियाँ, अलङ्कार, पद-विन्यास, छन्द, शब्दशक्ति। इन उपकरणों के संस्कृत एवं सम्यक् उपयोग द्वारा ही एक श्रेष्ठ एवं परिष्कृत शैली की उत्पत्ति होती है। शब्द—भाषा के मूल आधार शब्द हैं, जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्व माना जाता है। अनुभव के साथ ही साथ लेखन-शैली की वृद्धि होती जाती है और भाषा में शब्दों की कमी और भावों की वृद्धि होती जाती है। शब्द शक्ति का उन्नततम रूप वहाँ दृष्टिगोचर होगा जहाँ लेखक या कवि उपयुक्त शब्दों को ग्रहण करने, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को प्रदर्शित करने और थोड़े में बड़ी से बड़ी गम्भीर और भावपूर्ण बातें कहने में समर्थ होता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः शब्दाडम्बर ही अधिक दिखाई पड़ता है। मध्यावस्था में प्रायः शब्दों और भावों में समानता आ जाती है। प्रौढ़ावस्था में भावों की अधिकता तथा शब्दों की कमी स्पष्ट दीख पड़ती है।

"नदी प्रदीप दान ले।
कह देना इतना ही उनसे जब उनको पहचान ले।
धाय तुम्हारे सुत की गोपा बैठी है बस ध्यान ले।"

१०—**रहस्यात्मक रूप में**—रहस्यवादी प्रकृति में परम तत्व के दर्शन करता है और इस प्रकार प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। प्रकृति और पुरुष को एक मान लेने की भावना भारत की प्राचीन परम्परा है। वैदिक काल से ही मानव ने प्रकृति में उसी परम तत्व के दर्शन किए हैं। प्रकृति के रौद्ररूप में उसने सर्वशक्तिमान् की भ्रू भंगिमा और पूर्ण प्रफुल्लित पुष्प में परमतत्व की मृदु मुस्कान का अनुभव किया है। "लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल" के अनुसार सकल बसुधा उसी चेतन शक्ति से अनुरंजित और अनुप्राणित प्रतीत होती है। जहाँ तक उनकी दृष्टि जाती है, सारी सृष्टि में उन्हें विश्वात्मा का ही सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। जायसी हृदय में ही उस अखंड ज्योति के सकल लोक में दर्शन करते हैं—

"बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥"

आधुनिक कवियों ने भी इसी भावना को व्यक्त किया है। कवि प्रसाद के मन में विश्वचक्र को देखकर जिज्ञासा होती है—

"महानील इस परम व्योम के अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्करण, किसका करते से संधान॥

११—**मानवीकरण के रूप में**—प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही मानवीकरण है। सूर्य, चन्द्र, वायु, जल और मेघ आदि को देवत्व प्रदान करना और क्रमशः सूर्य, सोम, मरुत, वरुण एवं इन्द्र आदि शुभ नामों से सम्बोधित करना मानवीकरण की प्रवृत्ति को प्रकट करता है। अंग्रेज़ी की रोमांटिक कविताओं में इस प्रकार के चित्रों का प्राचुर्य है। अँग्रेज़ी की इसी रोमांटिक कविता के प्रभाव स्वरूप हिन्दी छायावादी काव्य में मानवीकरण की प्रवृत्ति का बाहुल्य दिखाई पड़ा है। छायावाद में, प्रकृति में मानव रूप, मानव गुण, मानव क्रिया और मानव भावनादि का आरोप किया गया है। छायावाद से पूर्व हिन्दी काव्य में मानवीकरण की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती।

कामायनी में प्रसाद ने 'धरा' को मानवती-वधू का रूप दिया है—

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी॥"

पन्त कुंज में बिखरी हुई किरण को देखकर उससे कहते हैं—

"अरे कौन तुम दमयन्ती सी हो तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी छोड़ गया क्या अलि नल-सा निष्ठुर कोई ।"

उन्होंने 'चाँदनी' की निम्न पंक्तियों में विचारमग्ना एकाकिनी सुन्दरी का चित्र अंकित किया है—

"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनि ।
मृदु करतल पर शशिमुख धर, नीरव, अनिमिष, एकाकिन ।"

निराला ने संध्या को सुन्दरी का रूप दिया है—

"दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे,"

उनकी 'जुही की कली' नामक कविता मानवीकरण के श्रेष्ठतम उदाहरणों में से मानी गई है—

"विजन वन वल्लरी पर सोती थी सुहाग भरी
स्नेह स्वप्न मग्न कोमल-तन-तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में ।"

"इस प्रकार के मानवीकरण और मानवीय भावों के आरोपण को रस्किन जैसे अंग्रेज़ी आलोचकों ने हेत्वाभास (Pathetic Fallacy) कहा है । उनका कहना है कि प्रकृति जड़ है । उसके सब कर्म निर्बाध गति से होते जाते हैं । मानव की वेदना अथवा उसके हर्षातिरेक का निर्जीव प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । प्रकृति में इस प्रकार का आरोपण प्रकृति का हेत्वाभास मात्र है । कालिदास ने भी इसका अनुभव किया है और यक्ष द्वारा कहलवा दिया है— 'कामर्ताहि प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु" (कामीजन प्रकृति में चेतन अचेतन का भेद भूल जाते हैं) परन्तु हम सब प्रकार के प्रकृति वर्णन को हेत्वाभास कह कर नहीं टाल सकते, क्योंकि अनादि काल से ही प्रकृति से सहचार रहने के कारण मानव कष्ट निवेदन और भावाभिव्यंजन प्रकृति से करता रहा है और अपने उत्कट प्रेम स्वरूप प्रकृति में प्रति-स्पन्दन का अनुभव करता रहा है ।" (डा० किरणकुमारी गुप्ता)

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन द्वारा हमने प्रकृति चित्रण के विभिन्न प्रमुख भेदों का परिचय देने का प्रयत्न किया है । इन भेदों के अतिरिक्त इसके और भी कई भेद किए जा सकते हैं । प्रकृति चित्रण की प्रणालियाँ इतनी अधिक हैं कि उनको भेदोपभेदों में बाँटना अत्यन्त दुष्कर कार्य प्रतीत होता है ।

प्रकृति चित्रण में प्राचीन काल से कविगण अनेक प्रकार की स्वतन्त्रता

का उपभोग करते चले आए हैं। इस स्वतन्त्रता को संस्कृत में 'कवि समय' और अँग्रेज़ी में पोइटिक कन्वेंशन्स (Poetic conventions) कहते हैं। कवि समय का अर्थ है—कवियों का आचार अथवा सम्प्रदाय। कुछ ऐसी बातें हैं जो देश काल के सर्वथा प्रतिकूल हैं किंतु प्राचीनकाल से कविगण उन्हें अपने काव्य में स्थान देते चले आए हैं। अतः इस प्रकार के प्रयोग देश और काल के विचार से सदोष होते हुए भी कवि समाज में मान्य हैं। प्राचीन काव्य में इस प्रकार की कवि-प्रसिद्धियाँ पशु-पक्षी, वृक्ष, पुष्प आदि सभी से सम्बन्धित मिलती हैं। जैसे चन्दन के वृक्षों पर सर्पों का लिपटा रहना असत्य बात है परन्तु काव्य में इसका प्रयोग प्राचीन काल से अद्यावधि निरन्तर मिलता है। हिंदी में अधिकाँश कवि-प्रसिद्धियाँ प्रायः ज्यों की त्यों अवतरित होगई हैं। उनमें से मुख्य ये हैं—अशोक, चन्दन, कमल, कुमुद, कुन्द, चम्पक, चकोर, चकवा-चकवी, मयूर, चातक और हँस।

२०—शैली और व्यक्तित्व

शैली और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले शैली की संक्षिप्त रूपरेखा समझ लें। प्रस्तुत विवेचन से शैली का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा—

काव्य के लिये दो वस्तुएँ आवश्यक हैं—वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार। वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार को शैली कहते हैं। बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में वस्तु और शैली का पार्थक्य उतना ही असम्भव है, जितना कि 'म्यांऊ' की ध्वनि का बिल्ली से। तलवार की धातु और उसका आकार, जिसमें तलवार का स्थूल रूप शामिल है, अलग नहीं किया जा सकता। यदि वस्तु है तो उसका कोई न कोई आकार होगा और यदि आकार है तो किसी न किसी पदार्थ का होगा। साहित्य की उत्पत्ति भाव, विचार और कल्पना द्वारा होती है। यदि यह भाव, विचार और कल्पना हमारे मन में ही उत्पन्न होकर लीन हो जायँ तो संसार को उनसे कोई लाभ न हो। मनुष्य अपने विचारों और कल्पनाओं को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, विचारों और कल्पनाओं को स्वयं जानना चाहता है। यही विनिमय संसार के साहित्य का मूल है। शैली ही इसे साकार रूप देती है।

साहित्याचार्यों ने शैली के अनेक उपकरण माने हैं—शब्द, वाक्य, गुण, वृत्तियाँ और रीतियाँ, अलङ्कार, पद-विन्यास, छन्द, शब्दशक्ति। इन उपकरणों के संस्कृत एवं सम्यक् उपयोग द्वारा ही एक श्रेष्ठ एवं परिष्कृत शैली की उत्पत्ति होती है। शब्द—भाषा के मूल आधार शब्द हैं, जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्व माना जाता है। अनुभव के साथ ही साथ लेखन-शैली की वृद्धि होती जाती है और भाषा में शब्दों की कमी और भावों की वृद्धि होती जाती है। शब्द शक्ति का उन्नततम रूप वहाँ दृष्टिगोचर होगा जहाँ लेखक या कवि उपयुक्त शब्दों को ग्रहण करने, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को प्रदर्शित करने और थोड़े में बड़ी से बड़ी गम्भीर और भावपूर्ण बातें कहने में समर्थ होता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः शब्दाडम्बर ही अधिक दिखाई पड़ता है। मध्यावस्था में प्रायः शब्दों और भावों में समानता आ जाती है। प्रौढ़ावस्था में भावों की अधिकता तथा शब्दों की कमी स्पष्ट दीख पड़ती है।

इसलिए शैली में उपयुक्त शब्दों का प्रयोग सबसे आवश्यक बात है। शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य रचना हो सकती है। हम किसी कवि या लेखक के ग्रन्थ को ध्यानपूर्वक पढ़कर इस बात का पता लगा सकते हैं कि उसकी शब्द-शक्ति कैसी है, शब्दों का कैसा प्रयोग किया है और कहाँ तक वह इस कार्य में दूसरे से बढ़ गया है या पीछे रह गया है। बहुत से विद्वानों की योग्यता का मापदण्ड यह होता है कि अमुख लेखक ने कितने शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु शब्दों की संख्या के स्थान पर उन शब्दों के प्रयोग के ढङ्ग पर ही शैली की श्रेष्ठता निर्भर करती है।

भारतीय आलोचकों ने शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी हैं। परन्तु स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिरोए नहीं जाते तब तक न तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अन्तर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्व, सामर्थ्य, या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारु रूप से उनके सजाए जाने पर ही होता है। अतः वाक्यों में प्रयोग करने के लिये शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेक के साथ होना चाहिए। जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करने वाले शब्दों का हमें प्रयोग करना चाहिए। वाक्यों की रचना में शब्दों के संगठन तथा भाषा की प्रौढ़ता पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। इन दोनों गुणों का होना आवश्यक है। वाक्य बहुत बड़े तथा लम्बे न होने चाहिए। उनके बहुत अधिक विस्तार से संगठनात्मक गुणों का नाश हो जाता है। जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा बाँछनीय है। वाक्यों में सबसे अधिक ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक जोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिए। अवधान को आदि या अन्त में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आती है और वह लालित्य गुण से सम्पन्न हो जाता है।

शौर्यादि की भाँति रस के उत्कर्ष हेतु रूप स्थायी धर्मों को गुण कहा गया है। अलंकार भी उत्कर्ष के हेतु हैं किन्तु अस्थायी धर्मों को गुण कहा गया है। अलंकार भी उत्कर्ष के हेतु हैं किन्तु अस्थायी हैं। काव्य शास्त्र में शैली का विभाजन गुणों के आधार पर हुआ है। भरत, वामन आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ के दस-दस गुण माने हैं और भोज ने तो उनकी संख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। परन्तु प्रधान रूप से गुण तीन ही हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। इनका सम्बन्ध चित्त की तीन वृत्तियों से है। माधुर्य का द्रुति,

द्रवणशीलता या पिघलाने से, ओज का दीप्ति से अर्थात् उत्तेजना से और प्रसाद का विकास से अर्थात् चित्त को खिला देने से। प्रसाद का अर्थ ही है प्रसन्नता। प्रसाद तो सभी रचनाओं के लिए आवश्यक गुण है, इसलिए जहाँ माधुर्य और ओज का तीन-तीन रसों से सम्बन्ध माना गया है वहाँ प्रसाद का सभी रसों से माना है। सूखे ईंधन में अग्नि के प्रकाश की भाँति प्रसाद गुण द्वारा चित्त में एक साथ अर्थ का प्रकाश हो जाता है।

गुण का आधार शब्दों की बनावट अथवा वह वर्ण है जो शब्द रचना में आते हैं। इन गुणों के आधार पर ही इनके अनुकूल वर्ण-विन्यास और पद-योजना रखी गई है। इसी वर्ण-विन्यास या शब्दों की बनावट को वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ गुणों के अनुसार ही मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा हैं। गुणों के आधार पर वाक्य रचना की भी तीन रीतियाँ—वैदर्भी, गौड़ी और पाँचाली मानी गई हैं। मम्मट ने इन्हें क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमलावृत्ति लिखा है। ये रीतियाँ गुणों पर आश्रित हैं। इनका नामकरण भिन्न-भिन्न देश-भागों के नाम पर है। इससे जान पड़ता है कि उन-उन भागों के कवियों ने एक-एक ढंग का विशेष रूप से अनुकरण किया था, अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रख दिए गये हैं। माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिए परुषावृत्ति और गौड़ी रीति, तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ावृत्ति और पाँचाली रीति आवश्यक मानी गई है।

भारतीय शैली की एक प्रमुख विशेषता उसमें अलंकारों का स्थान है। ये अलंकार शैली की उत्कृष्टता में सहायक होते हैं। वे इतने नगण्य या ऊपरी नहीं है जितने कि समझे जाते हैं। उनका भी रस से सम्बन्ध है। अलंकारों का काम शैली द्वारा रस के उत्कर्ष या गुणवृत्ति में सहायता पहुँचाना है। उनकी भरमार नहीं होनी चाहिए। उनका प्रयोग केवल उस समय हो जब वह भावना को ऊँचा उठाते हों या अर्थ को उदाहरण आदि द्वारा बढ़ाकर स्पष्ट करते हों। अलंकार इस कारण और भी प्रभावशाली होते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति भी हृदय के उसी उल्लास से होती है जिससे कि काव्य मात्र की। नारी द्वारा भौतिक अलंकारों को धारण करने में भी एक मानसिक उल्लास रहता है। उस उल्लास के अभाव में विधवा स्त्री अलंकार धारण नहीं करती। इसलिए हृदय का ओज या उल्लास अलंकारों के मूल में माना जायगा। उपमा, रूपक आदि मानसिक चित्रों द्वारा स्पष्टता ही प्रदान नहीं करते वरन् अर्थान्तरन्यास, दृष्टांत, उदाहरण आदि द्वारा विचार की भी पुष्टि करते हैं। भ्रान्ति, सन्देह, स्मरण, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों द्वारा सादृश्य को नाना रूपों में उपस्थित किया जाता है। समष्टि रूप से शब्दालंकार द्वारा शब्द माधुर्य की सृष्टि की

जाती है। अर्थ के स्पष्ट करने में साम्यमूलक अर्थालङ्कार उपयुक्त होते हैं। गद्य में अर्थालङ्कारों का विशेष स्थान है। इसमें शब्दालङ्कारों का प्रयोग वांछनीय नहीं हैं। व्यर्थ के अलङ्कार शैली के ऊपर भार हो जाते हैं। सीधी-सादी प्रसादगुणमयी शैली, जिसमें यत्र-तत्र एकाध अलङ्कार का पुट हो और जो लेखक का अर्थ पुष्ट करती चलती हो, अच्छे निबन्धकार की विशेषता है।

पद-विन्यास भी शैली का एक महत्वपूर्ण उपकरण है। पदों से तात्पर्य वाक्यों के समूह से है। किसी विषय पर कोई ग्रन्थ लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य-मुख्य विभाग कर लिये जाते हैं जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक-एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार प्रधान विषय को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है, जिसमें पदों की एक पूर्ण शृङ्खला सी बन जाय। पदों के इस योग में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष गौरव की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से संबंध तथा संक्रमण और वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्तन। ये दोनों सफलतायें प्राप्त करने के लिए संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए।

गद्य और पद्य का मुख्य भेद छन्दों पर निर्भर है। भावमयी भाषा में जो स्वाभाविक गति आ जाती है, छन्द उसी का बाहरी आकार है। छन्द में वर्ण नृत्य की भाँति ताल और लय के आश्रिय रहते हैं। छन्दों द्वारा जो सौन्दर्य का उत्पादन होता है उसके मूल में भी अनेकता में एकता का सिद्धान्त है। छन्द में शब्दों और वर्णों में विभेद रहते हुए भी उनमें स्वरों का साम्य रहता है। मुक्तक छन्द में, जो नियमों से परे होते हैं, बँधे हुये आकार के बिना ही लय की साधना होती है। तुक का अब इतना मान नहीं जितना पहले था। तुक स्मरण रखने में सहायक होती है। गद्य में अधिक तुकबन्दी दोष ही हो जाती है। गद्य में गति और लय होती है किन्तु पद्य की भाँति पूर्णतया व्यक्त नहीं होती है। छन्द दो प्रकार के होते हैं—मात्रा मूलक और वर्ण मूलक।

हमारे शास्त्रों में शैली के अन्तर्गत शब्द शक्ति की भी विस्तृत विवेचना है। शब्द शक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—अभिधा, लक्षणा व्यंजना। संस्कृत के आचार्यों ने व्यंग्यकाव्य को सर्वश्रेष्ठ माना है। लक्षणा और व्यंजना भाषा की

ऐसी शक्तियाँ हैं जिनमें भाषा सप्राण हो जाती है। इनका सम्बन्ध अर्थ से है। अभिधा से साधारण अर्थ व्यक्त होता है। लक्षणा द्वारा अर्थ के विस्तार से भाषा में रबड़ की भाँति खिंचकर बढ़ जाने की शक्ति आती है। शब्दों के अल्पव्यय से अर्थ-बाहुल्य में सुलभता आती है। वाक्-वैदग्ध्य आ जाता है। व्यंजना में शब्दों का आधार लक्षणा से भी कम हो जाता है और शब्द से संकेत पाकर अर्थ उमड़ पड़ता है। रचना में एक झंकार पैदा हो जाती है। वाक्य रचना में ऐसा प्रभाव उत्पन्न हो जाता है कि पाठक लेखक से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है। व्यंजना में यह बात अत्यन्त वाँछनीय है कि अर्थ व्यंग्य रहते हुए भी शब्द कहीं दुरूह न हो जाँय। आचार्यों ने इन प्रधान-शक्तियों के भी कई भेद किए हैं। शैली में भाषा और भाव का सामंजस्य इन तीनों शक्तियों के द्वारा होता है।

संक्षेप में शैली की यही विशेषताएँ एवं स्वरूप है। अब हम शैली की विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन करते हुए शैली और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

शैली की परिभाषा के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रकट किए हैं। उन्होंने एक ही बात को कई प्रकार से कहा है और जब हम उनके मतों की परस्पर तुलना करते हैं तो यही अंतिम निष्कर्ष निकलता है कि शैली अभिव्यक्ति का एक प्रकार है। बाबू गुलाबरायजी का कथन है कि—"काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेश-भूषा का। यद्यपि यह हमेशा ठीक नहीं कि जहाँ सुन्दर आकृति हो वहाँ सुन्दर गुण भी होते हों तथापि आकृति और वेशभूषा गुणों के मूल्याङ्कन में बहुत कुछ प्रभावित करते हैं।" इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि शैली के द्वारा हम उस कृति के स्वरूप का पता लगा सकते हैं। यदि हम एक चित्र के निर्माण में सुन्दर सुरुचि पूर्ण रंगों का आवश्यकतानुसार संतुलित उपयोग करते हैं तो वह चित्र अवश्य ही सुन्दर बनेगा। उस चित्र की सुन्दरता से यह भी सिद्ध होगा कि उस चित्र के बनाने वाले चित्रकार की भावनाएँ भी सुन्दर होंगीं। इस प्रकार हम उस चित्र के द्वारा उस कलाकार के व्यक्तित्व का परिचय अनायास ही प्राप्त कर लेंगे। साथ ही यह सम्भव है कि हम उस चित्र द्वारा उक्त कलाकार के व्यक्तित्व के एक ही पक्ष का परिचय प्राप्त कर सकें। परन्तु यह प्राकृतिक नियम है कि सच्चा कलाकार अपने और अपनी कृति के प्रति सदैव ईमानदार रहता है अतः उसकी कृति हमें धोखा नहीं दे सकती। इसी प्रकार हम किसी भी साहित्यिक की शैली को—अभिव्यक्ति के प्रकार को—देखकर उसके व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं।

एक प्रकार से बाबू गुलाबरायजी की बात का ही समर्थन करते हुए डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने कहा था कि "भाव, विचार और कल्पना तो हममें प्राकृतिक रूप से वर्तमान रहते हैं और साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हममें रहती है। अब यदि शक्ति को बढ़ाकर, संस्कृत और उन्नत करके हम उसका उपयोग कर सकें तो उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के द्वारा हम संसार के ज्ञान भण्डार की वृद्धि करके उसका कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।" अपनी इस प्रच्छन्न ईश्वर प्रदत्त शक्ति को संस्कृत एवं उन्नत करने की भावना एवं शक्ति प्रत्येक प्राणी में नहीं होती। यदि उसके भाव एवं चरित्र उन्नत होंगे तो वह अपनी इस शक्ति को भी उन्नत कर सकेगा अन्यथा नहीं। इसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में हमें शैलियों के विभिन्न रूप मिलते हैं—कोई सुन्दर एवं सशक्त और कोई दुर्बल एवं नीरस। कारण, इनके लेखकों में उपर्युक्त शक्ति का कम या अधिक होना ही है। शैली को देखकर ही हम लेखक के व्यक्तित्व का परिचय पा लेते हैं कि उसका व्यक्तित्व शक्तिशाली एवं प्रतिभापूर्ण है अथवा नहीं। शक्ति की इसी प्रधानता को मानते हुए डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—"भावों की कुशल अभिव्यक्ति ही शैली है।"

शैली की उपर्युक्त शक्ति एवं विशेषता को लक्ष्य कर एक बार लार्ड चेस्टरटन ने अपनी 'पुत्र के नाम पत्र' नामक पुस्तक में लिखा था—"शैली विचारों का परिधान है।" अर्थात् हम अपने विचारों को शैली के माध्यम द्वारा प्रकट करते हैं। जैसे हमारे विचार होंगे वैसी ही हमारी शैली होगी और जैसा हमारा व्यक्तित्व होगा वैसे ही हमारे विचार होंगे। जिस प्रकार हम किसी भी व्यक्ति की वेषभूषा से उसकी रुचि का पता लगा लेते हैं उसी प्रकार शैली द्वारा हम लेखक के विचारों की गम्भीरता आदि का पता पा जाते हैं। शान्त एवं सात्विक विचारों वाले व्यक्ति की वेषभूषा अत्यन्त सादा और सरल होगी इसके विपरीत विलासी एवं रंगीले व्यक्ति की वेशभूषा में तड़क-भड़क होगी। उसी प्रकार एक शान्त, सात्विक एवं गम्भीर विचारों वाले लेखक की शैली में संयम एवं गम्भीरता के दर्शन होंगे तथा विलासी एवं दिखावटी लेखक की शैली में बनावटीपन एवं अश्लीलता का प्रदर्शन मिलेगा। उसमें विचारों की गम्भीरता के अभाव की पूर्ति शब्दाडम्बर द्वारा पूरी की जायगी।

शैली, विचार एवं व्यक्तित्व के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को सर्व प्रथम प्रकट करते हुए जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान 'वफन' महोदय ने लिखा था कि—"Style is the man himself" अर्थात् शैली मनुष्य का स्वरूप है।

हमारे साहित्य में शैली के लिए प्राचीन शब्द 'रीति' मिलता है। 'रीति' स्थानीय विशेषता की द्योतक मानी जाती थी। प्रदेश विशेष के लेखकों में एक विशेषता पाई जाती थी, इसी कारण रीतियों का नाम उसी प्रदेश विशेष के नाम पर पड़ा, जैसे वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी आदि। इस प्रकार शैली और रीति एक ही प्रतीक होती हैं। अस्तु, किसी मनुष्य की शैली को देखकर ही हम उसके स्वरूप से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं। कवि या लेखक की कृति उसके व्यक्तित्व का व्यक्तीकरण कर देती है। जिन विद्वानों ने कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन करते हुए उनकी शैलियों से परिचय प्राप्त किया है वे बिना कवि का नाम जाने ही तुरन्त पहचान लेते हैं कि अमुक पंक्ति कबीर की, अमुक सूर की, अमुक तुलसी की तथा अमुक बिहारी की है। कवियों की व्यक्तिगत विशेषता के आधार पर ही विद्वान किसी भी कवि की रचना में प्रक्षिप्त अंश ढूँढ़ निकालते हैं।

रामचरितमानस तथा पृथ्वीराज रासों के क्षेपक एवं प्रक्षिप्त अंशों का पता उन्हीं विद्वानों ने लगाया है जो तुलसी एवं चन्द बरदायी की शैलियों से परिचित हैं। अंधा मनुष्य आवाज सुनकर ही आवाज देने वाले को पहचान लेता है। इसका कारण यह है कि अन्धा पहले आवाज देने वाले की ध्वनि एवं वार्त्तालाप शैली का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुका होता है।

विषय और शैली का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यदि विषय गंभीर होगा तो शैली भी गम्भीर होगी। ठीक उसी प्रकार जो लेखक जैसी रुचि, जैसी प्रकृति और जैसे व्यक्तित्व वाला होगा, उसकी रचना शैली भी ठीक वैसी ही होगी। इसलिए 'वफन' महोदय का उपर्युक्त कथन अक्षरशः ठीक है। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि एक से व्यक्तित्व एवं प्रतिभा वाले दो लेखकों की कृतियाँ हमारे सामने आ जाती हैं तो हमें असली लेखक को पहचानने में भ्रम भी होता है। हिंदी साहित्य में ऐसी घटना घट चुकी है। बिहारी अपनी सरलता, वाग्वैदग्ध्य तथा भाषा सौष्ठव के लिए विख्यात हैं। रसिक उनके दोहों को तुरन्त पहचान लेते हैं परन्तु एक अत्यन्त सुन्दर दोहे को देखकर अनेक विद्वान् बहुत समय तक भ्रमवश उसे बिहारी का ही दोहा मानते रहे। दोहा निम्नलिखित है—

"अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

आचार्य शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस भ्रम का उद्घाटन करते हुए बताया कि यह दोहा रसलीन नामक कवि का है। इस भ्रम का कारण यह था कि इस दोहे में वे सभी गुण वर्तमान हैं जो बिहारी के दोहों

में पाये जाते हैं। सम्भव है कि बिहारी और रसलीन के व्यक्तित्व में कुछ आंशिक समानता रही हो।

शैली और व्यक्तित्व की घनिष्ठता को प्रमाणित करने के लिए हम तुलसी और सूर की रचनाओं तथा उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण कर यह सिद्ध करेंगे कि दोनों का व्यक्तित्व भिन्न था जो उनकी रचनाओं से लक्षित होता है। तुलसी एक अत्यन्त उच्चकोटि के भक्त थे। वे तत्कालीन शासन व्यवस्था, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से असन्तुष्ट थे। उनमें एक सर्वदर्शी, अद्भुत प्रतिभावान संत के सभी गुण वर्तमान थे। इन्हीं गुणों के कारण ही उनका काव्य इतना व्यापक और प्रभावशाली बन सका। विभिन्न शैलियों के सफल अनुकरण में उनकी विद्वता, विशाल अध्ययन एवं अद्भुत प्रतिभा के दर्शन होते हैं। विनय पत्रिका के रूप में राम के प्रति उनके हृदय की अनन्य भक्ति प्रकट होती है। परिस्थितियों के प्रति असंतोष से उनकी लोक कल्याण की भावना उनके सम्पूर्ण काव्य में यत्र-तत्र बिखरी दिखाई देती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तुलसी का विशाल व्यक्तित्व उनके काव्य में साकार हो उठा है। उसमें मस्तिष्क एवं हृदय का अद्भुत समन्वय है। इसी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें बुद्धदेव के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक माना है।

सूर का व्यक्तित्व तुलसी से भिन्न था। (यहाँ हमारा उद्देश्य सूर और तुलसी की तुलना करना न होकर केवल व्यक्तित्व की विशेषताएं बतलाना है) सूर एक निस्पृह कृष्ण भक्त थे। अन्धे होने के कारण संसार से उनका प्रत्यक्ष नाता टूट सा चुका था। बहिर्जगत से हीन होकर वह अन्तर्जगत में लीन हो गये थे। उनकी सबसे बड़ी प्रतिभा उनके हृदय की तीव्र वेदना एवं भक्ति थी। अध्ययन भी उनका सीमित ही था परन्तु अन्धे होने के कारण उनकी आंतरिक दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म ग्राही बन गई थी। सूर के व्यक्तित्व की इन विशेषताओं का प्रमाण उनका साहित्य है। उनके साहित्य में मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय की प्रधानता है। लोक को उन्होंने एक ओर उठाकर रख दिया है। एक प्रकार से लोक की ओर से आँखें ही बन्द कर ली हैं। उनके काव्य में जहाँ कहीं भी काव्यगत चमत्कार मिलता है वह सुनी सुनाई बातों का अनुकरण मात्र है। शैली भी केवल पदों की एक सी है। परन्तु इन सभी के ऊपर उनके हृदय की तीव्र वेदना एवं भक्ति उनके काव्य को अत्यन्त ऊँचा उठा देती है। यद्यपि उनके काव्य का कलापक्ष तुलसी के समान उच्च नहीं है परन्तु भावपक्ष में वे तुलसी से कहीं आगे हैं। कारण, उनका एकमात्र उद्देश्य अपने आराध्य बाल-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना मात्र था। शान्त स्वभाव के सन्तोषी भक्त

होने के कारण यह कार्य उन्होंने अत्यन्त तन्मयतापूर्वक किया। अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का उपयोग उन्होंने उसी वर्णन के करने में किया। इसी कारण तुलसी की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए भी आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक को मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करना पड़ा कि श्रृङ्गार और वात्सल्य के सूर सम्राट हैं। यह उनके व्यक्तित्व का ही प्रभाव था जिसका प्रकाशन उन्होंने अपने काव्य में किया है। उनके हृदय की सम्पूर्ण दीनता, सरलता, कोमलता उनके काव्य में साकार हो उठी है।

आधुनिक गद्य लेखकों में सबसे गम्भीर, सशक्त एवं प्रभावपूर्ण शैली आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मानी जाती है। अपनी शैली के समान शुक्लजी का व्यक्तित्व भी अत्यन्त गम्भीर एवं प्रभावशाली था। उनकी शैली से प्रभावित होकर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था कि "वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'न', बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका अपना मत सोलह आने अपना है। तनकर वे कहते हैं 'मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं।" उक्त कथन से शुक्लजी का व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है। कहा जाता है कि वे इतने गम्भीर थे कि उनके मुख पर हँसी कभी-कभी ही दिखाई पड़ती थी। पढ़ाते समय उनकी कक्षा में पूर्ण शान्ति रहती थी। इसके विपरीत लाला भगवानदीन की कक्षा बड़ी सरस होती थी क्योंकि उनका व्यक्तित्व ही सरस था। शुक्लजी ने अपने इसी गम्भीर, सशक्त एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही हिन्दी साहित्य में जिस किसी लेखक को चमकाना चाहा चमका दिया तथा जिसे गिराना चाहा उसे धूल में मिला दिया। उनके गिराये हुए रीतिकालीन कवि अभी तक नहीं उठ पाए और उनके उठाये हुए जायसी हिन्दी कवियों की प्रथम पंक्ति में जा बैठे। इसका कारण शुक्ल जी की प्रतिभा एवं व्यक्ति ही था।

आधुनिक कवियों में प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी अपने विभिन्न व्यक्तित्व एवं शैलियों को लेकर आये। प्रसाद की मुखमुद्रा देखने से प्रतीत होता था मानो कोई वैदिक ऋषि अपनी प्रशान्त गम्भीर मुद्रा में बैठा हो। उनका प्रशस्त ललाट, उनकी प्रतिभा एवं भावपूर्ण गम्भीर नेत्र उनके हृदय की विशालता एवं उदारता के परिचायक थे। व्यक्तिगत व्यवहार में वे अत्यन्त नम्र, शालीन एवं गम्भीर थे। उनका यह अद्भुत व्यक्तित्व उनके काव्य में प्रतिबिम्बित हो रहा है। प्रसाद जी के समान ही उनका काव्य भी विशाल,

गम्भीर एवं भावपूर्ण है। उसे पढ़कर यह विश्वास करने पर वाध्य होना पड़ता है कि इसका प्रणेता एक अद्भुत प्रतिभा एवं शक्ति वाला व्यक्ति होगा। उनमें प्रशान्त गम्भीरता थी जिसकी थाह पाना प्रत्येक के लिए सुगम नहीं था। फलस्वरूप उनका काव्य भी जनसाधारण का न बन कर बुद्धिजीवियों का काव्य बना। प्रसाद के व्यक्तित्व के विपरीत व्यक्तित्व हम पन्त का पाते हैं। मध्यम कद, गौरवर्ण, विशाल भावपूर्ण भोली आँखें, कोमलकान्त कलेवर, नारीत्व के परिचायक घने, काले, लम्बे केश तथा कोमल एवं परिष्कृत वेषभूषा को देखकर ही कोई यह अनुमान लगा सकता है कि यह व्यक्ति संघर्ष के योग्य नहीं। इसमें इतनी शक्ति नहीं कि यह संसार की विभीषिका से टक्कर ले सके। फलस्वरूप पन्त जी हिंदी साहित्य में कोमल कान्त पदावली के स्रष्टा के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके काव्य में सर्वत्र वही कोमलता, करुणा, बालकों की सी भोली जिज्ञासा मिलती है जो उनके व्यक्तित्व में है। कठोरता की परिचायक उनकी केवल 'परिवर्तन' नामक कविता मिलती है। बाकी का सभी साहित्य उनकी कोमलता से ओतप्रोत है। आगे चलकर वह अपनी इसी कोमलता के कारण प्रगतिवाद का पूर्ण अनुगमन न कर सके और पुनः अपने कल्पना लोक की कोमल रंगीनियों में लौट आए।

पन्त के बिल्कुल विपरीत निराला हैं। लम्बा कद, पहलवानों का सा विशाल शरीर, लम्बे-लम्बे कठोरता के परिचायक बाल, विशाल चमकते हुए नेत्र, एक तहमद के ऊपर ढीला ढाला कुरता देखकर उनसे भय सा लगता है—परन्तु केवल प्रथम दर्शन में ही। उनकी वेशभूषा एवं शरीर को देख कर अनायास ही कोई कह उठेगा कि यह व्यक्ति अत्यन्त अक्खड़, प्रतिभावान तथा विद्रोही स्वभाव का है। साहित्य के क्षेत्र में निराला का भाषा एवं छन्द सम्बन्धी विद्रोह संसार प्रसिद्ध है। उन्होंने न तो जीवन के क्षेत्र में झुकना सीखा है और न साहित्यिक क्षेत्र में। सशक्त व्यक्तित्व के समान ही उनकी शैली भी अत्यन्त सशक्त एवं गम्भीर है। उनकी भाषा में अधिकाँशतः गाम्भीर्य एवं सशक्तता ही मिलती है। महादेवी वर्मा का व्यक्तित्व करुणा कलित है। उनके काव्य में भी यही करुणा व्याप्त है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के द्वारा हमने देखा कि शैली और व्यक्तित्व एक दूसरे के सापेक्ष हैं। उपर्युक्त सभी व्यक्तियों की रचनाओं को देखकर हम तुरन्त पहचान लेते हैं कि यह अमुक की रचना है क्योंकि शैली सदैव व्यक्तित्व के अनुरूप ही होती है।

—:०:—

२१—समाज और साहित्य

साहित्य समाज की चेतना में साँस लेता है। वह समाज का वह परिधान है जो जनता के जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आकर्षण-विकर्षण के ताने वाने से बुना जाता है। उसमें विशाल मानवजाति की आत्मा का स्पन्दन ध्वनित होता है। वह जनता के जीवन की व्याख्या करता है इसी से उसमें जीवन देने की शक्ति आती है। वह मानव को लेकर ही जीवित है इसलिए वह पूर्णतः मानव केन्द्रित है। साहित्य उसी मानव की अनूभूतियों, भावनाओं और कलाओं का साकार रूप है। और मानव सामाजिक प्राणी है। सामाजिक समस्याओं, विचारों तथा भावनाओं का जहाँ वह सृष्टा होता है वहीं वह उनसे स्वयं भी प्रभावित होता है। इसी प्रभाव का मुखर रूप साहित्य है। इसीसे विद्वानों ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा है।

साहित्य का अर्थ है जो हित सहित हो। भाषा द्वारा ही साहित्य हितकारी रूप में प्रकट होता है। भाषा मनुष्य की सामाजिकता को विशेष रूप से पुष्ट करती है। उसी के द्वारा मानव-समाज में सहकारिता का भाव उत्पन्न होता है। साहित्य मानव के सामाजिक सम्बन्धों को और भी दृढ़ बनाता है क्योंकि उसमें सम्पूर्ण मानव जाति का हित सम्मिलित रहता है। साहित्य साहित्यकार के भावों को समाज में प्रसारित करता है जिससे उसमें सामाजिक जीवन स्वयं मुखरित हो उठता है।

समाज की उन्नति तभी सम्भव है जब हमारा हृदय विकसित और बुद्धि परिष्कृत हो। दोनों कार्यों के लिए साहित्य सबसे प्रभावशाली साधन है। वह हमारी अनुभूतियों का परिष्कार करता है। साहित्य सेवन से हमारा मन परिष्कृत और हृदय उदार हो जाता है। साहित्य का आनन्द लेने के लिए हमें सतोगुणात्मक वृत्तियों में रमने का अभ्यास हो जाता है। साहित्य सेवन से मनुष्य की भावनाएँ कोमल बनतीं हैं। उसके भीतर मनुष्यता का विकास होता है, शिष्टता और सभ्यता आती है जिससे दूसरों के साथ व्यवहार करने में कुशलता प्राप्त होती है। इससे समाज में शान्ति की स्थापना होकर विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः सामाजिक जीवन में साहित्य का महत्व निर्विवाद है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजन छः बताए हैं—

"काव्यं यशसेऽर्थकरे व्यवहार विदे शिवेतरक्षत ये ।
सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेश युजे ॥"

अर्थात् काव्य का प्रयोजन है यश, धन, व्यवहार, कुशलता, अमंगल से रक्षा, आनन्द और कान्ता के समान मधुर उपदेश । ये छः प्रयोजन जीवन के भी सर्वमान्य प्रयोजन हैं । जीवन में हमें यश की आकांक्षा रहती है, धन भी सभी चाहते हैं । जीवन के सुचारु संचालन के लिए व्यवहार कुशलता की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है । अमंगल से रक्षा हुए बिना जीवन अभिशाप बन जाता है । मधुर उपदेश के प्रभाव के उदाहरण स्वरूप सम्पूर्ण साहित्य उपस्थित किया जा सकता है । जब अनेक नीति शास्त्र उपदेश और ताड़ना द्वारा हमें समझाने में असमर्थ रहते हैं तब भी मधुरता और कोमलता से यही वाणी हमें वश में करके हममें जो चाहती है वह करा लेती है और उपर्युक्त प्रयोजनों की आवश्यकता हमें तभी पड़ती है जब हम समाज के एक अभिन्न अङ्ग होते हैं । बनवासी-समाज से विच्छिन्न-व्यक्ति के लिए इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती । फिर हम समाज और साहित्य को पृथक करके कैसे देख सकते हैं ।

आज तक विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं का सबसे बड़ा उद्देश्य और प्रयत्न मानव जीवन को अधिक से अधिक सुन्दर और आनन्दमय बनाने का रहा है । विज्ञान ने सदैव से यह प्रयत्न किया है कि वह मानव को यथाशक्ति श्रम के भार से मुक्त कर उसे शारीरिक और भौतिक सुविधा दे सके । राजनीति समाज को आर्थिक एकता के सूत्र में बद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है और दर्शन आध्यात्मिक सिद्धान्तों की खोज और प्रसार द्वारा मानव को एकता का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न करता आया है और कर रहा है । परन्तु उनका यह काम बिना कवि की सहायता के पूर्ण नहीं हो सकता । समाज के लिए भौतिक सुविधा भी उतनी ही आवश्यक है जितने कि आध्यात्मिक सिद्धान्त, परन्तु वह इन सबसे ऊपर उस सत्य और सौन्दर्य को प्राप्त करना और उसका उपभोग करना चाहता है जो उसे जीवन की प्रत्येक सम-विषम परिस्थिति में अनुप्राणित कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहता है । साहित्यकार जब इन भौतिक सुविधाओं और दार्शनिक सिद्धान्तों को कलात्मक ढङ्ग से उपस्थित करता है तभी हमारे मन में उनके प्रति अनुराग और पावन भावना उत्पन्न होती है । ऐसा होने पर ही हमारे मन में ओज, बाहुओं में बल, मुख पर प्रसन्नता, हृदय में उत्साह और प्रेम, बुद्धि में विवेक तथा आत्मा में आनन्द उल्लास प्रवाहित होता है । कवि का सत्य हमारे जीवन का सत्य है और हमारे हृदय और भावनाओं का सत्य है जिसके माध्यम से हम एक दूसरे से मिले हुए हैं ।

इसलिए सामाजिक उन्नयन में साहित्य का भाग सर्वोपरि और सर्व प्रमुख है।

हमारे सामाजिक जीवन की परिपूर्णता के लिए शान्ति एवं सहयोग की आवश्यकता सर्वोपरि है। आप आँख दिखाकर किसी को वश में नहीं कर सकते। केवल मधुर और कोमल वाणी ही हृदय पर प्रभाव डालती है और उसके द्वारा आप दूसरों से जो चाहे करा सकते हैं। तुलसी इस बात को जानते थे—

"तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण इक मन्त्र है, परिहरु बचन कठोर॥

अतः साहित्य का कान्ता सम्मित मधुर उपदेश बड़ा प्रभावकारी होता है। केशव के एक छन्द ने बीरबल को प्रसन्न कर राजा इन्द्रजीतसिंह पर किया हुआ जुर्माना माफ करवा दिया था। पृथ्वीराज के साहित्यिक पत्र ने महाराणा प्रताप को पुनः अकबर से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध कर दिया था। बिहारी के एक दोहे ने राजा मिर्जा जयशाह का जीवन बदल दिया था। यह तो हुआ हमारे सामाजिक जीवन के बाह्य पक्ष पर साहित्य का प्रभाव।

हमारे जीवन के आध्यात्मिक विकास के लिए साहित्य हमारे हृदय में अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है। इस प्रकार साहित्य हमारे वाह्य एवं आन्तरिक जीवन को निरंतर प्रभावित करता रहता है। जीवन की पूर्णता के लिए एवं उसको सुन्दर, मधुर, सरस और व्यापक बनाने के लिए साहित्य अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त हमारी विकलता एवं किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता के अवसर पर साहित्य हमारी सहायता कर उस निराशा को दूर करता है। इस प्रकार साहित्य हमारा माता के समान पालन करता है, पिता के समान हमारी रक्षा और वृद्धि करता है, गुरु के समान शिक्षा देता है, सुहृद के समान मार्ग दिखाता है और प्रिया के समान मधुर स्नेह की साकार मूर्ति बनकर सामने आता है। ऐसे साहित्य से हमारे जीवन का अटूट सम्बन्ध है।

हमारे यहाँ साहित्य की तीन विशेषताएं मानी गईं हैं—

१—हित साधन करना—"हितं सन्निहितं तत् साहित्यम्।"

२—मानव-मनोवृत्तियों को तृप्त करना—"सहितं रसेन युक्तम् तस्य भावः साहित्यम्।"

३ – मानव-मनोवृत्तियों को उन्नत करना—"अवहितं मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम्।" इससे प्रकट होता है कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य मानवमात्र का हित-साधन करना है। ऐसा करके वह सामाजिक उन्नति में सब से बड़ा सहयोग प्रदान करता है।

समाज और साहित्य का उपर्युक्त सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। बाल्मीकि ने अपनी रामायण में एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का चित्रण कर अपने दृष्टिकोण के अनुसार समाज के विभिन्न पहलुओं की विवेचना करते हुए यह सिद्ध किया है कि मानव-समाज किस पथ का अनुसरण करने से पूर्ण सन्तोष और सुख का उपभोग करता है। तुलसीदास ने भी अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर राम-राज्य और राम-परिवार को हिंदू समाज के सम्मुख आदर्श रूप में उपस्थित किया है। "कवि वास्तव में समाज की व्यवस्था, वातावरण, धर्म, कर्म, रीति-नीति तथा सामाजिक शिष्टाचार या लोक व्यवहार से ही अपने काव्य के उपकरण चुनता है और उनका प्रतिपादन अपने आदर्शों के अनुरूप ही करता है। साहित्यकार उसी समाज का प्रतिनिधित्व करता हैं जिसमें कि वह जन्म लेता है। वह अपनी समस्याओं का सुलझाव अपने आदर्शों की स्थापना अपने समाज के आदर्शों के अनुरूप ही करता है। जिस सामाजिक वातावरण में उसका जन्म होता है, उसी में उसका शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक विकास भी होता है।" इस प्रकार साहित्यकार जिस समाज का अङ्ग होता है उस समाज का ही चित्रण करता है। यह दूसरी बात है कि वह इस चित्रण में समाज के सुधार की भावना से प्रेरित होकर एक आदर्श की स्थापना करता है या उसका यथातथ्य चित्रण कर, केवल एक संकेत देकर, दूर हट जाता है, जिससे समाज उस चित्रण पर मनन करने के लिए विवश होता है। ऐसे साहित्यकार युग-युग तक समादृत होते रहते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी साहित्यकार होते हैं जो समाज का यथातथ्य चित्रण कर कोई सुझाव या आदर्श उपस्थित करने में असमर्थ होते हैं। समाज ऐसे साहित्यकारों की ओर एक बार दृष्टिपात कर उन्हें सदैव के लिए भुला देता है।

साहित्य में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के पोषक जीवन या समाज में उसका कोई स्थान नहीं मानते। उनका कहना है कि साहित्य हमारी कल्पना का खिलवाड़ है। साहित्य चाहे रोमान्टिक हो या यथार्थवादी, प्रगतिशील हो या काल्पनिक या वास्तविक हो, कल्पना का पुट सब में कुछ न कुछ अवश्य रहता है और यह कल्पना केवल शून्यता का आधार लेकर हवाई महलों का निर्माण नहीं कर सकती। कल्पना का आधार भी वास्तविक जगत और समाज ही होता है। कवि अपने युग, अपने समाज, अपनी परिस्थिति की उपेक्षा कर महाशून्य में विचरण नहीं कर सकता। कोई भी साहित्यकार 'वास्तव' की उपेक्षा नहीं कर सकता। समाज की जो समस्यायें हैं उन्हीं के आधार पर साहित्य की सृष्टि हो सकती है। इसलिए साहित्य को समाज से पृथक करके

नहीं देखा जा सकता। साहित्यकार समाज का मुख और मस्तिष्क दोनों होता है। उसकी पुकार समाज की पुकार होती है। उसकी बनाई हुई सामाजिक भावों की मूर्ति समाज की नेत्री बन जाती है, इस प्रकार वह अपने समाज का उन्नायक और विधायक होता है। हम उसके द्वारा समाज के हृदय तक पहुँच जाते हैं।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में "कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद मिल जाता है वैसी ही उसकी कृति होती है। वह अपने समय के वायुमण्डल में घूमते हुए विचारों को मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है जिसका सब लोग अनुभव करते हैं किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव शक्ति औरों से बढ़ी चढ़ी रहती है।" इसलिए यदि साहित्यकार केवल कला का ही चित्रण करना चाहेगा तो वह अपने समाज से अछूता कैसे रह सकता है। प्रकट या अप्रकट रूप में उस पर सामयिक विचारधाराओं एवं परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। प्रत्येक युग का साहित्य इसका प्रमाण है। हमारे पौराणिक साहित्य में ब्राह्मण धर्म की जय घोषणा की गई है। बौद्ध युग और वैष्णव युग के साहित्य द्वारा भी साहित्यिकों ने अपने-अपने सम्प्रदाय एवं महत्व का प्रचार किया है। इसलिए युग-समस्या की उपेक्षा कर यदि कोई कलाकार कला की सृष्टि करना चाहेगा तो वह कला मिथ्या एवं कृत्रिम होगी। उसकी सामाजिक-उपादेयता नगण्य होगी और ऐसा होने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

समाज साहित्य का प्रतिबिम्ब है। लेकिन कुछ साहित्य प्रेमी इस प्रतिबिम्ब में अपनी रसिक आकृति के सिवा और कुछ भी नहीं देखना चाहते। वे इस बात का विरोध करते हैं कि साहित्य में सौंदर्य और वह भी निष्क्रिय सौंदर्य के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का चित्रण होना चाहिये क्योंकि उनकी दृष्टि में साहित्य केवल हमारे मनोरंजन का साधन है न कि हमें उसमें उपयोगिता ढूँढ़नी चाहिए। ऐसे साहित्य-प्रेमी रसिकों की भर्त्सना करते हुए डा० राम-विलास शर्मा ने उचित ही कहा है कि—"यदि रसिकगण दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं तो उन्हें साहित्य की परिभाषा बदल देनी चाहिये। तब कहना चाहिये कि साहित्य वह दर्पण है जिसमें समाज के उन विशेष लोगों की ही शक्ल दिखाई देती है जो दुपल्ली टोपी लगाए, पान खाए, सुरमा रचाये इस दुनियाँ से दूर नायिका-भेद के संसार में विचरण किया करते हैं। इन साहित्य-मर्मज्ञों के हृदय इतने "सहृदय" हो गए हैं कि जिस बात से चालीस करोड़ जनता के हृदय को ठोस लगती है, वह उनके मर्म को छू भी नहीं पाती।

इनका कुसुम-कोमल हृदय नकली गर्मी से उगने वाले पौधों की तरह एक कृत्रिम साहित्य की उत्तेजना पाकर ही विकसित होता है। ये लोग कहें तो ठीक ही होगा कि लेखकों को जनता से दूर ही रहना चाहिये।" अस्तु

इस प्रकार साहित्य और समाज निरन्तर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। दोनों में आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-भाव चलता रहता है। इसीसे सामाजिक उन्नति की आधारशिला दृढ़ बनती है। संसार में अभी तक हुए सम्पूर्ण परिवर्तनों या विप्लवों के मूल में कोई न कोई विचारधारा कार्यरत रहती आई है। इस विचारधारा का चित्रण साहित्य द्वारा होता है, वही हमारे ज्ञान को विस्तृत कर हमें वर्तमान से असन्तुष्ट बनाता है। उसके द्वारा जब हम दूसरों से अपनी अवस्था की तुलना कर अपने को हीन पाते हैं तब हमारे हृदय में असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। फ्रांस की प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति के मूल में वाल्तेयर और रूसो के क्रान्तिकारी विचार कार्य कर रहे थे। रूस की राज्यक्रान्ति भी रूसी लेखकों के उग्र विचारों का ही प्रतिफल थी। भारतीय स्वाधीनता के संग्राम में स्वतन्त्र देशों के स्वतन्त्र विचारधारा से प्रभावित साहित्य ने बहुत बड़ा भाग अदा किया था। यह तो हुआ साहित्य का सत्प्रभाव। इसके विपरीत कुछ साहित्यकार ऐसे भी होते हैं और हुये हैं जो दूसरी जाति को पराधीन बनाने के लिये उनकी सभ्यता और संस्कृति का बड़ा विकृत चित्रण करते हैं। आयरिश स्वाधीनता संग्राम के पीछे उसके प्रति-पक्षी इङ्गलैंड के कतिपय साहित्यकारों का यही प्रयत्न कार्य कर रहा था। उन लोगों ने आयरिश जाति में ऐसे साहित्य का वितरण किया जो उस जाति के जातीय साहित्य एवं संस्कृति के आदर्श को ध्वस कर उनकी दृष्टि में आयर-लैण्ड के अतीत को निन्दनीय सिद्ध कर शासक जाति के प्रति मर्यादा का भाव उनके मन में जाग्रत कर सके। पार्नल के राजनीतिक जीवन के अवसान के बाद आयरिश देश भक्तों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। तब साहित्य-साधना के मार्ग से आयरिश जाति में नूतन जीवन का उद्बोधन करने की चेष्टा होने लगी। नित्शे आदि जर्मन दार्शनिकों के विचार, जिन्होंने जर्मन जाति में शक्ति की उपासना तथा अपनी सभ्यता के विस्तार के भाव उत्पन्न किये थे, बिगत विभिन्न महासमरों के लिए उत्तरदायी हैं। वीरगाथा कालीन चारणों के उत्ते-जना पूर्ण छन्द अपने आश्रयदाताओं को उत्तेजित कर सदैव मार काट के लिए प्रेरित करते रहते थे।

इसके विपरीत संसार में सदैव से ऐसे साहित्य की रचना अधिक होती आई है जो मानवजीवन में सुख और शान्ति की भावना भरता आया है। कबीर और तुलसी का साहित्य इसका प्रमाण है। 'मानस' ने कितने हताश एवं भीरु

हृदयों को सान्त्वना देकर कर्मक्षेत्र में अवतरित होने के लिए सन्नद्ध किया है। समर्थ रामदास और महारष्ट्र सन्तों का उपदेश और भूषण आदि कवियों की उत्साह प्रदायिनी रचनाओं ने महाराष्ट्र के उत्थान में कितनी सहायता दी थी। प्रेमचन्द के साहित्य ने हमारी सामाजिक और राजनीतिक चेतना को कितना प्रभावित किया था। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों ने हमारे हृदय में हमारे गौरवमय अतीत की भावना भर कर हमें अपनी वर्तमान दीनावस्था की ओर देखने के लिए बाध्य किया था। हमारे ऐतिहासिक साहित्य की रचना करने वाले साहित्यकारों ने हमारे हृदय में विदेशियों द्वारा आरोपित इस भाव को, कि हमारे पूर्वज जंगली थे, जड़-मूल से उखाड़ फेंका था। इसी प्रकार साहित्य समाज को युग-युगान्तरों से प्रभावित करता आया है।

साहित्य का प्रभाव इतना अक्षुण्ण होता है कि उसके प्रभाव के सम्मुख शस्त्रों का आतङ्क फीका पड़ जाता है। साहित्यिक विजय शाश्वत होती है और शस्त्रों की विजय क्षणिक। अंग्रेज तलवार द्वारा भारत को दासता की शृङ्खला में इतनी दृढ़ता पूर्वक नहीं बाँध सके जितना कि अपने साहित्य के प्रचार और हमारे साहित्य का ध्वंस करके सफल हो सके। आज उसी अंग्रेजी का प्रभाव है कि हमारे सौंदर्य सम्बन्धी विचार, हमारी कला का आदर्श, हमारा शिष्टाचार आदि सब यूरोप से प्रभावित हो रहे हैं। यूनान ने अपनी कला द्वारा सम्पूर्ण यूरोपीय जीवन को प्राचीनकाल से लेकर आज तक प्रभावित कर रखा है। यह समाज पर साहित्य के प्रभाव का प्रतीक है।

साहित्य हमारे अमूर्त्त और अस्पष्ट भावों को मूर्त्त रूप देकर, उनका परिष्कार कर, हमें प्रभावित करता है। हमारे अपने विचार ही साहित्य का आवरण डालकर समाज का नेतृत्व करते हैं। साहित्य हमारे विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ करके उन्हे कार्यरत बनाता है। साथ ही साहित्य गुप्त रूप से हमारे सामाजिक संगठन और जातीय जीवन की वृद्धि में निरन्तर योग देता रहता है। हम अपने विचारों को अमूल्य समझते हैं। उन पर हमें गर्व होता है और साहित्यकार हमारे उन्हीं विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए हम उन्हें अपने जातीय सम्मान और गौरव के संरक्षक मान कर यथेष्ठ सम्मान प्रदान करते हैं। शेक्सपीयर और मिल्टन पर अंग्रेजों को गर्व है। कालिदास, सूर और तुलसी पर हमें गर्व है क्योंकि उनका साहित्य हमें एक संस्कृति और एक जातीयता के सूत्र में बाँधता है। अपनी किसी सम्मिलित वस्तु पर गर्व करना जातीय जीवन और सामाजिक संगठन का प्राण है। जैसा हमारा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ बन जाती हैं और उन्हीं के अनु-

कूल हम कार्य करने लगते हैं। इस प्रकार साहित्य केवल हमारे समाज का दर्पण मात्र न रह कर उसका नियामक और उन्नायक भी होता है।

किसी भी जाति, सम्प्रदाय या धर्म की जो मान्यताएँ और विचार होते हैं उन्हीं के अनुसार उसके साहित्य का निर्माण होता है। मुसलमान मूर्ति पूजा के विरोधी हैं अतः उनके साहित्य में नाटकों का एकान्त अभाव है। इसी प्रकार मिल्टन के 'पैरेडाइज लॉस्ट' की तुलसी कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे और न मिल्टन उनके 'मानस' की। इसका कारण यह है कि प्रत्येक जाति का अपना रहन-सहन, रीति-रिवाज और आचार-विचार होते हैं। साहित्य में उन्हीं का चित्रण होता है। अन्य साहित्य किसी भी दूसरे साहित्य को प्रभावित अवश्य करते हैं और कर सकते हैं परन्तु आंशिक रूप में।

साहित्य और समाज में घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी दोनों में थोड़ा सा अन्तर रहता ही है। जीवन की एक अक्षुण्ण धारा है। साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें एकत्रित होने लगती हैं। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित, अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनाओं की शृङ्खला का समष्टि रूप है। यह सत्य है कि तत्कालीन समाज साहित्य को प्रभावित करता रहता है परन्तु साहित्यकार का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही न होकर अतीत और भविष्य से भी होता है। महान कलाकार तो देश और काल की सीमा से ऊपर सार्वभौम समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके लिए सामयिक जीवन का उतना ही महत्व है जितना वह उनके विराट सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्य में कुछ ऐसा विशिष्टतापूर्ण वर्णन होता है जो यथार्थ जीवन से मेल नहीं खा पाता, इसका कारण यह है कि साहित्य में मानव का जीवन ही नहीं जीवन की वे कामनाएँ, जो अनन्त जीवन में भी पूर्ण नहीं हो सकती, निहित रहती हैं। साहित्य जीवन की इन्हीं अपूर्णताओं को पूर्ण करता है। तभी वह जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्ग दृष्टा भी है।

२२—रस निष्पत्ति

रस निष्पत्ति के मूल-प्रवर्तक नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि हैं। उन्होंने रस के बारे में जो बतलाया है वह इतना अस्पष्ट है कि उसके आधार पर उसका वास्तविक अर्थ लगाने के लिए कोई भी कल्पना की जा सकती है। उनका रस सम्बन्धी सूत्र निम्नलिखित है—

विभावानुभाव व्यभिचार संयोगाद्रस निष्पत्ति :—

अर्थात् विभाव (नायक नायकादि आलम्बन और वाद्य, वीणा, **मलय समीरादि** उद्दीपन) अनुभाव (अश्रु, स्वेद, कम्पादि, शारीरिक विकार और चेष्टायें), व्यभिचारी भाव, (हर्ष, स्मरण आदि) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसमें 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द ही अब तक विवाद के विषय रहे हैं और भरतमुनि के परवर्ती आचार्यों के इस संबंध में विविध मत चलते चले आ रहे हैं। प्रश्न यह था कि 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द से भरत मुनि का क्या तात्पर्य था। इसी को लेकर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इनके भिन्न-भिन्न अर्थ किए, जिस कारण रस सम्बन्धी कितने ही मत चल पड़े। उनकी व्याख्या करने वालों में चार आचार्य प्रमुख हैं। (१) भट्टलोलट्ट (२) श्री शंकुक (३) भट्ट नायक (४) अभिनव गुप्त। आगे चलकर कुछ और भी विचारक हुए।

भट्टलोलट्ट का उत्पत्तिवाद—इस सूत्र के प्रथम व्याख्याता भट्टलोलट्ट हैं। ये मीमांसक थे। इन्होंने अपना 'उत्पत्तिवाद' चलाया जिसके अनुसार निष्पत्ति का अर्थ लिया उत्पत्ति और 'संयोग' का अर्थ लिया कार्य-करण सम्बन्ध। कार्य से तात्पर्य है स्थायीभाव द्वारा रस और कारण से तात्पर्य है विभाव (आलम्बन+उद्दीपन) और संचारी भाव। अधिक स्पष्ट करने के लिये इसे यों भी कह सकते हैं।

(क) स्थायी भाव (यद्यपि स्थायी भाव सूत्र में है नहीं किंतु रस के लिए स्थायी भाव तो मूल हैं) आलम्बन द्वारा उत्पन्न होकर, उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त होकर, संचारी द्वारा पुष्ट होकर, भावों द्वारा व्यक्त होकर (प्रतीत योग्य बन कर) अनुकार्य (मूल पात्र में) रस रूप में रहता है अर्थात् स्थायी भाव उत्पन्न होता है जो रस रूप में आता है। उत्पन्न करने के कारण विभाव और संचारी भाव हैं, जो उसे प्रतीत योग्य बनाते हैं। (अर्थात् व्यक्त करते हैं) अनुभाव इस

प्रकार कारण (विभाव=संचारी × अनुभाव) और कार्य (रस रूप में ही परिणत होने वाला स्थायी भाव) का सम्बन्ध है।

(ख) नट अभिनय द्वारा केवल उनका अनुकरण करता है। वास्तव में वह रस रूप स्थायी भाव नट में उत्पन्न नहीं होता। अनुभावों के अभिनय द्वारा या उसकी वेष भूषा द्वारा नट में उसका आरोप (प्रतीति) कर लिया जाता है। नट का अर्थ तो केवल अनुकरण की कुशलता है।

(ग) वह रस रूप में रहने वाला स्थायी भाव प्रेक्षक या दर्शक में भी नहीं रहता। प्रेक्षक केवल नट के कुशल अभिनय द्वारा नट में ही उस रस की प्रतीति कर चमत्कृत हो जाता है और चमत्कार आनन्द हो सकता है।

(घ) इस प्रकार सारांश यह है कि मूल पात्र (अनुकार्य) का रस नट (अनुकर्त्ता) द्वारा (सामाजिक या दर्शक में) केवल चमत्कार के नाम से गौण रूप में रहता है; अर्थात् प्रधान विषय रस है। जिसका प्रधान कारण है अनुकार्य का हृदय जहाँ वह उत्पन्न होकर रहता है। नट उसकी प्रतीति करने का माध्यम है और प्रेक्षक गौण हैं जो चमत्कृत होकर ही आनन्दित हो जाते हैं।

(ङ) इस प्रकार रस सिद्धान्त के तीन नामकरण किए जा सकते हैं—

१—उत्पत्तिवाद—(मूलनायक के कारण)

२—आरोपवाद—(नट के कारण)

३—चमत्कारवाद—(प्रेक्षक के कारण)

दोष या आपत्तियाँ

१—**रस या स्थायी भाव सम्बन्धी**—भरतमुनि ने स्थायी भाव का सूत्र में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इसका स्थायी भाव रस से भिन्न नहीं और न स्पष्ट ही है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो फिर पुष्टि किस चीज की होती है।

२—**कार्य सम्बन्धी**—स्थायी भाव या रस को कार्य मान लेना भी ठीक नहीं जंचता। यदि रस कार्य है तो कारण विभावादि हैं किंतु कार्य कारण के पश्चात् भी रहता है जब कि विभावादि के पश्चात् नहीं रहता।

३—इस प्रकार विभावादि को आदि जनक कारण (कुम्हार की तरह) से भी नहीं कह सकते और न ज्ञापक कारण भी (जैसे अंधेरे में रखे हुए घड़े को दिखाने वाला दीपक) क्योंकि वह तभी सम्भव हो सकता है जब कि ज्ञाप्य पहले से वर्तमान हो; यहाँ रस (ज्ञाप्य) वर्तमान नहीं है; वह तो बाद में उत्पन्न किया जाता है क्योंकि भट्टलोलट्ट तो उत्पत्तिवाद के मानने वाले हैं।

४—**नट सम्बन्धी**—यह समझ में नहीं आता कि भावों का अनुकरण किस प्रकार किया जा सकता है ? वेष-भूषा क्रियादि द्वारा बाहरी बातों का अनुकरण किया जा सकता है और उनके भावों की सूचना भर दी जाती है किंतु भावों का अनुभव जन्य अनुकरण चाहे वह गौण रूप में क्यों न हो नहीं किया जा सकता ।

५—**प्रेक्षक सम्बन्धी**—यदि रस उत्पन्न भी होगा तो दर्शकों को आनन्द कैसे होगा ? क्योंकि जहाँ रति होगी वहाँ रस भी होगा । किंतु प्रेक्षकों के अन्दर 'रति' तो होती नहीं तो फिर रस भी नहीं होगा । फिर आनन्द भी किस प्रकार हो सकता है । दूसरे की तृप्ति से अपनी भूख की तृप्ति तो हो नहीं सकती ।

यदि इसमें अनुकरण की सफलता कही जाय तो बिना कार्य को देखे सफलता का पता किस प्रकार लगाया जा सकता है और अनुकार्य हमारी पहुँच से बाहर है ।

फिर अनुकर्त्ता में रस का आपेक्ष होता है; आरोपित रस द्वारा दर्शकों में उत्पन्न हुआ 'चमत्कार' मिथ्या से रहित किस प्रकार हो सकता है ?

फिर अनुकर्त्ता का रस भी उसी में सीमित होगा और वह भी लौकिक होगा; फिर प्रेक्षक में अनुकर्त्ता के माध्यम द्वारा (आरोपित माध्यम द्वारा) उत्पन्न हुआ चमत्कार किस प्रकार आलौकिक आनन्ददायी होगा ?

(१) एक आपत्ति और उठाते हैं वह है कार्य कारण में समय का अन्तर। उनका कहना है कि नट के अभिनय और श्रोताओं के आनन्दित होने में समय लगना चाहिए किंतु वह नहीं लगता जब कि कार्यकारण में समय का अन्तर अवश्य होता है । उनका कहना है कि चन्दन के लेप और शीतलता के अनुभव में समय अवश्य लगता है चाहे थोड़ा ही सही । वास्तव में हमारे विचार से तो यह ठीक नहीं है । चन्दन के लेप और शीतलता के अनुभव में जिस प्रकार अल्प समय लगता है उसी प्रकार नट के अभिनय और प्रेक्षक द्वारा आनन्द की प्राप्ति में समय तो लगता ही है । यह दूसरी बात है कि इसके समय का अन्तर इतना कम होता है जो समझने में नहीं आता ।

(२) **श्री शंकुक का अनुमितिवाद**—भट्टलोलट्ट के सम्बन्ध में उठी हुई आपत्तियों का निराकरण करने को श्री शंकुक ने अपना अनुमितिवाद निकाला। ये नैयायिक थे ।

अनुमिति का अर्थ यह है कि नट के कुशल अभिनय के कारण प्रेक्षक नट में नायकत्व (अनुकार्यत्व) का अनुमान कर लेता है और उसे नायक समझ कर चित्र-तुरङ्ग न्याय द्वारा उसके अभिनय द्वारा व्यक्त किए गए अनुभावों में ही

आनन्द पाता है जिससे चमत्कार का अनुभव होता है जो आनन्द-जन्य होता है। दूसरे शब्दों में शंकुक ने रस की निष्पत्ति गम्य-गमक भाव से मानी है। गम्य गमक का अर्थ भी कार्य कारण सम्बन्ध से है। उनके अनुसार कार्य कारण का नामकरण इस प्रकार है—

गमक—कारण या विभावादि या अनुमापक या अनुमान कराने वाले।

गम्य—कार्य या रस या अनुमान किये जाने वाले या मुख्य विषय या अनुभाव।

अनुमान्य—नट जिसमें रस का अनुमान कर लिया जाता है अर्थात् माध्यम।

अनुमानक—प्रत्येक (दर्शक) या गौण।

अनुकार्य—अनुकार्य या मुख्य नायक (वास्तव में वही सब कुछ होता है) इसके अनुसार भी रस न नट में रहता है और न प्रेक्षक में ही। केवल नट में उकेके अनुमान के माध्यम से प्रेक्षक को चमत्कार होता है जिससे उसको आनन्द प्राप्त होता है।

आपत्तियाँ—श्री शंकुक का जोर दो बातों पर है। १—अनुकरण २—अनुमान। किंतु जो कठिनाइयाँ भट्टलोलट्ट के सम्बन्ध में उठी थीं वही यहाँ भी उठती हैं।

१—अनुकरण न स्थायी भावों का और न सहकारी भावों का ही हो सकता है। अनुकरण तो केवल वेष-भूषा का ही हो सकता है। अनुभावों के अभाव में यह अनुकरण भी वास्तविक अनुकरण नहीं हो सकता है। अनुमान सत्य नहीं हैं फिर मिथ्या के आधार पर सत्य की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कार पूर्ण आनन्द मिल सकता है वह अनुमान से नहीं। 'चित्र तुरङ्ग न्याय' से चित्र का घोड़ा अवश्य दिखाई देता है किन्तु उस पर चढ़ कर आनन्द नहीं लिया जा सकता। वास्तव में रस या भाव सीधे अनुभव द्वारा ही भावना के विषय बन सकते हैं अनुमान द्वारा नहीं ! और उत्पत्तिवाद तथा अनुमितिवाद दोनों में ही रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी जाती है। यदि मानी भी जाय तो यह प्रश्न उठेगा कि दूसरे व्यक्ति के भावों को उसने किस प्रकार अपनाया ?

यदि ऐसा मान भी लें जैसा कि कुछ विद्वानों द्वारा कहा जाता है कि विभावादि द्वारा नायक के स्थायी भावों की प्रतीति सहृदय प्रेक्षकों को होती है जिससे वह अपने को ही नायक समझने लगता है उसी प्रकार प्रेक्षक का हृदय भी कल्पित नायकत्व से छा जाता है। किन्तु यह एक विलक्षण प्रकार का रूप होगा।

यह बात देवता आदि पूज्य व्यक्तियों के विषय में किस प्रकार हो सकेगी ? सीता के विषय में राम की रति का प्रेक्षक के हृदय में आना निस्सन्देह ही दोष पूर्ण है। फिर नायक के पराक्रमपूर्ण कार्य, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, प्रेक्षक के हृदय में किस प्रकार आ सकते हैं ? जैसे—हनुमान का समुद्र लाँघ कर लङ्का चला जाना आदि।

एक प्रश्न और भी उठता है कि नायक के दुःख, शोक, इत्यादि के भाव प्रेक्षकों को आनन्ददायक न होकर दुःख दायक हों तो फिर भवभूति के नाटकों को दुःखी होने के लिए कौन प्रेम से पढ़ेगा ? किंतु ऐसी बात है नहीं।

२—**भट्टनायक**—इन्होंने अपना भुक्तिवाद का सिद्धान्त चलाया। ये साँख्य-शास्त्र के अनुयायी थे। उनका कहना है कि रस की न तो प्रतीति (अनुमिति) होती है जैसा श्री शंकुक मानते हैं, न उत्पत्ति ही होती है (जैसा कि भट्ट-लोलट्ट का सिद्धान्त है) और न अभिव्यक्ति ही होती है (जैसा कि अभिनव गुप्त ने माना है।) अनुभव और स्मृति के विना रस की प्रतीति किसी प्रकार भी नहीं हो सकती। कारण, इन सब से दर्शक या पाठक एक बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है। यदि वह अनुकार्य तथा मूल नायक से तादात्म्य करता है तो उसे शायद औचित्य की सीमा पार कर लज्जा का अनुभव करना पड़े और यदि अपने को उससे भिन्न समझता है तो यह प्रश्न एक दम सामने आ जाता है कि दूसरे की रति से उसे क्या ? इस प्रकार वह समझ नहीं पाता कि वास्तव में वह अपने को किसमें रखने का प्रयत्न करे।

भट्ट नायक ने इस कठिनाई को बड़ी सरलता से दूर करने का सफल प्रयत्न किया है। उन्होंने रस निष्पत्ति की तीन क्रियाएँ मानी हैं। पहली "अभिधा" जिसके द्वारा शब्दार्थ का ज्ञान होता है, दूसरी "भावकत्व" जिसके द्वारा विभावादि तथा रत्यादि स्थायी भाव साधारणीकृत (व्यक्तिगत भाव न होकर सर्वसाधारण के भाव बनकर) मेरे वा पराये, शत्रु के वा मित्र के, ऐसे बन्धनों से मुक्त होकर उपभोग योग्य बन जाते हैं। तीसरी भोजकत्व—वह स्थायी भाव जो साधारणीकृत होकर उपभोग किया जाता है। भोजकत्व में नायक के रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण युक्त लौकिक भाव रज, तम रहित शुद्ध सतोगुणमय रहने से अलौकिक हो जाते हैं। इस प्रकार वह सर्वमान्य के उप-भोग योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार की अलौकिकता में आनन्द का प्रकाश होता है और यही आनन्द रस है। यही बन्धन मुक्त आनन्द अलौकिकता को प्राप्त होने वाला अमर ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाता है। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में यही भेद है कि ब्रह्मानन्द नित्य है और काव्यानन्द कुछ समय के लिए रहता है।

इस प्रकार भट्ट नायक ने संयोग का अर्थ 'भोज्य' और 'भोजकत्व' भाव माना है और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'मुक्ति' माना है। भट्ट नायक के मत की व्याख्या करने वाले किसी विद्वान् ने संयोग का अर्थ साधारणीकृत विभावादि के साथ सम्यक् योग लिया है।

संक्षेप में हम भट्ट नायक के मत में दो प्रमुख विशेषताएँ पाते हैं। पहली, उन्होंने इस समस्या का हल हमारे समक्ष रखने का प्रयत्न किया है कि दुःख से सुख की प्राप्ति किस प्रकार होती है। अर्थात् साधारणीकरण वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। दूसरी, सामाजिक को नायकादि के भावों में आनन्द लेने की समस्या को हल करने के लिए अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व तीन व्यापार माने हैं। और फिर भावकत्व द्वारा अपने पराये के भेद को मिटा कर उसके भोग की समस्या को हल किया है।

भट्टनायक के मत की आलोचना—भट्ट नायक के साधारणीकरण वाले सिद्धान्त को मानते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है कि उन्होंने काव्य में दो ऐसे नए व्यापारों को स्थान दिया है जिनके लिये शास्त्र में कहीं भी कोई प्रमाण नहीं मिलता और न जिन बातों के लिए युक्ति युक्त नियम प्राप्त हो सकते हैं। उनके लिए अप्रामाणिक सिद्धान्त को ग्रहण करना उचित नहीं। अभिनव गुप्ताचार्य के अनुसार इन दो क्रियाओं—'भावकत्व' और 'भोजकत्व' का काम व्यंजना और ध्वनि से चल सकता है। 'भोजकत्व' स्वयं रस निष्पत्ति ही है। इस कारण दोनों को ही ध्वनि का व्यापार अर्थात् व्यंजना के अन्तर्गत माना है। इधर 'भावकत्व' भावों का अपना निज का गुण है। भरत मुनि ने इसलिए कहा है कि 'काव्यार्थान भावयतीति भावा' जो शब्दार्थों को भावना का विषय बनावें वे भाव होते हैं। काव्यार्थ का अर्थ है वह मुख्य अर्थ जिसमें काव्य का आनन्द छिपा रहता है अर्थात् जो काव्य के आनन्द को सबका आनन्द बनावें। काव्यार्थ रस का भी भावक है। वास्तव में रस वही है जिसका आस्वादन किया जा सके। अतः योग का अर्थ तो स्वयं के साथ ही है फिर यह भट्ट नायक द्वारा 'भोजकत्व' को अलग शक्ति मानने का कोई उचित कारण नहीं था। कारण, वह तो ध्वनि के द्वारा स्वयं ही सम्पन्न हो जाता है।

अतः संयोग का अर्थ ध्वनि तथा व्यंजित होना और निष्पत्ति का अर्थ आनन्द भाव में प्रकाशित होना निकला।

४—अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद—अभिनव गुप्त का कहना है कि मनुष्य समय-समय पर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पड़ कर जिन-जिन भावों का अनुभव करता है वे सभी वासना या संस्कार रूप में उसके हृदय में स्थित होते जाते हैं अतः कहने का अर्थ यह है कि स्थायीभाव पहले से ही वासना या

संस्कार रूप में मनुष्य के हृदय में स्थित रहते हैं। किन्तु सामान्य अवस्था में उनका अनुभव मनुष्य को नहीं हो पाता क्योंकि उन पर अज्ञानता का आवरण छाया रहता है। परन्तु किसी विशेष घटना या कुशल अभिनय द्वारा विभावादि के प्रदर्शन से वे व्यक्तावस्था में आ जाते हैं अतः यह स्पष्ट हुआ कि रस की अभिव्यक्ति केवल वासनाजन्य संस्कारों की अभिव्यक्ति है। यदि वे संस्कार नहीं हैं तो रस की अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती है। और सहृदय व्यक्ति भी वही व्यक्ति कहलाते हैं जिनके हृदय में वे संस्कार विद्यमान रहते हैं। वासना शून्य मनुष्यों को तो साहित्य-दर्पणकार ने लकड़ी के कुल्हाड़ों वा पत्थरों के समान संवेदन शून्य कहा है। मनुष्य हृदय तीन प्रकार से सहृदय हो सकता है—सांसारिक अनुभव से, पूर्व जन्म के संस्कारों से और अभ्यास से। किंतु जो इन तीनों सौभाग्यों से रहित हैं वे सहृदयों की श्रेणी में नहीं आ पाते। शास्त्र-कारों, मीमांसकों, और वैयाकरणों को इसी कोटि में माना गया है।

संक्षेप में अभिनवगुप्ताचार्य के मत में निम्न विशेषतायें हैं—

१—रस की निष्पत्ति सामाजिक में मानते हैं।

२—सामाजिक में स्थायी भाव वासना को संस्कार के रूप में स्थिर रखते हैं किंतु उद्बुद्धावस्था में साधारणीकरणकृत विभावादि के संयोग से अव्यक्ता-वस्था से अभिव्यक्त अवस्था में ठीक उसी तरह आ जाते हैं जिस प्रकार मिट्टी की अव्यक्त गन्ध जल के छींटे पड़ने से तत्काल ही व्यक्त हो जाती है—

३—सफल अभिनय से सहृदय दर्शक ही तन्मय होते हैं और उन्हें ही ब्रह्मानन्द सहोदर अखण्ड रस का आनन्द प्राप्त होता है।

४—संयोग का अर्थ व्यंजना और निष्पत्ति का अभिव्यक्ति है।

५—दशरूपककार धनंजय का मत—अभिनवगुप्ताचार्य के मत को लगभग सभी अनुवर्ती आचार्यों ने प्रमाणित माना है। दशरूपककार धनंजय ने भी अपने मत में अभिनव गुप्त के मत को ही स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि स्थायीभाव विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भावों द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है। आगे आपने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि रस वास्तविक रूप में सामाजिक (दर्शक) को ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह वर्त्तमान है। वह न अनुकार्य (मूलनायक) में रहता है और न कवि में ही ; वास्तव में दर्शक की अवस्था उस बालक की सी होती है जो मिट्टी में खेलता हुआ अपने ही उत्साह का आनन्द लेता रहता है। ठीक उसी प्रकार पाठक हनुमान की वीरता का वर्णन पढ़कर अपने स्वयं के उत्साह का ही आस्वादन करते हुए आनन्द की प्राप्ति करते हैं।

किन्तु सहृदय पाठक या श्रोता रसास्वादन ही कर सकता है । तब तो यह भी सम्भव है कि यदि अभिनेता सहृदय है तो वह भी अभिनय के समय रसास्वादन करने का अधिकारी हो जाता है और केवल अभिनेता न रहकर उपभोक्ता भी बन जाता है ।

इस प्रकार वास्तविक रस निष्पत्ति केवल सहृदय प्रेक्षक या श्रोता में ही होती है ।

—:०:—

२३—सत्यं शिवं सुन्दरम्

भारतवर्ष की यह शास्त्रीय प्रणाली रही है कि पहले सूत्र का निर्माण होता है उसके पश्चात् उसकी व्याख्या होती है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' भी हिन्दी साहित्य के लिए इसी प्रकार का सूत्र है जो अनायास ही हिन्दी साहित्य में प्रवेश कर गया है। आज यह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' साहित्य के आदर्श और उद्देश्य के सूत्र-रूप में व्यवहृत हो रहा है। बङ्किम के 'वन्देमातरम्' की तरह उसकी व्यापकता बराबर बढ़ती ही जा रही है और इस बढ़ती हुई व्यापकता के प्रवाह में हमने कभी यह जानने का प्रयत्न ही नहीं किया कि कौन इस सूत्र का जन्मदाता है और इसका प्रारम्भिक इतिहास क्या रहा है। कारण भी स्पष्ट है कि जब हम एक वस्तु के परिचय में अत्यधिक आ जाते हैं तो उसके प्राचीन इतिहास को जानने की उत्सुकता प्रायः समाप्त सी हो जाया करती है। अधिकांशतः यह उत्सुकता प्रत्येक नवीन के प्रति ही जाग्रत रहती है।

हमारे यहाँ इन तीनों शब्दों का संकलित रूप में प्रयोग सर्व प्रथम बंगला साहित्य में रवीन्द्र बाबू के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने किया था। किंतु इस प्रयोग में उनका आधार क्या था यह बात आज तक संदिग्ध ही रही है। कुछ लोगों का विचार है कि यह सूत्र वाक्य यूनानी दार्शनिक अफलातून के "The True, The Good, The Beautiful" का अनुवाद है और ब्रह्म समाज द्वारा हमारे यहाँ आया है। किन्तु यह बात पूर्णतः सत्य प्रतीत नहीं होती। भारतवर्ष के लिए इन तीनों शब्दों में से कोई भी नवीन नहीं है वरन् यों कहना चाहिए कि भारतीय संस्कृति, धर्म और भारतीय दर्शन मूलतः इन्हीं तीनों पर आधारित हैं। 'सच्चिदानन्द' शब्द इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें स्पष्टतः सत्य आनन्द का रूप प्रस्तुत है। शिवं और सुन्दरम् का रूप हमें किरातार्जुनीय आदि नीति ग्रन्थों में मिलता है—'हितं मनोहारि च दुर्लभंचा।' भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में अर्जुन को सत्य, प्रिय तथा हितकर वाणी बोलने के लिए उपदेश दिया है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च।

फिर सत्यं शिवं सुन्दरम् इससे भिन्न कहाँ है ? प्रियं में सुन्दर का पूर्ण भाव आ जाता है और हितं में शिवं का। इतना ही नहीं साहित्य शब्द के मूल में भी सत्यं शिवं सुन्दरम् का रूप मौजूद हैं। हितं तो प्रत्यक्ष है ही, सत्यं और

सुन्दरम् भी प्रच्छन्न रूप से हैं। काव्य का रस या आनन्द सुन्दरम् का रूपान्तर है और सौन्दर्य कभी सत्य से रहित नहीं हो सकता। इतने विवेचन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि ये तीनों ही शब्द भारत के लिए नए नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि जिस रूप में और जिस अर्थ में उनका प्रयोग आज होता है उसमें नवीनता अवश्य है।

भारतीय कला और प्रवृत्ति सर्वत्र समन्वयात्मक है। इसलिए भारतीय मस्तिष्क भी समन्वय प्रिय है। यदि हम एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि समन्वय और एकता ही हमारी संस्कृति की विशेषता है। साथ ही हमारे यहाँ अधिकाँशतः प्रत्येक क्षेत्र में ऊना संख्या को शुभ माना जाता है। इसलिए धर्म में, कला में, सभी में तीन की संख्या को ही महत्व दिया गया है। धर्म के ब्रह्मा, विष्णु, महेश और हिन्दू दर्शन के सत्, चित्त, आनन्द एवं सत्, रज, तम बीज तत्व हैं। हिन्दू कला उन्हीं को सत्यं, शिवं, सुन्दरम के रूप में ग्रहण करती है। यही सृष्टि के तीन मूल तत्व हैं। इन्हीं से त्रिगुणात्मक सृष्टि आदि, मध्य, अन्त बनी है और इन्हीं से ब्रह्मा के तीन रूपों—अव्यक्त (व्यक्त से पहले) व्यक्त और पुनः अव्यक्त (प्रलय के पश्चात्)—का अस्तित्व है। गीता में इसको कितने सुन्दर ढङ्ग से स्पष्ट किया गया है यह नीचे के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है—

अव्यक्तानि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

भक्ति के ज्ञान, कर्म, उपासना ये तीन ही तत्व हैं। इन तीनों का विभाजन नहीं किया जा सकता क्योंकि ये एक दूसरे के पूरक और एक दूसरे के अंग बने हुए हैं। इनके समन्वित रूप में ही पूर्णता है। इसलिए हमारे कलाकार सत्यं शिवं सुन्दरम् तथा ज्ञान, कर्म, उपासना की विभाजक रेखाओं को मिटाने में प्रयत्नशील हैं। यही वास्तविक समन्वय है जो भारतीय संस्कृति का, भारतीय साहित्य का, भारतीय धर्म और दर्शन का प्राण है। इसीलिए हमारे यहाँ के संस्कृत के दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य सुखांत हैं। कारण, हमारे यहाँ मृत्यु का अर्थ है उस अव्यक्त सत्यं से व्यक्त हुए जीव का अन्त में अपनी व्यक्तावस्था त्याग कर उसी अव्यक्त सत्यं से जा मिलना। मृत्यु हमारे लिए इसीलिए शिव है। भारतीय कला इसी शिव को प्राप्त करने का प्रयत्न सदैव से करती रही है और करती रहती है। फिर मृत्यु में दुःख कहाँ? उसमें तो कल्याण है। जीव इस संसार में व्यक्त होकर अनेक यातनाएँ सहता है किन्तु मृत्यु उस पर दया करके उसे उन यातनाओं से मुक्त कर देती है। मृत्यु का यही कल्याण है; यही उस का 'शिव' रूप है और यही वास्तविक तथा चिर-

कालिक सत्य है। किन्तु जहाँ यह 'शिव' नहीं रहता वहाँ चिर काल तक सत्य भी नहीं रहता।

फिर जो सत्यं और शिवं है उसे आनन्दमय होना चाहिए। और आनन्द कोई अन्य वस्तु नहीं, सौन्दर्य का फल है अथवा सौन्दर्य की प्रभावात्मक अनुभूति ही आनन्द है। इस प्रकार सत्यं और सुन्दरम् को शिवं में समन्वित करना ही धर्म का, दर्शन का, साधना का और लोक व्यवहार का श्रेष्ठतम और आदर्शतम रूप है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कला भी इसी श्रेणी में आती है। वह भी इन्हीं सत्यं और सुन्दरम् को शिवं में समन्वित करने का सतत और श्रेष्ठतम प्रयत्न करती है और ऐसा करने में सफल भी होती है। वस्तुतः यही कला का लक्ष्य है।

यदि सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् का समन्वित रूप अधिक संक्षिप्त और स्पष्ट रूप से रखने का प्रयत्न करें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि कर्तव्य पथ में आकर सत्यम् ही शिवम् बन जाता है और भगवान से समन्वित होकर यही सत्यम् सुन्दरम् हो जाता है। सौन्दर्य सत्य का परिमार्जित रूप है। वह सत्य को ग्राह्य बना देता है। अतः इन तीनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन तीनों के अनन्य सम्बन्ध को पन्त जी ने बड़े ही कलात्मक और स्पष्ट ढङ्ग से व्यक्त किया है—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक सेवा में शिव अविकार।

वास्तव में विचार-क्षेत्र में देशी विदेशी का प्रश्न ही नहीं उठता। इस क्षेत्र में सब एक ही धरातल पर आ ठहरते हैं। उसमें विश्वात्मकता रहती है। इसीलिए तो अङ्गरेजी कवि कीट्स ने भी—सत्य और सुन्दर को एक माना है। और जब सत्य और सौन्दर्य अभिन्न हैं तो शिव भी उनसे भिन्न नहीं हो सकता—

'Beauty is truth, Truth is beauty
That all ye know on earth
And all ye need to know.

अर्थात् "सौंदर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है यही संसार में मनुष्य जानता है और यही जानने की आवश्यकता है।"

मृत्यु में भी यही नित्य सत्य व्याप्त है। कला ने मृत्यु और जीवन की दुख मय धारणाओं को निकाल बाहर किया और आनन्द का रूप ग्रहण किया।

आनन्द से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और प्रलय के बाद आनन्द से सृष्टि प्रतिष्ठित होगी। तब मृत्यु, शोक, दुख कुछ भी नहीं है।

किन्तु सत्य का स्वरूप क्या है, यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है। दर्शन में सत्य का अर्थ है जिस आनन्द स्वरूप अव्यक्त सत्ता से जीव अभिव्यक्त होकर अनेक सांसारिक यातनाओं में पड़कर अनेक दुःख भोगता है और लौटकर उसी अव्यक्त सत्ता में अपने को अव्यक्त बना देता है। यह संसार स्वप्नवत है, असत्य है। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब वह इन सभी साँसारिक रूपों और व्यापारों के समक्ष कभी अपनी पृथक सत्ता की धारणा को भूल कर अर्थात् विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है। तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। आत्मा की यही मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है। यही ज्ञान दशा सत्य दशा है। उस समय उसे केवल उस एक सत्य सत्ता के अतिरिक्त और कुछ भी लक्षित नहीं होता। साहित्य का सत्य भी इससे भिन्न नहीं है। "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है।" इस रस दशा में आने के पश्चात् ही मनुष्य अपनी पृथक सत्ता भूल कर अपने हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल तक अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन कर देना होता है। इस अवस्था को भावयोग भी कहते हैं।

शुक्ल जी ने इसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष कहा है। और वास्तव में यह है भी। इस अवस्था में मनुष्य के भाव जगत पर पड़े सभ्यता के अनेक आवरण हटकर उसका मूल गोचर रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। यह हृदय की प्रकृत दशा कहलाती है। वह मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर पहुँच जाता है। शुक्लजी के शब्दों में ऐसी अवस्था में वह जगत को उसी ब्रह्म से उत्पन्न उसी का एक अंश अनुभव करता है। "जगत के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता है।" यही सत्य का स्वरूप है।

और शिव! शिवात्मा में लोकमङ्गल का जो तत्व है वही शिव है— अर्थात् लोकमंगल ही शिव है। ऊपर बताई गई सामान्य भूमि पर पहुँचने पर शिवत्व ही प्रारम्भ हो जाता है। उस समय मनुष्य को उसकी अपनी "अश्रु-धारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनन्द नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।" यही उसका कर्तव्य है। ऊपर हम बतला चुके हैं कि कर्तव्य पथ में आकर सत्य ही शिव बन जाता है। यह सब कुछ अनुभव कर चुकने के पश्चात् वह अपने को

लोक सेवा के मार्ग पर गतिमान कर देता है। यही शिव है। पंतजी ने प्रज्ञा के सत्य स्वरूप को ही तो लोक सेवा में आ जाने पर अविकार शिव कहा है।

हमारे यहाँ शिवजी के रूप में इस शिव की सम्पूर्ण विशेषताएँ आ जाती हैं। शिवजी में कुरूप (नर मुण्ड माल आदि), अमंगल (सर्प, विष आदि) हैं, किन्तु इन सबके ऊपर अमृतमय चन्द्रमा और सम्पूर्ण कर्द, कलुष धो देने वाली पावन गंगा है। इस प्रकार वह वर्तमान कुरूप और अमंगलकारी भूली भटकी आत्माओं को धारण तो अवश्य करते हैं किन्तु सबसे ऊपर अमृतमय चन्द्र और कलुष निकन्दनि गंगा को ही प्रभुत्व दिया है—उन्हीं को सबके ऊपर मस्तक और सिर पर स्थापित किया है। इसी प्रभुत्व ने सम्पूर्ण कुरूपों और अमंगलों को सुन्दर और मंगलमय बना दिया है। यही शिवत्व है। इतना भयानक वेषधारी शिव इसीलिए तो शिव है।

राम धनुष बाण लेकर पीड़क रावण पर गहरा आघात करते हैं, क्रोध का प्रदर्शन भी करते हैं और उसका उसके कटक तथा वंश सहित संहार भी करते हैं फिर भी राम शिवकारी हैं। क्यों? इसलिए कि उनमें उनके इन सभी अशोभनीय कार्यों को अधिकृत करने वाली उनकी परजन हितकारी भावना है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने यही कहा है और गोस्वामी तुलसीदास ने भी निम्न पंक्तियों में यही कहा है—

जब जब होय धरम की हानी।
बाढ़हिं अधम असुर अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा।
हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा॥

यही कार्य कलाकार का है। वह मानव के गंदे पाताल को—भूली भटकी आत्माओं को, संसार के सौन्दर्य की खोज में, आँख की ओट नहीं कर देता। प्रत्युत प्रत्येक वस्तु उसकी कला का आधार बन सकती है किन्तु उसका अंतिम स्पर्श कुरूपता को सौन्दर्य में और अमंगल को मंगल में बदल देता है।

अब हमें सौन्दर्य के रूप को भी देख लेना आवश्यक है। प्रज्ञा का सत्य स्वरूप जब हृदय में स्थान पाता है तो प्रणय के रूप में परिणत हो जाता है और वही नेत्रों में जाकर अनूप लावण्य बन जाता है। यह अनूप लावण्य ही सौंदर्य का पर्यायवाची है। कीट्स ने इसी को तो 'Beauty is truth truth is beauty' कहा है। शुक्लजी के शब्दों में—"हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। सौन्दर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है—इसीलिए तो "सुधा सराहिए अमरता गरल सराइये मीचु।" सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं की जा सकतीं

और न वह किसी व्यक्ति विशेष का कोई विशेष अनुभव मात्र ही है क्योंकि सौन्दर्य एक वस्तु है—अखण्ड और अभिन्न है और अनुभव करने वाले अनेक हैं। सभी अपने-अपने अनुसार उसका अनुभव करते हैं। हाँ इतनी बात अवश्य है कि सौन्दर्य विषय है और विषयी अनुभवकर्त्ता है किन्तु उसकी महिमा कभी किसी एक के कारण उसी प्रकार नहीं घट सकती जैसे "सीतलता अरु सुगंधि की महिमा घटी न मूरु, पीनस वारों ज्यों तजैं सोरा जानि कपूर।"

वास्तविक सौन्दर्य वह है जो एक सा रहते हुए भी दर्शकों के लिए उसमें नित्य नवीनता का प्रस्फुटन हो। संस्कृत के आचार्यों ने यही तो कहा है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति।
तदैव रूपं रमणीयताया॥

बिहारी की नायिका का ऐसा ही तो सौन्दर्य था जिसमें प्रतिपल नवीनता आ रही थी—

लिखन बैठ जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

मानव मन की तीन अवस्थाओं—सत्, चित और आनन्द में से कला आनन्द को अधिक मानती है और जानती है। इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाओं—**१ साधनावस्था, २ सिद्धावस्था** में से पहली में अमंगल और अन्धकार में पड़े हुए जीवों के प्रति सहानुभूति और उनके प्रकाशमय भविष्य को उनके समीप ला देती है। वह अन्धकार पर विजय पाने के लिए प्रकाश की चेष्टाओं के गीत गाता है। इसी से डण्टन ने इसे शक्ति काव्य (Poetry of Energy) कहा है। वे मानवीय उपासना के तीनों क्षेत्रों ज्ञान, कर्म और उपासना में सौन्दर्य के दर्शन करते हैं। उनकी तीव्र दृष्टि उनके असुन्दर के अन्दर प्रच्छन्न सौंदर्य को बहुत दूर से ही देख लेती है। उनके सभी अशिव चित्र शिव की सृष्टि करते हैं। गोर्की ने यही तो कहा है—"वास्तव में हमारे कवि सङ्घर्ष और प्रतिद्वन्द्वी तत्वों के भीतर से सौंदर्य के बीज तत्व तक पहुँचते हैं। इसका आधार सूत्र है मानव पर विश्वास करो।" इसी प्रकार हिन्दू कला की जड़ में भी 'सर्वात्मनः परमात्मनः' और 'बहुजन हिताय' जैसी भावनाएँ कार्य करती हैं। दूसरे शब्दों में अधर्म पर धर्म की जय, अन्धकार पर प्रकाश की जय, अशिव पर शिव की जय ही सौन्दर्य का मूल रूप है।

लोकमङ्गल की दूसरी अवस्था है सिद्धावस्था। इसी को उपभोग पक्ष भी कहते हैं। यहाँ केवल सौंदर्य का ही साम्राज्य रहता है और वह भी साधनावस्था की तरह प्रच्छन्न नहीं, बिल्कुल स्पष्ट। उसमें साधना द्वारा संपूर्ण अमंगल और अशिव रूपों को नष्ट करके सिद्ध रूप में मङ्गल और सुन्दर रूप का उप-

भोग किया जाता है। तुलसी यदि साधनावस्था के कवि थे तो सूर सिद्धावस्था के। राम यदि साधनावस्था के नायक थे तो कृष्ण विशेष रूप से सिद्धावस्था के। सौन्दर्य का प्रतीक नारी को माना गया है। न्यूमन ने कहा है कि "यदि तुम्हारी आत्मा उच्च धर्मराज्य की पवित्र सीमा में प्रवेश करना चाहती है तो उसे नारी रूप में ही जाना पड़ेगा। मानव समाज में पुरुषाकार का तुम्हें कितना ही गर्व क्यों न हो, उस राज्य में जाने के लिए नारी के रूप के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं।"

हम पहले ही कह आए हैं कि कला सौन्दर्य का पक्ष अधिक ग्रहण करती है। इसलिये सुन्दर सत्य ही कला है। वास्तविक रूप में जीवन को दो प्रकार की उपयोगिता की आवश्यकता है—१—स्थूल रूप में (भोजन वस्त्र आदि की) दूसरी सूक्ष्म रूप में आनन्द की; या यों कहें कि शरीर को स्वस्थ और गतिमान रखने के लिए जिस प्रकार से भोजन वस्त्र की आवश्यकता होती हैं उसी प्रकार से अनेक सूक्ष्म भावनाओं के भण्डार इस हृदय को गतिमान और स्वस्थ रखने के लिए सत्यमय सौन्दर्य की आवश्यकता है। व्यक्ति जिस प्रकार बुद्धि और शरीर द्वारा अपना शारीरिक भोजन प्राप्त करता है उसी प्रकार भावनाओं द्वारा वह इस सुन्दर सत्य, जिसे कला कहते हैं, का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य स्वयं ही अपना प्रकाशन और अपनी सृष्टि तथा अपना रूपांतर है—केवल अपने ही अर्थ से यहाँ तात्पर्य मानव से है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह अव्यक्त ब्रह्म स्वयं को ही आनन्दित करने के लिए अपने में से ही "एकोऽहं बहुस्याम" का विचार कर अनेक रूपों में व्यक्त हो जाता है। यह उसका आत्म-प्रकाशन व्यर्थ नहीं आत्मसंतोष के लिए होता है। तभी तो कलाकार अपने को व्यक्त करने के लिये कितना बेचैन रहता है इसका चित्रण श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी जी ने खूब समझा और समझाया है—

"लेखक में ऐसी स्फूर्ति होनी चाहिये जो उसके निर्माण को आत्मवेदना की मूर्ति का स्वरूप दे सके। वह लेखन कला का चतुर चित्रकार है जो अपने आत्म मनन और आत्म चिंतन को कलम के घाट उतारने के लिए अपनी रोटियाँ बेचकर रात के लैम्प में अपनी आँखों और उँगलियों द्वारा मस्तिष्क के घुमाव और हृदय की धड़कन से प्रभावित रक्त चढ़ा देने के लिए बाजार में तेल खरीदता नजर आता है। इसीलिए शुद्ध कला की उत्पत्ति स्वान्तः सुखाय होती है।"

कुछ लोगों का कहना है कि सुन्दरम् में सत्य की हत्या भी हो जाया करती है। किन्तु यह उनका मिथ्या भ्रम है। सुन्दरम् किसी की भी हत्या नहीं करता, वह तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द करता है या यों कहें कि वह सत्य को और

भी अधिक आकर्षक और आनन्दित रूप में प्रस्तुत करता है। गोस्वामी तुलसीदास के निम्न उद्धरण को लेकर वे अपने मत की पुष्टि करते हैं—

"कहा कहूँ छवि आजकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नबै धनुषवाण लेउ हाथ॥"

इसमें सत्य की हत्या नहीं हुई वरन् तुलसी ने कृष्ण को भी अपने इष्टदेव राम के रूप में देखकर अपनी अनन्य भक्ति की सत्यता को और भी अधिक सुन्दर रूप में रखने का प्रयत्न किया है। उन्होंने 'सत्यं' को भी 'सुन्दरम्' के रूप में देखना अपना ध्येय माना है। इसमें वह सत्य की अवहेलना नहीं करते वरन् उसे 'सुन्दरम्' का पुट देकर और अधिक ग्राह्य रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसमें सत्य की कुछ काट-छाँट अवश्य हो जाया करती है किंतु, उसके आदर्श की पूर्ति होती है इसलिए सत्य इसे अपना और अधिक गौरव ही समझता है। यदि किसी पत्थर को काट-छाँट कर कोई कारीगर उसमें सुन्दर पच्चीकारी करके उसे और भी अधिक सुन्दर बना देता है तो उस पत्थर की सत्यता नष्ट नहीं होती। हाँ, यह अधिक सुन्दर होकर उसकी ग्राह्यता अवश्य बढ़ा जाता है।

यहाँ तक हम समझ चुके कि सत्यं शिवं सुन्दरम् क्या है, इसका क्या प्रयोजन है। साहित्य में इसका क्या स्थान है और कला के लिये इसका क्या उपयोग है। अब हमें थोड़े में इस पर और विचार कर लेना है कि कला का उद्देश्य क्या है ? कारण कुछ लोगों का कहना है कि कला हमारे आचार और चरित्र से कोई सम्बंध नहीं रखती। उसका काम सुधार करना नहीं बल्कि अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति द्वारा कलाकार को आत्मसंतोष प्रदान करना है। किंतु वे इस प्रकार की बात कह कर सत्यं और शिवं की अवहेलना करते हैं। कला का सम्बन्ध जीवन से है, आत्मा से है और है मानव मात्र की सामान्य भावनाओं से।

साथ ही यह भी लोगों का भ्रम है कि कला जीवन के लिए है अर्थात् समाज सुधार के लिए है। शुद्ध रूप से न तो कला केवल कला के ही लिए है और न केवल जीवन के लिए ही। टालसटाय, लेनिन, महात्मागाँधी, रवीन्द्रनाथ आदि ऐसे महानुभाव हैं जो कला को उपयोगिता की कसौटी पर कसते हैं। टाल्सटाय का कहना है कि "Art is the means of union among men joining them in the same feeling" (कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है)। महात्मा गाँधी का कहना है कि "कला से जीवन का महत्व है। जीवन में वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न ला सके तो वह कला

क्या हुई।" इस सम्बन्ध में रोमा रोलाँ का कथन बड़े महत्व का है—"कलाकार स्रष्टा है। वह सृष्टि के बीज बखेरता चलता है। उसका काम सिर्फ बोना है। फल का विचार करना या विचार का बीज उगाना न तो उसके लिये सम्भव है और न उसका काम ही।" वस्तुतः कला उस खिलते हुए फूल के समान है जो करतार द्वारा खिला दिया गया किंतु उसको क्या चाहिये यह चाहने वालों की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। कोई उसकी सुगन्धि को पसंद करता है, कोई उसके सौन्दर्य को। कोई उसका वैज्ञानिक विश्लेषण करना चाहता है तो कोई उसके गुणों पर ही मुग्ध है। कला उसी प्रकार अपने में पूर्ण है। अलग अलग लोग उसे अलग अलग दृष्टियों से देखते हैं।

इस सम्बन्ध में चित्रकार रैफेल का कहना है कि—"सत्य की खोज में जब लोग मन्दिर में गये तो पुजारियों ने उन्हें पीने के लिए एक प्रकार की मदिरा दी। वह मदिरा किसी को मीठी किसी को कड़वी तथा किसी को तीखी लगी—मदिरा वही थी किन्तु उसका स्वाद भिन्न-भिन्न था। इस प्रकार कला की किसी भी वस्तु का मूल्य आँकने में मतभेद पाया जाता है।"

वस्तुतः यह विवाद व्यर्थ का है। कला की सृष्टि करने वाला कलाकार ही तो होता है और वह समाज का प्राणी होता है। उसकी आवश्यकता समाज की आवश्यकता है और समाज की आवश्यकता उसकी आवश्यकता है। अतः उसके दो प्रकार के रूप हुए—एक सामाजिक और दूसरा व्यक्तिगत; और उसकी सृष्टि ने भी दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण किया। इस प्रकार कला में विरोध कहाँ है। वह स्वांत सुखाय ही होती है किन्तु जैसा कि हम पहले कह आए हैं कला मनुष्य को मानवमात्र की उस भाव भूमि पर ले जाती है जहाँ वह अपनी पृथक सत्ता को भूलकर मनुष्यता की उच्च भावभूमि पर जा ठहरता है। फिर उसका अपना और पराया कहाँ? फिर कला में भावों का चित्रण और अनुभूति की अभिव्यक्ति ही तो होती है। भाव मूलतः मनुष्य मात्र के क्या, प्राणी मात्र के तथा सम्पूर्ण प्रकृति के एक ही होते हैं। यदि फिर वह 'व्यक्ति सुखाय' होगी तो उसे सर्व सुखाय भी होना ही चाहिये। तुलसी की रामायण भी तो स्वांतः सुखाय लिखी गई थी किन्तु क्या वह सबको आनन्द नहीं देती।

फिर कला कला के लिये है अथवा जीवन के लिए यह प्रश्न वहीं समाप्त हो जाता है जहाँ यह समझ लिया जाता है कि वह समष्टि से अलग नहीं है। कारण दोनों के जीवन का उद्देश्य है उस परम लक्ष्य की खोज। कला भी

उसी की खोज करती है। किस प्रकार करती है ? वह आनन्द स्वरूप है और कला का अन्तिम लक्ष्य भी आनन्द ही है। अतः जहाँ कला का अन्तिम लक्ष्य आनन्द है वहाँ ही उसका अन्तिम लक्ष्य उस ब्रह्म की प्राप्ति भी हो ही जाता है। अतः यह प्रश्न निर्विवाद है।

—: ० :—

२४—साधारणीकरण

आचार्य शुक्ल के शब्दों में "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।" इसमें काव्य के मनन द्वारा पाठक या श्रोता भाव की सामान्य भूमि पर आ जाता है। "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की शक्ति नहीं आती। विषय का इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।" दूसरे शब्दों में रस दशा में आए हुए कवि द्वारा विषय का इस रूप में वर्णन करना जो सामान्य लोक हृदय को भी रस दशा में लादे तब साधारणीकरण की अवस्था होती है। एक उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण भली प्रकार हो जायगा। दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रति रति का भाव न रखते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहाँ यह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति, शकुन्तला के प्रति साधारण रति मात्र रह जाती है। अर्थात् जो भी पाठक या दर्शक दुष्यन्त शकुन्तला के इस दृश्य को पढ़ता या देखता है वही अपने हृदय में स्थित रति का अनुभव करता है। ऐसा किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर यही है कि सामान्यतः ऐसे भाव सभी पाठक या श्रोता के भाव हो सकते हैं, अतः दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति भी सामान्य पाठक या श्रोता में हो सकती है। कारण, "आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।" इस से स्पष्ट जाना जा सकता है कि साधारणीकरण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है। और जब आलम्बन का साधारणीकरण हो जायगा तो आश्रय के साथ उसका तादात्म्य हो जाना स्वाभाविक है। यह शुक्लजी का अपना विचार है। विश्वनाथ ने भी उसी ओर संकेत किया है। परन्तु भट्टनायक और अभिनव गुप्त का मत इससे और आगे बढ़ जाता है। उन दोनों ने तो स्थायी भाव तथा विभाव आदि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव (आलम्बन अर्थात् केवल शकुन्तला) का साधारणीकरण और तदनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य उनको

उसी की खोज करती है । किस प्रकार करती है ? वह आनन्द स्वरूप है और कला का अन्तिम लक्ष्य भी आनन्द ही है । अतः जहाँ कला का अन्तिम लक्ष्य आनन्द है वहाँ ही उसका अन्तिम लक्ष्य उस ब्रह्म की प्राप्ति भी हो ही जाता है । अतः यह प्रश्न निर्विवाद है ।

—: o :—

मान्य नहीं है। उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए रति भाव रखना अनुचित होगा। इसलिए सहृदय प्रत्येक दशा में न आलम्बन के साथ साधारणीकृत सम्बन्ध स्थापित करता है (प्रेम करता है) और न आश्रय के साथ तादात्म्य। कारण, उसका यह प्रेम अपना व्यक्तिगत प्रेम नहीं होता। "नममेति न परस्येति।"

किन्तु शुक्लजी का कहना है "काव्य का विषय सदा विशेष होता है सामान्य नहीं। वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।" कारण, "काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।" बात भी ठीक है। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है। अर्थ ग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता और बिम्ब ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा। इसीलिए शुक्लजी ने आलम्बन (अर्थात् काव्य में वर्णित विशेष पात्र यानी शकुन्तला, सीता आदि) का साधारणीकरण माना है क्योंकि इन पात्र विशेष का बिंब उपस्थित किया जा सकता है। किंतु इतने पर भी हमारी पहले वाली शंका का समाधान तो हो नहीं पाता कि हमारा (पाठक या श्रोता का) पूज्य व्यक्ति अपना वही आलम्बन हर अवस्था में किस प्रकार हो सकता है ? सीता के प्रति हमारा मातृभाव है किन्तु पुष्प वाटिका में जब राम सीता को देखकर लक्ष्मण से अपने रति सम्बन्धी भाव व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि "मानहु मदन दुंदुभी दीन्हीं, मनसा विश्व विजय तिन कीन्ही", तो राम के समान यदि सीता के प्रति सबका मन ही 'कुपंथ' पर 'पग धरने' लगे तो एक अनर्थ खड़ा हो जायगा। मर्यादा का अतिक्रमण बड़े भयङ्कर रूप में हो जायगा और पूज्य भावना को एक गहरी ठेस लग जायगी। ऐसी अवस्था में शुक्लजी ने एक मार्ग बताया अवश्य है किंतु वह कहाँ तक उपयुक्त है यह भी विचारने की बात है।

उन्होंने कहा है कि ऐसी अवस्था में उसकी कल्पना में उसकी स्वयं की प्रेयसी की मूर्ति ही आयगी। यहाँ आलम्बन सीता न रह कर उसी प्रकार के सम्बन्ध वाली उसकी कोई भी प्रेयसी हो सकेगी। किन्तु यदि पाठक या श्रोता की कोई प्रेयसी ही नहीं है तो उसी के समान गुणों से युक्त सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति ही उसकी कल्पना में आजायगी। किंतु यह कल्पित मूर्ति भी किसी विशेष की होगी सामान्य की नहीं। बात कुछ अधिक जंचती हुई नहीं जान पड़ती। भट्टनायक और अभिनव गुप्त भी इस मत से सहमत नहीं हैं। किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं साधारण रति

का रूप है । दूसरी बात है कि यदि भाव मधुर न होकर कटु है, जैसे राम का रावण पर क्रोध देख कर अपना भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जाग्रत हो जाता है । अपना यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा, रस इसे नहीं कह सकते ।

इसी समय एक प्रश्न और भी उठ खड़ा होता है कि एक ही आलम्बन भिन्न-भिन्न अवस्था वाले व्यक्तियों का आलम्बन किस प्रकार हो सकता है । काव्य का आलम्बन यदि एक युवती है और दर्शक गणों में बालक, युवा तथा वृद्ध भी हैं और अधिक विचारणीय अवस्था उस समय होगी जब कि स्त्रियाँ भी दर्शक हों । ऐसी दशा में सभी का आलम्बन समान रूप से तो काव्य में वर्णित युवती नहीं हो सकती । दूसरी ओर किसी पूँजीपति के शोषक कर्म को देखकर या किसी निरीह गरीब पर क्रूर अत्याचार करते हुए देखकर तो उसके साथ तादात्म्य होना तो दूर रहा केवल सहानुभूति भी नहीं हो सकती । इस प्रकार इन सभी शङ्काओं का समाधान शुक्लजी द्वारा बताए अनुसार नहीं हो पाता ।

एक बात और भी उठे बिना नहीं रह सकती । सभी हिंदू अपने प्राचीन संस्कारों के अनुसार राम के प्रति श्रद्धा और रावण के प्रति घृणा का भाव, कृष्ण के प्रति श्रद्धा और कंस के प्रति घृणा का भाव रखते हैं । काव्य में ऐसी अवस्थाएँ बराबर आती रहती हैं कि दुष्ट बुद्धियाँ सद्बुद्धियों के प्रति अत्याचार करती हैं और उन दुष्टों का विरोध करने वाले, सद्भावना वाले तथा दुष्टों की दुष्टताएँ दूर करने वाले नायक उनका विरोध करते हैं, ऐसी अवस्था में पहले पहल कितनी ही घटनाएँ ऐसी आती हैं जिनमें दुष्ट प्रतिनायक की विजय और नायक की पराजय होती रहती है । उदाहरण स्वरूप राम रावण के युद्ध में रावण राम के प्रति दुष्ट वचन कहता है या राम की कभी-कभी की हार पर प्रसन्न होता है और अनेक प्रकार की खुशियाँ मनाता है तब क्या दर्शकगण रावण के प्रति तादात्म्य करके उसकी प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता मिला देंगे ? क्या राम के प्रति बुरे भाव उनके मन में आ सकेंगे ? सम्भव है सभी का उत्तर यही होगा कि नहीं । तब ऐसी अवस्था में क्या होगा ? इसके लिए शुक्लजी ने रस की दो अवस्थाएँ मानी हैं—एक वह जिसमें दर्शक या पाठक काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य करता है और काव्य के आलम्बन का साधारणीकरण हो जाता है । यह रस की उच्च अवस्था मानी गई है; किंतु दूसरी रस की एक नीची अवस्था में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति नहीं, वरन् श्रोता या पाठक वा दर्शक उस आश्रय के शीलद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा । पर इस रस दशा को हम मध्यम कोटि की मानेंगे । इस दशा में श्रोता या दर्शक वा पाठक उसी

भाव का अनुभव नहीं करता है जिस भाव की व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है बल्कि व्यंजना करने वाले उसके प्रति किसी और ही भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग आदि का-अनुभव करता है। इस दशा को भी एक प्रकार की रस दशा माना गया है। शुक्लजी ने कहा है कि "इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य रहता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है।" तात्पर्य यह है कि जहाँ हम काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं कर पाते वहाँ कवि के साथ करते हैं।

यहीं पर विचार के लिए एक शंका और आ खड़ी होती है। काव्य में कुछ स्थल या व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनका कवि केवल चित्रण करके ही सन्तुष्ट हो जाता है। वहाँ आलम्बन और आश्रय का प्रश्न ही नहीं रहता। ऐसे स्थान पर हम किसी आलम्बन को स्वीकार करें या करें ही नहीं। यदि आलम्बन नहीं होता तो आश्रय का अस्तित्व ही नहीं रहता और न तादात्म्य का प्रश्न ही रह जाता है और जब आश्रय और आलम्बन नहीं तो कहाँ रस और कहाँ साधारणीकरण। शुक्ल जी ने भी यह शङ्का स्वयं ही उठाई है और उसका समाधान भी उन्होंने स्वयं ही अपने ढङ्ग से कर लिया है। उनका कहना है कि "जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे—हिमालय, विन्ध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देते हैं, वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण कर उसके प्रति कोई भाव रखकर ही वह ऐसा करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है, उसी का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है।"

ये सभी शङ्काएँ एक ओर ता अलग-अलग करके शाँत हो जाती हैं किंतु दूसरी ओर कई नई शङ्काएँ उत्पन्न करती जातीं हैं ? और वह यह कि क्या साधारणीकरण का भी विभाजन होता है ? क्या साधारणीकरण की भी भिन्न-भिन्न कोटियाँ होती हैं ? क्या साधारणीकरण के आलम्बन और आश्रय अवस्था और समय के अनुसार बदलते रहते हैं ? क्या रस दशा की भी ऊँची नीची कोटियाँ होती हैं ? किंतु भाव जगत सर्वत्र एक है। रस सर्वत्र एक, अभिन्न तथा अखण्ड है; फिर यह सब विभाजन, यही सारी अनेकता और यह

सब ऊँची नीची कोटियाँ क्यों ? तो प्रश्न उठता है कि क्या शुक्ल जी ने इस सबको समझने में भूल की है; जिन पर आधारित होकर आचार्य शुक्ल ने अपना विवेचन किया है।

वस्तुतः बात कुछ और है। कला का अथवा कला के अङ्ग साहित्य तथा उपांग काव्य का निर्माण पहले होता है और उस निर्मित काव्य पर ही उसको सिद्धान्तों से प्रतिष्ठापित किया जाता है। प्राचीन आचार्यों ने भी साधारणी-करण का सिद्धान्त इसी प्रकार प्राचीन वर्णित काव्य के आधार पर ही निर्धा-रित किया है। प्राचीन काल में काव्य का नायक विशेष रूप से ऐसा ही व्यक्ति होता था जिसमें खोज-खोज कर ऐसे सभी आदर्श और उच्चगुणों की कल्पना की जाती थी जिनके कारण वह हमारे भावों के साथ तादात्म्य कर जाता था (यद्यपि प्रेम आदि के स्थान पर अपने पूज्य नायक और नायिका के साथ शृङ्गारी स्थलों पर फिर भी हम तादात्म्य न कर पाते थे जैसा कि राम और सीता के सम्बन्ध में अभी ऊपर कह आए हैं)। प्राचीन आचार्यों ने इसी काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य वाला सिद्धान्त बनाया है। किंतु आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों, नाटकों और काव्यों के नायकों का चरित्र उक्त आदर्श के बिल्कुल विपरीत हो गया है जिसके साथ तादात्म्य करना न तो सहज होगा और न स्पृहणीय ही। यदि ऐसे नायक के साथ भी कोई तादात्म्य कर सके तो यह उस साहित्यकार की सबसे बड़ी सफलता होगी। कारण, उपन्यासकार, नाटककार, या काव्यकार ने चित्रित चरित्र में इसलिए ऐसे विपरीत गुणों का समावेश किया जिससे वह समाज में इस प्रकार के दुर्गुणों के प्रति घृणा, क्षोभ और ग्लानि का भाव उत्पन्न कर सके। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः नायक का सीधा सम्बन्ध साधारणीकरण से नहीं होता। नायक के प्रति तादात्म्य होने या न होने का उत्तरदायित्व कवि या लेखक के ऊपर है। अर्थात् यदि कवि या लेखक अपने नायक के प्रति तादात्म्य करता है तो निश्चित रूप से पाठक या श्रोता को भी करना होगा और यदि कवि या लेखक उस नायक का चित्र केवल दुर्गुणों के प्रति अपनी घृणा आदि भावों की अभिव्यक्ति का साधन ही बनाता है तो पाठक या श्रोता के अन्तर में भी उसके प्रति वही भाव जाग्रत होगा। सफल कवि या लेखक वही है जो अपने अंतर के भावों को इस प्रकार व्यक्त करे कि वे पाठक या श्रोता के कोमल भावों से जा टकराएँ और सच्चा साहित्य वही है जो कवि या लेखक के अभिव्यक्त भावों को पाठक श्रोता के भाव बना दे। इन सबसे परिणाम यही निकला कि पाठक या श्रोता का सीधा सम्बन्ध कवि, काव्य या लेखक से है न कि काव्य में

वर्णित नायक से। पाठक की नायक के प्रति वही धारणा बन जाती है जो कवि बनवाता है अथवा जो कवि की धारणा होती है। फिर तादात्म्य भी पाठक और श्रोता का कवि के साथ ही होना चाहिए,नायक के साथ नहीं ? यदि यह बात ठीक है तो हमारी शंकाएँ एक साथ समाप्त हो जाती हैं। उनके उठने के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। यह प्रश्न भी फिर समाप्त हो जाता है कि किस अवस्था में नायक के साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य होता है और किस अवस्था में वह उसके शीलद्रष्टा के रूप में रहता है। किस समय पाठक अपने को नायक से अभिन्न समझता है और किस समय वह अपने को नायक से भिन्न कर लेता है। कहाँ रस की उच्च दशा होती है और कहाँ रस नीची कोटि में रहता है। हम तो हर अवस्था में कवि के साथ तादात्म्य करते हैं। आश्रय चाहे दुष्ट प्रवृत्ति का हो चाहे सुप्रवृत्ति का, हम तो हर अवस्था में उसकी ऊँची कोटि की ओर ही अग्रसर रहते हैं। शुक्ल जी को रस की कोटियाँ, साधारणीकरण का विभाजन आदि जो करना पड़ा वह केवल इसलिए कि उन्होंने इस सत्य पर पर्दा डाल दिया कि प्रत्येक अवस्था में तादाम्त्य कवि के साथ होता है। जबकि उन्हें कुछ अवस्थाओं में कवि के साथ तादात्म्य न मानकर ही अपनी शंकाओं का समाधान करना पड़ा है। आखिर चारा भी क्या था ? कवि को पीछे देकर हम कभी वस्तु स्थिति तक पहुँच ही नहीं सकते हैं। कारण, कवि तो ब्रह्मा है, स्रष्टा है। वह अपने अनुकूल ही अपनी काव्य सृष्टि का निर्माण करता है और करता है उन्हीं भाव-साधनों से, जो उसके पास हैं तथा करता है उन्हीं परिस्थितियों में जिनमें वह गुजर रहा है। फिर कवि समाज में रहने वाला एक मानव ही तो है। उसके भाव भी वही होने चाहिए जो समाज के अन्य व्यक्तियों के हैं। इसीलिए तो विभिन्न कवियों के एक ही नायक अपना व्यक्तित्व भिन्न रखते हैं। इसी लिए तो सूर के राधा कृष्ण से बिहारी के राधा कृष्ण बहुत भिन्न हैं, विद्यापति के उनसे भी अलग हैं और आज के युग में आकर महाकवि हरिऔध के राधा-कृष्ण प्राचीन लीक छोड़कर चलने वाले सायर सिंह सपूतों में से हैं। हम किस कवि को बुरा कहें ? किन राधाकृष्णों को बुरा कहें ? उत्तर में सब यही कहेंगे कि किसी को भी नहीं। सभी अपने-अपने युग के अनुकूल हैं। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि सूर तथा विद्यापति के राधाकृष्ण के साथ तो हमारा तादात्म्य हो जाता है किन्तु आज के हरिऔध के राधाकृष्ण के साथ नहीं होता है और इसका कारण है कवि। अर्थात् हम कवि की उस भावना के साथ तादात्म्य करते हैं जो उसके राधा-कृष्ण के माध्यम द्वारा समाज के समक्ष सचित्र रूप से व्यक्त हुई है। अतः एक शब्द में हम यही कह सकते हैं कि तादात्म्य सदैव कवि के साथ होता है।

अब प्रश्न आता है आलम्बन का। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है ? यदि हाँ, तो पुष्प वाटिका की सीता का साधारणीकरण होने पर सीता भी हमारे लिए उसी प्रकार रति को जाग्रत करने वाली प्रेयसी के समान है जिस प्रकार राम के लिए, जबकि लोग उसके साथ मातृ-भाव स्वीकार करते हैं। निश्चय ही इन दोनों बातों में से एक को सत्य और दूसरी को असत्य स्वीकार करना ही पड़ेगा कि या तो तुलसी का काव्य काव्य नहीं है यदि वह सीता को उसी रूप में सबका आलम्बन नहीं बना सके जिस रूप में राम की है; या सीता के लिए मातृ भाव रखने वाले लोग ही पाखण्डी हैं। किन्तु ध्यान देने पर इन दोनों में कोई भी असत्य नहीं है। कारण, हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं न कि राम की प्रिया से और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमें किसी प्रकार का संकोच हो; जिसके लिए हमें मर्यादाओं का ध्यान रखना पड़े वह कवि की अपनी मानसी सृष्टि है अर्थात् वह कवि की अनुभूति का प्रतीक है न कि रक्तमांस की बनी हुई नारी। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेदनशील बनाया है। अतः हम जिसे आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक मात्र है, सम्वेद्य रूप है और उसके साधारणीकरण का अर्थ होता है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण। यह हम पहले ही कह आए हैं कि अनुभूति मूलतः सब के अन्तर में एक ही है, उसे जाग्रत करना ही किसी का काम है। साधन सबके पास हैं किन्तु उसको प्रतिमा रूप में चित्रित करने का काम असली काम है। वह काम कवि करता है। भट्ट नायक और अभिनव गुप्त का समर्थन भी हमें इस पक्ष में अनायास ही मिल जाता है।

अतः साधारणीकरण केवल कवि की अनुभूति का होता है। कवि उसी को तो कहते हैं जिसमें यह शक्ति हो कि अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के द्वारा अन्य सभी के अन्तर में समान अनुभूति की जागृति कर सके अर्थात् जो अपनी अनुभूति को सब की अनुभुति से मिलाकर एक कर दे। दूसरे शब्दों में जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर दे वही सच्चा कवि है; उसी की कृति सच्चा काव्य है और यह क्रिया ही वस्तुतः साधारणीकरण है।

अतः साधारणीकरण के दोनों पक्ष आश्रय और आलम्बन कवि से भिन्न नहीं है। दोनों रूपों में हमारा सम्बन्ध कवि से है, काव्य के आश्रय और आलम्बन से नहीं।

अब थोड़ा इस पर भी विचार कर लिया जाये कि कवि किस प्रकार अपनो अनुभूति का साधारणीकरण करता है ? इस सम्बन्ध में विद्वानों और आचार्यों

के दो मत हैं—एक का कहना है कि साधारणीकरण का होना भाषा की शक्ति पर आधारित है और दूसरे का कहना है कि साधारणीकरण का मूलाधार मानव सुलभ सहानुभूति है जो सभी व्यक्तियों के हृदय में—भारतीय संस्कृति तो सम्पूर्ण चराचर को इस घेरे में ले लेती है—एक ही समान व्याप्त है। किन्तु ध्यान देने पर यह विवाद नहीं रह जाता। कारण, साधारणीकरण के दो पक्ष निश्चित हुए हैं—एक कवि का, जो अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है। और दूसरा श्रोता या पाठक का, जो कवि की अभिव्यक्त अनुभूति द्वारा अपनी अनुभूति को भी जाग्रत करते हैं। एक प्रेक्षक पक्ष (कवि)है तो दूसरा प्रेरित पक्ष (श्रोता या पाठक)है। किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए कुछ न कुछ माध्यम, कोई न कोई साधन चाहिए। कवि को अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए, उसे दूसरों के अन्तर तक प्रविष्ट कराने के लिए भी एक साधन की आवश्यकता है। भाषा वही साधन है। साधारणीकरण के लिए इन तीनों—(१) कवि, (२) सहृदय और सहानुभूतिपूर्ण पाठक और श्रोता, (३) माध्यम या साधन-स्वरूप भाषा की आवश्यकता है। ये तीनों जब एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं तभी सारा काम बन जाता है।

भाषा के दो प्रयोग होते हैं—१—जिसमें भाषा के प्रतीक केवल ज्ञान जाग्रत करते हैं और दूसरा वह जिसमें ज्ञान के आगे भावों को जगाया जाता है। ज्ञान जाग्रत करने के लिये तो सामान्य भाषा से भी काम चल जाता है क्योंकि ज्ञान का स्थान पहले है किन्तु भाव ज्ञान से अधिक गम्भीर है अतः भावों को जगाने के लिए एक विशेष प्रकार की भाषा की आवश्यकता होती है। भट्टनायक ने तो काव्य में ही 'भावकत्व' नामक एक ऐसी शक्ति की कल्पना की है जिससे भाव का आपसे आप ही भावन हो जाता है अर्थात् साधारणीकरण हो जाता है किन्तु अभिनव गुप्त इस 'भावकत्व' शक्ति की कल्पना को निराधार मान कर शब्द की सर्व प्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं।

किन्तु यदि प्रश्न उठाया जाय कि भावोद्दीपन में भाषा द्वारा एक व्यक्ति के उद्दीप्त भाव अन्यों के हृदय में समान भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं तो उत्तर में यही कहना उचित होगा कि सम्पूर्ण मानवता मूलतः एक ही चेतना से चैतन्य है, सभी के अन्तर में समान भाव सुप्त हैं और उन सभी के अन्दर आप से आप एक ऐसा सम्बन्ध है जैसे कि बिजली की सभी बत्तियाँ बिजलीघर के एक ही स्विच से सम्बन्धित रहती हैं। जब तक बटन दबाया नहीं जाता तब तक तो प्रकाश न जाने कितने गहरे में छिपा रहता है किन्तु जैसे ही बिजलीघर का एक बटन दबाया कि सम्पूर्ण बत्तियाँ एक साथ जगमगाने लग जातीं

हैं। भाव भी उसी प्रकार हैं। कवि उसका बिजलीघर वाला प्रमुख बटन है जिसके द्वारा अन्य सभी हृदयों में एक साथ ही अनुभूति का प्रकाशन होने लगता है। भाषा उस अनुभूति प्रकाशन का साधन है।

—: o :—

के दो मत हैं—एक का कहना है कि साधारणीकरण का होना भाषा की शक्ति पर आधारित है और दूसरे का कहना है कि साधारणीकरण का मूलाधार मानव सुलभ सहानुभूति है जो सभी व्यक्तियों के हृदय में—भारतीय संस्कृति तो सम्पूर्ण चराचर को इस घेरे में ले लेती है—एक ही समान व्याप्त है। किंतु ध्यान देने पर यह विवाद नहीं रह जाता। कारण, साधारणीकरण के दो पक्ष निश्चित हुए हैं—एक कवि का, जो अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है। और दूसरा श्रोता या पाठक का, जो कवि की अभिव्यक्त अनुभूति द्वारा अपनी अनुभूति को भी जाग्रत करते हैं। एक प्रेक्षक पक्ष (कवि) है तो दूसरा प्रेरित पक्ष (श्रोता या पाठक) है। किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए कुछ न कुछ माध्यम, कोई न कोई साधन चाहिए। कवि को अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए, उसे दूसरों के अन्तर तक प्रविष्ट कराने के लिए भी एक साधन की आवश्यकता है। भाषा वही साधन है। साधारणीकरण के लिए इन तीनों—(१) कवि, (२) सहृदय और सहानुभूतिपूर्ण पाठक और श्रोता, (३) माध्यम या साधन-स्वरूप भाषा की आवश्यकता है। ये तीनों जब एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं तभी सारा काम बन जाता है।

भाषा के दो प्रयोग होते हैं—१—जिसमें भाषा के प्रतीक केवल ज्ञान जाग्रत करते हैं और दूसरा वह जिसमें ज्ञान के आगे भावों को जगाया जाता है। ज्ञान जाग्रत करने के लिये तो सामान्य भाषा से भी काम चल जाता है क्योंकि ज्ञान का स्थान पहले है किन्तु भाव ज्ञान से अधिक गम्भीर है अतः भावों को जगाने के लिए एक विशेष प्रकार की भाषा की आवश्यकता होती है। भट्टनायक ने तो काव्य में ही 'भावकत्व' नामक एक ऐसी शक्ति की कल्पना की है जिससे भाव का आपसे आप ही भावन हो जाता है अर्थात् साधारणीकरण हो जाता है किन्तु अभिनव गुप्त इस 'भावकत्व' शक्ति की कल्पना को निराधार मान कर शब्द की सर्व प्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं।

किन्तु यदि प्रश्न उठाया जाय कि भावोद्दीपन में भाषा द्वारा एक व्यक्ति के उद्दीप्त भाव अन्यों के हृदय में समान भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं तो उत्तर में यही कहना उचित होगा कि सम्पूर्ण मानवता मूलतः एक ही चेतना से चैतन्य है, सभी के अन्तर में समान भाव सुप्त हैं और उन सभी के अन्दर आप से आप एक ऐसा सम्बन्ध है जैसे कि बिजली की सभी बत्तियाँ बिजलीघर के एक ही स्विच से सम्बन्धित रहती हैं। जब तक बटन दबाया नहीं जाता तब तक तो प्रकाश न जाने कितने गहरे में छिपा रहता है किन्तु जैसे ही बिजलीघर का एक बटन दबाया कि सम्पूर्ण बत्तियाँ एक साथ जगमगाने लग जातीं

है। भाव भी उसी [illegible]
जिसके द्वारा अन्य [illegible]
है। भाषा उस [illegible]

के दो मत हैं—एक का कहना है कि साधारणीकरण का होना भाषा की शक्ति पर आधारित है और दूसरे का कहना है कि साधारणीकरण का मूलाधार मानव सुलभ सहानुभूति है जो सभी व्यक्तियों के हृदय में—भारतीय संस्कृति तो सम्पूर्ण चराचर को इस घेरे में ले लेती है—एक ही समान व्याप्त है। किंतु ध्यान देने पर यह विवाद नहीं रह जाता। कारण, साधारणीकरण के दो पक्ष निश्चित हुए हैं—एक कवि का, जो अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है। और दूसरा श्रोता या पाठक का, जो कवि की अभिव्यक्त अनुभूति द्वारा अपनी अनुभूति को भी जाग्रत करते हैं। एक प्रेक्षक पक्ष (कवि)है तो दूसरा प्रेरित पक्ष (श्रोता या पाठक)है। किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए कुछ न कुछ माध्यम, कोई न कोई साधन चाहिए। कवि को अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए, उसे दूसरों के अन्तर तक प्रविष्ट कराने के लिए भी एक साधन की आवश्यकता है। भाषा वही साधन है। साधारणीकरण के लिए इन तीनों—(१) कवि, (२) सहृदय और सहानुभूतिपूर्ण पाठक और श्रोता, (३) माध्यम या साधन-स्वरूप भाषा की आवश्यकता है। ये तीनों जब एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं तभी सारा काम बन जाता है।

भाषा के दो प्रयोग होते हैं—१—जिसमें भाषा के प्रतीक केवल ज्ञान जाग्रत करते हैं और दूसरा वह जिसमें ज्ञान के आगे भावों को जगाया जाता है। ज्ञान जाग्रत करने के लिये तो सामान्य भाषा से भी काम चल जाता है क्योंकि ज्ञान का स्थान पहले है किन्तु भाव ज्ञान से अधिक गम्भीर है अतः भावों को जगाने के लिए एक विशेष प्रकार की भाषा की आवश्यकता होती है। भट्टनायक ने तो काव्य में ही 'भावकत्व' नामक एक ऐसी शक्ति की कल्पना की है जिससे भाव का आपसे आप ही भावन हो जाता है अर्थात् साधारणीकरण हो जाता है किन्तु अभिनव गुप्त इस 'भावकत्व' शक्ति की कल्पना को निराधार मान कर शब्द की सर्व प्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं।

किन्तु यदि प्रश्न उठाया जाय कि भावोद्दीपन में भाषा द्वारा एक व्यक्ति के उद्दीप्त भाव अन्यों के हृदय में समान भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं तो उत्तर में यही कहना उचित होगा कि सम्पूर्ण मानवता मूलतः एक ही चेतना से चैतन्य है, सभी के अन्तर में समान भाव सुप्त हैं और उन सभी के अन्दर आप से आप एक ऐसा सम्बन्ध है जैसे कि बिजली की सभी बत्तियाँ बिजलीघर के एक ही स्विच से सम्बन्धित रहती हैं। जब तक बटन दबाया नहीं जाता तब तक तो प्रकाश न जाने कितने गहरे में छिपा रहता है किन्तु जैसे ही बिजली-घर का एक बटन दबाया कि सम्पूर्ण बत्तियाँ एक साथ जगमगाने लग जातीं

हैं। भाव भी उसी प्रकार हैं। कवि उसका बिजलीघर वाला प्रमुख बटन है जिसके द्वारा अन्य सभी हृदयों में एक साथ ही अनुभूति का प्रकाशन होने लगता है। भाषा उस अनुभूति प्रकाशन का साधन है।

—: o :—

२५—अनुभूति और अभिव्यक्ति

काव्य का मुख्य आधार भाव है। इस भाव की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है। इन्हीं दो तत्त्वों के आधार पर विद्वानों ने काव्य के दो पक्ष माने हैं अन्तरङ्ग और बहिरंग। इसी को भावपक्ष और कलापक्ष अथवा अनुभूति पक्ष और रूपपक्ष भी कहते हैं। जिस प्रकार आत्मा और शरीर का पारस्परिक सम्बन्ध अमिट है उसी प्रकार भाव और कला परस्पर सम्बन्धित हैं। एक के अभाव में दूसरे की स्थिति असम्भव है। जिस प्रकार जीवन शरीर और आत्मा के सामंजस्य पर निर्भर है उसी प्रकार काव्य का जीवन भी भाव और कला के पारस्परिक योग पर आधारित है। भाव पक्ष में काव्य के समस्त वर्ण्य विषय आ जाते हैं और कला पक्ष में वर्णन शैली के समस्त अंगों का समावेश हो जाता है। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का आकार से। वस्तु और आकार को पृथक नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्य समीक्षकों ने काव्य के चार तत्व माने हैं—राग, कल्पना, बुद्धि और शैली। इनमें से प्रथम तीन—राग, कल्पना और बुद्धि का सम्बन्ध काव्य के अन्तरंग अर्थात् भाव पक्ष से है और अन्तिम तत्व—शैली का काव्य के बहिरंग, अर्थात् कलापक्ष से है।

बालक उत्पन्न होते ही अपनी इच्छा या वृत्ति के सहयोग द्वारा संसार से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करने लगता है। यही इच्छा या वृत्ति अनुकूलता पाकर 'प्रवृत्ति' में और प्रतिकूलता पाकर 'निवृत्ति' में परिवर्तित हो जाती है। बालक अग्नि में हाथ डालने से प्रतिकूलता अनुभव करता है और मिठाई खाकर अनुकूलता। यही बालक का उन वस्तुओं से रागात्मक सम्बन्ध है। प्रतिकूलात्मक, प्रवृत्यात्मक और निवृत्यामक, सुखात्मक और दुखात्मक, इसी सम्बन्ध को रागात्मक सम्बन्ध कहते हैं। रागात्मक सम्बन्ध काव्य के रस से होता है।

कल्पना द्वारा हम स्मृति-पट पर अङ्कित रागों का स्मरण करते हैं। इसकी निधि स्मृति-पट या स्मृति-कोष है। कल्पना का विधान दो प्रकार का होता है—सरल और मिश्रित। मनुष्य द्वारा हवा में उड़ने की कल्पना मिश्रित विधान है क्योंकि एक उड़ते हुए पक्षी को देखकर मनुष्य के भी पंख लगाकर उड़ने की कल्पना की गई है। हमारा स्मृति पट एक चलचित्र के समान है। कल्पना के

तीव्र वेग से संचालित होकर वह अपने भावात्मक चित्र सम्मुख रखता है। इनमें से जो चित्र हमें अच्छा लगता है वह रुक जाता है। भावमय चित्र उपस्थित करने के लिये, उसे स्पष्ट और प्रभावोत्पादक स्वरूप देने के लिये, कल्पना द्वारा पूर्व संकलित चित्रों का निरीक्षण एवं चयन आवश्यक है। सादृश्य भाव की सहायता से अभिव्यंजनीय चित्र प्रभावोत्पादक और स्पष्ट हो जाता है।

बुद्धि द्वारा राग की उपयोगिता तथा कल्पना द्वारा आनीत चित्र की उपादेयता निर्धारित की जाती है। राग और कल्पना में हृदय की ही प्रतिच्छाया अधिक रहती है। बुद्धि हृदय से हटकर मन से काम लेती है। इसका उद्गम स्थान मन है। भारतीय शास्त्रों में मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार एक ही वृत्ति के विकास की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। बुद्धि द्वारा राग और कल्पना को संयमित किया जाता है। इसकी सहायता के अभाव में कविता संस्कृत हृदयों की वस्तु नहीं बन सकती है। राग समूह भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधे हैं जिनका चयन कल्पना करती है। परन्तु किस पौधे को कहाँ लगाया जाय, किसका स्वरूप दूसरे किस पौधे के साथ अच्छा खिलेगा, इसका निर्णय बुद्धि करती है। परन्तु बुद्धितत्व राग और कल्पना से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं है। भावों के आगे का काम कल्पना करती है। बुद्धि भी कल्पना द्वारा संचित रूपों को ही सुचारु रूप से सजाती है। कल्पना के अभाव में बुद्धि पंगु हो जाती है। इस प्रकार राग कल्पना और बुद्धि काव्य के अन्तरंग पक्ष हैं जो पारस्परिक सहयोग द्वारा भाव को पुष्ट कर रस का सृजन करते हैं। परन्तु बुद्धि का सम्बन्ध काव्य के केवल अन्तरंग-पक्ष तक ही सीमित न रह कर उसके बहिरंग पक्ष से भी सम्बन्धित है। बुद्धितत्व अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को औचित्य की सीमा से बाहर नहीं जाने देता। उसका निजी रूप 'संगति' है। कविता में भावों के सम्यक् परिपाक के लिए इन तीनों तत्वों की समान आवश्यकता है। किसी भी एक तत्व के अभाव में भावपक्ष निर्बल हो सकता है। भारतीय आचार्यों ने भावों को रसों के अन्तर्गत माना है। व्यापक दृष्टि से भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही रस से संबंधित हैं क्योंकि कलापक्ष के अन्तर्गत जो अलंकार, लक्षणा, व्यंजना और रीतियाँ हैं वे सभी रस की पोषक हैं तथापि भावपक्ष का रस से अधिक घनिष्ठ संबंध है। वह उसका अंग है। कलापक्ष के विषय उसके सहायक और पोषक हैं।

अपनी भावनाओं का ज्ञान मनुष्य की एक विशेषता है। जब मनुष्य अपनी भावनाओं को अपने तक ही सीमित न रखकर अपने समान उनको समझने वाले व्यक्तियों के सम्मुख उपस्थित करता है तब काव्य का जन्म होता है। काव्य मनुष्य मात्र के हृदय की शाब्दिक अभिव्यक्ति है जो हृदय साम्य के कारण

पाठक या श्रोता के हृदय में भी उन्हीं भावनाओं की सृष्टि कर उसको असाधारण आनन्द प्रदान करती है। अनुभूति तो प्रत्येक मानव में होती है—सभी में प्रेम, घृणा, उत्साह, क्रोध, भय, आदि भाव होते हैं और सभी उनको अभिव्यक्त भी करते रहते हैं। परन्तु वह अभिव्यक्ति भावावेश की अभिव्यक्ति होती है। उसमें पशुत्व भावना का प्राबल्य रहता है। वर्डस्वर्थ के शब्दों में—"काव्य तो शान्ति के क्षणों में स्मरण किए हुए प्रवल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है।" इससे जब तक हम पशु बने रहेंगे, हम कविता नहीं लिख सकते। मनोवेगों की शाब्दिक अभिव्यक्ति केवल उनकी स्मृति से ही हो सकती है, उनके अस्तित्व मात्र से नहीं। यह सिद्धान्त यह भी बतलाता है कि प्रत्येक रस की कविता 'आनन्द' ही क्यों देती है, दुख क्यों नहीं देती। मनोवेगों से दुख आदि भी मिलते हैं परन्तु उनके स्मरण से केवल आनन्द मिलता है।

केवल अनुभूतियों के स्मरण मात्र से ही काम नहीं चल सकता। कवि को निरीक्षण और कल्पना की सबसे अधिक आवश्यकता है। उसे संसार की घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा अध्ययन करना पड़ेगा और फिर अपनी कल्पना का योग देकर उस निरीक्षण को अनुभूतियों का जामा पहनाकर काव्य सृष्टि करनी होगी। जिस व्यक्ति में अनुभूतियों की कल्पना-शक्ति नहीं, जो सहृदय नहीं, वह कवि प्रतिभा से हीन है। यही काव्य की अनुभूति या भावपक्ष है, जिसका स्थान बड़े महत्व का है। पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' तथा 'भाव' से भी यही तात्पर्य समझा जाता है। अपूर्ण रस को भाव कहते हैं। प्रत्येक रस भाव भी होता है परन्तु प्रत्येक भाव रस नहीं हो सकता। रस ही काव्य की आत्मा है। जो रस में सिद्ध है वही महाकवि है। इसी कारण रस-सिद्ध महाकवियों ने इस अनुभूति पक्ष को बड़ा महत्व दिया है—तुलसी, सूर, प्रसाद आदि भावपक्ष में प्रवीण कवि थे।

विद्वानों ने भाव को अपरिवर्तनशील माना है। यदि भाव अपरिवर्तनशील है तो विश्वव्यापी काव्य में भी एक रूपता होनी चाहिये परन्तु ऐसा है नहीं। सभी, अपने बच्चे को प्यार करते हैं। देश-विदेश के कारण इसमें अन्तर नहीं पड़ता। प्रिय वियोग का दुख सभी को एक सा होता है। इस प्रकार सर्वत्र एक रस रहता है। यदि भाव को सत्य, विश्व-व्यापी और एक रस मानें तो विश्वभर के सम्पूर्ण काव्य में भी एकरूपता होनी चाहिए परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसका कारण मानव-स्वभाव की विचित्रता तथा अनेकता ही है। जब हमारी ही प्रवृत्ति सदा एक रस नहीं रहती तो औरों की कैसे कही जा सकती है? इससे कविता में जो विशेषताएँ देखी जाती हैं वे मानव स्वभावसुलभ हैं। "समाज और व्यक्ति के संस्कार और विकास की सूचना देने वाले उसके भाव हैं

जिनकी परिष्कृति समाज की एक स्वाभाविक क्रिया बन गई है। इन संस्कृत और परिष्कृत भावों को धारण करने वाले, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त करने वाले समाज अपने काव्य और कलाओं में अपनी विकसित रुचि का परिचय देते हैं। देश और साहित्य का इतिहास समाज के उस विकास का साक्षी रूप है।" (डा० श्यामसुन्दरदास)

सस्कृत के प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने साहित्य के भाव पक्ष का पृथक् निरूपण तो नहीं किया है परन्तु काव्यकार के लिए यह निर्देश अवश्य दिया है कि वह पहले विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करे तब साहित्य-सृजन करे। ऐसा करने से ही भावों का परिष्कृत और परिमार्जित रूप में चित्रण हो सकेगा। भावों के इस परिष्कार द्वारा ही साहित्य के माध्यम से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी। ऐसा काव्य ही 'रस' की पूर्ण उद्भावना करने में समर्थ हो सकेगा।

"भाव तो प्रत्येक कविता के मूल में होंगे ही, परन्तु उन भावों को भाषा का स्वरूप देना, भाषा को उचित रीतियों के अनुसार संगठित करना, उसे सजाना, अलंकारों से सुशोभित करना, उसे गुणवती बनाना, दोषों को दूर करना, सारांश यह है कि भाषा की लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों को उद्बुद्ध और पुष्ट करके उन भावों को रसमय बना देना—यह साहित्य के कलापक्ष का काम है।" अभिव्यक्ति पक्ष को कलापक्ष कहना उसका संकीर्ण अर्थ है इसी-लिए विद्वानों ने इसे वाह्य-पक्ष या अभिव्यक्ति-पक्ष कहा है। कुछ लोग इसे सौन्दर्य पक्ष भी कहते हैं परन्तु सौन्दर्य ही एक मात्र कला का पक्ष नहीं है। काव्य में भावों के उत्कर्ष के लिए, उसमें सरसता का संचार करने के लिए, कला का सहारा लेना पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि काव्य का कलापक्ष उसकी प्रेषणीयता या प्रभावोत्पादकता है। प्रेषणीयता काव्य का साधन है, साध्य नहीं। कला का काम है कविकृति के भावों का उद्दीपन करना और उसमें सौन्दर्य लाना। शब्द, छन्द, अलंकार, गुण आदि कला के वाह्य उपा-दान हैं। कला के विषय में इनका अनुशीलन आवश्यक है। शब्दों तथा वाक्यों का निरन्तर संस्कार करते रहने एवं उपयुक्त रीति से उनका प्रयोग करने से ही भावों का सुन्दर अभिव्यंजन होता है—उसमें अधिक से अधिक प्रभावोत्पा-दकता आती है। अतः कला अभ्यासलब्ध वस्तु है।

कलापक्ष अभिव्यक्ति की कुशलता पर निर्भर है। हम ऊपर कह आये हैं कि इसके लिए शब्द शक्ति, अलंकार, गुण, रस, छन्द और भाषा शैली आदि उपांगों की जानकारी आवश्यक है। हमारे यहाँ रस ही काव्य की आत्मा माना गया है। इसकी उत्पत्ति विभाव, अनुभाव, संचारी भावों के संयोग से

होती है। इनसे काव्य में नवीनता का समावेश होता है। काव्य के गुण तथा अन्य सुन्दर विशेषताएँ रस का उत्कर्ष करती हैं और उनका दोष या स्खलन अपकर्ष। जिसका अर्थ यह है कि उनसे बचने की चेष्टा करने से रसानुभव उत्कृष्ट मात्रा में होता है। शब्द शक्तियाँ तीन मानी गई हैं—अभिधा, व्यंजना और लक्षणा। गूढ़ से गूढ़ भावों की व्यंजना इन शक्तियों के सहारे होती है। कोई ऐसा कथन नहीं जो इनसे परे हो। इनमें से जिसमें व्यंजना शक्ति का आधिक्य होता है वही काव्य श्रेष्ठ माना जाता है। व्यंजना से कुछ कम उत्तम लक्षणा का अर्थ है, परन्तु अभिधा का कोश सम्मत अर्थ काव्य में उत्तम नहीं समझा जाता। ऐसा काव्य निकृष्टतम कोटि का माना जाता है। अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए आते हैं। ये काव्य के अस्थिर धर्म कहे गए हैं। वैसे इनके बिना भी कविता हो सकती है पर इनके साथ कविता और भी खिल उठती है। परन्तु काव्य में रमणीयता का प्राधान्य मानने वाले अलंकार को ही काव्य की आत्मा समझते हैं। अग्निपुराण में अलंकार रहित काव्य को विधवा के समान माना गया है। केशव अलंकारों को अत्यधिक महत्व देते हुए कहते हैं—

"जदपि सुजाति, सुलक्षणी, सुवरन, सरस, सुवृत्त।
भूषन बिनु नहिं राजहिं, कविता, बनिता, मित्त।।"

परुष, कोमल और मधुर शब्दचयन के आधार पर काव्य के तीन गुण ओज, प्रसाद और माधुर्य का विधान किया गया है। ये काव्य के स्थिर धर्म हैं। छन्द काव्य (पद्य) के लिए आवश्यक अंग है। सदा से कविता किसी न किसी छन्द में ही होती आई है। परन्तु नीरस पद्य बद्ध रचना काव्य नहीं कही जा सकती। इसी कारण कुछ लोग छन्द बन्धन के विरोधी हैं। निराला जी का मुक्तक छन्द इसी भावना की उपज है। भाषा शैली की पुष्टता और व्यवस्था के बिना काव्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसी प्रकार कला-पक्ष के ये उपांग भी उसकी पूर्णता के लिए पूर्ण होने चाहिए।

अभिव्यक्ति का एक 'अंग' वर्णन भी है। गीति काव्य एवं प्रबन्ध काव्य दोनों में वर्णन एक विशेष रमणीयता का प्रतिपादन करता है। इसमें प्रकृति चित्रण भी आ जाता है। प्राचीन कवियों में वर्णन का विशेष मान था। जायसी, तुलसी, चन्द आदि का मन विभिन्न प्रकार के वर्णनों में खूब रमा है। रीतिकाल में विलासी घरेलू जीवन का अधिक वर्णन हुआ है। नवीन युग के रहस्यवादी तथा छायावादी कवि प्रकृति के उपासक हैं और प्रगतिवादी मजदूर किसान जीवन के। इनके द्वारा प्रकृति तथा समाज के स्वाभाविक और मनोहर चित्र उतरते हैं। काव्य की सफलता भावों की सफल व्यंजना में है, इसलिए

वर्णन उसका एक प्रमुख अंग बन जाता है क्योंकि भावों का कथन केवल भुक्तभोगी को ही आनन्द दे सकता है, परन्तु वर्णन से सहृदय प्रभावित होते हैं।

भाषा साहित्य में भावाभिव्यक्ति का एक मात्र माध्यम है। यदि यह माध्यम रूपी शरीर कुरूप, अशक्त एवं बेढंगा होगा तो उसमें निवास करने वाली भाव रूपी आत्मा का प्रकाशन कभी भी उचित ढंग से नहीं हो सकेगा। कविता प्रधान रूप से शब्द की साधना है। भावों को भाषा का स्वरूप देकर चमत्कार-पूर्ण और रसमय बना देना कलापक्ष का काम है। कवि की भाषा और जन साधारण की भाषा में भिन्नता होती है। क्योंकि कवि को अनेक अमूर्त्त एवं वायवी तथ्यों तथा कल्पनाओं को साकार रूप देना पड़ता है जिसके लिए जन साधारण की भाषा समर्थ नहीं होती। कवि कुछ ही शब्दों द्वारा मानव-मन की गहन तथा गम्भीर अनुभूतियों को इस रूप में अभिव्यक्त करता है कि हमारे सामने उनका मूर्त्त रूप उपस्थित हो जाता है। भाषा की यह मूर्तिमत्ता कविता के कलापक्ष की एक प्रधान विशेषता है। इसी कारण कवि की भाषा जन साधारण की भाषा से भिन्न असाधारण, चमत्कारपूर्ण, परिष्कृत, परिमार्जित तथा सम्पन्न होती है। "प्रकृति के प्रत्येक रूप में वृक्षों के कोमल पल्लवों, पक्षियों के सुमधुर कलरवों तथा सागर के वृक्ष पर विलास करती हुई लहरों तथा एकान्त वन में सदा व्याप्त रहने वाला मधुर संगीत कवि की भाषा में स्वयं ही मुखरित हो उठता है।" भाषा में संगीतमय प्रवाह का होना आवश्यक है।

कवि या साहित्यकार अपनी भाषा में कभी भी अनावश्यक शब्दों की भरती नहीं करता। उसकी सदैव यही चेष्टा रहती है कि वह कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक कह जाय। वह थोड़े से थोड़े शब्दों द्वारा जीवन के मार्मिक तथ्यों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। बिहारी के दोहे इसके प्रमाण हैं। उसके दोहे—'देखन में छोटे लगें और घाव करें गम्भीर" के सबसे पुष्ट और ज्वलन्त प्रमाण हैं। भाषा की शक्ति का सबसे सुन्दर निखार उसकी संक्षिप्तता में ही देखा जाता है। आचार्यों ने भाषा की पुष्टता एवं सौंदर्य को अक्षुण्ण रखने के लिए रसानुकूल गुण, वृत्ति और रीति का विधान किया था। विभिन्न रसों में विभिन्न गुणों और वृत्तियों का उपयोग संगत माना जाता है। नीचे दी हुई तालिका से इनके पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाते हैं—

गुण	वृत्ति	रीति	उपयुक्त रस
माधुर्य	मधुरा	वैदर्भी	शृङ्गार, करुण, शान्त

ओज	परुषा	गौड़ी	वीर, रौद्र व वीभत्स
प्रसाद	प्रौढ़ा	पांचाली	सभी रस समान

भाषा की उपर्युक्त विवेचना के अतिरिक्त उसमें व्यवस्था, सम्वादिता—प्रसंगानुकूल उचित भाषा का प्रयोग—प्राकृतिकता, स्वाभाविकता, यथार्थता आदि गुणों का समावेश भी आवश्यक है। संक्षेप में काव्य के कलापक्ष के यही अङ्ग और विशेषताएं मानी गई हैं।

रवीन्द्र बाबू ने काव्य के कला पक्ष की व्याख्या निम्नलिखित अवतरण में बहुत सुन्दर और स्पष्ट रूप से की है। वे कहते हैं—"पुरुष के दफ्तर जाने के कपड़े सीधे-सादे होते हैं। वे जितने ही कम हों, उतने ही कार्य में उपयोगी होते हैं। स्त्रियों की वेष-भूषा, लज्जा-शर्म, भाव-भंगी समस्त ही सभ्य समाजों में प्रचलित हैं······स्त्रियों का कार्य हृदय का कार्य है। उनको हृदय देना और हृदय को खींचना पड़ता है। इसलिए बिल्कुल सरल, सीधा-सादा और नपा-तुला होने से उनका कार्य नहीं चलता। पुरुषों को यथायोग्य होना आवश्यक है; किन्तु स्त्रियों को सुन्दर होना चाहिए। मोटे तौर से पुरुषों के व्यवहार का सुस्पष्ट होना अच्छा है, किन्तु स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण और आभास इङ्गित होने चाहिए। साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिए अलंकारों का, रूपकों का, छन्दों का और आभास-इङ्गितों का सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान की तरह निरलंकृत होने से उसका निर्वाह नहीं हो सकता।' इसीलिए "सुकुमार कला सत्य, शिव और सुन्दर की झाँकी का प्रत्यक्ष और इस साक्षात्कार से प्राप्त हुई आनन्दमयी स्थिति का सुन्दर प्रतिभा द्वारा सहज एवं सुचारु उद्‌गार है।"

शरीर से आत्मा सभी प्रकार श्रेष्ठ है। परन्तु जिस प्रकार बिना शरीर के आत्मा भटकती फिरती है और बिना आत्मा के शरीर निर्जीव हो जाता है उसी प्रकार काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का सम्बन्ध है। बिना भाव के कला का कोई मूल्य नहीं है और बिना कला के भावों की अभिव्यक्ति असम्भव है। जिस तरह शरीर और आत्मा एकात्म रहते हैं उसी प्रकार काव्य में भाव और कला एकात्म हैं। "काव्य कहने से भाव और उसे अभिव्यक्त करने की निपुणता दोनों का समान रूप से बोध होता है। बल्कि काव्य का कलापक्ष ही लेखक का कृतित्व है। भाव तो चिरन्तन हैं और वे न तो मौलिक होते हैं और न किसी के अपने। उन्हें व्यक्त करने की निपुणता ही कवि की अपनी वस्तु है। इसी से काव्य के कलापक्ष के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।"

(पं० रामदहिन मिश्र)

काव्य में इनमें से एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। दोनों को उचित स्थान देने से ही काव्य का सफल निर्माण सम्भव है। यदि काव्य में भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति सफल न हो सकी तो काव्य एक पहेली बन जायगा। इसके विपरीत यदि काव्य में अनुभूति है ही नहीं, केवल बाहरी टीमटाम है तो एक कौतूहल अवश्य होगा, आनन्द नहीं मिल सकता। कविता कामिनी निश्चय ही रस रूपी आत्मा के कारण ही समाज में आने के योग्य समझी जायगी, परन्तु यदि उसको वस्त्र रूपी भाषा-अलङ्कार, छन्द-गति या वर्णन शरीर के बिना या इनकी हीनता में देखा जाय उसी प्रकार आनन्द नहीं मिल सकता जिस प्रकार कि रोगिणी वृद्धा, वस्त्रहीना वा आभरण रहित विधवा को देखकर कोई उल्लास नहीं प्राप्त होता। कवि की सामग्री कैसी ही उत्तम क्यों न हो, भाव-विचार, कल्पना कैसी ही परिपक्व और अद्भुत क्यों न हो, जब तक उसकी कृति में रूप-सौंदर्य नहीं आयगा, अनुक्रम सौष्ठव और प्रभावोत्पादकता नहीं होगी, तब तक वह कृति काव्य नहीं कहला सकती।

भावना के बिना भावों का अस्तित्व असम्भव है। प्रसिद्ध कलाशास्त्री क्रोचे के अनुसंधान में भाव और भाषा एक हो गए हैं इसलिए काव्य में दोनों के द्वन्द्वों की आवश्यकता नहीं रही है। किन्तु भारत के कलाशास्त्री विश्वनाथ काव्य को 'रसात्मकं वाक्यं' मानकर काव्य के सम्पूर्ण उपकरणों की व्याख्या पहले ही कर चुके थे। 'रसात्मकं काव्यं' के एक सूत्र में सम्पूर्ण साहित्य शास्त्र आ जाता है। एक ओर कविता के सब गुण और दूसरी ओर सब दोष उसी एक वाक्य सम्बन्धित हैं।

साहित्य का मूल्यांकन करते समय साधारणतया काव्य के इन दोनों पक्षों पर विचार किया जाता है। यह एक सर्वमान्य सत्य है कि यदि कलाकार का जीवन-दर्शन निर्बल है तो उसकी कला भी दुर्बल होगी। दूसरी ओर यदि साहित्य के कलापक्ष को हम स्वीकार करते हैं तो इसका परिणाम यह होगा कि साहित्य के नाम पर चाहे जितनी रचनाएँ की जायं, सबको साहित्य की कोटि में अनिवार्य रूप से लेना पड़ेगा। परन्तु प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में साहित्य की कोटि में वे ही रचनाएँ आ सकती हैं जिनमें—"गहरी अनुभूति, उच्च भावना तथा समाज को आगे लेजाने की क्षमता रखने वाले विचार-तत्व के साथ-साथ मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना भी हो। यदि ऐसा नहीं होगा तो फिर साहित्य और पत्रकारिता में कोई अन्तर न रहेगा। पत्रकारिता का प्रभाव क्षणभंगुर होता है, साहित्य का गहरा और व्यापक।"

—:०:—

२६—काव्य और अलङ्कार

संस्कृत काव्य-शास्त्र में अलङ्कारों की बहुत महिमा गाई गई है। इसी महिमा के कारण कुछ आचार्यों ने काव्य-शास्त्र को अलङ्कार शास्त्र भी कहा है। काव्य मीमांसाकार राजशेखर अलङ्कार को वेद का सातवाँ अंग कहते हैं। अलङ्कार वेदार्थ का उपकार है क्योंकि इसके बिना वेदार्थ समझ में नहीं आ सकता। काव्य-साधना में भाव-साधना और भाषा-साधना दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा-ज्ञान के अभाव में कोई भी कवि सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्रकारों ने कवि उसे माना है जो चमत्कारपूर्ण भाषा में अपने विचार प्रकट कर सके। कवि भाषा का शिल्पी होता है। वह सबल एवं सुन्दर भाषा द्वारा ही चमत्कार और अनुरंजन उत्पन्न करने में सफल होता है। यही चमत्कार और अनुरंजन उत्पन्न करने की भावना अलङ्कारों की जननी है।

अलङ्कार उसे कहते हैं जो शोभा को 'अलं' अर्थात् पूर्ण करे। काव्य के सौन्दर्य-साधक संस्कृत के पाँच प्रमुख वादों—रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि—में से अलङ्कार सम्प्रदाय और वक्रोक्ति सम्प्रदाय काव्य में अलङ्कारों का प्राधान्य मानते हैं। यद्यपि अलङ्कार बाहरी साधन होते हैं तथापि उनके पीछे अलंकृतिकार की आत्मा का उत्साह और ओज छिपा रहता है। बाह्य साधन होने के कारण अलङ्कारों पर ही सबसे पहले दृष्टि जाती है, इसलिए संस्कृत साहित्य के प्रारम्भिक काल में अलङ्कारों का विशेष महत्व रहा है। कुछ आचार्यों ने इन्हें काव्य का अनिवार्य अंग माना है। इन लोगों का मत है कि जिस प्रकार आभूषण रमणी के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देते हैं उसी प्रकार अलङ्कार भाषा तथा अर्थ की सौन्दर्य वृद्धि के प्रमुख साधन हैं।

अलङ्कार सम्प्रदाय के भामह, दँडी, रुद्रट आदि आचार्यों ने इन्हें अत्यधिक महत्व दिया है। भामह का कथन है कि—"न कान्तमपिनिभूर्षणं विभाति वनिता मुखम्।" अर्थात् वनिता का सुन्दर मुख भी भूषण के बिना शोभा नहीं देता। दंडी के कथनानुसार—"काव्य शोभाकरात् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते" अर्थात् काव्य के शोभापरक सभी धर्म अलङ्कार शब्द-वाच्य ही हैं। ध्वनिकार का मत है कि—"अंगश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्" अर्थात् अंग रूप

से वर्तमान अलंकारों को कटक आदि मानवीय अलङ्कारों की भाँति समझना चाहिए। ध्वनिकार का दूसरा मत भी दृष्टव्य है—"रसकर्त्तक आक्षिप्त का आकृष्ट होने से जिसकी रचना सम्भव हो और रस के सहित एक ही प्रयत्न द्वारा जो सिद्ध हो वही अलङ्कार ध्वनि में मान्य है।" इसी को प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक होम ने, "भावावेश की अवस्था में स्वतः अलङ्कार उद्भूत होते हैं", और ब्लेअर ने "कल्पना या भावावेश से भाषा अलंकृत होती है" कहा है।

आचार्य विश्वनाथ का मत है कि—"रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गीदादिवत्" (अर्थात् कटक-कुडल की भाँति अलङ्कार रस के उत्कर्ष विधायक हैं।) वामन ने गुणों को शोभा का कारण माना है और अलङ्कारों को शोभा को अतिशयता देने वाला या बढ़ाने वाला कहा है। परन्तु हिन्दी के प्रसिद्ध अलङ्कारवादी केशवदास तो अलङ्कारों को ही सब कुछ मानते हुए कहते हैं—

"जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन, सरस, सुवृत्त।
भूषन बिनु नहिं राजहीं, कविता, वनिता, मित्त ॥"

आचार्य शुक्ल जैसे कट्टर नीतिवादी आलोचक भी काव्य में अलङ्कारों का स्थान मानते हुए कहते हैं—"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलङ्कार है।" अलङ्कारों के विषय में पंत जी के विचार भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। 'पल्लव' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि—"अलङ्कार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, इस की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार-व्यवहार और रीति-नीति हैं, पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।······जहाँ भाषा की जाली केवल अलङ्कारों के चौखटों में फिट करने के लिये बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बंध कर सेनापति के 'दाता' और 'सूम' की तरह 'इकसार' हो जाती है।"

उपर्युक्त विद्वानों में से कुछ अलङ्कारों को सर्वाधिक महत्व देकर उन्हें ही एक प्रकार से काव्य की आत्मा मानते हैं तथा कुछ उन्हें केवल सौन्दर्य-वृद्धि का साधन मात्र मानते हैं। कुछ विद्वानों का तो यह भी मत है कि अलङ्कारों के अभाव में भी काव्य को काव्य माना जा सकता है। मम्मट का कहना है कि—"सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि।" नरोत्तमदास रचित 'सुदामा चरित' के अनेक पद एवं रसखान के अनेक सवैये इसके प्रमाण हैं। वहाँ भाव-विह्वलता ने सरलतम भाषा को अपूर्व मोहक शक्ति प्रदान करदी है। इससे यही

निष्कर्ष निकलता है कि अलङ्कारों के अभाव में भी काव्य में रस की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु इतनी बात तो अवश्य है कि किसी भी भाव का तीव्रतर अनुभव कराने में अलङ्कारों का सहयोग अवश्य सहायक होता है। अतः उन्हें काव्य की आत्मा जैसा महत्वपूर्ण पद न प्रदान कर रस का सहायक माना जा सकता है। अलङ्कारों का प्रधान कार्य काव्य की सौन्दर्य वृद्धि करना है, चाहे वह सौंदर्य भाव का हो अथवा भाषा का। भाव का सौंदर्य बढ़ाने वाले अलङ्कारों का तो रस से अनिवार्य सम्बन्ध है। शब्दलंकार भाषा का अलंकरण कर उसमें चमत्कार और अनुरंजन की शक्ति उत्पन्न करते हैं।

तुलसीदास ने 'कवितावली' में हाथ पर पर्वत धारण किए आकाशगामी हनुमान की तीव्र गति का चित्रण उत्प्रेक्षा अलङ्कार की सहायता से किया है। वहाँ यह अलङ्कार भावानुभूति में सहायक होकर आया है—

"लीन्यौ उखारि पहार विशाल,
चल्यौ तेहि काल बिलम्ब न लायौ।
मारुतनन्दन मारुत को,
मन को, खगराज को वेग लजायौ॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो,
पै हिये उपमा को समाउ न पायौ।
मानो प्रतच्छ परब्बत की,
नभ लीक लसी कपि यों धुक धायौ॥

परन्तु कुछ कलाकार, जिनके पास भावों का अभाव रहता है, अलङ्कार की सहायता से चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। उनके काव्य में इसी कारण बाह्य रूप का आधिक्य और अनुभूति की कमी पाई जाती है। अच्छे-अच्छे रस सिद्ध कवि भी कभी कभी अलङ्कारों के मोह में पड़ कर शब्दों का खिलवाड़ करने लगते हैं। हमारे रीतिकालीन कवि इसके लिए बदनाम हैं।

जब गाँठ की शोभा होती है तभी अलङ्कार उसे बढ़ा सकते हैं। इसी कारण जब तक अलङ्कार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक वे शोभा के उत्पन्न करने वाले कहे सकते हैं किन्तु जब वे रूढ़ियों की परम्परा मात्र रह जाते हैं तब भार रूप दिखाई देने लगते हैं। अलङ्कारों का महत्व अवश्य है, किन्तु वे काव्य की आत्मा —मूल पदार्थ—रस का स्थान नहीं ले सकते। इसी-अलंकार का संगत और यथानुकूल प्रयोग करने वाले बिहारी ने व्यर्थ के भार-स्वरूप अलंकारों का तिरस्कार करते हुए उन्हें 'दर्पण का मोर्चा' कहा है। अलंकार कृत्रिम या आरोपित हो सकते हैं और होते हैं, किन्तु महत्व कवि हृदय

उत्साह से प्रेरित सहज अलङ्कार का ही है। वे रस के उत्कर्ष के हेतु होते हैं। कभी-कभी अलङ्कारप्रियता के आवेश में ऐसे अलङ्कार गढ़ लिए जाते हैं जो कठिनता से अलङ्कार कहे जाने योग्य हैं, जैसे—सम्भव, सम्भावना, भाविक, तद्गुण आदि।

संस्कृत साहित्य में अलङ्कारों की भरमार रही है। भरत मुनि ने सर्वप्रथम चार प्रकार के अलङ्कारों का प्रयोग किया है जो रुय्यक तक आते आते सैकड़ों की संख्या तक पहुँच गए। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द तक इनकी संख्या में और भी वृद्धि हुई। शोभाकार कृत 'अलंकार-रत्नाकर' में तो इनकी संख्या असंख्य हो गई। इनमें से कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जो चमत्कार शून्य हैं। कुछ का अन्यान्य अलङ्कारों में अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ गौण मान कर छोड़ दिए गए हैं। कुछ आलङ्कारिकों ने थोड़े से अलङ्कारों के नामों में भी अन्तर कर डाला है। दंडी उपमेयोपमा को अन्यान्योपमा, सन्देह को संशयोपमा, मीलित और तद्गुण को एक ही मीलनोपमा, व्यतिरेक और प्रतीप को उत्कर्षोपमा कहते हैं। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। भामह ने रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि अलङ्कारों में ही रस को समेट लिया है। दण्डी ने भी रसवत् अलङ्कारों में ही आठों रसों को पचा डाला है।

संस्कृत-साहित्य की इस लम्बी अलङ्कार परम्परा का मुख्य उद्देश्य काव्योत्कर्ष की साधना रहा है। हिन्दी में आदिकाल एवं भक्तिकाल तक अलङ्कारों का स्थान गौण रहा है यद्यपि काव्योत्कर्ष के लिए उनका स्वाभाविक प्रयोग सभी ने किया है। परन्तु रीतिकाल में तो अलङ्कारों का एकछत्र साम्राज्य दिखाई देता है। आधुनिक काल में आकर भारतेन्दु युग तक अलङ्कारों के प्रति मोह अवश्य रहा था परन्तु द्विवेदी युग में इन्हें तुच्छ दृष्टि से देखा जाने लगा। छायावादी युग में पुनः इनका उत्कर्ष दिखाई दिया लेकिन प्रगतिवादी युग में फिर इनका बहिष्कार हुआ।

अँग्रेजी साहित्य में अलङ्कारों का स्थान गौण रहा है। वाल्टर पेटर उनकी उपयोगिता को केवल इन शब्दों में ही स्वीकार करता है कि "Permissable ornament being for the most part structural or necessary" अर्थात् ग्रहणयोग्य अलङ्कार प्रधानतः काव्यांगभूत हैं अथवा आवश्यक हैं। अलङ्कार मानवी विचारों के अधीन हैं। इससे उनके साथ साहचर्य नियम ((Laws of association) लागू होता है। ये तीन हैं—१—सामीप्य—कालगत और स्थलगत (Laws of association by contiguity). २—साधर्म्य (Similarity) और ३—विरोध (Contrast)। कार्यकरण

मात्र एक चौथा नियम भी है। पाश्चात्य अलङ्कार हमारे अलङ्कारों के समान न तो सुलझे हुए हैं और न इतने उन्नत ही हैं। अङ्गरेजी के (Metonymy) और Synecdoche तथा इनके भेद लक्षणा शक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं। Innundo का समावेश ध्वनि-व्यंजना में हो जाता है Apostrophe (अनुपस्थित को उपस्थित समझा कर सम्बोधन करना) को संस्कृत वाले नहीं मानते। मानवीकरण आदि अलङ्कार हिन्दी में अधिक हैं। उपमा, रूपक, सार, व्याज-स्तुति, श्लेष, विरोध, विषम जैसे कुछ ही अलंकार अँग्रेजी में हैं। इस प्रकार अँग्रेजी साहित्य में अलङ्कारों को विशेष महत्व नहीं दिया जाता।

काव्य में भाव, विचार और कल्पना उसकी अन्तरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं। वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलङ्कार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं किन्तु भाव, विचार और कल्पना का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को 'काव्य-राज्य' के प्रमुख अधिकारी कह सकते हैं तथा अलङ्कारों को उनके पारिपार्श्विक। काव्य में रस का स्थान प्रथम, गुण का मध्यम तथा अलङ्कार का निम्न माना गया है। हम पहले कह आए हैं कि अलङ्कार रहित रचना भी काव्य कहला सकती है। अलङ्कार केवल वे ही उपयोगी होते हैं जो अर्थ को अधिक रोचक और सुन्दर ढंग से प्रकट करने में सहायता पहुँचाते हैं। केवल शाब्दिक कलाबाजी वाले अलंकार काव्य के लिए उपयोगी नहीं कहे जा सकते। साराँश यह है कि कविता में अलंकारों का उसी सीमा तक उपयोग होना चाहिए जिससे उसके सौन्दर्य में वृद्धि हो। वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। साधन सदैव साधन ही रहेगा, साध्य नहीं बन सकता। अलंकारों की भरमार से कविता का नैसर्गिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अतः स्वाभाविक रूप से आए अलंकार ही काव्य के लिए वाँछनीय होते हैं।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के विभिन्न अङ्गों की भाँति अलंकारों का भी विस्तृत विवेचन किया है। इस विस्तार के मूल में कुछ आचार्यों द्वारा अलंकारों के दो भेद माने गए हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकार शब्द में चमत्कार उत्पन्न करते हैं परन्तु भावानुभूति को तीव्र करने में असमर्थ रहते हैं। यमक, अनुप्रास, श्लेष आदि शब्दालंकार हैं। शाब्दिक चमत्कार के लिए निम्नलिखित दोहे में प्रयुक्त यमकालंकार द्रष्टव्य है—

"तो पर वारों उरवसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरवसी ह्वै उरवसी समान॥"

अर्थालङ्कार का सम्बन्ध भावपक्ष से होता है। इसमें कल्पना की प्रधानता रहती है। इनके उपयोग में कवि का मुख्य उद्देश्य पाठक की बुद्धि और मन

दोनों को ही प्रभावित करना होता है। ऐसे अलंकार काव्य का कलात्मक सौन्दर्य तो निखारते ही हैं साथ ही भावोत्कर्ष में भी प्रमुख सहायक होते हैं। बुद्धि को प्रभावित करने वाली तीन विभिन्न शक्तियों के आधार पर इन अलंकारों को साम्यमूलक, विरोध मूलक तथा सान्निध्यमूलक—इन तीन रूपों में विभक्त किया गया है। साम्य तीन प्रकार का माना जाता है—१—शब्द की समानता, एक ही प्रकार के शब्द एवं वाक्यों के आधार पर आयोजित सादृश्य, २—रूप या आकार की समानता, ३—साधर्म्य अर्थात् गुण या क्रिया की समानता। इनके अन्तरङ्ग में प्रभाव-साम्य भी निहित रहता है और प्रभाव-साम्य पर आधारित कविता ही अधिक प्रभावोत्पादक मानी जाती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा सन्देह इत्यादि साम्यमूलक अलंकारों में माने जाते हैं।

परस्पर-विरोधी पदार्थों को देखने से हमारे मन पर उनके पारस्परिक विरोध की छाप अङ्कित हो जाती है। इसी से विरोध मूलक अलंकारों की उत्पत्ति मानी गई है। विरोध, विभावना, विशेषोक्ति तथा सम विचित्र आदि विरोध मूलक अलंकार हैं। जब हम किन्हीं दो या अधिक पदार्थों को एक साथ या एक के बाद अनिवार्य रूप से आने वाला देखते हैं तब एक वस्तु को देखते ही हम दूसरी वस्तु का सम्बन्ध स्वयं स्थापित कर लेते हैं। इसे ही सान्निध्य कहते हैं। संख्या, पर्याय, परिसंख्या आदि सान्निध्यमूलक अलंकार हैं।

उपर्युक्त शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के अलङ्कार और होते हैं जिनमें शब्द तथा अर्थ दोनों में चमत्कार उत्पन्न होता है। ऐसे अलंकार उभयालंकार कहलाते हैं।

काव्य में अलङ्कारों की सहायता से थोड़े से शब्दों में कवि इतनी अधिक बातें कह जाता है कि विद्वानों ने इस प्रवृत्ति को 'गागर में सागर भरना' कहा है। हिन्दी में बिहारी अलंकारों के उक्त प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध हैं। वे थोड़े से शब्दों में ही कितनी अधिक अर्थ की व्यंजना करते हैं :—

"खौरि-पनिच भृकुटी धनुष वधिक समरु तजि कानि।
हनतु तरुन मृग तिलक सर, सुरक-भाल भरि तानि।।"

× × ×

जोग जुगुति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत प्रिय अद्वैतता कानन सेवत नैन।।"

उपर्युक्त दोहों में रूपक अलंकार द्वारा बिहारी ने भाव और भाषा दोनों में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इसी प्रकार कामायनीकार 'प्रसाद' उपमा,

उत्प्रेक्षा, सन्देह रूपक आदि अलंकारों के प्रयोग द्वारा भावों को तीव्र करने में पूर्ण सफल हुए हैं। उनका श्रद्धा का रूप वर्णन द्रष्टव्य है--

"नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रङ्ग ॥

× × × ×

आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम ;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम ।
या कि नव इन्द्र नील लघु शृङ्ग
फोड़ कर धधक रही हो कान्त ;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।"

—कामायनी

प्रसाद की उपर्युक्त पंक्तियों में अलंकारों के सुन्दर प्रयोग ने उनके सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये हैं। साथ ही वे भावों के उत्कर्ष में भी सहायक हो रहे हैं। इस प्रकार इनमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की सफल एवं सन्तुलित व्यंजना इन्हें अमर काव्य की कोटि में रखने में समर्थ हैं। इसके विपरीत यमक अलंकार के भार से पीड़ित,प्रसिद्ध अलंकारवादी कवि सेनापति की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें अलंकारों के प्रयोग ने सौन्दर्य के स्थान पर कुरूपता की ही सृष्टि अधिक की है—

"नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति,
सेनापति चेत कछू पाहन अचेत है।
करम करम करि करमन करि, पाप—
करम न करि मूढ़ सीस भयौ सेत है ॥
आवै बनि जतन ज्यौं रहै बनि जतनन
पुन्न के बनिज तन मन क्यों न देत है।
आवत बिराम बैस बीती अभिराम तातैं,
करि बिसराम भजि रामै किन लेत है ॥"

इसके अतिरिक्त सेनापति का प्रसिद्ध श्लेष-वर्णन शाब्दिक कलावाजी के अतिरिक्त और कोई महत्व नहीं रखता। वास्तव में अलङ्कार ऐसे होने चाहिए जो वर्ण्य-विषय के सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायक हों। उनका यही कार्य और मूल्य है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"अप्रस्तुत भी उसी प्रकार के भावों के

उत्तेजक हों, प्रस्तुत जिसके भाव का उत्तेजक हो। किसी पात्र के लिए जो उपमान लाया जाय वह उस भाव के अनुरूप हो जो कवि ने उस पात्र के सम्बन्ध में अपने हृदय में प्रतिष्ठित किया है और पाठक के हृदय में भी प्रतिष्ठित करना चाहता है।''

आचार्यों ने अलंकारों की अनेक कोटियाँ और संख्या निश्चित की हैं परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि रससिद्ध महाकवि सदैव उन्हीं के बतलाए हुए मार्ग के अनुसार ही अलङ्कारों का प्रयोग करते हों। उनके काव्य में अनजाने ही ऐसे अलंकारों का प्रयोग होता रहता है जिनका अभी तक नामकरण भी नहीं हो सका है। आचार्य शुक्ल ने इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहकर अलंकारों के विस्तृत और मौलिक प्रयोग की ओर संकेत किया है—''जो प्रसिद्ध कवि होते हैं उनकी रचनाओं में ऐसे भाव और अलंकार मिल जाते हैं जिनका आज तक नामकरण भी नहीं हुआ है। सूर, तुलसी आदि ऐसे ही समर्थ कवि हैं जिनकी वक्रतायुक्त तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ आज तक विद्वानों द्वारा वर्गीकृत नहीं हो पाई हैं।''

हम ऊपर कह आए हैं कि काव्य में अलङ्कारों का स्थान गौण है। वे केवल उसके सौन्दर्य को बढ़ा सकते हैं, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर पाते। ऐसी कविताओं की भी कमी नहीं है जो अलङ्कारों के अभाव में शाश्वत साहित्य की कोटि में रखने योग्य हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बिना अलंकारों के भी भावपूर्ण कविता लिखी जा सकती है। नीचे के दो पद इस कथन को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होंगे—

''सखि हौं तो गई जमुना जल कौं सो कहा कहौं वीर विपत्ति परी।
घहराइ कै कारी घटा उनई इतनेई में गागरि सीस धरी॥
रपट्यौ पग घाट चढ्यौ न गयौ कवि 'मण्डन' ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नन्द कौ बारौ अरी गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥''

—मण्डन

× × ×

''माँ, फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी।
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी॥
लटुरी खुली अलक रज-धूसर बाँहें आकर लिपट गईं।
निशा तापसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी।''

—प्रसाद

—:०:—

२७—काव्य के दोष

जिस किसी वस्तु के कारण कविता के मुख्य अर्थ के समझने में बाधा पहुँचती है अथवा उसकी सुन्दरता में कुछ कमी आ जाती है उसे दोष कहा जाता है। काव्य-निर्माण में कवि की अपनी अक्षमता ही दोषों की जननी होती है। कवि अपनी अनुभूति को उसके उसी रूप में पाठकों को भी अनुभव कराना चाहता है। इसके लिए वह भाषा का माध्यम अपनाता है। इसके लिए उसे शब्दों और वाक्यों का समुचित और सुसंगत प्रयोग करना पड़ता है किन्तु इस प्रयोग में जब शब्द या वाक्यों में कोई कमी रह जाती है तो पाठकों या श्रोताओं को उस अनुभूति का तद्वत् अनुभव करने में बाधा पहुँचती है। यही बाधा वास्तव में दोष है। आचार्यों ने काव्य का निर्दोष होना बहुत ही आवश्यक माना है क्योंकि दोष उसके कलेवर को कलुषित कर देता है। अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि आदि के विषय में आचार्यों में चाहे कितना ही मतभेद रहा हो किन्तु काव्य में दोषों के निराकरण के सम्बन्ध में सभी एक मत रहे हैं। आचार्य दण्डी तो तिलवत काव्य-दोष को भी अक्षम्य मानते हैं क्योंकि जिस प्रकार कोढ़ का एक धब्बा भी शरीर के समस्त सौन्दर्य को विकृत कर देता है उसी प्रकार एक भी काव्य-दोष काव्य के साहित्यिक सौन्दर्य को चौपट कर देने के लिए पर्याप्त है।

काव्य-दोषों के सम्बन्ध में अग्निपुराण में कहा गगा है—"उद्वेगजनको दोषः" अर्थात् काव्यास्वाद में जो उद्वेग उत्पन्न करता है वह दोष है। काव्य-दर्पणकार का कहना है कि—"दोषास्तस्यापकर्षकः" अर्थात् शब्दार्थ द्वारा जो रस के अपकर्षक—हीनकारक हों, वे ही दोष हैं। 'काव्य-प्रदीप' की भूमिका में श्रीगोविन्द ने दोषों का विवेचन करते हुए कहा है कि—"यदि काव्य में किसी भी प्रकार के दोष पाए जाते हों तो अलङ्कार आदि के रहते हुए भी उसमें अपेक्षित साहित्यिक सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इसके विपरीत काव्य में यदि अलंकारादि न भी हों तो भी दोषों के अभाव के कारण ही थोड़ा बहुत काव्य सौंदर्य अवश्य आ जायगा।" भरत द्वारा वर्णित दोषों की व्याख्या करते हुए यही मत अभिनव गुप्त ने प्रकट किया है। भामह तो कुकवित्व को साक्षात् काव्य मृत्यु मानते हैं। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये आचार्य दोषों के अभाव को ही एक प्रकार से काव्य का गुण मानते हैं।

काव्य-प्रकाशकार मम्मट का कथन है कि—"तद्दोषौ शब्दार्थौसगुणावलंकृति पुनः क्वापि" अर्थात् वे ही शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं जो दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त हों फिर चाहे उसमें अलंकार कभी-कभी हों या न हों। साथ ही वे उसे दोष मानते हैं जिससे काव्य के मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो। काव्य में कवि का अभिप्रेत अर्थ ही मुख्य अर्थ होता है। कवि जहाँ वाच्यार्थ द्वारा उत्कर्ष लाना चाहता है वहाँ वाच्यार्थ ही मुख्य अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त कवि जहाँ रस, भाव आदि में सर्वोत्कृष्ट चमत्कार चाहता है वहाँ रस, भाव आदि ही मुख्यार्थ माने जाते हैं। परम्परा सम्बन्ध से शब्द ही मुख्यार्थ माना गया है। वामन गुणों के विरोध में आने वालों को दोष कहते हैं—"गुण-विपर्ययात्मानो दोषः"। काव्य प्रदीपकार का कहना है कि—अविलम्ब मुख्यार्थ की प्रतीति में—चमत्कार के तत्काल ज्ञान होने में बाधा पहुँचाने वाले दोष हैं जो त्याज्य माने जाते हैं।

दोषों से सर्वथा बचना कवि के लिए सदैव सम्भव नहीं होता। कभी-कभी एक साधारण सा दोष गुण में परिवर्तित भी हो जाता है। तो भी कवि को यथा-सम्भव दोषों से बचने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। लांजीनस ने भी काव्य दोषों को हेय कह कर उनसे बचने की सलाह दी है। जैम्स स्काट ने लांजीनस के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—" Faults are not the less faults because they arise from the heedlessness of genius··· He (Longinus) warns us against bombast pueirllity or affectation, and the conceits of firgidity" आर्नल्ड का कहना है कि अपनी अपेक्षा अपनी कला का समादर अधिक आवश्यक है—"Let us at least have so much respect for our art as to prefer it to ourselves." यह दोषत्याग को ही लक्ष्य में रखकर कहा गया है।

किंतु कवि के सम्मुख सबसे बड़ी कठिनाई उस समय आती है जब वह शास्त्रोक्त दोषों के विषय में विद्वानों में मतभेद देखता है। काव्य-समीक्षकों में दोनों के स्वरूप और संख्या के सम्बन्ध में बहुत मतभेद रहा है। फिर ऐसा भी होता है कि एक विद्वान किसी बात को दोष मानता है तथा दूसरा उसे ही गुण मानता है। ऐसी स्थिति में दोष दोष नहीं रह जाता। औचित्य की अपेक्षा में ही गुण-दोष की विवेचना की जा सकती है। पुनरुक्ति साधारणतः दोष समझा जाता है किंतु अनुकम्पादि विवक्षित होने पर वह दोष नहीं रह जाता। इस सम्बन्ध में काव्यादर्शकार का मत द्रष्टव्य है—

"अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिकविक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया ॥"

काव्य-दोष तीन प्रकार के माने जाते हैं—१—शब्द दोष, २—अर्थ दोष, और ३—रस दोष। काव्यापकर्ष भी तीन प्रकार का होता है—१–काव्यास्वादावरोधक, २—काव्योत्कर्ष विनाशक और ३—काव्यास्वाद विलम्बक। इसके अतिरिक्त पदगत, पदांशगत और वाक्यगत जो दोष होते हैं वे शब्द दोष में ही गिने जाते हैं। उपर्युक्त तीनों दोष काव्यापकर्ष के कारण बनते हैं जो इस प्रकार हैं—

१—वे कारण जो रसास्वादन में अवरोध उत्पन्न करते हैं।

२—वे कारण जो काव्य के उत्कर्ष को नष्ट करते हैं।

३—वे कारण जो काव्य के आस्वादन में विलम्ब उपस्थित करते हैं।

मम्मट ने ७० प्रकार के दोषों का उल्लेख किया है जिनमें से ३७ शब्द के, २३ अर्थ के तथा शेष १० रस के दोष हैं। परन्तु उपर्युक्त ७० दोषों में से कुछ दोष ऐसे हैं जो केवल संस्कृत साहित्य में ही पाये जाते हैं—हिन्दी में नहीं। इसलिए यहाँ केवल उन्हीं प्रमुख दोषों का विवेचन किया जायगा जिनका सम्बन्ध हिन्दी से है। अब हम क्रमशः शब्द दोष, अर्थ दोष एवं रस दोष के प्रमुख दोषों का विवेचन उपस्थित करेंगे जो निम्न लिखित है—

शब्ददोष

वाक्यार्थ के बोध होने में जो पृथक्-पृथक् दोष प्रतीत होते हैं वे शब्द-दोष कहलाते हैं। शब्दगत दोषों में भी शब्द और वाक्य के पृथक्-पृथक् दोष माने गए हैं। शब्द दोष तीन प्रकार के माने जाते हैं—१—पदगत, २—पदांशगत और ३—वाक्यगत।

१—**च्युत संस्कृति या च्युत संस्कार दोषः**—काव्य में व्याकरण विरुद्ध प्रयोग इस दोष के अन्तर्गत होते हैं। कभी-कभी असावधानी के कारण या तुक मिलाने के लिए बड़े-बड़े कवि भी व्याकरण के नियमों की अवहेलना कर बैंठते हैं। यह दोष पाँच प्रकार का माना गया है—१—लिंग दोष, २—वचन दोष, ३—कारक दोष, ४—सन्धिदोष और ५—प्रत्यय दोष। जब पाठक काव्य में इन दोषों को देखता है तो उसका ध्यान काव्य से हटकर इन दोषों की तरफ चला जाता है जिससे उसे ग्लानि और खीझ होती है जो काव्यानन्द में बाधक बन जाती है। नीचे की पंक्तियों में क्रमशः उपर्युक्त पाँचों दोष रेखांकित शब्दों द्वारा स्पष्ट हो जायेंगे—

१—'पीछे मघवा मोहि शाप दई।' हिन्दी में पन्तजी के काव्य में यह दोष प्रायः पाया जाता है।

२—'कह न सके कुछ बात **प्राण** था जैसे घुटता ।'

३—'**मेरे** में कुछ नए गर्व कण आकर उभरे ।'

४—**क्यों प्राणोद्वेलित है** चंचल ।

५— प्रेम शक्ति से चिर निरस्त्र हो जावेगी **पाशवता** ।

उपर्युक्त पंखियों में रेखांकित शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'दयो','प्राण थे', 'मुझ में' होना चाहिए तथा संधिदोष के उदाहरण में 'प्राण' और 'उद्वेलित' शब्दों का अलग-अलग रहना ही आवश्यक है। संस्कृत-हिन्दी शब्दों का संधि, समास और प्रत्यय द्वारा मिलाना दोष माना जाता है। प्रत्यय दोष के उदाहरण में 'पाशवता' के स्थान पर 'पशुता' या 'पाशव' ही शुद्ध प्रयोग है। यहाँ एक ही अर्थ में दो भाववाचक प्रत्यय हैं।

२—**श्रुतिकटुत्व दोष**—जहाँ कवि सुन्दर और मधुर शब्दों का प्रयोग न कर कानों को खटकने वाले शब्दों का प्रयोग करता है वहाँ श्रुतिकटुत्व दोष माना जाता है। यथा—

"कसती कटि थीं **कनिष्ट** माँ असि देतीं मझली **घनिष्ठ** माँ।
कह क्यों न किया हमें प्रजा पहनाती वह **ज्येष्ठ** माँ स्त्रजा ॥"

उपर्युक्त रेखांकित शब्द कानों को खटकते हैं जिससे मन में उद्वेग उत्पन्न होता है। यहाँ परुष वर्णों का प्रयोग पद्यगत रसास्वादन का विघातक है। यही शब्द यदि रौद्र रस के प्रसंग में प्रयुक्त किए जाते तो उन्हें दोष नहीं माना जाता। इसलिए रसानुकूल शब्दों का प्रयोग काव्य सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है।

३—**अक्रमत्व दोष**—जिस स्थान में जो शब्द या पद रखा जाना चाहिए उसे उस स्थान में न रखकर अन्यत्र रख देने से अक्रमत्व दोष माना जाता है। जैसे—

"विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी।"

यहाँ 'लीला' से 'मानवी' का सम्बन्ध है क्योंकि 'लीला' 'मानवी' का विशेषण है। परन्तु यहाँ ये दोनों शब्द एक दूसरे से बहुत दूर जा पड़े हैं। पागल आदि के प्रलाप में क्रमहीन पदों का प्रयोग गुण मान लिया जाता है।

४—**दुष्क्रमत्वदोष**—जहाँ लाक या शास्त्र विरुद्ध क्रम हो वहाँ यह दोष माना जाता है। जैसे—

"मारुतनन्दन, मारुत को, मन को।
खगराज को वेग लजाओ ॥"

यहाँ जब पहले मन का वेग कह चुके तो पुनः खगराज का वेग कहना

अनुचित है क्योंकि मन के वेग से खगराज के वेग की कोई तुलना नहीं हो सकती ।

१०—**अप्रतीतत्व दोष**—काव्य में जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जो किसी शास्त्र में प्रसिद्ध होने पर भी लोक-व्यवहार में अप्रसिद्ध हों । जैसे—

"कैसे ऐसे जीव ग्रहण या ज्ञानहिं करिहैं ।
अष्टमार्ग द्वादश निदान कैसे चित धरिहैं ।।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त 'मार्ग' और 'निदान' बौद्धागम के पारिभाषिक अर्थों के बोधक हैं ; लोक-व्यवहार में आने वाले 'मार्ग' और 'निदान' शब्दों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है । यह बौद्धागम से अनभिज्ञ व्यक्ति को अर्थोपस्थिति में बाधक होगा । अतः यहाँ अप्रतीतत्व दोष है ।

६—**न्यूनपदत्व दोष**—जहाँ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जितने शब्दों की आवश्यकता हो उनसे यदि कम शब्दों का प्रयोग किया गया हो वहाँ न्यूनपदत्व दोष होता है । जैसे—

"शत-शत संकल्प-विकल्पों के अल्पों में कल्प बनाती सी ।"

यहाँ अनुप्रास के मोह में पड़कर कवि ने 'अल्पों' का प्रयोग किया है । इसके साथ 'क्षणों' आदि शब्दों की कमी है । अल्प में भी विभक्ति लगादी है ।

"पानी पावक पवन प्रभु,
ज्यों असाधु त्यों साधु ।"

यहाँ कवि का अभिप्राय यह है कि पानी, पावक, पवन और प्रभु साधु और असाधु दोनों के साथ एक सा व्यवहार करते हैं परन्तु वाक्य में पर्याप्त शब्दों की कमी के कारण ऐसा अर्थ सरलता से नहीं निकल पाता ।

७—**अधिकपदत्व दोष**—जहाँ ऐसे अनावश्यक शब्दों का प्रयोग किया गया हो जिन्हें निकाल देने से भी उसके अर्थ में कोई बाधा न पड़ती हो या जिनके रहने से अर्थ में बाधा ही पड़ती हो वहाँ यह दोष होता है । जैसे—

"लपटी पुहुप पराग पट सभी स्वेद मकरन्द ।
आवत नारि नवोढ़ लौं सुखद वायुगति मन्द ।।"

यहाँ 'पुहुप' शब्द अनावश्यक है क्योंकि पराग पुष्प में ही होता है, अन्यत्र नहीं । इसलिए केवल पराग शब्द से ही पुष्प-पराग का बोध हो जाता है । इसलिए यहाँ पुहुप शब्द व्यर्थ या अधिक है ।

८—**अश्लीलत्व दोष**—जहाँ लज्जा-जनक, घृणास्पद और अमङ्गलवाचक पदों का प्रयोग हो वहाँ पर यह दोष माना जाता है । लज्जाजनक उदाहरण वहाँ होते हैं जहाँ स्त्री-पुरुषों के गुप्ताङ्गों का नाम निर्देश या विशेष वर्णन हो । जैसे—

क—"धिक् मैथुन-आहार यन्त्र"   ख—"रहते चूते में मजदूर"

यहाँ मैथुन-यन्त्र और चूते शब्द लज्जाजनक हैं यद्यपि यहाँ चूते का अर्थ चूते हुए छप्पर के नीचे से है। घृणास्पद उदाहरणों में मल-मूत्र, वमन, थूक, अधोवायु आदि का वर्णन होता है। जैसे—

"मदिरा पीना आपने समझ लिया था पाप।
लगे थूक कर चाटने इतनी जल्दी आप॥"

यहाँ थूक कर चाटना घृणा-व्यंजक है। परन्तु वीभत्स रस के वर्णन में यह दोष नहीं माना जायगा। अमंगल सूचक में मृत्यु तथा अमंगल वाचक शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे—

"दुख देख्यौ ज्यौं कालि त्यौं आजहु देखौ।"

यहाँ कहना तो यह था 'जैसे आपने (भोजन के लिए) कल कष्ट किया था, वैसे ही आज भी कीजिए।' किन्तु इसके लिए यहाँ 'दुख देख्यौ' शब्दों का प्रयोग अमंगल सूचक है। "मधुरता में मरी सी अनजान" इसमें 'मरी सी' शब्द अमंगल सूचक है। परन्तु करुण रस में ऐसे शब्दों का प्रयोग दोष नहीं माना जाता।

९—**ग्राम्यत्व दोष**—जहाँ साहित्य में गँवारों की बोलचाल की भाषा में आने वाले शब्दों का प्रयोग किया गया हो। परन्तु कभी-कभी निरन्तर प्रयुक्त होते रहने पर ग्रामीण शब्द भी साहित्य में ग्रहण कर लिये जाते हैं—

"**टूटि खाट** घर टपकत '**टटिओ**' टूटि।
पिय कै बाह '**उससवा**' सुख कै लूटि॥
लै कै सुघर '**खुरपिया**' पिय के साथ।
छइबै एक **छतरिया** बरसत पाथ॥" —रहीम

इसमें टटियो, उससवा, खुरपिया आदि ग्राम्य प्रयोग हैं। ग्राम्यत्व दोष वहाँ गुण हो जाता है जहाँ कोई गंवई-गाँव का निवासी अपनी भणिति-भंगी से अपनी मनोवृत्ति प्रकट करता है।

१०—**क्लिष्टत्व दोष**—जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग किया गया हो जिसका अर्थ कठिनता से स्पष्ट हो। विभिन्न कूट पदों, कबीर की उलटवासियों आदि में इस प्रकार के प्रयोगों की भरमार है। जैसे—

"वेद नखत ग्रह जोरि अरघ करि,
सोई बनत अब खात।" —सूर

इसमें वेद = ४ + नक्षत्र = २७ + ग्रह = ९ = ४० का आधा २० बीस अर्थात् विष। अर्थ यह निकला कि गोपियाँ कृष्ण के वियोग में अब विष खाती हैं अर्थात् मरणासन्न हो रही हैं। एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—

"तरु-रिपु-रिपु-धर देख के बिरहिन तिय अकुलात ।"

यहाँ वृक्ष का शत्रु अग्नि है और अग्नि का शत्रु जल। उस जल को धारण करने वाले अर्थात् मेघ को देखकर विरहिणी नारियाँ व्याकुल हो रही हैं। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों के अर्थ कष्ट-कल्पना से ज्ञात होते हैं। शब्दार्थ-बोध में विलम्ब होना क्लिष्टत्व दोष का विषय है ।

अर्थ दोष

१—**पुनरुक्ति दोष**—जहाँ भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा एक ही अर्थ को दुहराया जाय। यह अर्थगत दोष है क्योंकि एक से दो शब्दों को देखकर ही हम यह दोष नहीं बता सकते जब तक कि उन दोनों शब्दों का अर्थ भी एक ही होने का विश्वास न हो जाय। जैसे—

"धन्य हैं कलंक हीन जीना एक क्षण का ।
युग-युग जीना सकलंक धिक्कार है ।।"

इसमें दोनों चरणों का भाव एक ही है जो पुनरुक्ति है। तथा—

"मुक्त द्वार रहते थे गृह गृह, नहीं अर्गला का था काम ।।"

इसमें भी दोनों चरणों का अर्थ एक ही है।

२—**काल दोष**—जहाँ ऐतिहासिक काल का बिना ध्यान रखे कोई वर्णन कर दिया जाय। जैसे—

"पाँडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामत देखौ ।।

—रामचन्द्रिका

इसमें राम के मुख से पांडवों का उल्लेख करवाना काल विरुद्ध है क्योंकि राम पाँडवों से पहले हुये थे।

३—**व्याहत दोष**—जिसका महत्व दिखाया जाय, उसी का तिरस्कार दिखाना व्याहत दोष है। इसी प्रकार तिरस्कृत का सम्मान दिखाना भी दोष है। जैसे—

"दानी दुनियाँ में बड़े देत न धन जन हेत ।"

यहाँ पहले दानियों का बड़प्पन दिखाकर फिर उनके द्वारा धन न देने की बात कह कर तिरस्कार किया गया है।

४—**प्रसिद्धि-विरुद्ध दोष**—लोक में जो वस्तु जिस बात के लिए प्रसिद्ध हो उसके विपरीत उसका वर्णन करना।

"हाँ जब कुसुम कठोर कठिन है तब मुक्ता तो है पाषाण ।
जो बर्तुलता वश अपनी ही खनि का नाश कराती आप ।।"

इससे यह प्रकट होता है कि मोतियों की भी खान होती है जो लोक-

प्रसिद्धि के विरुद्ध है क्योंकि लोक में समुद्र से ही मोती उत्पन्न होने की प्रसिद्धि है, जो वास्तविकता भी है।

५—**विद्या-विरुद्ध दोष**—शास्त्र विरुद्ध बातों के वर्णन में विद्या-विरुद्ध दोष होता है। जैसे—

"वह एक अबोध अचेतन बेसुध चैतन्य हमारा।"

यहाँ चैतन्य को अबोध, अचेतन और बेसुध बताया गया है जो वेदान्त के विरुद्ध है।

रस दोष

१—**स्वशब्द वाच्यत्व दोष**—रस, स्थायी भाव अथवा व्यभिचारी भाव जहाँ व्यंग हों वहीं काव्य के लोकोत्तर चमत्कार का अनुभव होता है। जहाँ इनका शब्दों द्वारा उल्लेख कर, रस, भाव आदि को उद्बुद्ध करने की चेष्टा की जाती है वहाँ स्वशब्द वाच्यत्व दोष होता है। जैसे—

"आः कितना सकरुण मुख था।
आर्द्र-सरोज-अरुण मुख था।"

यहाँ करुण रस का शब्द द्वारा उल्लेख कर दिया गया है। तथा—

"जान गौरि अनुकूल सिय हिय हर्ष न जात कहि।"

यहाँ 'हर्ष' संचारी का शब्द द्वारा कथन है।

२—**विभाव और अनुभाव की कष्ट-कल्पना**—जहाँ विभाव या अनुभाव का ठीक-ठीक निश्चय न हो अर्थात् किस रस का यह विभाव है या अनुभाव वहाँ दोष माना जाता है। जैसे—

"यह अवसर निज कामना किन पूरन करि लेहु।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं यह छन भंगुर देहु॥"

यहाँ इस बात का पता लगना कठिन है कि इसका आलम्बन विभाव कोई कामुक है या विरागी। वर्णन से यह स्पष्ट नहीं होता है। तथा—

"बैठी गुरुजन बीच सुनि बालम बंशी चारु।
सकल छाँड़ि बन जाहु यह तिय हिय करत विचारु॥"

यहाँ 'सकल छाँड़ि बन जाहु' जो अनुभाव है वह शृङ्गार रस का है अथवा शान्त रस का, इसकी प्रतीति कठिनता से होती है।

३—**रस की पुनः पुनः दीप्ति**—काव्य में किसी भी रस का उत्पादन उतना ही होना चाहिए जिससे उसका परिपाक हो जाय। पुनः पुनः उसको उद्दीप्त करना दोष है।

४—**अकांडछेदन**—किसी रस की परिपक्वावस्था में अचानक उसके

विरुद्ध रस की अवतारणा कर देने से अर्थात् असमय में रस को भंग कर देने से यह दोष होता है ।

५—**प्रकृति-विपर्यय**—काव्य-नाटक के नायक दिव्य (देवता) अदिव्य (मनुष्य) और दिव्यादिव्य (देवावतार) के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनकी प्रकृति के विपरीत जहाँ वर्णन हो वहाँ यह दोष होता है । जैसे मनुष्य द्वारा देवता के कार्य कराना आदि ।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त देश, काल, वर्ण, आश्रम, व्यवस्था, आचरण, स्थिति आदि लोक शास्त्र के विरुद्ध वर्णन में भी रस-दोष माना जाता है ।

विद्वानों ने दोष का चौथा प्रकार भी माना है जिसे वर्णन-दोष कहा जाता है । यह भी कई प्रकार का होता है । कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

१—**पूर्वापर विरोध**—

"होती ही रहती क्षण क्षण में शस्त्रों की भीषण झनकार ।
नभ मण्डल में फूटा करते बाणों के उल्का अङ्गार ।।"

इस वर्णन के छः पद बाद ही यह वर्णन मिलता है—

"शस्त्रों का था हुआ विसर्जन न्याय दया को कर आधार ।
भू पर नहीं किन्तु मन में भी बढ़ने लगा राज्य विस्तार ।"

पहले जहाँ क्षण-क्षण में शस्त्रों की झनकार थी वहीं न्याय और दया पर निर्भर होकर शस्त्रों का विसर्जन था । फिर भी भू पर (ही) नहीं, मन में भी राज्य-विस्तार बढ़ने लगा । मन में तो मनमाना राज्य बढ़ सकता था पर भू-राज्य-विस्तार शस्त्र-विसर्जन कर कैसे होने लगा ? यह आश्चर्य है ।

२—**अर्थ विरोध**—"लगे कामना के पक्षीदल करने मधुमय कलरव ।
लगी वासना की कलिकाएँ बिखराने मधुवैभव ।।"

कलिका पुष्प की अविकसित दशा होती है । फिर यह मधुवैभव कैसे बिखराने लगी । कलिका विकसित होने पर जब पुष्प बन जाती है तभी सुगंध और मधुवैभव बिखराती है, पहले नहीं । यहाँ अर्थ-विरोध है ।

३—**प्रकृति विरोध**—

"विन्दुसार के परम पुण्य से उपजा श्याम विपट अशोक ।
स्निग्ध सघन पल्लव के नीचे छाया चिर शीतल आलोक ।।"

पल्लवों के नीचे आलोक नहीं छाता, अन्धकार छाता है । यह प्रत्यक्ष सिद्ध है । पल्लवों के हिलने डुबने से छाया और आलोक की आँख मिचौनी हो सकती है पर अन्धकार को आलोक बना देना उचित नहीं है । उपर्युक्त वर्णन-दोषों के अतिरिक्त स्वभाव-विरोध, भाव-विरोध आदि अनेक प्रकार के वर्णन दोष और होते हैं ।

पं० रामदहिन मिश्र ने एक प्रकार का दोष और माना है जिसे वे 'अभिधा के साथ बलात्कार' कहते हैं। शब्दों के यथेच्छ अर्थ करने में कवि स्वतन्त्रता एवं स्वच्छन्दता का परिचय देते हैं। एक उदाहरण काफी होगा। 'अभ्यर्थना' शब्द का सीधा अर्थ है—याचना करना, कुछ माँगना। बंगला में यह समादर देने, स्वागत-सत्कार करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में भी उसी के अनुकरण पर यह स्वागत के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। जैसे—"उनकी अभ्यर्थना के लिये स्टेशन चलिए", यह अशुद्ध प्रयोग है।

२८—काव्य और शब्द शक्ति

किसी भी उक्ति में शब्द और अर्थ दोनों का होना अनिवार्य है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है। यह सम्बन्ध वाच्य-वाचक के नाम से अभिहित होता है। उसी सम्बन्ध के विचार से प्रत्येक शब्द अपना अर्थ प्रकट करता है। बिना सम्बन्ध के शब्द में किसी अर्थ के बोध कराने की शक्ति नहीं रहती। सम्बन्ध उसे अर्थवान बनाता है, उसमें शक्ति का संचार करता है। संकेत और उसके ज्ञान की सहायता से शब्द का अर्थबोध होता है। संकेत ग्रहण द्वारा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध-ज्ञान अनेक कारणों से होता है जिनमें व्याकरण, कोश, व्यवहार आदि मुख्य हैं।

साहित्य के लिये जैसे सुन्दर शब्दों की आवश्यकता होती है वैसे ही उनसे व्यक्त होने वाले सुन्दर अर्थ की भी। वक्ता, प्रसङ्ग, श्रोता और प्रयोग के अनुसार शब्दों के अर्थ निश्चित किए जाते हैं। काव्य का सर्वस्व अर्थ ही है। शब्द तो उसके वाहन मात्र हैं। अर्थ पर ही शब्द-शक्तियाँ निर्भर हैं। रस अर्थगत ही होता है। अलंकारों में भी अर्थालंकारों की ही प्रधानता एवं संख्या सबसे अधिक है। रीति, गुण आदि भी अर्थ से असम्बद्ध नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार काव्य में अर्थ ही सब कुछ है। निरर्थक सुललित पदावली भी उन्मत्त-प्रलाप की कोटि में रखी जायगी। काव्यगत इसी अर्थ को ध्वनित करने वाली शक्तियाँ शब्द शक्तियाँ कहलाती हैं। उदाहरण के लिए आप किसी से कहें कि—"तुम तो निरे बैल हो।" इसका अर्थ यह नहीं कि वह व्यक्ति बैल बन गया। यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति बैल के समान मूर्ख है। इस प्रकार उक्त वाक्य में 'बैल' का साधारणतया प्रचलित अर्थ न लेकर एक दूसरा ही अर्थ (बैल के समान मूर्ख) लिया गया। अस्तु, प्रसङ्गानुसार बैल के भिन्न-भिन्न अर्थ हुए।

निरर्थक शब्दों का साहित्य में कोई मूल्य नहीं होता। केवल सार्थक शब्दों में ही यह शक्ति होती है कि वे किसी व्यक्ति, पदार्थ, वस्तु, क्रिया आदि का ज्ञान करायें। ऐसे शब्दों का ठीक अर्थ वाक्य में उनके स्थान से ही निश्चित होता है। इसलिए शब्द का विवेचन करते समय वाक्य के स्वतन्त्र रूप वाले अर्थ का विवेचन न कर उनके वाक्य में स्थान से ही अर्थ लिया जाता है। 'उल्लू' शब्द से एक पक्षी-विशेष का बोध होता है परन्तु यदि किसी व्यक्ति की

मन्दबुद्धि से झल्लाकर कोई कहे कि—"ऐसे उल्लुओं को यदि बृहस्पति भी आ जायं तो समझा नहीं सकते," तो इस वाक्य में 'उल्लू' का अर्थ पक्षी विशेष न होकर 'महामूर्ख' होगा। इससे यह तात्पर्य निकला कि "जिन शक्तियों के द्वारा वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द का मुख्य या अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है," उन्हें शब्द शक्तियाँ कहा जाता है।

भारतीय आचार्यों ने शब्द के तीन प्रकार के अर्थ माने जाते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग। प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखिका लेडी बेल्वी भी यही मानती हैं—"सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों में एक मात्र यह गुरुतर प्रश्न उपस्थित होता है कि इसका विशेष धर्म क्या है ? पहला है वाच्यार्थ, जिस अर्थ में यह प्रयुक्त होता है। दूसरा है लक्ष्यार्थ। इससे प्रयोग कर्त्ता का अभिप्राय समझा जाता है। और, सर्वापेक्षा आवश्यक और अत्यधिक व्यापक व्यङ्गार्थ व ध्वनि हैं जो चरम अभिप्रेत हैं। उच्चरित वाक्य का विचार रिचर्ड्स ने चार दृष्टि-कोणों से किया है। १—सेन्स (Sense) अर्थ, २—फीलिंग (Feeling) भाव, ३—टोन (Tone) सुर वा ढंग और ४—(Intention) अभि-प्राय। सेन्स और फीलिंग—अर्थ और भाव, दोनों वाच्यार्थ के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन्टेंशन लक्ष्यार्थ है। व्यङ्गार्थ को अंग्रेजी में Spirit, Suggested sense या Significance कहते हैं।

साहित्य-दर्पणकार ने तीन प्रकार के अर्थ माने हैं—"अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधाः मताः।" इन्हीं के आधार पर शब्द शक्तियाँ तीन मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन तीनों शब्द शक्तियों का पृथक-पृथक संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार से है—

अभिधा—शब्द की जिस शक्ति के कारण किसी शब्द का साधारण तथा प्रचलित या मुख्य सांकेतिक अर्थ समझा जाता है उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। अभिधा वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द के केवल सांकेतिक अर्थ का बोध कराती है। परन्तु एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—कोश इसका प्रमाण है। किसी शब्द का कहाँ क्या अर्थ लगता है—इसका निर्णय संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, प्रसङ्ग-चिन्ह, सामर्थ, औचित्य, देशकाल, बल और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे—"मरु में जीवन दूर है" कहने से मरुभूमि से सम्बन्धित होने के कारण यहाँ जीवन का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ जीवन का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से ही लगाया गया है। इसी प्रकार "परम रम्य आराम यह जो रामहिं सुख देत" में 'आराम' संस्कृत का शब्द है। इसका अर्थ प्रसङ्ग से बाग होगा।

परन्तु "आजकल हमें काम की अधिकता से आराम नहीं मिल पाता", में 'आराम' शब्द फारसी के आधार पर प्रसंग से सुख या चैन समझा जायगा। इस प्रकार अभिधा शक्ति के द्वारा प्राप्त अर्थ वाच्यार्थ या मुख्यार्थ कहलाता है। और इस अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द वाचक। व्यवहार में एक शब्द से कोई निश्चित अर्थ मान लिया जाता है। इस प्रकार की कल्पना को संकेत कहते हैं। अतः जिस शब्द के द्वारा बिना किसी रुकावट के तत्काल किसी विशेष अर्थ का संकेत के द्वारा बोध होता है वह शब्द उस बोध्य अर्थ का वाचक कहा जाता है। साहित्य में अभिधा प्रधान काव्य को विशेष महत्व नहीं दिया जाता।

लक्षरणा— शब्द की जिस शक्ति के कारण प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़ कर किसी दूसरे अर्थ की इसीलिए कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी सङ्गति बैठे, उसे लक्षरणा कहते हैं। जैसे—

"फली सकल मन-कामना, लूट्यौ अगरिणत चैन।
आजु अचै हरि रूप सखि, भए प्रफुल्लित नैन॥"

इस दोहे में फली, लूट्यौ, अचै और भये प्रफुल्लित शब्दों के अर्थ विचारणीय हैं। साधारणतया वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जाते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जाता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं। परन्तु यहाँ मनोकामना का फलना (पूरी होना), चैन का लूटना (उपभोग करना) हरि रूप का आचमन करना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (प्रसन्न होना) कहा गया है। इसी प्रकार "तुम जैसे गधे कुछ भी नहीं समझ सकते।" इस वाक्य में गधे का साँकेतिक या मुख्य अर्थ पशु विशेष है। पर वाक्य से इसकी सङ्गति नहीं बैठती इसलिए यहाँ गधा शब्द का मुख्यार्थ लेकर इसका दूसरा अर्थ 'मूर्ख' लेना होगा। तभी वाक्य में इसकी सङ्गति बैठेगी। यह 'मूर्ख' नाम का किया हुआ दूसरा अर्थ मुख्यार्थ गधा नामक पशु से सम्बन्धित है क्योंकि गधे से सादृश्य होने के कारण ही उसे ऐसा कहा गया है। यहाँ ये अर्थ लक्षरणा शक्ति के द्वारा ही निकाले गए हैं। हिन्दी में मुहावरे लक्षरणा शक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं। लक्षरणा शक्ति में लिए जाने वाले अर्थों के लिए तीन बातों का स्मरण रखना आवश्यक है—(१) वाक्य में किसी शब्द या वाक्यांश के नियत या मुख्य अर्थ से वाक्य का अर्थ समझने में बाधा पड़े। (२) इस कारण उस वाक्य या वाक्यांश का कुछ ऐसा अर्थ लिया जाय जो मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखता हो। (३) इस अर्थ के ग्रहण करने का या तो विशेष प्रयोजन हो या इस अर्थ को अङ्गीकार करने के विषय में कोई रूढ़ि या परम्परागत धारणा हो। लक्षरणा से लिए जाने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ और उस अर्थ का बोध कराने

वाले शब्द को लाक्षणिक या लक्षक कहते हैं।

भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वाक्य में किसी शब्द या वाक्यांश का लक्ष्यार्थ लेने से लक्षणा के तीन मुख्य भेद माने जाते हैं—(१) रूढ़ा और प्रयोजनवती, (२) लक्षणा और उपादान, (३) गौणी तथा शुद्धा।

रूढ़ा और प्रयोजनवती—जहाँ केवल रूढ़ि के कारण अर्थात् लोगों के प्रयोग बाहुल्य या लोक प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है वहाँ रूढ़ा लक्षणा होती है। जैसे "पंजाब वीर है।" यहाँ 'पंजाब' शब्द लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ 'पंजाब प्रान्त' है। किंतु इस वाक्य में 'पंजाब' शब्द का प्रयोग 'पंजाब के निवासियों' के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसा कहने की रूढ़ि या परम्परा चल पड़ी है। इसी प्रकार 'सिरोही' यद्यपि एक स्थान का नाम है तथापि लक्षणा से इसका अर्थ कविता में 'तलवार' से लिया जाता है। ऐसा कहने का कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है। इसी प्रकार 'इन दोनों घरों में झगड़ा है', कहने से 'घरों' का अर्थ 'घरों में रहने वाले व्यक्तियों' से होगा न कि घरों की इमारतों या अन्य वस्तुओं से। ऐसा कहने की भी परम्परा या रूढ़ि चली आई है।

जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। जैसे—"गंगा पर गाँव है" वाक्य में यदि अभिधा से अर्थ लिया जाय तो यह असम्भव होगा क्योंकि गंगा की धारा पर गाँव नहीं बस सकता। तब इसका प्रयोजन समझ कर यह अर्थ लिया जायगा कि "गंगा के किनारे पर गाँव है।" ऐसा लक्ष्यार्थ लेने से ही काम चलेगा। इस लक्ष्यार्थ कें लेने का विशेष प्रयोजन है। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा मानी जायगी। इसी प्रकार आदमी के लिए उल्लू, गधा या बैल शब्द के प्रयोग से यह प्रयोजन होता है कि उसकी मूर्खता की अधिकता की व्यंजना की जाय। इसमें भी प्रयोजनवती लक्षणा होगी।

हिन्दी के सब मुहावरे लक्ष्यार्थ के उदाहरण हैं। बँधे हुए मुहावरे होने के कारण उनमें रूढ़ा लक्षणा मानी जायगी। परन्तु उनका प्रयोग सदैव विशेष अर्थ की व्यंजना के लिए ही होता है, इससे उनमें प्रयोजनवती लक्षणा भी कही जा सकती है। जैसे "सिर पर क्यों खड़े हो ?" इसमें 'सिर पर' का लक्ष्यार्थ है निकट। इसका प्रयोजन निकटता का आधिक्य व्यंजित करना है। और इस अर्थ में ही इसके प्रयुक्त होने की रूढ़ि भी हो गई है।

लक्षण और उपादान—जहाँ वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ को छोड़ कर लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाय वहाँ लक्षण लक्षणा होती है। इसे 'जहत स्वार्थी' भी कहते हैं। क्योंकि जहत का अर्थ है 'छोड़ दिया है।

जिसने (स्व) अर्थ (स्वार्थ अथवा वाच्यार्थ) छोड़ दिया हो, वह स्वार्थी है। जैसे 'गङ्गा पर गाँव है' में गङ्गा की धार के वाच्यार्थ या मुख्यार्थ को छोड़कर 'गङ्गा के तट पर' का अर्थ लिया गया है । यहाँ 'तट' रूप वस्तु (अर्थात् लक्ष्यार्थ) में से 'धारा रूप' वस्तु (अर्थात् वाच्यार्थ) का बिल्कुल लगाव नहीं है । इससे यहाँ लक्षण लक्षणा या जहत स्वार्थी लक्षणा होगी । इसी प्रकार निम्नांकित दोहे में भी लक्षण लक्षणा है—

"कच समेट कर भुज उलटि खए सीस पट डारि ।
काको मन बाँधै न यह, जूड़ौ बाँधनि हारि ।।"—बिहारी

यहाँ 'मन बाँधै' पद में 'बाँधै' शब्द के मुख्यार्थ को सर्वथा छोड़कर इसका लक्ष्यार्थ 'मन को आसक्त करना' लिया जायगा और यह लक्षण लक्षणा हो जायगी ।

जहाँ अपने अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आरोप किया जाय उसे उपादान लक्षणा कहते हैं । उपादान का अर्थ है—लेना । इसमें मुख्यार्थ अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अपना अर्थ न छोड़ता हुआ दूसरे अर्थ को खींच लाता है । अतः इसे अजहत स्वार्थी लक्षणा भी कहते हैं । 'अजहत' का अर्थ नहीं छोड़ा है और स्वार्थी का अर्थ है अपना अर्थ । जिसने अपना अर्थ न छोड़ा हो अर्थात् मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग न किया हो, लक्ष्यार्थ के साथ वह भी लगा हो । जैसे—"लाल पगड़ी के आते ही सारी भीड़ छँट गई," 'लाल पगड़ी' जो जड़ है चल नहीं सकती । इसलिए इसके मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ लिया जायगा । सिपाही के साथ अङ्ग रूप से लाल पगड़ी लगी रहती है इसलिए उपादान या अजहत स्वार्थी लक्षणा होगी ।

इसी प्रकार "ये कुन्त (भाले) आ रहे हैं," में मुख्यार्थ भालों का आना होगा पर भाले जड़ होने के कारण आने की क्रिया करने में असमर्थ हैं । इस-लिए मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ—'भाले धारण किए हुए सैनिक' ही लिया जायगा । इस लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ 'भाले' जुड़ा ही रहेगा । यहाँ भी इसी-लिए उपादान लक्षणा है ।

गौणी और शुद्धा—जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ गौणी लक्षणा होती है । जैसे 'पुरुष सिंह है' । इसमें पुरुष को सिंह कहने से मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है । क्योंकि पुरुष सिंह नहीं हो सकता । अतएव सिंह के पराक्रम, शौर्य आदि समान गुण (धर्म) के द्वारा लक्ष्यार्थ अर्थात् 'सिंह के समान शक्तिवाला पुरुष' का बोध होता है । इसमें गौणी लक्षणा है । गौणी लक्षणा के दो भेद हैं—(१) सारोपा और (२) साध्यवसाना । सारोपा में उपमेय और उपमान दोनों रहते हैं । जैसे 'पुरुष सिंह है' में उपमेय (पुरुष)

और उपमान (सिंह) दोनों मौजूद हैं। साध्यवसाना में उपमेय का कथन न होकर केवल उपमान ही रहता है। जैसे—'सिंह मैदान में आया' में उपमेय पुरुष का उल्लेख नहीं है; केवल उपमान (सिंह) कहा गया है। सारोपा रूपक अलंकार में होती है और साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति है।

जहाँ बिना सादृश्य सम्बन्ध के अन्य किसी सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। जैसे 'गंगा पर गाँव' में सादृश्य सम्बन्ध से तट का ग्रहण नहीं है। प्रत्युत मुख्यार्थ प्रवाह के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध है। इसलिए वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इसी प्रकार 'लाल पगड़ी के आते ही भीड़ छँट गई' में लाल पगड़ी से प्राप्त लक्ष्यार्थ अर्थात् सिपाही सादृश्य सम्बन्ध से नहीं किन्तु साहचर्य सम्बन्ध से (सिपाही) और लाल पगड़ी सहचर हैं, उपलब्ध हुआ है। इससे यहाँ भी शुद्धा लक्षणा है।

व्यँजना—शब्द की जिस शक्ति में शब्द या शब्दसमूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति हो अर्थात् जिससे साधारण को छोड़कर किसी विशेष अर्थ का बोध हो उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। जैसे यदि कोई किसी दूसरे व्यक्ति से कहे कि–"तुम्हारे मुँह से शठता झलकती है" और सुनने वाला उत्तर दे कि "मुझे आज ही ज्ञात हुआ है कि मेरा मुँह दर्पण है", तो इसका ठीक अर्थ वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से प्रकट नहीं होगा। इसलिए यहाँ व्यंजना शक्ति से काम लेना पड़ेगा। उत्तर देने वाले व्यक्ति का अभिप्राय यह है कि—"जैसे दर्पण में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वैसे ही वक्ता (अर्थात् पहला व्यक्ति) श्रोता के मुख पर अपने मुख के प्रतिबिम्ब की झलक देख रहा है अर्थात् वह स्वयं शठ है।' इस व्यंग्यार्थ के लेने से ही उक्त वाक्य की संगति बैठती है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार यदि कोई नियमित रूप से प्रातः काल पाँच बजे जगने वाले व्यक्ति को आठ बजे तक सोता हुआ देख कर कहे कि "जान पड़ता है अभी सबेरा नहीं हुआ है" तो इसका अभिप्राय व्यंग्य से यह बताना होगा कि "अब सोना ठीक नहीं है। बहुत देर होगई। उठना चाहिए।'" जिस शक्ति से यह व्यंग्यार्थ विदित हुआ उसे व्यंजना कहते हैं। काव्य में इस शक्ति का प्रयोजन सबसे अधिक पड़ता है। इस शक्ति-अर्थात् व्यंजना से उपलब्ध अर्थ को व्यंग्यार्थ और उसे प्रकट करने वाले शब्द को व्यंजक कहते हैं। व्यंजना के दो प्रधान भेद होते हैं—शाब्दी और आर्थी।

शाब्दी—जहाँ किसी विशेष शब्द के प्रयोग पर ही व्यंग्यार्थ निर्भर रहता है, अर्थात् उस शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने से व्यंजना का लोप हो जाता है, वहाँ शाब्दी व्यंजना मानी जाती है। जैसे—

"चिरजीवौ जोरी जुरे, क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।।"

—बिहारी

इस दोहे में यदि 'वृषभानुजा' और 'हलधर' के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्द 'गाय' और 'बैल' रख दिये जायँ तो व्यंजना का लोप हो जायगा। वास्तव में यहाँ राधा और कृष्ण के महत्व का वर्णन कर उनके पारस्परिक सम्बन्ध की उपयुक्तता प्रकट की गई है, परन्तु कवि उपर्युक्त दो शब्दों के प्रयोग से जो परिहासात्मक अर्थ ध्वनित करना चाहता है वह दूसरे शब्दों के प्रयोग से लुप्त हो जायगा।

आर्थी—आर्थी व्यंजना किसी शब्द विशेष पर अवलम्बित न होकर पर्यायवाची शब्दों के रखने पर भी बनी रहती है। जैसे किसी धूर्त व्यक्ति को साधु का वेश बनाकर ठगते देखकर कोई उन्हें चेतावनी देने के लिए कहे कि—"हाँ हम भली प्रकार जानते हैं कि आप बड़े महात्मा हैं।" तो इस कथन से उसका आशय उस कपटी व्यक्ति को दुरात्मा कहने से होगा। इसके अतिरिक्त व्यंजना के दो भेद और होते हैं—लक्षणामूलक और अभिधा मूलक। लक्षणामूलक में लक्ष्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है। जैसे—'यह मनुष्य नहीं बैल है।' इसमें बैल शब्द के लक्ष्यार्थ मूर्ख को स्पष्ट करके फिर इसके व्यंग्यार्थ मूर्खता की अधिकता पर ध्यान जाता है। अभिधामूलक में वाच्यार्थ से एकाएक व्यंग्यार्थ की प्राप्ति होती है। जैसे—जब हनुमान अशोक-वाटिका स्थित विरहिणी सीता की दशा का वर्णन करते हुए राम से कहते हैं—

"तुम्हरे विरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु राम करुणानिधि, जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न।।"

यहाँ 'जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न' में इसके वाच्यार्थ कि आपके वियोग में जो सीता की दशा हुई है वह मैं थोड़ी सी जानता हूँ पर उसका वर्णन नहीं कर सकता' से इसके वाक्यार्थ अर्थात् 'सीता के विरह के आधिक्य' पर हमारा ध्यान जाता है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त व्यंजना के तीन भेद और माने गए हैं—(१) वस्तु व्यंजना (२) अलंकार व्यंजना और (३) भाव या रस व्यंजना।

(१) **वस्तु व्यंजना**—जिसमें कोई तथ्य या बात व्यंजित की जाती है, वह वस्तु-व्यंजना कहलाती है। जैसे—'पत्ता नहीं हिलता' इसमें गर्मी तथा सन्नाटे के आधिक्य की व्यंजना है। ऊपर के सभी उदाहरण वस्तु व्यंजना के ही हैं।

(२) **अलङ्कार व्यञ्जना**—जिसमें व्यंजित तथ्य का रूप किसी अलङ्कार

के रूप से मिलता जुलता है, वह अलङ्कार व्यंजना कहलाती है। जैसे—'दक्षिण दिशा में जाने से सूर्य का प्रताप भी मन्द पड़ जाता है। किन्तु उसी दिशा में रघु का प्रताप पाण्ड्य देश के राजाओं से नहीं सहा गया।' इस कथन में 'रघु सूर्य से भी अधिक प्रतापी हैं', व्यंजना के साथ ही व्यतिरेक अलङ्कार भी है।

(३) **भाव या रस व्यञ्जना**—जिस व्यंजना में हृदय के किसी मनोविकार या भाव की व्यंजना हो उसे रस या भाव व्यंजना कहते हैं। जैसे—

"जब जब पनघट जाउँ सखी री, वा जमुना के तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चलति है इन नैननि के नीर।।"

इसमें स्मरण संचारी भाव व्यंजना है। अतः भाव व्यंजना हुई। जिस भाव की व्यंजना में रस की सिद्धि के उपादान—स्थायी भाव, अनुभाव और संचारी भाव होंगे उसमें रस-व्यंजना होगी। जैसे—

"भाखे लखन कुटिल भई भौंहें। रद पट फरकत नयन रिसोहैं।
रघुबंसिन महँ जहँ कोऊ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई।।
कही जनक अस अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुलपति जानी।।"

यहाँ जनक आलम्बन विभाव, उनकी वाणी उद्दीपन, कुटिल भौंहें, रदपट फरकत, नयन रिसोहैं—अनुभाव, भाखे अमर्ष संचारी और क्रोध स्थायी भाव है। इससे इन सब के मेल से इसमें रौद्र रस का पूर्ण संचार हुआ है। इस कारण इसमें रस व्यंजना होगी। यदि इसमें अमर्ष संचारी—'भाखे' शब्द निकाल दिया जाय तो रस के एक अवयव—अर्थात् संचारी—के खण्डित हो जाने से रस की पूर्णता नहीं हो सकेगी। उस दशा में यह भाव-व्यंजना मानी जायगी।



२६—काव्य का सत्य

मानव-प्रणीत काव्य में आदिकाल से लेकर आजतक निरन्तर सत्य की खोज जारी रही है। प्रारम्भ से लेकर आज तक दार्शनिक सत्य की खोज में, वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में, समाज-सुधारक सत्य की परख में एवं साहित्यकार सत्य के ग्रहण, विकास एवं प्रसार में संलग्न रहे हैं। इन सबका उद्देश्य मानव मात्र का कल्याण रहा है। समाज में सत्य का यथार्थ उपयोग तभी हो सकता है जब उसके प्रति सामाजिकों में एक पवित्र भावना और नैतिकता के प्रसार की प्रवृत्ति हो। 'चोरी करना पाप है' यह सत्य है परन्तु यदि समाज में इसके अनुसार आचरण नहीं किया जाता तो उसकी क्या उपादेयता रही? शुद्ध बुद्धि और विवेक के अभाव में स्वार्थी व्यक्ति सत्य का रूप विकृत कर उसे अपनी स्वार्थ भावना के अनुकूल बना लेते हैं। कृष्ण ने महाभारत में साम, दाम, दण्ड, भेद का उपयोग कर आततायियों का नाश कराया था। इसके लिए कहीं-कहीं उन्हें अन्याय और छल का भी सहारा लेकर अपने उद्देश्य की सिद्धि करनी पड़ी थी। आज के रिश्वती अधिकारी और काला बाजार करने वाले पूँजीपति अपनी स्वार्थ सिद्धि के औचित्य को प्रमाणित करने के लिए कृष्ण के उन उदाहरणों की दुहाई देते पाये जाते हैं। सत्य का यही विकृत रूप है। इसमें दोष सत्य का नहीं वरन् उसके उपयोग की प्रणाली का है। वैज्ञानिक का सत्य भी हमारा कल्याण तभी कर सकता है जब उस सत्यान्वेषण के प्रति मङ्गलमयी, पावन मानवता के कल्याण की भावना हो, अन्यथा अणुबमों का प्रयोग हम देख ही चुके हैं।

दार्शनिक का सत्य हमारे बौद्धिक जगत को प्रभावित करता है और वैज्ञानिक का भौतिक जगत को, किन्तु हमारे भाव एवं कल्पना जगत को आंदोलित, विकसित एवं परिष्कृत करने वाला सत्य कवि का ही होता है। दार्शनिक के सत्य को प्रत्येक नहीं समझ सकता। वैज्ञानिक का सत्य भौतिक एवं पदार्थगत होने के कारण वाह्य है। एक में गहराई है परन्तु सरलता नहीं, दूसरे में सुख है किन्तु आनन्द, सौन्दर्य और रमणीयता नहीं है। इसीलिए काव्यगत सत्य हमारी मानसिक और भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर हमारे जीवन पर विशेष प्रभाव डालता है।

काव्य का आधार कल्पना है। फिर कल्पना पर आधारित साहित्य में

सत्य का क्या स्थान हो सकता है? अनेक विद्वानों ने ऐसी शंका उठाई है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि की कल्पना हमारे लौकिक या वैज्ञानिक सत्य के माप-दण्ड से दूर रहते हुए भी चिरन्तन सत्य पर आधारित रहती है। काव्य का सत्य असाधारण होता है। वैज्ञानिक और जीवन का लौकिक सत्य जो प्रत्यक्ष होता है, काव्य में मान्य नहीं होता। अतः काव्य में इस सत्य की खोज करना व्यर्थ है। साहित्यिक प्रत्यक्ष रूप से ऊपर उठकर जीवन, जगत, प्रकृति तथा मन इत्यादि में प्रविष्ट कर उनके आंतरिक और चिरन्तन सत्य का अन्वेषण करता है। वह जगत को जैसा देखता है उसी रूप में स्वीकार नहीं करता। अपनी रुचि के द्वारा, जिसका आधार उच्च संस्कार एवं कल्याण भावना होती है, वह जगत को परिवर्तित रूप में देखते का प्रयत्न करता है। प्रत्यक्ष जगत का यथारूप चित्रण काव्यजगत की मक्खीमार अनुकृति मात्र रह जायगा। इसलिए वह कल्पना द्वारा यथार्थ जगत के अन्तर्मन में प्रविष्ठ होकर स्वाभाविक सत्य की खोज करता है। अपने कल्पना द्वारा रचित आदर्शों का निर्माण कर वह भविष्य का निर्माण करता है। इस निर्माण का आधार भौतिक सत्य न होकर शाश्वत सत्य होता है।

अपने इस प्रयत्न में कवि न केवल सत्य का आधार ही लेता है, वरन् सत्य की खोज, एवं ग्रहण भी करता है। वह खोजे हुए प्रत्यक्ष सत्य के नग्न ढाँचे को लेकर उसमें रंग एवं रूप भरकर उसे सरस एवं सजीव बना देता है। दार्शनिक के सत्य, वैज्ञानिक के अन्वेषण एवं इतिहासवेत्ता की खोज को यथार्थ, उपयोगी एवं आकर्षक बनाना कवि का ही काम है। ऐसा करने में वह सत्य को उसके मूल-चारुत्व में ग्रहण कर उसकी अभिव्यक्ति अपने हृदयगत सहज सौन्दर्य द्वारा करता है। कवि की वास्तविक महत्ता इसी में छिपी हुई है।

कवि का सत्य साधारण लौकिक प्रत्यक्ष सत्य से भिन्न होता है, यह हम ऊपर कह आये हैं। वह सामान्य सत्य से नहीं मिलता इसीलिए उसे असाधारण माना गया है। जिस प्रकार एक चित्रकार कुछ रेखाएँ खींचकर एवं उनमें रंग भरकर अपने चित्र में सजीव आकृतियों की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार कवि शब्दों के द्वारा रूपों और भावों की व्यंजना करता है। उसका प्रत्येक शब्द हमारे उन भावों को जागरित करता है जो वासना रूप में हमारे मन में निहित रहते हैं। हमारी कल्पना, स्मृति आदि शक्तियाँ इस कार्य में योग देती हैं जिससे हम काव्य का एक असाधारण अर्थ ग्रहण करते हैं। "काव्य के वाक्य पद आदि असाधारण रूप में एक संश्लिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। इसी असाधारण सामर्थ्य से काव्य एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करता है

जिसे संस्कृत के साहित्य-शास्त्री अलौकिक आनन्द कहते हैं।"

(डा० श्यामसुन्दरदास)

कवि अपने काव्य में वस्तु-जगत और कल्पना-जगत की ऐसी-ऐसी अनोखी वस्तुओं का चित्रण करता है जो साधारणतया स्वप्न में भी सत्य नहीं हो सकतीं। उसकी उपमाओं से केवल एक गुण विशेष या आकार विशेष का ही अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है और शेष सब से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। डाक्टर श्यामसुन्दरदास ऐसी बातों को 'काव्य-जगत के रहस्यमय प्रसंग' कहते हैं जिनके सत्य होने में सन्देह नहीं है। एक नाटक के अभिनय में, हमसे सर्वथा अपरिचित एक अभिनेता अपने अभिनय द्वारा हमें प्रभावित क्यों करता है? बात वही है जो एक चित्र को देखने पर होती है। नाटक भी एक चित्र है। जिस प्रकार चित्र की प्रत्येक रेखा से एक अनोखी व्यंजना होती है उसी प्रकार अभिनेता के अभिनय से भी। काव्य भी यही करता है और यही काव्य का सत्य है जो प्रत्यक्ष न होकर केवल व्यंजित होता है। कहे हुए वाक्य का ध्वनित अर्थ ही काव्य का सत्य है। उसमें शाब्दिक सत्यता भले ही न हो परन्तु ध्वनित सत्यता तो होती ही है।

काव्य के सत्य से साधारणतः यही अभिप्राय लिया जाता है कि उसमें उन्हीं बातों का वर्णन नहीं होना चाहिए और न होता ही है, जो वास्तविक या प्रत्यक्ष सत्य की कसौटी पर खरी उतरें। इसके विपरीत उसमें उन बातों का भी वर्णन होता है और हो सकता है जो सत्य हो सकती हैं। यही काव्य का सम्भाव्य सत्य है। अगर हम काव्य में केवल प्रत्यक्ष सत्य का ही अस्तित्व स्वीकार करें तो उसमें अत्युक्ति अलंकार का कोई महत्व या स्थान नहीं रह जाता। क्योंकि अत्युक्ति अलङ्कार सर्वथा असत्य होता है। वास्तविकता यह है कि कवि अपने पाठकों के हृदय पर उसी भाव को जमाना चाहता है जिसकी उसे स्वयं अनुभूति हो चुकी है। इसलिए उस प्रभाव को बढ़ा-चढ़ाकर कहने से ही उसका प्रभाव पड़ सकता है। हनुमानजी के लिये 'कनक भूधराकार शरीरा' कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उनका शरीर सोने के पहाड़ के समान विशाल था वरन् ऐसा इसलिए कहा गया कि हनुमानजी को देखकर हमारे हृदय पर वही प्रभाव पड़े जो एक विशाल स्वर्ण पर्वत को देखकर पड़ सकता है। अतः इसमें अत्युक्ति होते हुए भी यह असत्य नहीं है। इस प्रकार काव्य का सत्य असाधारण, व्यंजित और सम्भाव्य होता है।

कवि का सत्य सीमाओं में बँधा हुआ नहीं होता और न घटनाओं पर ही आश्रित रहता है। वह एकमात्र मानव-भावनाओं पर ही आश्रित रहता है। हमारी मनोभावनाओं के निष्कपट और सूक्ष्म तथा स्वाभाविक वर्णन में ही कवि

के सत्य की परीक्षा होती है। मानव-मन से सम्बन्धित सत्य प्रकृत सत्य की भाँति क्षणिक और स्थायी नहीं होता, वह चिरन्तन और शाश्वत होता है। राम के वन-गमन के उपरान्त दशरथ का कारुणिक विलाप सम्भव है ऐतिहासिक सत्य न हो परन्तु क्या उसे असत्य माना जायगा ? पिता-पुत्र का स्नेह सम्बन्ध नैसर्गिक होता है। इसलिये इस स्वाभाविक सत्य के चित्रण के लिये कवि को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उक्त परिस्थितियों में वह पूर्णतः स्वाभाविक सत्य है, भले ही ऐतिहासिक दृष्टि से वह असत्य हो। काव्य में ऐसे सत्यों का वास्तविक सत्य से भी अधिक मूल्य है। अतः कवि मानव-हृदय के जावित और शाश्वत सत्य का चितेरा होता है—अनुकृति और वैज्ञानिक सत्य का नहीं।

कवि इतिहास की परम्परा में परिवर्तन नहीं कर सकता। काव्य के क्षेत्र में स्वतन्त्र होता हुआ भी वह अकबर को हुमायूँ का पिता नहीं बता सकता। परंतु उसके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि वह उसी सत्य का चित्रण करे जो वास्तव में घटित हुआ है। उसके लिये यह आवश्यक अवश्य है कि उसका सत्य असत्य न हो फिर चाहे उसका ऐतिहासिक अस्तित्व हो अथवा न हो। वह प्रत्येक ऐतिहासिक तथ्य या कवि-कल्पना का अपने दृष्टिकोण के अनुसार रूप चित्रित करने के लिये स्वतन्त्र है। इसी कारण तुलसी की कैकेयी हमारी घृणा की पात्र है और गुप्त की कैकेयी हमारी सहानुभूति की। यह दोनों कवियों के दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण ही हुआ है। परन्तु इसके कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि कवि वस्तुओं के विकृत रूप का प्रदर्शन करे, तथ्यों को तोड़े-मरोड़े अथवा स्थिति और घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम के ज्ञान बिना असंगत वर्णन करे। ऐसा करना अक्षम्य दोष है। काव्य में वास्तव में जीवन के चिरन्तन सत्य का ही चित्रण रहता है। इसी बात को लक्ष्य कर टेनीसन ने कहा था कि—"कविता यथार्थ से अधिक सत्य होती है।"

दार्शनिक एवं वैज्ञानिक वास्तविक सत्य के तत्व मात्र को ग्रहण करते हैं परन्तु कवि उतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो पाता। वह सत्य के भीतर जितना भी सौन्दर्य या आकर्षण है उस सब को अपनी कल्पना और अनुभूति की संवेदनशीलता से ग्रहणकर, उसको एकांगी रूप न देकर पूर्ण एवं आकर्षक रूप देने का प्रयत्न करता है। फूलों पर पड़ी हुई शबनम, दार्शनिक की दृष्टि से क्षण भंगुर और वैज्ञानिक की दृष्टि से 'ऑक्सीजन' और 'हाइड्रोजन' गैसों का एक विशेष अनुपात में सम्मिश्रण मात्र है, पर कवि की दृष्टि में उसका मूल्य इनसे कहीं श्रेष्ठ और भिन्न है। कवि की दृष्टि में वह फूलों का शृङ्गार करने वाले मोतियों का संग्रह भी है और गगन के नक्षत्र भी ; वे सौन्दर्य के तरल

विन्दु भी हैं और करुणा के अश्रु भी। चन्द्रमा को जब हम केवल एक खगोल वेत्ता की दृष्टि से ही देखते हैं तो वह एक उपग्रह और गगनचारी उल्कापिंड मात्र रह जाता है। परन्तु उसके प्रति रमणी के मुख, सुधांशु, हिमांशु, निशापति, सोम आदि की मान्यताएँ हमें कवियों के द्वारा ही प्राप्त हो सकी हैं और जिनमें से एक भी असत्य और अमान्य नहीं है। इन विधियों द्वारा कवि सत्य के उस अपूर्ण रूप को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है जो केवल बुद्धिग्राह्य नहीं, वरन् अनुभूति एवं कल्पना ग्राह्य होकर ही पूर्ण होता है। सत्य का विशेषतः वह पक्ष कवि-सत्य है जो कल्पना एवं अनुभूति द्वारा ग्राह्य होता है। इसमें बुद्धि ग्राह्य सत्य भी उनका पथ-प्रदर्शन करता रहता है।

इस प्रकार कवि सत्य को उसके पूर्ण सौंदर्य के साथ ग्रहण करता है। सत्य और सौन्दर्य की इसी अभिन्नता को देखकर कीट्स ने कहा था—"सौंदर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है, यही जानना हमारे लिए सब कुछ है।" तुलसीदास इसी सम्पूर्ण सौंदर्यमय सत्य के चित्रकार होने के कारण ही हमारे सम्मान के पात्र हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि—

"कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥"

जीवन के सत्य के स्पष्ट चित्रण के कारण ही उनके लिखे हुए 'कागद' साहित्य की अमर निधि और मानव को सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करने वाले बन गये हैं। सत्य के इसी चित्रण के कारण कबीर और जायसी अनायास ही उच्चकोटि के कवि बन गये हैं। उन्होंने अपने स्वानुभूत सत्य को ही प्रकट करने का प्रयत्न किया है। सत्य की यही ललक कवि का सबसे बड़ा सम्बल है जिसके सहारे वह अपने विषम पथ पर भी स्वानुभूति के उत्स से अमृत की मधुरिमा ग्रहण करता रहता है।

युग की परिस्थितियों के साथ अन्य सत्य बदलते रहते हैं परन्तु काव्यगत सत्य कभी नहीं बदलते। उनका मूल रूप शाश्वत रहता है केवल सूत्र बदल जाते हैं। एक युग में वह करुणा का है तो दूसरे युग में देश-प्रेम का; एक युग में वही सूत्र समाज सुधार का है तो दूसरे में साम्यवाद का। काव्य-सत्य की भी यही दशा है। उसकी अभिव्यक्ति के मूल में भावना तो वही रहती है परंतु युग-विशेष में उसका रूप बदल जाता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक सत्य यदि आगामी युग में असत्य सिद्ध हो गये तो उनका कोई मूल्य नहीं रह जाता। 'सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है' इस मान्यता का अब कोई मूल्य नहीं रहा है पर हंस का नीर-क्षीर विवेक, चन्द्रमा का अमृत, आकाश की गङ्गा, यश का श्वेत एवं अनुराग का लाल रंग आदि काव्यगत सत्य अब भी शाश्वत हैं।

'कला कलाके लिये' मत के प्रचारकों ने काव्य के बहिरंग पर विशेष बल देकर इस काव्यगत सत्य का बहुत कुछ अहित किया है। साथ ही काव्य के लक्षणकारों से प्रभावित अनेक प्रतिभाशाली कवि केवल वाग्वैदग्ध्य के जाल में उलझ कर इस सत्य से विमुख रहे हैं। इसका कारण यह है कि उपर्युक्त पथ सरल है परन्तु सत्य की खोज सरल नहीं है। इसके लिए अथक साधना करनी पड़ती है। कवि जब तक 'मरजीवा' बनकर जीवन-सागर में गहरा गोता नहीं लगाएँगे तब तक उनके हाथों सत्य रूपी मुक्ता नहीं पड़ सकते। इसलिए जीवन्त कलाकार ही काव्यगत सत्य की रक्षा कर सकता है।

काव्यगत सत्य का महत्व मानव-जीवन में काव्य के महत्व से स्पष्ट हो जाता है। मानव-हृदय में सदैव विभिन्न प्रकार के भाव उठा करते हैं। कभी वह हँसता है, कभी रोता है, कभी गम्भीर रहता है और कभी आश्चर्य से अभिभूत होकर मुँह फाड़े रह जाता है। आचार्यों ने मानव मन के इन विभिन्न भावों को 'नवरसों' में वर्गीकृत कर दिया है। काव्य में इन्हीं मानवीय भावों को भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाता रहा है। काव्य का यह व्यक्तीकरण इतना प्रभावशाली और मनोरंजक होता है कि वह सहृदय मानवों के मन में उन्हीं भावों को उद्दीप्त कर देता है। पढ़ते समय, नाटक देखते समय हम कभी हँसने लगते हैं, कभी रो उठते हैं और घृणावश हमें रोमाँच हो जाता है यद्यपि पुस्तक में वर्णित घटनाओं या नाटक के दृश्यों या पात्रों से हमारा निकट का कोई सम्बन्ध नहीं होता; सम्बन्ध केवल यही होता है कि हम उनमें भी वही भावनाएँ पाते हैं जो स्वयं हमारे मन में विद्यमान हैं। इससे हम उस समय अपने व्यक्तिगत धरातल से ऊपर उठकर उस स्थिति तक पहुँच जाते हैं जहाँ मानव मात्र की भावनाओं को हम अपना अनुभव करने लगते हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना का प्रचार इसी कारण केवल साहित्य द्वारा ही सम्भव है। मानव मात्र के प्रति हमारी सहानुभूति रहती है। हमारी भावनाएं इससे इतनी सुकुमार और हृदय इतना विशाल हो जाता है कि हम प्राणी मात्र के साथ एक मानसिक समरसता का अनुभव करने लगते हैं। काव्य में वर्णित पात्र हमें अपनी प्रतिच्छाया प्रतीत होते हैं।

काव्य का दूसरा प्रभाव यह है कि उससे हमारे मन का संस्कार एवं परिष्कार होकर हमारी रुचि अधिक उदात्त बनती है। काव्य का प्रभाव सात्विक होता है क्योंकि उसके मूल में साहित्यकार की सात्विक भावना कार्य कर रही होती है। काव्य में वर्णित विषय अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है जो कलाकार की अपनी अनुभूति से ओत-प्रोत होता है। इस कारण उसका हमारे हृदय पर सीधा प्रभाव सा पड़ता है। काव्य यथावत् चित्र नहीं उपस्थित

करता वरन् कलाकार की अनुभूति और कल्पना बुद्धि का सहयोग पाकर उसे आकर्षक ढङ्ग से प्रस्तुत करता है। इसी से उसका अमिट प्रभाव पड़ता है। कलाकार अपनी वस्तु को सदैव अत्यन्त परिष्कृत रूप से हमारे सम्मुख प्रस्तुत करेगा। वह मक्खीमार अनुकृति नहीं करता। अरस्तू के अनुसार— "अनुकरणकारी कवि होने के कारण कवि तीन विषयों में से एक विषय का अनुकरण कर सकता है—वस्तु जैसी थी या है, वस्तु जैसी होने लायक कही या सोची गई है या वस्तु को जैसा होना चाहिए।" कलाकार के हृदय में जिस भाव का जैसा प्रभाव पड़ता है वह उसी अनुपात में उसका चित्रण करता है। यदि यह प्रभाव गहरा है तो उसका चित्रण भी अधिक मार्मिक और गहरा होगा और पाठक पर उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक और स्थायी होगा। ऐसा करने के लिए वह विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं द्वारा अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचता है! और ऐसा करने में वह जो कुछ देखता, अनुभव करता और समझता है उसे सुन्दरतम रूप में उपस्थित करना चाहता है। इसमें वह सावधान रहता है कि जो कुछ कुरूप है, अग्राह्य है उसका या तो बहिष्कार करदे या यदि उसका चित्रण करे तो उसे सुन्दरता का आवरण पहना कर उपस्थित करे। यही उसकी सफलता है। तुलसी के राम इसके आदर्श हैं। वे मानव की उच्चतम विशेषताओं का एक काल्पनिक समुच्चय हैं। यही काव्य का सत्य कहलाता है जो वास्तविक जगत में भले ही असम्भव या झूठ हो। इतिहास और साहित्य में यही अन्तर है। इतिहास सुन्दर, असुन्दर सबकी रूपरेखा नग्न रूप में उपस्थित करता है। साहित्य में उसी पर कला का आवरण चढ़ाकर कल्पना के बल पर उसे सुन्दर बना दिया जाता है। सौंदर्य का प्रभाव मानव हृदय पर सदैव होता आया है। इसी से साहित्य इतिहास की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली माना जाता है। "काव्य मनुष्य की उदार वृत्तियाँ जागृत कर उसे देवत्व की ओर उठाता है, उसे असाधारण रूप से सहृदय और महान् बनाता है।" ऐसा प्रभाव डालने में वह इसी कारण इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है कि उसमें चित्रित जीवन का सत्य नग्न सत्य से अधिक श्रेष्ठ और मनोरम होता है। उसमें यह प्रभाव इस कारण उत्पन्न हो जाता है कि वह साधारण सत्य की तुलना में असाधारण, नग्न न होकर व्यंजित और सदैव यथार्थ ही न होकर सम्भाव्य भी होता है। हम उसमें अपनी आदर्श कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब देख कर मुग्ध और आत्म-विभोर हो उठते हैं।

आज तक विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों का सबसे बड़ा उद्देश्य और प्रयत्न मानवजीवन को अधिक से अधिक सुन्दर और आनन्दमय बनाने का रहा

है। विज्ञान ने सदैव से यह प्रयत्न किया है कि वह मानव को यथाशक्ति श्रम के भार से मुक्त कर उसे शारीरिक एवं भौतिक सुविधा दे सके। राजनीति समाज को आर्थिक एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है और दर्शन आध्यात्मिक सिद्धान्तों की खोज और प्रसार द्वारा मानव को एकता का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न करता आया है और कर रहा है। परन्तु उनका यह काम बिना कवि की सहायता से पूर्ण नहीं हो सकता। समाज के लिए भौतिक सुविधा भी उतनी ही आवश्यक है जितने कि आध्यात्मिक सिद्धान्त परन्तु वह इन सबसे उस सत्य और सौंदर्य को प्राप्त करना और उसका उपभोग करना चाहता है जो उसे जीवन की प्रत्येक सम-विषम परिस्थिति में अनुप्राणित कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहता है। कवि जब इन भौतिक सुविधाओं और दार्शनिक सिद्धान्तों को कलात्मक ढङ्ग से उपस्थित करता है तभी हमारे मन में उनके प्रति अनुराग और पावन भावना उत्पन्न होती है। परन्तु आज कवि और समाज दोनों इस बात को भूल रहे हैं। कारण यही है कि आज हमारे लिए काव्य का सत्य अगम्य हो उठा है। यदि यह सुगम हो जाय तो हमारे मन, हृदय और बुद्धि का समन्वय हो सकता है। यह समन्वय हो जाने पर हम पारस्परिक घृणा और द्वेष को त्याग कर प्रेम एवं सम्मान के भावों से प्रेरित होकर विकास के पथ पर चल पड़ेंगे। ऐसा होने पर ही हमारे मन में ओज, बाहुओं में बल, मुख पर प्रसन्नता, हृदय में उत्साह और प्रेम, बुद्धि में विवेक तथा आत्मा में आनन्द-उल्लास प्रवाहित हो सकेगा। कवि का सत्य हमारे जीवन का सत्य है और हमारे हृदय और भावनाओं का सत्य है जिसके माध्यम से ही हम एक दूसरे से मिले हुए हैं।

—: o :—

३०—रहस्यवाद

"सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ।
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका वह अस्तित्व कहाँ?"

इस चराचर विश्व का नियमन करने वाली उस 'अज्ञात', 'अव्यक्त' सत्ता की खोज मानव-मन चिरकाल से करता चला आया है। उसे जगत की विभिन्न प्रक्रियाओं को संचालित करने वाली उस सत्ता का आभास तो हुआ परन्तु वह निश्चित रूप से यह नहीं जान सका कि वह कौन? उसका स्वरूप कैसा है? वह कहाँ रहती है? साँसारिक चक्र का नियमन कैसे करती है? अनादि काल से लेकर वह इस रहस्य को समझने का प्रयत्न करता आया है परन्तु अब तक सर्वथा असमर्थ ही रहा है। मानव-मन की यह प्रवृत्ति रही है कि उसने अपने से महान की कल्पना सदैव सुन्दर रूप में ही की है। इसलिए वह अपने अज्ञान से संकुचित और उस सत्ता के आभास से आश्चर्य विजड़ित होकर जिज्ञासा के स्वर में चीत्कार कर उठा—

हे अनन्त रमणीय! कौन तुम?
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो,
भार विचार न सह सकता।"

मानव ने सृष्टि के आदि से अब तक जिस वस्तु की आकाँक्षा की है वह उसे प्राप्त करके रहा है। प्रकृति पर विजय पाने का उसका संकल्प निरन्तर गतिशील रहा है परन्तु उसकी शक्ति इस 'अज्ञात', 'अव्यक्त' ब्रह्म के समीप आकर ही कुण्ठित हो उठी है—

"पाना अलभ्य को जग की यह कैसी अभिलाषा।
है ब्रह्म अप्राप्य इसी से सब करते उसकी आशा॥"

इसी 'अप्राप्य ब्रह्म' को प्राप्त करने के लिए मानव-हृदय और मानव-मन आदि काल से जो निरन्तर प्रयत्न करता आया है वे सब रहस्यवाद की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं। अनादि काल से उस 'रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति

बिन" वाले रूप को मानव सदैव से 'रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति सह' बना कर उसे समझने और प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा है। "अग्नि-विद्या, मधु विद्या, सामोपासना, प्राणोपासना आदि के द्वारा उस अतीन्द्रिय ग्राह्य को इन्द्रिय ग्राह्य बनाने की चेष्टा मानव के जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा रही है। इसीलिए ब्रह्म की निराकारिता को खंडित किए बिना ही उसमें साकारता स्थापित करने की चेष्टा रहस्य-भावना की मूल है।"[१]

ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर प्राणी उससे तादात्म्य स्थापित कर एकाकार हो जाना चाहता है। इसके लिए वह साधना के दो रूप अपनाता है—एक अपने भीतर और दूसरा अपने बाहर। अपने को पूर्ण बनाना और पूर्ण में अपने को मिला देना—परिणाम में एक ही होने पर व्यापार में भिन्न हैं। इसीलिए तुलसीदास ने कहा था कि,—"तुहि प्रिय लागै राम कै तू रामहिं प्रिय होय।" इस प्रकार साधना के इन भिन्न मार्गों पर चलने के कारण भक्तों के कई रूप हो गए। "उसकी पलायन, दीनता, आहत भावना ने भय, दैन्य और निराशा की सृष्टि कर उसे आर्त्त भक्त बनाया; संग्रह प्रवृत्ति ने अर्थार्थी; जिज्ञासा ने जिज्ञासु और आत्म-प्रकाश ने मुमुक्षु।" इसमें साध्य की एकता थी परन्तु साधन भिन्न थे। इसी से अनेक पंथों का निर्माण हुआ! यह साधना विभिन्न रूप धारण कर अनादिकाल से चली आ रही है। इस साधना को जब जब अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है तभी-तभी रहस्यवाद की सृष्टि होती रही है।

रहस्यवाद की सत्ता दर्शन और काव्य दोनों में ही रहती है। परन्तु 'रहस्यवाद' शब्द केवल काव्यगत रहस्यवाद के लिए ही प्रयुक्त होता है। क्योंकि दर्शन का रहस्यवाद ज्ञान-प्रधान होता है और काव्य का भाव-प्रधान। काव्य में ज्ञान और भाव दोनों का समन्वय होते हुए भी भाव की प्रधानता रहती है। दर्शन में भाव के लिये कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए दर्शनादि को शास्त्र कहा जाता है। ज्ञान के रहस्यवाद के मूल में सांसारिक अनित्यता की उदासीनता, माया की छलना से भय तथा ज्ञान चिंतन आदि प्रमुख तत्व होते हैं। भावना का रहस्यवाद अपने प्राणों में तीन मुख्य तत्व लेकर चलता है—मानव-प्रेम, आश्चर्य का भाव और आत्मा की परमात्मा से विरह अनुभूति। तुलसी और कबीर के रहस्यवाद में इसी मानव प्रेम से अभिषिक्त रहस्य की भावना है। तुलसी इसी के कारण "सियाराममय सब जग" मान कर प्राणी मात्र की उपासना करते हैं। आश्चर्य का भाव कवि को बालक के समान अबोध

१—हिन्दी साहित्य में विविध वाद—डा० प्रेमनारायण शुक्ल।

बना देता है । ऋग्वेद की ऋचाओं में, गीता के विराट स्वरूप प्रदर्शन में तथा कबीर की उलटबाँसियों में इसी रहस्यवाद के दर्शन होते हैं । तुलसी का प्रसिद्ध पद 'केशव कहि न जाय का कहिए" इसी आश्चर्य भावना का प्रतीक है। महादेवी वर्मा ने निम्न पंक्तियों में उसी आश्चर्य के भाव का बड़ा सुन्दर और रहस्यात्मक काव्यमय भाव चित्र अङ्कित किया है—

"शून्य नभ में उमड़ जब दुख भार सी,
नैश तम में सघन छा जाती घटा,
बिखर जाती जुगनुओं की पंक्ति भी।
जब सुनहले आँसुओं के हार - सी,
तब चमक जो लोचनों को मूँदता।
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?"

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि उस अज्ञात को जानने की यही भावना रहस्यवाद कहलाती है । आत्मा द्वारा उस परमतत्व—ब्रह्म—की इस प्राप्ति की साधना में विद्वानों ने तीन सोपान माने हैं—साधारण प्राण से विश्व प्राण और विश्व प्राण से महाप्राण । अर्थात् पहली अवस्था में साधक स्वप्राण की ही साधना में रत रहता है, दूसरी अवस्था में वह विश्वप्राण की अनुभूति में समस्त जगत से सचेतन सम्बन्ध जोड़ता रहता है । तीसरी अवस्था में वह 'महाप्राण' की सीढ़ी पर आरूढ़ होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है ।

इस प्रथम अवस्था में साधक अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के कष्ट उठाने को प्रस्तुत रहता है और सदैव उसके विरह में तड़पता रहता है ।

द्वितीय अवस्था में साधक को उस तत्व का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है और तब वह एक विचित्र आह्लाद से आनन्द विभोर हो उठता है । अद्वैत-वादी इसे 'आत्मज्ञान' की तथा सूफी 'फना' की स्थिति कहते हैं ।

तृतीय अवस्था में साधक पूर्ण सिद्धावस्था को प्राप्त कर ब्रह्म में लीन होने की स्थिति में आ जाता है । यही अद्वैतवादियों की भाषा में 'जीवन्मुक्त' की दशा कहलाती है । इसमें साधक आध्यात्मिक जीवन के अन्तिम विकसित रूप की अवस्था में आकर, सिद्धावस्था को प्राप्त कर, ब्रह्म से मिलकर नीर-क्षीर की भाँति एक हो जाता है । ऐसी अवस्था में कबीर के शब्दों में—

"आतमलीन अखंडित रामां, कहै कबीर हरि माँहि समाना ।"

वाली स्थिति हो जाती है । यही रहस्यवाद की अन्तिम स्थिति होती है ।

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।"[१]

बाबू गुलाबराय—"प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़-चेतन के एकीकरण की प्रवृत्ति छायावाद की एक विशेषता है और उसके मूर्त्त की अमूर्त्त से तुलना करने वाले अलङ्कार-विधान में, जैसे 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल', लहरों के लिये 'इच्छाओं सी असमान' तथा मानवीकरण प्रधान लाक्षणिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनुभूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभी छायावाद रहस्यवाद में परिणत हो जाता है।"[२]

गङ्गाप्रसाद पांडेय—"मनुष्य जब से अपनी मानवीय विवशता में अथवा प्राकृतिक व्यापारों की विशालता में किसी एक अलक्षित शक्ति के प्रभाव तथा अस्तित्व की कल्पना करने लगा तभी से रहस्यवाद का बीजारोपण हुआ।··· रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने समीप और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक 'महाअस्तित्व' के साथ एकात्मता का अनुभव करने लगता है।"[३]

डा० रामकुमार वर्मा—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अन्तर नहीं रह जाता।"[४]

महादेवी वर्मा—"रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है।"[५]

जयशङ्करप्रसाद—"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद है।"[६]

डा० त्रिगुणायत—"जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।"[७]

१—काव्य में रहस्यवाद—आचार्य शुक्ल
२—काव्य का स्वरूप—बाबू गुलाबराय
३—छायावाद और रहस्यवाद—गंगाप्रसाद पांडेय
४—कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा
५—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य
६—काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध—प्रसाद
७—कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत

परशुराम चतुर्वेदी—"रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है।"[1]

उपर्युक्त सभी मतों से परमात्मा के प्रति आत्मा के आत्मनिवेदन, मिलन के प्रति प्रयत्न और मिलन की ही ध्वनि निकलती है। इस प्रकार रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत हैं। उसका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि से उदासीनता पूर्ण आध्यात्मिक है। दार्शनिक क्षेत्र में आत्मा परमात्मा की एकता का सिद्धान्ततः प्रतिपादन किया जा चुका था। उसी की जब साहित्य में अभिव्यक्ति हुई तो वह अस्पष्ट एवं रहस्यमय होने के कारण रहस्यवाद कहलाई।

रहस्यवाद का विकास—उस परमशक्ति-विषयक जिज्ञासा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल—वैदिक युग—में भी मिलती है। ऋग्वेद का एक उदाहरण देखिए—

"उत त्वया तन्वा संवदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि"

—ऋ ७-८६-२

अर्थात् कब मैं अपने इस शरीर से उसकी स्तुति करूँगा और कब मैं उस वरण करने योग्य के हृदय के भीतर एकाकार हो सकूँगा।

उपनिषदों में उस मूल सत्ता की खोज का प्रयत्न किया गया है। सबसे पहले उनमें आत्मा की सार्वभौमिक सत्ता स्वीकार की गई। ऐतरेय उपनिषद में कहा गया है कि—"पहले यह जगत एकमात्र आत्मा ही था। उसके सिवा और कोई क्रियाशील वस्तु नहीं थी। उसने यह सोचा कि मैं लोकों की रचना करूँ।" इस प्रकार इस जगत की अनेकता के मध्य ऐक्य की स्थापना कर आत्मा की व्यापकता का प्रतिपादन दिया गया। आत्मा को सब में व्याप्त माना गया। इसे अजर, अमर, अजन्मा, शाश्वत कहा गया। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी उसे अमर माना गया। इसका ज्ञान आत्मदर्शन द्वारा ही सम्भव है। प्रवचन और अध्ययन आदि के द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति की साधना को गुह्य माना गया है। भावुकता इस प्रेमपंथ की सर्व प्रधान विशेषता रही है। यूरोप में यह प्राचीनकाल के मर्मी सन्तों से होती हुई सूफियों तक चली आई। ये सन्त धर्म की कट्टरता को कभी भी स्वीकार नहीं कर सके, इसी कारण यूरोप और मध्य पूर्व एशिया में इन्हें

१—**कबीर साहित्य की परख—चतुर्वेदी**

धार्मिक कट्टरता के भयानक अत्याचारों का सामना करना पड़ा । फारस में इस्लाम के द्वारा सूफियों पर किए गये अत्याचार इसके प्रमाण हैं। अध्यात्म की यह धारा इस्लामी देशों में निरन्तर आगे बढ़ती रही । फारस के उपरान्त ये सन्त भारत की ओर आए और यहाँ इनके प्रचार ने बल पाया। हिन्दी का सूफियों का साहित्य इसका प्रमाण है ।

इस प्रकार वेदों की वह जिज्ञासा उपनिषदों में अपने आधार की खोज करती हुई आगमों में उससे मानवीय सम्बन्ध स्थापित कर पनपी और आगे बढ़ी । इसके बाद तंत्र और योग मार्ग में विभिन्न शुभ-अशुभ रूप धारण कर सिद्धों, नाथों एवं सन्तों में फली फूली तथा अन्त में भैरवी-चक्र, देवदासी प्रथा आदि में जाकर नष्ट हो गई। आधुनिक काल में आकर इसने छायावाद के साथ पुनर्जीवन प्राप्त किया परन्तु इस समय इसका प्रेरणा स्रोत उपनिषद एवं आगम ही रहे । इसलिए वह विकृत होने से बच गई। इस पर अनेक आलोचकों ने अस्पष्टता का आरोप लगाया है जो स्वाभाविक है। आध्यात्म और आन्तरिक साधना से सम्बंधित अभिव्यक्ति भी यदि गुह्य अथवा अस्पष्ट नहीं होगी तो क्या प्रयोगवादी साहित्य होगा ? मानसिक उलझनें एवं वाणी की असमर्थता जहाँ जितनी ही अधिक होगी वहाँ अस्पष्टता भी उतने ही परिमाण में अधिक होगी ।

आलोचकों ने हिन्दी साहित्य की रहस्यवादी रचनाओं को दो कालों में विभाजित कर दिया है—प्राचीन रहस्यवादी रचनाएँ और आधुनिक रहस्यवादी रचनाएँ । आचार्य शुक्ल आधुनिक रहस्यवादी कविताओं को भारतीय प्राचीन रहस्यवादी परम्परा की उपज न मानकर उसमें विदेशी प्रभाव मानते हैं। इसके विपरीत 'प्रसाद' इसे शुद्ध रूप से भारताय मानते हैं। शुक्लजी की स्थापना है कि सूफियों का रहस्यवाद फारस से यूरोप पहुँचा और वहाँ ईसाई मर्मी सन्तों द्वारा फूलता फलता रहा और उन्नीसवीं सदी के अन्त तक वहाँ कायम रहा। अम्बर क्राम्बे, ब्लेक और यीट्स आदि में यह नवीन रूप धारण कर आगे बढ़ा जिसका प्रभाव कवीन्द्र रवीन्द्र पर पड़ा और उन्होंने उसी पद्धति पर 'गीतांजलि' की रचना की। वहाँ से आकर इस धारा ने हिन्दी के छायावादी कवियों को प्रभावित कर उन्हें रहस्यवादी बना दिया ।

हिन्दी में रहस्यवाद का इतिहास उसके प्रारम्भिक युग से ही आरम्भ हो जाता है। सर्व प्रथम इस भावना के दर्शन सिद्ध-साहित्य में होते हैं। उसके पश्चात् यह नाथ-साहित्य में होती हुई निर्गुण और निरंजन सम्प्रदायों में आगे बढ़ी है। सिद्धों और नाथों का यह रहस्यवाद अत्यन्त अस्पष्ट और उलझा हुआ है। वास्तविक रहस्यवाद के दर्शन भक्तिकाल के प्रथम चरण में

जाकर कबीर, दादू और जायसी के काव्य में ही हुए हैं। इस रहस्यवाद का मूल अद्वैतवाद माना जाता है। कबीर और जायसी हिन्दी के आदि रहस्यवादी कवि माने जाते हैं। आचार्य शुक्ल जायसी में शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद के सर्वप्रथम दर्शन करते हैं और डा० श्यामसुन्दरदास कबीर को हिन्दी का सर्व प्रथम रहस्यवादी कवि मानते हैं। शुक्लजी रहस्यवाद की विवेचना करते हुए कहते हैं कि—"जो चिन्तन के क्षेत्र में अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है। बात यह है कि वैदिक ऋषि चिरकाल तक मनन करने के उपरान्त उपनिषद्-काल में इस सत्य पर पहुँचे कि संसार में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। माया के कारण सांसारिक जन को उसके भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं। द्वैत के अभाव की घोषणा करता हुआ जब यह सिद्धान्त एक ओर ब्रह्म तथा जीव की एकता तथा दूसरी ओर ब्रह्म तथा जगत की एकता स्थापित करने लगा तो इसका नाम सर्ववाद हो गया।"१ ज्ञानियों ने इस सत्य का उद्घाटन तर्कों एवं दृष्टान्तों द्वारा किया, परन्तु वह साधारण जनता के मस्तिष्क से परे की वस्तु थी। अतः यह कार्य 'कान्ता सम्मित' उपदेश देने वाले कवियों द्वारा सम्पादित हुआ।

उपनिषदों के इस सर्ववाद के दर्शन हिन्दी साहित्य में कहीं-कहीं और वह भी अत्यन्त प्रच्छन्न रूप में ही होते हैं। यहाँ तो प्रमुखता अद्वैतवाद के फारसी रूप की ही अधिक है। सूफी रहस्यवाद, कबीर का रहस्यवाद तथा परवर्ती प्रेममार्गी कवियों का रहस्यवाद मूलतः भले ही एक रहा हो, पर बाह्य रूप में भिन्न है। कबीर आदि रहस्यवादी आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध की अद्भुतता पर आश्चर्य चकित हैं। उनके अनुसार आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं। माया के कारण ही उनमें भेद प्रतीत होने लगता है। माया का आवरण हट जाने पर यह भेद स्वतः ही नष्ट हो जाता है। ईश्वर और जीव का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। सूफियों का रहस्यवाद "भागवत के प्रेम मूलक रहस्यवाद जैसा है। उसका आरम्भ वहाँ होता है जहाँ जीव और ईश्वर विषयक गवेषणा का अन्त हो जाता है। उस समय जीव-ईश्वर के सम्बन्ध में एक मधुर भावना की सृष्टि होती है। इस भावना में परस्पर का आकर्षण और तीव्र मिलनाकांक्षा है। इस आकर्षण को स्त्री पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के रूपक द्वारा उपस्थित किया गया है।"२

कबीर से पूर्व अव्यक्त और अशरीरी ब्रह्म के साथ प्रणय की भावना नहीं

१—**काव्य में रहस्यवाद—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।**

२—**रहस्यवाद—डा० रामरतन भटनागर।**

थी। कबीर के उपरान्त मीरा में इसके दर्शन हुए। मीरा की भक्ति भावना और सन्तों की रहस्य-साधना में कोई विशेष अन्तर नहीं है यद्यपि मीरा सगुण रूप कृष्ण की उपासिका थी। सगुण भक्तों में स्पष्ट रूप से रहस्यवाद के दर्शन नहीं होते। तुलसी और सूर के कुछ पदों में भी हल्की सी रहस्य भावना मिल जाती है। तुलसी के 'केशव कहि न जाय का कहिए' जैसे पदों में रहस्य भावना तो है मगर वह मादन-भाव वाली रहस्य-भावना नहीं है। इसी प्रकार सूर काव्य के भी कुछ स्थलों जैसे रास, राधा का कृष्ण के हृदय में अपनी छाया देखकर मान करना, कृष्ण का यशोदा माता को मुंह खोलकर विराट स्वरूप दिखाना तथा उनका बहुनायकत्व आदि में पर्याप्त रहस्यात्मकता है। परन्तु उसमें अनुभूति की गहराई का अभाव है। कृष्ण के ऐसे रूप के प्रति भक्त का भाव प्रेम का न होकर आश्चर्य का ही है। इसका कारण यह है कि साकार रूप के उपासक उस 'अव्यक्त' सत्ता के प्रति क्यों आकर्षित होते?

रीतिकाल में आकर रहस्यवाद क्षीण हो गया। काव्य ईश्वरोन्मुख न रह कर उसमें लोकोन्मुख उक्तियाँ मिलती हैं। परन्तु वास्तविक रहस्यवाद के दर्शन कबीर और जायसी के उपरान्त केवल आधुनिक कवियों में ही होते हैं जिनमें प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी प्रमुख हैं। इनकी विचारधारा भारतीय होते हुए भी इनकी अभिव्यक्ति पर कवीन्द्र रवीन्द्र द्वारा अँग्रेजी काव्य का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। इनमें सूफियों की सी तन्मयता न होकर भी उच्चकोटि की भावुकता है।

प्राचीन रहस्यवाद और आधुनिक रहस्यवाद में विद्वानों ने पर्याप्त अन्तर माना है। प्रसादजी का मत है कि रहस्यवाद की हमारी अपनी दार्शनिक एवं काव्य परम्परा रही है जो मध्ययुग तक समाप्त हो जाती है। आधुनिक युग के रहस्यवाद को पश्चिमी धारा से प्रभावित माना गया है परन्तु कुछ आलोचकों ने यह कहा कि रहस्यवाद की मूल उत्पत्ति सेमेटिक धर्म-भावना से हुई है इसीलिए वह विदेशी वस्तु है। परन्तु प्रसाद जी का कहना है कि—"रहस्यवाद (अनहलकवाद) सेमेटिक धर्म-भावना के विरुद्ध है एवं ईसा, मंसूर और सरमद आर्य अद्वैतभावना से प्रभावित थे।" आधुनिक रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रसाद जी ने लिखा है कि—"वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है।......वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।" इस प्रकार प्रसाद जी प्राचीन एवं आधुनिक रहस्यवाद

को विदेशी वस्तु न मानकर उसे भारतीय अद्वैत भावना से प्रभावित मानते हैं। इसका मूल आध्यात्मिक भावना रही है और अब भी है।

डा० रामकुमार वर्मा रहस्यवाद की अनुभूति को मूलत; आध्यात्मिक तो मानते हैं परन्तु आधुनिक रहस्यवादी कविता को वे पूर्णरूप से मूलतः आध्यात्मिक नहीं मानते। महादेवी वर्मा ने 'सान्ध्यगीत' की भूमिका में रहस्यवाद का विवेचन करते हुए योगियों, सूफियों तथा कबीर के रहस्यवाद की विशेषताओं का उल्लेख कर आधुनिक रहस्यवाद के विषय में लिखा है कि—"आज गीत में हम जिसे नए रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सब से भिन्न है। उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को आलम्बन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक रहस्यवाद शुक्लजी के मतानुसार विदेशी न होकर भारतीय ही है। वर्डसवर्थ आदि अँग्रेजी के कवियों के प्रकृति-रहस्यवाद को देखकर भी कुछ आलोचकों ने इसके प्रभाव को वर्तमान हिन्दी के प्रकृति-रहस्यवाद पर थोपा है। इस आक्षेप का उत्तर देते हुये प्रसादजी ने लिखा है कि—"आज साहित्य में विश्व सुन्दरी-प्रकृति में चेतना का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से प्राप्त होता है। यह प्रकृति या शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य लहरी के 'शरीरत्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिन्दी का रहस्यवाद स्वाभाविक रूप से विकसित होकर आया है।"[१]

इस विषय में इतना तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि वर्तमान हिन्दी रहस्यवाद की प्रेरणा हिन्दी वालों को अँग्रेजी रोमाँटिक काव्य से प्रभावित कवीन्द्र की 'गीतांजलि' से ही मिली थी। प्रसाद भी इससे प्रभावित हुए थे परन्तु उन्होंने इस प्रभाव को अभिव्यंजना पद्धति,भाषा-शैली एवं काल्पनिक रूप-विधान के रूप में ही ग्रहण किया था। उनकी रहस्यवादी भावनाओं का उद्‌गम स्रोत शैवागम ही रहे जिसके आधार पर उन्होंने 'आंसू' और 'कामायनी' में आनन्दवाद की प्रतिष्ठा कर रहस्यवाद को आगे बढ़ाया।

प्राचीन तथा आधुनिक रहस्यवाद का अन्तर हम संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—प्राचीन रहस्यवादी काव्य की मूल प्रेरणा धार्मिक अनुभूति और साधना थी। इसके प्रतीक जन-साधारण के जीवन से लिये गये थे। अतः

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—प्रसाद।

इसका आध्यात्मिक धरातल अत्यन्त उच्च होते हुये भी यह इतना दुर्बोध नहीं था। आधुनिक रहस्यवाद के मूल में धार्मिक भावना का एकान्त अभाव है। वह शुद्ध कल्पना पर आधारित है। उसके पीछे साधना की गहराई भी नहीं है। उसके प्रतीक सर्वथा नवीन एवं अभारतीय हैं। इसीलिये साधारण पाठक इस काल्पनिक साधना एवं अनुभूति हीन रहस्यवाद को समझ नहीं पाता।

वर्तमान काल में रहस्यवाद का कहीं-कहीं बड़ा दुरुपयोग हो रहा है। इसका सहारा लेकर अनेक कवि अत्यन्त रूढ़िग्रस्त भाषा के माध्यम से हृद्तन्त्री के टूटे तारों के राग अलापने लगे। उनमें ईश्वर के प्रति सच्ची जिज्ञासा जनित प्रेम की अनुभूति तो थी नहीं किन्तु अपनी दुरूह भाषा द्वारा वे उसे उत्पन्न करने का प्रयत्न अवश्य करते रहे। (यद्यपि यह धारा अब पूर्णतः निष्क्रिय सी हो रही है फिर भी यदा-कदा इस प्रकार की रचनाएँ प्रकाशित होती ही रहती हैं) वे केवल अपनी बौद्धिकता के बल पर ही वह प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं जो प्राचीन रहस्यवादी कवियों ने सच्ची साधना की अनुभूति द्वारा किया था। आधुनिक कवियों में इस काल्पनिक वास्तविक रहस्यवाद के दर्शन शुद्ध रूप से केवल महादेवी वर्मा के ही काव्य में होते हैं। वे मूलतः और पूर्ण रूप से रहस्यवादी हैं। प्रसाद, पन्त, निराला आदि ने भी अत्यन्त उच्चकोटि की रहस्यवादी रचनाएँ लिखी थीं जिनकी वेदना महादेवी की वेदना से कम मोहक एवं सुन्दर नहीं थी। परन्तु उनके काव्य के अन्य पक्ष भी थे। प्रसाद की प्रतिभा काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में बँट गई। निराला के साथ भी यही हुआ। पन्त ने अनेक मोड़ लिये परन्तु महादेवी निरन्तर एकसी तन्मयता के साथ अपने प्रियतम के विरह गीत गाती रहीं और आज भी गा रही हैं।

रहस्यवादी काव्य का कलापक्ष छायावादी काव्य के कलापक्ष के ही समान है। इसकी शैली छायावादी शैली से पूर्ण रूपेण प्रभावित है। इसका कारण यह है कि वर्तमान सभी रहस्यवादी कवि छायावादी रहे हैं। साधारणतः पाठक यह अन्तर ही नहीं कर पाता कि कौन सा कवि रहस्यवादी है और कौन सा छायावादी। इसका कारण शैली की समानता ही है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सदैव से ही पदों या गीतों द्वारा होती आई है। इसलिए आधुनिक युग में भी गीतों की प्रधानता है। प्राचीन रहस्यवादी कवियों में से केवल जायसी आदि सूफियों ने ही प्रबन्ध-काव्य द्वारा रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की थी। कबीर, मीरा आदि सभी रहस्यवादियों ने मुक्तक पदों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था। प्रसाद की 'कामायनी' को भी कुछ लोग

छायावादी रचना मानते हैं, कुछ रहस्यवादी तथा कुछ उसमें छायावाद और रहस्यवाद का सम्मिलित रूप मानते हैं। इसका कारण भी रहस्यवाद और छायावाद की शैलीगत समानता ही है।

इन दोनों की शैली तो एक है मगर रहस्यवाद की भावभूमि छायावाद से अधिक सूक्ष्म और उच्च है। प्रकृति के पदार्थ दानों में समान रूप से व्यवहृत होते हैं। परन्तु छायावाद में ये स्वतन्त्र वर्णन के विषय होते हैं और रहस्यवाद में ये वर्ण्य-विषय न रह कर किसी भाव को घनीभूत करने में सहायक या अज्ञात सत्ता के अव्यक्त इङ्गितों का संकेत देने वाले होते हैं। इसलिये रहस्यवाद में भी प्रकृति का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना कि छायावाद में। कवि संपूर्ण प्रकृति में उसी अव्यक्त सत्ता का आभास पाता है। प्रकृति भी कवि के समान 'उसके' विरह में अश्रुमुखी दिखाई देती है। जायसी ने तो प्रकृति को 'उसके' विरह में दग्ध होते हुए दिखाया है।

छायावादी और रहस्यवादी दोनों ही काव्यों में शृङ्गार प्रधान है। छायावाद में संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण होता है जबकि रहस्यवाद में सिर्फ वियोग पक्ष ही चित्रित हुआ है। रहस्यवादी कवि का विरह प्रकृति व्यापी है। विरह की शीतल ज्वाला कवि को उस असीम प्रिय के प्रति प्रेमोन्मुख रखती है—

"शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग जल का,
क्यों व्यर्थ सांस चल-चलकर
करती है काम अनिल का।"

—प्रसाद

कवि की जीवन संध्या में उसका प्रियतम अद्भुत और अनूप सौन्दर्य से आवृत्त, जिसमें रहस्य था, आया—

"शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये।।"

रहस्यवाद और छायावाद का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाते हुए गंगाप्रसाद पांडेय ने लिखा है कि—"वास्तव में दोनों एक दूसरे के इतने निकट और एक दूसरे के इतने समान हैं कि बिना दोनों के बीच एक विभाजक रेखा बनाए उनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्ट नहीं हो सकता।.........रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत् हैं। छायावाद परमात्मा को छोड़ देता है, वह केवल आत्मा और जगत के प्रदेश में ही विचरण करता है।....छायावाद में जिस प्रकार एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा

के साथ आत्मा का सन्निवेश है, तो रहस्यवाद में आत्मा के साथ परमात्मा का। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन सा सप्राण पाते हैं तो यह हमारी छायावाद की आत्माभिव्यक्ति हुई; किन्तु जब उसी पुष्प को हम किसी परम चेतना का आभास या विकास पाते हैं तो हमारी यह अभिव्यक्ति रहस्य-मयी भावना या रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत होगी।" यही रहस्य-वाद और छायावाद का छोटा सा अन्तर है। फूल और कलियों में रहस्यवादी जीवन का कम्पन नहीं किन्तु अपने प्रियतम की रूप-माधुरी देखता है—

"सुमन में तेरा मधुर विकास,
कली में नव नव अस्फुट हास।"

इन्हीं सुमन और कलिका को छायावादी कवि आत्मा की समान लहर से अनुप्राणित पाकर सप्राण समझ लेता है। वह उनसे मधुरालाप करने लगता है। निर्जीव को सजीव बनाकर उसी का आलिंगन-पाश माँगता है—

"गाओ गाओ हे कुसुम बालिके!
तरुवर से मृदु मंगल - गान,
मैं छाया में बैठ, तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान!
हाँ सखि! आओ बाँह खोल, हम
लग कर गले, जुड़ा लें प्राण!"

— पन्त

आज रहस्यवाद अतीत की वस्तु बन चुका है। हमारी भौतिक विषमताओं ने हमारी सारी शक्ति एवं ध्यान भौतिक समस्याओं को हल करने की तरफ लगा दिया है। अब हम उस 'परमसुन्दर आराध्य' के प्रेम में विरह-दग्ध न होकर, आँख खोल अपने वास्तविक जीवन की समस्याओं की उधेड़-बुन में लग गये हैं। अध्यात्म का भव्य रूप खड़ाकर एवं उसे धार्मिक आडम्बर से आवे-ष्टित कर एक वर्ग विशेष युगों से जनता को पथ-भ्रष्ट करता आया था। इसी कारण आज के समाज में उस धार्मिक-भावना का विरोध एवं जीवन की भौतिक समस्याओं को सुलझाने वाला स्वर बुलन्द हो उठा है। रहस्यवाद ने एक युग में मानवता की पुकार बुलन्द की थी, सुदूर अतीत में एक 'ब्रह्म' की कामना कर धार्मिक मत-मतान्तरों का उन्मूलन करने की चेष्टा की थी। इतना सब कुछ करने पर भी रहस्यवादी धारणा लोक धर्म का स्वरूप कभी भी नहीं पा सकी क्योंकि इसकी साधना व्यक्ति-प्रधान थी। रहस्यवाद का प्रगतिशील रूप कबीर आदि के साथ ही समाप्त हो चुका था। बाद में तो केवल लकीर ही पीटी गई थी। आधुनिक रहस्यवाद का वह शुभ रूप भी

तिरोहित हो गया। इसमें न साधना है और न अनुभूति की गहराई। यह विशुद्ध रूप से काल्पनिक है। आज के संघर्षशील युग में इस काल्पनिक भावना द्वारा समाज का कोई कल्याण नहीं हो सकता। इसीलिए रहस्यवाद मर गया है। परन्तुइससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक रहस्यवादी काव्य ने छायावाद के साथ हिंदी को सुन्दर, ललित साहित्य दिया जिसका साहित्यिक मूल सदैव अक्षुण्ण रहेगा। कालिदास आदि की ललित, मनोरम रचनाओं के समान भविष्य में इसे भी पढ़ा जायेगा। परन्तु आज वह व्यर्थ है। इसीलिए प्रगतिवाद के जनवादी रूप के सम्मुख उसकी कोई पूछ नहीं।

—:o:—

३१—आदर्शवाद और यथार्थवाद

इतिहास किसी देश की सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख करता है। साहित्य में उन्हीं का विस्तृत चित्रण मिलता है। यद्यपि साहित्य में कल्पना का आधिक्य होता है और इतिहास में वास्तविकता का फिर भी समाज का जितना यथार्थ चित्रण साहित्य में मिलता है उतना इतिहास में नहीं। वेदकाल के विषय में इतिहास मूक है। परंतु वैदिक साहित्य उस समय के समाज का वास्तविक रूप उपस्थित कर देता है। साहित्य से ही हम तुलसीदास के समय की उस घोर विषम सामाजिक अवस्था का आभास पाते हैं जिसके विषय में अकबर का इतिहास लिखने वालों ने कहीं संकेत भी नहीं किया है। रावण, युधिष्ठिर, नल, शकुन्तला, दुष्यन्त को सामाजिक नियमों का उलङ्घन कर पर-नारी-हरण, द्यूत क्रिया एवं गार्धव-विवाह आदि करने पर कितने कष्ट उठाने पड़े इसका वास्तविक विवरण केवल साहित्य देता है। इस भाँति साहित्य का क्षेत्र दो प्रकार का हुआ। प्रथम—सामाजिक दशा का तत्कालीन चित्रण, दूसरा—उस काल के व्यक्ति, उनके कर्म तथा कर्मों के फल का चित्रण। यह निश्चित है कि दोनों क्षेत्रों में वह समाज का ही चित्र खींचता है—पहले उसका चित्र अङ्कित करता है और फिर उसका मूल्य निर्धारण करता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के चित्रणों में भी कलाकार या कवि दो मार्ग अपनाता है। एक में वह संसार को जैसे का तैसा चित्रित करता है और दूसरे में उस संसार को मनोनुकूल बनाने के लिए अपनी कल्पना का प्रयोग कर परिवर्तित कर देता है। इसी आधार पर साहित्य में दो वादों की प्रतिष्ठा हुई। इसमें यथावत् चित्रण करने वाले को यथार्थवादी और मनोनुकूल परिवर्तन करने वाले को आदर्शवादी कहा जाता है। यदि समाज का चित्रण तथा कर्मों का मूल्यांकन ज्यों का त्यों—कहीं अच्छा, कहीं बुरा—कर भी दिया जाय तो समाज का यथार्थतः काम चलाऊ रूप हमारे साहित्य में अवश्य रह सकता है। परंतु 'यथार्थवादी' साहित्यकार इतने में ही संतुष्ट नहीं। वह सत् और असत् दोनों को स्वेच्छानुसार महत्त्व देने भर को अपना उद्देश्य नहीं मानता। यथार्थवादी यह कहता है कि समाज में जो कुछ बुरा है, घृणित है, हीन है, असत है उसी को साहित्य में स्थान मिलना चाहिए क्योंकि अच्छा, सुन्दर, उत्तम तथा सत तो केवल कल्पना लोक की चीजें है। वास्तविक जीवन में उनके दर्शन नहीं होते।

वह यह भी कहता है कि प्रत्येक देश तथा काल में जो पापी, दुष्ट, अनाचारी होते हैं, उन्हीं की सदा जीत होती है। जो कोई संसार में बड़ा हुआ है वह सदैव दूसरों को दबाकर ही बड़ा हुआ है। जो विजयी होता है वह धर्मात्मा मान लिया जाता है और पराजित होने वाला पापी। शक्तिहीन होने के कारण जिन कर्मों को हम छिपाकर करना चाहते हैं वे पाप कहलाते हैं परन्तु यदि समाज का एक बड़ा भाग उसे व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म मान लिया जाता है। इसलिये साहित्य में केवल यथार्थ, असत्, घृणित और कुत्सित को ही स्थान मिलना चाहिए, सत, सुन्दर तथा उच्च को नहीं। क्योंकि समाज में असत्य, अशिव और असुन्दरम् का ही बोलबाला है, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का नहीं। वह इसी प्रकार के साहित्य को ही कला का चरम-उद्देश्य मानता है। उसके यहाँ इससे भिन्न चित्रण कल्पित तथा असत्य है। उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। यह यथार्थवाद के प्रति एक दृष्टिकोण है जो अर्द्धसत्य है।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में —"यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुख की धूप-छाँह का मिश्रण रहता है। यह सामान्य भावभूमि के समतल रह कर वर्तमान की वास्तविकता से सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी देश की वस्तुएँ हैं जो उसकी पहुँच से बाहर हैं।···वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित देखना चाहता है। दूसरी ओर आदर्शवादी स्वप्न द्रष्टा होता है। वह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। वह संघर्ष में भी साम्य देखने के लिये उत्सुक रहता है।···यदि वर्तमान दुखमय है तो उज्ज्वल भविष्य की सुन्दर झाँकी देखने में मग्न रहता है। वह आशावादी होता है और आशा के एक बिन्दु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है।" वह ऐसे चरित्र तथा परिस्थितियों का चित्रण करता है जो मानव समाज के लिए अनुकरणीय हैं। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण लोक में देखीं और सुनी जायँ।

प्रवृत्ति के विचार से दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। एक प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि सदैव किसी भी वस्तु के गुणों पर रीझती है और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि केवल अवगुणों की ओर विशेष रूप से रहती है। यद्यपि दोनों दृष्टियों में स्वभावतः तथ्य ही आता है, केवल तथ्य के दो पहलू हो जाते हैं। काल्पनिक शक्तियों के प्राबल्य में प्रायः मनुष्य गुणों की ओर आकर्षित होता है। अतः उसका चित्रण सदैव आदर्शवाद से पूर्ण होगा, जब

कि दूसरे प्रकार का चित्रण यथार्थवाद के नाम से पुकारा जायगा। अथवा यों कहें कि यथार्थवादी कलाकार वह है, जो गुण अवगुण में से किसी को भी नहीं छोड़ता, जब कि आदर्शवादी की दृष्टि वर्ण्य वस्तु के गुणों पर मुग्ध हो जाती है और उसके लिए अवगुण भी गुण हो जाते हैं। आदर्शवादी एक प्रेमी कलाकार है, उसका हृदय अनुराग से ओतप्रोत होता है। फिर जो हृदय अनुराग से तरंगित हो सकता है उसमें उतनी ही शक्ति विराग की भी रहती है, अतः वह किसी की बुराई भी अपने अनुराग के आधार विषय की प्रशंसा में अधिक दिखला सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदर्शवाद जहाँ हमें चरम सीमाओं की ओर ले जाता है, वहाँ यथार्थवाद मध्यम मार्ग का अनुगामी है जहाँ से सत और असत् दोनों के दर्शन हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में यथार्थवादी साहित्यकार आलोचक अधिक होता है कवि कम। कवि जब अपनी वस्तु में रम जाता है, तब दूसरी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती, किंतु आलोचक की पैनी दृष्टि हृदय को आत्म-विस्मृति के साथ कहीं भी नहीं रमने देती। वह एक पहलू के साथ-साथ दूसरे पहलू पर भी दृष्टि रखता है। अतः आदर्शवाद में साधना की विशिष्टता और यथार्थवाद में जिज्ञासा और अनुभव की तीव्रता प्रधान रूप से कार्य करती है।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "आदर्शवादी साहित्य व्यक्ति प्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है जो कि जन-साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्व साधारण की दृष्टि स्वाभावतः खिंच जाती है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानव-समाज कुछ विशेष सुखमय एवं संगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जनसमाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा, और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है। ये विशेषताएँ जीवन की ही विशेषताएँ हैं। आदर्शवाद व्यक्ति विशेष को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के सामाधान के लिये उपयुक्त समझता है। प्रगतिवाद (यथार्थवाद) हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना जाग्रत करता है। समाज के दुःखों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है। और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में—जैसा कि हम नित्य के जीवन में देखते हैं—उपस्थित करता है।"

कुछ लोगों ने यथार्थवाद का बड़ा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ लगाया है। उनका मत है कि समाज में जो जैसा होता है या हृदय में जैसी बातें उठती हैं, बिना

वह यह भी कहता है कि प्रत्येक देश तथा काल में जो पापी, दुष्ट, अनाचारी होते हैं, उन्हीं की सदा जीत होती है। जो कोई संसार में बड़ा हुआ है वह सदैव दूसरों को दबाकर ही बड़ा हुआ है। जो विजयी होता है वह धर्मात्मा मान लिया जाता है और पराजित होने वाला पापी। शक्तिहीन होने के कारण जिन कर्मों को हम छिपाकर करना चाहते हैं वे पाप कहलाते हैं परन्तु यदि समाज का एक बड़ा भाग उसे व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म मान लिया जाता है। इसलिये साहित्य में केवल यथार्थ, असत्, घृणित और कुत्सित को ही स्थान मिलना चाहिए, सत, सुन्दर तथा उच्च को नहीं। क्योंकि समाज में असत्य, अशिव और असुन्दरम् का ही बोलबाला है, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का नहीं। वह इसी प्रकार के साहित्य को ही कला का चरम-उद्देश्य मानता है। उसके यहाँ इससे भिन्न चित्रण कल्पित तथा असत्य है। उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। यह यथार्थवाद के प्रति एक दृष्टिकोण है जो अर्द्ध सत्य है।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में —"यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुख की धूप-छाँह का मिश्रण रहता है। यह सामान्य भावभूमि के समतल रह कर वर्तमान की वास्तविकता से सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी देश की वस्तुएँ हैं जो उसकी पहुँच से बाहर हैं।...वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित देखना चाहता है। दूसरी ओर आदर्शवादी स्वप्न द्रष्टा होता है। बह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। वह संघर्ष में भी साम्य देखने के लिये उत्सुक रहता है।...यदि वर्तमान दुखमय है तो उज्ज्वल भविष्य की सुन्दर झाँकी देखने में मग्न रहता है। वह आशावादी होता है और आशा के एक बिन्दु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है।" वह ऐसे चरित्र तथा परिस्थितियों का चित्रण करता है जो मानव समाज के लिए अनुकरणीय हैं। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण लोक में देखीं और सुनी जायँ।

प्रवृत्ति के विचार से दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। एक प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि सदैव किसी भी वस्तु के गुणों पर रीझती है और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि केवल अवगुणों की ओर विशेष रूप से रहती है। यद्यपि दोनों दृष्टियों में स्वभावतः तथ्य ही आता है, केवल तथ्य के दो पहलू हो जाते हैं। काल्पनिक शक्तियों के प्राबल्य में प्रायः मनुष्य गुणों की ओर आकर्षित होता है। अतः उसका चित्रण सदैव आदर्शवाद से पूर्ण होगा, जब

कि दूसरे प्रकार का चित्रण यथार्थवाद के नाम से पुकारा जायगा। अथवा यों कहें कि यथार्थवादी कलाकार वह है, जो गुण अवगुण में से किसी को भी नहीं छोड़ता, जब कि आदर्शवादी की दृष्टि वर्ण्य वस्तु के गुणों पर मुग्ध हो जाती है और उसके लिए अवगुण भी गुण हो जाते हैं। आदर्शवादी एक प्रेमी कलाकार है, उसका हृदय अनुराग से ओतप्रोत होता है। फिर जो हृदय अनुराग से तरंगित हो सकता है उसमें उतनी ही शक्ति विराग की भी रहती है, अतः वह किसी की बुराई भी अपने अनुराग के आधार विषय की प्रशंसा में अधिक दिखला सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदर्शवाद जहाँ हमें चरम सीमाओं की ओर ले जाता है, वहाँ यथार्थवाद मध्यम मार्ग का अनुगामी है जहाँ से सत और असत् दोनों के दर्शन हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में यथार्थवादी साहित्यकार आलोचक अधिक होता है कवि कम। कवि जब अपनी वस्तु में रम जाता है, तब दूसरी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती, किंतु आलोचक की पैनी दृष्टि हृदय को आत्म-विस्मृति के साथ कहीं भी नहीं रमने देती। वह एक पहलू के साथ-साथ दूसरे पहलू पर भी दृष्टि रखता है। अतः आदर्शवाद में साधना की विशिष्टता और यथार्थवाद में जिज्ञासा और अनुभव की तीव्रता प्रधान रूप से कार्य करती है।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "आदर्शवादी साहित्य व्यक्ति प्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है जो कि जन-साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्व साधारण की दृष्टि स्वाभावतः खिंच जाती है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानव-समाज कुछ विशेष सुखमय एवं संगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जनसमाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा, और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है। ये विशेषताएँ जीवन की ही विशेषताएँ हैं। आदर्शवाद व्यक्ति विशेष को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के सामाधान के लिये उपयुक्त समझता है। प्रगतिवाद (यथार्थवाद) हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना जाग्रत करता है। समाज के दुःखों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है। और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में—जैसा कि हम नित्य के जीवन में देखते हैं—उपस्थित करता है।"

कुछ लोगों ने यथार्थवाद का बड़ा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ लगाया है। उनका मत है कि समाज में जो जैसा होता है या हृदय में जैसी बातें उठती हैं, बिना

वह यह भी कहता है कि प्रत्येक देश तथा काल में जो पापी, दुष्ट, अनाचारी होते हैं, उन्हीं की सदा जीत होती है। जो कोई संसार में बड़ा हुआ है वह सदैव दूसरों को दबाकर ही बड़ा हुआ है। जो विजयी होता है वह धर्मात्मा मान लिया जाता है और पराजित होने वाला पापी। शक्तिहीन होने के कारण जिन कर्मों को हम छिपाकर करना चाहते हैं वे पाप कहलाते हैं परन्तु यदि समाज का एक बड़ा भाग उसे व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म मान लिया जाता है। इसलिये साहित्य में केवल यथार्थ, असत्, घृणित और कुत्सित को ही स्थान मिलना चाहिए, सत, सुन्दर तथा उच्च को नहीं। क्योंकि समाज में असत्य, अशिव और असुन्दरम् का ही बोलबाला है, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का नहीं। वह इसी प्रकार के साहित्य को ही कला का चरम-उद्देश्य मानता है। उसके यहाँ इससे भिन्न चित्रण कल्पित तथा असत्य है। उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। यह यथार्थवाद के प्रति एक दृष्टिकोण है जो अर्द्धसत्य है।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में —"यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुख की धूप-छाँह का मिश्रण रहता है। यह सामान्य भावभूमि के समतल रह कर वर्तमान की वास्तविकता से सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी देश की वस्तुएँ हैं जो उसकी पहुँच से बाहर हैं।···वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित देखना चाहता है। दूसरी ओर आदर्शवादी स्वप्न दृष्टा होता है। वह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। वह संघर्ष में भी साम्य देखने के लिये उत्सुक रहता है।···यदि वर्तमान दुखमय है तो उज्ज्वल भविष्य की सुन्दर झाँकी देखने में मग्न रहता है। वह आशावादी होता है और आशा के एक बिन्दु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है।" वह ऐसे चरित्र तथा परिस्थितियों का चित्रण करता है जो मानव समाज के लिए अनुकरणीय हैं। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण लोक में देखीं और सुनी जायँ।

प्रवृत्ति के विचार से दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। एक प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि सदैव किसी भी वस्तु के गुणों पर रीझती है और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि केवल अवगुणों की ओर विशेष रूप से रहती है। यद्यपि दोनों दृष्टियों में स्वभावतः तथ्य ही आता है, केवल तथ्य के दो पहलू हो जाते हैं। काल्पनिक शक्तियों के प्राबल्य में प्रायः मनुष्य गुणों की ओर आकर्षित होता है। अतः उसका चित्रण सदैव आदर्शवाद से पूर्ण होगा, जब

कि दूसरे प्रकार का चित्रण यथार्थवाद के नाम से पुकारा जायगा। अथवा यों कहें कि यथार्थवादी कलाकार वह है, जो गुण अवगुण में से किसी को भी नहीं छोड़ता, जब कि आदर्शवादी की दृष्टि वर्ण्य वस्तु के गुणों पर मुग्ध हो जाती है और उसके लिए अवगुण भी गुण हो जाते हैं। आदर्शवादी एक प्रेमी कलाकार है, उसका हृदय अनुराग से ओतप्रोत होता है। फिर जो हृदय अनुराग से तरंगित हो सकता है उसमें उतनी ही शक्ति विराग की भी रहती है, अतः वह किसी की बुराई भी अपने अनुराग के आधार विषय की प्रशंसा में अधिक दिखला सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदर्शवाद जहाँ हमें चरम सीमाओं की ओर ले जाता है, वहाँ यथार्थवाद मध्यम मार्ग का अनुगामी है जहाँ से सत और असत् दोनों के दर्शन हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में यथार्थवादी साहित्यकार आलोचक अधिक होता है कवि कम। कवि जब अपनी वस्तु में रम जाता है, तब दूसरी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती, किंतु आलोचक की पैनी दृष्टि हृदय को आत्म-विस्मृति के साथ कहीं भी नहीं रमने देती। वह एक पहलू के साथ-साथ दूसरे पहलू पर भी दृष्टि रखता है। अतः आदर्शवाद में साधना की विशिष्टता और यथार्थवाद में जिज्ञासा और अनुभव की तीव्रता प्रधान रूप से कार्य करती है।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "आदर्शवादी साहित्य व्यक्ति प्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है जो कि जन-साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्व साधारण की दृष्टि स्वाभावतः खिंच जाती है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानव-समाज कुछ विशेष सुखमय एवं संगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जनसमाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा, और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है। ये विशेषताएँ जीवन की ही विशेषताएँ हैं। आदर्शवाद व्यक्ति विशेष को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के सामाधान के लिये उपयुक्त समझता है। प्रगतिवाद (यथार्थवाद) हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना जाग्रत करता है। समाज के दुःखों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है। और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में—जैसा कि हम नित्य के जीवन में देखते हैं—उपस्थित करता है।"

कुछ लोगों ने यथार्थवाद का बड़ा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ लगाया है। उनका मत है कि समाज में जो जैसा होता है या हृदय में जैसी बातें उठती हैं, बिना

समाज के कल्याण की चिंता किये उन्हें यथावत् व्यक्त कर दिया जाय। परन्तु यह दृष्टिकोण गलत है। यदि साहित्य में ऐसे भावों का व्यक्तीकरण होता रहेगा तो नैतिकता और अनैतिकता के बन्धन स्वीकार नहीं होंगे। उससे समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न होने का भय है। सामाजिक सन्तोष की तुलना में हमारा व्यक्तिगत सन्तोष कोई महत्व नहीं रखता। आज यथार्थवाद के नाम पर अश्लीलता का जो भयङ्कर प्रदर्शन हो रहा है वह समाज के लिए घातक है। यदि लेखक को वीभत्स शृङ्गार का चित्रण करने में आनन्द आता है तो इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सभी पाठक उसमें उतना ही रस लेंगे। अनेक साहित्यकारों ने अपने साहित्य में अपनी रुद्ध एवं अतृप्त-कामवासनाओं का प्रदर्शन करने में सम्पूर्ण सामाजिक बन्धनों की इतिश्री कर दी है। स्पष्ट और खुला हुआ रति-वर्णन करने में उन्हें अमित आनन्द प्राप्त हुआ है। परन्तु क्या ऐसा साहित्य पाठकों के मस्तिष्क पर, जिनमें अपरिपक्व बुद्धि वाले पाठक भी होते हैं, शुभ प्रभाव डाल सकता है ? अतः यथार्थवाद का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि हम जो कुछ जिस रूप में देखते हैं उसका वही नग्न रूप चित्रित कर दें। हम अपने जीवन में अनेक ऐसे कार्य करते हैं जो पूर्ण स्वाभाविक हैं परन्तु जिन्हें हम दूसरों के सम्मुख नहीं कर सकते। अस्तु,

इन दोनों वादों के विषय में हमारे विद्वानों के विभिन्न मत हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है कि—"ये दोनों साहित्य की चित्रण की शैली के दो स्थूल विभाग हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौन्दर्य सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।" इस दृष्टिकोण से तो कोई भी रचयिता दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वस्तु को देखने का यह दृष्टिकोण अत्यन्त उलझा हुआ, भ्रमपूर्ण और धोखा देने वाला है। प्रेमचन्द कोरे यथार्थवाद का विरोध करते थे। वे उसी यथार्थवाद को ग्रहणीय मानते थे जो आदर्शोन्मुख हो। इसी कारण आलोचकों ने उन्हें 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कहा है। उनका कहना था कि—"यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है।" यह कथन ठीक भी है। केवल यथार्थ के चित्रण से हम यही समझने लगते हैं कि यदि संसार इतना बुरा है तो इसमें रहना व्यर्थ है। इसलिये यथार्थ के साथ आदर्श के प्रति कलात्मक संकेत अवश्य होना चाहिये। कम से कम हमें यह तो मालूम हो कि क्या करने से हम संसार की वर्तमान दशा को बदल सकेंगे। आज प्रगतिवाद, जो यथार्थवाद का ही दूसरा रूप सा माना जाता है, हमें एक ऐसे संसार के निर्माण की प्रेरणा दे रहा है जो सब प्रकार से सम्पन्न

सुख-दायक होगा। परन्तु प्रगतिवादी कल्पना स्वर्ग की कल्पना नहीं है। वह वास्तविकता पर आधारित है। अतः आदर्श का समन्वय आवश्यक है। प्रसाद "जीवन की अभिव्यक्ति" को यथार्थ और "अभावों की पूर्ति" को आदर्शवाद कहते थे। उनका 'कङ्काल' यथार्थ का उदाहरण है और 'तितली' आदर्शवाद का।

"आदर्शवाद के अनेक गुण हैं जिनमें चुनाव, पूर्णता, सामंजस्य, सुव्यवस्था, परिष्कार, औचित्य एवं भूत, भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव रहता है।" प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ अपना आदर्श स्वयं गढ़ लेती हैं। संसार के संपूर्ण देशों का साहित्य इसका प्रमाण है। प्राचीन काल में यूनान, रोम, फारस, भारत आदि देशों के साहित्य में वीर भावों का प्राधान्य था। यही वीरता हमारा आदर्श थी। संपूर्ण प्राचीन महाकाव्यों में वही आदर्श मिलता है। महाभारत और रामचरित मानस में अनेक आदर्शों का समन्वय है। इन आदर्शों से जनता को प्रेरणा मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति राम बनना चाहता है और प्रत्येक नारी सीता। इतना सब कुछ होते हुए भी कभी-कभी आदर्शों को बलपूर्वक उपदेश के रूप में हमारे ऊपर थोपा जाता है। कहने वाला या लिखने वाला यह समझता है कि सम्पूर्ण बुद्धि का ठेका लेकर केवल मैं ही आया हूँ अतः वाकी सबको मेरी बात माननी ही चाहिये। ऐसे व्यक्ति में धार्मिक संकीर्णता, दम्भ, अहंकार, उपदेश देने की प्रवृत्ति प्रधान रूप से पाई जाती है। वह कहता है कि मैं कहता हूँ इसलिये तुम्हें मेरे कहने के अनुसार रहना चाहिये। उसके वाक्य दूसरों को आदर्श मानने चाहिये। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसे व्यक्ति का साहित्य हमारे वास्तविक जीवन से पूर्णतः पृथक और कल्पित होता है। उसे हम आदर्श रूप में कभी भी ग्रहण नहीं कर सकते। यदि हम उसकी मानसिक गुलामी स्वीकार करलें तो हमारा यह जीवन निष्क्रिय होकर व्यर्थ हो जायगा। अतः ऐसे आदर्शवाद को दूर से ही हाथ जोड़ देने में भलाई है। हमारे लिये वही आदर्शवाद ग्राह्य हो सकता है जिसकी नींव यथार्थ पर खड़ी होगी, अन्यथा नहीं।

यथार्थवाद के भी अपने गुण दोष हैं। इसमें यथार्थता, स्वाभाविकता, सरलता, सुस्पष्टता, मूर्तता और वर्तमान जीवन से प्रेम रहता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इनकी पूर्ति के लिए नग्न चित्रण का ही आश्रय लिया जाय। उसमें थोड़ा बहुत कल्पना का पुट आवश्यक है। कल्पना के अभाव में यह नीरस, अश्लील और अशान्ति का पोषक होकर पूर्णता अथवा औचित्य का विरोध करने लगेगा। यथार्थ में सत्य का स्वरूप अवश्य रहता है. परन्तु कटु सत्य

बहुधा भलाई में सहायक नहीं होता। यथार्थवाद से हमें केवल वस्तुस्थिति की वास्तविक दशा का ज्यों का त्यों ज्ञान होता है, न कुछ अधिक, न कुछ कम। उसमें जीवन का प्रत्यक्ष सत्य होता है, समाज की आर्थिक विषमता, शोषकों के अत्याचार, दासता, करुणा, क्षोभ-विक्षोभ सबका प्रभावक-संशोधक चित्र होता है, जैसे—

"श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।"

संक्षेप में यथार्थवाद के गुण और दोष निम्नलिखित हैं—

गुण—१—जीवन के प्रति यथार्थ, स्वाभाविक एवं वास्तविक दृष्टिकोण २—समाज की व्यवस्था की शक्तिशालिनी प्रतिक्रिया, ३—वर्णन में वस्तुओं की यथार्थता पर अधिक बल एवं स्पष्टता, ४—आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयत्न।

दोष—१—यथार्थवाद का दुष्प्रयोग, १—जीवन के हेय और अश्लील पक्ष का चित्रण, ३—गन्दे से गन्दे, समाज द्वारा निषिद्ध घोषित विषयों का अनुरागपूर्वक चित्रण, ४—अर्थ गाम्भीर्य या चमत्कार का अभाव।

आदर्शवाद के भी अपने गुण-दोष हैं। आदर्शवाद की संक्षिप्ततम व्याख्या करते हुए एक आलोचक ने लिखा है कि—आदर्शवाद आदिकाल से सामाजिक जीवन की मान्यताओं के निर्धारित स्वरूप का समावेश करा के उस पर दूसरों के चलने के लिए मार्ग प्रस्तुत करता है। आदर्शवादी पहले से ही एक निश्चित रेखा को अपना कर चलता है और यदि उसमें सामयिक कठिनाइयाँ सम्मुख आती हैं तो उनसे संघर्ष करने की अपेक्षा वह आत्म समर्पण कर देता है क्योंकि उसका ज्ञान दूसरों के जीवन पर अवलम्बित है। आदर्शवाद के गुण और दोष निम्नलिखित हैं।

गुण—१—भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव, २—सामन्जस्य, सुव्यवस्था, पूर्णता की ओर संकेत, ३—मार्गदर्शक, ४—जीवनोपयोगी सिद्धान्तों का प्रतिपादन, ५—दृढ़ता की देन।

दोष—१—पुरानी परिपाटी का अनुसरण, २—वर्तमान जीवन से सम्बंध विच्छेद, ३—अस्वाभाविकता से परिपूर्ण, ४—धार्मिक संकीर्णता का समावेश ५—स्वतन्त्रता की वद्धता।

उपर्युक्त गुण, दोषों एवं विशेषताओं के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य की पूर्णता के लिए इन दोनों वादों का सन्तुलित समन्वय अत्यन्त आवश्यक है। एक ही साहित्यकार आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों ही हो सकता है। किसी भी सफल कलाकार को दोनों ही वादों को लेकर

चलना आवश्यक है क्योंकि साहित्यकार यदि कोरे आदर्शवाद को लेकर चलता है तो लोक का उस पर विश्वास नहीं जमता, वह केवल स्वप्नलोक या स्वर्ग की बात हो जाती है, उस तक पहुँचने के लिए अपने को समर्थ नहीं पाता। अतः उसको छोड़ बैठता है। इसी प्रकार यदि कोई साहित्यकार कोरे यथार्थवाद का ही चित्रण करता है, तो मनुष्य के संकल्प और उन्नति की प्रवृति तथा सद्भावना को प्रेरणा नहीं मिलती। उसकी आत्मा को सन्तोष नहीं प्राप्त होता और समाज की अनेक समस्याओं का समाधान भी नहीं होता। अतः वह लोक का अधिक कल्याण नहीं कर सकता। इसलिए आवश्यक यही है साहित्य आदर्श और यथार्थ दोनों ही को अपनाकर चले। उसका भवन यथार्थ की नींव पर खड़ा हो, पर उसका विकास, प्रस्तार और ऊँचाई के लिए आदर्शवाद का विस्तृत और उन्मुक्त आकाश रहे। ऐसा साहित्य की सर्व जन सुलभ, सर्वमान्य और सर्वहितकारी हो सकता है। यहाँ आदर्शवाद से हमारा अभिप्राय यथार्थवादियों के उस आदर्शवाद से है जो प्रगति की प्रेरणा देता है, न कि कोरे स्वप्न देखने वाले उन आदर्शवादियों के आदर्शवाद से जो शेखचिल्लयों का स्वर्ग होता है।

———

३२—छायावाद

'छायावाद' हिन्दी-साहित्य की अत्यन्त समृद्ध, सौन्दर्यशालिनी एवं सशक्त कलात्मक धारा रही है। आज हिन्दी के साधारण पाठक के मन में इस धारा के प्रति विचित्र सा उदासीनतापूर्ण भाव है। इसका कारण यह है कि 'छायावाद' को हिन्दी के प्रारम्भिक आलोचकों द्वारा लांछना एवं तिरस्कार सहने पड़े थे। पुराने रूढ़िवादी आलोचक, जो साहित्य के पथ-प्रदर्शन का एकमात्र ठेका लिये बैठे थे, इस नवीन विद्रोही विचारधारा का स्वागत नहीं कर सके। उन्होंने एवं कुछ अधकचरे छायावादी कवियों ने छायावाद की ऐसी व्याख्यायें की जिससे हिन्दी-संसार आरम्भ में इसका मुक्त हृदय से स्वागत न कर सका। परन्तु जिसमें शक्ति होती है, प्राणबल होता है उसे आगे बढ़ने से कोई रोक नहीं पाता। छायावाद निरन्तर संघर्ष करता हुआ प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहा और अन्त में हिन्दी संसार को उसका लोहा मानना पड़ा। क्योंकि इस धारा को अपने प्राणों का सम्वल देकर आगे बढ़ाने वाले साहित्य के उपासक उच्चकोटि के प्रतिभासम्पन्न कलाकार, भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों एवं काव्य प्रणालियों के मर्मज्ञ और विरोध के सम्मुख आत्म समर्पण न कर उससे निरन्तर संघर्ष करने वाले मेधावी साहित्यकार थे।

एक प्रसिद्ध छायावादी कवि ने छायावाद पर लिखते हुये कहा था कि—"आज यदि सामाजिक बन्धनों के कारण एक नौजवान या नवयुवती अपने स्नेह पात्र को प्राप्त नहीं कर सकते और यदि वे वियोग और बिछोह के हृदय ग्राही गीत गा उठते हैं तो यह न समझिये कि केवल उन्हीं की वेदना है जो यों फैल पड़ी है—यह वेदना तो समूचे संस्कृत हृदयों का चीत्कार है······कवियों का प्रत्यक्ष में केवल आधिभौतिक दिखाई देने वाला दुखवाद वास्तव में आध्यात्मिक है—आज की कविता में रोदन और गायन का समन्वय हो रहा है।" कवि के इन्हीं 'वियोग और बिछोह' के हृदयग्राही गीतों को युग ने 'छायावादी काव्य' की संज्ञा से अभिहित किया।

एक अन्य आलोचक ने छायावादी कवियों की दशा का वर्णन करते हुए बंगला की एक पंक्ति उद्धृत की थी कि इनकी दशा यही थी—"रूपेर पाथेर आंखि डुबिया रहिल यौवनेर बने पथे मन हाराइल" अर्थात् रूप के जलधि में

आँखें डूबी रहीं और यौवन के वनपथ पर मन भटकता रहा । यदि 'छायावाद' यही था तो वे छायावादी कवि इस रूप और यौवन की साधना में इतने डूबे रहे कि संसार उन्हें विस्मृत हो उठा । इस काव्य में उनकी वेदना का रोदन गायन का सम्बल पाकर अश्रु सिक्त नयनों के समान करुण और सुन्दर रूप में प्रकट हुआ । परन्तु इस वेदना का प्रकटीकरण संसार को बिना भुलाये भी हो सकता था । फिर क्या कारण था कि इन मेधावी कलाकारों को, युग से मुख मोड़कर, केवल अपनी वेदना में ही डूबा रहने के बाध्य होना पड़ा । कवि समाज का प्रतिनिधि होता है । फिर इन कवियों ने समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भुलाकर केवल अपने ही वियोग और बिछोह के हृदय ग्राही गीत क्यों गाये ?

कहने को तो वे अपनी इस वेदना को 'समूचे संस्कृत हृदयों का चीत्कार' और साथ ही आध्यात्मिक भी मानते हैं परन्तु क्या अपने स्नेहपात्र को प्राप्त न करने पर उत्पन्न वेदना ही हमारी समूची संस्कृति का लक्षण है ? वास्तव में वे उसके व्यष्टि रूप को झुठलाकर उसे समष्टि का रूप देने की आत्मवंचना कर रहे हैं । यह छायावाद के विषय में एक दृष्टिकोण है जिसमें उसके केवल एक ही पक्ष को महत्व देते हुये आंशिक सत्य का प्रतिपादन किया गया है । ऐसी ही व्याख्याओं के कारण छायावाद को लांछित होना पड़ा था । अतः छायावाद के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये उसके मूल में कार्यरत युग की परिस्थितियों को समझना सबसे पहले जरूरी है ।

छायावाद-काव्य की उत्पत्ति के मूल कारणों का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि—"राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधार की दृढ़ नैतिकता, असन्तोष और विद्रोह (बन्धन-मुक्ति) की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी; निदान वे भावनाएँ अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रहीं थीं और वहाँ से क्षतिपूर्त्ति के लिये छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं ।...आशा के इन्हीं स्वप्नों और निराशा के छायाचित्रों की समष्टि का ही नाम छायावाद है ।"१ डा० नगेन्द्र की परिस्थितियों की यह व्याख्या फ्रॉयडियन यथार्थवादी सिद्धान्त पर आधारित है । वे सम्पूर्ण साहित्य में इसी का प्रभाव देखते हैं । उन्होंने एक स्थान पर और लिखा है कि—"सामयिक परिस्थितियों के अनुरोध से जीवन से रक्त और माँस ग्रहण न कर सकने के कारण वह एक तो वांछित शक्ति का संचय नही कर पायी, दूसरे एकान्त अन्तर्मुखी हो गई । इस प्रकार

१—**विचार और अनुभूति—डा० नगेन्द्र,**

उसके आविर्भाव में मानसिक दमन और अतृप्तियों का बहुत बड़ा योग है, इसको कैसे भुलाया जा सकता है।"१

उपर्युक्त पंक्तियाँ डा० नगेन्द्र ने महादेवी की कविता की विवेचना करते हुए लिखीं हैं। आपकी दृष्टि समस्त काव्य एवं ललित कलाओं में अतृप्त काम वासना और मानसिक कुण्ठा का ही प्रतिफलन देखती है। उन्होंने आगे इस बात को स्पष्ट रूप में कह भी दिया है—"और वास्तव में सभी ललित-कलाओं के, विशेषतः काव्य के, और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के मूल में, अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिये स्थान नहीं है।"२ प्रथम पृष्ठ पर दिये गये छायावादी कवि के उस उद्धरण और नगेन्द्र जी की इस व्याख्या में बहुत समानता है। इसी प्रकार की व्याख्याओं के कारण ही छायावाद पर अशरीरी अनैतिकता का आरोप लगाया जाता है। यह परिस्थिति को देखने का एकांगी दृष्टिकोण है।

यह सत्य है कि छायावादी कवि बहिजगत की शून्यता और रिक्तता से त्रस्त होकर अपने अन्तर्जगत में ही सन्तोष के उपकरण ढूँढ़ने लगा था। इसका कारण युग की सीमाएं थीं जिन्होंने कवि को अन्तर्मुखी बनने पर बाध्य किया। इससे अनायास ही उसकी संवेदना वैयक्तिक हो उठी और उसकी कल्पना बौद्धिकता के रंग में सराबोर हो गई परन्तु इसके मूल में परम्परा और रूढ़ि के प्रति विद्रोह की भावना सर्वोपरि थी। तत्कालीन भारतीय जीवन के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में जो नवीन जागृति हुई, वह समसामयिक परिस्थितियों की विषमता के कारण क्षणभर के लिये स्तब्ध रह गई। इससे कवि कल्पनाशील बन गया। इस विषमता के कारण अतृप्ति, अवसाद और वस्तु-जगत की उपेक्षा की जो भावना उस युग की कविता में व्यक्त हुई, उसमें वस्तु और विधान दोनों दृष्टियों से रूढ़ि और परम्परा के विरुद्ध विद्रोह का भाव छिपा हुआ था। इसलिए द्विवेदी युग की सभी नैतिकतावादी साहित्यिक मान्यताओं को ध्वस्त करके एक सर्वथा नवीन शैली—जीवन के प्रति एक नूतन दृष्टिकोण उपस्थित करने में छायावाद पूर्णतया सफल हुआ।

जब हम आधुनिक ऐतिहासिक विकास-क्रम को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद की उत्पत्ति द्विवेदी कालीन स्थूलता के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कदापि नहीं था जैसा कि महादेवी वर्मा ने माना है। क्योंकि छायावादी भावनाएं इस युग के प्रारम्भ से ही पनपती हुई दिखाई देती हैं। इसके मूल में स्वच्छन्दतावादी विचारधारा का प्रवर्त्तन पं० श्रीधर पाठक पहले ही कर चुके

१—'दीपशिखा' डा० नगेन्द्र
२—वही

थे। उन्होंने उस काव्यगत विद्रोह का श्रीगणेश कर दिया था जिसे छायावादियों ने बाद में पूर्णता को पहुँचाया। आचार्य शुक्ल उन्हें ही सबसे प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि मानते हैं। शुक्ल जी के शब्दों में—"उन्होंने खड़ी बोली गद्य के लिये सुन्दर लय और उतार-चढ़ाव के कई नये ढाँचे भी निकाले", तथा, "उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत भी किया जिसके ताल-स्वर पर यह सारा विश्व नाच रहा है।" इन्हीं प्रवृत्तियों का पूर्ण परिपाक छायावादी काव्य में आगे चलकर मिलता है। इस प्रकार पाठक जी इस नवीन काव्य की भूमि की ओर संकेत कर गये थे। पाठक जी पर अंग्रेजी रोमान्टिक कवियों का प्रभाव कार्य कर रहा था। इस प्रकार द्विवेदी-युग के प्रारम्भ से ही हिन्दी-काव्य में परम्परा एवं रूढ़ियों के प्रति एक अस्पष्ट विद्रोह की भावना जोर मार रही थी जो आगे चल कर पूर्ण रूप से विकसित हुई।

द्विवेदी-युग के काव्य में नैतिक बुद्धिवाद की प्रधानता थी जिसके कारण उसमें प्रेम और श्रृङ्गार का डट कर विरोध हुआ। द्विवेदी युगीन काव्य की चरम परिणति 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' की नीरसता में, संवेदनहीन वर्णनों और संस्कृत पदावली के प्रति झुकाव के रूप में देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त भारत-भारती की देश-भक्ति में हृदयतत्व की अपेक्षा बुद्धितत्व की तथा प्रिय-प्रवास एवं साकेत में नैतिकता की प्रधानता है। एक प्रकार से द्विवेदी युग की कविता को हम 'पद्यात्मक वक्तव्य' या काव्य-गद्य (Poetic Prose) कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि द्विवेदी जी का आदर्श संस्कृत और मराठी का काव्य था। इससे उसमें पद्य गद्य बन गया। वह जीवन के निकट तो आया मगर जीवन के रस से सिक्त नहीं हो पाया। द्विवेदी युग सन् १९०० से १९२१ तक माना जाता है।

द्विवेद-युग में ही कई ऐसे कवि उठ खड़े हुए जिन्होंने द्विवेदी जी द्वारा प्रेरित पद्य की नीरसता के स्थान पर उसमें सरसता लाकर उसे अपनी संवेदनाओं से सिक्त कर मनोहारी बना दिया। उन्होंने द्विवेदी युग की गद्यात्मक (अभिधा प्रधान) कविताओं के स्थान पर नवीन अनुभूतियों से युक्त ऐसी कविता का सृजन किया जो शैली में भी नितान्त भिन्न थी। उन्होंने रीतिकालीन छन्दों के विरुद्ध आवाज उठा कर उसे 'वासना का काव्य' घोषित किया। उन्होंने भाव, भाषा, छन्द आदि सभी क्षेत्रों में नवीनता का प्रतिपादन किया।

इस प्रकार यह नवीन छायावादी प्रवृत्ति द्विवेदी-युगीन काव्य के विरोध में उत्पन्न न होकर उसके समानान्तर, अपना पृथक् अस्तित्व रखते हुए, विकसित हो रही थी। द्विवेदी-युगीन काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आदर्श-

वादी होते हुए भी वह मानवता की पृष्ठभूमि पर खड़ा था। उसने 'अवतारों' को एक महामानव के रूप में चित्रित कर उन्हें जनता के निकट ला दिया था। राम और कृष्ण देश, जाति एवं समाज के कर्मठ उद्धारक के रूप में चित्रित किए गये थे। सर्वत्र सुधारों की गूँज थी। भारत-भारती में भारत के अतीत का गौरव गान करते हुए वर्तमान की उससे तुलना कर राष्ट्रीयता की भावना जागृत की गई थी। किन्तु यह काव्य केवल नैतिक मूल्यों के चित्रण में ही रत रहा। यह नीरस शब्द-व्यंजना से ऊपर न उठ सका। उसमें काव्य की कोमलता के स्थान पर गद्य की स्थूलता की प्रधानता रही। छायावाद में द्विवेदी-युगीन सुधार की भावनाएँ अधिक उन्नत एवं काव्यमय रूप में आगे बढ़ीं। उसमें मानवता का शंखनाद किया गया। राष्ट्रीयता की भावना अधिक उन्मेष के साथ आगे आई। जागृति का संगीत मुखरित हो उठा।

हिन्दी के प्रखर आलोचक डा० रामविलास शर्मा भी छायावाद में स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की प्रतिक्रिया नहीं मानते। वे इसमें विद्रोह की भावना को ही प्रमुख मानते हैं। उनका कथन है—"छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्तो-साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है। परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्वावधान में हुआ था। इसीलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई है।"

हम ऊपर कह आए हैं कि छायावादी काव्य में एक विद्रोह की भावना थी। परन्तु यह विद्रोह प्रगतिवाद के समान सामूहिक विद्रोह न होकर व्यक्तिगत विद्रोह था। इसके कारण काव्य क्षेत्र में नई उद्भावनाएँ अवश्य हुईं परन्तु व्यक्तिपरकता के कारण भारतीय समाज और व्यक्ति के बीच व्यवधान और विरोध को वाणी मिली। रीतिकालीन काव्य भी समाज से पूर्णतः तटस्थ था। वह भी एक प्रकार से व्यक्ति-केन्द्रित काव्य था। इसी से कुछ आलोचक छायावादी काव्य को रीतिकालीन शृङ्गार-परक काव्य का आधुनिक कलात्मक संस्करण मानते हैं। परन्तु यह धारणा भ्रमात्मक है। रीतिकालीन काव्य अधिकांशतः घिसा-पिटा एवं संस्कृत की जूठन मात्र था। उसमें चमत्कार के अतिरिक्त न तो व्यक्ति की ही भावनाएँ अभिव्यक्त हुईं और न समाज का ही चित्रण हुआ। उसके विपरीत छायावादी काव्य एक सर्वाङ्गीण विरोध को लेकर आगे बढ़ा और उसने हिंदी काव्य में एक नई चेतना भर दी। उसमें मानव, राष्ट्र एवं प्रकृति के प्रति प्रेम प्रधान रहा। यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति समस्ततः इतने स्पष्ट रूप में न हो सकी जो सब की समझ में आ जाती। इसका

कारण विदेशी टेकनीक का प्रयोग एवं काव्य में स्वानुभूति की व्यंजना की भावना ही प्रमुख रही।

छायावादी काव्य की सबसे बड़ी निर्बलता उसकी अत्यधिक व्यक्ति-परकता ही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि "बीसवीं शताब्दी की द्वितीय दशाब्दी के उपरान्त की हिन्दी कविता जाति अथवा महत्वपूर्ण आदर्श या उपास्य व्यक्तियों के सुख-दुख की कहानी न बनकर व्यक्ति के सुख-दुःख की कहानी ही अधिक रही।" कवियों की अपने में ही सीमित रहने की इस लालसा ने उन्हें समाज के प्रति विरक्त बना दिया। विषय वस्तु के लिए उन्होंने बाह्य-जगत की उपेक्षा कर अपने मन के भीतर झाँकना प्रारम्भ कर दिया। जीवन संघर्ष से भयभीत हो वे अन्तर्मुखी बन बैठे। इसी कारण उनकी वाणी में युग की वेदना मुखरित न होकर स्वयं अपनी ही वेदना व्यक्त हुई। परिणामस्वरूप वे समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भूल रूप-जलधि और यौवन के वन-पथ पर भटकते रहे। काव्य जीवन से हटकर व्यक्ति में केन्द्रित हो गया। परन्तु उनके इस भटकने में एक अद्‌भुत तन्मयता, एक सुन्दर कला और एक अपूर्व लावण्य था जिसने हिन्दी कविता को कला के उच्चतम शिखर पर ला बैठाया।

कवि समाज का अङ्ग होता है। उस पर परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता रहता है। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि उसके काव्य में प्रतिबिम्बित होने वाली भावनाओं का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह समाज की भावनाओं को ही अपनी स्वानुभूति के बल पर व्यक्त करता है। छायावाद में वेदना, करुणा, अतृप्ति, मानव-प्रेम, प्रकृति-प्रेम आदि की जो भावनाएँ व्यक्त हुई हैं वे परिस्थितियों की ही उपज थीं। समाज के बन्धन, स्वच्छन्द-प्रेम, जो मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, की आज्ञा नहीं देते थे। इसलिए कवि कल्पना में ही उसकी तृप्ति खोजते रहे। उनका विद्रोह अन्तर्मुखी अधिक हो उठा। समाज की विषम दशा ने उनके हृदय में करुणा एवं वेदना उत्पन्न की जो मानव-मात्र के प्रति प्रेम एवं कल्याण की भावना में व्यक्त हुई। प्रकृति का उन्मुक्त रूप उन्हें प्रिय लगा इसलिए उन्होंने प्रकृति के सौंदर्य में अपने को डुबा कर अपने हृदय की सौंदर्य की भावना को मुखरित किया। काव्य का प्रचलित रूप उन्हें रूढ़िवादी लगा इसलिए उसमें उन्होंने नये परिवर्तन कर उसे सुन्दर, भव्य एवं मनोरम बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने कर्त्तव्यों को केवल यहीं तक सीमित माना। परन्तु यह उनका कवि रूप ही था। छायावादी कवियों ने जो गद्य लिखा है वह उनके काव्य से भिन्न है। प्रसाद, महादेवी और निराला का गद्य-साहित्य देखिए। उसमें समाज यथार्थ रूप से चित्रित हो उठा

है। फिर यह कैसे माना जाय कि ये छायावादी कलाकार समाज के प्रति उदासीन थे। उनके कथा-साहित्य एवं निबन्धों में वर्तमान की समस्याएँ चीत्कार कर रही हैं।

छायावादी काव्य का मूल्याङ्कन करने में सबसे बड़ी त्रुटि यह रही है कि आलोचकों ने उनके साहित्य को सम्पूर्ण रूप में न देखकर उसे खण्ड-खण्ड करके देखा है। इसी कारण छायावाद को इतनी लांछना सहनी पड़ी और तिरस्कृत होना पड़ा।

छायावादी काव्य में जो असन्तोष अभिव्यक्त हुआ है उसे न देख पाकर आलोचक केवल उसमें अतृप्ति एवं वेदना को ही देख पाते हैं। इसका कारण यह है कि उनका दृष्किोण सीमित एवं एकाङ्गी होता है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा छायावाद की अब तक निम्नलिखित परिभाषायें बन चुकी हैं—१—जो समझ में न आवे वह छायावाद है; २—रहस्यवाद का ही पहला रूप छायावाद है; ३—छायावाद लाक्षणिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधानों और अमूर्त्त उपमानों को लेकर चलने वाली एक शैली है; ४—प्रकृति में मानवीय अथवा ईश्वरीय भावों के आरोप को ही छायावाद कहते हैं; ५-रहस्यवाद का ही दूसरा नाम छायावाद है; ६—स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद है; ७—यह यूरोपिय रोमाण्टिसिज्म का भारतीय संस्करण है। उपर्युक्त परिभाषाओं में से एक भी ऐसी नहीं जो छायावाद पर वास्तविक और पूर्ण रूप से प्रकाश डाल सके। ये सभी एकाङ्गी हैं। न्यूनाधिक मात्रा में उपर्युक्त सभी लक्षण छायावाद में मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग इसे भारतीय परम्परा का विकास मानते हैं तथा कुछ इस पर विदेशी साहित्य का गहरा प्रभाव मानते हैं।

आचार्य शुक्ल ने छायावाद की विवेचना करते हुये लिखा है कि—"छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिये। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध कथावस्तु से होता है अर्थात् कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है।" इस प्रकार छायावाद के प्रति दो प्रकार के दृष्टिकोण बन गये हैं—आध्यात्मिक और शैलीगत। शैलीगत दृष्टिकोण के सम्बन्ध में प्रायः सभी आलोचक एक मत हैं कि इसमें भाषा की लाक्षणिकता एवं प्रतीकवादी शैली को अपनाया गया है। परन्तु कुछ आलोचक छायावाद में आध्यात्मिकता को स्वीकार करते हैं और कुछ इस बात को नहीं मानते। इन दोनों दृष्टिकोणों को समझने के लिये विभिन्न मतों को समझना आवश्यक

है। नीचे कुछ छायावादी कवियों एवं छायावाद के आलोचकों के मत उद्धृत किये जाते हैं जो छायावाद में आध्यात्मिकता का पुट आंशिक या पूर्ण रूप में मानते हैं—

रामचन्द्र शुक्ल—"रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएँ पहुँचे हुये पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुसरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। उस रूपात्मक आभास को यूरोप में 'छाया' कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे।

महादेवी वर्मा—"छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद में है।

गुलाबराय—"छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बतलाकर एकात्मवाद की पुष्टि करते हैं।"

डा० रामकुमार वर्मा—"आत्मा व परमात्मा का गुप्त वाग्विलास रहस्यवाद है और यही छायावाद।"

नन्ददुलारे वाजपेयी—"नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"

शान्तिप्रिय द्विवेदी—"जिस प्रकार मैटर ऑफ फैक्ट (इतिवृत्तात्मकता) के आगे की चीज छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद से आगे की चीज रहस्यवाद है।"

गंगाप्रसाद पाण्डेय—"छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।······जिस प्रकार छायावाद स्थूल वस्तुवाद के आगे की चीज है, उसी प्रकार रहस्यवाद छायावाद के आगे की चीज है।

उपर्युक्त सभी विद्वान् छायावाद में आध्यात्मिकता का स्थान मानते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो छायावाद में आध्यात्मिकता का स्थान किसी भी रूप में मानने को प्रस्तुत नहीं।

डा० नगेन्द्र—"कोई आध्यात्मिक प्रेरणा छायावाद के मूल में है—यह मानना भ्रान्ति होगी।"

प्रसाद—"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य-वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूति-

मयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।"

डा० देवराज—"आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह है।"

विद्वानों के उपर्युक्त दोनों वर्ग एक दूसरे के विरोधी हैं—छायावाद का आध्यात्मिकता से सम्बन्ध मानने के विषय में। आचार्य शुक्ल, महादेवी वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, गंगाप्रसाद पांडेय आदि छायावाद और रहस्यवाद में विशेष अन्तर नहीं मानते। वाजपेयीजी छायावाद में आध्यात्मिकता का पूर्ण पुट मानते हैं। आपने महादेवी वर्मा के काव्य-संग्रह की विवेचना करते हुए 'यामा का दार्शनिक आधार' नामक निबन्ध में लिखा है कि—"मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिये। इस व्याख्या में आये "सूक्ष्म" और 'व्यक्त' इन अर्थ-गम्भीर शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नहीं ले सकेंगे।" यदि वाजपेयी जी की इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाय तो 'कामायनी' भी छायावादी रचना नहीं ठहरती।

छायावादी काव्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त दोनों वर्गों के विद्वानों के दृष्टिकोण अतिवादी हैं। नवीन आशा एवं जीवन की कुण्ठाओं से ऊबा हुआ एकान्त का आग्रही कलाकार क्या आध्यात्मिक चिन्तन का स्पर्श नहीं करेगा? छायावाद की प्रारम्भिक रचनाओं में यद्यपि इसका प्रभाव नहीं है परंतु बाद की रचनाओं में आध्यात्मिकता का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है यद्यपि उनकी मूल प्रेरणा वह नहीं है। कवि इस पद्धति को अपनाकर रहस्यवादी की भाँति आध्यात्मिक विवेचन उपस्थित कर किसी उपासना पद्धति का निर्माण नहीं करना चाहता। इसी कारण वाजपेयी जी इसे प्राचीन अध्यात्म से भिन्न मानते हैं क्योंकि प्राचीन अध्यात्म की मूल प्रेरणा धार्मिक है जबकि इस की मानवीय एवं सांस्कृतिक है जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं।

डा० नगेन्द्र ने छायावाद की विवेचना करते हुए उसके विषय में प्रचलित तीन भ्रान्तियों का भी उल्लेख किया है—

(१) जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर न मानने के कारण है। छायावाद बौद्धिक है, साधनात्मक नहीं।

(२) छायावाद और यूरोपिय रोमान्टिसिज्य को एक मानना। रोमांटि-

सिज्म के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। इस कारण वह अधिक ठोस, मूर्त्त एवं आशा और स्वप्न से परिपूर्ण थी। उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। इसके विपरीत छायावाद असफल सत्याग्रह से उत्पन्न हुआ था। वह अधिक अन्तर्मुखी और वायवी था।

(३) छायावाद को एक शैली मानना जैसा कि शुक्लजी ने माना है।

उपर्युक्त भ्रान्तियों का विवेचन करते हुए आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है: जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।" इसी विचार-पद्धति को आप तत्वतः तो सर्वात्मवादी मान लेते हैं परन्तु इसे ही मूल प्रेरणा नहीं मानते। आप इसे कुण्ठा की प्रेरणा से उत्पन्न काव्य मानकर उसे विश्व काव्य की द्वितीथ श्रेणी में स्थान देते हैं। क्योंकि कुण्ठाजन्य साहित्य प्रथम श्रेणी का नहीं होता।

कुछ आलोचकों ने छायावाद को यूरोपीय रोमान्टिसिज्म से अत्यधिक प्रभावित मानकर इसे उसका भारतीय संस्करण तक घोषित कर दिया है और जिसे नगेन्द्रजी उनकी भ्रान्ति मानते हैं। रोमान्टिक कवि समाज, धर्म, साहित्य, राजनीति सब में क्रान्ति चाहता है और एक अद्वितीय स्वप्न लोक की सृष्टि कर उसमें शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने का इच्छुक है। विश्व के संघर्ष से वह दूर भागता है। सामाजिक बन्धनों के कारण स्वच्छन्द प्रेम के लिये अवकाश न रहने पर वह अपनी अतृप्त वासना को काव्य में सांकेतिक अभिव्यक्ति देता है जिसे डा० नगेन्द्र असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम बताते हैं। प्रकृति उसकी सहचरी का काम देती है। वह उसे संवेदनशील सजीव प्राणी के रूप में मानना है। कभी-कभी तो प्रतीकों से ही अपनी बात कह देता है। उसे जड़चेतन में एक ही भाव सूत्र पिरोया हुआ जान पड़ता है। यहाँ वह सर्वात्मवादी हो जाता है। उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है और भावनाएँ सूक्ष्म। अपना व्यक्तित्व ही उसका केन्द्र होता है।

अतः हम छायावाद को एक ऐसी काव्य-धारा सकते हैं जिसके भाव पक्ष में व्यक्तिवाद, अतृप्त प्रेम, निराशा और वेदना, प्रकृति का मानवीकरण और तादात्म्य, सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति, जिज्ञासात्मक रहस्य-भावना आदि बातें मिलती है और भावपक्ष की इस नवीनता के कारण जिसके कलापक्ष में नवीन छन्द-विधान, नवीन अलङ्कार-विधान, लाक्षणिक शब्दावली और प्रतीकों का प्रयोग होता है। दोनों पक्षों की ये विशेषताएँ बहुत अधिक अंशों तक रोमांटिक काव्य और छायावादी काव्य दोनों में ही मिल जाती हैं। इस प्रकार उप-

युंक्त तीनों भ्रान्तियों का खंडन हो जाता है। डा० नगेन्द्र इन तीनों भ्रान्तियों को तो मानते हैं परन्तु उस चौथी भ्रान्ति को नहीं स्वीकार करते जिसके जनक वे स्वयं हैं। वह भ्रान्ति है डा० साहब द्वारा छायावाद को 'अहं का कलात्मक विस्फोट एवं रुद्ध वासनाओं का स्वच्छन्द प्रवाह' मानना। जैनेन्द्र जी भी इसी मत के समर्थक हैं। यहाँ उन पर फ्रायड का प्रभाव बोल रहा है जिसकी आलोचकों द्वारा काफी दुर्गति हो चुकी है। वास्तव में छायावाद शुद्ध रूप से न तो आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है, न यूरोपीय रोमान्टिसिज्म का भारतीयकरण है, न वासनाओं और अहं का विस्फोट है, न केवल पलायनवाद है और न एक शैली मात्र है। वरन इसमें थोड़े-बहुत रूप में उपर्युक्त सभी तत्व मिल जाते हैं। इसमें प्रधानतः स्वानुभूति में 'परोक्ष' सत्ता का आभास रहता है और प्रकृति पर चेतना का आरोप भी। साथ ही इसकी शैली उपचार वक्रता और प्रतीकात्मकता को लेकर चलती है। इन्हीं विशेषताओं को लक्ष्य कर प्रसादजी ने छायावाद के वेश विन्यास पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।"[1]

इस छायावादी काव्य में तीन बातें ऐसी थीं जिसने इसे अपने पूर्ववर्ती या समसामयिक अन्य काव्य धाराओं से पूर्णतः पृथक कर एक सर्वथा नवीन रूप दिया। वे तीन बातें हैं (१) अज्ञात सत्ता और उसके प्रति प्रेम एवं आत्मसमर्पण, (२) नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण, (३) प्रकृति। इन कवियों ने इन तीनों बातों का चित्रण प्रकृति के माध्यम से किया। इसमें नारी, प्रकृति और परोक्ष सत्ता इतने घुले-मिले हुए हैं कि सर्वत्र उन्हें पृथक करना कठिन है। इन तीनों के माध्यम से यह काव्य सम्पूर्ण मानव-जीवन एवं चिंतन को समेटकर चला है। इस काव्य में प्रकृति के प्रति प्रेम, तन्मयता और तीव्र मिलनाकांक्षा का स्वर सब से ऊपर रहा है। प्रकृति को इन कवियों ने सर्वत्र नारी रूप में ही देखा है। प्रकृति के माध्यम द्वारा, इन्होंने अपनी सौन्दर्य भावना शृङ्गार अथवा प्रेम की भावना एवं जीवन दर्शन को व्यक्त किया है। प्रकृति के ही कारण इस काव्य में सौन्दर्य और करुणा का विचित्र समन्वय मिलता है।

इस प्रकार हम छायावादी काव्य की प्रधान प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित पाते हैं—(१) सौन्दर्य भावना, (२) शृङ्गार भावना, (३) प्रकृति प्रेम, (४) वैयक्तिकता, (५) करुणा की विवृत्ति, (६) अज्ञात के प्रति प्रेम, (७) नारी का नया रूप, (८) जीवन दर्शन, (९) शैली में क्रान्ति। इनमें से सौन्दर्य-भावना,

---

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—प्रसाद

शृङ्गार भावना, प्रकृति प्रेम एवं अज्ञात के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से हुई है। नारी विषयक दृष्टिकोण ने भी अनेक स्थलों पर प्रकृति का आलम्बन लिया है। अतः सबसे पहले हम छायावादी प्रकृति पर ही विचार करेंगे।

छायावादी कवियों ने सर्वत्र प्रकृति के ही माध्यम से अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण कर उसे हमारी भावनाओं का प्रतीक बनाकर उपस्थित किया है। इस कारण कुछ विद्वान प्रकृति के मानवीकरण या उस पर मानव व्यक्तित्व के आरोप को ही छायावाद का प्राणतत्व मानते हैं। द्विवेदी युग में आकर सर्वप्रथम प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया गया। इसके पूर्व तो वह प्रायः उद्दीपन के रूप में ही चित्रित होती आई थी। छायावादी कवि नागरिक जीवन की कटुता एवं निराशा से ऊबकर Back to Nature का नारा लगाने लगे। प्रकृति का भव्य रूप सदैव से मानव के मन में रहस्य की सृष्टि करता आया है। वही इन कवियों के साथ हुआ। छायावाद के प्रारम्भिक कवियों में प्रकृति का रूप प्रायः रहस्यात्मक रहा परन्तु बाद के कवियों में प्रकृति के कई रूप चित्रित हुए। (१) वीथिका रूप में निराशावाद और सुखवाद के रूप में, (२) रहस्यवादी सत्ता के रूप में, (३) मानव की भाग्य विधायिनी सत्ता के रूप में, (४) उपमा उत्प्रेक्षा के रूप में, (५) स्वतन्त्र रूप में तथा [६] दार्शनिक ऊहापोह के रूप में। संक्षेप में छायावादी कवियों की सारी दृष्टियों, शैलियों एवं सम्पूर्ण वाग्भंगिमाओं को प्रकृति ने रंग दिया।

छायावादी काव्य में सर्वत्र सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्य के प्रति व्याकुलता की भावना व्यक्ति हुई है। उसने प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य की स्थापना की है। मनुष्य का सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा उनका आकर्षण आन्तरिक सौन्दर्य के प्रति अधिक होता है। छायावादियों के दो विषय अत्यन्त प्रिय रहे हैं—प्रेम और सौन्दर्य। दोनों का आपस में गहरा सम्बन्ध है। इनका प्रेम अपार्थिव रहा है और सौन्दर्य प्रधानतः वासना-प्रधान। नैतिकता प्रधान द्विदेदी-युग में काव्य-रचना करने के कारण ये कवि कली, लता, बिजली आदि प्राकृतिक वस्तुओं में 'रति' भाव भरकर चले हैं। निराला की 'शेफाली', 'जुही की कली' आदि कविताओं में स्वस्थ, सबल एवं उन्मुक्त रति भावना का चित्रण हुआ है। इसी बात को लक्ष्य कर शुक्लजी ने छायावाद में 'कायिक भावनाओं का प्रच्छन्न पोषण' होने की बात कही थी।

ये कवि सुन्दर रूपों में खो गए थे। सुन्दर रूपों के प्रति इनका उत्साह

अपार था। यूरोप के सौन्दर्यवादियों की तरह ये इन्द्रिय सुख के पीछे पड़े हुए थे। इन कवियों का आग्रह उत्तमोत्तम आदर्श-सौन्दर्य की सृष्टि की ओर था। इनके लिए जैसे संसार में 'असुन्दर' का अस्तित्व ही नहीं रहा था। इसी कारण इन्हें रोमान्टिक और पलायनवादी कहा जाने लगा। क्योंकि इनकी सौंदर्य की कल्पनात्मक अनुभूति हमारे प्रतिदिन के परिचित जीवन से भिन्न थी। पन्त और रामकुमार वर्मा पूरी तरह से सौन्दर्यनिष्ठ कवि (Aesthate) बन गये। इन्होंने अलौकिक शृङ्गार में भी अतीन्द्रियता भर दी जिससे इन पर अशरीरी भावनाओं को अपनाने का आरोप लगाया गया। यह सौन्दर्य-भावना रीतिकालीन स्थूल सौन्दर्य-भावना से पूर्णतः भिन्न थी।

परन्तु छायावादी कवियों को सौन्दर्य का यह आकर्षण अधिक देर तक लुभाए न रख सका। उन्होंने समाज और बूर्जुआ सभ्यता में जो कुछ सुन्दर सभझ रखा था वह लुप्त होता चला जा रहा था इसलिए उन्होंने सौंदर्य की क्षणभंगुरता का अनुभव किया और इससे उनके हृदय में करुणा उत्पन्न हुई। यह दुःख कहीं आध्यात्मिक होकर और कहीं लौकिक रूप में प्रकट हुआ है। केवल निराला ही इस वर्ग में ऐसे कवि रहे हैं जो दुख से प्रभावित नहीं हो सके। उन्होंने निरन्तर संघर्ष किए हैं इसलिए उनके काव्य में करुणा एवं दुख से उत्पन्न निराशा के स्थान पर एक स्वस्थ आशा के दर्शन होते हैं। प्रसाद का 'आँसू' दुःख एवं करुणा का काव्य कहा जाता है। परन्तु इस काव्य के अन्त में उन्होंने जो आशा का सन्देश दिया है वह इस भावना को अधिक देर तक नहीं ठहरने देता। पन्त एवं महादेवी में करुणा अवश्य गहन रूप में प्रकट हुई है। लेकिन वहाँ भी उसका आधिक्य होते हुए भी आशा का सन्देश मिलता है।

करुणा के इसी आधिक्य ने इन कवियों को व्यक्तिवादी बना दिया। वे सारे संसार से मुँह मोड़ कर अपने ही हास-अश्रु को व्यक्त करने लगे। 'बच्चन' में इस वैयक्तिक भावना को चरम विकास मिला। इसी कारण कुछ आलोचक इस काव्य में वैयक्तिकता का प्राधान्य मानते हैं। स्वच्छन्द रूप से समाज में व्यक्त न की जा सकने वाली भावनाएं प्रकृति की कल्पनाओं के साथ काव्य में व्यक्त हुईं। इन कवियों का आध्यात्मिक दुखवाद अपनी अन्यतम गहराइयों तक पहुँच गया। इससे इन्हें अपनी एकान्तता का अनुभव हुआ और जीवन शून्य प्रतीत होने लगा। ये परिस्थितियों से भागकर स्वयं में ही केन्द्रित हो गए। उस वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण ये कवि सांसारिकता से निराश होकर आदर्श की ओर उन्मुख हुए। यही आदर्शोन्मुख भावना उन्हें आध्यात्म की ओर ले गई। इन कवियों ने जितना 'निजता' का बखान किया

उतना साहित्य में और किसी भी काल में नहीं हुआ था। इसी वैयक्तिकता के ही कारण छायावादी काव्य में विषाद का स्वर इतना उभर कर आया है। प्रसाद, महादेवी, पंत आदि में इस विषाद की विवृत्ति अत्यन्त गहन रूप में स्पष्ट हुई है। इसी सौन्दर्य प्रेम, वैयक्तिकता, करुणा एवं विषाद की भावना ने ही छायावाद में अस्पष्टता उत्पन्न कर दी है।

उपर्युक्त सौन्दर्य भावना, वैयक्तिकता, करुणा एवं विषाद की भावना ने ही छायावाद के अन्तरंग में एक तीव्र अतृप्ति और असन्तोष की भावना भर दी थी। ये कवि बहिजगत की भीषणता से त्रस्त होकर उससे एक तटस्थता का भाव रखकर अपने कल्पना लोक में जा बैठे। परन्तु अन्तर्जगत का सीमित क्षेत्र भी उन्हें सन्तोष न दे सका। उन्होंने अपनी शान्त विह्वलता का रूप प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र में देखा। प्रकृति उनके लिए जायसी की प्रकृति की तरह संवेदनशील बनकर आई। उन्होंने प्रकृति में अपनी अतृप्ति और अवसाद, करुणा और वेदना, रोमांस और रहस्य भावना के दर्शन किए। अन्तर्मुखी जीवन दर्शन के कारण ही इस काव्य में अन्विति का अभाव दिखाई पड़ा। यह जीवन संघर्ष से पलायन की भावना के कारण ही था। छायावाद की इस प्रवृत्ति ने हमें एक स्वस्थ सृजनात्मक जीवन-दर्शन भले ही न दिया, किन्तु उसने हमारी मौलिक विद्रोह भावना को उत्तेजना अवश्य दी जो निर्बल थी।

परन्तु यह छायावाद का एक पक्ष है जिसमें उपर्युक्त प्रवृत्तियों की प्रधानता मिलती है। छायावाद का दूसरा उज्ज्वल पक्ष वह है जिसमें मानवता का संदेश सबसे ऊपर उभर कर आता है। हम ऊपर कह आये हैं कि छायावादी कवि रवीन्द्रनाथ से प्रभावित थे। इस कारण कवीन्द्र का 'विश्व-बन्धुत्व' पर आधारित मानवतावाद का प्रभाव इन लोगों पर भी पड़ा था। ये अपने काव्य में 'मानव मात्र समान है' यह पुकार लेकर चले थे। प्रसाद की 'कामायनी' एवं निराला के 'तुलसीदास' में यही सन्देश प्रधान है। क्या कामायनी के 'आनन्दवाद' को हम 'पलायनवाद' या निराशा का प्रचारक कह सकते हैं। प्रसाद, निराला, पन्त आदि छायावाद के प्रतिष्ठापक एवं पोषक कवियों में राष्ट्रीय पुनरुद्धार की भावना अत्यन्त मुखर होकर आई है। मानव प्रेम, करुणा, असाम्प्रदायिकता, उदारता, विश्व-बन्धुत्व, राष्ट्रीय जागरण आदि भावनाओं के साथ भावुकता, कल्पना एवं प्रकृति में चेतना के दर्शन करने की प्रवृत्ति ने हमारे रागात्मक सम्बन्ध में अभिवृद्धि की है। इसमें 'सुधार' का स्वर द्विवेदी काव्य के समान स्पष्ट न होकर प्रच्छन्न रूप में आया है। इसका दृष्टिकोण सामूहिक न होकर व्यक्तिगत अधिक है। सभी वैयक्तिकवादी कवि

बच्चन की तरह निराशावादी और भाग्यवादी नहीं होते। उनमें आशा का एक स्वर्णिम स्वप्न भी लहराता रहता है। इसी भावना के कारण प्रसाद 'कामायनी' जैसे श्रेष्ठ मानवतावादी काव्य की रचना कर सके थे।

छायावादियों की वैयक्तिकता भी पूर्ण रूप से उनकी अपनी ही नहीं है। उनके इन वैयक्तिक स्वप्नों में भी असन्तोष, छटपटाहट, कटुता, वेदना, रूढ़ियों के विनाश की भावना, अतीत का मधुर स्मरण, भविष्य की आशा, निराशा आदि भावनाएँ हैं जो व्यक्ति-केन्द्रित न होकर युग की परिस्थितियों की ही उपज हैं। इन कवियों को सभी क्षेत्रों में असन्तोष मिला था। ये भावनाएँ उसी असन्तोष का परिणाम थीं। और परिस्थितियों का प्रभाव व्यक्ति विशेष पर ही न होकर सामूहिक होता है। इसलिए इन कवियों की ये भावनायें व्यक्ति की भावनायें न होकर समाज की ही भावनायें थीं। इस प्रकार छायावाद में जहाँ एक ओर निराशावादी पलायनवादी स्वर प्रखर हो उठा है तो दूसरी ओर जीवन और सौन्दर्य की आकांक्षा का स्वस्थ मानव प्रेमी और सौन्दर्यवादी पक्ष भी उतना ही प्रवल है।

छायावादी काव्य पर एक आरोप और लगाया जाता है, वह है अस्पष्टता का। इसे बहुत अंशों तक सभी ने स्वीकार किया है। इस अस्पष्टता का कारण इन कवियों की घोर वैयक्तिकता, प्रकृति में चेतना का आरोप, अशरीरी सौंदर्य एवं प्रेम तथा उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही मानी जाती है। वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन जब भी हुआ है उसमें सदैव अस्पष्टता रही है। क्योंकि कलाकार की वह अनुभूति साधारण व्यक्ति की अनुभूतियों से उच्च, रहस्यमय एवं परिष्कृत होती है। इसी कारण सब की समझ में नहीं आ पाती। दूसरी बात यह है कि छायावादी काव्य पर यूरोपिय विचारधारा और शैली का गहरा प्रभाव पड़ा है जिससे हिन्दी के पाठक प्रायः अपरिचित ही हैं। साथ ही जो काव्य जितना अधिक बौद्धिक होता है उसमें उतनी ही अधिक अस्पष्टता रहती है।

छायावाद के कलापक्ष का महत्व उसके भावपक्ष से भी अधिक माना गया है। इसका कारण यह है कि छायावाद ने खड़ीबोली को माँजकर उसे सशक्त, कोमल एवं अधिक व्यंजक बनाया है। इसमें एक नवीन अभिव्यंजन पद्धति का आरम्भ हुआ जिसे 'चित्र-भाषा-पद्धति' भी कहा जा सकता है। इसमें अत्यन्त अरूप सादृश्य के आधार पर, आन्तरिक प्रभाव-साम्य को लेकर अप्रस्तुत एवं अपरिज्ञात वस्तुओं को प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत उपादान प्रतीकों के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। इसीसे छायावादी शैली की भाषा को 'प्रतीक-प्रधान भाषा' भी कहते हैं। इस नवीनता का कारण यह था कि खड़ीबोली

का तात्कालिक रूप नवीन अभिव्यक्ति को व्यक्त करने में असमर्थ था। इसलिए छायावादी कवियों ने अपनी सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति के लिए नवीन शब्द-योजना प्रस्तुत की। साथ ही परम्परागत शब्दावली के साथ बाह्य समानार्थक शब्दों को भी नवीन भाव चित्रों से समन्वित कर दिया। उसे 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षस्थल का कोमल स्पन्दन और 'ऊर्मि' में मधुर मुखरित हिलोरों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इस प्रकार शब्दों की वृत्तियों को विस्तृत कर जो भिन्न-भिन्न भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त शब्दावली प्रस्तुत की, उसने हिन्दी भाषा की शक्ति और सौन्दर्य को कई गुना और बढ़ा दिया।

परन्तु इस शैली में एक दोष भी था। यह अतिशय बौद्धिक थी जो अस्पष्टता का प्रधान कारण बनी। साधारण पाठक के लिए वह दुरूह होने के कारण सहज संवेद्य न बन सकी।

काव्य-भाषा और शब्द योजना के अतिरिक्त इस काव्य ने नई छन्दयोजना भी प्रस्तुत की। छन्दों के विविध प्रयोग किए। ये कवि छन्द-योजना में अन्तर्हित लयात्मकता की शक्ति को पूर्णतया पहचानते थे। इस तरह इन्होंने परम्परागत मात्रिक-योजना और वर्णवृत्त की कठोर नियम बद्धता की उपेक्षा कर नए प्रयोग किए। इस क्षेत्र में पन्त ने शब्दचयन में सूक्ष्म कलात्मकता का परिचय दिया और निराला ने छन्द योजना के सर्वाधिक नवीन रूपों की सृष्टि की। छन्दयोजना के विषय में पन्त का मत है कि—"शब्द का राग भाषा के राग पर निर्भर करता है। दोनों में स्वरैक्य होना चाहिए। जहाँ दोनों में मैत्री नहीं रहती वहाँ छन्द अपना स्वर खो बैठता है।" निराला ने संगीत की शास्त्रीय रीति में बँधी रीति काव्यात्मक छन्द योजना और स्वच्छन्द भावातिरेक के उपयुक्त 'मुक्तवृत्त' योजना का श्रीगणेश किया। महादेवी वर्मा की छन्द-योजना तो स्वभावतः रागिनी प्रधान अतः कोमल है। इन कवियों ने स्पष्ट घोषणा की थी कि रीतिकालीन कवित्त-सवैया और द्विवेदी द्वारा बहु-प्रचारित संस्कृत छन्द इस नवीन काव्य धारा के लिए नितान्त अनुपयुक्त हैं क्योंकि उनमें नाद-सौंदर्य नहीं आ सकता। ये कवि सौंदर्य के उपासक थे अतः प्रत्येक क्षेत्र में सुन्दरता के प्रदिपादन में प्रयत्नशील रहे और सफल हुए।

स्वरूप-विधान की दृष्टि से यह काव्य प्रधानतः गीतात्मक रहा। परन्तु यह काव्य लोक जीवन से विच्छिन्न होकर केवल 'स्व' में केन्द्रित था। इसी कारण सूर का गीत "निसि दिन बरसत नयन हमारे" आज भी हमारी आँखों में सावन भादों उमड़ा देता है किन्तु महादेवी वर्मा का—"मैं नीर भरी दुख की बदली।" हमारी संवेदना को केवल उकसा कर रह जाता है। फिर भी इस काव्य ने हमें दो सर्वथा अभिनन्दनीय वस्तुएँ प्रदान कीं—गीति-

प्रबन्ध और मुक्तवृत्त प्रबन्ध। यह नवीन प्रयोग थे। गीति प्रबन्ध की कामायनी सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। यह रूप इतना आकर्षक था कि गुप्तजी भी 'यशोधरा' और 'साकेत' में इसे अपनाने का लोभ संवरण न कर सके।

यहाँ तक हम छायावाद की मूल-प्रेरणा, उसकी उद्भावना, उसके भाव-पक्ष एवं कलापक्ष पर प्रकाश डालकर उसकी रूपरेखा समझाने का प्रयास कर चुके। अब संक्षेप में उसके विकास एवं परिणति को देख लेना आवश्यक है।

साधारणतः छायावाद के प्रवर्तक के रूप में प्रसाद जी का नाम लिया जाता है। परन्तु सियारामशरण गुप्त शुक्ल जी के आधार पर मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को छायावाद का प्रवर्तक मानते हैं। शुक्ल जी ने लिखा है कि—"संवत् १९७० तक 'खड़ीबोली' के पद्यों में ढलकर मँजने की अवस्था पार हुई और मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि कई कवि खड़ी बोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अन्तर्भाव व्यंजक रूप रंग देने में प्रवृत्त हुए।" रायकृष्णदास, पन्त तथा इलाचन्द जोशी प्रसाद को छायावाद का जनक मानते हैं। विनयमोहन शर्मा माखनलाल चतुर्वेदी की सन् १९११-१३ के आसपास की रचनाओं में नवीन शैली का रूप देखकर उन्हें ही छायावाद का आदि कवि मानते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी सन् १९१३ से १९२० तक की स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति को ही "छायावाद की विशिष्ट शैली" मानते हुए मुकुटधर पांडेय, रायकृष्णदास और प्रसाद में छायावाद की प्रयोगावस्था मानते हैं और छायावाद का उद्भव और उन्मेष माखनलाल चतुर्वेदी 'एवं 'नवीन' की रचनाओं में पाते हैं तथा निराला को छायावादी शैली की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादी भावधारा के अधिक निकट देखते हैं।

छायावाद काव्य का प्रारम्भ तो वैसे सन् १९०९ में 'इन्दु' के प्रकाशन से ही माना जाता है परन्तु १९२० तक इसके रूप में कोई उल्लेखनीय निखार नहीं दिखाई देता। इसलिए इसका वास्तविक प्रारम्भ आलोचकों ने सन् १९२० से माना है। जब हम १९२० से इस प्रवृत्ति का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं तो यह दिखाई पड़ता है कि इस काव्य के प्रथम पाँच वर्ष (१९२०-२५) बहुत ही विवाद-ग्रस्त रहे हैं। यह काव्य नई आशा, नया हर्ष एवं नई उत्तेजना लेकर उपस्थित हुआ था। नई वस्तु और नई शैली, नए छन्द और नई उक्तियाँ, शब्दों का नया चयन, नया पद-विन्यास, बन्धनहीन स्वच्छन्द प्रवाह, बँगला, अँग्रेजी और संस्कृत के अध्ययन से प्रभावित नया स्वरूप और सर्वोपरि यह सत्य कि कला व्यक्ति को अभिव्यक्ति और प्रसार देने का ही एक साधन है, इन सब कारणों से काव्य जगत में एक बवन्डर सा उठ खड़ा

हुआ जिसमें सब कुछ नय था। इस नवीनता से भयभीत एवं काव्य हत्या के भय से संत्रस्त द्विवेदीजी और उनके नए पुराने सभी सहयोगियों ने एक स्वर से इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया।

परन्तु छायावाद के समर्थक और पोषक इस विरोध से डरे नहीं क्योंकि वे कर्मठ, साहसी और अध्ययनशील साधक थे। उन्होंने इस विरोध का समुचित उत्तर दिया। छायावाद प्रसाद, पन्त, निराला का संरक्षण और साहचर्य पाकर फूलता फलता रहा और एक दिन वह आया जब द्विवेदी जी द्वारा संस्थापित साहित्य मर्यादाओं का अस्थि-विसर्जन कर दिया गया। यह युग की प्रतिगामी रूढ़ियों पर विजय थी। छायावाद ने हिन्दी कविता को यदि कोई अन्य ठोस वस्तु नहीं दी तो कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसने आधुनिक हिन्दी काव्य और भाषा को शक्ति, सजीवता और सौन्दर्य प्रदान किया।

सन् १९२९-३० की हिन्दी कविता पकने लगी और सधने लगी। उसका प्रयोगकाल समाप्त होकर उसमें स्थायित्व आने लगा। सन् १९२७ में प्रसाद के 'आँसू' में छायावाद का अत्यन्त परिष्कृत एवं उन्नत रूप दिखाई पड़ा। इसे देख कर आचार्य शुक्ल ने लिखा कि—"छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का अच्छा विकास हुआ इसमें सन्देह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" प्रसाद के आँसू, झरना में, पन्त के वीणा, पल्लव और गुंजन में; महादेवी के नीहार, रश्मि, नीरजा और दीपशिखा में; निराला के अनामिका, परिमल, गीतिका आदि काव्य-संग्रहों में छायावाद के सुन्दरतम रूप के दर्शन हुए।

इस सम्पूर्ण छायावादी काव्य के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस काव्य की अधिकाँश सामग्री में कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो हृदय या मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव डाल सकती। इसका कारण इसकी अन्तर्मुखी चेतना थी। बहिर्जगत के प्रति वह सर्वथा निष्क्रिय रह गई। उसमें उद्वेग तो था किन्तु प्रतिरोध और सक्रियता का अभाव भी था। इन कवियों का जीवन दर्शन नवीन काव्य शैली में संगठित रूप में न होकर इधर-उधर बिखरा हुआ था जो शैली की दुरुहता के कारण और भी दुर्बोध हो उठा था। पाठकों एवं आलोचकों का ध्यान भाषा के सौन्दर्य एवं निराशा, पलायन प्रवृत्ति तथा स्वप्न लोक के बिहार के प्रति ही अधिक आकर्षित हुआ। और यह भी सत्य है कि इसमें अतृप्ति तो थी किन्तु स्वस्थ सृजनात्मक शक्तियों की कमी थी। इसी

कमी को लक्ष्य कर निराला और पन्त प्रगतिवाद के प्रति झुके। और इस नवीन धारा की यथार्थवादी प्रवृत्ति के सम्मुख स्वप्नाकाश में विचरण करने वाला कल्पना पर आधारित छायावाद समाप्त हो गया।

छायवाद के समाप्त होने का एक कारण और भी था। इस काव्य में बौद्धिकता एवं कल्पना का रूप इतना अधिक था कि उसे समझ पाना विद्वानों के लिये भी मुश्किल पड़ जाता है कामायनी की भावना प्रसाद जी के ही शब्दों में—"अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदं' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।" परन्तु साधारण छायावादी रचनाएँ उस उच्च धरातल को स्पर्श नहीं कर पातीं। दूसरी बात यह कि जीवन के प्रति छायावाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर भावात्मक था जो युग की तेजी से बदलती हुई संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में स्वीकार नहीं किया जा सकता था, इसीलिये वह निष्क्रिय रहा। यही उसकी सबसे बड़ी निर्बलता और मृत्यु का कारण बना।

छायावाद अधिक काल तक नहीं चल सका, इसका कारण बताते हुए पंत ने लिखा है कि—"छायावाद इसलिये अधिक नहीं चल सका क्योंकि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।"[1] महादेवी वर्मा के शब्दों में—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।" आगे चलकर वे लिखती हैं कि—"इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह एक अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़ कर अपनी सम्पूर्ण सम्वेदन शक्ति के साथ जीवन में घुल मिल जाय। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार जीत आज मूल्य नहीं रखती, क्योंकि उसके सारे व्यष्टिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है।"

उपर्युक्त उक्तियों से यही ध्वनि निकलती है कि छायावाद मूलतः व्यक्तिवाद की कविता है जो सुन्दर रूपवाली होती हुई भी जन-जीवन से पृथक अतः

१—आधुनिक कवि की भूमिका—पन्त

निष्प्रयोजन होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकती। अपने 'व्यक्तिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा' में वह अनुत्तीर्ण रही है।

इसी कारण पन्त ने—"छायावाद के शुन्यसूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्य के निर्जन अदृश्य शिखर पर विराम करने वाली कल्पना" को "एक हरी भरी ठोस जनपूर्ण धरती" प्रदान कर उसे जग-जीवन के साथ ला मिलाया। निराला बहुत पहले से ही इस प्रवृत्ति को छोड़कर यथार्थ की ओर झुक रहे थे। उनके काव्य में प्रगतिवाद का यथार्थवादी स्वर स्पष्ट हो उठा था। इसी यथार्थ या प्रगतिवाद ने कल्पना लोक में विचरण करने वाले छायावाद का गला घोंट दिया। आज के कवि ने यह अनुभव किया कि—"कितनी चिड़िया उड़े आकाश, दाना है धरती के पास।" चिड़िया को कल्पना लोक से ठोस यथार्थ की भूमि पर उतरने पर ही दाना सुलभ हो पाता है। इसी क्रिया से कृषि, वाणिज्य, व्यवस्था, कला-कौशल, समाज शास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म, दर्शन एवं भिन्न-भिन्न राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं में खंड खंड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान यथार्थ होता है।

छायावाद युग की मांग थी। वह अपना महत्वपूर्ण पार्ट अदा कर आज इतिहास की वस्तु बन चुका है। आज हम उसके जीवन-दर्शन की अस्पष्टता एवं संकुचित दृष्टिकोण के आधार पर भले ही उसकी आलोचना करलें मगर उसके ऐतिहासिक महत्व को नहीं भुला सकते। उसका सौम्य रूप आकर्षक था और सदैव रहेगा।

———

३३—हालावाद

फारस के रहस्यवादी सूफी कवियों ने इस्लाम की अतिशय कट्टरता के विरोध में एक नवीन उपासना पद्धति का निर्माण किया था जिसमें गुह्यसाधना, चमत्कार और सुरा-सुन्दरी का उन्मुक्त भोग था। सूफी कवि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में अपने उस रहस्यमय प्रिय परमात्मा का आभास पाकर हर्ष से उन्मत्त हो उठता है। इसलिए उक्त सूफी काव्य में सर्वत्र उसी रहस्यमय परमात्मा की रहस्यमय परन्तु प्रेमपूर्ण सरस उपासना पद्धति का सरस विधान मिलता है। उनके इस ईश्वरीय प्रेम में सुरा और सुन्दरी के प्रेम का सा गहरा नशा रहता है। इसीलिए उन्होंने अपने प्रेम की तीव्रता प्रकट करने के लिए सुरा और सुन्दरी को माध्यम मानकर अपने काव्य का निर्माण किया था। इस प्रेम में शराब के नशे की सी तीव्र मादकता और खुमारी रहती थी। इस्लाम में शराब को हराम माना गया है और फारस इस्लाम का अनुयायी था और है। इसलिए इन फारसी सूफी कवियों ने इस्लाम के रोजा और नमाज़ का विरोध कर अपने इस ईश्वरीय प्रेम की तुलना शराब के नशे से की थी। इस तरह उनके काव्य की शराब ईश्वरीय प्रेम की प्रतीक मानी जाने लगी। इसी शराब के नशे में डूबकर उन कवियों को 'इलहाम' होता था और 'इलहाम' की इस तदाकार तन्मयतापूर्ण स्थिति में 'रूह' और 'खुदा' का अन्तर मिटकर दोनों का तादात्म्य हो जाता था। यही उनकी साधना का लक्ष्य था। यह तादात्म्य भारतीय अद्वैतवादी तादात्म्य से अधिक भिन्न नहीं प्रतीत होता। सूफियों ने मिलन के इस आनन्द की तुलना शराब के नशे से की है। इसलिए इस तन्मयता में विभोर होकर सूफी कवि कह उठा है—

"मज़ा शराब का कैसे कहूँ तुझसे जाहिद
हाय कम्बख्त तूने पी ही नहीं॥"

फारसी के इन सूफी कवियों में मौलाना रूम, हाफिज और उमर खयाम विशेष प्रसिद्ध हैं। फारस में सूफियों पर इस्लाम के कट्टर अनुयायियों ने भयंकर अत्याचार किये थे। कुछ को देश से निकाल दिया गया था तथा कुछ को, जिनमें मंसूर का नाम प्रमुख है, सूली पर चढ़ा दिया गया था। परन्तु दमन की यह चक्की खुदा के इन सच्चे बन्दों की आवाज को बन्द करने में असमर्थ रही। वे शराब, सुराही, साकी, प्याला और मीना (बोतल) आदि वस्तुओं

को अपने काव्य में प्रतीक रूप में उपस्थित कर निरन्तर अपनी स्वतन्त्रता और तन्मयता का इजहार करते रहे। इन सूफियों का विश्वास था कि खुदा रोजा, नमाज आदि बाह्याचारों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस्लाम के सिद्धान्तानुसार 'खुदा' और 'बन्दे' में तादात्म्य नहीं हो सकता और सूफी इस तादाम्य के लिए उत्सुक थे जो उनके विचारानुसार केवल प्रेम की गहन तन्मयता में ही सम्भव था। उन लोगों को प्रेम की इस गहन तन्मयता को व्यक्त करने के लिए एक ही प्रतीक ऐसा मिला जो इसे पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकता था और वह था शराब का नशा। शराब के इस नशे की मौलिक तन्मयता के द्वारा उन्होंने परमात्मा के प्रति प्रेम की उस अलौकिक तन्मयता को अभिव्यंजित किया था। इसी कारण उनके काव्य में सर्वत्र शराब की खुमारी का उल्लेख मिलता है। शराब का मजा तभी है जब वह 'साकी' के हाथ से पीने को मिले। 'साकी' के इस स्पर्श और उपस्थिति से उसका आनन्द कई गुना अधिक बढ़ जाता है। इसलिए 'सुरा' के साथ 'सुन्दरी' का योग आवश्यक हो उठा। अतः इन्हीं दोनों को आधार बनाकर उन्होंने अपने उद्गारों को लौकिक बाना पहना दिया। सच्चे ज्ञानी और प्रेमी लौकिकता के इस आवरण में छिपी हुई अलौकिकता को समझ लेते हैं परन्तु साधारण-जन उसे पूर्ण रूप में लौकिक ही मानकर पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। हिन्दी साहित्य में भी इसी प्रकार की एक दुर्घटना घट चुकी है। कृष्णभक्त कवियों द्वारा वर्णित राधाकृष्ण की अलौकिकता रीतिकाल में घोर लौकिक रूप धारण कर गई थी। उपर्युक्त सूफी-कवियों की उक्त अलौकिकता को भी हिन्दी के हालावादी कवियों के हाथों पड़ घोर लौकिकता का बाना धारण कर, इसी कारण उपहासास्पद बनना पड़ा था।

उमर खय्याम 'मौज' और 'मस्ती' के गीत गाने वाले कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी साहित्य पर उमर ख़य्याम का प्रभाव सीधा फारसी के माध्यम से न पड़कर अँग्रेजी के अनुवाद द्वारा पड़ा। सर्व प्रथम सरस्वती में सन् १९२७-२८ के लगभग कुछ रुबाइयों के अनुवाद प्रकाशित हुए, उन पर आलोचनाएं-प्रत्यालोचनाएँ भी हुईं। जनता में उन्हें लोकप्रियता भी प्राप्त हुई। इनकी मादकता ने तरुण हृदयों को बहुत प्रभावित किया। वे इन रुबाइयों में व्यक्त गहन आध्यात्मिकता को तो समझ नहीं सके, केवल मादकता को ही अपनाकर काव्य रचना करने बैठ गए। इन्होंने उमर खय्याम की नकल करने की तो कोशिश की मगर उन जैसी काव्य-प्रतिभा कहाँ से लाते? उसके जैसे उच्च जीवन दर्शन तक इनकी लौकिक खुमार में डूबी हुई दृष्टि कैसे पहुँच सकती थी?

थी ? परिणाम स्वरूप वर्ण्य-विषय में समानता होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से इनका मूल्य स्थाई नहीं रह सका। उमर खय्याम आज भी उतना ही लोकप्रिय है जितना पहले था परन्तु हिन्दी में 'हालावाद' का तूफान उठाने वाले 'बच्चन' आदि कवि तूफान की तरह आए और उसी की तरह उथल-पुथल मचाकर गायब हो गए। इसका कारण यह था कि उमर खय्याम आदि सूफी कवियों के काव्य में एक अद्भुत, अलौकिक मस्ती का खुमार था। उसके उच्छ्वास हृदय के अन्तस्थल से उद्भूत हुए थे, उनमें एक गहन जीवन दर्शन का व्यक्तीकरण हुआ था। प्रेमी और साधक उन्हें पढ़कर झूम उठते थे; चिन्तक गहन विचार में डूबकर तन्मय हो उठते थे; काव्य-रसिक उस काव्य के सौंदर्य में आकंठ निमग्न हो उठते थे। इसके विपरीत हिन्दी के 'हालावादी' काव्य में मस्ती के छिछले और पथभ्रष्ट कर देने वाले खुमार के अस्तित्व के साथ ही साथ मानव कल्याण की भावना और उत्कृष्ट काव्य-सौन्दर्य का अभाव रहा। इन कवियों को नकल करने की भी तमीज़ नहीं आई। इनका काव्य उमर खय्याम के काव्य की 'पेरोडी' मात्र बनकर रह गया। हिन्दी में 'हालावाद' के प्रवर्तक के रूप में 'बच्चन' का नाम लिया जाता है। 'बच्चन' के अतिरिक्त पद्मकान्त मालवीय, हृदयनारायण पाँडेय 'हृदयेश', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि कवियों को भी कुछ आलोचक इसी काव्य-धारा के अन्तर्गत मानते हैं।

हालावाद के अधिकाँश आलोचकों ने उपर्युक्त हालावादी कवियों की इस भावना और आकर्षण के मूल में तत्कालीन परिस्थितियों को मूल कारण माना है। यह सत्य है कि परिस्थितियाँ समकालीन साहित्य को सदैव प्रभावित करती हैं परन्तु जब हम एक सी ही परिस्थितियों में दो परस्पर विरोधी काव्यधाराओं को पनपते हुए देखते हैं तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि दो परस्पर विरोधी काव्य-धाराओं के साहित्यकारों में से कौन सा वर्ग युग चेतना से वास्तविक रूप में प्रभावित है और कौन सा अपनी ढाई ईंट की मस्जिद अलग खड़ी कर मौलिकता का दम्भ कर रहा है। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल में ऐसी दो घटनाएँ मिलती हैं। कहा जाता है कि साहित्य में नवीन धारा का जन्म सदैव असन्तोष और विद्रोह की भावना के कारण ही होता है। भारतेन्दु-युगीन राष्ट्रीयता अंग्रेजों के विरोध में उठी। भारतेन्दु-युगीन भाषा और विचारों की तथा कथित उश्रृंखलता पर द्विवेदी युग ने अपनी मौलिकता का अंकुश जमाया। छायावाद में इसी द्विवेदी युगीन नैतिकता का विरोध दिखाई दिया। छायावाद के बाद क्रमशः हालावाद और प्रगतिवाद आते हैं। दोनों के मूल में एक सी ही परिस्थितियाँ काम कर रही थीं। परन्तु हालावाद अपना चार साल का छोटा सा जीवन बिता कर मर गया और प्रगतिवाद अब भी गर्व

से उन्नत भाल किए प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। प्रतिक्रियावादी और हीन नैतिकता वादी प्रगति का सदैव विरोध करते रहते हैं। प्रयोगवाद प्रतिक्रियावादी होने के कारण प्रगतिवाद के पथ में रोड़े अटकाने में प्रयत्नशील है और हीन नैतिकतावादी हालावाद ने तो प्रगतिवाद के जन्म के समय ही उसे उपेक्षित बना देने का प्रयत्न किया था।

अब उन परिस्थितियों को भी देख लिया जाय जिन्होंने हालावाद को जन्म दिया था। भारतीय इतिहास में सन् १९३० से लेकर १९३५ तक का समय राजनीतिक निराशा का काल माना जाता है। गोलमेज कान्फ्रेंस असफल हो चुकी थी, क्रान्तकारियों का दमन किया जा चुका था। साधारण जनता समझने लगी थी कि काँग्रेस समाप्त हो चली मगर हमारे नेता कार्य रत थे। उनमें निराशा ने स्थान नहीं बना पाया था जिसका फल यह हुआ कि सन् १९३७ के आम चुनावों में काँग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ और उसे शासन की बागडोर सम्हालनी पड़ी। दूसरी ओर समाज पर गाँधीवादी नैतिकता का प्रभाव पड़ रहा था। साहित्य के क्षेत्र में छायावाद के सूक्ष्म वासनात्मक और सौन्दर्यपरक उद्‌गारों की अवहेलना होनी प्रारम्भ हो गई थी। कुछ आलोचकों ने लिखा है कि इस समय जनता कुछ ऐसी चीज चाहती थी जिसके खुमार में डूबकर वह वर्तमान निराशा की कचोट को भूल जाय। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि जनता की इस पुकार को प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, आदि कोई भी नहीं सुन सके ? सुनी तो केवल एक **'बच्चन'** ने। प्रेमचन्द, पंत, निराला प्रसाद आदि उस समय ऐसी कृतियों की रचना कर रहे थे जिनमें समाज की स्वस्थ पुकार थी, आशा का सन्देश था और विद्रोह का संगीत था। उन पर निराशा ने प्रभाव क्यों नहीं जमाया ? कारण स्पष्ट है। वे सच्चे कलाकार थे, समाज दृष्टा थे, क्राँतिकारी थे और साहित्य को जनता की वस्तु मानने वाले थे। जब भटकते हुए समाज को आशा की जरूरत थी तब इन्हीं कलाकारों ने उसके गीत गाए थे। उन्होंने अमृत के स्थान पर उसे शराब देकर मदहोश नहीं बनाया था बल्कि उसमें जागृति और चेतना के प्राण फूँके थे। और 'बच्चन' आदि हालावादियों ने यह किया था कि साहित्य की गतिशील परम्परा के प्रति विद्रोह कर, हालावादी मादक काव्य का सृजन कर समाज को, विशेषकर कच्ची अवस्था वाले किशोरों और तरुणों को, प्रगति के पथ से भटका कर नशे में मस्त बनाए रखा था। परन्तु मद का यह खुमार शीघ्र ही उतर गया। समझदारों ने इसके घातक स्वरूप को तुरन्त ही पहचान लिया। सुलझे हुए साहित्यकारों ने एक स्वर से इसका विरोध किया। यह हालावाद तूफान की तरह आया और १९३३ से १९३६ तक केवल चार वर्ष जीवित रह कर

उसी गति से विलीन हो गया। 'बच्चन' ने भी अपनी गल्ती को महसूस किया और आगे वे इस पथ को छोड़कर अलग हट गए।

हिन्दी साहित्य की सम्पूर्ण धाराओं एवं सम्पूर्ण वादों में 'हालावाद' की ही आयु सबसे कम रही। इसका कारण यही था कि इसकी उत्पत्ति कुछ तरुण कवियों की घोर वैयक्तिकता से हुई थी जिनका सामाजिक उत्तरदायित्व उनकी अपनी दृष्टि से कुछ भी नहीं था। यह कुछ ऐसे मानसिक रूप से विभ्रान्त युवकों का उद्गार था जो सामाजिकता को अभिशाप मानकर व्यक्ति-प्रेम, वासना एवं क्रीड़ा का स्वतन्त्र और निरपेक्ष राज्य चाहते थे। बच्चन ने जो कुछ लिखा उसका वे स्वयं अनुभव कर चुके थे। वे अपनी रुद्ध वासनाओं को प्रकट करना चाहते थे। उनमें काव्य रचने की प्रतिभा थी। सौभाग्य से उन्हें उमर खय्याम की रुबाइयों में अपनी रुद्ध प्रवृत्तियों का प्रकार मिल गया। वे पूर्ण रूप से उसी में डूब गए। केवल 'आनन्द करो' ही उनका मूल मन्त्र बन गया।

हालवाद की उत्पत्ति, विकास और पतन की कहानी 'बच्चन' की तीन पुस्तकों तक ही सीमित होकर रह गई है। ये तीन पुस्तकें निम्नलिखित हैं जो एक-एक वर्ष के अन्तर से प्रकाशित हुई थीं और जिनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उनके दस-दस संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं—१—मधुशाला, २—मधुबाला, ३—मधु-कलश।

बच्चन 'मधुबाला', मधुबाला' और 'मधु-कलश' में मद की मादक धारा बहाकर जब उससे ऊब उठे तव उनके काव्य का प्रवाह बदल गया और बाद में अपनी वेदना से पीड़ित किसी का 'निशा-निमन्त्रण' पाकर अपनी प्रियतमा की याद में 'एकांत संगीत' गाते और उस पर 'खादी के फूल' चढ़ाते हुए वे 'सत-रंगिनी' के रङ्गों में खो गये। इसके बाद उन्होंने बंगाल के अकाल पर मर्मस्पर्शी कविताएँ लिख कर जन-जीवन को अपनाया और आजकल वे नित नवीन, कोमल एवं ललित गीतों का सृजन कर नई आशा और नवीन प्रेम के गीत गाकर अपना वही लोकप्रिय पुराना स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आज वे हाला की खुमारी और जीवन की निराशा एवं वेदना को भूलकर जीवन की वास्तविकता के निकट आते जा रहे हैं।

कवि ने 'हाला' को अपने काव्य का विषय क्यों चुना? इसके लिए 'मधुशाला' की भूमिका रूप में 'सम्बोधन' के नाम से लिखा हुआ कवि का वक्तव्य दृष्टव्य है। उसमें एक स्थान पर कवि ने लिखा है—"आह, जीवन की मदिरा जो हमें विवश होकर पीनी पड़ी है, कितनी कड़वी है! कितनी! यह मदिरा उस मदिरा के नशे को उतार देगी, जीवन की दुःखदायिनी चेतना को विस्मृति

के गर्त में गिरायेगी तथा प्रबल दैव, दुर्दम काल, निर्मम कर्म और निर्दय नियति के क्रूर, कठोर, कुटिल आघातों से रक्षा करेगी। क्षीण, क्षुद्र, क्षण-भंगुर, दुर्बल मानव के पास जग जीवन की समस्त आधि-व्याधियों की यही एक महौषधि है।………ले इसे पान कर और मद के उन्माद में अपने को, अपने दुख को, अपने दुखद समय को और समय के कठिन चक्र को भूल जा।"

उपर्युक्त पंक्तियों में सामाजिकता के स्थान पर घोर वैयक्तिकता का चित्रण है। इसी को देखकर हालावाद में वैयक्तिक अनुभूति को मानते हुए पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"इस प्रकार की अनुभूतियाँ हिन्दी के लिए अपरिचित थीं और हिन्दी-काव्य की किसी गृहीत परम्परा में नहीं आती थीं। साथ ही इनका सामाजिक जीवन-प्रगति में कोई सुस्पष्ट योग न था। निराशा-वादी प्रतिक्रिया के रूप में ही इनकी परख हुई थी।"

कवि जानता था कि उसके इस मदिरावाद का उग्र विरोध होगा। धर्म और समाज इसे सहन नहीं कर सकेंगे। समाज पर आक्रमण करने का तो उसका साहस नहीं हुआ मगर धर्म के आडम्बरों पर उसने कसकर चोट की; क्योंकि कवि जानता था कि इस आक्रमण का सभी काव्य-प्रेमी स्वागत करेंगे। कबीर आदि के पूर्व से यही होता आया था। इसलिए कवि उच्छृङ्खल होकर कह उठा—

"हमने छोड़ी कर की माला, पोथी पत्रा भू पर डाला,
मंदिर मस्जिद के बन्दीगृह को तोड़ लिया कर में प्याला।

कवि को जग के दुख से कोई मतलब नहीं, केवल उसकी मधुशाला आबाद रहे यही उसकी एकमात्र कामना है। उसकी तरफ से—

"पढ़े मर्सिया दुनियाँ सारी
ईद मनाती मधुशाला।'

बच्चन ने मदिरा का आश्रय क्यों ग्रहण किया? इसका एक कारण हम ऊपर उन्हीं के शब्दों में बता आए हैं। इसका दूसरा कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि—

"वासना जब तीव्रतम थी, बन गया था संयमी मैं।
हो रही मेरी क्षुधा ही सर्वदा आहार मेरा॥"

परन्तु बच्चन के इन वासनात्मक उद्‌गारों को देखकर उन पर चारों ओर से प्रहार होने लगे तो उन्होंने अनुभव किया कि मैंने अपनी असली भावनाओं को प्रकाश में लाकर तथा उन्हें ईमानदारी से समाज के सम्मुख उपस्थित कर बड़ी गल्ती की—

"कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा।
मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता।
शत्रु मेरा बन गया है छल-रहित व्यवहार मेरा।।"

किन्तु साथ ही कवि जग के प्रति पूर्ण उपेक्षा दिखाकर उसकी अवहेलना करना चाहता है क्योंकि जग उसे मनमानी नहीं करने देता। इसलिए कवि कुढ़ कर ताना कसता है कि मैं विश्व की चिन्ता क्यों करूँ क्योंकि—

"विश्व पूरा कर सका है कौन सा अरमान मेरा।"

तो फिर—

"वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी !"

ठीक है ! वृद्ध जग को उनकी क्षणिक जवानी कभी नहीं अखरती अगर वह केवल उन तक ही सीमित रहकर समाज पर दूषित प्रभाव न डालती। जब कोई वस्तु सामाजिक रूप धारण कर लेती है तब तो उसके शुभ या अशुभ प्रभाव को देखना ही पड़ता है। अस्तु,

कवि के जीवन में एक भयंकर हाहाकार है, चीत्कार है, जो उसे चैन नहीं लेना देता। इसलिए वह कुछ क्षणों के लिए अपनी इस वेदना को भुला देना चाहता था—

"मैं कहाँ हूँ और वह आदर्श मधुशाला कहाँ है ?
विस्मरण दे जागरण के साथ मधुबाला कहाँ है ?
है कहाँ प्याला कि जो दे चिर तृषा, चिर तृप्ति में भी,
जो डुबा तो ले मगर दे पार कर, हाला कहाँ है ?

कवि 'हालावाद' के इस राग के साथ यह भी कहता है कि वह जीवन से भागा नहीं है।

"राग के पीछे छिपा चीत्कार कह देगा किसी दिन।
हैं लिखे मधुगीत मैंने, हो खड़े जीवन-समर में।"

कवि 'मधुबाला' में अपना आत्म-परिचय देता हुआ कहता है—

"मैं स्नेह सुरा का पान किया करता हूँ,
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ,
जग पूछ रहा उनको, जो जग की गाते,
मैं अपने मन का गान किया करता हूँ।"

फिर यदि जग ने कवि की अपेक्षा की तो उसे शिकायत किस बात की ? तुमने जग के प्रति अपने उत्तरदायित्व से मुँह मोड़ उसकी अवहेलना कर भी सम्मान की आकांक्षा की तो जग तुम्हारी बात क्यों सुनता ?

कवि को निरन्तर पराजय मिलती रही। विधाता ने उसका सुख छीन

लिया। और अन्त में कवि को जग के सम्मुख शीश झुकाकर उसकी जय-जयकार कर, उसे शुभाशीष देने को बाध्य होना पड़ा।

"जय हो, हे संसार तुम्हारी !
जहाँ झुके हम वहाँ तनो तुम,
जहाँ मिटे हम वहाँ बनो तुम,
तुम जीते उस ठौर जहाँ पर हमने बाजी हारी ।।'
....

अनायास निकली यह वाणी,
यह निश्चय होगी कल्याणी,
जग को शुभाशीष देने के हम दुखिया अधिकारी ।।"

हमने उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा हालावाद की उत्पत्ति, विकास और पतन की संक्षिप्त कहानी देखी। उसके थोथेपन और निकम्मेपन का परिचय पाया। कवि की घोर वैयक्तिकता को जग के सम्मुख आत्म समर्पण करते देखा। यह व्यक्ति के ऊपर समाज की विजय थी।

हालावाद के अन्य कवियों ने भी सुरा-सुन्दरी के गीत गाए हैं परन्तु उनमें न तो बच्चन की सी मादकता है और न निराशामय चीत्कार जो क्षण भर के लिए हमें आन्दोलित कर दे। इसलिए उनका उल्लेख व्यर्थ है।

बच्चन अपनी समझ से एक ऐसे काव्य का सृजन कर रहे थे जिसे कोई भी नहीं समझ सकेगा, उसके वास्तविक भाव को हृदयंगम करने में समाज असमर्थ रहेगा। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—"समझ सकेगा उसे कोई ? आज तक संसार ने एक भी कवि को नहीं समझा।" परन्तु वास्तविकता यह थी कि सभी समझदार कवियों को समझने वाला संसार इस 'हालावादी' साहित्य की असलियत को तो समझ चुका था मगर उसे अग्राह्य समझ कर अपनाना नहीं चाहता था। संघर्ष-रत संसार नियति के सम्मुख अपने को निरीह समझने वाले इस कलाकार को कैसे बढ़ावा देता। उसका स्वर उखड़ा-उखड़ा सा था। कलाकार को स्वयं अपनी कृति की श्रेष्ठता पर विश्वास नहीं था। अतः निष्क्रियता के इस प्रचारक को श्रेय कौन दे सकता था। मानव की सतत प्रगति और सक्रियता में विश्वास रखने वाला साहित्य ही समाज को प्रिय होता है। हालावाद जैसा अहंवादी, थोथा, जीवन दर्शन से शून्य, नियतिवादी, निष्क्रियता का प्रचारक साहित्य पानी के बुलबुले के समान क्षणिक जीवन बिताकर नष्ट हो जाता है।

संक्षेप में हालावाद की उपर्युक्त विवेचना के उपरान्त हालावाद की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

१—इसमें सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों के प्रति उच्छृङ्खल विद्रोह है।
२—ये लोग संसार में रहते हुए भी स्वर्गीय सुख के प्रति लालायित हैं।
३—जीवन के संघर्ष से पलायन कर क्षणिक मादकता में मुक्ति ढूँढ़ते हैं।
४—इनका सुख क्षणिक है।
५—काव्य क्षेत्र में कल्पना की ऊँची उड़ानें हैं।
६—सौन्दर्य, प्रेम और यौवन इनके बड़े आकर्षण हैं।
७—विवशता से त्रस्त होकर अरण्य-रोदन रहते हैं।
८—इनमें पथ-भ्रष्ट, लक्ष्यहीन अराजकता है।
९—सीधी उन्मादक भाषा में सरल अभिव्यक्ति है।

अन्त में प्रश्न यह उठता है कि इन कवियों के इस विद्रोह का रूप क्या था ? इस विद्रोह में एक नपुंसक लक्ष्य का चीत्कार था या एक सशक्त हृदय का गुरु गम्भीर गर्जन। हमने ऊपर बच्चन के काव्य का उन्हीं के दृष्टिकोण से विवेचन करते हुए यह देखा कि वे समाज, धर्म, मर्यादा आदि के प्रति खुला विद्रोह कर अपना एक स्वतन्त्र पथ निर्मित करना चाहते थे जिसमें उन्हें असफलता मिली। परन्तु क्या यह पथ कल्याणकारी भी था ? कवि केवल अपने नशे में डूबा रहना चाहता है। उसे समाज की कोई चिन्ता नहीं इसलिए समाज के लिए कोई सन्देश भी नहीं है। फिर ऐसा सन्देश हीन काव्य हमारा क्या उपकार कर सकता था। इसने केवल इतना ही किया कि कुछ क्षण के लिए हमारे भावुक किशोरों और तरुणों को अपनी तीव्र मादकता से उद्भ्रान्त सा बना दिया। उस समय प्रत्येक तरुण के हाथ में यही साहित्य दिखाई पड़ता था। कवि-सम्मेलनों में, अन्ताक्षरियों में इसी के गीत गाए जाते थे। परन्तु हमारे तरुणों को इससे कुछ भी नहीं मिला। जब कवि को ही अन्त में निराशा और अतृप्ति हाथ लगी तो इन कच्ची बुद्धि वालों को भला क्या मिलता।

हालावाद के विषय में दूसरा सबसे बड़ा मजाक यह है कि बच्चन अपने काव्य को रूपक मानते हैं। बच्चन ही नहीं डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विज्ञ आलोचक भी इसे प्रतीक मानते हैं। उनका कथन दृष्टव्य है—"वस्तुतः यह हाला एक प्रतीक मात्र है जो तत्काल प्रचलित झूठी आध्यात्मिकता के प्रतिवाद का एक प्रतीक मात्र था।" (हिन्दी-साहित्य) बच्चन इसे रहस्यवाद का रूप देते हैं—

"मैं मदिरालय के अन्दर हूँ—
मेरे हाथों में प्याला।
प्याले में मदिरालय बिम्बित—
करने वाली है हाला।

इस उधेड़ बुन में ही मेरा—
सारा जीवन बीत गया ।
मैं मधुशाला के अन्दर था—
मेरे अन्दर मधुशाला ।"

'पद्मावत' और 'कामायनी' भी तो रूपक काव्य हैं। वे जीवन के कठिन क्षणों में हमें आशा और विश्वास का सन्देश देते हैं जिसके मूल में साधना है, हालावाद के समान क्षणिक खुमारी का सन्देश नहीं। 'हालावाद' में कुछ लोग दर्शन भी देखते हैं परन्तु ऐसा कहना 'दर्शन' की गम्भीरता और श्रेष्ठता का अपमान करना है। उसमें किसी 'विकृत दर्शन' के भी तो दर्शन नहीं होते। वह तो शुद्ध रूप से एक 'खुमारी' का काव्य है जिसकी कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं।

३४—प्रगतिवाद

छायावाद का व्यष्टिगत दृष्टिकोण उसके ह्रास का एवं पतन का प्रधान कारण था क्योंकि महादेवी वर्मा के शब्दों में वह 'व्यष्टिगत सत्य की समष्टि-गत परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहा' था। साथ ही पन्त के शब्दों में—"छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्य के निर्जन अदृश्य शिखर पर विराम करने वाली कल्पना" को जनजीवन का सच्चा चित्र अङ्कित करने के लिये "एक हरी भरी ठोस जनपूर्ण धरती' की आवश्य-कता थी। प्रगतिवाद उपरोक्त व्यष्टिगत भावना की अवहेलना कर समष्टिगत स्वरूप को लेकर आगे बढ़ा और उसने "अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली" कल्पना को "एक हरीभरी ठोस जनपूर्ण धरती" पर उतार कर उसे जन-जीवन का चित्रण करने को प्रेरित किया। जिस समय छायावाद अपने व्यष्टि की साधना में तन्मय, जगत की वास्तविकता की ओर से आँखें बन्द कर, आत्म-विभोर होकर आगे बढ़ा जा रहा था उसी समय जगत की नग्न वास्तविकता, "रोटी का राग" और "क्रान्ति की आग" लिये प्रगतिवाद आगे आया और उसने झकझोर कर साहित्यकार को एक नवीन समस्या, एक नवीन चेतना का आलोक दिखाया। उसने छायावादी अति सूक्ष्म काल्पनिक भावनाओं का विरोध कर उसे स्थूल जगत की कठोर वास्तविकता के सम्मुख ला खड़ा किया।

परन्तु क्या प्रगतिवाद की यह चेतना सर्वथा एक नवीन देन थी या किसी परम्परा का विकसित रूप था! कुछ लोगों का मत है कि यह प्रगतिवादी विचारधारा की देन है जिसका आरम्भ सन् १९३५ में लखनऊ में होने वाले प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन से हुआ था। कुछ लोग इसमें भार-तीय परिस्थितियों का प्रभाव न मानकर इसे रूसी कम्युनिस्टों का प्रचार मात्र मानते हैं। परन्तु हमारा साहित्य का इतिहास यह सिद्ध करता है कि हमारे साहित्य की कोई भी विचारधारा ग्रियर्सन की "भक्तिधारा" के समान एकाएक न तो उत्पन्न ही हुई थी और न कोई भी विदेशी प्रभाव उसे इतना लोकप्रिय एवं सशक्त बना सका था। प्रत्येक विचारधारा अपने रूप में स्वतन्त्र रूप से क्रमशः विकसित होती हुई आगे बढ़ती है। सामयिक परिस्थितियाँ, युग की माँग के अनुरूप, उसका स्वरूप निश्चित करते हुए उसे निरन्तर आगे बढ़ाती रहती हैं। जो विचारधारा जन-मन से अनुप्राणित न होकर केवल किसी विदेशी

साहित्य की नकल कर आगे बढ़ती है उसका यही परिणाम होता है जो 'हाला-वाद' का हुआ था। 'हालावाद' केवल चार वर्ष जीवित रह कर मर गया। प्रगतिवाद युग की पुकार है। उसकी उत्पत्ति एकाएक या रूसी प्रभाव से न होकर बहुत पहले से चली आती हुई असन्तोष और विद्रोह की भावनाओं का ही प्रतिफलन है। यह सत्य है कि इसके आधुनिक रूप पर, साहित्य की अन्य धाराओं के समान, विदेशी प्रभाव भी है। परन्तु प्रभाव उसके स्वरूप को अधिक उन्नत, अधिक स्वस्थ और अधिक सशक्त बनाने में सहायक हुआ है।

'प्रगति' का साधारण अर्थ 'आगे बढ़ना' या 'उन्नति करना' है। परन्तु आज साहित्य में 'प्रगतिवाद' शब्द से केवल प्रगति का ही अर्थ न लेकर एक विशिष्ट राजनैतिक विचारधारा से प्रभावित साहित्य लिया जाता है जिसका मूलाधार मार्क्सवादी दृष्टिकोण है।

अतः प्रगतिवाद को समझने के लिये पहले मार्क्स का द्वन्द्वात्मक और ऐति-हासिक भौतिकवाद एवं प्रगतिवाद पर पड़े हुए अन्य प्रभावों और विचार-धाराओं को समझ लेना आवश्यक है।

मार्क्स-दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialactical Materialism) कहलाता है। "यूनान में पहले 'डायलेक्टिक' शब्द का प्रयोग सत्य पर पहुँचने की उस पद्धति के लिये होता था जिसमें दो विरोधी दल वाद-विवाद और खंडन मंडन द्वारा अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते थे।"[१] हीगल ने इस शब्द का प्रयोग एक भिन्न ही अर्थ में किया था। हीगल के अनुसार 'डायलेक्टिक' पद्धति द्वारा उत्पत्ति, परिवर्तन और विकास के सिद्धान्त को समझा जा सकता है। परिवर्तन में सदैव विकास के बीज छिपे रहते हैं जो रूपान्तर करते रहते हैं। परन्तु इस रूपान्तर में ध्वंस या विनाश न होकर एक नवीन सजीव रूप प्रकट होता है। इसके साथ हीगल ने एक निरपेक्ष ब्रह्म की स्थिति भी मानी थी। हीगल विचार को प्रधान मानकर वाह्य जगत को उसी का रूप मानता था।

मार्क्स अपने प्रारम्भिक अध्ययन काल में हीगल से बहुत प्रभावित हुआ था। उसने हीगल के उत्पत्ति, परिवर्तन और विकास के सिद्धात को तो स्वीकार कर लिया परन्तु उसकी निरपेक्ष ब्रह्म की कल्पना को मानने से इन्कार कर दिया। उसने विचार को प्रधानता न देकर वाह्य जगत को मुख्य माना। ब्रह्म या आत्मा को उसने निरपेक्ष न मानकर मस्तिष्क की ही आगे की विकसित अवस्था माना। इस प्रकार मार्क्स की पद्धति विचारों की दृष्टि से हीगल से

मार्क्सवाद का त्रिकोण—सहल

भिन्न ही नहीं बल्कि ठीक उसके विपरीत है। इसी बात को लक्ष्य कर कहा गया था कि 'हीगल सिर के बल खड़ा था मार्क्स ने उसे जमीन पर ला खड़ा किया।' मार्क्स के अनुसार इतिहास की व्याख्या आर्थिक आधार को ही लेकर की जा सकती है, निरब्रह्म को लेकर नहीं।

मार्क्स से भी पूर्व एक अन्य जर्मन दार्शनिक फायरबाख (१८०४-७२) हीगल का खंडन कर भौतिकवाद की स्थापना कर चुका था। फायरबाख की स्थापना थी कि किसी वस्तु के बिना उसका ज्ञान या बोध नहीं हो सकता। उसने सृष्टि-विकास की परम्परा में सबसे पहला स्थान प्रकृति-पदार्थ का मान कर उसे अचेतन माना और कहा कि मनुष्य भी प्राकृतिक विकास की ही एक कड़ी है। परन्तु मार्क्स ने मनुष्य को यन्त्रमान न मानकर उसे चेतन माना है। वह मनुष्य को केवल वातावरण का परिणाम न मानकर उसे वातावरण को बदल देने वाला भी मानता है। इस प्रकार हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति में फायरबाख के भौतिकवाद की कमी थी और फायरबाख के प्रकृतिवाद में द्वन्द्वात्मक पद्धति का अभाव था क्योंकि दोनों ने ही ऐतिहासिक परिस्थितियों की अवहेलना की थी। मार्क्स ने इन दोनों का समन्वय कर अपने मत का आधार-भौतिकवाद को बनाया और निरूपण की प्रणाली द्वन्द्वात्मक रखी।

हीगल और फायरबाख दोनों ने ही वर्ग-संघर्ष को छेड़ा भी नहीं था। वर्ग-संघर्ष की व्याख्या सबसे पहले चार्ल्स हाल नामक एक अंग्रेज ने की थी। उसका कहना था कि सभ्यता के साथ-साथ सम्पत्ति एवं शोषक और शोषित की उत्पत्ति हुई थी और इसके साथ ही वर्ग-संघर्ष की भावना उत्पन्न हो गई थी। उसके मतानुसार युद्धादि पूंजीपतियों के आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही होते हैं। अगर देश की अर्थनीति और शासन-सूत्र गरीबों के हाथों में आ जाय तो युद्ध समाप्त हो जायँगे।

इस प्रकार मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति ली, फायरबाख से भौतिकवाद लिया और हाल से वर्ग-संघर्ष अपनाया। इन सब बातों को अपनाकर उसने उनकी कमजोरियाँ दूर कीं, उनका क्षेत्र विस्तृत बनाया और अपना वह सिद्धान्त प्रचारित किया जिसकी तरफ आज मानव मात्र की दृष्टि लगी हुई है।

मार्क्स के अनुसार सृष्टि में दो तत्व प्रधान हैं—स्वीकारात्मक (Positive) और नकारात्मक (Negative) इन्हीं दोनों तत्त्वों के संघर्षों का नाम ही जीवन है। इन्हीं के संघर्ष से चेतना उत्पन्न होती है। इस चेतना का आधार पदार्थ (Matter) है। उपरोक्त दोनों विरोधी तत्व पदार्थ में स्थित रहकर

संघर्ष करते रहते हैं। जिससे उसमें चेतना उत्पन्न होती है। यह चेतना द्वन्द्व का परिणाम है। इसी कारण इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है। ऐतिहासिक क्रम में इसी द्वन्द्व का परीक्षण और निरीक्षण ऐतिहासिक भौतिक-वाद है।

हम ऊपर बता आए हैं कि हीगल, फायरबाख, हाल इत्यादि के सिद्धान्तों में मार्क्सवादी विचारधारा के बीज मौजूद थे। इसके अतिरिक्त संसार के अन्य दर्शनों में भी इन विचारों के दर्शन मिल जाते हैं। परन्तु मार्क्स से पूर्व किसी ने भी इन सम्पूर्ण तत्वों का समन्वय कर इतने सशक्त स्वर में संसार की विषमता का मूल कारण अर्थ का असमान विभाजन नहीं बताया था और न ऐतिहासिक आधार पर उनकी वैज्ञानिक व्याख्या ही की थी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार मानव अपनी आदिम अवस्था में साम्यवादी था। उस समय व्यक्तिगत रूप से किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं किया जाता था। मनुष्य झुण्ड या कबीले बनाकर भोजन की तलाश में शिकार करता हुआ इधर से उधर घूमता फिरता था। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा संग्रहीत वस्तु पर पूरे कबीले का समान अधिकार रहता था। कालांतर में जब मनुष्य खेती करने लगा तो जमीन और स्थायी रूप से एक ही स्थान पर बसने की समस्या ने कबीलों में संघर्ष पैदा कर दिया जिससे आपस में युद्ध होने लगे। युद्धों में पकड़े गए शत्रुओं को 'दास' बनाकर खेती का काम कराया जाने लगा। ये दास पहले तो सब की सम्पत्ति रहे बाद में व्यक्तिगत बन गए। क्रमशः राज्यों की स्थापना हुई, उनसे साम्राज्य बने। इनके विस्तार के लिए युद्ध हुये। इस प्रकार समाज में दो वर्ग बन गये शासक और शासित अर्थात् मालिक और गुलाम। बहुत समय बीतने पर शासक वर्ग में व्यापारियों का प्रभुत्व बढ़ा। व्यापार द्वारा अधिकाधिक धन संग्रह के लिये दूसरों को गुलाम बनाया गया। मानवता का ऊपरी दिखावा करने के लिए 'दास-प्रथा' हटा दी गई मगर फिर भी निर्धन और भी अधिक निर्धन होते चले गए और धनी और भी अधिक धनी। अधिक धनी बनने की होड़ में असंख्य युद्ध हुए, लूटमार हुई। प्रथम विश्वयुद्ध इसी का परिणाम था, द्वितीय विश्वयुद्ध भी इसी को लेकर हुआ था। इस सम्पूर्ण संघर्ष में बर्बाद केवल गरीब हुए। धनी और भी अधिक धनी बनते रहे। कार्ल मार्क्स ने इसी बात को देखकर बहुत पहले ही अर्थ को जगत की विषमता का मूल कारण घोषित कर दिया था।

आधुनिक युग को तीन विचारधाराओं ने सबसे अधिक प्रभावित कर उनकी प्राचीन मान्यताओं को ध्वस्त कर डाला है। ये तीन विचारधारायें हैं—कार्ल मार्क्स का साम्यवादी दर्शन, फ्रायड का प्रकृतिवादी या अतियौनवादी दर्शन

और डार्विन का विकासवादी दर्शन । इनमें से डार्विन के विकासवाद का खंडन कर विचारकों ने उसे गलत साबित कर दिया है । फ्रायड के प्रकृतिवादी दर्शन का संसार के आधुनिक साहित्य पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है । मार्क्सवादी दर्शन भी कुछ अंशों तक इससे प्रभावित हुआ है । मार्क्सवादी दर्शन भौतिकवादी है । काम-भावना भी भौतिक भावना है । अतः कुछ आलोचकों ने उसे मार्क्सवाद का सहायक माना है । फ्रायड का यह यौनवाद अन्तश्चेतनावाद पर आधारित है । अन्तश्चेतनावाद के अनुसार हमारी सम्पूर्ण कलाएँ अवचेतन की विस्फोटमात्र हैं । इसमें कला का सृजन न मानकर उसमें अवचेतन मन की दमित और गोपन इच्छाओं का ही व्यक्तीकरण माना जाता है । फ्रायडवादियों का मत है कि यथार्थ जगत में जो वस्तु हमें प्राप्त नहीं हो पाती, उसकी पूर्ति स्वप्न में होती है । इसलिए 'कला' भी एक स्वप्न ही है । मानव समाज का प्राणी होने के कारण उस पर समाज का अंकुश रहता है । अतः मनुष्य की समाज द्वारा दमित इच्छाएँ उसके अवचेतन मन में जाकर जम जाती हैं और फिर कला के रूप में व्यक्त होती रहती हैं । इस प्रकार फ्रायड के अनुसार मानव का सारा जीवन 'काम वासना' के ही घेरे में चक्कर काटता रहता है । इस विचारधारा का हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा था । परन्तु शीघ्र ही उसका विरोध हुआ और वह समाप्त हो गया ।

प्रगतिवादी आलोचकों द्वारा किये गये इस विरोध का कारण मार्क्सवाद और यौनवाद का मौलक अन्तर था । फ्रायडवाद एक व्यक्तिवादी दर्शन है । मार्क्सवाद एक विज्ञान है । फ्रायडवाद में सब कुछ कल्पना पर निर्भर करता है । मार्क्सवाद के साथ कल्पित सिद्धान्तों की संगत नहीं बैठती । फ्रायडवाद कला में दमित भावनाओं का विस्फोट मात्र मानकर उसके समाजपक्ष को नगण्य बना देता है जबकि मार्क्सवाद कला में समाजपक्ष की ही प्रधानता मानकर चलता है । अतः फ्रायडवाद प्रतिक्रियावादी है और मार्क्सवाद प्रगतिवादी । फ्रायडवादी कलाकार विश्व में प्रेम से अधिक प्रगतिशील भावना और कोई भी नहीं मानते । यह सत्य है । परन्तु प्रेम की कल्याणकारी सत्ता सामाजिक रूप में है न कि व्यक्तिगत रूप में । अतः जिस काव्य का आधार लोक-कल्याण तथा सामाजिकता नहीं वह कभी भी प्रगतिशील नहीं हो सकता । फ्रायड का यह सिद्धान्त हिंदी साहित्य में कुण्ठावाद के नाम से प्रचलित है ।

अपने इसी कुण्ठावाद के आधार पर फ्रायड कला और संस्कृति को व्यक्ति की असामाजिकता की श्रेष्ठीकरण प्राप्त अभिव्यक्ति मानता है और इसी को आधार बनाकर प्रगतिवाद के विरोधी फ्रायड के भक्त बन कर भारतीयता की रक्षा का ढोंग रचते हैं और आत्म-संस्कार शब्द का नकाब लगाकर दमित काम

कुण्ठाओं को ही कला और संस्कृति मानते हैं। गोया आज तक की संस्कृति, कला और साहित्य व्यक्ति की असामाजिता की ही अभिव्यक्ति हो। ऐसी स्थिति में प्रगतिवाद की जनवादी विचारधारा के साथ फायडवाद की संगति बैठना असम्भव है। क्योंकि साहित्य एक सामूहिक चेतना है और उसका वास्तविक आधार कोई अन्तश्चेतना न होकर जनमानस ही है। इसी आधार पर आजतक का साहित्य अपने आपको समाज का प्रतिबिम्ब कहता आया है न कि अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति। हिन्दी के आलोचकों में केवल डा० नगेन्द्र ही एक ऐसे आलोचक हैं जो फ्रायड के मनोविश्लेषण को शुद्ध मनोविज्ञान मान कर साहित्य का मूल्यांकन कर रहे हैं। अस्तु,

हम ऊपर कह आये हैं कि हिन्दी के वर्तमान प्रगतिवादी काव्य का आधार मार्क्सवाद है। आज उसके सामने दो समस्यायें सबसे प्रधान हैं—पुरानी सड़ी गली संस्कृति का मूलोच्छेदन तथा कला को कला के लिये न मान कर उसका जीवन के लिए उपयोग करना। इस कार्य के लिए उसके दो पक्ष हैं—१—राजनीतिक मोर्चा-रूस, चीन एवं अन्य साम्यवादी देश मिलकर संसार में समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। २—सांस्कृतिक मोर्चा-मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को साहित्यिक रूप देकर जनता पर नवीन विचारों की छाप डालना चाहते हैं। इस प्रगतिवादी दृष्टिकोण का आधार ऐतिहासिक विकास है। सृष्टि के इतिहास में मानव संस्कृति अपनी आदिम अवस्था से निरन्तर विकासमान रही है। विभिन्न अवस्थाओं को पार करती हुई आज वह पूँजीवादी व्यवस्था के अन्त और समाजवादी व्यवस्था की प्रारम्भिक अवस्था में है। समाजवाद मानव संस्कृति की सर्वाधिक विकसित अवस्था का रूप है। प्रगतिवादी साहित्य उसी समाजवादी व्यवस्था की साहित्यिक वाणी है। इसी कारण पन्त प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण मानते हैं।

संक्षेप में प्रगतिवाद के मूलतत्व निम्नलिखित माने जा सकते हैं—

१—प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

२—इसके लिए वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विश्लेषण कर, अर्थ को ही सम्पूर्ण विषमताओं का कारण मानकर उसके समान विभाजन को प्रमुखता देता है।

३—उसका दृष्टिकोण पूर्णतः भौतिकवादी है। वह ईश्वर अथवा आत्मा को मान्यता नहीं देता।

४—उसका उद्देश्य पूँजीवाद, सामन्तवाद आदि सभी प्रतिक्रियावादी

तत्त्वों से सम्बद्ध सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक रूढ़ियों का विरोध कर समाजवाद की स्थापना करना है।

४—कला को वह अभिव्यक्ति का साधन मात्र मानकर उसका सहज बोधगम्य रूप अपनाने पर जोर देता है जिससे सर्व साधारण उसे समझ सकें।

५—वह साहित्य में व्यक्ति के ऊपर समाज की सत्ता का अंकुश चाहता है।

यह प्रगतिवाद की मोटी रूपरेखा मानी जा सकती है।

प्रगतिवाद में कला के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आ गया है। इस से पूर्व काव्य का आदर्श सुन्दर, मनोरम एवं महत् का ही चित्रण करना था। इस कारण उसके अभिव्यक्ति-प्रकारों में भी इन्हीं गुणों का सहारा लिया जाता था। परन्तु प्रगतिवाद में जीवन के प्राकृत, कुत्सित एवं फैले हुए विस्तृत रूप के चित्रण को प्रधानता मिली है क्योंकि जीवन का यही रूप अधिक वास्तविक और उपयोगी है। इस आधार को लेकर प्रगतिवाद जब काव्यगत भावनाओं का नए सिरे से मूल्यांकन करना चाहता है, सत, सौन्दर्य और प्रेम के नए मानदण्ड प्रस्तुत करना चाहता है, आदर्श राज्य की नई रूप रेखा खींचना चाहता है, तो वह इन नवीन भावनाओं को अभिव्यंजित करने के लिए नवीन शैली की अपेक्षा करता है। स्पष्ट, यथार्थ एवं वास्तविक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी सरल और व्यावहारिक होनी चाहिए। उनमें मर्म स्पर्शिता होने के कारण ही वह पाठकों को पूरी तरह प्रभावित कर सकेगी। इसके लिए वह कला विलास, रूपरंग और रोमान्स का मोह त्याग कर खरी, खड़ी और तीखी शैली अपना कर साधारण स्वस्थ जन-जीवन का चित्रण करती है। वह तितली के समान रंगीन और कोमल भाषा शैली को त्याग निराला की उस शैली द्वारा अपने को अभिव्यक्त करना चाहती है जिसमें उन्होंने 'भिखारी' का वर्णन किया है—"वह आता। दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।" उसे ऐसी ही स्वाभाविक शैली एवं भाषा की अपेक्षा है। पन्त ने इसी कारण, जब वह प्रगतिवादी रचना कर रहे थे, अलंकारों आदि को त्याज्य घोषित किया था क्योंकि उनकी दृष्टि में—"ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण," वाला आदर्श था। इसके लिए पिंगल-शास्त्र का महत्व अधिक नहीं। छायावादी दुरूह प्रतीक योजना के स्थान पर ऐसे प्रतीकों का उपयोग होना चाहिये जो जन साधारण की समझ में सुगमता से आ सकें। प्रारम्भ में उपयोगितावाद के प्राधान्य के कारण ही इस साहित्य में कला का ह्रास और विचारों का प्राधान्य बढ़ता चला जा रहा था। परन्तु अब प्रगति-

वादी साहित्यकार कला-पक्ष के प्रति भी ध्यान देने लगे हैं और अभिव्यक्ति की गहनता, प्रखरता एवं सुघरता के कारण उनके साहित्य में कला के उदात्त स्वरूप के दर्शन होने लगे हैं।

प्रगतिवाद के प्रारम्भिक रूप में कला की अवहेलना अवश्य हुई थी। इसका प्रधान कारण आदर्शवादी काव्य रूपों एवं रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना थी। पन्त एवं निराला जैसे भाषा के कलाकार अपने छायावादी रूप के मोह को छोड़कर जन-साधारण की भाषा एवं अभिव्यक्ति के ढंग को लेकर इस क्षेत्र में उतरे थे। दूसरा कारण यह था कि प्रगतिवाद को अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अत्यधिक भयङ्कर संघर्ष लेना पड़ा था। युद्ध के समय हम हथियारों की चमक दमक की चिन्ता न कर उनके प्रभाव की चिन्ता करते हैं।

प्रगतिवाद हिन्दी में क्यों और कैसे आया? क्या यह भी ग्रियर्सन की 'भक्तिधारा' के समान विजली की एक चमक थी जो अकस्मात चमक उठी? क्या रूस का कोई साहित्यिक मिशन इस लवादे को लेकर भारत आया था कि "हे भारतवासियो हम तुम्हारे लिए यह नवीन उपहार लाए हैं जिसे पाकर तुम अपनी संस्कृति को भूल जाओगे।" प्रगतिवाद से पूर्व की एवं उसकी उत्पत्ति के समय की परिस्थितियों का विश्लेषण इन प्रश्नों का उत्तर देकर शंकाओं का समाधान कर देगा।

इतिहास का यह एक विचित्र संयोग है कि जिस समय यूरोप में कार्ल मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन का सृजन हो रहा था ठीक उसी समय या उससे भी कुछ पहले से भारत में सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्थान की पुकार उठने लगी थी। राजा राममोहनराय एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती सांस्कृतिक आन्दोलनों के सूत्रधार थे। रूढ़िवादियों ने उनका भी विरोध किया था। दयानन्द ने स्पष्ट शब्दों में राष्ट्रीयता और स्वराज्य की घोषणा की थी। उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा था कि—"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अपनी प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं होता।" स्वामी रामकृष्ण परमहंस, उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी रामतीर्थ आदि ने भी इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान में पर्याप्त योग दिया था। हिन्दी साहित्य पर इस उत्थान का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

राजनीतिक क्षेत्र में सन् १८५७ के बहुत पहले से ही विदेशी दासता से छुटकारा पाने की प्रवृत्ति जोर मार रही थी जिसका विस्फोट १८५७ के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन में हुआ। इस आन्दोलन के असफल हो जाने के पश्चात् महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र प्रकाशित हुआ जिसमें साधारण जनता

की पूर्ण उपेक्षा कर समाज के प्रतिक्रियावादी तत्वों, पंडितों, मुल्लाओं और राजा महाराजाओं को अभय प्रदान किया गया। अँग्रेजों की इस धूर्तता पूर्ण घोषणा से भारत का स्वाधीनता आंदोलन दबा नहीं बल्कि और बढ़ा। काँग्रेस की स्थापना ने इसे आगे बढ़ाया। हमारे साहित्यकार इस राजनीतिक गतिविधि के प्रति उदासीन नहीं थे। भारतेन्दु ने स्पष्ट रूप से विदेशी राज्य में होने वाले आर्थिक शोषण का उल्लेख किया था।

यह ठीक है कि भारतेन्दु आदि के दृष्टिकोण में आर्थिक विषमता, वर्ग-संघर्ष आदि का रूप नहीं था परन्तु वे शोषण के विरोधी अवश्य थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी के आगमन ने क्रांति उत्पन्न कर दी। उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए विदेशी सभी वस्तुओं का वायकाट करने की घोषणा की। यह भी शोषण के प्रति खुला विद्रोह था। परन्तु इसमें वर्ग संघर्ष न होकर राष्ट्रीयता की भावना सब से ऊपर थी। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द जैसे कलाकार साहित्य में इसी राष्ट्रीय भावना का चित्रण करते रहे। इनका साहित्य सामयिक स्वाधीनता आन्दोलन का सचित्र इतिहास है। इसमें देश गौरव के गीत गाए गए, क्रांति का आह्वान किया गया, सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों का खंडन कर एक नवीन चेतना का प्रसार किया गया। इसका वर्ण्य विषय प्रधानतः विदेशी शासन एवं शोषण का विरोध कर स्वराज्य की स्थापना करना रहा। इस आंदोलन का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में रहने के कारण इन कलाकारों का दृष्टिकोण मानवतावादी रहा। द्विवेदी युगीन साहित्य एवं छायावादी साहित्य में इसी विश्व बन्धुत्व वाली भावना का अङ्कन रहा।

सन् १९१७ में रूस में सर्वहारा वर्ग की क्रांति द्वारा साम्राज्यवादी का उन्मूलन किया गया। इस समय तक भारत में भी नवीन प्रकार के पूँजीपति पनपने लगे थे। ताता, बिड़ला जैसे पूँजीपति भारतीय उद्योगों का प्रसार एवं उन्नति करने में संलग्न थे। विदेशी व्यापार की प्रतिद्वन्द्विता के कारण इन्हें राष्ट्र का समर्थन प्राप्त हो रहा था। इसलिए साहित्य में इनका विरोध नहीं हुआ। यह होने पर भी साहित्य में दीन-जनों की समस्याओं और पुकारों का चित्रण प्रारम्भ हो गया था। जमींदारों द्वारा किसानों पर हो रहे अत्याचारों और शोषण की तरफ साहित्यकारों का ध्यान जा चुका था। रूस में किसान-मजदूरों की विजय से भारत में भी चेतना की नई लहर फैली। प्रेमचन्द ने साहित्य में किसान मजदूरों की समस्याओं का चित्रण करना प्रारम्भ किया। कलाकार पूँजीपतियों के, चाहे वे देशी हों या विदेशी, असली शोषक रूप को समझकर उनका विरोध करने लगे। यहीं से वर्ग-संघर्ष की भावना का चित्रण

प्रारम्भ हुआ। प्रसाद ने 'कंकाल' एवं 'तितली' नामक उपन्यासों में अन्ध-रूढ़ियों एवं जमींदारों के अत्याचारों का खुला चित्रण किया। प्रेमचन्द के 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'सेवा-सदन', 'गोदान' आदि उपन्यास इन्हीं भावनाओं को लेकर आगे बढ़े। पन्त एवं निराला ने काव्य के क्षेत्र में जनता की आवाज को ऊपर उठाया। उन्होंने इसके लिये काव्य की प्राचीन एवं अपने समय में प्रचलित परम्पराओं का विरोध कर साहित्य को जन-जीवन के साथ ला बैठाया।

इस नवीन प्रवृत्ति के कारण पूँजीपतियों, जमींदारों, सूदखोरों, धर्म के ठेकेदारों एवं समाज के प्रच्छन्न शत्रुओं के असली रूप का पर्दाफाश किया जाने लगा। क्योंकि ये ही लोग जनता की वर्तमान दीन-हीन दशा के मुख्य कारण थे। प्रगतिवादी साहित्य से पूर्व, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है, भारत में वर्ग-संघर्ष की समस्या नहीं थी। परन्तु यह धारणा गलत है। जमींदार और किसान का संघर्ष, विदेशी सत्ता से संघर्ष, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति संघर्ष क्या वर्ग-संघर्ष का प्रतीक नहीं होता? इन सम्पूर्ण संघर्षों का मूलाधार अर्थ ही रहा है। दूसरी बात यह है कि पूँजीपतियों और मजदूरों के संघर्ष को कुछ लोग विदेशी भावना समझते हैं क्योंकि इसका चित्रण इससे पूर्व भारतीय साहित्य में नहीं मिलता। यह ठीक है। जब यहाँ मिल मालिक ही नहीं थे तो सामूहिक रूप से मजदूर ही कहाँ से इकट्ठे होते। जब मिलें बनीं, मजदूर आए तो शोषक और शोषित की समस्या उठना स्वाभाविक था। यदि यहाँ मिलें न होतीं तो केवल रूस के अनुकरण पर तो यहाँ पूँजीपति और मजदूरों की समस्या उठ खड़ी होती। जब समस्या है तभी तो उसका चित्रण होगा। और जब इस वर्ग-संघर्ष का चित्रण होने लगा तो साहित्य के ठेकेदारों को हिन्दी की पचास वर्ष से चली आती हुई परम्परा टूटती दिखाई दी। उन्हें पश्चिम द्वारा भारत की सांस्कृतिक विजय की आशंका होने लगी।

इस विरोध का कारण यह है कि रूढ़िवादी कभी नवीनता को स्वीकार नहीं कर पाते। साहित्य में किस नवीन प्रवृत्ति का रूढ़िवादियों द्वारा विरोध नहीं हुआ है? छायावाद का विरोध द्विवेदी जी आदि ने किया, प्रगतिवाद का विरोध रूढ़िवादी एवं पूँजीपतियों के समर्थकों ने किया। कहीं इस विरोध के मूल में अपनी साहित्यिक गद्दी छिन जाने का भय रहा और कहीं वर्ग-स्वार्थ रहा। कहीं केवल दृष्टिकोण का संकुचित होना भी इसका कारण बना।

प्रगतिवाद का विरोध होने का एक कारण स्वयं प्रगतिवाद का प्रारम्भिक

की पूर्ण उपेक्षा कर समाज के प्रतिक्रियावादी तत्वों, पंडितों, मुल्लाओं और राजा महाराजाओं को अभय प्रदान किया गया। अँग्रेजों की इस धूर्तता पूर्ण घोषणा से भारत का स्वाधीनता आंदोलन दबा नहीं बल्कि और बढ़ा। काँग्रेस की स्थापना ने इसे आगे बढ़ाया। हमारे साहित्यकार इस राजनीतिक गतिविधि के प्रति उदासीन नहीं थे। भारतेन्दु ने स्पष्ट रूप से विदेशी राज्य में होने वाले आर्थिक शोषण का उल्लेख किया था।

यह ठीक है कि भारतेन्दु आदि के दृष्टिकोण में आर्थिक विषमता, वर्ग-संघर्ष आदि का रूप नहीं था परन्तु वे शोषण के विरोधी अवश्य थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी के आगमन ने क्रांति उत्पन्न कर दी। उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए विदेशी सभी वस्तुओं का वायकाट करने की घोषणा की। यह भी शोषण के प्रति खुला विद्रोह था। परन्तु इसमें वर्ग संघर्ष न होकर राष्ट्रीयता की भावना सब से ऊपर थी। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द जैसे कलाकार साहित्य में इसी राष्ट्रीय भावना का चित्रण करते रहे। इनका साहित्य सामयिक स्वाधीनता आन्दोलन का सचित्र इतिहास है। इसमें देश गौरव के गीत गाए गए, क्रांति का आह्वान किया गया, सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों का खंडन कर एक नवीन चेतना का प्रसार किया गया। इसका वर्ण्य विषय प्रधानतः विदेशी शासन एवं शोषण का विरोध कर स्वराज्य की स्थापना करना रहा। इस आंदोलन का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में रहने के कारण इन कलाकारों का दृष्टिकोण मानवतावादी रहा। द्विवेदी युगीन साहित्य एवं छायावादी साहित्य में इसी विश्व बन्धुत्व वाली भावना का अङ्कन रहा।

सन् १९१७ में रूस में सर्वहारा वर्ग की क्रांति द्वारा साम्राज्यवादी का उन्मूलन किया गया। इस समय तक भारत में भी नवीन प्रकार के पूँजीपति पनपने लगे थे। ताता, बिड़ला जैसे पूँजीपति भारतीय उद्योगों का प्रसार एवं उन्नति करने में संलग्न थे। विदेशी व्यापार की प्रतिद्वन्द्विता के कारण इन्हें राष्ट्र का समर्थन प्राप्त हो रहा था। इसलिए साहित्य में इनका विरोध नहीं हुआ। यह होने पर भी साहित्य में दीन-जनों की समस्याओं और पुकारों का चित्रण प्रारम्भ हो गया था। जमींदारों द्वारा किसानों पर हो रहे अत्याचारों और शोषण की तरफ साहित्यकारों का ध्यान जा चुका था। रूस में किसान-मजदूरों की विजय से भारत में भी चेतना की नई लहर फैली। प्रेमचन्द ने साहित्य में किसान मजदूरों की समस्याओं का चित्रण करना प्रारम्भ किया। कलाकार पूँजीपतियों के, चाहे वे देशी हों या विदेशी, असली शोषक रूप को समझकर उनका विरोध करने लगे। यहीं से वर्ग-संघर्ष की भावना का चित्रण

प्रारम्भ हुआ। प्रसाद ने 'कंकाल' एवं 'तितली' नामक उपन्यासों में अन्ध-रूढ़ियों एवं जमींदारों के अत्याचारों का खुला चित्रण किया। प्रेमचन्द के 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'सेवा-सदन', 'गोदान' आदि उपन्यास इन्हीं भावनाओं को लेकर आगे बढ़े। पन्त एवं निराला ने काव्य के क्षेत्र में जनता की आवाज को ऊपर उठाया। उन्होंने इसके लिये काव्य की प्राचीन एवं अपने समय में प्रचलित परम्पराओं का विरोध कर साहित्य को जन-जीवन के साथ ला बैठाया।

इस नवीन प्रवृत्ति के कारण पूँजीपतियों, जमींदारों, सूदखोरों, धर्म के ठेकेदारों एवं समाज के प्रच्छन्न शत्रुओं के असली रूप का पर्दाफास किया जाने लगा। क्योंकि ये ही लोग जनता की वर्तमान दीन-हीन दशा के मुख्य कारण थे। प्रगतिवादी साहित्य से पूर्व, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है, भारत में वर्ग-संघर्ष की समस्या नहीं थी। परन्तु यह धारणा गलत है। जमींदार और किसान का संघर्ष, विदेशी सत्ता से संघर्ष, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति संघर्ष क्या वर्ग-संघर्ष का प्रतीक नहीं होता? इन सम्पूर्ण संघर्षों का मूलाधार अर्थ ही रहा है। दूसरी बात यह है कि पूँजीपतियों और मजदूरों के संघर्ष को कुछ लोग विदेशी भावना समझते हैं क्योंकि इसका चित्रण इससे पूर्व भारतीय साहित्य में नहीं मिलता। यह ठीक है। जब यहाँ मिल मालिक ही नहीं थे तो सामूहिक रूप से मजदूर ही कहाँ से इकट्ठे होते। जब मिलें बनीं, मजदूर आए तो शोषक और शोषित की समस्या उठना स्वाभाविक था। यदि यहाँ मिलें न होतीं तो केवल रूस के अनुकरण पर तो यहाँ पूँजीपति और मजदूरों की समस्या उठ खड़ी होती। जब समस्या है तभी तो उसका चित्रण होगा। और जब इस वर्ग-संघर्ष का चित्रण होने लगा तो साहित्य के ठेकेदारों को हिन्दी की पचास वर्ष से चली आती हुई परम्परा टूटती दिखाई दी। उन्हें पश्चिम द्वारा भारत की सांस्कृतिक विजय की आशंका होने लगी।

इस विरोध का कारण यह है कि रूढ़िवादी कभी नवीनता को स्वीकार नहीं कर पाते। साहित्य में किस नवीन प्रवृत्ति का रूढ़िवादियों द्वारा विरोध नहीं हुआ है? छायावाद का विरोध द्विवेदी जी आदि ने किया, प्रगतिवाद का विरोध रूढ़िवादी एवं पूँजीपतियों के समर्थकों ने किया। कहीं इस विरोध के मूल में अपनी साहित्यिक गद्दी छिन जाने का भय रहा और कहीं वर्ग-स्वार्थ रहा। कहीं केवल दृष्टिकोण का संकुचित होना भी इसका कारण बना।

प्रगतिवाद का विरोध होने का एक कारण स्वयं प्रगतिवाद का प्रारम्भिक

रूप भी रहा है। यह नवीन भौतिकवादी दृष्टिकोण रूस से प्रभावित था। रूस में कम्युनिस्ट पार्टी का प्रचार करने के लिए प्रचारात्मक साहित्य बहुत बड़े परिमाण में प्रकाशित होकर देश और विदेश में प्रचारित किया जा रहा था। नवीन जोश में हिंदी के वे युवक साहित्यिक, जो कम्युनिस्ट पार्टी से प्रभावित थे, इस प्रकार का साहित्य रचने लगे जो एक प्रकार से प्रचारात्मक साहित्य था। कम्युनिस्ट पार्टी का बदलता रहने वाला गलत रवैया भी इसकी प्रगति में बाधक बनता रहा। यह नवीन साहित्य पूरी तरह से पार्टी से प्रभावित राजनीतिक वाणी का स्वरूप धारण करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि इस साहित्य का कलापक्ष दिन प्रतिदिन गिरता चला गया।

यह स्थिति देखकर प्रगतिवादी साहित्यिकों में दो दल बन गए। एक दल प्रचारात्मक साहित्य का समर्थन कर लेखकों पर राजनीतिक अंकुश को कायम रखने का नारा लगाने लगा। दूसरे दल ने राजनीतिक अंकुश की मान्यता को अस्वीकार कर यह माँग उठाई कि साहित्यिक पर राजनीतिक अंकुश रहने से वह स्वतन्त्र रूप से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। उसकी रचना 'टाइप' बन कर रह जाती है। अतः साहित्यिक को इस राजनीतिक अंकुश से मुक्त रखना चाहिए। इस संघर्ष ने प्रगतिशील साहित्य को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। इसे देखकर विरोधी यह आक्षेप करने लगे कि ये लोग रूस के गुलाम हैं अतः भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के घातक हैं। इसके अतिरिक्त नवीनता के इस जोश ने दूसरी गलती यह कराई कि कुछ प्रगतिवादी सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य को सामन्तों का समर्थक साहित्य मानकर वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी जैसे कलाकारों को प्रतिक्रियावादी सिद्ध करने लगे। उन्हें 'प्रसाद' जैसे मनीषी भी प्रतिक्रियावादी प्रतीत हुए।

इस साहित्यकार को तीसरा भयंकर धक्का उन कलाकारों के प्रगतिवादी बन जाने से लगा जो कुंठावाद को ही एकमात्र प्रगति का सूचक मानकर कुंठित भावनाओं का ही चित्रण करने लगे। प्रारम्भ में इसी भ्रम के कारण 'अज्ञेय' जैसे व्यक्ति भी प्रगतिवादी घोषित कर दिए गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इस साहित्य में कुंठित काम-भावनाओं के अश्लील चित्रण को ही मनोविज्ञान एवं कुंठावाद का नकाब पहनाकर प्रगतिशीलता मानी जाने लगी। इससे इस साहित्य पर अश्लीलता का दोषारोपण हुआ। परन्तु आगे चलकर प्रगतिशील आलोचकों ने इन सम्पूर्ण न्यूनताओं को पहचाना और इन्हें दूर करने का आन्दोलन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अब प्रगतिवादी कलाकार पर से पार्टी का अंकुश बहुत सीमा तक हटा लिया गया है। साहित्य को केवल राजनीति का ही प्रचार-अस्त्र न मान कर अब व्यक्ति की स्वतन्त्र

सत्ता को भी स्वीकार कर लिया गया है लेकिन उसी सीमा तक जहाँ तक वह प्रगतिवाद के मूलभूत सिद्धान्तों—आर्थिक विषमता और वर्ग-संघर्ष के प्रति ईमानदार रहता है। अज्ञेय जैसे फ्रायडवादियों की भी कलई खोल कर उन्हें प्रतिक्रियावादी सिद्ध कर दिया गया है। साहित्यिक समीक्षा के मानदंड बदल चुके हैं। प्राचीन साहित्य को उचित सम्मान प्रदान किया जा रहा है। राजनीतिक संकीर्ण भावना के स्थान पर अब विस्तृत दृष्टिकोण के आधार पर रचनाएँ हो रही हैं। कला पक्ष के प्रति भी कलाकार अधिक सचेत हो उठे हैं।

इस विवेचन के उपरान्त अब रूढ़िवादी महारथियों के उन आक्षेपों को भी सरसरी निगाह से देख लिया जाय जो उन्होंने प्रगतिवाद पर लगाए हैं। इनमें से कुछ आक्षेप संक्षेप में निम्नलिखित हैं—१—यह एकांगी है। २—धर्म, ईश्वर, आस्तिकता जो भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ हैं, उनसे इसका कोई मोह नहीं है। यह अध्यात्म, संस्कृति और चेतना से शून्य है। ३—साहित्य का चिरन्तनता पर इसका विश्वास नहीं। यह प्राचीन साहित्य को सामन्त-शाही का पोषक मानता है। ४—यह समाज के यथार्थ और वास्तविक चित्रण पर जोर देता है। यह समाज की गन्दगी का चित्रण कर उसके विरुद्ध क्रांति की भावना उत्पन्न करता है। ५—इसका दृष्टिकोण एकांगी होने के कारण यह केवल असत् का चित्रण करता है। शांन्ति की अपेक्षा संघर्ष में इसका विश्वास है। इसके मूल में प्रचार की ऊपरी चहल-पहल है, सृजन की भीतरी साधना नहीं। ६—इसका चरम लक्ष्य शारीरिक और आर्थिक सुख ही है। भौतिक सुख से परे इसकी दृष्टि नहीं जाती। ७—अधिकाश प्रगतिशील लेखकों में शोषित वर्ग के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति है। 'प्रगतिवादी लेखक स्प्रिंगदार मखमली सोफों पर बैठ कर बिजली के पंखे के नीचे खस की टट्टी की ओट में पारकर पेन से मजदूरों पर कविता लिखता है।' इसीलिए ये रचनाएँ कृत्रिम और भड़कीली होती हैं। ८—इसकी दृष्टि में नारी का एक ही रूप है— उपभोग्य रमणीत्व। इसलिए इसमें सेक्स का अश्लील चित्रण होता है। ९—ये लोग देश की प्राचीन संस्कृति के शत्रु हैं। १०—ये समाज के सम्मुख कोई आदर्श प्रस्तुत नहीं करते।

उपर्युक्त आक्षेपों में से कई के कारण हम ऊपर बता आये हैं। यहाँ दो एक अन्य प्रमुख कारणों पर और विचार करेंगे। इन आक्षेपों में कुछ ठीक हैं, कुछ प्रगतिवाद को न समझने के परिणाम हैं तथा कुछ के मूल में द्वेष की गंध है। इसका एक कारण यह भी रहा है कि कुछ साहित्यिक प्रगतिवाद का बाना पहन कर प्रगतिवाद को बदनाम कर रहे हैं। अस्तु,

पं० नन्ददुलारे बाजपेयी ने प्रगतिवाद पर एकांगी होने का आरोप लगाते हुये लिखा है कि—"एक बड़ी कमी यह भी है कि वे रचित साहित्य के साथ सामाजिक वस्तुस्थिति का योग नहीं देखते बल्कि एक स्वरचित वस्तु-स्थिति के आधार पर साहित्यिक रचना की परीक्षा करते हैं।·· इसकी (प्रगतिवाद की) सीमा में साहित्य के जो समाज शास्त्रीय विवेचन होते हैं वे आवश्यकता से बहुत अधिक समाज-शास्त्रीय हैं और आवश्यकता से बहुत कम साहित्यिक। इस कारण मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति साहित्य के भावात्मक और कलात्मक मूल्यों का निरूपण करने में सदैव पश्चात्पद रही है।"[१] परन्तु उपर्युक्त भ्रान्ति मार्क्सवाद को भली प्रकार न समझ पाने के कारण ही उत्पन्न हुई है। साहित्य और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाते हुए एवं उनकी मार्क्सवादी व्याख्या करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि—"मार्क्सवाद पर जो एकांगी होने का दोष लगाया गया है, वह वस्तुगत सत्य नहीं। मार्क्सवाद हमें संसार की घटनाओं को उनकी परस्पर संबद्धता में देखने के लिए कहता है। वह सामाजिक विकास के नियमों से हमें परिचित कराता है और उनके प्रकाश में अपने युग की गतिविधि को पहचानने में हमारी सहायता करता है।

कुछ निष्पक्ष आलोचकों ने प्रगतिवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं—१—प्रगतिशील युग के अन्तर्गत प्रगतिशील व्यक्तियों को पहचानना। २—प्राचीन तथा नवीन विचारधाराओं की तुलना। ३—नवीन समस्याओं का प्रगतिशील हल। ४—असङ्गत प्राचीनता के मोह का त्याग। ५—नवीन समस्याओं के सम्बन्ध में साहित्यिक प्रेरणा। ६—रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन। ७—जीवन के यथार्थ स्वरूप का कलात्मक उद्घाटन। ८—कला का लक्ष्य नई प्राण प्रतिष्ठा, नई टेकनीक, नूतन छन्द, नवीन भाषा और नई भावाभिव्यक्ति। ९—जीवन का ध्येय—सतत् विकास।

प्रगतिवाद की उपर्युक्त विशेषताओं को लक्ष्य कर हिन्दी के अनेक उदारमना आलोचकों में से कुछ ने मुक्त कंठ से और कुछ ने संकोचपूर्ण भाषा में प्रगतिवाद की उपयोगिता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। बाबू गुलाबराय का कथन है कि—"प्रगतिवाद हमको स्वार्थ-परायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शैय्या सेवी अकर्मण्य नहीं रखा है।"[२] प्रगतिवाद के कट्टर आलोचक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी अन्त में यह स्वीकार कर लिया कि—"साहित्य के सामाजिक लक्ष्यों और उद्देश्यों का विज्ञापन करने वाली यह पद्धति साहित्य का बहुत कुछ उप-

१—**साहित्य विवेचन की भूमिका—वाजपेयी**

२—**प्रबन्ध-प्रभाकर—बाबू गुलाबराय।**

कार भी कर सकी है। उसने हमारे युवकों को एक नई तेजस्विता भी प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी मिला है।......हम यह भी नहीं कहते कि प्रगतिवादी समीक्षा ने हिंदी को कुछ दिया ही नहीं। उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं : प्रथम यह कि काव्य साहित्य का समन्वय सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है ; द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव-सम्बन्धी एक नई माप-रेखा' एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित प्रयोग हम करेंगे।"[१]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी प्रगतिशील साहित्य की सम्भावनाओं के प्रति आशान्वित होकर लिखते हैं कि—"इनके सिद्धान्त और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं, लेकिन ये लोग कम्युनिस्ट-पार्टी के साथ जुड़े हुए हैं, यही जरा खटकता है। अगर ये लोग दल द्वारा परिचालित होना छोड़ दें तो सब ठीक हो जाय।... प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान उद्देश्य से चलित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनायें अत्यधिक हैं। भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य, दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज के नए जीवन दर्शन से चलित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन हो सकता है।"[२]

हिंदी में प्रगतिवादी आन्दोलन के वर्तमान रूप के प्रारम्भ होने से पूर्व भी भारतीय कवि देश के अपमान से क्षुब्ध होकर देश की स्वतन्त्रता अथवा संसार के सम्पूर्ण नाश का नारा लगा रहे थे। परन्तु उनके सामने कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर क्रान्ति—विध्वंसकारी क्रांति—का आह्वान कर रहे थे। उन पर गांधीवाद का भी पर्याप्त प्रभाव था इसलिए उनकी यह विध्वंसक भावना कोई निश्चित मार्ग न खोज सकी क्योंकि गांधीवाद में इस भावना के लिए कोई स्थान नहीं था। इसीलिए उनका विरोध प्रभावकारी न बन सका। इन कवियों में नवीन, सोहनलाल द्विवेदी, एक भारतीय आत्मा, दिनकर आदि प्रमुख हैं। इन लोगों का जीवन या राजनीति के प्रति कोई स्पष्ट एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था। ऐसा कोई दृष्टिकोण न

१—**साहित्य-विवेचन की भूमिका—वाजपेयी।**

२—**प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें—डा० रामविलास शर्मा**

रहने पर लेखक सब कुछ कहकर भी किसी दशा का निर्देश नहीं कर पाता। इसका नवीनतम उदाहरण इलाचंद्र जोशी के 'जहाज का पंछी' नामक उपन्यास में मिला है।

मार्क्सवादी दर्शन ने असन्तोष एवं विद्रोह की भावना को एक स्पष्ट एवं दृढ़ जीवन-दर्शन देकर उसे प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाया। इस प्रभाव में रूसी समाजवादी लेखकों से पर्याप्त प्रेरणा मिली। प्रसिद्ध रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की ने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यथार्थवादी प्रगतिशील चित्रण करना प्रारम्भ कर दिया था। रूसी क्रान्ति की सफलता के उपरान्त रूसी साहित्य का प्रभाव भारतीय लेखकों पर बढ़ा। प्रेमचन्द ने रूसी कथा साहित्य का प्रभाव अपने यथार्थ चित्रण में ग्रहण किया। प्रसाद ने 'कंकाल' एवं 'तितली' में इसका अङ्कन किया। इन दोनों लेखकों ने अपने उपन्यासों द्वारा वर्ग-चेतना को जगाया यद्यपि उन्होंने कहीं कम्युनिस्ट पार्टी का उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रगतिवाद युग की पुकार तो अवश्य थी मगर उसका जीवन दर्शन बहुत कुछ पश्चिम से प्रभावित था।

सन् १९३५ में लखनऊ में हिंदी प्रगतिशाल लेखक संघ की पहली बैठक प्रेमचंद की अध्यक्षता में हुई। इस नवीन संघ को कवीन्द्र रवीन्द्र और शरच्चन्द्र जैसे कलाकारों का आशीर्वाद एवं सहयोग प्राप्त हुआ। उस समय इसका सामयिक उद्देश्य फासिस्टवाद का विरोध करना था। कुछ समय तक प्रेमचन्द इसके कर्णधार रहे। प्रारम्भ में जब प्रेमचन्द ने इस धारा को देखा तो उन्होंने समझ लिया था कि यह नवीन विचारधारा है तो अच्छी परन्तु उसमें एकांगिता की छाया है। वह इसका प्रारम्भिक रूप था। इसका विरोध करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि प्रगति तो सदैव रही है, फिर यह नाम देना उचित नहीं है। संघ के प्रथम अधिवेशन के सभापति पद से भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि—"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो सब में गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे; सुलाए नहीं क्योंकि अधिक सोना मृत्यु का लक्षण है।" प्रेमचन्द का विरोध इस नवीन विचारधारा के नामकरण से भले ही रहा हो परन्तु उन्होंने उच्च साहित्य के जो लक्षण बताये थे उन्हें प्रगतिवाद ने पूरा करके उनके स्वप्न को बहुत अंशों में पूरा कर दिया है, इसमें संदेह नहीं। यह दूसरी बात है कि प्रगतिवाद के प्रारम्भिक रूप में कला की न्यूनता, नवीन विचारधारा का अत्यधिक जोश होने के कारण राजनीति का अधिक पुट,

नीरसता आदि कमियां अवश्य थीं परन्तु कालान्तर में उन्हें बहुत कुछ दूर कर उसके स्वरूप को सुन्दर एवं सशक्त बना दिया गया।

प्रेमचन्द के उपरान्त इस धारा को सबसे बड़ी प्रेरणा और बल निराला से मिला। उन्होंने गद्य-पद्य दोनों के माध्यम से इस धारा को सम्पन्न एवं शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। उनकी 'चतुरी चमार', 'पगली' आदि कहानियाँ एवं 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि उपन्यास प्रगतिवादी साहित्य के सुन्दर उदाहरण हैं। काव्य में उनके 'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते' आदि संग्रह एवं अनेक फुटकर कविताओं में प्रगतिवादी विचारधारा का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। पन्त ने 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र निकाल कर इस आन्दोलन को पर्याप्त शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। वे 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'युगान्त' आदि की रचना कर प्रगतिवाद के प्रबल समर्थक बन गए। कुछ आलोचकों ने तो पन्त को ही प्रगतिवाद का प्रथम कवि घोषित किया है। परन्तु पन्त की बौद्धिक सहानुभूति, विचारों की स्वाभाविक कोमलता और परस्पर विरोधी उलझे हुए दृष्टिकोण उन्हें इस क्षेत्र में स्थायी रूप से रखने में असमर्थ रहे। अतः वे कल्पना की मनोरमता और अटपटी दार्शनिकता के जिस क्षेत्र से आये थे पुनः वहीं लौट गये।

प्रगतिवादी अन्य कवियों में सुमन, रांगेयराघव, दिनकर एवं नरेन्द्र आदि प्रसिद्ध हैं।

प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित 'हंस' ने कुछ समय तक प्रगतिवाद का नेतृत्व किया था। इसके द्वारा अनेक नए प्रगतिशील विचारधारा के कवि और लेखक प्रकाश में आए। इन साहित्यकारों ने प्रगतिवाद को एक दर्शन के रूप में अपनाया। मार्क्सवाद के सिद्धान्त इनके काव्याधार बने। इनमें शंकर शैलेन्द्र, केदारनाथ, नागार्जुन, अली सरदार जाफरी, नीरज, शील, रामविलास शर्मा आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। आज प्रगतिवादी साहित्य का सृजन उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, समालोचना, कविता आदि साहित्य के सभी रूपों में हो रहा है। इसके—

प्रमुख उपन्यासकार—निराला, राहुल, रांगेय राघव, यशपाल, कृष्णचन्द्र, अमृतलाल, नागार्जुन, राजेन्द्र यादव आदि।

प्रमुख कहानीकार—रांगेय राघव, यशपाल, कृष्णचन्द्र, राहुल, अमृतलाल नागर, राजेन्द्र यादव आदि।

प्रमुख निबन्धकार—रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय, शिवदानसिंह चौहान आदि।

प्रमुख आलोचक— रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, चन्द्रबलीसिंह, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, नामवरसिंह आदि हैं।

उपर्युक्त साहित्यकारों के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि को भी पर्याप्त सैद्धान्तिक विरोध रहते हुए भी प्रगतिवादी मान लिया जाता है।

३५—प्रतीकवाद

प्रतीक शब्द का अर्थ है चिन्ह, प्रतिनिधि या प्रतिरूप। जब मानव अपनी भावना की विषद् अभिव्यक्त करने में सीधे-सादे ढंग से सफल नहीं हो पाता तब प्रतीकों की सहायता से उसकी अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करता है। जब हमारा किसी वस्तु से प्रथम परिचय होता है तब उसी समय से उसके साथ हमारी कतिपय भावनाओं का सम्बन्ध जुड़ जाया करता है। होता यह है कि हमारी इन्द्रियाँ किसी वस्तु का परिचय प्राप्त कर उसे हमारे मानस-पटल तक पहुँचा देती हैं जहाँ उसकी सम्पूर्ण रूप-रेखा एवं स्मृति सदैव सुरक्षित रहती है। आवश्यकता पड़ने पर हम उन्हें पुनः कभी भी पहचान लेते हैं और उनकी अनुपस्थिति में भी उनका वर्णन कर अन्य व्यक्तियों को उनका परिचय सरलता-पूर्वक दे लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उस वस्तु से सम्बन्धित शब्द एवं प्रसंग हमें सदैव याद रहते हैं।

'सौन्दर्य' शब्द के उच्चारण मात्र से ही हमारे मन में 'मधुरता' का भाव उदय होता है क्योंकि इस शब्द से हमारे तद्जनित ज्ञान का सम्बन्ध है जो हमारे मन में मधुरता का भाव उत्पन्न करता है। परन्तु जब हम किसी ऐसे शब्द को सुनते हैं जिसका हमें कोई ज्ञान नहीं होता तो उसके सम्बन्ध में हमारे मन में कोई विशिष्ट भाव उत्पन्न नहीं होता। संथाली भाषा का एक शब्द है, 'बतर' जिसका अर्थ है 'भयंकर'। मगर जब हमारा इस शब्द-विषयक कोई ज्ञान ही नहीं है तो हम इस शब्द द्वारा व्यक्त भयंकरता भाव का अनुभव नहीं कर सकते। इसलिए भाव का आरोप शब्द में न होकर उसके ज्ञान में होता है। इस ज्ञान से उत्पन्न भाव का सम्बन्ध हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान पर आधारित रहता है जिसे हम दूसरों के लिए अन्य चित्रों में अभिव्यक्त भी करते रहते हैं।

हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान से सम्बन्धित विषयों के अतिरिक्त भी कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनकी हमें प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य ज्ञान नहीं होता किन्तु जिनकी कल्पना हम बहुधा अपने तर्क, विश्वास अथवा अनुमान द्वारा कर लिया करते हैं। उन विषयों का प्रत्यक्ष भान न होने के कारण हमारे सम्मुख यह समस्या उठ खड़ी होती है कि हम उन्हें अभिव्यक्त कैसे करें। ऐसी दशा में

हमारी भाषा की अभिधा शक्ति कुण्ठित हो जाती है और हम लक्षणा शक्ति द्वारा काम लेते हैं। उदाहरण के लिये 'आत्मा' और 'परमात्मा' शब्द ले लीजिए। हम इन्हें बचपन से सुनते चले आए हैं किन्तु ये दोनों ही अगम्य और अगोचर समझे जाते हैं। इन्हें आज तक किसी ने भी नहीं देखा। इसी कारण इनके जो वर्णन मिलते हैं उनमें परस्पर बहुत भिन्नता मिलती है। ब्रह्म विद्या परमात्मा को ही संसार का कारण मानती है जब कि आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में उसकी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती।

आत्मा परमात्मा के अतिरिक्त और भी अनेक दार्शनिक विषय ऐसे हैं जिनका समुचित वर्णन, हम भाषा की अभिधा या लक्षणा शक्ति द्वारा नहीं कर सकते। ऐसे विषयों को हम कवि समयों या अलङ्कारों की सहायता से भी बोधगम्य नहीं बना पाते। रूपक, समासोक्ति या अन्योक्ति अलङ्कारों की सहायता से हम किसी अप्रस्तुत या प्रस्तुत को सामने लाकर विषय को स्पष्ट कर देते हैं। हमारे इन प्रस्तुत या अप्रस्तुत विषयों का हमारा ज्ञान इन्द्रियजन्य रहता है। परन्तु जब हम किसी अगोचर विषय या वस्तु का चित्रण करते हैं तो इन अलङ्कारों का हमारा ज्ञान भी हमारी सहायता नहीं कर पाता।

जब साम्य के आधार पर किसी शब्द को किसी भावना या वस्तु का चिन्ह, प्रतिनिधि या प्रतिरूप मान लिया जाता है तब उसके प्रयोग द्वारा वर्णन में मार्मिकता आ जाती है। उदाहरण के लिए 'उषा' शब्द को लीजिए। यह आनन्द या सौख्य का प्रतीक माना जाता है। इसी प्रकार 'आशा' शब्द 'प्रभात' का तथा 'प्रभात' आशा का प्रतीक माना जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमा से स्निग्धता, आह्लाद तथा शीतल ज्योत्स्ना का; कुमुदिनी से शुभ्र हास का; प्रकाश से उच्चता, अनन्तता, सूक्ष्मता का; समुद्र से अगाधता, गम्भीरता, प्रचुरता का; हंस से विवेक, पक्षपात-हीनता का तथा पतिंगे से लगन तथा एकनिष्ठा का भाव-संकेत मिलता है। प्रतीक रूप में प्रयुक्त शब्द से स्वतः भावनाओं के विकास की योजना हो जाती है जैसा कि 'उषा' तथा 'प्रभात' के कहते ही क्रमशः आनन्द तथा आशा की पूर्ण व्यंजना हो जाती है। चूँकि प्रतीक किसी न किसी विशिष्ठ अर्थ की व्यंजना के लिए प्रयुक्त होते हैं इसलिए उनके द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है उसमें अनुभूति की तीव्रता अनिवार्यतः आ जाती है। इसीलिये गम्भीर और उच्चकोटि के कवि सदैव प्रतीकों के आश्रय से अपने भावों की व्यंजना करते आये हैं।

प्रतीक से केवल चिन्ह, प्रतिरूप या संकेत का ही आभास नहीं दिया जाता बल्कि वह उस सम्बन्धित वस्तु का एक जीता-जागता एवं क्रियाशील प्रतिनिधि होता है। इसके प्रयोग द्वारा उस वस्तु से सम्बन्धित सभी प्रकार के

भावों का सरल एवं सफल अभिव्यक्तीकरण हो जाता है। इसमें चमत्कार प्रियता या उक्ति वैचित्र्य का भी स्थान नहीं रहता। यह तो केवल उस वस्तु के जटिल एवं दुर्बोध रूप को सरल एवं सुबोध कर देने मात्र का एक साधन भर है। इसका प्रयोग साधारणतः उसी समय किया जाता है जब हमारी भाषा उस वस्तु का चित्रण करने में असमर्थ हो उठती है। ऐसी दशा में हम अपने जीवन में देखी या अनुभव की हुई वस्तुओं में उसके साम्य को खोजने का प्रयत्न करने लगते हैं और जो वस्तु हमें पूर्ण रूपेण या आंशिक रूप से भी समान मिल जाती है वह हमारा प्रतीक बन जाती है।

ऐसे प्रतीकों का चुनाव अपने दैनिक जीवन के अनुभवों में से किया जाता है। कुछ प्रतीक परम्परा से 'कवि प्रसिद्धि' के रूप में चले आते हैं। कुछ ऐसे प्रतीक होते हैं जो किसी सम्प्रदाय विशेष की परम्परा में युगों से चले आते हैं और जिनका प्रयोग उसी सम्प्रदाय की साधना पद्धतियों में किया जाता है। साधारणतः प्रतीकों का प्रयोग विषय को स्पष्ट एवं सरल करने के लिये ही किया जाता है किन्तु कभी-कभी उनका प्रयोग किसी गोपनीय साधना विशेष को, केवल उसमें दीक्षित व्यक्तियों के ही लिये स्पष्ट करने के लिये भी किया जाता है। उन्हें केवल उस साधना-विशेष से सम्बन्धित व्यक्ति ही समझ सकते हैं। इसलिए सर्व साधारण के लिये वे अत्यन्त दुरूह प्रतीत होते हैं। सिद्धों की संध्या-भाषा, हठयोगियों की योग-साधना तथा कबीर आदि की उलटबाँसियों में आए हुये प्रतीक ऐसे ही हैं। कुछ ग्रन्थ तो पूरे के पूरे प्रतीकों के आधार पर ही चलते हैं जैसे प्रसादजी की 'कामायनी'। इसमें 'श्रद्धा' कोमल भावनाओं की प्रतीक है और 'इड़ा' पुरुष भावनाओं तथा बुद्धिवाद की। इनके द्वारा कामायनी में व्यक्त गम्भीरतम भावनाओं को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इनके सहारे पाठक अर्थ को सहज रूप से समझता चलता है।

प्रतीकों का परम्परा, संस्कृति, परिस्थिति आदि से बड़ा गहरा सम्बन्ध रहता है। परिस्थिति और संस्कृति की भिन्नता से प्रतीक भी भिन्न हो जाते हैं। एक ही प्रतीक सर्वत्र एकसा भाव ध्वनित नहीं कर सकता। जलवायु, रहन-सहन, सभ्यता, शिष्टाचार, विचार परम्परा आदि के अनुकूल ही प्रतीक बनाये जाते हैं। एक देश में प्रयुक्त प्रतीक दूसरे देश में भी मान्य हों यह आवश्यक नहीं है। भारत के सूफी-काव्य की मादकता द्वारा ईश्वरोन्मुख प्रेम की गम्भीरता प्रकट की जाती थी। भारत के वैदिक साहित्य में सोमरस का बहुत महत्व मिलता है। उसके परवर्ती साहित्य में भी सुरा-पान को बुरा नहीं माना गया है परन्तु हमारे काव्य में सोमरस या सुरा को प्रतीक के रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया गया। यहाँ उनका स्थान 'सुधा' ने ले लिया है। 'सुधा'

या 'अमृत' को किसी ने भी न देखा और न चखा है। परन्तु परम्परा से उसके स्वरूपगत आकर्षण तथा अद्भुत जीवन प्रदायिनी शक्ति की जो धारणा हमारे मन में जमती चली आई है वह हमारी भाव-व्यंजना को बल-प्रदान करती है। यूरोप के उत्तरी देशों में धूप सौख्य और आनन्द की प्रतीक मानी जाती है और हमारे यहाँ, विशेषकर गर्मियों में वही ताप और दुख की प्रतीक है। ऐसे प्रतीक बहुत कम हैं जिन्हें विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त हो। चन्द्रमा को अवश्य ऐसा प्रतीक माना जा सकता है जो विश्व-साहित्य में सर्वत्र सौन्दर्य का प्रतीक माना गया है।

प्रतीक प्राय: अगोचर वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिये ही प्रयुक्त होते हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रतीक भी सर्वत्र गोचर वस्तु ही हो। प्रतीक की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह भाव या विचार को जाग्रत करे फिर चाहे वह गोचर हो या अगोचर। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, कल्पवृक्ष आदि किसी ने भी नहीं देखे परन्तु इसका सम्बन्ध कालान्तर से हमारी संस्कृति के साथ जुड़ा चला आता है। इसलिये इनका प्रतीकवत् व्यवहार हमारे मन में विशिष्ट भावों की उद्भावना कर देता है।

हमारे काव्य में प्रतीकों का व्यवहार बहुत कम हुआ है। वे अलङ्कार-प्रणाली के भीतर उपमान के रूप में अधिक प्रयुक्त होते हैं। इसका विवेचन आगे किया जायगा।

हमारे काव्य में प्रतीकों का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से होता चला आया है। आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिये वैदिक ऋषि भी इनकी सहायता लेते थे। उपनिषदों में ब्रह्म वर्णन सूर्य चन्द्र आदि के प्रतीकों से किया है। सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, सन्त-साहित्य आदि से लेकर आधुनिक छायावाद एवं प्रयोगवाद तक में प्रतीकों का महत्व अक्षुण्ण रहा है। फिर भी आज जो प्रवृत्ति साहित्य में 'प्रतीकवाद' के नाम से प्रचलित है वह सामान्य प्रतीक पद्धति की वाचक न होकर, प्रगतिवाद, छायावाद एवं प्रयोगवाद की तरह एक विशिष्ट पद्धति की रचनाओं के लिये प्रयुक्त की जाती है। यह शब्द वास्तव में यूरोप के Symbolism का हिन्दी रूपान्तर है।

साहित्य के अन्य वादों के समान 'प्रतीकवाद' की जन्मभूमि की फ्रान्स ही माना जाता है। यह धारा वहाँ से चलकर इंगलैण्ड, जर्मनी तथा अमेरिका तक फैली थी। फ्रांस में सन् १८७० में 'तीसरी रिपब्लिक' की स्थापना एवं बाद में उस पर जर्मनी के आक्रमण और नेपोलियन तृतीय की कायरता के कारण एक निराशा फैल गई। यहाँ एक बात और कह दी जाय। यह आश्चर्य का विषय है कि अधिकांश साहित्य वादों की उत्पत्ति निराशा के ही कारण हुई है। विद्वान् हिन्दी के छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि की

उत्पत्ति भी निराशा के कारण मानते हैं। सन्त-काव्य की उत्पत्ति को भी कुछ विद्वान् अब तक निराशा की उत्पत्ति मानते आये थे। क्या निराशा ही सदैव नवीनता का आह्वान करती है ? आशा कभी नहीं कर पाती ? यह विषय मनोविज्ञान के पंडितों के लिये विचारणीय है। अस्तु,

कुछ प्रतीक वादियों के अनुसार हमारे सभी भाव, अनुभव, जीवन के विशिष्ट क्षण आदि एक दूसरे से सटे रहकर भी इतने विलग, इतने गतिशील और अग्राह्य होते हैं कि न तो हमारी अभिव्यक्ति ही उन्हें यथावत् व्यक्त कर पाती है और न हमारी स्मरण शक्ति में ही उनका वह रूप स्थिर रह पाता है। साथ ही व्यक्ति की विभिन्नता के अनुरूप ही उसकी अनुभूतियों, सम्वेदनाओं तथा अनुभवों में भी अन्तर होता है। इसलिये एक सामान्य भाषा इतनी विभिन्नताओं का भार कैसे वहन कर सकती है ! अतः स्वभावतया प्रत्येक कवि को अपने विशिष्ठ अनुभवों की व्यंजना के लिये नई शैली, नये विम्बों की योजना और नये प्रतीकों का विधान करना पड़ता है। (हमारे प्रयोगवादी कवियों का भी विचार कुछ-कुछ इसी प्रकार का है।) परन्तु अनुभूति के विषय इतने अग्राह्य, अनुपम और अकथनीय होते हैं कि उनका संकेत मात्र ही किया जा सकता है। वे केवल व्यंजित हो सकते हैं, अभिव्यक्त नहीं। "प्रतीकवादी कवियों ने भाषा की इसी असमर्थता को दूर करने के लिए ध्वनि संकेत तथा बिम्ब-संकेतों की सहायता से अपनी अभिव्यक्ति को अनुभूत सम्वेदना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रोमांच का बना दिया।" इन लोगों ने "रोमांच के आगे वाह्य एवं अन्तर्जगत के बोध; बौद्धिकता तथा भावना का पूर्ण बहिष्कार किया। 'ध्वनि' और 'सुगन्धि' की अजीव-अजीव धारणाएँ प्रवर्तित कीं। अन्तर्मन की यादगारें, ध्वनियाँ, प्रतिध्वनियाँ, सूक्ष्मतम तरंगें, रहस्यपूर्ण संकेत ही कविता की विषय-वस्तु बने।" (राजनारायण विसारिया—प्रतीकवाद की स्थापना)

यूरोपिय प्रतीकवाद ने काव्य में निम्नलिखित नई बातों का समावेश किया—

(१) शैली तथा व्यंजना-सम्बन्धी नवीन प्रयोग करके कविता को रूढ़ि ग्रस्तता से मुक्त किया।

(२) अतुकान्त तथा मुक्त छन्द की अवतारणा की।

(३) कविता और सङ्गीत में सामंजस्य स्थापित किया।

(४) साहित्य को राजनीति द्वारा आक्रान्त होने से बचाए रखा।

(५) सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा की।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रतीकवाद 'कला कला के लिये' सिद्धान्त का अनुयायी था।

हिन्दी के छायावादी काव्य में प्रतीकवाद की उपर्युक्त विशेषताएँ पूर्ण रूप से मिल जाती हैं। आचार्य शुक्ल ने छायावाद का विवेचन करते हुये, इसी साम्य को देखकर, लिखा था कि—"हिन्दी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहण हुआ है वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का समान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली-छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।" शुक्ल जी 'इस प्रतीक शैली को चित्रभाषा शैली भी कहते हैं जिसमें उनके शब्दों में—"जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार होता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाले अप्रस्तुत छन्दों का विधान भी।"

प्रतीकों का विधान साम्य के आधार पर ही किया जाता है। हमारे यहाँ साम्य तीन प्रकार का माना गया है—सादृश्य (रूप या आकार का साम्य), साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) तथा केवल शब्द साम्य में तो केवल श्लेष की शब्द क्रीडा होती हैं। सादृश्य और साधर्म्य में प्रभाव-साम्य रहता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं।" इसलिए प्रतीकवाद में प्रभाव साम्य पर ही विशेष बल दिया जाता है। परन्तु इसके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि उसमें वाह्य प्रभाव-साम्य हो क्योंकि—"कहीं कहीं तो बाहरी सादृश्य साधर्म्य अत्यन्त अल्प न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य को लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीकवती (Symbolic) होते हैं, जैसे—सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनकाल आदि के स्थान पर उनके द्योतक ऊषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अन्धकार, अन्धेरी रात, या संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान; भावप्रवाह के लिये सङ्गीत या मुरली का स्वर इत्यादि।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि हिन्दी साहित्य में छायावाद से पहले प्रतीकों का प्रयोग ही नहीं हुआ। प्रतीकों की परम्परा बहुत प्राचीन है। सिद्ध साहित्य एवं नाथ साहित्य में प्रतीकों की भरमार रही। उनमें प्रतीकों के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। उनके कुछ प्रतीक तो ऐसे हैं। जिनमें आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को लौकिक सम्बन्धों के रूप में व्यक्त किया

है। इनमें दोनों का मानवीय सम्बन्ध स्थापित किया है। सन्त-साहित्य में सिद्धों और नाथों के प्रतीकों का खुलकर प्रयोग किया गया है। कबीर आदि ने ईश्वर से माता, पिता, स्वामी, पति आदि के अनेक सम्बन्ध स्थापित किए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है जिन्हें सांकेतिक प्रतीक कहते हैं जैसे 'गगन मण्डल' से ब्रह्मरंध्र का, बंकलाल से सुषुम्ना नाड़ी का। हठयोग के पारिभाषिक प्रतीकों का भी इस सम्पूर्ण साहित्य में खुलकर प्रयोग किया गया है। नाथ पंथियों में मूलाधार के लिये सूर्य और सहस्रार के अमृतत्व के लिये चन्द्र पारिभाषिक प्रतीक माने जाते हैं। हठयोग में कुछ संख्यामूलक प्रतीक भी प्रयुक्त होते हैं। कबीर का एक पद देखिये—

"चौसठ दिया जोय के, चौदह चन्दा माहि।
तेहि घर किसका चानडौ जेहि घर गोविन्द नाहि॥"

यहाँ 'चौदह' शब्द १४ विद्याओं का और 'चौसठ' ६४ कलाओं का द्योतक है। इनके अतिरिक्त कबीर आदि के काव्य में रूपात्मक प्रतीकों की तो भरमार है। कबीर के रूपक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी उलट-बांसियों में अद्‌भुत प्रतीकों का प्रयोग कर उन्हें जटिल बना दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक ही वस्तु के लिये कई-कई प्रतीकों का प्रयोग किया है–

मन—मच्छ, मीन, जुलाहा, सियार, सावंज, रोझ, हस्ती, मतंगज आदि।

जीवात्मा—जुलाहा, पुत्र, पारथ, दुलहा, सिंघ, मूसा, भौंरा, योगी आदि।

कबीर के प्रतीक उनके काव्य के प्राण हैं। इनसे उसमें सजीवता और मौलिकता की सृष्टि होती है जो पाठक को आश्चर्य चकित कर आनन्द मग्न कर देता है।

सिद्धों, नाथों और सन्तों के काव्य में प्रतीक-स्थापन की प्रवृत्ति का बाहुल्य इस कारण रहा है कि इनकी उपासना पद्धतियाँ रहस्य भावना से परिपूर्ण थीं क्योंकि उन लोगों ने प्रतीकों का उपयोग उन्हीं स्थलों पर किया है जहाँ वे अपनी रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति करना चाहते हैं। प्रतीकों के मोह को तुलसी और सूर भी नहीं छोड़ सके हैं। तुलसी के चातक-प्रेम सम्बन्धी सम्पूर्ण दोहों में प्रतीकों का खुलकर उपयोग किया गया है। सूर के भ्रमरगीत में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। इन लोगों के प्रतीक सरल, सहज और बोध गम्य हैं। रीतिकाल में आकर उनका प्रयोग तो अवश्य किया गया परन्तु चमत्कार और उक्ति वैचित्र्य के मोह से ग्रस्त रीतिकालीन कवियों ने उन्हें अपनी क्लिष्ट-कल्पना द्वारा जटिल और दुरूह बना दिया। उन्होंने प्रतीक को साधन न मान

कर साध्य बना डाला और उन प्रतीकों की भी वही छीछालेदर हुई जो उनके अलङ्कारों की हुई थी।

आधुनिक काल के छायावादी, प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी काव्य में प्रतीकों को बहुत महत्व प्राप्त हुआ है। छायावादी काव्य में तो कवियों ने प्रकृति का प्रयोग प्रतीक के रूप में विशेष रूप से किया है। इसके लिये उन्होंने नए प्रतीकों की अवतारणा की है। झंझा को हृदय के उद्वेग और विद्युत को स्मृति का प्रतीक मानकर नवीन लाक्षणिक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। छायावादी प्रतीकों का उल्लेख ऊपर आचार्य शुक्ल द्वारा गिनाए गये प्रतीकों में किया जा चुका है। यहाँ केवल एक उदाहरण ही यथेष्ठ होगा।

"झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ घेरा डाला॥"

यहाँ "झंझा झकोर" क्षोभ और आकुलता का, 'गर्जन' वेदना की तड़प का, 'बिजली' चमक या टीस का, 'नीरदमाला' अन्धकार का, 'शून्य' शब्द हृदय के विशेषण के अतिरिक्त आकाश का प्रतीक भी है।

इधर प्रयोगवाद नामक नवीन काव्य-पद्धति में प्रतीकों को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इसके मूल में यूरोपिय प्रतीकवाद का प्रभाव कार्य कर रहा है। छायावाद में प्रकृति प्रतीक रूप में आई थी जिसमें पर्याप्त अस्पष्टता थी। प्रयोगवाद की प्रतीक पद्धति में प्रकृति का स्थान अवचेतन विज्ञान ने ले लिया है। इसलिए इनके प्रतीक और भी अधिक दुरूह और जटिल हो गए हैं।

कविता के अतिरिक्त हिन्दी गद्य साहित्य में भी प्रतीकों का प्रयोग हुआ हैं। 'नवरस' नामक नाटक के विभिन्न पात्र विभिन्न रसों के प्रतीक हैं।

प्रतीकों का स्वरूप सर्वत्र और सदैव एक-सा नहीं रहता। उनमें परम्परा स्थान, काल और प्रयोग करने वाले कवि के विशिष्ठ व्यक्तित्व के कारण अन्तर पड़ जाता है। परम्परागत प्रतीक सदैव मान्य रहते हैं क्योंकि उनसे हमारी संस्कृति एवं परम्परा का लगाव रहता है। जैसे 'ऊषा' को सुख का और संध्या या रात्रि को दुख और अज्ञान का प्रतीक माना गया है। ये प्रतीक पहले भी मान्थ थे, आज भी मान्य हैं और भविष्य में भी मान्य रहेंगे। देशभेद या स्थान भेद से भी इनमें अन्तर पड़ जाता है जिसका उदाहरण हम पीछे योरोपीय धूप और भारतीय धूप के रूप में दे आए हैं। कुछ प्रतीक किसी युग विशेष में ही सम्मान पाते हैं जैसे छायावादी काव्य के 'मधुमास' और 'पतझड़' क्रमशः सुख और दुख के प्रतीक थे मगर पहले इस रूप में कभी भी प्रयुक्त नहीं हुए और अब प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य में भी इनका प्रयोग बहुत कम होने

लगा है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व उत्तर भारत में 'लाल पगड़ी' पुलिस के सिपाही का प्रतीक थी मगर अब पुलिस के सिपाही लाल पगड़ी के स्थान पर फौजी टोपी पहनने लगे हैं इसलिए अब इस प्रतीक का प्रयोग बन्द सा हो गया है।

हिंदी में एक ही साहित्य इस प्रकार का मिलता है जिसमें प्रतीकों का ही बाहुल्य है, वह है 'अन्योक्ति-साहित्य'। इसे शुद्ध रूप से प्रतीकात्मक साहित्य माना जा सकता है। दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ अपने रूप में अद्वितीय हैं। सभी ने उनको पढ़ा होगा इसलिए उदाहरण देना व्यर्थ हैं।

विद्वानों ने साहित्य में प्रतीकों के प्रयोग को आवश्यक मानते हुए भी यह कहा है कि उनका प्रयोग भाव-सौन्दर्य और काव्य सौंदर्य को बढ़ाने में सहायक होना चाहिए। ऐसे प्रतीक, जिनकी उद्भावना केवल नवीनता प्रदर्शित करने के लिए ही की जाती है, काव्य के सौन्दर्य एवं प्रभाव के लिए घातक होते हैं क्योंकि ये जन-साधारण की समझ से परे होते हैं। यदि उनका भाव या विचार से कोई सम्बन्ध नहीं है तो वे व्यर्थ हैं। उनका भाव और विचार सापेक्ष होना ही उनके काव्यगत महत्व की अभिवृद्धि में सहायक होता है। परन्तु आज के प्रयोगवादी साहित्य से ऐसे-ऐसे नवीन प्रतीकों की उद्भावना की जा रही है जिनका भाव और विचार से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता। हिन्दी प्रयोग-वाद के मूल में यूरोपीय प्रतीकवाद की अनेक प्रतिक्रियावादी विशेषताएँ भरी हुई हैं। इसका उद्देश्य भी प्रगतिशील शक्तियों एवं विचारधाराओं का विरोध कर काव्य की उच्चता, शाश्वतता एवं कलात्मक सौन्दर्य के थोथे नारे लगाकर जनता को गुमराह करना है।

३६—अभिव्यंजनावाद

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में अभिव्यंजनावाद उसे माना जा सकता है जिसमें—"किसी बात को कहने का ढंग ही सब कुछ है, बात चाहे जैसी या जो हो अथवा कुछ ठीक-ठिकाने की न भी हो। ·······काव्य में मुख्य वस्तु है आकार या साँचा जिसमें वह वस्तु या भाव ढाला जाता है। ······ तात्पर्य यह है कि अभिव्यंजना के ढङ्ग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यंजना की जाती है, वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्य-क्षेत्र के बाहर की बात है।" आगे आप अभिव्यंजनावाद का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि—"इस वाद में तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो अर्थ छिपा रहता है वह स्वतः कविता नहीं है। पर यह बात इतनी दूर तक नहीं घसीटी जा सकती कि उस उक्ति की मार्मिकता का अनुभव उसकी तह में छिपी हुई वस्तु या भाव पर बिना दृष्टि रखे ही हो सकता है। बात यह है कि 'अभिव्यंजनावाद' भी 'कलावाद' की तरह काव्य का लक्ष्य बेल बूटे की नक्काशी वाला सौन्दर्य मानकर चला है, जिसका मार्मिकता या भावुकता से कोई सम्बन्ध नहीं। अन्य कलाओं को छोड़कर यदि हम काव्य को ही लें तो इस 'अभिव्यंजनावाद' को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।"

नीतिवादी आलोचक आचार्य शुक्ल को जिस उपर्युक्त 'वाद' ने इतना क्रुद्ध कर रखा था उसकी प्रवर्त्तक इटली का आधुनिक युग का प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोशे (क्रोचे) माना जाता है। क्रोशे के इस कलावादी अभिव्यंजनावाद की संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर आचार्य शुक्ल के शब्दों में उपस्थित की जा चुकी है जिसके अनुसार इस वाद की परिभाषा में वे ही काव्य-कृतियाँ आ सकती हैं जो 'काव्य का लक्ष्य बेल-बूटे की नक्काशी वाला सौन्दर्य' मानकर चलती हैं। इसमें केवल अभिव्यक्ति के प्रकार और श्रेष्ठता पर ही बल दिया जाता है—काव्य की आत्मा भाव या रस पर नहीं। साथ ही उसमें वस्तु या वर्ण्य-विषय का भी कोई मूल्य नहीं। क्रोशे के इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में यूरोपिय समीक्षाशास्त्र की एक लम्बी परम्परा कार्य कर रही थी। इसलिए क्रोशे के इस सिद्धान्त को समझने के लिए पहले उसका संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र पर 'रोमान्टि-

सिज्म' (कल्पना या स्वच्छन्दतावाद) का प्रभाव बढ़ने लगा था । जर्मनी के लेसिंग, बिंकेलमैन, कान्ट और गेटे जैसे दार्शनिक और कला-समीक्षक इसका नेतृत्व कर रहे थे । लेसिंग का सिद्धान्त 'सौन्दर्य-सिद्धान्त' कहलाता है जिसके अनुसार काव्य और कलाएं आत्मा के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती हैं तथा आत्म-सौन्दर्य से सम्पन्न अभिव्यंजना ही काव्य मानी जाती है वह भावाभि-व्यंजना को काव्य का मुख्य उद्देश्य मानते हुए उसके कलागत सौन्दर्य को भी अनिवार्य मानता था । उसका कहना था कि वह अभिव्यंजना, जो कलागत सौन्दर्य से हीन है, श्रेष्ठ अभिव्यंजना नहीं मानी जा सकती । इस प्रकार लेसिंग के मतानुसार सौन्दर्य और अभिव्यंजना के तत्वों का संयोग अनिवार्य है।

विंकेलमैन ने इस सिद्धान्त को और आगे बढ़ाकर कला में अभिव्यंजना के तत्व को और स्पष्ट किया है । वह कला में अभिव्यंजना की प्रधानता मानते हुए भी उसके अन्तरंग एवं बहिरंग में संतुलन चाहता था । कान्ट ने कला का स्थान विशुद्ध ज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान का मध्यवर्ती मानकर कला को अनु-भूति का क्षेत्र माना । इस प्रकार उसने सर्व प्रथम कलाक्षेत्र की स्वतन्त्रता की माँग उठाई । इसी नवीन साहित्यिक प्रवृत्ति को रोमान्टिसिज्म कहकर पुकारा गया । इसके अनुसार कवि को किसी बाह्य प्रकृति या नियम से बाधित नहीं माना गया । परन्तु आगे चलकर काव्य रचना के प्रेरक कारणों और निर्माण के साधनों के अनुशीलन की ओर ध्यान दिया गया । कोलरिज ने काव्य की व्याख्या करते हुए कहा कि—सौन्दर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, काव्य है ।" इस व्याख्या के अनु-सार वस्तु जगत और मन का अन्तर दूर होकर कवि की मानसिक चेष्टा ही कला-निर्माण का एकमात्र आधार बन जाती है । इसके द्वारा दार्शनिक ज्ञान से तथा व्यावहारिक या नैतिक तथ्य से कलावस्तु की भिन्नता के सिद्धान्त की स्थापना हुई ।

'रोमान्टिसिज्म' के प्रारम्भ में कला में व्यक्तिवाद की प्रमुखता थी । उस समय कवि के भाव-जगत को सार्वजनिक वस्तु नहीं स्वीकार किया जाता था । परन्तु गेटे और कोलरिज जैसे कवि और समीक्षकों ने काव्यगत अभिव्यंजना को व्यक्तिगत भूमि से ऊपर उठाकर उसे लोक-सामान्य भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया । इस प्रकार साहित्य में अभिव्यंजना-सिद्धान्त को एक विस्तृत क्षेत्र मिल गया जिसे आगे चलकर क्रोशे ने शास्त्रीय रूप दिया । उसने सर्व प्रथम अभिव्यंजना की एक वाद के रूप में प्रतिष्ठा कर इसे काव्यकला का एकमात्र सिद्धान्त या सत्य घोषित किया ।

मानस-दर्शन का विवेचन करते हुए क्रोशे ने मन के दो व्यापार माने हैं—

(१) ज्ञान (प्रज्ञा) और (२) क्रिया (संकल्प)। एक सिद्धान्त है और दूसरा व्यापार। उसने ज्ञान के भी दो विभाग किए हैं—

प्रातिभ ज्ञान—(Intuition)। इसे कल्पना जनित ज्ञान भी कहा जाता है। बुद्धि की क्रिया के बिना मन में अपने आप उठने वाली मूर्त्त भावना को प्रातिभ-ज्ञान या सहजानुभूति कहते हैं। इसका आधार कल्पना होती है। कल्पना द्वारा हम जगत के नाना रूपों और क्रियाओं के उन प्रभावों का, जो वे हमारी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से निरन्तर हमारे मस्तिष्क पर डालते रहते हैं, एक विशिष्ट भावों के अनुकूल बिम्ब अपने अतःकरण में उपस्थित करते हैं। दूसरे शब्दों में इसे कल्पना में उद्‌भूत ज्ञान, 'व्यक्ति का संकेत गृह' अर्थात् किसी एक वस्तु का ज्ञान कह सकते हैं।

(२) **प्रमेय ज्ञान**—(Logic or Concept)—इसका सम्बन्ध तर्क शास्त्र से है। तर्क से हम प्रातिभ-ज्ञान के उपर्युक्त प्रभावों की पारस्परिक तुलना करते, उनके गुणों की समता तथ विषमता के अनुसार उनका वर्गीकरण करते और फिर उनके शासक नियमों का उद्‌घाटन करते हैं। यह निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान, पृथक-पृथक व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् '**जाति का संकेत गृह** है।'

उपर्युक्त ज्ञान के दो खण्डों में से क्रोशे कला-सम्बन्धी ज्ञान में प्रातिभ-ज्ञान अथवा '**व्यक्ति के संकेत गृह**' को प्रधान मानता है। संस्कृत के प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने भी इस बात को स्वीकार किया था। उन्होंने भी 'जाति' की अपेक्षा 'व्यक्ति' को ही प्रधान माना है।

क्रोशे कला के क्षेत्र में साँचा (Form) को ही सब कुछ मानता है। वस्तु (Matter) का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। प्रातिभ ज्ञान का साँचे में ढलकर व्यक्त होना कल्पना है और वही मूल अभिव्यंजना (Expression) है। इसके अनुसार सौन्दर्य उक्ति में ही होता है, उस उक्ति में उपादान के रूप में भरे व्यक्त गोचर प्रसार का सुन्दरता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि वास्तविक वस्तु अथवा काव्य की वर्ण्य वस्तु में सौन्दर्य नहीं हुआ करता, सौन्दर्य होता है उसकी अभिव्यंजना में अर्थात् उक्ति में। यही बात कुन्तक ने भी कही है—"वस्तु मात्र च शोभातिशयशून्य न काव्य व्यपदेशमर्हति।" क्रोशे ने स्पष्ट लिखा है कि—The easthetic fact is form, and nothing but form। क्रोशे ने सौंदर्य की अवस्थिति उक्ति में मानी है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह वस्तु की पूर्ण उपेक्षा करता है। वस्तु का भी अपना मूल्य है। वस्तु के बिना आकृति किस

की होगी ? वस्तु के आधार पर ही हमारी आध्यात्मिक सत्ता को आकृति मिलती है।

उपर्युक्त उक्ति की सुन्दरता, क्रोशे के अनुसार, प्रातिभ ज्ञान की कल्पना द्वारा ही सम्भव है। कल्पना की मूर्ति विधान करती है। वस्तु से मन पर चिह्न (Impressions) अङ्कित होते हैं जो कल्पना के आधार बनते हैं। क्रोशे ने कल्पना को विचार से पृथक माना है। वह कल्पना को बुद्धि-प्रसूत भी नहीं मानता बल्कि मन की एक स्वतन्त्र सत्ता को मानता है। वह विचार का सम्बन्ध बुद्धि से मानता है क्योंकि तर्क-वितर्क विचार के साथ चलता है। सौन्दर्य का बोध कराने वाली भी कल्पना है। वस्तु के सौन्दर्य का उद्घाटन कल्पना द्वारा होता है। पन्त ने अपनी उद्बुद्ध कल्पना द्वारा ही 'छाया' का मूर्त्त रूप उपस्थित करने में सफलता पाई है—

"कौन कौन तुम परिहत वसना,
म्लान मना भू पतिता सी,
धूलि धूसरित मुक्त कुन्तला,
किसके चरणों की दासी।"

इसलिए क्रोशे 'कला' पर कल्पना का स्वच्छन्द शासन मानता है। उसका मत है कि प्रत्येक वस्तु में कल्पना का अस्तित्व होता है। जिस कवि की कल्पना जितनी तीव्र होगी वह उतना ही अच्छा कवि होगा। क्रोशे का कहना है कि मन पर दृश्य जगत की नाना वस्तुओं की जो छाया पड़ती है, उन्हीं को कल्पना द्वारा नया बिम्ब प्रदान कर अभिव्यंजित करना ही कवि-कर्म है।

अब यहाँ क्रोशे की सहजानुभूति (Intuition) और विचार (Concept) पर भी विचार कर लिया जाय।

सहजानुभूति कला का बोध-पक्ष है और विचार तर्क का बोध-पक्ष। मन कल्पना करता है और बुद्धि बिचार। सहजानुभूति में मन में बिना परिश्रम या गूढ़ कल्पना के किसी वस्तु का चित्र अपने आप अङ्कित हो जाता है। यथार्थ से भिन्न किसी स्वरूप की कल्पना करने के लिए गूढ़ता या परिश्रम की अपेक्षा होती है। ऐसा होने पर वह सहजानुभूति का यथार्थ चित्र नहीं रह जाता। लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' ने सहजानुभूति का एक उदाहरण दिया है जो निम्नलिखित है—

"भैया ! अपनी सरला को आठ दिन हुए एक बच्चा हुआ है। श्याम मुझे वह बहुत अच्छा लगता है। छोटा सा सफेद सफेद ! मन करता है, उसे दिन रात प्यार करती रहूं। मैं उसे पुचकारती हूं, बुलाती हूँ तो वह डर कर देखने लगता है, कान खड़े कर लेता है। कैसा पागल है। मैं कहती हूँ, नहीं मैं तुझे

पीटूँगी नहीं, प्यार करूँगी, तेरे साथ खेलूँगी । वह जैसे समझ जाता है और धीरे-धीरे मेरे पास आ जाता है । मैं उसका मुन्नी-मुन्नी मुँह अपनी गोद में ले लेती हूँ।"१

यह एक पत्र है जिसमें एक छोटी सी बालिका अपने भाई को अपनी गाय के नवजात बछड़े का वर्णन करते हुए उसे उसके जन्म की सूचना देती है। इसे पढ़कर आँखों के आगे एक सुन्दर, सफेद, भोले बछड़े का चित्र खिंच जाता है। इसमें पाठक को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। यही सहजानुभूति है। इसके विपरीत यदि हम यह कहें कि 'बछड़े सुन्दर होते हैं', तो यह उक्ति हमारे सामने बछड़े का वह मनोरम चित्र नहीं उपस्थित कर सकती जो कि उक्त बालिका के वर्णन द्वारा होता है। क्योंकि इसका सम्बन्ध हमारे विचारों से है। यह तथ्य का बोध कराती है। बालिका के वर्णन का जैसा प्रभाव पड़ता है वैसा दूसरी उक्ति का नहीं। पहला वर्णन हमारे मन में सौन्दर्य भावना जागरित कर देता है और दूसरे वर्णन द्वारा हमारे पूर्व-संचित ज्ञान-भण्डार में एक वृद्धि और होती है। पहला वर्णन हमारे हृदय को स्पर्श करता है और दूसरा हमारे मस्तिष्क में जमकर बैठ जाता है। "एक से हम बिम्ब ग्रहण करते हैं और दूसरी से अर्थ ग्रहण मात्र। एक से सौन्दर्य-भावना जागृत होती है और दूसरी से ज्ञान वृद्धि।" यही सहजानुभूति और विचार में अन्तर होता है।

क्रोशे जिस प्रकार आकृति (Form) पर जोर देता है उसी प्रकार भावों की सत्ता को महत्व न देकर कल्पना के बोध पक्ष को प्रधान मानता है। मन पर विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल ने इस बात का खंडन किया है। वे लिखते हैं कि—"इटैली-निवासी क्रोशे ने अपने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध स्वरूप ही माना है। उन्होंने स्वयं-प्रकाश-ज्ञान (Intuition)—प्रत्यक्षज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञानमात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार-प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतन्त्र और स्वतः पूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीटते ले गये हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवश्य नहीं माना है। पर, न चाहने पर भी अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्ण रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे वे अपना पीछा नहीं छुड़ा सके हैं।"२

१—**काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'**
२—**चिन्तामणि—आचार्य शुक्ल**

क्रोशे के मत को उपर्युक्त विवेचना करने के उपरान्त हम उसके सिद्धान्त को मोटे तौर पर इस प्रकार कह सकते हैं—

(१) कला सम्बन्धी ज्ञान प्रातिभ-ज्ञान है।

(२) प्रातिभ-ज्ञान की ही अभिव्यंजना होती है। प्रातिभ-ज्ञान ही अभिव्यंजना है।

(३) सौन्दर्य अभिव्यंजना में होता है। साँचे या आकृति (Form) का होता है, वस्तु (Matter) में सौन्दर्य नहीं होता।

(४) यदि भीतर अभिव्यंजना न होगी तो बाहर भी न होगी। मूलतः अभिव्यंजना आन्तर होती है।

आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा है। इसलिए यहाँ अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद की तुलनात्मक विवेचना अपेक्षित है। 'वक्रोक्ति जीवितम्' के रचयिता आचार्य कुन्तक, जो वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आदि प्रतिष्ठापक माने जाते हैं, के पूर्व भारतीय साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में रस, अलंकार, गुण और ध्वनि सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे। जब उस समय उक्त सम्प्रदायों में से केवल 'ध्वनि' को ही सर्वोपरि मान लिया गया तो नवीन समीक्षकों के लिये यह आवश्यक हो गया कि या तो 'ध्वनि' का खंडन करने के लिये वे 'ध्वनि' के दोषों का सुस्पष्ट उद्घाटन कर अपनी नवीन स्थापना को अधिक सुसंगत और प्रौढ़ प्रमाणित करने का प्रयत्न करें या किसी ऐसी चमत्कारिक आलोचना पद्धति को जन्म दें जो अपनी साहित्यिक विदग्धता एवं प्रभाव में ध्वनि की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो। इन दोनों मार्गों में से अपने वक्रोक्तिवाद की स्थापना कर कुन्तक ने दूसरा मार्ग अपनाया।

'वक्रोक्ति' का अर्थ है—विलक्षण या लोकान्तिक्रान्त कथन। कारण यह है कि उक्तियाँ तो सामान्य व्यवहार में भी लाई जाती हैं, पर उनसे रसोद्रेक नहीं हो सकता। कवि या काव्य का लोकोत्तर वर्णन ही सामाजिकों में रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। सन्धि करने में वक्रोक्ति के दो पद हो जाते हैं—वक्र+उक्ति। 'वक्र' का अर्थ है कुटिल, बाँका या विलक्षण। उक्ति का अर्थ है कथन। अतः वक्रोक्ति का अर्थ हुआ बांकापन या विलक्षणता से भरा हुआ कहने का ढंग। कुन्तक ने इसकी व्याख्या में 'वैदग्ध्य भंगी भणिति'' पद का प्रयोग किया है। यही असामान्य कथन काव्य का मूल तत्व है। अन्य सहकारी उपादान उसके सहायक हैं। 'वक्रता या विलक्षणता के अभाव में काव्य का

पीटूँगी नहीं, प्यार करूँगी, तेरे साथ खेलूँगी। वह जैसे समझ जाता है और धीरे-धीरे मेरे पास आ जाता है। मैं उसका मुन्नी-मुन्नी मुँह अपनी गोद में ले लेती हूँ।"१

यह एक पत्र है जिसमें एक छोटी सी बालिका अपने भाई को अपनी गाय के नवजात बछड़े का वर्णन करते हुए उसे उसके जन्म की सूचना देती है। इसे पढ़कर आँखों के आगे एक सुन्दर, सफेद, भोले बछड़े का चित्र खिंच जाता है। इसमें पाठक को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। यही सहजानुभूति है। इसके विपरीत यदि हम यह कहें कि 'बछड़े सुन्दर होते हैं', तो यह उक्ति हमारे सामने बछड़े का वह मनोरम चित्र नहीं उपस्थित कर सकती जो कि उक्त बालिका के वर्णन द्वारा होता है। क्योंकि इसका सम्बन्ध हमारे विचारों से है। यह तथ्य का बोध कराती है। बालिका के वर्णन का जैसा प्रभाव पड़ता है वैसा दूसरी उक्ति का नहीं। पहला वर्णन हमारे मन में सौन्दर्य भावना जागरित कर देता है और दूसरे वर्णन द्वारा हमारे पूर्व-संचित ज्ञान-भण्डार में एक वृद्धि और होती है। पहला वर्णन हमारे हृदय को स्पर्श करता है और दूसरा हमारे मस्तिष्क में जमकर बैठ जाता है। "एक से हम बिम्ब ग्रहण करते हैं और दूसरी से अर्थ ग्रहण मात्र। एक से सौन्दर्य-भावना जागृत होती है और दूसरी से ज्ञान वृद्धि।" यही सहजानुभूति और विचार में अन्तर होता है।

क्रोशे जिस प्रकार आकृति (Form) पर जोर देता है उसी प्रकार भावों की सत्ता को महत्व न देकर कल्पना के बोध पक्ष को प्रधान मानता है। मन पर विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल ने इस बात का खंडन किया है। वे लिखते हैं कि—"इटैली-निवासी क्रोशे ने अपने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध स्वरूप ही माना है। उन्होंने स्वयं-प्रकाश-ज्ञान (Intuition)—प्रत्यक्षज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञानमात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार-प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतन्त्र और स्वतः पूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीटते ले गये हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवश्य नहीं माना है। पर, न चाहने पर भी अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्ण रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे वे अपना पीछा नहीं छुड़ा सके हैं।"२

१—काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'
२—चिन्तामणि—आचार्य शुक्ल

क्रोशे के मत की उपर्युक्त विवेचना करने के उपरान्त हम उसके सिद्धान्त को मोटे तौर पर इस प्रकार कह सकते हैं—

(१) कला सम्बन्धी ज्ञान प्रातिभ-ज्ञान है।

(२) प्रातिभ-ज्ञान की ही अभिव्यंजना होती है। प्रातिभ-ज्ञान ही अभिव्यंजना है।

(३) सौन्दर्य अभिव्यंजना में होता है। साँचे या आकृति (Form) का होता है, वस्तु (Matter) में सौन्दर्य नहीं होता।

(४) यदि भीतर अभिव्यंजना न होगी तो बाहर भी न होगी। मूलतः अभिव्यंजना आन्तर होती है।

आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा है। इसलिए यहाँ अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद की तुलनात्मक विवेचना अपेक्षित है। 'वक्रोक्ति जीवितम्' के रचयिता आचार्य कुन्तक, जो वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आदि प्रतिष्ठापक माने जाते हैं, के पूर्व भारतीय साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में रस, अलंकार, गुण और ध्वनि सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे। जब उस समय उक्त सम्प्रदायों में से केवल 'ध्वनि' को ही सर्वोपरि मान लिया गया तो नवीन समीक्षकों के लिये यह आवश्यक हो गया कि या तो 'ध्वनि' का खंडन करने के लिये वे 'ध्वनि' के दोषों का सुस्पष्ट उद्घाटन कर अपनी नवीन स्थापना को अधिक सुसंगत और प्रौढ़ प्रमाणित करने का प्रयत्न करें या किसी ऐसी चमत्कारिक आलोचना पद्धति को जन्म दें जो अपनी साहित्यिक विदग्धता एवं प्रभाव में ध्वनि की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो। इन दोनों मार्गों में से अपने वक्रोक्तिवाद की स्थापना कर कुन्तक ने दूसरा मार्ग अपनाया।

'वक्रोक्ति' का अर्थ है—विलक्षण या लोकान्तिक्रान्त कथन। कारण यह है कि उक्तियाँ तो सामान्य व्यवहार में भी लाई जाती हैं, पर उनसे रसोद्रेक नहीं हो सकता। कवि या काव्य का लोकोत्तर वर्णन ही सामाजिकों में रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। सन्धि करने में वक्रोक्ति के दो पद हो जाते हैं—वक्र+उक्ति। 'वक्र' का अर्थ है कुटिल, बाँका या विलक्षण। उक्ति का अर्थ है कथन। अतः वक्रोक्ति का अर्थ हुआ बांकापन या विलक्षणता से भरा हुआ कहने का ढंग। कुन्तक ने इसकी व्याख्या में 'वैदग्ध्य भंगी भणिति'' पद का प्रयोग किया है। यही असामान्य कथन काव्य का मूल तत्व है। अन्य सहकारी उपादान उसके सहायक हैं। 'वक्रता या विलक्षणता के अभाव में काव्य का

कोई मूल्य नहीं। यह विलक्षणता शब्दरूपिणी भी हो सकती है और अर्थ-रूपिणी भी। कुन्तक ने काव्य में इन दोनों का स्थान माना है।

उपर्युक्त विवेचन का यही अर्थ निकलता है कि शास्त्रीय एवं व्यावहारिक विचारों तथा भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवि सामान्य मनुष्य द्वारा अपनाए गए मार्ग से भिन्न विलक्षणता या वक्रता का आश्रय लेता है। अभिव्यक्ति की नूतन प्रणालियों का सृजन करता है। उदाहरण के लिए एक सामान्य व्यक्ति प्रश्न करेगा—"आप कहाँ से आ रहे हैं ?" परन्तु शकुन्तला की सखी अनुसूया राजा दुष्यन्त से प्रश्न करती है—"किस देश की प्रजा को आपने अपने विरह से उत्सुक बनाया है ?" साधारण व्यक्ति का आपसे प्रश्न होगा—"आप कहाँ तक जायंगे ?" पर दमयन्ती दौत्यकर्म के लिये उपस्थित राजा नल से पूछती है—"महाराज निवेदन कीजिए, हमारा मन यह जानना चाहता है कि शिरीष कोष की मृदुता को भी मलीन बनाने वाले आपके ये चरण कहाँ तक चलने का प्रयास करना चाहते हैं ?" इस प्रकार वक्रोक्ति में बात तो वही कही जाती है परंतु उसके कहने के ढंग में एक ऐसा चमत्कार, एक ऐसी विशेषता और वाग्विग्धता होती है कि हम चमत्कृत हो उठते हैं। आगे चलकर तो वक्रोक्ति एक अलंकार के रूप में ही प्रयुक्त होने लगी।

इस प्रकार वक्रोक्ति भारतीय-काव्य-परम्परा का वह चमत्कारिक सिद्धान्त है जिसमें कर्ता या कृति पर विशेष दृष्टि रखकर काव्य के समस्त उपादानों का समुचित विवेचन किया जाता है। अभिव्यंजनावाद यूरोपिय सौन्दर्य-शास्त्र का महत्वपूर्ण किन्तु कलात्मक पक्ष है। इसके द्वारा क्रोशे ने कला-विषयक धारणा को ही उलट दिया। उसने कला को वस्तु-जगत से हटाकर सर्वथा मानस-व्यापार में पर्यवसित कर दिया एवं उसे केवल अभिव्यंजना माना। परन्तु वक्रोक्ति जीवितकार उस कृति को काव्य की संज्ञा देने में भी संकोच करेगा जिसमें अभिव्यंजना ही सब कुछ है—अभिव्यंग्य कुछ भी नहीं। उनके काव्य का लक्षण है कि—"काव्य तत्व मर्मज्ञों को आनन्द देने वाले, वक्रतापूर्ण कवि-व्यापार से मुक्त बन्ध में व्यवस्थापित शब्द और अर्थ एक होकर काव्य कहलाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस व्यापार में शब्द और अर्थ-अभिव्यंजना और अभिव्यंग्य मिलकर एक रूप हो जाते हैं वही काव्य है।' परन्तु क्रोशे काव्य में शब्द को ही प्राधान्य देता है क्योंकि उसके विचारानुसार काव्य की अभिव्यंजना शाब्दी ही हो सकती है। दूसरे शब्दों में हम इसे यों भी कह सकते हैं कि वक्रोक्तिवाद में अभिव्यंजना और अभिव्यंग्य को एक रूप माना है और अभिव्यंजनावाद में केवल अभिव्यंजना की ही प्रधानता है, वहाँ अभिव्यंग्य अर्थात् वस्तु का कोई मूल्य नहीं स्वीकार किया जाता। यह केवल साधन मात्र

है । यह ठीक है कि हमारे यहाँ वक्रोक्तिवाद में अभिव्यक्ति को अधिक महत्व अवश्य दिया गया है किन्तु विषय-पक्ष (भाव-पक्ष) की उपेक्षा न कर उसके महत्व को यथेष्ठ महत्व प्रदान किया गया है ।

क्रोशे का मत इससे भिन्न है । वह कलाओं में भावपक्ष या अनुभूति पक्ष को नगण्य मानता है । उसके मतानुसार इसके बिना भी केवल अभिव्यक्ति के बल पर कला-कृतियों का सृजन किया जा सकता है । इस प्रकार क्रोशे कला में संसार तथा जीवन की बातों का कोई स्थान नहीं मानता । वह 'बिना बात की बात' कहने में विश्वास करता है । इसी कारण उसका अभिव्यंजनावाद 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का सबसे प्रबल समर्थक सिद्ध हुआ ।

क्रोशे दृश्य-जगत की सत्ता नहीं मानता । उसके अनुसार "मन की ही एक प्रक्रिया दृश्य जगत को स्वरूप देती है और उसी की एक दूसरी प्रक्रिया उसका कलात्मक आकलन करती है ।" इस प्रकार उसकी दृष्टि में समस्त काव्य व्यापार एक मनोमय व्यापार ही है । इससे बाहर उसकी कोई सत्ता नहीं । काव्य तथा कलाओं को शुद्ध मानसिक व्यापार मानने के कारण ही क्रोशे सौन्दर्य को वस्तुगत न मानकर उसे मनुष्य के मन में स्थित मानता है । इसी से वह अभिव्यंजना को भी बाहरी या भौतिक क्रिया न मानकर शुद्ध रूप से मानसिक क्रिया मानता है । मन में किसी मूर्ति की कल्पना के जागृत होते ही उसकी अभिव्यंजना भी उदित हो जाती है । "मन की अत्यन्त सक्रिय अवस्था में वस्तु-जगत का जो प्रभाव उस पर प्रतिबिम्ब रूप में पड़ता है, उसी की अभिव्यंजना कविता और कलाओं में होती है ।"[१]

साधारणतः अभिव्यंजना कला के बाहरी रूप को कहा जाता है । जैसे कविता की अभिव्यंजना उसके शब्द और छन्द हैं । परन्तु क्रोशे इस बाह्य अभिव्यक्ति को अभिव्यंजना नहीं मानता । उसका कहना है कि—"शब्द या छन्द बाहर तभी प्रकट होते हैं जब मन पहले उन्हें गा चुकता है । अतः अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही अभिव्यंजना ।" इसलिये क्रोशे कहता है कि काव्य का शब्दबद्ध होना आवश्यक नहीं है । यह तो केवल बाह्य व्यक्तीकरण का कार्य है जो वास्तविक कवि कर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है । इस मत का परिणाम यह निकला कि क्रोशे बाह्य जगत में ही सौन्दर्य न मानकर उक्ति चमत्कार के सौन्दर्य पर विशेष बल देने लगा । इसलिए उसकी दृष्टि में कला का मूल्य केवल कला ही रह गया । कला किसी को आनन्द प्रदान करती है या घृणा अथवा क्रोध से भर देती है, कलाकार का इससे कोई सम्बन्ध नहीं । इस कला की अभिव्यंजना में क्रोशे ने चारों स्थितियाँ या प्रक्रिया मानी हैं

१—आधुनिक-साहित्य—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी

जिनका उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। इन चारों का सम्मिलित व्यापार पूर्ण अभिव्यंजना-विधान कहलाता है। इसका हृदय की गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध न होकर केवल कौतूहल उत्पन्न होता है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने अभिव्यंजनावाद का विवेचन करते हुए उस पर किये गए अनेक आक्षेपों और आरोपों का उल्लेख किया है और उनका उत्तर दिया है। वाजपेयी जी के मतानुसार पहला आक्षेप यह है कि—"क्रोचे काव्य को कवि की जिस आध्यात्मिक प्रक्रिया का परिणाम मानता है, उसका सम्बन्ध काव्य के श्रोताओं तथा पाठकों आदि से बिल्कुल नही रखा गया है।" यदि इस बात को मान लिया जाय तो क्रोशे के अनुसार काव्य सार्वजनिक वस्तु न रहकर व्यक्तिगत वस्तु ही रह जायगा। वाजपेयी जी का मत है कि कवि की वह मानसिक प्रक्रिया व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक होती है। इसी से मानव-मात्र उसका रसास्वादन कर सकते हैं। परन्तु जब तक वह मानसिक क्रिया शब्दों का आवरण पहनकर काव्य का रूप नहीं धारण करेगी तब तक उसका आस्वादन कैसे होगा। इस शङ्का का उत्तर क्रोशे इस प्रकार देता है कि—"हमें कवियों का अनुग्रह मानना चाहिए कि वे अपनी मानसिक कला-सृष्टि को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न भी करते आये हैं। इस दृष्टि से उसकी कलाकृति सार्वजनिक वस्तु तो बन जाती है परन्तु कवि मूलरूप से इसके लिए बाध्य नहीं है।

दूसरा आक्षेप यह है कि—"यदि कविता मन की सक्रिय अवस्था में अनुभूतियों के प्रकाशन का व्यापार है, तो उक्त व्यापार के सुन्दर या असुन्दर होने का, कला के श्रेणी विभाग का प्रश्न कैसे उठ सकता है ? कोई काव्य समाज की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है या नहीं, इसका भी निर्णय कैसे होगा ?" क्रोशे का उत्तर यह है कि काव्य तथा कलाओं का व्यापार एक अखंड अभिव्यक्ति है। इसके जो विभाजन दिखाई पड़ते हैं वे मौलिक नहीं है। अतः उसमें श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं। दूसरा यह कि कला मात्र सौन्दर्य की ही वस्तु है अतः उसके सुन्दर या असुन्दर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तीसरी बात यह है कि वह कला और नीति का कोई सम्बन्ध ही नहीं मानता। इसलिए कलाओं को नैतिक माप-दंड से नहीं नापा जा सकता, भले ही उसमें लोक-कल्याण की भावना मिल जाय, यह दूसरी बात है।

तीसरा आक्षेप यह है कि—"उसने काव्य-व्यापार का निरूपण करते हुए जीवन और जगत से उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। मन की सक्रिय आध्यात्मिक चेष्टा ही काव्य का सृजन करती है—इस कथन में बाह्य-जगत और उसके सम्बन्धों का कहीं भी उल्लेख नहीं है।" इस आरोप का उत्तर यह

है कि क्रोशे बाह्य-जगत और जीवन की पृथक सत्ता नहीं मानता। उसके अनुसार जगत भी मानसिक वृत्ति का ही प्रतिबिंब है। मन की सक्रिय अवस्था में उस पर जगत का जो प्रभाव प्रतिबिंब रूप में पड़ता है वही कला में व्यक्त हो उठता है। अतः केवल मन ही एक मात्र व्यापक सत्ता है। जीवन और जगत मन में ही समाहित है। "क्रोचे की दृष्टि में जीवन-सम्बन्धी और काव्य-संबंधी अनुभूति दो पृथक वस्तुएँ नहीं हैं। जीवन की अनुभूतियाँ ही काव्य अनुभूति का स्वरूप धारण करती हैं। जिस कवि की जीवनानुभूति जितनी विशुद्ध और तीव्र होगी, उसकी काव्य-रचना भी उतनी ही प्रशस्त और मार्मिक होने की संभावना रखेगी। अतएव यह कहना संगत नहीं कि क्रोचे के मत में काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं है।"

—(आधुनिक-साहित्य—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी)

आचार्य शुक्ल ने कविता की परिभाषा करते हुए लिखा था कि—"कविता द्वारा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" इस रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह की भावना ही सम्पूर्ण कलाओं का मूलाधार है। जब तक कला में यह विशेषता नहीं होगी तब तक वह कला नहीं मानी जायगी। और कला में यह विशेषता सौन्दर्य-भावना के कारण ही आती है। रवीन्द्र बाबू भी कला के मूल में सौन्दर्य-भावना को ही मानते हैं परन्तु उनका मत है कि सौन्दर्य केवल रूप या अभिव्यंजना मात्र नही है। उनका कथन है कि—"सौन्दर्य का बोध हमें विश्व की विभूतियों में आनंद की प्रतीक देकर, हमारी कला को अधिक सुन्दर और सम्पन्न बनाता है। जब हम आत्मा के सौन्दर्य का बोध करते हैं तो विश्वात्मा के परमानन्द का अनुभव हमारी कला को कल्याण और प्रेम के मार्ग से असीम की ओर ले जाता है।" इसी मत का समर्थन करते हुए 'प्रसाद' काव्य को "श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक धारा" मानते हैं।

परन्तु क्रोशे न तो दृश्य-जगत की सत्ता मानता है और न बाह्य-जगत से मन की सक्रिय आध्यात्मिक चेष्टा का ही सम्बन्ध मानता है। उसकी सौन्दर्य-भावना का आधार बाह्य-जगत न होकर मानसिक प्रक्रिया ही है। और वह इस अभिव्यक्ति को ही सब कुछ मानता है। परन्तु अभिव्यक्ति मात्र को कला नहीं कहा जा सकता। कला केवल उसी अभिव्यक्ति को कहा जायगा जिसके मूल में सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण की भावना होगी और साथ ही जब उसमें 'श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक' भावना भी होगी।

———

३७—प्रयोगवाद

हिन्दी साहित्य में पिछले लगभग चौदह-पन्द्रह वर्षों से एक ऐसी नवीन काव्य प्रवृत्ति के दर्शन होने लगे हैं जिसे उसके उन्नायकों एवं आलोचकों ने प्रयोगवाद की संज्ञा दी है। यों तो प्रत्येक युग में वर्ण्य-विषय, शैली आदि के क्षेत्र में नई उद्‌भावनाएँ होती रहती हैं। श्रेष्ठ कलाकार नवीन प्रयोगों द्वारा भावी-पथ को प्रशस्त बनाते रहते हैं। हिंदी साहित्य में भी उसके प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग होते आये हैं। परन्तु हिंदी की इस नवीनतम प्रवृत्ति को जो 'प्रयोगवाद' की संज्ञा दी गई है वह उसके 'प्रयोग' शब्द की व्यापकता का परिचायक न होकर एक प्रवृत्ति विशेष के लिये रूढ़ सा हो गया है। जिस प्रकार 'प्रगतिवाद' शब्द सामान्य प्रगति का परिचायक न रहकर साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य का परिचायक बन गया है उसी प्रकार 'प्रयोगवाद' भी विकासोन्मुख एवं स्वस्थ कल्याणकारी साहित्यिक प्रयोगों का परिचायक न रहकर एक प्रतिक्रियावादी संकीर्ण, एवं रुग्ण विचारधारा के लिये प्रयुक्त होने लगा है।

हिंदी में प्रयोगवादी कविता का जन्म साधारणतः सन् १९४३ में प्रकाशित 'तार-सप्तक' नामक संग्रह से माना जाता है। इसके सम्पादक अज्ञेय हैं। इसमें सात कवियों की कविताओं का संकलन किया गया है। ये सात कवि हैं श्री गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारत भूषण, प्रभाकर माचवे, गिरजाकुमार माथुर, डा० रामविलास शर्मा और अज्ञेय। सन् १९५१ में दूसरा 'सप्तक' प्रकाशित हुआ जिसमें भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुरसिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती की कविताएँ हैं। इन संग्रहों के अतिरिक्त 'प्रतीक' नामक मासिक पत्रिका ने अज्ञेय के सम्पादन में प्रयोगवादी कविताओं को काफी प्रश्रय दिया है। 'पाटल', 'दृष्टिकोण', 'कल्पना', 'अजन्ता', 'राष्ट्रवाणी' आदि पत्रिकाओं में भी काफी प्रयोगवादी कविताओं को स्थान मिला है। परन्तु 'तारसप्तक' की परम्परा में इधर सन् १९५४ से 'नई कविता' नाम से प्रयोगवादी कविताओं का एक अर्द्ध वार्षिक संग्रह निकलने लगा है जिसके संपादक डा० जगदीश गुप्त हैं। 'नई कविता' के उपरान्त प्रयोगवादियों ने 'निकष' नामक अर्द्ध वार्षिक संग्रह और निकाले हैं जिनमें साहित्य की सम्पूर्ण विधाओं

का संग्रह किया जाता है परन्तु उनका मूलस्वर प्रयोगवादी ही रहता है यद्यपि दावा सम्पूर्ण साहित्य का प्रतिनिधित्व करने का होता है। प्रयोगवादी कवियों का एक संगठित प्रयास है जिसमें प्रयोगवादी कविता अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो रही है। इसकी विवेचना आगे की जायगी।

प्रयोगवाद को समझने के लिए पहले उस साहित्य और सामाजिक पृष्ठ-भूमि को समझ लेना आवश्यक है जिसने इस नवीन धारा को जन्म दिया।

सन् १९३६-३७ के लगभग छायावाद का पतन हुआ और प्रगतिवाद नवीन युग चेतना को साथ लेकर आगे बढ़ा। यह समय भारतीय इतिहास का बेकारी और भुखमरी का युग था। जनता में भयंकर असन्तोष व्याप रहा था जिसके फलस्वरूप पूँजीवादी शोषकों और उनके द्वारा शोषित मजदूर वर्ग में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। छायावाद एक प्रकार से पतनोन्मुख सामन्तवाद और विकासोन्मुख पूँजीवाद की ही अभिव्यंजना करता रहा था। प्रगतिवाद ने शोषित वर्ग का समर्थन किया और प्रगतिवादी साहित्यिकों की वाणी में सामान्य दुखी, दलित जनता का क्षोभ मुखरित हो उठा। पंत, निराला आदि छायावाद के उन्नायन प्रगतिवाद से प्रभावित होकर छायावाद की रंगीन स्वप्नों की दुनियाँ को छोड़ जन-जीवन की ठोस कर्ममय पृथ्वी पर उतर आये। पूंजी-वादियों की यह परम्परा रही है कि वे धर्म और साहित्य को धन के बल से खरीदकर जनता के विचारों को सदैव गुमराह करने का प्रयत्न करते आए हैं। छायावादी कलाकार अपने कल्पना के लोक में ही मग्न रहते थे। जनता उनके लिए प्रायः अपरिचित थी। वे जनता को प्रभावित नहीं कर सके। इसलिए पूँजीवाद उन्हें प्रश्रय देता रहा क्योंकि उसे इन कलाकारों से कोई भय नहीं था। प्रगतिवाद में जनता का स्वर, जनता की भावनाएँ, जनता का क्षोभ और विद्रोह मुखरित हो रहा था। इसलिए पूँजीवाद सशंकित हो उठा कि कहीं उसे साहित्य के क्षेत्र से अपना डेरा न उठा लेना पड़े। अतः उसने कभी अप्रत्यक्ष रूप से और कभी एक दम खुल कर प्रगतिवाद का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। उसने प्रगतिवाद की उठती हुई चेतना पर प्रचारात्मक होने का अभियोग लगाया। उसे रूस की जूठन, रोटीवाद, झंडावाद आदि की संज्ञा दी। यहाँ तक तो पूँजीवाद और पूँजीवाद के समर्थक कलाकारों का रुख नकारात्मक रहा। परन्तु नकारात्मक रुख चेतना की प्रगति को रोकने में सदैव असफल रहता है और रहा है। पूँजीवाद का यह प्रयत्न भी ऐसा ही रहा।

इस प्रयत्न में असफल होकर पूँजीवादी और प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने दूसरे हथकंडे अपनाये। छायावाद हिन्दी-साहित्य को 'शाश्वतवाद' का बड़ा

आकर्षक खिलौना दे चुका था। इस 'शाश्वतवाद' के आकर्षण में पड़ कर हम वर्तमान को भूलकर अतीत के कल्पना-लोक में उड़ने लगते हैं। परन्तु हिन्दी का प्रगतिशील जागरूक साहित्यिक 'शाश्वत' के इस प्रतिक्रियावादी स्वरूप को भली प्रकार समझ चुका था और हमारा पूँजीवादी वर्ग भी इस तथ्य को जानता था। हिन्दी का पाठक एवं उसका कलाकार 'शाश्वतवाद' के लुभावने आवरण के पीछे छिपी हुई अभिजात्य वर्ग की दुर्भावनाओं को भली प्रकार समझ चुका था। पूँजीवाद ने पहले तो आत्माभिव्यक्ति एवं व्यक्तित्व प्रकाशन की फ्रायडवादी शब्दावली के आडम्बर द्वारा जनता को लुभाना चाहा परन्तु जनता के हितैषी आलोचकों ने इसका भी पर्दाफाश कर इसकी निस्सारता प्रकट करदी। यह श्रमिक वर्ग की चेतना को दबाने या बहलाने में असमर्थ रहा। आभिजात्य वर्ग ने पुनः कई पलटे खाये। उसने प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद आदि को बढ़ावा देकर जनता को पुनः चमत्कार द्वारा बहलाना चाहा। परन्तु ये सब सतही और उथली चीजें थीं। जनता साहित्य में अपनी वर्तमान समस्याओं का समाधान चाहती थी। अतः ये सब धाराएँ भी पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक रूप दिखा कर नष्ट हो गईं। अन्त में भारतीय पूँजीवाद ने अपने जनक पश्चिमी पूँजीवाद की तरफ देखा कि ऐसी स्थिति में उसने क्या किया था।

यूरोप में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर अनास्थामूलक वातावरण में कुछ कवियों ने ऐसी ही प्रयोगवादी कविता का श्रीगणेश किया था। उस समय पश्चिम का पूँजीवाद पतनोन्मुख था। रूस में सर्वहारा वर्ग क्रान्ति कर आगे बढ़ रहा था। इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव अधिकाधिक उन्नति पर था। ऐसे क्रांति के युग में अभिजात्यवर्गीय या उसके खरीदे हुए कलाकारों ने साहित्य की इस नई धारा की तरफ से जनता का ध्यान हटाने के लिये एक नई काव्य-प्रणाली का प्रणयन किया जिसमें ऐसी समस्याओं को प्रधानता दी गई जिनसे हमारी दैनिक समस्याओं का कोई सम्बन्ध नहीं था। उनका सारा ध्यान और सारी शक्ति टेकनीक के नवीन प्रयोगों की तरफ लग गई। जैसे भूख से रोते हुए बच्चे को कोई सुन्दर खिलौना देकर भुलाने का प्रयत्न किया जाता है जिससे उसका ध्यान भूख से हटकर उस पर केन्द्रित हो जाय, परन्तु बच्चे की भूख जब पुनः जोर पकड़ती है तो वह उस खिलौने को फेंक कर पुनः और भी ज्यादा जोर से रो उठता है। पश्चिमी प्रयोगवाद ने इसी खिलौने का पार्ट अदा किया था। इसके जन्मदाता अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि और आलोचक टी० एस० इलियट माने जाते हैं। इन्होंने पूंजीवाद के पतन काल में प्रसिद्ध आलोचक आइ० ए० रिचर्डस्

की सहायता से एक दुरूह मगर ऊपर से आकर्षक लगने वाली काव्य-प्रणाली का प्रवर्त्तन किया था। रिचर्डस् ने इसी के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि भविष्य में कविता अधिकाधिक दुरूह होती जायेगी और बहुत थोड़े से लोग उसका लाभ पा सकेंगे। इङ्गलैंड में यह घटना आज से लगभग ३०-३५ वर्ष पूर्व घटी थी जिस समय हमारे यहाँ छायावाद पनप रहा था। भारतीय पूँजीवाद के जीवन में वैसी ही स्थिति द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके बाद उपस्थित हुई। इसलिये इसने भी विदेशी हथकण्डे को अपनाकर वही खेल खेलना चाहा जो पश्चिमी पूँजीवाद खेल चुका था। आज यूरोप में इस प्रकार की प्रतिक्रियावादी काव्य-पद्धति का पूर्ण रूपेण अन्त हो चुका है। मगर आभिजात्य वर्ग के हाथों में खेलने वाले हमारे कुछ अत्यन्त चतुर एवं नवीन आकर्षण के मोह में पड़कर उनका अन्धानुकरण करने वाले तरुण कलाकार आज यूरोप की उसी ठुकराई हुई काव्य-प्राणाली को ललक कर अपना रहे है। हिन्दी का प्रयोगवाद पश्चिम की जूठन है इस बात को हिन्दी के अनेक आलोचक भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकार कर रहे हैं। डा० देवराज, जो प्रयोगवादी साहित्य से सहानुभूति रखते हैं, लिखते हैं कि—"हिंदी प्रयोगवाद भी केवल युग से प्रभावित नहीं है—वह बहुत हद तक इलियट-पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में उपस्थित हुआ है।"[1]

हमारी समझ में प्रयोगवाद की उत्पत्ति और उसके संगठित विकास का केवल एक ही उद्देश्य प्रतीत होता है और वह है येन-केन प्रकारेण प्रगतिवाद की तरफ से तरुण कलाकारों और पाठकों को, अपने आकर्षण में फंसा कर, दूर हटा ले जाना। इसका कारण यह है कि प्रगतिवाद के अत्यधिक जनवादी दृष्टिकोण से त्रस्त हिन्दी के कुछ साहित्यकारों ने एक ऐसी विचारधारा का प्रारम्भ किया है जो प्रगतिवाद की विरोधी विचारधारा है। कहा जाता है कि इन लोगों पर कुछ बड़े-बड़े देशी एवं विदेशी पूँजीपतियों और पूँजीपतियों के समर्थक पिट्ठुओं का प्रभाव है। हम इस कथन की सत्यता या असत्यता की खोजबीन न कर केवल यह कहना चाहते हैं कि इन लोगों का साहित्य, कला और जनता के प्रति जो दृष्टिकोण है वह कुत्सित, संकीर्ण और पूर्णतः प्रगति विरोधी है क्योंकि ये लोग कला को जीवन के लिए न मानकर केवल कला के लिए ही मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से कुछ कलाकारों में अच्छी काव्य प्रतिभा है परन्तु वे उस प्रतिभा का उपयोग एक ऐसे साहित्य के सृजन करने में कर रहे हैं जो उनकी दृष्टि में जनवादी हो या न

१—प्रयोगवादी कवि—एक चेतावनी—डा० देवराज, नई कविता, प्रथम अङ्क

आकर्षक खिलौना दे चुका था। इस 'शाश्वतवाद' के आकर्षण में पड़ कर हम वर्तमान को भूलकर अतीत के कल्पना-लोक में उड़ने लगते हैं। परन्तु हिन्दी का प्रगतिशील जागरूक साहित्यिक 'शाश्वत' के इस प्रतिक्रियावादी स्वरूप को भली प्रकार समझ चुका था और हमारा पूँजीवादी वर्ग भी इस तथ्य को जानता था। हिन्दी का पाठक एवं उसका कलाकार 'शाश्वतवाद' के लुभावने आवरण के पीछे छिपी हुई अभिजात्य वर्ग की दुर्भावनाओं को भली प्रकार समझ चुका था। पूँजीवाद ने पहले तो आत्माभिव्यक्ति एवं व्यक्तित्व प्रकाशन की फ्रायडवादी शब्दावली के आडम्बर द्वारा जनता को लुभाना चाहा परन्तु जनता के हितैषी आलोचकों ने इसका भी पर्दाफाश कर इसकी निस्सारता प्रकट करदी। यह श्रमिक वर्ग की चेतना को दबाने या बहलाने में असमर्थ रहा। आभिजात्य वर्ग ने पुनः कई पलटे खाये। उसने प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद आदि को बढ़ावा देकर जनता को पुनः चमत्कार द्वारा बहलाना चाहा। परन्तु ये सब सतही और उथली चीजें थीं। जनता साहित्य में अपनी वर्तमान समस्याओं का समाधान चाहती थी। अतः ये सब धाराएँ भी पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक रूप दिखा कर नष्ट हो गईं। अन्त में भारतीय पूँजीवाद ने अपने जनक पश्चिमी पूँजीवाद की तरफ देखा कि ऐसी स्थिति में उसने क्या किया था।

यूरोप में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर अनास्थामूलक वातावरण में कुछ कवियों ने ऐसी ही प्रयोगवादी कविता का श्रीगणेश किया था। उस समय पश्चिम का पूँजीवाद पतनोन्मुख था। रूस में सर्वहारा वर्ग क्रान्ति कर आगे बढ़ रहा था। इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव अधिकाधिक उन्नति पर था। ऐसे क्रांति के युग में अभिजात्यवर्गीय या उसके खरीदे हुए कलाकारों ने साहित्य की इस नई धारा की तरफ से जनता का ध्यान हटाने के लिये एक नई काव्य-प्रणाली का प्रणयन किया जिसमें ऐसी समस्याओं को प्रधानता दी गई जिनसे हमारी दैनिक समस्याओं का कोई सम्बन्ध नहीं था। उनका सारा ध्यान और सारी शक्ति टेकनीक के नवीन प्रयोगों की तरफ लग गई। जैसे भूख से रोते हुए बच्चे को कोई सुन्दर खिलौना देकर भुलाने का प्रयत्न किया जाता है जिससे उसका ध्यान भूख से हटकर उस पर केन्द्रित हो जाय, परन्तु बच्चे की भूख जब पुनः जोर पकड़ती है तो वह उस खिलौने को फेंक कर पुनः और भी ज्यादा जोर से रो उठता है। पश्चिमी प्रयोगवाद ने इसी खिलौने का पार्ट अदा किया था। इसके जन्मदाता अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि और आलोचक टी० एस० इलियट माने जाते हैं। इन्होंने पूंजीवाद के पतन काल में प्रसिद्ध आलोचक आइ० ए० रिचर्डस्

की सहायता से एक दुरूह मगर ऊपर से आकर्षक लगने वाली काव्य-प्रणाली का प्रवर्त्तन किया था। रिचर्डस् ने इसी के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि भविष्य में कविता अधिकाधिक दुरूह होती जायेगी और बहुत थोड़े से लोग उसका लाभ पा सकेंगे। इङ्गलैंड में यह घटना आज से लगभग ३०-३५ वर्ष पूर्व घटी थी जिस समय हमारे यहाँ छायावाद पनप रहा था। भारतीय पूँजीवाद के जीवन में वैसी ही स्थिति द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके बाद उपस्थित हुई। इसलिये इसने भी विदेशी हथकण्डे को अपनाकर वही खेल खेलना चाहा जो पश्चिमी पूँजीवाद खेल चुका था। आज यूरोप में इस प्रकार की प्रतिक्रियावादी काव्य-पद्धति का पूर्ण रूपेण अन्त हो चुका है। मगर आभिजात्य वर्ग के हाथों में खेलने वाले हमारे कुछ अत्यन्त चतुर एवं नवीन आकर्षण के मोह में पड़कर उनका अन्धानुकरण करने वाले तरुण कलाकार आज यूरोप की उसी ठुकराई हुई काव्य-प्राणाली को ललक कर अपना रहे है। हिन्दी का प्रयोगवाद पश्चिम की जूठन है इस बात को हिन्दी के अनेक आलोचक भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकार कर रहे हैं। डा० देवराज, जो प्रयोगवादी साहित्य से सहानुभूति रखते हैं, लिखते हैं कि—"हिंदी प्रयोगवाद भी केवल युग से प्रभावित नहीं है—वह बहुत हद तक इलियट-पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में उपस्थित हुआ है।"[१]

हमारी समझ में प्रयोगवाद की उत्पत्ति और उसके संगठित विकास का केवल एक ही उद्देश्य प्रतीत होता है और वह है येन-केन प्रकारेण प्रगतिवाद की तरफ से तरुण कलाकारों और पाठकों को, अपने आकर्षण में फंसा कर, दूर हटा ले जाना। इसका कारण यह है कि प्रगतिवाद के अत्यधिक जनवादी दृष्टिकोण से त्रस्त हिन्दी के कुछ साहित्यकारों ने एक ऐसी विचारधारा का प्रारम्भ किया है जो प्रगतिवाद की विरोधी विचारधारा है। कहा जाता है कि इन लोगों पर कुछ बड़े-बड़े देशी एवं विदेशी पूँजीपतियों और पूँजीपतियों के समर्थक पिट्ठुओं का प्रभाव है। हम इस कथन की सत्यता या असत्यता की खोजबीन न कर केवल यह कहना चाहते हैं कि इन लोगों का साहित्य, कला और जनता के प्रति जो दृष्टिकोण है वह कुत्सित, संकीर्ण और पूर्णतः प्रगति विरोधी है क्योंकि ये लोग कला को जीवन के लिए न मानकर केवल कला के लिए ही मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से कुछ कलाकारों में अच्छी काव्य प्रतिभा है परन्तु वे उस प्रतिभा का उपयोग एक ऐसे साहित्य के सृजन करने में कर रहे हैं जो उनकी दृष्टि में जनवादी हो या न

१—प्रयोगवादी कवि—एक चेतावनी—डा० देवराज, नई कविता, **प्रथम अङ्क**

हो परन्तु विलक्षण, अद्‌भुद, दुरूह और ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्य-चकित हो उठे, चाहे उसे समझ पाये या न समझ पाये परन्तु यह कहे कि नई बात कही है ! उदाहरण के लिये एक प्रयोगवादी कविता का नमूना यथेष्ठ होगा—

"अगर कहीं में तोता होता !
तो क्या होता ?
तो क्या होता,
तोता होता !
(आह्लाद से झूमकर)
तो तो तो तो ता ता ता ता
(निश्चय के स्वर में)
होता होता होता होता !"

(इच्छा—सत्य प्रियमित्र)

डा० नगेन्द्र प्रयोगवाद में शैली का विद्रोह मानते हैं। छायावाद ने भी तो शैली शिल्प एवं वस्तु के क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये थे। छायावाद भी साहित्य को सामाजिक जीवन से दूर कर अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर सामाजिक उत्तरदायित्व से बचने का प्रयत्न करता रहा था। परन्तु उससे यह पाप अचेतन रूप में हुआ था। प्रयोगवाद यही पाप जनबूझकर कर रहा है। वह भी व्यक्ति की परिधि में केन्द्रित होकर साहित्य को सामाजिक जीवन से दूर रखने के लिए प्रयत्नशील है। इसके लिए प्रयोगवाद के कर्ण-धार 'अज्ञेय', जो अब अपने असली रूप में 'ज्ञेय' हो चुके हैं, का वक्तव्य द्दष्टव्य है—"यों समस्याएँ अनेक हैं—काव्य विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, सम्वेदना के पुनः संस्कार की आदि—किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है क्योंकि यह कवि कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधा-रणीकरण और Communication (निवेदन) की समस्या है।"[१] प्रयोगवादी कवि अन्य सभी समस्याओं को झुठलाकर केवल शैली-शिल्प की समस्या में उलझा हुआ है। छायावादी कवि भी अपने सामा-जिक उत्तरदायित्व के प्रति कुछ सीमा तक अचेत था और इसी कारण वह व्यक्ति की रति की परिधि में केन्द्रित था। उसका जीवन एवं समाज से पला-यन अचेतावस्था का था, जिसके लिए पन्त, निराला आदि ने उसे फटकारा था और फलस्वरूप छायावादी कलाकार प्रगतिवाद के साथ कदम मिलाते हुए आगे बढ़ने लगा था। प्रयोगवादी भी जीवन से पलायन कर रहा है परन्तु सचेत रूप

१—तार-सप्तक—अज्ञेय

में जान-बूझकर। वह भाववस्तु के क्षेत्र में छायावाद का ही अनुगामी है। छायावादी शैली का सबसे बड़ा दोष उसकी अस्पष्टता माना गया है। यही अस्पष्टता आज की प्रयोगवादी कविता में और भी दुरूह होकर उस पर शीशे की पर्त्त की तरह छाई हुई है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—"एक गहन बौद्धिकता इन कवियों पर शीशे की पर्त्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रंगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म तरल भावना चिन्तन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्व का बोझीलापन है……! ये कविताएँ अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धांत रूप से भी दूरूह हैं।"[1] ऐसी स्थिति में हम प्रयोगवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न एक नवीन काव्य धारा न मानकर छायावाद का ही विकृत एवं किंचित् परिवर्तित रूप मान सकते हैं। छायावादी शैली के सम्पूर्ण दोष इसमें पाये जाते हैं। फिर प्रगतिवाद जैसी मानवकल्याण-रत विचारधारा को और प्रयोगवाद जैसी प्रतिक्रियावादी आभिजात्यवर्गीय विचारधारा को एक दूसरे का पूरक कैसे माना जा सकता है, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं।

अब जरा यह भी देख लिया जाय कि प्रयोगवादी कलाकार अपने इस तथाकथित विद्रोह द्वारा साहित्य में क्या नवीनता लाना चाहते हैं? उनका कहना है कि आज हमारी सीमा भारत तक ही सीमित न रहकर विश्व-बंधुत्व की ओर अग्रसर हो रही है। आज संसार में नवीन आदर्शों और नई संस्कृतियों का निर्माण हो रहा है। इसलिए इस नवीनता को अभिव्यक्त करने के लिये हमें भाषा, प्रतीक, उपमा, वस्तु-चयन आदि में भी नवीनता लानी चाहिये। पुरानी भाषा इस नवीनता को अभिव्यक्त नहीं कर सकेगी।

हम ऊपर कह आये हैं कि इन कवियों को नवीनता का—प्रत्येक क्षेत्र की नवीनता का—मोह सता रहा है। जो भाषा कबीर, तुलसी, सूर, भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, पन्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि साहित्य-मनीषियों के भावों को सफलता के साथ व्यंजित करती आई थी वही अब इन प्रयोगवादियों की दृष्टि में नवीन विचारों, अनुभूतियों एवं अभिव्यक्तियों को वहन करने में असमर्थ है। इसलिये उन्हें चलती हुई भाषा और आलंकारिक परम्पराओं का मोह मोड़कर नवीन रूपों का सृजन करना पड़ेगा। इसके लिये ये लोग नवीन विषय, नवीन भाषा यहाँ तक कि सब कुछ नवीन ही नवीन लाना चाहते हैं। इस विषय पर प्रकाश डालते हुये अज्ञेय ने 'तार-सप्तक' के अपने 'वक्तव्य' में लिखा था—"प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, आगे बढ़ कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिये जिन्हें अभी छूआ नहीं गया या जिनको अभेद्य

१—विचार और विवेचन—डा० नगेन्द्र

हो परन्तु विलक्षण, अद्भुद, दुरूह और ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्य-चकित हो उठे, चाहे उसे समझ पाये या न समझ पाये परन्तु यह कहे कि नई बात कही है ! उदाहरण के लिये एक प्रयोगवादी कविता का नमूना यथेष्ठ होगा—

"अगर कहीं मैं तोता होता !
तो क्या होता ?
तो क्या होता,
तोता होता !
(आह्लाद से झूमकर)
तो तो तो तो ता ता ता ता
(निश्चय के स्वर में)
होता होता होता होता !"

(इच्छा—सत्य प्रियमित्र)

डा० नगेन्द्र प्रयोगवाद में शैली का विद्रोह मानते हैं। छायावाद ने भी तो शैली शिल्प एवं वस्तु के क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये थे। छायावाद भी साहित्य को सामाजिक जीवन से दूर कर अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर सामाजिक उत्तरदायित्व से बचने का प्रयत्न करता रहा था। परन्तु उससे यह पाप अचेतन रूप में हुआ था। प्रयोगवाद यही पाप जनबूझकर कर रहा है। वह भी व्यक्ति की परिधि में केन्द्रित होकर साहित्य को सामाजिक जीवन से दूर रखने के लिए प्रयत्नशील है। इसके लिए प्रयोगवाद के कर्ण-धार 'अज्ञेय', जो अब अपने असली रूप में 'ज्ञेय' हो चुके हैं, का वक्तव्य दृष्टव्य है—"यों समस्याएँ अनेक हैं—काव्य विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, सम्वेदना के पुनः संस्कार की आदि—किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है क्योंकि यह कवि कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधा-रणीकरण और Communication (निवेदन) की समस्या है।"[1] प्रयोगवादी कवि अन्य सभी समस्याओं को झुठलाकर केवल शैली-शिल्प की समस्या में उलझा हुआ है। छायावादी कवि भी अपने सामा-जिक उत्तरदायित्व के प्रति कुछ सीमा तक अचेत था और इसी कारण वह व्यक्ति की रति की परिधि में केन्द्रित था। उसका जीवन एवं समाज से पला-यन अचेतावस्था का था, जिसके लिए पन्त, निराला आदि ने उसे फटकारा था और फलस्वरूप छायावादी कलाकार प्रगतिवाद के साथ कदम मिलाते हुए आगे बढ़ने लगा था। प्रयोगवादी भी जीवन से पलायन कर रहा है परन्तु सचेत रूप

१—तार-सप्तक—अज्ञेय

में जान-बूझकर। वह भाववस्तु के क्षेत्र में छायावाद का ही अनुगामी है। छायावादी शैली का सबसे बड़ा दोष उसकी अस्पष्टता माना गया है। यही अस्पष्टता आज की प्रयोगवादी कविता में और भी दुरूह होकर उस पर शीशे की पर्त्त की तरह छाई हुई है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—"एक गहन बौद्धिकता इन कवियों पर शीशे की पर्त्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रंगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म तरल भावना चिन्तन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्व का बोझीलापन है......! ये कविताएँ अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धांत रूप से भी दूरूह हैं।"[1] ऐसी स्थिति में हम प्रयोगवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न एक नवीन काव्य धारा न मानकर छायावाद का ही विकृत एवं किंचित् परिवर्तित रूप मान सकते हैं। छायावादी शैली के सम्पूर्ण दोष इसमें पाये जाते हैं। फिर प्रगतिवाद जैसी मानवकल्याण-रत विचारधारा को और प्रयोगवाद जैसी प्रतिक्रियावादी अभिजात्यवर्गीय विचारधारा को एक दूसरे का पूरक कैसे माना जा सकता है, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं।

अब जरा यह भी देख लिया जाय कि प्रयोगवादी कलाकार अपने इस तथाकथित विद्रोह द्वारा साहित्य में क्या नवीनता लाना चाहते हैं? उनका कहना है कि आज हमारी सीमा भारत तक ही सीमित न रहकर विश्व-बंधुत्व की ओर अग्रसर हो रही है। आज संसार में नवीन आदर्शों और नई संस्कृतियों का निर्माण हो रहा है। इसलिए इस नवीनता को अभिव्यक्त करने के लिये हमें भाषा, प्रतीक, उपमा, वस्तु-चयन आदि में भी नवीनता लानी चाहिये। पुरानी भाषा इस नवीनता को अभिव्यक्त नहीं कर सकेगी।

हम ऊपर कह आये हैं कि इन कवियों को नवीनता का—प्रत्येक क्षेत्र की नवीनता का—मोह सता रहा है। जो भाषा कबीर, तुलसी, सूर, भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, पन्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि साहित्य-मनीषियों के भावों को सफलता के साथ व्यंजित करती आई थी वही अब इन प्रयोगवादियों की दृष्टि में नवीन विचारों, अनुभूतियों एवं अभिव्यक्तियों को वहन करने में असमर्थ है। इसलिये उन्हें चलती हुई भाषा और आलंकारिक परम्पराओं का मोह मोड़कर नवीन रूपों का सृजन करना पड़ेगा। इसके लिये ये लोग नवीन विषय, नवीन भाषा यहाँ तक कि सब कुछ नवीन ही नवीन लाना चाहते हैं। इस विषय पर प्रकाश डालते हुये अज्ञेय ने 'तार-सप्तक' के अपने 'वक्तव्य' में लिखा था—"प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, आगे बढ़ कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिये जिन्हें अभी छूआ नहीं गया या जिनको अभेद्य

१—विचार और विवेचन—डा० नगेन्द्र

मान लिया गया है ।" इन अभेद्य क्षेत्रों का अन्वेषण करने के लिये अज्ञेय ने सात ऐसे कवियों को अपनाया (या उनका पथ-प्रदर्शन किया) कि जो—"किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुये नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी ।···काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें सामानता के सूत्र में बाँधता है ।"—आगे चलकर इन कवियों की व्याज-निंदा करते हुये कहते हैं कि –"उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों में उनकी अलग-अलग राय है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राज-नीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है । यहाँ तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि वे सब एक दूसरे की रुचियों, कृतियों और आशाओं और विश्वासों पर, एक दूसरे की जीवन परिपाटी पर, और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हंसते हैं ।"[1]

यदि स्थिति ऐसी ही थी जैसी कि अज्ञेय ने समझी तो उन्हें इस भानमती के पिटारे को इकट्ठा करने की आवश्यकता ही क्या आ पड़ी थी । परन्तु हिंदी का पाठक इतना बुद्धू नहीं है कि वास्तविक को न समझ पाता । 'तार सप्तक' की अधिकांश आलोचनाओं में अज्ञेय के उक्त वक्तव्य को लेकर ही उसकी छीछालेदर की गई । संग्रहीत कविताओं पर छींटे नहीं उछाले गये हैं । इसका कारण यह है कि इस संग्रह के सातों कवि मंजे हुये हैं । उनकी कविताओं में से अधिकांश में ओज, प्रवाह, सौन्दर्य एवं जनजीवन का सशक्त चित्रण है । जब इस संग्रह द्वारा अज्ञेय को पर्याप्त सफलता नहीं मिली तो उन्होंने 'प्रतीक' पत्रिका द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया और उनका वह प्रचार 'दूसरा सप्तक' में रंग लाया । वास्तव में 'दूसरा सप्तक' ही प्रयोगवादी कविताओं का प्रथम संग्रह माना जाना चाहिये न कि तार 'तार-सप्तक' । 'तार-सप्तक' में नवीनता की केवल पुकार थी, उसका अनुमान नहीं था । उस पुकार की सुन-वाई तो 'दूसरा सप्तक' में ही हुई । 'नयी-कविता' नामक संग्रह में तो प्रयोग-वादी काव्य की नवीनता का मोह पूर्णरूप से स्पष्ट हो उठा है । इधर 'निकष' नामक अर्द्ध-वार्षिक संकलन एवं नवीन सजधज के साथ प्रकाशित हो रहे प्रयोगवादी कविता-संग्रहों द्वारा प्रयोगवादियों ने हिंदी जगत को आक्रान्त सा कर दिया है ।

१—**तार सप्तक—अज्ञेय**

प्रयोगवादी कवि बड़े ऊँचे सैद्धान्तिक एवं कलात्मक नारों के साथ आगे आये हैं। इनके मत दृष्टव्य हैं—

अज्ञेय—"प्रयोगशील कविता में नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।"

गिरजाकुमार माथुर—"प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खंड अनुभावों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें 'व्यक्ति' द्वारा इस 'व्यापक' सत्य का सर्वबोधगम्य प्रेषण सम्भव हो सके।"

धर्मवीर भारती—"प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के सामने एक प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। इसी प्रश्न-चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न-चिह्न उसी की ध्वनि-मात्र है।"

उक्त वक्तव्यों को देखकर प्रयोगशील कविता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति पाठक आशान्वित हो उठता है। परन्तु जब इस प्रयोगशीलता के अत्यधिक मोह में ग्रस्त तरुण कवियों की ऐसी रचनाएँ सामने आती हैं जो अस्पष्ट, आत्म-रति पूर्ण, व्यक्ति की परिधि में केन्द्रित, अजीब कल्पनाओं, छन्दों, विषय-वस्तुओं, प्रतीकों, उपमानों एवं भाषा से ओतप्रोत होती हैं और जिन्हें समझने में कोष भी सहायता नहीं कर सकते तो मन खिन्न हो उठता है और इन कवियों के वास्तविक उद्देश्य के प्रति हृदय आशंकित हो उठता है। और यह आशंका निराधार है।

इन कवियों का एक वर्ग, एक तरफ तो सामाजिकता को अपनाने का नारा बुलन्द करता है परन्तु दूसरी तरफ अज्ञेय आदि इस धारा के पोषक जो बातें करते हैं उनमें सामाजिकता का कहीं नाम निशान भी नहीं मिलता। अज्ञेय ने तो अपने परिचय में स्पष्ट लिखा है कि उनकी रुचि इस प्रकार के विषयों में अधिक है "जिनसे तत्काल का कोई सम्बन्ध न हो।" इसीलिये उन्होंने ऐसी समस्या को उठाया जिसका आज के जीवन तथा काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। जब समस्या का तत्काल से ही सम्बन्ध न हो तो उसकी सामाजिक उपयोगिता ही क्या रह गयी? बड़े-बड़े विद्वानों की यह बात बहुत दिनों से सुनते आये हैं कि साहित्य का उद्देश्य मानवमात्र का हित-साधन करना रहता है। एक वर्ग-विशेष के लिये लिखे गये साहित्य की व्यापक सामाजिक उपयोगिता नहीं होती। तुलसीदास के शब्दों में 'भणिति' वही सफल एवं श्रेष्ठ होती है जो सुरसरि के समान सब का कल्याण कर सके—

"कीरति भणिति भूति भल सोई,
सुरसरि सम सब कह हित होई।"

साहित्य का मुख्य उद्देश्य यही है। मगर अब प्रयोगवादियों को प्रोत्साहित करने वाले, स्वयं प्रयोगवादी कविताएँ लिखने वाले, 'नई कविता' के सम्पादक डा० जगदीश गुप्त का वक्तव्य देखिये कि वे जन-समाज के लिये काव्य-रचना करते हैं या एक वर्ग विशेष के लिये ? वे कहते हैं—"कुछ व्यक्ति ऐसे भावुक होते हैं कि अपनी तन्मयता में कविता का अर्थ बिना समझे उसके संगीत पर ही मुग्ध हो उठते हैं। नई कविता कदाचित् ऐसे व्यक्तियों के लिये भी नहीं है। वह उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नए कवि के समान है अर्थात् जो उसके समान धर्मा हैं; एक ओर जो पुरानी कविता की अभिव्यंजना-प्रणालियों, शक्तियों और सीमाओं से परिचित हैं और जिनकी परितृप्ति वस्तु और अभिव्यक्ति से नहीं होती या होती है तो सम्पूर्ण रूप में नहीं, दूसरी ओर जो नई दिशाएँ खोजने में संलग्न नूतन प्रतिभा की क्षणिक असफलताओं और कठिनाइयों के प्रति सहानुभूतिशील होकर नये कवि की वास्तविक उपलब्धि की प्रशंसा करने में संकोच नहीं करते।······बहुत अंशों में नई कविता की प्रगति ऐसे प्रबुद्ध भावक वर्ग पर आश्रित रहती है भले ही यह वर्ग संख्या में कम हो, क्योंकि इसका महत्व संख्या से नहीं उस स्थिति से आँका जाता है जिस तक अनेक अनुभवों को संचित करता हुआ यह पहुंचा होता है।'

डा० जगदीश गुप्त का उपर्युक्त वक्तव्य स्पष्ट कर देता है कि प्रयोगवादी साहित्य प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को ही लक्षित कर लिखा जा रहा है अर्थात् जो प्रबुद्ध और विवेकशील नहीं हैं उनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं। और यह मानी हुई बात है कि साधारण जनता या पाठक न तो प्रबुद्ध होते हैं और न विवेकशील। वे विवेकशील होते अवश्य हैं मगर उपर्युक्त 'आस्वादकों' की सी विवेकशीलता उनमें नहीं होती जो प्रयोगवादियों के समान धर्मा होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कह सकते हैं कि यह एक वर्ग-विशेष का साहित्य है जिसका तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि समस्याओं से कोई सम्बन्ध न होकर केवल काव्य के शैलीशिल्प में नये-नये शब्दों के ढूँढ़ने से ही सम्बन्ध है। जीवन की इस प्रकार से खुले आम अवहेलना करने वाला साहित्य समाज के लिये शुभ हो सकता है या उसे गुमराह करने वाला, इसका उत्तर साधारण बुद्धि वाला पाठक भी दे सकता है। इसके लिये उसका "प्रबुद्ध और विवेकशील" होना आवश्यक नहीं। और फिर भी ये लोग डींग हाँकते हैं कि हम विद्रोह कर रहे हैं, सामाजिक असन्तोष एवं विषमताओं

का चित्रण कर रहे हैं, काव्य को जन-भाषा के निकट ला रहे हैं, आदि आदि।

अज्ञेय की वाणी में 'शाश्वतवाद' ने 'सनातन' का रूप धारण कर लिया है। वे सनातनता का नारा इसलिए बुलन्द करना चाहते हैं कि—"इसलिए वह (कलाकार) व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निवाहना चाहता है।" यदि अज्ञेय और उनके साथी ऐसा कर सकते तो बड़ा अच्छा होता। मगर उनका व्यक्ति सत्य एवं सम्वेदनाएँ इतनी उलझी हुईं हैं कि वे स्पष्ट ही नहीं हो पातीं। ये लोग जन-भाषा को अपनाने का नारा लेकर आगे आए हैं लेकिन इनका काव्य इतना दुरूह और जटिल है कि उसके सींग पूँछ का भी पता नहीं लगता। अस्पष्टता छायावादी काव्य में भी थी परन्तु वह इतनी मनोरम थी कि पाठक उसे पढ़ कर थोड़ा बहुत तो आनंद प्राप्त कर ही लेता था। प्रयोगवादी काव्य में छायावादी सुन्दर शब्द-विन्यास, भावनाओं की मधुर अभिव्यक्ति तथा मूर्त्त विधायिनी कल्पना का सर्वत्र अभाव मिलता है। इन कवियों के शब्द, पद, वाक्य, छन्द, वर्ण्यवस्तु, विचार, मानसिक दशाएँ, रुचि, क्षेत्र आदि सब भिन्न हैं। केवल उनका लक्ष्य समान है और वह है सर्वत्र नवीनता की खोज में लगे रहना। प्राचीनकाल से सभी कवि नवीनता के प्रेमी रहे हैं। वे नई नई रीतियों का अन्वेषण करते आए हैं परन्तु फिर भी उनके भावों और वर्ण्य विषयों में अस्वाभाविक नवीनता नहीं आने पाई है। उन्होंने जनसाधारण के भावों और वर्ण्य-विषयों को ही अपनाकर आगे कदम बढ़ाए हैं। मगर हमारे ये प्रयोगवादी मनीषी तो सदैव 'सर्वथा नवीन' की ही टोह में रहते हैं। ये सदैव नवीन उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों, प्रतीकों एवं जनभाषा के ऐसे शब्दों की खोज में लगे रहते हैं जो पाठकों को चमत्कृत कर दें, भले ही उनके साथ भावों का तादात्म्य न हो सके। इस प्रयत्न में कवि की भावभूमि का स्पर्श नहीं होता। इसी प्रयत्न में विचार क्रम पूर्वक आगे नहीं बढ़ पाता। संवेदना उलझ कर रह जाती है। संवेदना का यह उलझाव और विचारों का यह क्रम भंग प्रयोगवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है।

प्रयोगवाद की उपर्युक्त त्रुटियों को ही लक्ष्य कर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रमविकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।"[1] डा० रामविलास शर्मा ने भी इस तथाकथित नवीनता के मोह का दोष दिखाते हुये लिखा है—"पूँजीवादी व्यवस्था में शिक्षित किंवा दुशिक्षित कवि में और जन-साधारण में भारी अन्तर होता है। कवि अपने संकुचित आभिजात्य वर्ग में और संकुचित होता हुआ व्यंजना के

१—आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी

नये और अपने तक सीमित प्रतीक ढूँढ़ लाता है। वह समझता है कि उसका अनुभव और व्यंजना उच्चकोटि की है।"

प्रयोगवादी कविता के विकृतियों से परिपूर्ण इसी स्वरूप को देखकर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने आगे लिखा है कि—"किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता। प्रयोग में और काव्यात्मक निर्माण या सृजन में जो मौलिक अन्तर है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनियाँ से बहुत दूर है। कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है। वह उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उनका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगों का पल्ला नहीं पकड़ सकता जिसका उस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोषों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज सम्बन्ध नहीं है।"[१] खेद है कि प्रयोगवादी कवि उपर्युक्त उत्तरदायित्वों में से एक का भी निर्वाह नहीं कर पाया है। अन्त में वाजपेयी जी ने प्रयोगवादी काव्य के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष दिये हैं—

१—प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं।

२—प्रयोगवादी रचनाएँ वैचित्र्य-प्रिय हैं, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमें नहीं।

३—प्रयोगवादी रचनाएँ अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं।

डा० नगेन्द्र प्रयोगवादी कविताओं की दुरूहता का उल्लेख करते हुए उसके चार मुख्य कारण बताते हैं—

१—भावतत्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध।

२—साधारणीकरण का त्याग।

३—उपचेतन मन के अनुभव-खंडों के यथावत् चित्रण का आग्रह।

४—काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग।

ये कारण बताने के बाद डा० नगेन्द्र आगे लिखते हैं कि—"इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है और वह है इन सब का मूलवर्ती कारण—

१—**आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी**

नूतनता का सर्वग्राही मोह, जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है।"[१]

अज्ञेय का एक दावा और है कि प्रयोगवादी 'स्वान्तः सुखाय' न लिख कर 'जन हिताय' लिखते हैं। जब अज्ञेय की रुचि ऐसे विषयों में अधिक रमती है जिनका तत्काल से कोई सम्बन्ध नहीं रहता तो उनका यह 'जनहिताय' लिखने का दावा झूठा पड़ जाता है। शायद उनका उद्देश्य यह है कि इस प्रकार के काव्य से भविष्य में, सुदूर भविष्य में, जनता का हित होगा। यह तो वही परलोकवाद वाली बात हुई कि 'कर्म करते रहो' इसका फल यदि इस जन्म में न मिला तो दूसरे जन्म में अवश्य मिलेगा। जनता आज अपनी वर्तमान की समस्याओं से त्रस्त है और अज्ञेय उसके सम्मुख भविष्य का सुखद चित्र उपस्थित कर उसे बहलाना चाहते हैं। संसार में स्वार्थियों द्वारा इस प्रकार के नारे युगों से लगाये जाते रहे हैं। पर सिर्फ इसलिए कि जनता अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष व्यक्त न कर शांत रहे। साम्राज्यवादियों के शाश्वतवाद, कर्मवाद, अद्वैतवाद आदि के नारे इसी के प्रतीक रहे हैं। प्रयोगवादियों के सम्मुख भी यही समस्या है। वे लोग इस गर्हित उद्देश्य तथा बुद्धि और भावना के संघर्ष में इस बुरी तरह दब जाते हैं कि उनकी संवेदना स्पष्ट न होकर उलझी रह जाती है और इसीलिए वह समझ में न आने के कारण पाठक को प्रभावित नहीं कर पाती। इसके विपरीत प्रगतिवादी जो कुछ कहता है वह बिल्कुल स्पष्ट और सम्वेदना से परिपूर्ण रहता है। इसी से वह प्रभावित करता है।

अब कुछ प्रयोगवादी कविताओं के भी दर्शन कर लेने चाहिये। परन्तु इससे पूर्व एक बात और कह दी जाय। सभी प्रयोगवादी कविताएँ बुरी नहीं हैं। इनमें बहुत सी कविताएँ साहित्य की निधि के समान सुरक्षित रखी जाने योग्य हैं। कारण यह है कि इनके रचयिता कवि अज्ञेय के प्रभाव से मुक्त हैं। इनका उल्लेख आगे किया जायगा।

सबसे पहले प्रयोगवादियों के नेता अज्ञेय की 'नवीनता' के दर्शन करने चाहिये। उनकी 'भोर की किरण' नामक एक कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"भोर की प्रथम फीकी किरण,
अनजाने जागी हो याद किसी की,
अपनी मीठी, नीकी !

१—**विचार और विवेचन—डा० नगेन्द्र**

धीरे-धीरे उदित रवि का लाल-लाल गोला,
चौंक कहीं पर छिपा मुदित बन-पाखी बोला !"

इन पंक्तियों के लेखक अज्ञेय के नवीन प्रयोग दर्शनीय हैं। उनकी भोर की प्रथम किरण फीकी है जब कि उसे होना चाहिये था गुलाबी आभा से परिपूर्ण और उसकी तुलना की गई है किसी भी 'मीठी और नीकी' याद से जो सतरंगी होती है। साथ ही वह किरण फीकी कब है जब 'रवि का लाल-लाल गोला' उदित हो रहा है। उसकी लाली से ही उत्पन्न वह किरण फिर भी फीकी है। संभव है उसे देखकर अज्ञेय के अवचेतन मन की कोई ग्रन्थि खुल गई हो जिसके कारण वह उन्हें फीकी लगी हो। प्रसाद की ऊषा सुनहले तीर बरसाती हुई आती है। यह तो हुई एक नवीनता। अब दूसरी नवीनता देखिये सूर्य के उदित होने पर कोई 'बनपाँखी' चौंक कर बोल उठा। पक्षियों में तो कोई भी कवि के समान आलसी नहीं होता। सारे पक्षी सूर्योदय से पूर्व ही उठ कर कलरव करने लगते हैं। यह अज्ञेय जी का परिचित कौनसा पक्षी था जो सूर्योदय होने तक भी सोता रहा ? परन्तु यह तो प्रयोगवादी कविता है। इसमें यदि इस प्रकार की नवीनता न हुई तो फिर उसका 'जन हिताय' मूल्य ही क्या रहा ? इस प्रकार के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन ही तो चमत्कार की सृष्टि करता है, वर्तमान कविता में जिसके अभाव को देख कर अज्ञेय जी त्रस्त होकर उसे घटिया साहित्य कह चुके हैं।

शमशेर बहादुरसिंह की 'सावन की बहार' कविता में बरसात की रात पूर्णिमा से भर उठी है—

"पूर्णिमा से भर उठी है आज की बरसात की रात,
घोल में उन बादलों के साँवली मिट्टी घुली है।"

बादलों से भरी हुई बरसात की रात का पूर्णिमा से भर उठना ही इसकी नवीनता है फिर चाहे वह सम्भव हो या न हो। अब उपमा का नवीन मोह भी देखिये—

"मेरे सपने इस तरह टूट गये
जैसे भुंजा हुआ पापड़।"

क्या इसे भी काव्य कहा जा सकता है जिसमें भावों की सम्प्रेषणीयता का ऐसा रूप हो।

कहीं-कहीं केवल क्रियाहीन शब्दों के प्रयोग से ही क्रिया को ध्वनित करने का प्रयत्न किया जाता है, यथा—

"मेंढ़क पानी झप्प"

यह चीनी कविता की नकल है। पाठक शिशुओं जैसी इस भाषा का अर्थ स्वयं ही समझ लें।

अब जरा जन-भाषा का भी रूप देखिए—

निबिड़ान्धकार
को मूर्त रूप दे देने वाली
एक अकिंचन, निष्प्रभ अनाहूत
अज्ञात द्युति किरण
आसन्न पतन, बिन जमी ओस की अन्तिम
ईषत्कण, स्निग्ध, कातर शीतलता
अस्पृष्ट किन्तु अनुभूत—"

इसे पढ़कर पन्त की 'परिवर्तन' नामक कविता याद हो उठती है। मगर उसमें कवि जिस प्रभाव की सृष्टि करना चाहता है उसमें उसे सफलता मिली है। परन्तु इस स्तर की सम्पूर्ण प्रयोगवादी कविताओं में एक भयंकर अस्पष्टता और दुरूहता रहती है जिसे साधारण जन तो क्या साहित्य के पारखी भी नहीं समझ पाते और इसी के आधार पर प्रयोगवादी जन-भाषा को अपनाने का दम्भ करते हैं। उपर्युक्त दोनों कविताएँ 'तार सप्तक' में संग्रहीत हैं।

उसी 'तार सप्तक' में संग्रहीत डा० रामविलास शर्मा की 'सिलहार' शीर्षक कविता का जन भाषा का रूप देखिये जो कितना यथार्थ है—

"पूरी हुई कटाई, अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुची हुई,
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
पूलों पर फूलों के लगे अरम्भ है।" आदि

अज्ञेय समझते थे कि इस प्रकार की कविताओं को भी प्रयोगवादी कविता कह कर वे अपने नए प्रचार को सशक्त बना सकेंगे। मगर आज स्थिति यह है कि 'तार सप्तक' के लगभग सभी कवि अज्ञेय को छोड़कर, प्रयोगवाद से काफी दूर हट गए हैं।

गिरजाकुमार माथुर प्रयोगवादी कवियों में काफी सफल हुए हैं। इसका कारण यह है कि उनका दृष्टिकोण अज्ञेय से भिन्न है। वे कविता में शैली और माध्यमों के साथ-साथ समाजोन्मुखता का भी समन्वय एवं संतुलन चाहते हैं। उनकी 'शाम की धूप' नामक कविता का एक अंश देखिये—

"क्योंकि अब बन्द हो गए दफ्तर,
घंटियाँ बज रही हैं रिक्शों की
बीसियों साईकिलों की पाँतें

कैरियर टोकरी या हैंडिल में
कुछ के खाली कटोरदान बँधे,
कुछ में हैं फाइलें हर छिन भूखी
जो न कभी खत्म हुईं आफिस में।" —आदि

इसमें निम्न मध्यम वर्गीय क्लर्कों के जीवन का अत्यन्त निकट का चित्र उपस्थित किया गया है जिससे उसमें एक स्वाभाविक आकर्षण आ गया है। भाव, भाषा, लय आदि सभी दृष्टि से वह नवीन एवं पूर्ण है क्योंकि इसमें नवीनता के मोह में पड़कर खोज-खोजकर शब्द या उपमाएँ नहीं लाई गईं हैं। इनके सम्पूर्ण काव्य में नवीन प्रयोग हुए हैं मगर उसमें कहीं भी अधिक अस्पष्टता नहीं आ पाई है क्योंकि कवि भाषा को ही साध्य न मानकर साधन मानता है। साथ ही उसे संगीत, क्रम एवं लय का भी ध्यान रहता है।

इसी प्रकार गजानन मुक्तिबोध की 'नाश देवता', 'हे महान', आदि कविताएँ काफी मनोरम हैं। माचवे की 'चाय की प्याली' कविता शुद्ध प्रयोगवादी है इसलिये नीरस है। वैसे उनकी 'कापालिक', 'अश्वत्थ', 'काशी के घार पर' आदि कविताएँ सुन्दर बन पड़ी हैं। स्थानाभाव के कारण सभी प्रयोगवादी सुन्दर कविताओं को उद्धुत करना असम्भव है।

युग बदल रहा है। उसकी मान्यताएँ बदल रही हैं। यह संक्रान्तिकाल है। कलाकार के सम्मुख अपनी भावनाओं को प्राचीन प्रतीकों और उपमाओं के साथ व्यक्त करने में कठिनाई होती है। सुकवि भारतभूषण का यह कहना ठीक है कि—

"तू सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि,
यद्यपि बजती थी चप्पल।"

मगर साहब की चप्पल की फटफटाहट में नूपुर की सी मधुर ध्वनि नहीं होती। कोई कर्ण-प्रिय, शालीन उपमा ढूँढ़िये। चप्पलों से इतना मोह क्यों? अपने प्रयोगों में अनर्गलता, अनघड़पन एवं उश्रृङ्खलता मत आने दीजिये। आपके नवीन प्रयोगों से किसी को भी द्वेष नहीं है मगर उन्हें ऐसा तो बनाइये जिन्हें हम 'बद्धमूल संस्कार' वाले लोग भी समझ सकें, उनकी दाद दे सकें, उन्हें अनुभव कर सकें। मकड़ी के जाले में छिपकली की टाँग मत उलझाइये। इससे आप भटक जायँगे। क्योंकि जब नए पन का भूत सवार होता है तो वह कुछ दूर तक तो साथ देता है और फिर गढ़े में ढकेलकर हवा हो जाता है।

प्रयोगवादी कविता के नवीन संकलन 'नई कविता' के प्रथम अङ्क की आलोचना करते हुए बिहार के वयोवृद्ध साहित्यकार प्रो० शिवाधार पांडेय

एम० ए० ने लिखा है कि—"साहित्य उसी को मानता है, जो ढोंग से परे हो, ढंगों और ढर्रों ही के वश न हो, अपने रंग में पूरा रंगा हो। कला में कुशल हो, कलाबाजी में नहीं। अनुभव का पक्का, सन्देश का सच्चा, सबका हृदय छू सके, सबसे ऊपर रह सके, सबको ऊपर उठा सके।"

—(सरस्वती, दिसम्बर १६५४)

आशा है हमारे प्रयोगवादी मित्र पांडेय जी की बात पर विचार करेंगे, उनसे रुष्ट न होंगे। वे 'बद्धमूल' संस्कारों वाले व्यक्ति सही मगर उन्होंने बात पते की कही है क्योंकि यूरोप में भी उन्नीसवीं सदी के अन्त में नवीनता का यही बुखार चढ़ा था। वहाँ "नए नाटक, नए उपन्यास, नया हास्य, नयी प्रकृति, नया आनन्द, नया विलास, नया पश्चाताप, नया यथार्थ, नयी स्त्री" आदि की पुकार उठी थी। पत्रिकाएँ भी नई निकली, नया युग, नई रिव्यू आदि। उस समय यह मान्यता थी कि—"नया न हुआ तो आजकल कुछ भी न हुआ।"

परन्तु यह बुखार कुछ ही दिनों में उतर गया था।

———

३८—कला

मानव की मनोवृत्तियाँ उसे सदैव आगे बढ़ने और सोचने की प्रेरणा देती रहती हैं। उसके मन पर जो प्रभाव पड़ते हैं वह उन्हें व्यक्त करने के लिए आदिम युग से व्यग्र होता आया है। कहते हैं कि भाषा की उत्पत्ति उसकी इसी व्यग्रता का परिणाम थी। यदि भाषा के माध्यम द्वारा उन प्रभावों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती तो वह अन्य साधन अपनाता है। कला की जननी मनोभावों को व्यक्त करने की यही अदम्य और शाश्वत भावना मानी जाती है। चतुर्दिक वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है परन्तु जिनकी वृत्तियाँ अधिक कोमल और शक्तिशालिनी होती हैं वे ही उन प्रभावों को व्यक्त करने के लिए अधिक व्यग्र रहते हैं क्योंकि उनमें सहृदयता एवं करुणा दूसरों की अपेक्षा अधिक रहती है। यही अभिव्यक्ति कला कहलाती है। करुणा को इसका मूल कारण माना जाता है। इसी कारण भवभूति ने करुण रस से अन्य सभी रसों की उत्पत्ति मानी है। द्रवणशील भावुक हृदय साधारण सी घटना से व्याकुल हो उठता है। वाल्मीकि के मुख से क्रौंचवध को देखकर इसी करुणा के कारण सरस्वती का आदि रूप प्रस्फुटित हो उठा था।

'कला' और 'सौन्दर्य' आजकल परस्पर इतने सम्बद्ध माने जाते हैं कि उनमें कोई विभाजक रेखा खींचना असम्भव है। जब मानव अपनी कृति में सौन्दर्य का योग करता है तभी वह कृति 'कला' कहलाने लगती है। और सौन्दर्य की यह भावना तब उत्पन्न होती है जब मन की वृत्ति का वस्तु से रागात्मक सम्बन्ध हो। हमारे प्राचीन शास्त्रों में सौन्दर्य वही सार्थक माना गया है जो परमार्थ का साधक हो। परन्तु यूरोपिय विद्वान सौन्दर्य के दो रूप मानते हैं—१ – सुख प्रदायक सौन्दर्य (Pleasure value of a thing) और २—प्रभावक सौन्दर्य (Influence value of a thing)। विशुद्ध कलावादी केवल सुख प्रदायक सौन्दर्य को ही कला में प्रमुख स्थान देते हैं जबकि उपयोगितावादी प्रभावक सौन्दर्य को ही सब कुछ मानते हैं। ये दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं। भारतीय विचारकों ने कला में इन दोनों का सन्तुलन माना है। 'काव्य प्रकाश' के रचयिता ने काव्य के उद्देश्य बताते हुए कहा है कि—

"काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिवृत्तये कान्ता सम्मितयोपदेशयुजे ।।"

अर्थात् काव्य यशकारक, अर्थ प्राप्ति का साधन, व्यवहार की शिक्षा देने वाला, अशिव का नाशक और उपदेशप्रद होता है। और यह कार्य वह उपदेशक की भाँति न कर कान्ता के सामान मधुर वाणी द्वारा, हृदय में रस की वर्षा करते हुए करता है।

काव्यमीमांसाकार ने मानवी प्रतिभा के दो रूप माने हैं—भावयित्री और कारयित्री। भावयित्री प्रतिभा का कारण जिज्ञासा होती है अर्थात् जब हम वस्तु के वाह्य रूप से ही सन्तुष्ट न होकर यह जानने के लिये व्यग्र हो उठते हैं कि 'इसके भीतर क्या है ?' हमारी यह जिज्ञासा की भावना भावयित्री प्रतिभा को उकसाती रहती है। वस्तु के आन्तरिक रहस्य को जानकर हम कभी कभी यह प्रयत्न करते हैं कि हम भी वैसी ही वस्तु का निर्माण करें। नवीन निर्माण करने की यह भावना ही कारयित्री प्रतिभा का मूल है। अनुकूल परिस्थितियाँ इस प्रतिभा को विकसित करती रहती हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की प्रतिभायें बाल्यकाल से अपना कार्य करती रहती हैं। बालक के किशोर बनने पर उसमें एक और तीसरी प्रतिभा का उदय होने लगता है जिसे कल्पना शक्ति कहते हैं। यह प्रथम दोनों प्रकार की प्रतिभाओं को प्रेरणा देती रहती है। इसकी सहायता से भावयित्री प्रतिभा वस्तु में सौंदर्य का अङ्कन करती है तथा कारयित्री प्रतिभा उस निर्माण में सौंदर्य की स्थापना करती है। ये ही तीनों प्रतिभायें कला की जननी हैं। मानसिक विकास के साथ इनका भी विकास होता रहता है। प्रारम्भ में कला में बाह्य सौन्दर्य की प्रधानता रहती है और आगे चल कर उसमें आन्तरिक सौन्दर्य की स्थापना के साथ साथ अन्तर्बाह्य सौन्दर्य का सन्तुलन हो जाता है। कला की सफल अभिव्यक्ति इसी सन्तुलन पर निर्भर रहती है।

बालक में एक और मनोवृत्ति होती है—अनुकरण करने की मनोवृत्ति। यह उसकी मौलिक मनोवृत्ति है। यहाँ तक कि इस अनुकरण की वृत्ति में अधिकांश वयस्कों के भी अनेक व्यापारों का संचालन होता है। कोई कलात्मक कृति इस मौलिक वृत्ति के अभाव में पूर्ण नहीं हो सकती।

कला के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त कला के जन्म और उद्देश्य के विषय में विभिन्न विदेशी और भारतीय विद्वानों की परिभाषा भी जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। अरस्तू और दान्ते के मतानुसार कला का मूल मानव की अनुकरण करने की प्रवृत्ति में निहित है और इस अनुकरण का विषय मौलिकता की दृष्टि से प्रकृति है। दान्ते ने अपने महाकाव्य 'डिवाइन कामेडिया'

में कला के विषय में कहा है कि—"Art, as far as it is able follows nature, as a pupil imitates his master thus your art must be, as it were, gods grandchild." इस परिभाषा द्वारा दान्ते ने कला का सम्बन्ध प्रकृति और ईश्वर से माना है परन्तु कला-प्रवृत्ति न केवल प्रकृति के अनुकरण में ही सीमित है और न केवल ईश्वर के अनुमोदन में ही। मानव का 'स्व' इन दोनों का अभिनन्दन करते हुए भी इनसे स्वतन्त्र और रचनाशील होता है। मानव का यही 'स्व' पूर्णता को आत्मसात कर सर्वोपरि हो उठता है जैसा कि चण्डीदास ने कहा था—"साबार ऊपर मानुष सत्य, ताहर ऊपर नाईं।" दूसरी बात यह है कि अनुकरण की प्रवृत्ति में आत्महीनता की भावना भी होती है जिसकी अनुभूति कला जैसी विश्वास-जन्य वस्तु को जन्म नहीं दे सकती।

अरस्तू का कथन है कि—"स्वभाव अथवा कला के माध्यम से मनुष्य विभिन्न वस्तुओं का अनुकरण करता है। कुछ कलाकार रंगों और मूर्तियों के द्वारा अनुकरण करते हैं तथा अन्य शब्दों के द्वारा।" हीगल की धारणा कला-सौन्दर्य के सम्बन्ध में 'मेटाफिजीकल' ही है। वह कहता है "प्राकृतिक सौन्दर्य ईश्वरीय सौन्दर्य का आभास है, कला उसी आभास की पुनरावृत्ति है।" क्रोचे का दृष्टिकोण कला-उद्‌भावना के सम्बन्ध में कुछ अधिक मानवीय गौरव की रक्षा कर सका है और एक अर्थ में 'अनुकृतिवाद' के मनोवैज्ञानिक पक्ष की विकसित दशा प्रस्तुत करता है। वह 'मानसिक अभिव्यक्ति' को कला मानता है। अनुकृतिवाद में मानव मन की अविकसित अवस्था विस्मय या कौतूहल की प्रेरणा से अनुकरणशील मानी गई है, वही अवस्था, एक सतत्-चेतन प्रगति से विकास की विशेषताओं को एकत्र कर, आकर्षण और जिज्ञासा की प्रेरणा से स्वभावतः अभिव्यक्तिशील समझी गई है। यही क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' कहलाता है। उपर्युक्त परिभाषाओं के मूल में आत्म-प्रकाशन की मनोवृत्ति कार्य करती है। इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। तथ्य यह है कि उपर्युक्त प्रारम्भिक परिभाषाएँ मानसिक भावनाओं के उद्‌गम की ओर संकेत करती हैं और क्रोचे की परिभाषा अभिव्यक्ति पर बल देती है। इसमें प्रयोजन पर बल नहीं दिया गया है। उपनिषदों के अनुसार जगत की उत्पत्ति इसलिए होती है कि ब्रह्म उसके द्वारा अपनी लीला देखना चाहता है। उसके मानसिक सौन्दर्य की अनुकृति से जगत-सौन्दर्य की सृष्टि होती है। उसका यह अभि-व्यक्त सौन्दर्य निष्प्रयोजन नहीं है। तब हम यह कैसे स्वीकार करलें कि मानव निर्मित सौन्दर्य निष्प्रयोजन होता है।

तोल्स्तोय कला सृजन की प्रेरणा को केवल सौन्दर्य बोध की बन्दिनी नहीं

मानता। उसके विचार से कला की प्रेरणा भावना-संप्रेषण की इच्छा में निहित है। उसका कहना है कि शब्द विचारों के वाहक होते हैं और कला भावना की वाहिका होती है। उसके अनुसार कला-निर्माण की प्रेरणा अनुभूतियों की प्रेषणेच्छा से मिलती है और इन अनुभूतियों को प्रेरित करने की इच्छा व्यक्ति की निजी आवश्यकता है क्योंकि यह इच्छा उसकी मूल प्रवृत्तियों में है। ऐसा करके उसे आत्मतोष प्राप्त होता है।

कला के सम्बन्ध में मार्क्स के विचार व्यावहारिक दिशा की ओर उन्मुख हैं। मार्क्स की धारणा है कि मनुष्य का दैनिक जीवन उसकी अपनी चेतना पर अवलम्बित नहीं, प्रत्युत मनुष्य की चेतना ही उसके समष्टि जीवन पर अवलम्बित होती है। इसीलिए कलाकार की चेतना भी सामाजिक जीवन की ही देन है। सामाजिक जीवन आर्थिक विन्दु पर केन्द्रित होने के कारण कला भी अपनी मूल प्रेरणा आर्थिक स्थिति से ही पाती है। अतः शोषक वर्गों के द्वारा, संचालित समाज की आर्थिक स्थिति के शोषणात्मक होने के कारण उस वर्ग की कला भी शोषणात्मक होने को बाध्य है। इसी आधार पर शोषितों की कला विद्रोहात्मक होगी और दोनों वर्ग एक दूसरे की कला को अपने-अपने स्वार्थों के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक मानेंगे। इस तरह मार्क्स ने चिरन्तन कला का आदर्शात्मक उच्चता का द्वार बन्द कर तथा इतिहास के काल-खंडों में अमरत्व-प्राप्त कलावस्तुओं को संकीर्णता का वर्गवादी प्रतीक बना कर, उनका महत्व ही शून्य कर दिया है। इसी कारण रमणीयता, मानवीय अन्तः सौन्दर्य और भावनात्मक विच्छिति की भी स्वाभाविकता को प्रकारान्तर से अस्वीकार करने वाला मार्क्स कला-निर्माण को एक वर्ग-स्वार्थ से प्रेरित सामाजिक कर्त्तव्य समझता है।

फ्रॉयड की चिंतन-पद्धति अपनी परम्पराओं से बिल्कुल भिन्न और निराली है। वह कला द्वारा मानव की दमित वासनाओं का उन्नयन मानता है। उसके अनुसार मानव के अवचेतन मन की प्रवृत्तियों के मूल में उसकी अतृप्त वासना या यौन-प्रवृत्ति रहती है। कला-सृजन के द्वारा ये अवचेतन प्रवृत्तियाँ ही प्रायः प्रकाश में आती हैं और उनकी कलात्मक वासना तृप्त होती है। इसके अनुसार कलाओं में दूषित मनोवृत्तियों का समुन्नयन होता है। साधारणतः हमारी जिन वृत्तियों के प्रकट हो जाने पर समाज में हमारा चरित्र अशुद्ध समझा जाने लगता है वे ही वृत्तियाँ जब कला के आवरण से आवृत्त होकर ऐसे सुन्दर रूप में आती हैं कि उनका प्रकटीकरण शिष्टता एवं शालीनता का उल्लंघन नहीं प्रतीत होता, तभी समुन्नयन की स्थिति उत्पन्न होती है। ग्रीस की नग्न मूर्तियाँ, यूरोप की नग्न चित्रकला इन्हीं दूषित मनोवृत्तियों के समुन्नत रूप हैं। परन्तु

फ्रॉयड का यह दृष्टिकोण उपर्युक्त सम्पूर्ण दृष्टिकोणों में सबसे अधिक विकृत और अवैज्ञानिक है। मानवीय गुणों की हार्दिक और बौद्धिक प्रतिच्छायायें, जो कला सर्जन में सदा ही कलाकार की श्रद्धा, पवित्रता, विश्वास, आत्मदान और मूल प्रवृत्तियों की विभिन्नता बनकर व्यक्त होती हैं, अवश्य ही किसी वृहत्तर आवश्यकता के गर्भ से उत्पन्न हुई होंगी न कि मानव मन की अतृप्त वासनाओं का प्रतिफलन होंगी। आज फ्रॉयड के इस मत का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ रहा है।

कुछ विद्वानों का मत है कि मानव का अन्तरात्मा वाह्य जगत को देखता है, अनुभव करता है। अनुभव कर वह उसे प्रकट करना चाहता है। इस प्रकट या अभिव्यक्त करने की भावना से ही 'कला' की उत्पत्ति होती है। मानव के अवचेतन मन पर उसके चतुर्दिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। उससे उसके हृदय में सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आश्चर्य, भय आदि की बिशिष्ट एवं विभिन्न भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। मानव सृष्टि के आरम्भ में ये भावनाएँ अविकसित अवस्था में रहीं होंगी लेकिन जैसे-जैसे उसका अनुभव और ज्ञान बढ़ता चला गया वह उसे स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील होता गया। उसने प्रत्येक वस्तु और भावना का विश्लेषण करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रयत्न से उसके कलाकार, दार्शनिक, मीमांसक आदि अनेक रूप बन गए। इसके मूल में अभिव्यक्ति की भावना ही मूल कारण रही। परन्तु प्रत्येक प्रकार की अभिव्यक्ति को कला नहीं कहा जा सकता। इसी बात को लक्ष्य कर गुप्त जी ने "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति" को ही कला माना है। अभिव्यक्ति की 'साधारण शक्ति' और 'कुशल शक्ति' में पर्याप्त अन्तर है। कलाकार अपने अभिव्यंजन में कुशल शक्ति का उपयोग करता है। परन्तु वैज्ञानिक वस्तु को जिस रूप में देखता है उसका उसी रूप में विश्लेषण कर उसके मूलतत्व तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। वह उस वस्तु का खण्ड-खण्ड कर, अपनी बुद्धि की सहायता से उसका विश्लेषण कर, उसके समग्र रूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि कहलाती है। परन्तु जैसा कि हम पहले कह आए हैं, कला के मूल में सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण की भावना रहती है। अतः कलाकार समग्र वस्तु को, उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य को एक बार में ही ग्रहण कर उसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

मनुष्य की मीमांसा या दर्शन की प्रवृत्ति कला नहीं है। यद्यपि अभिव्यक्ति यहाँ भी होता है परन्तु इस अभिव्यक्ति से कला का कोई सम्बन्ध नहीं होता। कला का सीधा सम्बन्ध तो जगत की वस्तुओं का मानव मन पर जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति से है। विधान में मस्तिष्क की

प्रधानता रहती है और कला में हृदय की। इन दोनों के इसी अन्तर को लक्ष्य कर, कविता की परिभाषा करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा था कि—'कविता द्वारा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" इस रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह की भावना ही सम्पूर्ण कलाओं की मूलाधार है। एक सुन्दर पुष्प जब एक वैज्ञानिक के हाथों में पड़ता है तो वह उसके खण्ड खण्ड कर उसकी उत्पत्ति, विकास और भावी प्रगति का विश्लेषण करता है। पुष्प का सौन्दर्य उसे अनुप्राणित नहीं कर पाता। परन्तु वही पुष्प जब एक कलाकार के हाथ में पड़ता है तो उसके सौन्दर्य दर्शन से कलाकार के हृदय में भावों का एक आन्दोलन सा खड़ा होता है। इसी कारण वह कभी उसमें प्रियतमा के दर्शन करता है और कभी जगन्नियन्ता के रूप की झलक देखता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति मात्र को कला नहीं कहा जा सकता। कला केवल उसी अभिव्यक्ति को कहा जायगा जिसके मूल में सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण की भावना होगी।

भारतीय चिन्तकों ने विदेशी चिंतकों के अनुसार कभी भी कला को उस व्यापक अर्थ की सूत्रधारिणी नहीं माना जिसके अनुसार वे लोग साहित्य, सङ्गीत, चित्र, शिल्प और स्थापत्य को कला के अन्तर्गत मानते हैं। विदेशी विद्वान इनके अतिरिक्त अन्य व्यावहारिक और प्रत्यक्षतः उपयोगी कौशलों को 'क्रैफ्टमैनशिप' मानते हैं परन्तु भारतीय विद्वानों ने उनमें भी विशिष्ट गुणों और चमत्कार पूर्ण क्रियाओं का समन्वय कर उन्हें चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत माना है। किन्तु जैसे-जैसे हमारा सम्पर्क पश्चिम से बढ़ता गया, विदेशी दृष्टिकोण के प्रभाव से भारतीय मान्यताओं में भी विशिष्टता और व्यापकता का मिश्रण विभिन्न अनुपातों में प्रकट होने लगा। परिणामस्वरूप परवर्ती भारतीय विचारधारानुसार 'कला' केवल ललित कला के तात्पर्य से प्रयुक्त होने लगी। यों तो वेदों पर ध्यान रखते हुए भारतीय दृष्टि से भी कला का सृजन चिरन्तन है।

डा० प्रेमनारायण शुक्ल कला की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि—"भारत में कला शब्द का प्रयोग एक भिन्न ही अर्थ में हुआ है। यह भिन्न अर्थ सौन्दर्य-भावना को लक्ष्य में रखकर नहीं चला, वरन् इसके मूल में बुद्धि तत्व की प्रधानता है। साधारणतः काम तो सभी करते हैं, पर कुछ व्यक्तियों के काम करने ढङ्ग में कुछ ऐसी विशेषता होती है जो आकर्षण का कारण बनती है। इस आकर्षण में हृदयतत्व की अपेक्षा मनस्तत्व पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यदि किसी गिरहकट ने ऐसी सफाई से हमारी जेब काटी कि हमें खबर भी न हुई तो जहाँ एक ओर हम अपनी हानि पर दुखी होते हैं वहीं

उसकी चतुरता की सराहना भी करने लगते हैं। इस सराहना में जिस तत्व की प्रधानता होती है वह तत्व (मनस्तत्व) जब किसी कृति में उत्पन्न हो जाता है तब उसमें हमें कला के दर्शन होते हैं। इस तत्व की स्पष्ट व्यंजना करने वाली चौंसठ कलाओं की गणना की गई है। इन चौंसठ कलाओं में चोरी, द्यूतक्रीड़ा जैसी विगर्हणीय, काम कलाओं जैसी गोप्य और संगीत तथा नृत्य जैसी उन्नत कलाएँ भी हैं।''[1]

रवीन्द्र बाबू भी कला का मूल सौन्दर्य भावना को ही मानते हैं परन्तु उनका मत है कि सौन्दर्य केवल रूप या अभिव्यंजना मात्र नहीं है। उनका कथन है कि—"सौन्दर्य का बोध हमें विश्व की विभूतियों में आनन्द की प्रतीत देकर, हमारी कला को अधिक सुन्दर और सम्पन्न बनाता है। जब हम आत्मा के सौन्दर्य का बोध करते हैं तो विश्वात्मा के परमानन्द का अनुभव हमारी कला को कल्याण और प्रेम के मार्ग से असीम की ओर ले जाता है। अतः कला को सुन्दर और सम्पन्न बनाने के लिए आत्म-सौन्दर्य और विश्व-सौन्दर्य की अनुभूति की व्यंजना आवश्यक है।'' 'प्रसाद' ने अपने 'काव्य और कला' निबन्ध में कला के व्यापक अर्थ की ओर संकेत करते हुए प्राचीन संस्कृत के उद्धरणों द्वारा अपने मत की पुष्टि की है। भोजराज के 'तत्वप्रकाश' से कला की परिभाषा उद्धृत करते हुए प्रसाद ने उसे 'कर्त्तव्य की व्यंजक शक्ति' माना है—"व्यंजयित कर्त्तृशक्तिकलेति तेनेह कथिता सा।'' साथ ही क्षेमराज के 'शिवसूत्र विमर्थिनी'' के आधार पर कला को "नव-नव-स्वरूप-पथोल्लेख शालिनी संचित वस्तुओं में या प्रमाता में 'स्व' की आत्मा को परिचित रूप में प्रकट करती है, इसी रूप का नाम कला है'' अनूदित किया है। इस परिभाषा और रवीन्द्र बाबू की परिभाषा में बहुत समानता है। इसी विश्वास के आधार पर प्रसाद काव्य की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है।''

कला के आधुनिक विश्लेषकों में यूरोपिय आलोचक इलियट और भारतीय चिंतक अज्ञेय का मत भी उल्लेख योग्य है। दोनों ही समकालीन हैं अतएव दोनों के विचारों में किसी अनुपात में साम्य रहा है। अज्ञेय अपने 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' शीर्षक निबन्ध में कला की परिभाषा देते हुए कहते हैं—"कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।''उनका अनुमान है कि प्राचीन काल में जब आखेट जीवी परिवार का कोई एक सदस्य किसी कारण से कार्य

१—हिन्दी साहित्य में विविध वाद—डा० प्रेमनारायण शुक्ल

करने के अयोग्य हो गया तो समाज की सामान्य मर्यादा न निभा सकने के कारण उसने एक विशिष्ट वर्म की सृष्टि द्वारा जीवन का क्षेत्र विकसित करने के लिए एक नई उपयोगिता की सूत्र धारिणी 'कला' को जन्म दिया होगा। यदि अज्ञेय की इस स्थापना को मान लिया जाय तो इससे कला के मूल में सामाजिक दायित्व के प्रति पंगुता और पलायन की भावना मिलेगी जिनमें एक भी हीनता की भावना से मुक्त नहीं है और हीनता की भावना कला की विश्वासमयी सृष्टि के प्रतिकूल है। अतः इस प्रकार कला का जन्म नहीं माना जा सकता। इलियट कला को भावों का उन्मोचन, भावों से मुक्त और व्यक्तित्व की अभिव्यंजना से न मानकर व्यक्तित्व से मोक्ष मानता है। यह विचार भी अज्ञेय के विचारों का कुछ सीमा तक समर्थक है। अस्तु,

यहाँ तक हमने देशी विदेशी विद्वानों द्वारा की गई 'कला' की विभिन्न परिभाषाओं को समझने का प्रयत्न किया है। उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—"मनुष्य ने विश्व सौन्दर्य के रूप में व्यक्त चिरन्तन आनन्द की आत्मानुभूति को जीवन के प्रति आस्था, शक्ति और प्राणसत्ता के प्रसार के लिये व्यक्त कर देने की आवश्यकता पहचानी। यही आवश्यकता कला की जननी हुई।" अथवा "विश्व सौन्दर्य द्वारा प्राप्त आनन्द बोध की स्वानुभूति मनुष्य ने सचेष्ट होकर जिस क्षमता के साथ व्यंजित की, वही कला है।"

कला के मूल में सौंदर्य की भावना की प्रधानता है। फिर कला का उद्देश्य केवल साज-शृङ्गार ही है अथवा कुछ और भी। जिस प्रकार सृष्टि की अनुपम कृति नारी साज-शृङ्गार से कहीं ऊपर है, वह विश्व-मानव की जननी और धात्री है वैसे ही कला भी विश्व के मूर्त्त रूप की जननी और धात्री है। वह शुद्ध आध्यात्यिक प्रेरणा से ही जीवन के उदात्त पक्ष की अभिव्यक्ति करती है। जो कला केवल शृङ्गार-सजावट तक ही सीमित रहती है वह वारांगना के समान अशुद्ध और विकृत है। वेरूल का कैलास-मंदिर एवं बोरुडुदूर का प्रसिद्ध बौद्ध स्तूप उतनी ही महान् आध्यात्मिक कृतियाँ हैं जितनी कि शंकर स्वामी का वेदान्त 'शारीरिक दर्शन' और बुद्ध का जीवन 'ललित-विस्तार'। कलात्मक निर्माण में पवित्र मानवी श्रद्धा का जब संयोग होता है तभी कला उपासना का रूप धारण कर लेती है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि कला में भाव का अधिक महत्व होता है अथवा रूप का? विद्वानों ने उत्कृष्ट कला उसी को माना है जिसमें भाव और रूप दोनों का सन्तुलित सामंजस्य होता है। कालिदास ने भाव और रूप के तारतम्य की मीमांसा करते हुए कहा है कि भाव अर्थ है, रूप शब्द है। जब भाव और रूप शब्द और अर्थ की भाँति एक दूसरे के साथ समन्वित होते

हैं तभी पूर्ण सौंदर्य की उत्पत्ति होती है। यहाँ सत्य-कला की उत्कृष्टता का बोधक है। अजन्ता के भित्ति-चित्र भाव और रूप दोनों की दृष्टि से संतुलित हैं। साहित्य में केवल भाव हों और भाषा की पूर्णता न हो तो साहित्य अपूर्ण है। कला में कल्पना और रूप न हो तो वह आकृष्ट नहीं कर सकती। अतः उसमें भाव और रूप का संतुलित समन्वय आवश्यक है।

तीसरा प्रश्न यह उठता है कि कला भावों की अभिव्यक्ति रूप के द्वारा अधिक अच्छी तरह करती है या रंग द्वारा ? कला के क्षेत्र में रूप शिल्प कला में होता है और रंग चित्रकला में। ये भावाभिव्यक्ति के दो प्रकार मात्र हैं। इनकी सफलता या असफलता कलाकार के कौशल पर निर्भर करती है। अजन्ता के कला-मन्डप और बोरुल का कैलाश-मन्दिर, इन दोनों में ही विश्व की महती कला के दर्शन होते हैं। भारत में शिल्पकला और चित्रकला दोनों का विकास और इतिहास लगभग एक सा प्राचीन और विस्तृत है। फिर भी हमारे यहाँ चित्रकला की अपेक्षा शिल्पकला की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। साँची का स्तूप, कार्लामाजा की चैत्य गुफाएँ, गुप्तकालीन मन्दिर और मूर्तियाँ, महावली पुरम् के मन्दिर और रथ, कोणार्क, भुवनेश्वर, खजुराहो, आबू और पालिताना और विराट देव-मन्दिर शिल्प एवं स्थापत्य कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं जो कलात्मक भावों और रूप-विधान के अक्षय भण्डार हैं। साथ ही राजस्थानी चित्र-शैली और हिमांचल चित्र शैली के असंख्य चित्र भी भाव और रूप-लावण्य के अमर-स्रोत हैं। इस तरह कला की अभिव्यक्ति रूप और रंग दोनों के माध्यम से एक सी हो सकती है। इन दोनों माध्यमों में से कोई भी छोटा बड़ा नहीं है।

३९—कलाओं का वर्गीकरण

विद्वानों का कथन है कि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है इसलिये उसका विभाजन असम्भव है। कला जब मूर्त्त रूप में उपस्थित होती है तब उसके विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। क्रोचे का मत है कि इन रूपों की भिन्नता में तात्विक भिन्नता न होकर केवल बाह्य भिन्नता होती है। उसकी मूल अभिव्यक्ति एक ही रहती है। इसीलिए तात्विक दृष्टि से कला का विभाजन सम्भव नहीं। तात्विक दृष्टि के अतिरिक्त इसी कारण कला का विभाजन दार्शनिक और कलात्मक दृष्टि से भी नहीं हो सकता। अभी तक कला के जो विभिन्न विभाजन किये गए हैं वे तात्विक दृष्टि से न होकर व्यावहारिक दृष्टि अर्थात् कला की अभिव्यंजना के विभिन्न आधारों पर किये गये हैं। एक ही वस्तु का प्रभाव विभिन्न कलाकारों के हृदय पर समान पड़ता है परन्तु इस प्रभाव को व्यक्त करने के ढङ्ग उनकी रुचि विशेष पर निर्भर करते हैं। उनकी रुचि विशेष के व्यक्त प्रकारों के आधार पर ही कलाओं का विभाजन किया गया है जो शुद्ध रूप से व्यावहारिक है। इस विभाजन का आधार कला के वे अनिवार्य उपकरण (चित्र, काव्य, सङ्गीत, मूर्त्ति, स्थापत्य) हैं जिनके माध्यम से कलाकार अपने हृदय पर पड़े हुये प्रभावों से उत्पन्न भावों को व्यक्त करता है। एक ही सुन्दर वस्तु को देख कर एक कलाकार उनको चित्र द्वारा, दूसरा मूर्ति द्वारा, तीसरा सङ्गीत द्वारा, चौथा कविता द्वारा व्यक्त करता है। यहाँ प्रभाव एक ही है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के साधनों में भिन्नता है।

व्यावहारिक दृष्टि से कलाओं के दो वर्ग माने गये हैं—ललित और उपयोगी। इस विभाजन का आधार बाह्य उपकरण या वे आधार हैं जिनकी सहायता से कलाकार अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है। लालित्य और उपयोगिता कला के क्षेत्र में सापेक्ष वस्तुएँ हैं अतः एक में दूसरे का मिश्रण अनिवार्य है। केवल उपयोगिता ही कला का अन्तरङ्ग नहीं है। ललित कला में भी उपयोगिता होती है और उपयोगी कला में भी लालित्य होता है। उपयोगी कला में वे सब कलाएँ आ जाती हैं जिनका हमारे दैनिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है, जो जीवन के नित्य उपयोग की वस्तुएँ हैं—जैसे लुहार, बढ़ई, सुनार, कुम्हार, जुलाहे आदि के कार्य। ललित कलाओं में वे कलाएँ मानी जाती हैं जिनका हमारे मानसिक और लोकोत्तर जीवन से सम्बन्ध है। वे

अवकाश के समय हमारे जीवन में एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि कर एक ऐसी लोकोत्तर अवस्था में पहुँचा देती हैं जो ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है।

कला का दूसरा विभाजन उसके व्यावहारिक या भौतिक आधारों तथा उसकी अनुभूति को लेकर किया गया है। इस आधार पर कला के दो पक्ष हैं—अनुभूति पक्ष और कलापक्ष। कलापक्ष को रूपपक्ष भी कहा जाता है। अनुभूति पक्ष के अन्तर्गत वह अनुभूति या भाव आते हैं जो कलाकार को अनुप्राणित करते हैं और जिनकी सहायता से कलाकार पाठक, श्रोता या दृष्टा को अनुभूत करना चाहता है। कलापक्ष में वे आधार या भौतिक माध्यम आते हैं जिनकी सहायता से कलाकार अपने हृदयस्थ अनुभूति या भावों को यथाशक्ति प्रभावात्मक रूप में अभिव्यक्त करने के लिये सर्वाधिक उपयुक्त और श्रेष्ठतम मार्ग ढूँढ़ता है। इस प्रकार अनुभूति और कला के योग से ही कलावस्तु का संगठन होता है। दूसरे लोग इसी विभाजन को इस प्रकार रखते हैं—१—कला की सफल अभिव्यंजना, २—कला की असफल अभिव्यंजना। यदि किसी कलाकृत में अनुभूति और रूप का संतुलित योग है तो वह याठक या दृष्टा के हृदय पर वही प्रभाव डालने में समर्थ होती है जिसका कलाकार ने स्वयं अनुभव किया था। कला की ऐसी अभिव्यक्ति 'सफल' मानी जाती है। इसके विपरीत कुछ कलाकृतियाँ ऐसी होती हैं जो पाठक या दृष्टा के हृदय पर अभीष्ट प्रभाव डालने में असमर्थ रहती हैं इसका कारण यह होता है कि कलाकार अपनी कृति में अनुभूति और रूप का सन्तुलित योग करने में असमर्थ रहा है। या तो कलाकार की अनुभूति कच्ची है या उसके पास अपनी अनुभूति को व्यक्त करने की साधन हीनता है। नेसी कृतियाँ कला की असफल अभिव्यंजना की उदाहरण मानी जाती हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि कलाकार में कभी अनुभूति की कमी है और रूप की अधिकता तथा कभी रूप की अधिकता है तो अनुभूति की कमी। यह उसकी असफलता के चिह्न हैं। इस प्रकार इस अवयव सङ्गठन सम्बन्धी विभाग के चार रूप मिलते हैं—१—अनुभूति की कमी पर रूप की विशेषता; २—अनुभूति की तीव्रता पर रूप की कमी; ३—अनुभूति एवं रूप दोनों की न्यूनता; ४—अनुभूति और रूप का समन्वय। मनुष्य ने क्रमशः उन्नति करते करते अपनी अभिव्यक्ति को कुशलता की उस चरम सीमा पर पहुँचा दिया जहाँ वह एक साधारण अनुभूति को भी असाधारण एवं चमत्कारपूर्ण ढङ्ग से व्यक्त करने लगा। हिन्दी साहित्य में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। कुछ कवि तो हमारे यहाँ ऐसे हुये हैं जिनका अनुभूत पक्ष (भावपक्ष) अत्यन्त उत्कृष्ट और असाधारण बन पड़ा है किन्तु रूपपक्ष (कलापक्ष) अपे-

क्षाकृत निर्बल है जैसे कबीर और जायसी। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी कवि हैं जिनका रूपपक्ष तो अत्यन्त उत्कृष्ट है परन्तु अनुभूति पक्ष अत्यन्त निर्बल है। अनुभूति की इस न्यूनता को उन लोगों ने रूपपक्ष के उत्कृष्ट चित्रण द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया है। केशव में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। साथ ही हिंदी में कुछ ऐसे भी कवि हुये हैं जिनके काव्य में अनुभूति और रूप दोनों पक्षों का सन्तुलित योग मिलता है। वे अपनी श्रेष्ठ अनुभूतियों को उत्कृष्ट एवं चमत्कारपूर्ण भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने में पूर्ण सफल हुये हैं। प्राचीन कवियों में सूर और तुलसी तथा आधुनिक कवियों में प्रसाद और निराला ऐसे ही उच्च कोटि के कलाकार हुये। इनके अतिरिक्त ढेरों कलाकार ऐसे हैं जिनमें न तो अनुभूति की गहराई ही मिलती है और न रूप की उत्कृष्टता। सफल कला वही मानी जायगी जहाँ अनुभूति और रूप समान रूप से सशक्त और उत्कृष्ट हों।

कुछ आलोचकों ने ऐतिहासिक दृष्टि एवं रुचिभेद के आधार पर भी कलाओं का वर्गीकरण किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके दो विभाग माने गये हैं—प्राचीन कला और आधुनिक कला। रुचिभेद के आधार पर भी इसके दो भेद हैं—धार्मिक कला और लौकिक कला। धार्मिक कलाओं की भावना से कहीं-कहीं तो लोगों की रुचि श्रद्धा में बदल जाती है। कलाकृतियाँ उनके लिये पूज्य हो जाती हैं। देवताओं की प्राचीन एवं अर्वाचीन कलात्मक सुन्दर मूर्तियों के प्रति आज अन्धश्रद्धा और पूज्यबुद्धि की भावना का प्राधान्य है। हमारी दृष्टि उनके कलात्मक सौन्दर्य का मूल्याङ्कन न कर केवल उनके धार्मिक स्वरूप तक ही सीमित रह जाती है। इसी प्रकार काव्य कला की उत्कृष्टतम कृतियाँ रामायण और महाभारत आदि समाज की दृष्टि में सुन्दर काव्य मात्र न रह कर शुद्ध धार्मिक ग्रन्थ बन गये हैं। स्वार्थी व्यक्ति समाज की इस अन्ध श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाकर इन ग्रन्थों की मनमानी व्याख्या कर एवं उनके चारों ओर आध्यात्मिकता का एक अभेद्य आवरण डालकर, समाज को पथभ्रष्ट कर रहे हैं। इससे सबसे बड़ी हानि यह होती है कि उस कृति का वास्तविक कलात्मक सौन्दर्य छिप जाता है। उसकी ओर किसी की दृष्टि नहीं जाने पाती। हमारे यहाँ त्यौहारों पर अब भी घर के दरवाजे के दोनों तरफ विभिन्न प्रकार के भौंड़े चित्र बनाये जाते हैं। आरम्भ में ऐसे चित्रों का निर्माण चित्रकला की उत्कृष्टता का प्रतीक रहा होगा परन्तु कालान्तर में जब उन्हें धार्मिक रङ्ग दे दिया गया तो उनका कलात्मक सौन्दर्य तो नष्ट हो गया केवल आड़ी तिरछी कुरूप रेखाएँ रह गईं। कलात्मक रूपों पर धार्मि-

कता या अलौकिकता का आवरण डाल देने का यही परिणाम होता है। यह प्रवृत्ति अत्यन्त अस्वास्थ्यकर और हानिप्रद है।

कला के उपर्युक्त विभिन्न वर्गीकरणों का आधार उसके बाह्य उपकरण मात्र हैं। वास्तव में कला का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, कला एक अखंड अभिव्यक्ति है। भिन्नता केवल उसकी अभिव्यंजन प्रणालियों के कारण ही प्रतीत होती है। उपयोगिता और सौन्दर्य की भावना तो उसके मूल में सर्वत्र रहती है। उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उसके शारीरिक और आर्थिक विकास में सहायता मिलती है। ललित कला द्वारा मानसिक विकास और अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार उपर्युक्त विभाजनों में 'ललित और उपयोगी कला' वाला विभाजन ही अधिक सार्थक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है। परन्तु यह विभाजन यूरोप की देन है। हमारे यहाँ इस प्रकार के विभाजन का कोई विधान नहीं मिलता। इस 'उपयोगी और ललित कला' वाले विभाजन का श्रेय यूरोप के प्रसिद्ध कला-शास्त्री हीगेल को है। उसने ललित कला के पाँच भेद माने हैं—वास्तु, मूर्ति, चित्र, सङ्गीत और काव्य। यह वर्गीकरण उपकरणों की दृष्टि से किया गया है। इसी दृष्टि से इन्हें दो वर्गों में विभाजित कर दिया गया है— १—वे जो दृश्य हैं, इसमें वास्तु, मूर्ति और चित्रकला है। २—वे जो श्रव्य हैं, इसमें संगीत और काव्य कला मानी जाती हैं। अतः इस विभाजन को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम हीगेल के कला-सिद्धान्त को समझ लें।

हीगेल के कला-सिद्धान्त को समझने के लिये पहले उसके 'दर्शन' को समझ लेना आवश्यक है। हीगेल के दार्शनिक दृष्टिकोण का मूलाधार 'द्वन्द्व-वादी प्रक्रिया' (डायलेक्टीकल प्रोसेस) है जिसके अनुसार प्रगति के लिये दो परस्पर विरोधी तत्वों का मिलना अनिवार्य है। 'भाव' जो विकास की प्रक्रिया का आधार है तीन अवस्थाओं स्थापना, प्रतिस्थापना और समन्वय द्वारा प्रकट होता है। इन तीन अवस्थाओं के आधार पर ही हीगेल ने अपने दर्शन का विभाजन तर्क, प्रकृति और मन तीन वर्गों में किया है। इस प्रकार भाव की अभिव्यक्ति सर्व प्रथम तर्क द्वारा होती है जो सूक्ष्म विशुद्ध विचार भर है। यह विचार अपनी बहिर्मुखी दशा में अनेक वस्तुओं में खंडित होकर प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त होता है। परन्तु यह प्रकृति भी भाव की अधूरी अभि-व्यक्ति है और वह अपनी बहुदशा का विरोध करके जड़ प्रकृति, जीव और अन्त में मानव में व्यक्त होती है। हीगेल मन के विकास की भी तीन अवस्थाएँ मानता है—भाव प्रधान, वस्तु प्रधान और परम। भाव प्रधान अवस्था में मन

विकास की प्रक्रिया को पार करता हुआ अन्त में स्वतन्त्र मन की गति को प्राप्त होता है। यही स्वतन्त्र मन बाह्य जगत में अभिव्यक्त होता है जो नैतिक प्रगति का रूप धारण कर लेता है विकास की अन्तिम अवस्था में, जो कि मन की परम अवस्था है, मन अपने को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने में सफल होता है और कला, धर्म और दर्शन के अन्तिम चरण पार करता है। इस प्रकार हीगेल कला को परम मन के विकास में एक चरण मानकर उसे उच्च स्थान देता है। कला इस प्रकार आधिभौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है। कलाकृतियाँ परम भाव की अपने से बाहर विकास की द्योतक हैं।

हीगेल कला का विभाजन भाव के विकास की उपर्युक्त अवस्थाओं के अनुसार तीन वर्गों में करता है—१—प्रतीकवादी (सिम्बोलिक), २—शास्त्रीय (क्लासिकल) और ३—रोमानी (रोमान्टिक)। अपने प्रतीकवादी रूप में भाव भौतिक आकृतियों में अभिव्यक्त होने का असफल प्रयत्न करता है। धार्मिक देवी देवताओं की मूर्तियाँ इसका प्रमाण हैं। यहाँ भाव और आकृति की विषमता रहती है जिसके फलस्वरूप भाव का व्यक्तीकरण भद्दा और बेडौल रहता है। शास्त्रीय—कला में भाव और आकृति की विषमता दूर हो कर बाह्य आकृति और अन्तर्वस्तु में सामंजस्य आ जाता है। क्योंकि मानव आकृति मन को सबसे अच्छी तरह प्रकट करती है। यूनानी देवताओं की मूर्तियाँ शास्त्रीय कला की सुन्दर उदाहरण हैं। पर मन किसी भी शारीरिक आकृति में अपनी मुक्त अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। इस प्रकार शास्त्रीय कला के विरोध में रोमानी कला की सृष्टि होती है जिसमें भाव का आधार कोई भौतिक वस्तु न होकर स्वयं चेतन भाव प्रधान बुद्धि बन जाती है।

इसके पश्चात् हीगेल ललित कलाओं के उपर्युक्त पाँच विभाजन करता है यथा—वास्तु, मूर्त्ति, चित्र, संगीत और काव्य। १—इनमें से वास्तु कला का निर्माण स्थूल पदार्थ से होता है जिसमें भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इससे केवल इतना ही लाभ होता है कि यह स्थूल वस्तु को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति देने का प्रयत्न कर प्रकृति की उग्रता से बचाने का साधन बनाती है। इस प्रकार ईश्वर के पूजा स्थलों का निर्माण हो जाता है। २— मूर्त्तिकला शास्त्रीय कला का प्रमुख उदाहरण है। यहाँ स्थूल वस्तु को चेतन मन के अनुरूप मानव आकृति में ढाला जाता है। इस प्रकार भाव और ऐन्द्रिक आकृति में सामंजस्य हो जाता है। ३—चित्रकला, संगीत कला और काव्यकला को हीगेल ने रोमानी कला के अन्तर्गत माना है। यहाँ कला कृति का आधार स्थूल-पदार्थ न होकर भाव होता है जो अपनी गति-शील अवस्था में रहता है। इसमें मूर्त्ति में अभिव्यक्त भाव की एकता

अनेक व्यक्तियों के अन्तर्जीवन में विभक्त हो जाती है, जो कि रंग, संगीत और शब्दों के माध्यम द्वारा चित्रकला, संगीत कला और काव्य कला में व्यक्त होती है।

हीगेल मूर्त्तिकला के उपरान्त चित्रकला को स्थान देता है। इसमें रंगों द्वारा जगत के दृश्यमान चित्रों का अङ्कन किया जाता है। मूर्त्तिकला से यह आधार अधिक सूक्ष्म है क्योंकि वह भार (मास) और दिशा (स्पेस) से स्वतन्त्र एक स्तर (प्लेन) मात्र है। चित्रकला में वे सब विचार और भावनाएँ व्यक्त की जाती हैं जो मानव-मन में उठती हैं। रोमानी कला के अन्तर्गत चित्रकला के बाद संगीत कला का स्थान आता है। इसका आधार ध्वनि है। यह ध्वनि पदार्थ से पूर्णतया मुक्त केवल स्मृति में रहने वाला सूक्ष्म तत्व है। रोमानी कला में सबसे बाद में और सबसे उच्च स्थान, हीगेल के मतानुसार, काव्य कला का है। इसका आधार कलात्मक कल्पना है जो अपने को पदार्थ से पूर्णतया मुक्त कर लेती है। यह रोमानी कला की अन्तिम परिणति है। संक्षेप में यही हीगेल का कला विषयक दर्शन है।

डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में ललित कलाओं का यही विभाजन किया है जो हीगेल के समीक्षा-दर्शन पर आधारित है। पर उन्होंने ललित कलाओं का प्रतीकात्मक, शास्त्रीय और रोमानी वर्गों में विभाजन नहीं किया है। हीगेल के समान उन्होंने भी काव्य कला को ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। उन्होंने हीगेल के ही अनुसार ललित कलाओं के दो भाग किए हैं—१—वे कलाएँ जो नेत्रों द्वारा मानसिक तृप्ति देती हैं जैसे वास्तु, मूर्त्ति और चित्रकला। इनमें मूर्त्त आधार की आवश्यकता होती है। २—वे कलाएँ जो कानों द्वारा मानसिक तृप्ति देती हैं। इनमें संगीत और काव्य कला को माना है। इनमें मूर्त्त आधार नहीं होता। कलाओं में इस मूर्त्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की दो श्रेणियाँ स्थिर की जा सकती हैं—उत्तम और मध्यम। जिस कला में मूर्त्त आधार जितना ही कम होगा वह उतनी ही उच्चकोटि की होगी। इसी धारणा के अनुसार काव्य कला को सबसे श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि उसमें मूर्त्त आधार का पूर्ण अभाव रहता है और इसी के अनुसार वास्तु कला को सबसे नीचा माना जाता है क्योंकि उसमें मूर्त्त आधार सबसे अधिक होता है। ललित कलाओं में ज्यों ज्यों हम उच्चता की ओर बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों उनका मूर्त्त आधार कम होता जाता है। काव्य कला में मूर्त्त आधार की आवश्यकता ही नहीं। उसकी उत्पत्ति शब्द समूहों या वाक्यों से होती है। काव्य में जब तक अर्थ की रमणीयता प्रतिष्ठापित की जाती है तो उसमें भी संगीत के समान

नाद-सौन्दर्य रूप मूर्त्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु विद्वान अर्थ की रमणीयता को काव्य कला का सबसे प्रमुख और नाद की रमणीयता को उसका अप्रधान गुण मानते हैं। इस तरह श्रेष्ठ काव्य में मूर्त्त आधार का पूर्ण अभाव रहता है। इसीलिए ललित कलाओं में काव्य-कला सर्व श्रेष्ठ मानी जाती है।

डाक्टर श्यामसुन्दर दास द्वारा प्रस्तुत किए गये उपर्युक्त विवेचन से ललित कलाओं की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—१—सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। २—जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का मन से सन्निकर्ष होता है वे चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय हैं। ३—ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं, जिसके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुनने वाले के मन से सम्बन्ध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचा कर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखने वाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। इसी के आधार पर डा० साहब यह मानते हैं कि—"ललित कला मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है।"

प्रसाद ने अपने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में काव्य को ललित-कला मानने का विरोध किया है। उन्होंने हीगेल के कला-विभाजन वाले सिद्धान्त का खण्डन करते हुए यह दिखाया है कि यह विभाजन अशुद्ध है क्योंकि प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने काव्य की गणना विद्या में और कलाओं की उपविद्या में की है जो काव्य की प्रवृत्ति को देखते हुए अधिक समीचीन और संगत है। उनका कथन है कि हीगेल द्वारा काव्य को ललित कलाओं के अन्तर्गत मानने से कारण धर्म शास्त्र और दर्शन-शास्त्र को काव्य से उच्च स्थान देना पड़ा है। परन्तु हमारे यहाँ काव्य को धर्म और दर्शन से कभी भी निम्न-कोटि का नहीं माना गया। उन्होंने काव्य और अन्य कलाओं के दो स्पष्ट भेद करते हुए काव्य के विषय में लिखा है कि—"आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प और विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वांगमय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय पक्ष प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" कला को उपविद्या मानने से वह विज्ञान से अधिक निकट सम्बन्ध रखती है। प्रसाद की उपरोक्त धारणा के अनुसार काव्य को कला नहीं माना जा सकता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी एक प्रकार से प्रसाद के मत का समर्थन करते हुए काव्य को कला मानने की प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं। उनका कथन है कि वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में वर्णित चौंसठ कलाओं में काव्य की गणना नहीं की गई है। यद्यपि हीगेल द्वारा वर्णित अन्य चारों ललितकलाओं -- वस्तु, मूर्त्ति, चित्र और सङ्गीत---का उसमें चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। शुक्ल जी का यह दृढ़ मत है कि काव्य का कला और सौन्दर्य शास्त्र से कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। वे कहते हैं---"सौन्दर्य-शास्त्र में जिस प्रकार चित्र-कला, मूर्त्ति कला आदि शिल्पों पर विचार होने लगा उस प्रकार काव्य का भी, सबसे बेढङ्गी बात तो यही हुई।" शुक्लजी का कहना है कि काव्य को कला मानने की भ्रान्त धारणा के ही कारण हिंदी-समीक्षा में अभिव्यंजनावाद, सौन्दर्यवाद और रहस्यवाद आदि का विवेचन होने लगा। यदि ऐसा न होता तो काव्य में इनके विवेचन की कोई आवश्यकता ही न पड़ती क्योंकि इनका काव्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

बाबू गुलाबराय आचार्य शुक्ल और प्रसाद जी से सहमत न होकर काव्य को उपर्युक्त पाँच ललित कलाओं के अन्तर्गत ही मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य की विवेचना चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं से विभिन्न नहीं की जा सकती क्योंकि ये सब कलाएँ केवल एक दूसरे से सम्बन्धित ही नहीं वरन् एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली हैं। इस प्रकार यूरोप में प्रभाववादी चित्र-कला ने काव्य में एक नई प्रवृत्ति, जिसे प्रभाववादी काव्य कहते हैं, की सृष्टि की है। 'हीगेल का कला-सिद्धान्त' नामक लेख में हीगेल के कला विभाजन का समर्थन करते हुये डाक्टर रवीन्द्रसहाय वर्मा ने लिखा है कि---"स्पष्ट है कि हीगेल के ललितकला विषयक दर्शन का हिन्दी-समीक्षा में सही विवेचन नहीं हो सका है। हिन्दी समालोचकों का हीगेल द्वारा वर्णित ललितकलाओं के विभाजन का विरोध बहुत कुछ इसी कारण है कि वे काव्य की गणना तो विद्या में करते हैं तो अन्य कलाओं की अविद्या में। यह कठिनाई हीगेल के सामने न थी क्योंकि वह समस्त कला को आयडिया (भाव) का माध्यम मानता था। इस प्रकार हीगेल के कला-विषयक विचार भारतीय कला विषयक विचारों से नितान्त भिन्न हैं। हीगेल काव्य का स्थान नीचे नहीं गिराता है, वरन् अन्य ललित कलाओं का जैसे वास्तु, चित्र, संगीत आदि का स्तर काव्य तक उठाने का प्रयत्न करता है। यदि हम काव्य की गणना वात्स्यायन द्वारा 'काम-सूत्र' में वर्णित चौंसठ कलाओं में नहीं कर सकते तो वात्स्यायन की कलाओं की गणना भी हीगेल द्वारा वर्णित ललित कलाओं में नहीं कर सकते। पर यदि

हीगेलीय परिभाषा के अनुसार ललित कला को हम आयडिया (भाव) की अभिव्यक्ति का साधन समझते हैं, तो हमें काव्य की गणना ललित कलाओं के साथ करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

४०—सर्वोत्कृष्ट कला—काव्य

कलाकार अपनी कलाकृति द्वारा अपने मानसिक सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति करता है। इस अभिव्यक्ति के लिए वह स्थूल भौतिक उपकरणों की सहायता लेता है। उसके ये भौतिक उपकरण जितने ही कम होते हैं, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही मार्मिक और प्रभावशालिनी होती है। भौतिक उपकरणों के अधिक उपयोग से उसकी मानसिक अनुभूति कुंठित हो जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि उसकी कलाकृति उसकी उत्कट और तीव्र मानसिक अनुभूति को मार्मिक और प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ नहीं होती। वास्तव में उसकी मानसिक अनुभूति और उसको अभिव्यक्त करने के साधनों में जितना कम अन्तर होगा वह उतनी ही श्रेष्ठ और मार्मिक होगी। डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने इसी कारण ललित कलाओं के सम्बन्ध में तीन बातों पर विशेष बल दिया है—१—उसका मूर्त्त आधार, २—वह साधन जिसके द्वारा यह आधार गोचर होता है तथा ३—मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है, वह कैसा और कितना है।

कलाओं का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के मानसिक सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करना है। इस सौन्दर्य भावना के दो रूप होते हैं—भौतिक सौन्दर्य और मानसिक सौन्दर्य। मनुष्य अपने स्पर्श से जगत की कुरूप वस्तुओं को सुन्दर बना देता है। उपयोगी कलाओं में प्राप्त सौन्दर्य के मूल में उसकी सौन्दर्य-प्रियता ही कार्य करती रहती है। वह प्रत्येक वस्तु को सुन्दर रूप देना चाहता है, अपने वस्त्र, दैनिक व्यवहार की अन्य वस्तुएँ जैसे फर्नीचर आदि को भी वह सदैव सुन्दर रूप में ही ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत रहता है। इसी कारण हमारी घरेलू वस्तुएँ जैसे मेज, कुर्सी, परदे, फर्श, कप आदि को वह सुन्दर रङ्गों और विभिन्न प्रकार के चित्रों से सजाता है। परन्तु हमारी ये दैनिक उपयोग की वस्तुएँ हमारी भावनाओं को न तो उद्‌बुद्ध करती हैं और न उन्हें तीव्र बनाती हैं। उनसे केवल हमारी वाह्य-सौन्दर्यवृत्ति मात्र चरितार्थ होती है। ये उपयोगी कलावस्तुएँ हमारे मानसिक सौन्दर्य से हीन होती हैं। उनका सम्बन्ध हमारी आत्मा या हृदय से न होकर केवल नेत्रों से होता है। उनसे हमें उस आनन्द की उपलब्धि नहीं होती जो हमें कुछ क्षणों के लिए आत्म-विभोर करदे। साथ ही इन उपयोगी कलावस्तुओं के निर्माण के लिए भौतिक उपकरणों की

सबसे अधिक आवश्यकता पड़ती है इसलिए विद्वान लोग इन्हें निकृष्ट कोटि की कला मानते हैं।

ललित कलाओं के मूल में कलाकार का मानसिक सौन्दर्य गतिशील रहता है। यद्यपि कुछ ललित कलाओं, जैसे वास्तुकला, में भौतिक उपकरणों का प्रयोग किसी भी उपयोगी कला से कम नहीं होता किंतु उपयोगी और ललित कला में प्रधान अन्तर यह है कि उपयोगी कलाओं की चरम सार्थकता उनके उपयोग में निहित है जबकि ललित कला की सार्थकता उसके सौन्दर्य, विशेष रूप से कलाकार के मानसिक सौंदर्य, की सशक्त एवं पूर्ण अभिव्यक्ति में है। अर्थात् उपयोगी कला पहले उपयोग की वस्तु होती है, सौन्दर्य की बाद में और ललित कला सौन्दर्य की वस्तु पहले होती है और उपयोग की बाद में और प्राय: उनमें उपयोगिता होती ही नहीं है।

कुछ सामान्य बातें ऐसी हैं जो सम्पूर्ण कलाओं के मूल में विद्यमान रहती हैं। पहली बात यह है कि सम्पूर्ण कलाओं के लिए किसी न किसी प्रकार के भौतिक आधार की आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह है कि उन कलाकृतियों के सौन्दर्य का अनुभव कान और आँखों द्वारा होता है। तीसरी बात यह है कि कलाकार अपनी अनुभूति को उसी रूप में व्यक्त करने के लिए कुछ भौतिक उपकरणों की सहायता लेता है। जैसे वास्तुकार किसी भवन मन्दिर या चैत्य के निर्माणार्थ पत्थर, ईंटों, चूना, काठ आदि भौतिक आधारों के अतिरिक्त कन्नी, वसूली, तसला आदि की; मूर्तिकार किसी मूर्ति के निर्माणार्थ पत्थर के अतिरिक्त हथौड़ा, छेनी की, एवं चित्रकार कागज़, वस्त्र, चमड़ा आदि भौतिक आधारों के अतिरिक्त तूलिका तथा रंगों का सहारा लेता है। इस प्रकार प्रत्येक कलाकृति के निर्माण के लिए पहले भौतिक आधार की और फिर भौतिक उपकरणों की सहायता अनिवार्य होती है। विद्वानों की यह धारणा है कि जिस कलाकृति में भौतिक आधारों एवं उपकरणों की जितनी न्यूनता होगी वह उतनी ही श्रेष्ठ एवं उच्चकोटि की मानी जायगी। हीगेल ने आधार की इस मूर्त्तता के आधार पर कला की उच्च निम्न कोटियाँ निश्चित की थीं परन्तु कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि प्रत्येक कला सृष्टि है, इसलिये मूल्य और महत्व की दृष्टि से उन सबका समान होना आवश्यक है, बल्कि सब समान ही हैं। क्रोचे ने तो ऐसी सम्पूर्ण पुस्तकों को जला देने की बात कही थी, जिनका सम्बन्ध कला के वर्गीकरण से हो। परन्तु चूँकि आजकल हीगेल के कला-विभाजन वाले सिद्धान्त को लोकप्रियता प्राप्त है अतः उसी के आधार पर ललित कलाओं का विवेचन करते हुए उनमें काव्य कला की स्थिति को देखने का प्रयत्न किया जायगा। इसके लिए यह क्रम अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है

कि निकृष्ट कला से क्रमशः उत्कृष्ट कला की ओर बढ़ा जाय। इससे उनका पारस्परिक अन्तर अधिक स्पष्ट होता जायगा।

ललित कलाओं में वास्तु कला को सबसे निम्न कोटि का माना गया है। इसमें ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी, चूना आदि की सहायता से इमारत का निर्माण किया जाता है। साथ ही हजारों मजदूर, पत्थरों एवं लोहे के सामानों को उठाने एवं तोड़ने वाले अनेक प्रकार के यन्त्रों का भी उपयोग होता है। सब मूर्त्त पदार्थ हैं। इनके अतिरिक्त प्रकाश, छाया, रंग, प्राकृतिक स्थिति आदि के साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। उस इमारत का निर्माण करने वाला स्थापत्य-कला-विशारद कलाकार उस इमारत के द्वारा क्या भाव व्यक्त करना चाहता है? वह इनके द्वारा भिन्न संस्कृति और भिन्न धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं का प्रत्यक्षीकरण करता है। किसी भी इमारत को देखकर हम आसानी से यह बता देते हैं कि यह मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, महल या मकबरा है। यदि हमारा स्थापत्य कला का ज्ञान थोड़ा बहुत उन्नत है तो हम यह भी बता देते हैं कि इसमें किस धर्म देश या जाति विशेष की वास्तु कला का प्रदर्शन हुआ है। धार्मिक स्थानों में भिन्न-भिन्न जातीय धार्मिक विचारों के अनुसार उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुम्बज महरावें, झरोखे, जालियाँ आदि के द्वारा कलाकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट करता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परन्तु इस कला में मानसिक भावों की प्रतिष्ठापना के लिए बहुत कम अवसर रहता है क्योंकि कलाकार सम्पूर्ण इमारत का निर्माण स्वयं न कर मजदूरों की सहायता से करता है। मजदूर उसके मानसिक भावों को समझने में असमर्थ रहते हैं अतः कलाकार के पूर्ण मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण वास्तुकला में नहीं हो पाता। इतना होने पर भी इमारत दर्शक के हृदय पर एक विशिष्ट प्रभाव डालने में समर्थ होती है। ताजमहल के दर्शक इसके प्रमाण हैं। इसलिए वास्तुकला से आनन्द तो प्राप्त होता है, उसमें मानसिक भी होती है किन्तु भौतिक साधनों की प्रचुरता के कारण वह दर्शक पर उतना गम्भीर प्रभाव नहीं डाल पाती जितना कि अन्य ललित कलाएँ।

मूर्तिकला—इसका मूर्त्त आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी के टुकड़े होते हैं। मूर्त्तिकार इन्हें काट छांट कर अपनी कल्पनानुसार ढालता है। इसमें भी हथौड़ी, छेनी, पालिश आदि भौतिक उपकरणों का उपयोग किया जाता है। परन्तु वास्तुकला से बहुत कम। इसलिए मूर्त्तिकार वास्तुकार से श्रेष्ठ माना जाता है। "उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्त्तिकार अपने प्रस्तर-खण्ड या धातु खण्ड में जीव-

धारियों की प्रतिच्छाया बड़ी सुगमता से संगठित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्तिकला का उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता प्रदर्शित करना है।"

मूर्तिकार मूर्ति में कभी केवल शारीरिक सौन्दर्य और कभी आह्लाद, करुणा आदि के द्वारा मानसिक सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करना चाहता है। इसके लिये विभिन्न देशों ने विभिन्न कला पद्धतियाँ अपनाई हैं। यूनानी मूर्तिकला अपने शारीरिक सौष्ठव के लिए प्रसिद्ध हैं! विभिन्न शारीरिक अङ्गों की आनुपातिक गठन की दृष्टि से यूनानी मूर्तियाँ संसार में सर्व श्रेष्ठ मानी जाती हैं। भारतीय मूर्तिकारों ने शारीरिक गठन की अपेक्षा मानसिक भावों के प्रस्फुटन पर विशेष बल दिया है। उदाहरणार्थ भारतीय मूर्तिकारों द्वारा निर्मित भगवान बुद्ध की मूर्तियों में आह्लाद और आत्म सन्तोष के सौन्दर्य का जो भाव व्यक्त होता है वह संसार की अन्य मूर्तियों में दुर्लभ है। मानसिक सौन्दर्य का प्रस्फुटन भारतीय मूर्तिकला की अपनी विशेषता है जिसकी तुलना नहीं। भारतीय मूर्तिकला की दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ नारी-सुलभ कोमलता का अङ्कन प्रतीकों की सहायता से किया गया है। धातु या पत्थर जैसी कठोर वस्तु में भी वह कमल की पंखुड़ियों जैसी उँगलियों एवं अर्द्ध प्रस्फुटित कमल के समान नेत्रों का अङ्कन कर वही कोमलता उत्पन्न कर देता है जो स्वाभाविक होती है। इतना सब कुछ होते हुए भी मूर्तिकार को मूर्ति के निर्माण में समय, धैर्य तथा शारीरिक परिश्रम की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस कारण उसकी हृदयस्थ अनुभूति एकरस नहीं रह पाती। दूसरी बात यह है कि साधारणतः मूर्ति में शारीरिक सौन्दर्य का प्रस्फुटन ही अधिक होता है, मानसिक सौन्दर्य का अपेक्षाकृत बहुत कम। यह वास्तुकला से तो अधिक प्रभावशालिनी होती है परन्तु अन्य कलाओं से गौण।

चित्र-कला— इसका मूर्त्त आधार ककड़ा, कागज, लकड़ी, दीवाल, चमड़ा आदि का चित्रपट होता है। भौतिक उपकरणों में तूलिका एवं रंगों की आवश्यकता होती है। इन्हीं की सहायता से चित्रकार प्राकृतिक रूप, रङ्ग और आकार का अनुभव कराता है। मूर्तिकार की तुलना में उसके पास मूर्त्त आधार का आश्रय कम रहता है जिसके कारण उसे अधिक कौशल से कार्य करना पड़ता है। वह अपनी तूलिका की सहायता से ही स्थूलता, लघुता, दूरी और निकटता दिखा देता है। वह वास्तविक पदार्थ को उसी की परिस्थितियों में अङ्कित कर ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है कि चित्रगत वस्तु वास्तविक सी लगने लगती है। चित्रकार की सबसे बड़ी सफलता इस बात में आँकी जाती है कि वह कम से कम रेखाओं द्वारा अधिक से अधिक भाव व्यक्त कर सके। चार-पाँच रेखाओं

द्वारा ही बच्चे को स्तनपान कराती हुई किसी माँ का चित्र अङ्कित किया जा सकता है। मूर्त्ति की अपेक्षा चित्र में मानसिक भावों का अङ्कन अधिक सफलता और प्रभाव के साथ किया जा सकता है। इसी कारण उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। चित्रकार मानसिक भावों करुणा, आह्लाद, क्रोध, भय, सन्तोष आदि का अङ्कन मूर्त्तिकार की अपेक्षा अधिक सफलता पूर्वक करता है। चित्रकला की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही उसकी अपनी कुछ न्यूनताएँ अथवा सीमाएँ भी हैं। चित्रकार किसी भाव या वस्तु के केवल एक क्षण का ही चित्रण कर सकता है। उसकी गतिशीलता का चित्रण असम्भव है। परन्तु जितने क्षण का चित्र वह प्रस्तुत करता है वह कला और भाव की दृष्टि से अनुपम होता है। अजन्ता और एलौरा की गुफाओं में बने हुए चित्र अपने चित्रकार की मूल अनुभूतियों को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम हैं। दर्शक उन्हें देखकर उन्हीं अनुभूतियों का अनुभव करने लगता है जो चित्रकार की अपनी अनुभूतियाँ रही होंगी। इस दृष्टि से यह कला वस्तु और मूर्त्तिकला से अधिक उन्नत है किन्तु गतिहीनता एवं अन्य उपकरणों के आधिक्य से यह उन कलाओं की समानता नहीं कर पाती जिनमें कम भौतिक उपकरणों के प्रयोग के साथ ही साथ गति और प्रवाह भी रहता है जैसे संगीत और काव्य।

संगीत कला—संगीत का भौतिक आधार नाद है जिसे मनुष्य या तो अपने कण्ठ से उत्पन्न करता है अथवा वाद्ययंत्रों की सहायता से। इसमें आधार और भौतिक उपकरण नाममात्र को हैं। भौतिक उपकरणों की इसी न्यूनता के कारण कुछ विद्वान् संगीत और काव्य को एक ही श्रेणी की कलाएँ मानते हैं। सङ्गीत में नाद का नियम कुछ निश्चित् सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है। सङ्गीत के सप्तस्वरों—सा रे गा मा पा धा नी—में पूरी संगीतशास्त्र आबद्ध है। ये ही सङ्गीत कला के प्राण रूप या मूल कारण हैं। इसी नाद की सहायता से संगीतज्ञ अपने मानसिक भावों को व्यक्त करता है। संगीत की प्रवृत्ति मानव मात्र में स्वाभाविक है जो अनादि काल से चली आ रही है। इसका प्रभाव सभ्य से सभ्य मनुष्य से लेकर वन्य-पशुओं तक पर प्रसिद्ध है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि इसके प्रभाव से पत्थर तक पिघल जाते हैं और मूर्त्तियाँ रोने लगती हैं। सिद्ध गायक अपने भावों के साथ ही साथ श्रोताओं को रुला सकता है, हँसा सकता है, उनके हृदय में आनन्द की लहरें उत्पन्न कर उन्हें अपने पीछे पागल बना देता है। कृष्ण की मुरली-ध्वनि के पीछे सारा ब्रज पागल था। संगीत में स्वरों के आरोह अवरोह द्वारा भावों को उद्‌भूत किया जाता है। "सङ्गीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है।

इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी और कोई कला नहीं हो पाई है। सङ्गीत हमारे मन को अपनी इच्छानुसार चंचल कर सकता है और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह वास्तु, मूर्त्ति और चित्रकला से बढ़कर है।" (डा० श्यामसुन्दरदास)

काव्य कला—वर्तमान काल में काव्य का आधार कागज, कलम, स्याही, मुद्रण यन्त्र आदि माने जा सकते हैं। परन्तु काव्य के लिए ये भौतिक उपकरण अनिवार्य नहीं हैं। इनके अभाव में भी काव्य का सफल निर्माण हो सकता है और होता है। ये भौतिक उपकरण तो उसे सर्व-सुलभ बनाने के साधन मात्र हैं। इनके उपयोग से काव्य की उत्कृष्टता में कोई योग नहीं होता। काव्य का वास्तविक आधार तो शाब्दिक संकेत या अक्षर है। मन को इनका ज्ञान आँखों और कानों द्वारा होता है। जीवन की घटनाओं या प्राकृतिक दृश्यों के जो प्रत्यक्ष या काल्पनिक रूप मस्तिष्क या मन पर अङ्कित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं। ये शाब्दिक संकेत उन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने के माध्यम हैं। ये शाब्दिक संकेत या अक्षर भाषा के भी मूलाधार हैं और नाद इन सबके मूल में स्थित है। सार्थक नाद ही भाषा कहलाता है। भाषा के द्वारा भावों को व्यक्त किया जाता है। भाषा के अभाव में भावों का पूर्ण एवं सफल अभिव्यक्तीकरण असम्भव है। इसलिए काव्य की साधना वास्तव में भाषा के द्वारा भाव की साधना है। "अतएव भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका उपयोग कवि करता है।" परन्तु काव्य के कुछ रूप ऐसे भी होते हैं जिनमें भाषा वाहक न होकर प्रधान होती है जैसे चित्रकाव्य। इसीलिए विद्वान समीक्षकों ने चित्रकाव्य को निकृष्ट कोटि का काव्य माना है।

ऊपर हमने पाँचों ललित कलाओं का संक्षिप्त विवेचन करते हुए यह देखा कि इनमें काव्य-कला सर्वश्रेष्ठ है। प्रत्येक ललित कला का मूल उद्देश्य कुछ विद्वान आनन्द देना मानते हैं। वे ललित कलाओं में उपयोगिता को ढूँढ़ना अनुचित ही नहीं वरन् स्वयं कला के लिए अनिष्टकर भी मानते हैं। विद्वानों का एक दूसरा वर्ग ललित कलाओं को किसी भी दशा में जीवन के व्यापारों से अलग नहीं मानता। कलाएँ हमारे जीवन पर कैसा प्रभाव डालती हैं? यह प्रश्न उनके लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार कला के विषय में दो मत बन गये हैं। एक 'कला को कला के लिये' तथा दूसरा 'कला को जीवन के लिए' उपयोगी मानता है। परन्तु यहाँ हमारा विवेच्य विषय यह नहीं है कि हम कला को उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों से देखने का प्रयत्न करें। हमें तो केवल

यह देखना है कि काव्य कला ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है या नहीं। इसके लिये हमें पुनः काव्य कला एवं अन्य ललित कलाओं का तुलनात्मक संक्षिप्त विवेचन करना पड़ेगा।

तुलना के लिए हम पहले वास्तु और मूर्त्तिकला को एक साथ लेंगे। इन दोनों की कलाओं में सुडौलता और सामंजस्य का ध्यान रखना पड़ता है। सुडौलता और सुन्दरता को पृथक करके नहीं देखा जा सकता। कवि को भी अपने काव्य निर्माण में सुडौलता का ध्यान रखना पड़ता है। छन्द विधान, कविता के विभिन्न प्रकार, सर्ग, अङ्क आदि का विधान काव्य में सुडौलता उत्पन्न करता है। इस प्रकार काव्य का बाह्य रूप सौन्दर्य के उसी सिद्धान्त पर अवलम्बित है जो सिद्धान्त वास्तु और मूर्त्तिकला का आधार है। इस प्रकार काव्य में इन दोनों की विशेषताओं का समावेश हो जाता है।

कुछ विद्वान काव्य और चित्र कला को एक ही वस्तु के दो रूप सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उनका कहना है कि इनमें मूलतः कोई अन्तर नहीं है। चित्र रेखाबद्ध कविता है और कविता शब्द बद्ध चित्र। यह ठीक है परन्तु हम ऊपर कह आए हैं कि चित्र कला गति हीन कला है। काव्य गतिशील कला है। काव्य समय और स्थान से बँधा नहीं होता। चित्रकला गतिहीन होने के कारण केवल एक क्षण अथवा पदार्थों के केवल एक रूप का ही चित्रण कर सकती है। साथ ही उसमें केवल पदार्थों का चित्रण हो सकता है जब कि काव्य में परिवर्तनशील परिस्थितियों, घटनाओं और क्रियाओं का भी चित्रण हो सकता है। इस तरह काव्य का क्षेत्र चित्रकला के क्षेत्र से अधिक विस्तृत होता है। कविता द्वारा व्यक्त किए गए एक भाव के लिये कभी-कभी अलग-अलग कई चित्र बनाने पड़ते हैं।

जिस प्रकार संगीत का आधार नाद है उसी तरह काव्य का आधार भी सार्थक नाद है। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि नाद जब संगीत प्रधान अधिक हो तो वह संगीत तथा भाव प्रधान अधिक हो तो वह काव्य कहलाता है। वैसे दोनों में ही संगीत और भाव का योग होता है। अन्तर केवल मात्रा के कारण है। अनेक विद्वानों ने इन दोनों कलाओं में कोई अन्तर नहीं माना है। पन्त ने काव्य और संगीत की अभिन्नता बताते हुए कहा है कि—

"वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान॥"

संस्कृत-साहित्य में काव्य और संगीत को सरस्वती के 'स्तनद्वय' कहा गया है। सरस्वती दोनों को अधिष्ठात्री देवी मानी गई है। मिल्टन ने काव्य और संगीत को बहनें बताया है। ये दोनों ही गतिशील कथाएँ हैं। कविता की

प्रत्येक पंक्ति के साथ और संगीत के प्रत्येक आरोह और अवरोह के साथ उनकी गति आगे बढ़ती है। दोनों में ही ध्वनि और लय का उपयोग होता है। कविता शब्दों की सहायता से भावों को अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट कर सकती है। संगीत जिस भाव को केवल स्वरों के संकेत से अवगत कराएगा कविता उसका साकार चित्र उपस्थित कर देती है। इसके अतिरिक्त दोनों के विस्तार क्षेत्र में भी अन्तर है। संगीत कुछ भाव और मानसिक स्थितियों को ही स्पष्ट करता है, वाह्य चित्रण की सीमा से परे की वस्तु है परन्तु कविता में वाह्य आन्तरिक दोनों परिस्थितियों के सफल चित्रण होते हैं। उसमें जिस कुशलता एवं पूर्णता के साथ भावों का चित्रण हो सकता है उसी कुशलता एवं पूर्णता के साथ घटनाओं और पदार्थों का चित्रण भी होता है। परन्तु प्रभाव के क्षेत्र में संगीत अद्वितीय है। वह कला का सबसे सूक्ष्म और दार्शनिक रूप है। वह हमारे विचारों का ही नहीं अपितु इच्छा शक्ति का भी प्रतिरूप है। प्रभाव के क्षेत्र में संगीत अद्वितीय माना अवश्य जाता है परन्तु काव्य भी इस क्षेत्र में उससे पीछे नहीं है। बिहारी के एक दोहे ने जयपुर के राजा मिर्जा-जयशाह की मोह निद्रा को भंग कर उसे कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर कर दिया था।

विद्वानों ने काव्य की श्रेष्ठता उपकरणों की न्यूनता के कारण ही प्रधान रूप से मानी है परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो इस श्रेष्ठता का प्रधान कारण मनोविज्ञान में निहित है। डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि—"मानवीय भावनाओं में कोमल भावनाएँ सर्वश्रेष्ठ मानी गई हैं। इन कोमल भावनाओं की व्यंजना का सर्वश्रेष्ठ माध्यम केवल साहित्य ही है। यह शक्ति अन्य किसी भी कला में नहीं है। केवल स्वरलहरी साधित संगीत भी यह कार्य नहीं कर सकता। भावों की गतिशीलता का पूर्ण चित्रण काव्य द्वारा ही सम्भव है। भावों की इसी गतिशीलता के गुण के कारण ही साहित्य मानव का अभिन्न मित्र है। ताजमहल हम नित्य नहीं देख सकते परन्तु सूर के पदों में व्याप्त रस का आस्वादन करते हुए कभी भी तृप्त नहीं होते। संगीत की स्वर लहरी संसार में कम्पन भर कर वायु में विलीन हो जाती है परन्तु सूर के पद की चोट सदैव तन मन को धुना करती है। अपने प्रिय का चित्र हम छाती से चिपकाए रहते हैं, परन्तु चित्रण के कारण नहीं अपितु केवल उस भावात्मक सौंदर्य के कारण जिसकी विषम पीड़ा से विह्वल होकर दशरथ ने कहा था—

"हाँ जानकी लखन हा रघुवर। हा पितु-चित-हित चातक जलधर।।"

नैषध-चरित् का एक श्लोक द्रष्टव्य है—

"मदर्थ सन्देश मृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर रति त्वमोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कोदृग्भविता तब क्षणः ।।"

नल के हाथ में फँसा हुआ हंस अपनी हंसिनी की कल्पना करता हुआ कहता है कि जब तू मुझे आया हुआ देखकर मेरे साथी पक्षियों से पूछेगी, 'मेरे लिए सन्देश और मृणाल लाने में सुस्त मेरा प्रिय कितनी दूर है,' और जब उनको रोते हुए देखेगी तब वह क्षण तेरे लिए कैसा होगा ?"

कोई भी चित्र इस भाव की तीक्ष्णता की व्यंजना कर सकने में समर्थ नहीं, कोई राग 'की दृग्भिविता तव क्षण' को व्यक्त नहीं कर सकता ।[1]

अनेक स्थानों पर काव्य का एक-एक शब्द एक-एक चित्र उपस्थित कर देता है । यथा—

"संध्या का झुटपुट, बाँसों का झुरमुट,
चिड़ियाँ करतीं टी वी टी टुट टुट ।"—पन्त

उपर्युक्त पंक्तियाँ संध्या का धुंधला चित्र उपस्थित कर देती हैं ।

काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह पाठक या श्रोता के भावों को आन्दोलित कर उसे काव्यानन्द के स्वर्गीय सुख का अनुभव करा देता है । संक्षेप में हम काव्य की उन विशेषताओं, जो उसे अन्य ललित कलाओं से सर्वश्रेष्ठ घोषित करती हैं, इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

१—मूर्त्त आधार की विहीनता ।

२—मनोविज्ञान का पूर्ण आधार एवं चित्रण ।

३—गत्यात्मकता ।

४—प्रभाव स्थायित्व ।

५—काव्यानन्द ब्रह्मानन्द सहोदर—अलौकिक आनन्द ।



१—हिन्दी साहित्य में विविध वाद—डा० प्रेमनारायण शुक्ल

४१—साहित्य और कला

मानव द्वारा अपने भावों को स्थिरता देने की भावना ने साहित्य को जन्म दिया, यह कथन अक्षरशः सत्य है। संसार के प्रति हमारी कुछ न कुछ प्रतिक्रिया होती है। पहले हमको ज्ञान होता है और फिर उसके प्रति आकर्षण या विकर्षण उत्पन्न होता है। उस ज्ञान के उत्पन्न होते ही हमारा हृदय आन्दोलित हो उठता है। ज्ञान के साथ हमारे भावों का गहरा सम्बन्ध होता है। भावों से प्रेरित होकर हम उन्हीं के अनुकूल कार्य करने लगते हैं। जैसे मित्र को देखकर उसका स्वागत करना तथा शत्रु को देखकर उसकी उपेक्षा करना अथवा उससे दूर भागना स्वाभाविक क्रिया होती है। इसी कारण विद्वानों ने मानव के भावों के मूल में कार्यरत मनोवृत्तियों के तीन रूप माने हैं—ज्ञान, भावना और संकल्प। परिस्थितियों के अनुसार ही इन मनोवृत्तियों का स्फुरण होने लगता है। अभिव्यक्ति की भावना ज्ञान में भी होती है परन्तु उसकी जितनी तीव्रता भावना के क्षेत्र में देखी जाती है उतनी अन्यत्र नहीं। अभिव्यक्ति की यही भावना मानव को क्रियाशील बनाती है! क्रिया अभिव्यक्ति का ही रूप है।

मानव की विभिन्न अभिव्यक्तियों में से विद्वान उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति को ही सबसे अधिक महत्व देते हैं क्योंकि उसमें स्थायित्व और सामाजिकता अपेक्षाकृत अधिक होती है। हम अपनी आत्मा पर पड़े हुये प्रभावों से उत्पन्न भावों की भी अभिव्यक्ति चाहते हैं। यही आत्माभिव्यक्ति कहलाती है। साहित्य इसी का दूसरा नाम है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर बाबू गुलाबराय ने साहित्य की निम्नलिखित परिभाषा स्थिर की है—"साहित्य संसार के प्रति मानसिक प्रक्रिया अर्थात् विचारों, भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।"

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'साहित्य' शब्द का अर्थ है—सहित होने का भाव "सहितस्य भावः साहित्यं।" इसमें विद्वानों ने 'सहित' शब्द के दो अर्थ माने हैं—१—सह अर्थात् साथ होना, २—हितेन सह सहितं अर्थात् हित के साथ होना अथवा जिससे हित सम्पादन हो। सह (साथ होना) से यह भाव निकलता है कि जहाँ शब्द और अर्थ, विचार और भाव का परस्परानुकूलता के

साथ सहभाव हो वह साहित्य है । इसी भाव में साहित्य की सामाजिकता का भाव भी ध्वनित होता है ।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से भी साहित्य शब्द का यही भाव निकलता है । 'धा' धातु के साथ 'क्त' प्रत्यय के संयोग से 'हित' शब्द निष्पन्न होता है। 'स' के योग से साहित्य का अर्थ हुआ साथ—एकत्र । लोक में प्रसिद्ध 'सहित' का अर्थ है—हित के साथ । इस 'सहित' शब्द से भाववाचक संज्ञा बनाने के लिये 'ष्यत्' प्रत्यय करने पर 'साहित्य' शब्द निष्पन्न होता है । अतः 'साहित्य' शब्द का अर्थ हुआ 'सहित होने का भाव ।' व्याकरण सम्मत इस अर्थ से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं— १—एकत्र की हुई ज्ञान-राशि का होना, २—इस ज्ञानि-राशि का मानव-हिताय होना । इन दोनों अर्थों को ध्यान में रख कर अँग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द का भाव 'साहित्य शब्द में मिल जाता है । लिटरेचर शब्द अक्षरों (letter) से बना है अर्थात् अक्षरों का जितना विस्तार है वह सब लिटरेचर है । द्विवेदीजी ने सम्भवतः इसी शब्द के आधार पर कहा था कि—"ज्ञान-राशि के संचित कोष का नाम साहित्य है ।" अरबी में साहित्य को 'अदब' कहते हैं जिसका अर्थ है आदर—शिष्टता । साहित्य शिष्टतापूर्ण होने के कारण ही अदब कहलाता है ।

हमारे यहाँ साहित्य शब्द के दो अर्थ माने गये हैं व्यापक और संकुचित । व्यापक अर्थ के अन्तर्गत साहित्य सारे वांगमय का पर्याय है । जितना शब्द-भंडार और वाणी का विस्तार है वह सब साहित्य के अन्तर्गत माना गया है । संकुचित और रूढ़ अर्थ में साहित्य केवल काव्य का पर्याय है । साहित्य का व्यापक अर्थ उसकी व्युत्पत्ति पर आधारित है और संकुचित अर्थ रूढ़ि पर अवलम्बित है । "व्यापक अर्थ में साहित्य ऐसी शाब्दिक रचना मात्र का वाचक है जिसमें कुछ हित या प्रयोजन हो और अपने रूढ़ अर्थ में काव्य या भावना प्रधान साहित्य का पर्याय है ।" (गुलाबराय)

प्राचीन काल से विभिन्न विद्वान साहित्य की अनेक वैयाकरणिक, दार्शनिक और साहित्यिक परिभाषाएँ बनाते आये हैं । राजशेखर के अनुसार— "शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या" अर्थात् शब्द और अर्थ के यथायोग्य सहयोगवाली विद्या साहित्य विद्या है । 'शब्दकल्पद्रुम' में श्लोकमय ग्रन्थ को साहित्य कहा गया है । कवीन्द्र रवीन्द्र की परिभाषा इस प्रकार है— "सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है । वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, अपितु मनुष्य-मनुष्य का, अतीत वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरङ्ग मिलन भी है जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य से सम्भव नहीं है ।"

संस्कृत के आचार्य शब्द तथा अर्थ को काव्य का शरीर मानते हुये दो दलों में विभक्त हो गये। एक दल ने आत्मा का अन्वेषण करते हुये रस को काव्य की आत्मा माना—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"—आचार्य विश्वनाथ। दूसरे दल ने आत्मा के अन्वेषण में काव्य के शरीर को ही आत्मा मान लिया। इनमें भामह, दण्डी तथा हिन्दी के केशवदास अलङ्कारों को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। केशव ने स्पष्ट कहा है कि—

"जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन, सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु नहिं राजहीं, कविता बनिता, मित्त॥"

आचार्यों का एक तीसरा वर्ग वक्रोक्ति अर्थात् बात को कलात्मक ढङ्ग से घुमा-फिरा कर कहने को ही काव्य की आत्मा माता है। परन्तु इन सब आचार्यों ने उपर्युक्त गुणों के साथ काव्य में रस की महत्ता को भी स्वीकार किया है।

भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य की तीन विशेषताएँ मानी गई हैं—

१—हित-साधन करना—"हितं सन्निहितं तद् साहित्यम्।"

२—मानव मनोवृत्तियों को तृप्त करना—"सहितं रसेन युक्तम्, तस्य भाव, साहित्यम्।"

३—मानव मनोवृत्तियों को उन्नत करना—"अवहित मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम्।"

गङ्गाप्रसाद पांडेय साहित्य की विवेचना करते हुये कहते हैं कि—"साहित्य विचारशील आत्माओं की अमर अभिव्यक्ति है। उसमें जीवन सम्बन्धी उन विशेष विचारों का सङ्कलन होता है जो हमारे यथार्थ जीवन को प्रगति देते हैं। वास्तव में साहित्य हमारा शब्द जीवन है, क्योंकि सभी साहित्यकार जीवन की जटिलता तथा विरसता एवं सरसता का उपयोग करने के बाद ही उसको अपनी शब्द सीमा में बाँधने का प्रयत्न करते हैं।"

उपर्युक्त विभिन्न भारतीय परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य मानव-मात्र का हित-साधन है जो आनन्द के द्वारा किया जाता है। कुछ पाश्चात्य आलोचकों का कथन है कि भारतीय साहित्य में यथार्थ का तत्व नहीं के बराबर है। परन्तु यह उनके अध्ययन का अभाव है। भारतीय कवि वाह्य चित्रण में इतनी प्रगल्भता नहीं दिखलाता क्योंकि वाह्य तत्व से तो सम्पूर्ण प्रकृति भरी पड़ी है फिर उसके अनुवाद-मात्र से क्या लाभ? वह रसोद्रेक के लिये एक कलात्मक संकेत करता है, जो वाह्य विवरण से अधिक भावोद्रेक करने वाला होता है। यथार्थ की अभिव्यक्ति रूपक और संकेत द्वारा ही होती है। यथार्थ को कल्पना के रंग

से कुछ अतिरंजित अवश्य किया जा सकता है किन्तु उसे विच्छिन्न तो नहीं किया जा सकता क्योंकि यथार्थ ही श्रेष्ठ एवं सच्ची कला का अस्तित्व स्तम्भ है किन्तु कलात्मक ढङ्ग से वही काव्य है। हमारा साहित्य इसका प्रमाण है। वैदिक कवियों ने प्रकृति से एकात्म होकर उसके गीत अवश्य गाये हैं, पर साथ ही कठोर यथार्थ जीवन की समस्याओं की उन्होंने तनिक भी उपेक्षा नहीं की है। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों को अपनी रचनाओं के विषय रूप में ग्रहण करके उन युग-समस्याओं के समाधान द्वारा जनता को सामाजिक और सामूहिक उन्नति के पथ की ओर निरन्तर अग्रसर करते रहने के प्रयास किये हैं। रामायण और महाभारत में अपने युग की समस्याओं का ही चित्रण है। युग की समस्याओं को लेकर ही श्रेष्ठतम साहित्यिक कलाकृतियों की रचना की जा सकती है। केवल कायर कलाकार ही युग के कठोर यथार्थ जीवन के प्रश्नों से कतराते हैं। भारतीय साहित्य सदैव जन-जीवन के समानान्तर चला है। जब कभी उसने जन-जीवन की उपेक्षा करने का प्रयत्न किया है तभी उसकी गति रुद्ध होने लगी है। इस प्रकार भारत में साहित्य को सदैव जीवन के लिये उपयोगी माना गया है यद्यपि उसके कुछ अपवाद भी मिलते हैं जैसे केशव तथा रीतिकालीन अधिकाँश कवि आदि।

यूरोपिय समीक्षकों में दो प्रकार की विचारधाराओं का प्रचलन रहा है। एक के अनुसार साहित्य को जीवन के लिये माना गया है और दूसरी के अनुसार उसका जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं स्वीकार किया गया है। उपर्युक्त दो विचारधाराओं के अनुसार यूरोप में साहित्य के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं—१—कला जीवन के लिये तथा २—कला कला के लिये। पाश्चात्य समीक्षकों ने साहित्य या काव्य को ललित कलाओं के अन्तर्गत माना है। इस कारण वहाँ काव्य के प्रयोजनों का विवेचन व्यापक रूप से कला के प्रयोजनों के साथ चलता है। इसलिये यूरोयीय समीक्षकों की साहित्य विषयक विचारधारा को कला के माध्यम से ही समझना पड़ेगा। इस विवेचन से पूर्व पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार काव्य के उन तत्वों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है जिनके आधार पर पाश्चात्य विद्वानों नें काव्य के लक्षण निर्धारित किये हैं। उन्होंने काव्य के चार मूल तत्व माने हैं - कल्पना, बुद्धि, भाव तथा शैली।

कल्पना तत्व द्वारा कलाकार अप्रत्यक्ष तथा अमूर्त्त वस्तुओं का चित्रण करता है। वह इसी की सहायता से साधारण को असाधारण तथा नीरस को सरस बनाकर पाठक को रसप्लावित कर देता है। कल्पना सम्पन्न होने के कारण ही भविष्य दृष्टा कहलाता है। बुद्धि तत्व में विचार की प्रधानता होती

है। कलाकार या कवि अपने विशिष्ट उद्देश्य की अभिव्यक्ति अपनी रचना द्वारा कर पाठकों को एक विशिष्ट सन्देश देता है। इसके प्रतिपादन के हेतु वह काव्य के माध्यम से अपने विशिष्ट विचारों को अभिव्यक्त करता है, ये विचार ही साहित्य में बुद्धितत्व कहलाते हैं। हमारे आचार्यों ने भाव-तत्व को काव्य की आत्मा माना है। रस का सम्बन्ध भावों से होता है। पाश्चात्य आचार्य भी काव्य या कला में भाव-तत्व के महत्व को स्वीकार करते हैं। शैली तत्व का सम्बन्ध काव्य के कलापक्ष से है। इसके अभाव में बुद्धि, कल्पना और भाव की सफल व्यंजना नहीं हो सकती। इस प्रकार साहित्य में बुद्धि तत्व से 'सत्यं' और 'शिवं' की रक्षा होती है और कल्पना, भाव तथा शैली तत्व से 'सुन्दरम्' का निर्माण होता है। यही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् पाश्चात्य आलोचना शास्त्र के प्रमुख मानदण्ड हैं। उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर साहित्य की निम्नलिखित परिभाषा निश्चित की जा सकती है कि—"काव्य साहित्य वह वस्तु है जिसमें मनोभावात्मक, कल्पनात्मक, बुद्धियात्मक तथा रचनात्मक तत्वों का समावेश हो।"

यहाँ पर कुछ यूरोपिय विद्वानों की साहित्य-विषयक परिभाषाओं को देख लेना भी आवश्यक है। हेनरी हडसन यह मानते हैं—"साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिष्यक्ति है।" वर्ड्सवर्थ जीवन की वास्तविक घटनाओं के सत्य वर्णन को ही काव्य मानता है। यद्यपि इस वर्णन में कल्पना की आवश्यकता भी वह स्वीकार करता है। वह काव्य को Spontaneous overflow of powerful feelings कहता है। शैली के शब्दों में—"कल्पना की अभिव्यक्ति ही काव्य है।" हण्ट कविता को 'पैशन' (Passion) मानता है। लगभग सभी पाश्चात्य विचारकों में एक बात समान रूप से मिलती है कि ये काव्य का फल आनन्द मानते हैं। जब तक काव्य का फल आनन्द मानने की धारणा सन्तुलित रही तब तक तो काव्य के वास्तविक उद्देश्य जन-हित में कोई अधिक अन्तर नहीं आया। परन्तु कुछ विद्वानों ने इस आनन्द की भावना को इतना आगे बढ़ाया कि आनन्द रस की उच्च-भूमि से गिरकर 'कला' की कलाबाजी में मिल गया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक फ्रांस के विद्वान् थे जिन्होंने कला को केवल कला के लिए माना।

'कला कला के लिए' अथवा 'कला जीवन के लिए' का विवाद साहित्य में नैतिकता के प्रश्न को लेकर बहुत पहले उठ खड़ा हुआ था। हम ऊपर कह आये हैं कि यूरोप में साहित्य को ललित कलाओं में माना गया है इसलिए उन्होंने कला के विवेचन में साहित्य के प्रयोजनों का विवेचन किया है। वहाँ कला के अनेक प्रयोजन माने गये हैं जिनमें से निम्नाङ्कित नौ प्रसिद्ध हैं—

१—Art for art's sake—कला कला के लिए।
२—Art for life's sake—कला जीवन के लिए।
३—Art as an escape from life—कला जीवन से पलायन के अर्थ।
४—Art as an escape into life—कला जीवन में प्रवेश के लिए।
५—Art for service's sake—कला सेवा के लिए।
६—Art for self realisation—कला आत्मानुभूति के लिए।
७—Art for joy—कला आनन्द के लिये।
८—Art for recreation—कला मनोरंजन के लिए।
९—Art as creative necessity—कला सृजन की आवश्यकता पूर्ति के लिए।

उपर्युक्त प्रयोजनों में दृष्टिकोण की भिन्नता से दो वर्ग बन गए है। इनमें से प्रयोग संख्या १, ३, ७, ८ और ९ कला को मानव जीवन के एक आवश्यक अंग के रूप में ग्रहण नहीं करते। इसके विपरीत प्रयोजन संख्या २, ४, ५ और ६ उसे जीवन का एक आवश्यक अंग मानते हैं। इस प्रकार इनके स्पष्ट दो भेद बन गए हैं। १—वह जो कला को जीवन के लिये आवश्यक एवं आचार और नैतिकता का कलात्मक माध्यम नहीं मानता है। २—वह जो कला को जीवन की उन्नति और नैतिक सदाचार की स्थापना के हेतु अत्यन्त आवश्यक और प्रधान सहायक मानता है। इसमें लोकहित की भावना का प्राधान्य है। दूसरे शब्दों में हम पहले को 'कला कला के लिए' तथा दूसरे को 'कला जीवन के लिए' कह सकते हैं।

भारत में 'कला कला के लिये' का नारा यूरोप से आया है। अतः इसके विकास का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना जरूरी है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू कला को जीवन की प्रतिकृति मानता था। उसके मतानुसार कला और जीवन दो वस्तुएँ हैं जिनका नित्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके विपरीत प्लेटो ने कला को जीवन की अनुकृति माना है। उसके अनुसार जीवन की प्रतिकृति सम्भव नहीं। कलाकृतियों में केवल जीवन का अनुकरण सम्भव है। वह जीवन की प्रतिकृति नहीं बन सकती। अरस्तू का मत था कि हम जिस वस्तु को जिस रूप में देखते हैं उसे ठीक उसी रूप में उपस्थित करना चाहिये। इस प्रकार अरस्तू 'कला जीवन के लिये' तथा प्लेटो 'कला कला के लिये' वाले सिद्धान्तों के आदि प्रतिष्ठापक हैं।

'कला कला के लिए' सिद्धान्त का पालन पोषण फ्रांस में हुआ। वहाँ के कलावादियों ने लोक से उसका सम्बन्ध छुड़ाकर उसे केवल खिलौना बना दिया। बाडलेयर ने कहा है कि—"Poetry has no end beyond itself" अर्थात् काव्य का स्वभिन्न कोई भी प्रयोजन नहीं है। "कविता पढ़ लीजिये, उससे मनोरंजन कीजिये और फिर उसे भूल जाइये। रात्रि के देखे हुये मधुर स्वप्न के समान आपने उसका आनन्द भोगा परन्तु वास्तविक जाग्रत जगत में यह स्वप्न न आपके किसी काम का है और न जगत का।" इसी भाव की व्याख्या करते हुए मारिस ने कहा था—"हम किसी कुटिल को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न क्यों करें? हमारे लिये इतना ही काफी है कि मधुर ध्वनि करती हुई हमारी कविता-विहंगिनी आनन्द पूर्वक अपने सुन्दर पंखों को कल्पना-सौंदर्य के गजदन्त पर फड़फड़ाती रहे।"[१] इसका अर्थ यह हुआ कि सरलता और कुटिलता काव्य की परिधि से बाहर की वस्तुएँ हैं।

फ्रांस से यह विचारधारा इंगलैण्ड पहुँची। इंगलैण्ड में इसका चरम विरोध भी किया। इस प्रकार वहाँ दो दल हो गये। एक दल 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन करने लगा तथा दूसरा 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त का। प्रथम सिद्धान्त के समर्थकों में वाल्टर पेटर, क्विचर कोच, कलाइव बैल, आस्कर वाइल्ड, ब्रेडले अमेरिकन स्पिन्गार्न, टी. एस. इलियट आदि प्रमुख हैं। दूसरे मत समर्थकों में मैथ्यू आर्नाल्ड, आई. ए. रिचर्डस, रस्किन, अम्बर क्राम्बी, कार्लायल, शेली, वर्डस्वर्थ, मिल्टन आदि प्रमुख हैं। इनमें लोकपक्ष, धर्म का मिश्रित कलावाद, उपयोगितावाद, मूल्य निर्धारणवाद आदि का प्राधान्य था। प्रथम पक्ष में केवल सौन्दर्य की भावना थी और दूसरे में लोक कल्याण की। प्रथम पक्ष कला के क्षेत्र में सद्-असद्, सभ्य-असभ्य आदि का विवेक करना चाहता है। वह आचार को कला से दूर मानता है।

अब प्रमुख कलावादियों के काव्य विषयक दृष्टिकोण को देख लिया जाय। वाल्टर पेटर कलावादियों का प्रमुख आचार्य था। कलावादी उसे अपना गुरु मानते हैं। वह शब्द की प्रभावशालिनी शक्ति को स्वीकार करता है और उसका उपयोग सहानुभूति, सहयोग को मानवता की सेवा के लिए मानता है। आस्कर वाइल्ड इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है—काव्य सदाचार अथवा दुराचार की प्रतिपादिका कोई पुस्तक नहीं है। जो कुछ है, वह इतना ही कि कोई पुस्तक अच्छे ढंग से लिखी गई है या बुरे ढंग से। कलाकार में चारित्रिक सहानुभूति की भावना अक्षम्य है। सम्पूर्ण कला पूर्णतः अनु-

---

१—हिन्दी साहित्य में विविध वाद—डा० प्रेमनारायण शुक्ल

पयोगी है । वह कला तथा आचार को पृथक मानता है—"समालोचना में सबसे पहली बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला तथा आचार के क्षेत्र पृथक-पृथक हैं ।" यह मत कला में विवेक बुद्धि का तिरस्कार करता है परन्तु प्रसिद्ध कलावादी फ्लावर्ट को बुद्धि का साहचर्य स्वीकार करते हुये कहना पड़ा—"हृदय और बुद्धि अभिन्न है, जो व्यक्त इनमें विभाजक रेखा खींचते हैं उनके पास दो में से कोई भी वस्तु नहीं है ।"

प्रमुख अमेरिकन कलावादी आलोचक जे० ई० स्पिन्गार्न कला में नैतिकता का विरोध करते हुए उग्र शब्दों में कहते हैं—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित के समबाहु त्रिभुज को सदाचारपूर्ण विषमवाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना ।" वे इस प्रकार के सौन्दर्य को सत्य और शिव से बिल्कुल पृथक मानते हैं । आगे चलकर वे कहते हैं कि—"कला की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करना अन्ध परम्परा है और हमने उसे समाप्त कर दिया है ।" आधुनिक काल के प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि इलियट भी इसी मत के समर्थक हैं—"शब्दों के भयानक दुष्प्रयोग के बिना यह कहना असम्भव है । कविता नीति की शिक्षा, राजनीतिक मार्ग-दर्शन अथवा धार्मिकता या उनकी समकक्ष कुछ और है ।" इसी प्रकार ब्रेडले ने भी काव्य-कला को स्वयं अपना साध्य माना है । धर्म, संस्कृति तथा नैतिक शिक्षा आदि का वह काव्य-कला से कोई सम्बन्ध नहीं मानता ।

उपर्युक्त विचाराधाराओं के अतिरिक्त यूरोप में साहित्य से अलग कुछ ऐसी विचारधाराएँ भी चल रहीं थीं जो कला को कल्पना मूलक मानने के कारण 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की समर्थक थीं । इनमें फ्रायड का स्वप्न सिद्धान्त, यथार्थवाद और क्रोचे का अभिव्यंजनावाद प्रमुख हैं ।

फ्रायड के अनुसार मानव जिन वस्तुओं को इस जगत में नहीं प्राप्त कर पाता उन्हें स्वप्न में प्राप्त करता है । उसकी अवरुद्ध वासनाओं की पूर्ति स्वप्न के कल्पना लोक में होती है और क्योंकि साहित्य का मूलाधार कल्पना है, इसलिए इसमें उस अवरुद्ध वासनाओं का चित्रण होना स्वभाविक है । इसी से साहित्य में श्रृङ्गार भावना की प्रधानता है । कलाकार अपनी कल्पना द्वारा अपनी कलाकृतियों में उन्हीं अवरुद्ध वासनाओं का प्रदर्शन करते हैं । परन्तु फ्रायड का यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है क्योंकि कला के ऐतिहासिक विवेचन से यह सिद्ध हो चुका है कि—"संसार की अब तक की श्रेष्ठ कलाकृतियाँ अधिकांश में विवेकवान तथा आचारनिष्ठ महापुरुषों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं ।" कलाकार का व्यक्तित्व असाधारण होता है । हम उसकी कलाकृति को देखकर उसके पूर्ण व्यक्तित्व का अनुमान नहीं कर सकते । यह आवश्यक नहीं है कि

सुन्दर रमणी की मूर्ति गढ़ने वाला कलाकार विलासी ही हो। कलाकार महान् आत्मा होता है। संसार की कल्याण भावना उसकी प्रेरक शक्ति होती है फिर वह कला को आचार से हीन किस प्रकार चित्रित कर सकता है।

यथार्थवाद के पोषकों का कहना है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि मानव की मूल वृत्तियाँ हैं। उसकी सदाचार सम्बन्धी उदात्त वृत्तियाँ सभ्यता प्रसूत हैं अतः दृढ़मूल नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि मनुष्य की प्राकृतिक वृत्तियाँ ही उसकी कृतियों में सजीव हों। परन्तु वे आलोचक यह भूल जाते हैं कि ये स्वाभाविक वृत्तियाँ, पशुओं की वृत्तियाँ हैं जिनमें विवेक नहीं होता। मानव विवेकशील प्राणी होने के कारण इन पाशविक वृत्तियों पर नियन्त्रण रखकर समाज की कल्याण भावना में रत रहता है। इसी कारण उसकी कृतियों में सदाचार की छाप रहती है क्योंकि सदाचार की भावना कल्याण की जननी है। मानव इन पाशविक वृत्तियों से निरंतर संघर्ष करता हुआ निरन्तर सभ्यता की ओर अग्रसर होता रहा है। फिर उस पर ये वृत्तियाँ कैसे हावी हो सकती हैं ? कला सभ्यता की प्रतीक है। इसलिए उसमें उदात्त वृत्तियों का चित्रण सबसे अधिक जरूरी है। "मनुष्य हृदय में अनुभव करता है और मस्तिष्क से मनन। अतः हृदय और मस्तिष्क के संयोग से प्रसूत कला-कृति जीवन से दूर कैसे रह सकती है और जीवन से पृथक उसका मूल्य भी क्या होगा ?"

क्रोचे केवल 'अभिव्यक्ति' को ही कला मानता है। उसकी दृष्टि में 'वस्तु' का कोई मूल्य नहीं है। भारतीय 'अभिव्यंजनावाद' भी इसी का समर्थक है। साहित्य के दोनों पक्षों—भावपक्ष और कलापक्ष—में से प्रथम का सम्बन्ध भाव या अनुभूति से तथा द्वितीय का उस भाव या अनुभूति को अभिव्यक्त करने की प्रणाली विशेष से है। द्वितीय का आधार प्रथम ही है। यदि अनुभूति ही नहीं होगी तो अभिव्यक्ति फिर किसकी की जायगी। अभिव्यक्ति का सम्बन्ध जीवन से है। अतः उसमें जीवन का प्रतिबिम्ब आना स्वाभाविक है। केवल अभि-व्यक्ति की ही अभिव्यक्ति तो साधन या आच्छादन मात्र है। यह वस्तु का रूप या गुण नहीं धारण कर सकती। इसमें सत्यता के स्थान पर कल्पना का आधिक्य होता है अतः क्रोचे का मत असंगत और अपूर्ण है। उपर्युक्त तीनों मत कलावाद के समर्थक हैं परन्तु इन सब का दृष्टिकोण सर्वथा एकांगी और अपूर्ण है।

यूरोप में शुद्ध कलावादियों की कला-पूजा की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। साहित्य या कला के क्षेत्र में उपर्युक्त भावनाओं का तीव्र विरोध हुआ। अंततः किसी आलोचक ने तो यहाँ तक कह डाला कि—"यदि कला का उद्देश्य केवल

मनोरंजन है तो ऐसी कला एक मादक पदार्थ है, अथवा एकान्त सौन्दर्यभावना जो बौद्धिक जगत के लिए विष है।" इस मत के घोर विरोधी मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा था कि "जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है वह स्वयं जीवन के प्रति उपेक्षापूर्ण है।"सम्भवत: कलावादियों की कलाबाजियों से ऊबे हुए कार्लायल ने कहा है—"A pack of lies that foul creature write for diversion" न्यूटन तो इनसे और भी अधिक अप्रसन्न था। वह कविता को इसी कारण "अबुद्धिपूर्ण मूर्खता" कहा करता था। शैली काव्य के आनन्द को कलावादियों के आनन्द से भिन्न मानकर कहता है—"कविता सदैव आनन्द से युक्त रहती है। परन्तु इसका प्रभाव अलौकिक, अकाल्पनिक और जागतिक चेतन से ऊपर होता है।" क्योंकि "कवि शाश्वत असीम और एकत्व का सहमार्गी होता है। उसकी भावना में समय, स्थान और नानात्व का अवकाश नहीं होता।" शैली का यह मत भारतीय रस-दर्शन का समर्थक है। वर्डस्वर्थ काव्य की व्याख्या करता हुआ कहता है कि "स्वभावगत प्रेरणाओं का यांत्रिक अन्धानुशासन का अर्थ प्रकृति की ओर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसकी ओर वह दौड़ता ही है, परन्तु कवि का कृतित्व उस प्रवृत्ति को ही पवित्र करता है।"

प्रत्येक उपयोगी वस्तु के दो परिणाम हैं—'स्वादु' और 'तोष'। यदि काव्य केवल स्वाद ही दे सका, तोष न दे सका तो क्रिश्चियाना रोजेटी के शब्दों में—

"I plucked pink apples from mine apple tree.
And wove them all that evening in my hair.
Then in due season when I went to see,
I found no apples there."

"किसी फलप्रद वृक्षों के प्रारम्भिक फलोद्गम से ही अपना शृङ्गार करके जो व्यक्ति मनोरंजन कर लेता है, निश्चय ही फल-प्राप्ति के समय उसे निराशा होती है। काव्य को क्षुद्र मनोरंजन का साधन बनाकर जो व्यक्ति तृप्त हो जाता है, जीवन के कठोर आघातों में सहनशीलता की शक्ति देने वाली जीवन व्यापिनी काव्योपयोगिता को वह अवश्य कुछ बना देता है।"

(डा० प्रेमनारायण शुक्ल)

भारतीय मनीषियों ने काव्य को जीवन का एक अभिन्न अङ्ग माना है। वे काव्य को प्रचार द्वारा उपदेश देने का साधन नहीं मानते। उपदेश तो धर्म की वस्तु है। उनका कहना है कि हमारे विचार काव्य का सुन्दर आवरण पहन कर जनता के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालें। उनके लिए काव्य कला

जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति रही है। इसी से साहित्यकार को—"कान्ता सम्मित" उपदेश देने वाला कहा गया है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज का आधार सदाचार है। कलाकार इसी सदाचार का कलात्मक स्वरूप उपस्थित कर समाज में असत् और विषमता के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न करता है। समाज की इसी भावना ने काव्य और आचार का निसर्गसिद्ध सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। हमारी उदात्त वृत्तियाँ सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुसार जागृत होती हैं। अतः सत् के प्रति समाज का आकर्षण और असत् के प्रति द्वेष एक स्वभाविक परिणाम है कि काव्य और आचार के पार्थक्य की कल्पना नहीं की जा सकती। पश्चिमी विद्वान् भी अब इस विचार को मानने लगे हैं।

ऐंगिल्स ने कहा था कि हम जो कुछ साहित्य में कहें वह आकर्षक होना चाहिए। उसमें यह अभिव्यंजित न हो कि साहित्यकार उपदेश दे रहा है क्योंकि राजनीति, इतिहास, धर्मशास्त्र और साहित्य में पर्याप्त अन्तर है। इसी का समर्थन बंकिमबाबू के ये शब्द करते हैं—"कवि संसार के शिक्षक हैं, किंतु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त शुद्धि करते हैं। यही सौन्दर्य की चरमोत्कर्षसाधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है।" कवि या कलाकार सुधार की बात भी सौन्दर्य के आवरण में कहता है। तुलसी ने 'मानस' की रचना स्वान्तः सुखाय की थी किन्तु तुलसी का सुख मानवमात्र का सुख था इसी से वह मानव-हिताय बन गया। उनके काव्य में मानव-जीवन के विविध पक्षों के अत्यन्त मार्मिक और प्रभावकारी चित्रों के दर्शन होते हैं। इस प्रकार कलावादियों का यह नारा कि साहित्य में उपदेश नहीं होना चाहिए व्यर्थ हो जाता है क्योंकि काव्यकार कांता सम्मित उपदेश देता है जो अधिक प्रभावकारी होता है। यहाँ उपदेश कलात्मक व्यंग्य के रूप में आता है जैसा कि बिहारी ने राजा मिर्जा जयशाह को एक दोहे मात्र द्वारा मोहनिद्रा से चैतन्य कर दिया था।

आधुनिक भारतीय विचारकों में रवीन्द्रबाबू कलावादी हैं। वे कला को किसी भी उपयोगिता से परे मानते हैं। इलाचन्द्र जोशी भी इसी मत के समर्थक हैं। उनका कथन है कि—"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति तत्व, अथवा शिक्षा का स्थान नहीं।..... उच्च अङ्ग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" इसके विपरीत प्रेमचन्द काव्य को उपयोगी मानते हुए कहते हैं कि—"साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक

और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"

संसार के प्रायः सभी नेताओं तथा महापुरुषों ने कला की उपयोगिता पर सबसे अधिक बल दिया है। महात्मा गांधी, लेनिन, टालस्टाय आदि सभी इसके समर्थक हैं। महात्मा गांधी का मत है कि— 'कला से जीवन का महत्व है। जीवन में वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न लाए तो वह कला क्या हुई।" टालस्टाय के अनुसार—"कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है।" लेनिन कला में उपयोगिता का समर्थक था। इब्सन आदि का भी यही मत है। उसके विचार से—"सुनीति संगत प्रवृत्ति ही मानव जीवन की मूल भित्ति है। मानव का ऐसा कोई भी अनुष्ठान नहीं जिसमें नैतिक प्रभाव विद्यमान न हो।" वर्क के अनुसार आत्म-प्रकाश की भावना ही हर कला का मूल है। मानव स्वयं को दूसरों पर व्यक्त करना चाहता है। इसमें दो बातों की प्रधानता है—मुक्ति का आनन्द तथा साधना का संयम।

सत्य की उपलब्धि ही कला का उद्देश्य है और मनन जीवन का लक्ष्य। सत्य संसार में सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वर सत्य स्वरूप है। साथ ही वह आनन्द रूप और अमृत रूप भी है। कला द्वारा हम उसी सत्य की उपासना करते हैं। किन्तु उस उपासना का रूप सुन्दर होता है। और सुन्दर वही हो सकता है जिसमें चेतन, अमूर्त के भाव की विजय है। ब्रह्म इसीलिए सबसे बढ़कर सुन्दर है क्योंकि वह चेतन है, अमूर्त है और भावमय है। इस प्रकार सुन्दर सत्य का ही स्वरूप है। साथ ही सत्य और शिव में कोई अन्तर नहीं है। अतः जो सत्य और शिव है वह स्वतः ही सुन्दर भी है। इस प्रकार कला, जिसमें सौन्दर्य प्रधान है, स्वभावतः जन-कल्याणकारी ही होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कला जीवन से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

परन्तु गम्भीरता पूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि 'कला कला के लिए' तथा 'कला जीवन या लोकहित के लिए' सिद्धान्तों को मानने वाले दोनों ही अतिवादी हैं। प्रथम कला का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं मानते और दूसरे उसे सदाचार का प्रचारक मात्र बनाना चाहते हैं। ऐसी कला में शुष्कता आ जाती है। यह ठीक है कि समारे साहित्य में हमारी समस्याएँ मुखरित हों परन्तु उनका रूप सुन्दर होना चाहिए। प्रचारात्मक साहित्य शाश्वत न होकर क्षणिक होता है। परिस्थितियों के बदलने के साथ ही वह गतिहीन हो जाता है। हमारे एक मित्र के शब्दों में—"किन्तु मानव की सहज भावनाओं तथा प्रवृत्तियों पर आधारित साहित्व शाश्वत होता है, क्योंकि इस प्रकार की शाश्वत

भावनाएँ जहाँ मूर्तरूप धारण कर लेती हैं वहाँ कला सार्वकालिक बन जाती है। आनन्द क्रोध, घृणा, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति कला में जब सफलता पूर्वक होती है तो वह समय, देश, और जाति के बन्धन में न बंधकर सार्वदेशीय और सार्वकालिक हो जाती है और उसके स्रष्टा कलाकार भी अमर हो जाते है।" बाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर आदि इसी कारण अमर हैं। प्रसाद की कामायनी इस प्रकार की कला का सुन्दर उदाहरण है।

कलाकार की कृति में लोकहित की भावना अनायास ही आ जाती है। इसलिए हमें मध्यम मार्ग का अनुसरण ही करना चाहिए। कला न तो एकदम जीवन से पृथक ही हो जाय और न उपदेश या प्रचार का साधन ही बने। ये दोनों अतिवादी मार्ग हैं। तुलसी ने 'स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा' लिखते समय श्रेष्ठतम कला-साहित्य के इस उद्देश्य को नहीं भुलाया था कि—

"कीरति भणित भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥"

"काव्य में अथवा कला में शिवत्व की भावना तो फल में रस की भाँति स्वाभाविक रूप से सर्वदा रहती है। कला मनुष्य के मानसिक स्तर को ऊँचा उठाती है, उसमें देवत्व के गुणों की प्रतिष्ठा करती है। अतः वास्तव में कला जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति ही है।"

कला या साहित्य में नैतिकता का एक विशिष्ट स्थान रहता है। कवि भविष्य-द्रष्टा होता है, उनकी पैनी दृष्टि समय के आवरण को भेदकर भविष्य का स्वरूप देखती है, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि वह युग-विशेष की स्वीकृति नैतिकता को ही स्वीकार करे। वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि द्वारा वर्तमान समाज के नैतिक आधार को दोषपूर्ण समझता हुआ उसके प्रति विद्रोह भी कर सकता है और कभी सृजनात्मक शक्ति के द्वारा नवीन नैतिक आदर्शों की स्थापना भी कर सकता है। यद्यपि साहित्य में नैतिकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती तथापि कवि युग विशेष के नैतिक मानदण्डों से भी बँधकर नहीं रह सकता।

डाक्टर प्रेमनारायण शुक्ल साहित्य की पूर्ण सफलता का मापदण्ड प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि—"हमारे विचार से तो साहित्य का मुख्य कृतित्व इसमें है कि वह 'स्वादु' और 'तोष' दोनों प्रदान कर सके। वह ऐसा 'स्वादु' दे सके जो मीठा तो हो, परन्तु ऐसा मीठा न हो कि उसमें कीड़े पड़ सकें। वह 'तोष' दे सके, परन्तु ऐसा तोष हो कि फिर भूख न लगे। जो काव्य या साहित्य इस 'स्वादु' और 'तोष' को दे सकता है, वही सर्वश्रेष्ठ साहित्य है। किसी साहित्य की उत्कृष्टता का तारतम्य इन्हीं की मात्रा पर निर्भर है।"

———

५२—भ्रमरगीत परम्परा : उद्भव और विकास

हिन्दी-साहित्य में भ्रमरगीत की एक लम्बी और काव्यत्व की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध परम्परा रही है जिसका इतिहास सूरदास से प्रारम्भ होकर अद्यावधि निरन्तर चलता चला आ रहा है। अतः भ्रमरगीत परम्परा का मूल्यांकन करने से पूर्व यह आवश्यक होगा कि हम पहले यह समझ लें कि 'भ्रमरगीत' का अभिप्राय क्या है तथा उसका नाम भ्रमरगीत क्यों पड़ा ?

'भ्रमरगीत' प्रधानतः उपालम्भ काव्य है जिसके मूल में विप्रलम्भ शृङ्गार की भावना मुख्य रही है। कृष्ण जब व्रज में गोपियों के साथ रासलीला रचाकर मथुरा चले जाते हैं तो गोपियाँ उनके विरह में अहर्निश दग्ध होती रहती हैं। कृष्ण को इतना अवकाश नहीं मिल पाता कि वे गोकुल जाकर गोपियों की उस विरह-वेदना को शान्त कर सकें। अतः वे उद्धव को अपना दूत बनाकर गोकुल भेजते हैं ताकि वे वहाँ जाकर उनके माता-पिता तथा गोपियों की कुशल-क्षेम ज्ञात कर सकें और कृष्ण का सन्देश उन तक पहुँचा सकें। कृष्ण के आदेशानुसार उद्धव गोकुल अथवा व्रज जाते हैं और वहाँ उनका और गोपियों का जो वार्तालाप होता है वह साहित्य में 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है। अब प्रश्न उठता है कि यह उद्धव और गोपियों का वार्तालाप है तो इसका नाम 'भ्रमरगीत' क्यों पड़ा ? उद्धव कृष्ण के दूत, सखा और गोपियों के अतिथि थे। इसलिए पूज्य भी बन गए और अतिथि अथवा पूज्य व्यक्ति का अपने घर आने पर अनादर नहीं किया जाता। परन्तु गोपियाँ एक तरफ तो विरहाग्नि से दग्ध हो रहीं थीं तथा दूसरी ओर अपने प्रियतम कृष्ण की हृदयहीनता के कारण उनके मन में भयंकर आक्रोश भी था। बड़ों के सामने न तो विरह का ही खुलकर वर्णन किया जा सकता है और न उनका अपमान ही किया जा सकता है क्योंकि ये दोनों ही कार्य सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन करते हैं। हमारे कवियों के सम्मुख और सम्भवतः 'भ्रमरगीत' के जनक भागवतकार के सम्मुख भी यही समस्या थी और भागवतकार की उर्बर कल्पना शक्ति ने इस रोचक प्रसंग के मध्य एक ऐसी घटना की अवतारणा कर डाली जिसने उक्त दोनों संकोचों की समस्या को हल कर दिया। भागवत के गोपी-उद्धव सम्वाद के मध्य कहीं से उड़ता हुआ एक भ्रमर आता है और एक गोपी के पैर पर बैठ जाता है। बस गोपियाँ उद्धव का पीछा छोड़कर तुरन्त उस भ्रमर पर फट

पड़ती हैं क्योंकि पुरुष एवं भ्रमर की वृत्तियाँ प्रायः एक सी ही होती हैं। भागवतकार की इस मौलिक उद्‌भावना का अनुगमन सूर से लेकर आधुनिक काल तक के कविगण करते चले आए हैं। इसी कारण इस प्रसंग का नाम भ्रमरगीत पड़ा है।

परन्तु इसी सम्बन्ध में एक शंका और उठती है। 'भ्रमरगीत' प्रसंग को लेकर शोध करने वाले विद्वानों ने इस परम्परा का विकास दिखाते हुए अनेक ऐसे कवियों एवं उनके काव्य का उल्लेख किया है जिनमें गोपी-उद्धव वार्तालाप अथवा भ्रमर का कहीं स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं आया है; फिर भी उनकी गणना 'भ्रमरगीत' के अंतर्गत की गई है। हम ऊपर कह आए हैं कि 'भ्रमरगीत' उपालम्भ काव्य है। अतः साहित्य-शोधकों को जहाँ कहीं भी कृष्ण एवं गोपियों सम्बन्धी उपालम्भ का वर्णन मिला है उसे उन्होंने 'भ्रमरगीत' की ही संज्ञा प्रदान कर उसकी गणना इसी परम्परा में की है। अतः हम कृष्ण-गोपियों सम्बन्धी सम्पूर्ण उपालम्भ काव्य को 'भ्रमरगीत' मान सकते हैं।

'भ्रमरगीत' की खोज करने से पूर्व इस प्रसङ्ग के मूल उद्देश्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है क्योंकि इसके मूल उद्देश्य में समयानुसार परिवर्तन होता आया है। भागवतकार का उद्देश्य था वह सूर का नहीं रहा और सूर का जो उद्देश्य था वह वर्तमान काल के 'हरिऔध' आदि का नहीं था। समष्टि रूप में 'भ्रमरगीत' का मूल उद्देश्य यह माना गया है: "ज्ञान पर प्रेम की, मस्तिष्क पर हृदय की विजय दिखाकर निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा सगुण साकार ब्रह्म की भक्ति भावना की श्रेष्ठता का प्रतिष्ठापन।"[1] परन्तु उक्त मूल उद्देश्य सूर एवं उनके कतिपय समकालीन तथा परवर्ती कवियों का रहा है, 'भ्रमरगीत' के जनक भागवतकार का नहीं।

इस भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए भागवतकार के मूल उद्देश्य का विवेचन आवश्यक है। भागवतकार के अनुसार कृष्ण उद्धव को ब्रज जाने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रेरणा देने में कृष्ण के दो उद्देश्य हैं—१—माता-पिता की कुशलक्षेम ज्ञात कर उन्हें प्रसन्न एवं सन्तुष्ट करना, तथा २—गोपियों की विरह व्यथा को दूर कर उन्हें सान्त्वना प्रदान करना। यहाँ उद्धव सूर के उद्धव के समान गोपियों को योगमार्ग अथवा ज्ञान का उपदेश देने नहीं जाते। न उन्हें अपने 'ज्ञान' का ही गर्व है। परन्तु उक्त दोनों उद्देश्य व्यावहारिक हैं तथा लोकाचार से सम्बन्धित हैं। आन्तरिक उद्देश्य कुछ दूसरा ही था। उद्धव नन्द-यशोदा के सम्मुख पहले ईश्वर के रूप की व्याख्या करते हुए उसके निरा-

१—हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा—डा० स्नेहलता श्रीवास्तव।

कार स्वरूप की स्थापना करते हैं और अन्त में कहते हैं कि—"साधुओं की रक्षा और केवल क्रीड़ा के लिए ही वे उत्तम, अधम और मिश्र योनियों में शरीर धारण करते है।" परन्तु दार्शनिक दृष्टि से कृष्ण निराकार ही रहते हैं।

गोपी-उद्धव संवाद चल रहा है। गोपियाँ कृष्ण की कुशल-क्षेम पूछकर उद्धव को उपालम्भ देती हुई वेदना से व्याकुल होकर रो पड़ती हैं। इतने में ही एक भ्रमर आकर एक गोपी के चरणों पर बैठ जाता है। बस वह गोपी उस भ्रमर को लक्ष्यकर पुरुष द्वारा प्रेम के क्षेत्र में किए गए विश्वासघात की भर्त्सना करना प्रारम्भ कर देती है। वह कहती है—

विसृज शिरसि पाद वेदम्यहं चाटुकारै—
रनुनय विदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यर्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजद कृत चेता किं नु सन्धेयमस्मिन्?

अर्थात्, हे भ्रमर! तू मेरे चरणों पर से अपना सिर हटा ले। मैं जानती हूँ कि तू (यह क्रिया) कृष्ण से सीख कर आया है और चाटुकार वृत्ति द्वारा खुशामद करने में अत्यन्त निपुण है। किन्तु जिस अकृतज्ञ ने हम अबलाओं को जिन्होंने उसके लिए अपने पति, पुत्र और समस्त लोक को त्याग दिया था, इस प्रकार त्याग दिया, क्या फिर भी उसका विश्वास किया जा सकता है?[1]

भागवत के उद्धव यह सुनते ही सूर के उद्धव के समान गोपियों को ज्ञान और निर्गुण का उपदेश देना प्रारम्भ नहीं कर देते और न वे यह कहते हैं कि गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करके गलती कर रही हैं। गोपियों की इस दृढ़ भक्ति को देखकर उद्धव का मस्तिष्क गोपियों के प्रति श्रद्धा से नत हो जाता है और वे उनकी प्रशंसा करते हुए कह उठते हैं—"अहो यूयं स्म पूर्णार्थी भवत्यो लोक पूजिताः" अर्थात् 'हे गोपियो! तुम कृतार्थ हो, तुम पूजनीय हो।' क्योंकि—वासुदेव भगवति पासामित्यर्पित मनः" अर्थात् तुम्हारा मन वासुदेव में इस प्रकार लवलीन है।"

आगे चलकर उद्धव गोपियों की इस एकान्तिक भक्तिभावना की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए पुनः कहते हैं—"कृष्ण की भक्ति दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, इन्द्रियदमन तथा अन्य जग कल्याणकारक कर्मों द्वारा ही प्राप्त की जाती है किन्तु तुमने तो सौभाग्य से मुनिजनों के लिए भी परमदुर्लभ भगवान

१—सूर का भ्रमरगीत : एक अन्वेषण—लेखक विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, से उद्धृत।

कृष्ण की उत्तम लक्षणा भक्ति प्राप्त करके उसका विस्तार किया है। तुमने अपने स्वजनों को त्यागकर परम पुरुष भगवान कृष्ण का वरण किया है, यह बड़े सौभाग्य की बात है।"[१]

भागवत के उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि भागवतकार का भ्रमरगीत की रचना में ज्ञान व भक्ति द्वन्द्व दिखाने का उद्देश्य नहीं था। वहाँ तो ज्ञान, कर्म एवं भक्ति में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न लक्षित होता है। भागवतकार के अनुसार कृष्ण का ब्रज त्याग गोपियों के प्रेम की दृढ़ता को और भी गहन एवं गम्भीर बनाने के लिए था। वे जानबूझ कर मथुरा गये थे। उद्धव कृष्ण के इसी सन्देश को गोपियों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं—"हे गोपियो! तुम्हारे नेत्रों का तारा होकर भी जो मैं तुम से दूर चला आया हूँ उसका उद्देश्य यही है कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान करती रहो। शरीर दूर रहने पर भी तुम्हारा मन मेरे ही पास रहे क्योंकि स्त्रियों एवं प्रेमियों का मन जिस दृढ़ता एवं एकाग्रता के साथ परदेश गए हुए प्रियतम में रमा रहता है वैसा आँखों के सामने रहने पर नहीं रहता।"

इससे तो यही स्पष्ट होता है कि कृष्ण गोपियों को एकान्तिक भक्ति की 'चित्त साधना' सिखाना चाहते थे और इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए विदेश चले गये थे। 'ईश्वर से प्रेम' की बात तो सूर भी कहते हैं परन्तु वहाँ निर्गुण सगुण एवं कृच्छ साधना तथा ज्ञान और भक्ति का भयंकर परन्तु रोचक विवाद उठ खड़ा हुआ है जिसमें काव्य-चमत्कार एवं सरसता की पर्याप्त सृष्टि हुई है। संक्षेप में भागवतकार एवं सूर का मूल उद्देश्य एक ही ज्ञात होता है परन्तु इस उद्देश्य को प्राप्त करने के मार्ग दोनों के भिन्न-भिन्न रहे हैं और यही भिन्नता सूर की मौलिकता का प्रमाण है।

सूर की इस भिन्नता एवं मौलिकता की पृष्ठभूमि में सूरकालीन वे ऐतिहासिक परिस्थितियाँ कार्य कर रहीं थीं जो सम्भवत: भागवत की रचना के समय नहीं थीं। अद्वैतवादी शंकर के उपरान्त वाममार्गियों, तथाकथित योगियों—नाथपंथियों, कापालिकों, अघोरियों—आदि के ऐसे सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे जो योगमार्गीय कृच्छ साधनाओं द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का उपदेश देते फिरते थे। पंचमकारों की उपासना ने इनकी साधना पद्धति को अत्यन्त विकृत एवं गर्हित रूप प्रदान कर दिया था। सूर के समय में इनका समाज में प्राबल्य था। और यदि इनका विरोध न किया जाता तो सम्पूर्ण भारतीय समाज दुराचार एवं अनैतिकता के गर्त में समा कर रसातल को चला जाता। ऐसी स्थिति से समाज

१—भ्रमरगीत : एक अन्वेषण—श्री विश्वम्भर नाथ उपाध्याय।

की रक्षा करने के लिए हमारे भक्त कवि उद्धारक के रूप में सामने आए थे। तुलसी तथा सूर ने इसी कारण इन योग मार्गियों का घोर विरोध कर सगुण भक्ति का प्रचार किया था। अतः भागवतकार की मौलिक स्थापनाओं तथा सूर की उपासना पद्धति में कोई मूलभूत अन्तर न होकर केवल प्रकार का अन्तर था।

प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने भागवतकार के भ्रमरगीत प्रसंग की विवेचना करते हुए भागवतकार की एक अन्य उपलब्धि का भी उल्लेख किया है जो उनकी मौलिक स्थापना प्रतीत होती है। प्रो० उपाध्याय का मत है कि भागवतकार का यह उद्देश्य भी था कि—"उपेक्षित निम्न जाति की नारियों के भगवतप्रेम को भी किसी प्रकार "धर्म के ठेकेदार" स्वीकार कर लो। अपने इस मत के समर्थन में उपाध्याय जी ने उद्धव का निम्न वक्तव्य उद्धृत किया है—

क्वेमाः स्त्रियो वनचरी र्व्यभिचार दुष्टाः,
कृष्ण क्व चैष परमात्मनि रूढ़ भावः।
नन्वीश्वोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा—
च्छ्रैयस्तनोत्यगदरा इवोपयुक्तः।

अर्थात् कहाँ तो ये व्यभिचारदूषिता वनवासिनी स्त्रियाँ! और कहाँ इनका परमात्मा में इतना सुदृढ़ अनुराग! इससे सिद्ध होता है कि यदि अज्ञानी भी भगवान का भजन करे तो वह उसका परम कल्याण करते हैं जैसे अमृत बिना जाने पीने से भी अमर बना देता है।

सम्भवतः सूर आदि ने कुब्जा-प्रसंग को जो इतना महत्व दिया है उसके मूल में भी निम्न जातीय नारियों के प्रति यही उदारता की भावना कार्य कर रही थी। अस्तु,

हम ऊपर 'भ्रमरगीत' का संक्षिप्त परिचय,उसका अभिप्राय, उद्देश्य, भागवतकार एवं सूर आदि के दृष्टिकोणों का विवेचन कर आए हैं। अब हम प्रारम्भ से लेकर आधुनिक काल तक के भ्रमरगीत प्रसंगों का संक्षिप्त इतिहास एवं उनकी विवेचना करेंगे।

'भ्रमरगीत' का उद्गम स्थान श्रीमद्भागवत से दशम स्कन्ध के ४६ वें तथा ४७ वें अध्यायों को माना जाता है। ४६ वें अध्याय में उद्धव की ब्रज यात्रा और उनका नन्द-यशोदा के साथ वार्तालाप है। ४७ वें अध्याय में गोपियों और उद्धव का कथोपकथन है। यह कथोपकथन ४७ वें अध्याय के १२ से लेकर २१ तक के १० श्लोकों में समाप्त हो गया है। यह तो हुई संस्कृत-साहित्य की बात। हिन्दी में 'भ्रमरगीत' के सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ कवि सूर-

दास हुए हैं। इसलिए हिन्दी में ईस परम्परा का विकास सूरदास के भ्रमरगीत से ही मानना पड़ेगा। सूर प्रणीत 'सूरसागर' में तीन 'भ्रमरगीत' मिलते हैं जिनमें से प्रथम दो अत्यन्त संक्षिप्त हैं तथा अन्तिम विस्तृत है। प्रथम 'भ्रमर-गीत' भागवत का अनुवाद मात्र प्रतीत होता है। यह चौपाई छन्द में लिखा गया है। इससे केवल यही ज्ञात होता है कि सूर का दृष्टिकोण भागवतकार दृष्टिकोण से तनिक भिन्न था। दूसरा 'भ्रमरगीत' पदों में रचा गया है। प्रथम तथा ईस द्वितीय 'भ्रमरगीत' में भ्रमर के आने का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है। तीसरा 'भ्रमरगीत' अत्यन्त विस्तृत है। इसमें लगभग चार सौ पद हैं और काव्यत्व की दृष्टि से यह हिन्दी की अद्वितीय रचना मानी जाती है। इस भ्रमरगीत में पहली बार सूर के भक्ति विषयक विचार स्पष्ट होते हैं। सूर रचित संक्षिप्त भ्रमरगीत में वर्णित गोपियों में नन्ददास की गोपियों के समान तर्क का आवेश अधिक है परन्तु विस्तृत 'भ्रमरगीत' में सूर ने तर्कों को अप्रत्यक्ष रूप से ही अधिक व्यक्त किया है।

सूर के कृष्ण उद्धव को ब्रज इसलिए भेजते हैं कि ज्ञानमार्गी उद्धव गोपियों की अनन्य भक्ति को देखकर अपने ज्ञानमार्ग की निस्सारता का ज्ञान प्राप्त कर सकें और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखाई जा सके। सूर का निम्न पद इस स्पष्ट उद्देश्य के प्रमाण में दृष्टव्य है—

जदुपति जानि उद्धव रीति।
विरह दुख जहँ नाहिं जानत नाहिं उपजत प्रेम।
रेख रूप न बरन जाके यह धरयो वह नेम॥
त्रिगुण तन कर लखत हमकों, ब्रह्म मानत और।
बिना गुण क्यों पुहुमि उघरै यह कर मन ठौर॥
विरह रस के मंत्र कहिए क्यों चलै संसार।
कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भर्यौ हंकार॥
प्रेम भजन न नेकु जाके, जाय क्यों समुझाय।
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहि देहु पठाय॥

गुणहीन ब्रह्म केवल भावना की उपज है अर्थात् वह जनता के किसी काम नहीं आ सकता। हमारे क्रियात्मक जीवन में उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। इसी तथ्य की पुष्टि और स्पष्टीकरण के लिए सूर ने भ्रमरगीत की अवतारणा की थी।

ज्ञानगर्व में डूबे हुए उद्धव तुरन्त ब्रज को चल देते हैं और वहाँ पहुँच कर योग का उपदेश देते हुए भक्ति की हीनता का बखान करने लगते हैं। एकान्तिक भक्ति की उपासिका गोपियों को उद्धव का यह उपदेश जहर बुझे हुए तीर के

समान लगता है। वे विरह व्यथा से और भी अधिक व्याकुल हो जाती हैं और फिर सम्हल कर जो उद्धव के ज्ञान मार्ग पर अपनी सरल एवं भोली-भाली परन्तु सशक्त उक्तियों से आक्रमण करने लगती हैं तो उद्धव अपने उपदेश को भूलकर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो उठते हैं।

गोपियाँ उद्धव के तर्कों को काटती हुई मीठी चुटकियाँ लेती हैं—

उद्धव जोग विसरि जनि जाहु।
बाँधउ गाँठि कहूँ जनि छूटै, फिर पाछे पछिताहु॥

यह तुम्हारा योग तो—"ब्रज बासिनि के नहिं काम की" क्योंकि तुम्हारे इस ब्रह्म का कुछ अता-पता तो है नहीं—

निर्गुन कौन देश को बासी,
मधुकर हँसि समुझाउ सौहँ दे बूझत साँच न हाँसी।"

न इस ब्रह्म के माँ-बाप का पता है, न उसकी पत्नी का नाम मालूम है, न उनकी वेष भूषा का ही कुछ पता है—

" को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी।
कैसो बरन भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी॥"

उद्धव ज्ञानमार्गी हैं अतः उनके पास गोपियों के इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। उद्धव निरुत्तर रह जाते हैं परन्तु गोपियाँ फिर भी उनका पीछा नहीं छोड़तीं। वे व्यंग्य कसती चली जाती हैं और व्यंग्यों की यह शृङ्खला सैकड़ों पदों में अबाध गति से चलती रहती है। गोपियाँ कृष्ण के बदले 'योग' का सौदा नहीं करना चाहतीं क्योंकि उनकी दृष्टि में योग 'फाटक' (निस्सार वस्तु) और कृष्ण 'हाटक' (स्वर्ण) के समान है, फिर विनिमय हो तो कैसे हो ? इसलिए वे उद्धव से प्रार्थना करती हैं कि—

"ऊधौजा हमहिं न जोग सिखैये।
जेहि उपदेश मिलें हरि हमको सो ब्रत नेम बतैये॥"

क्योंकि—

"अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।"

इसलिए—

"कैसे रहें रूप रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखी।"

और यदि इन आँखों की ही एकमात्र समस्या होती तो भी कोई बात नहीं थी परन्तु यहाँ तो मन ही विद्रोह कर रहा है। हमारे पास एक ही तो मन था, उसे भी श्याम रथ पर चढ़ कर साथ ले गए—

"ऊधौ मन नाहीं दस बीस !
एक हुतौ सो गयो स्याम संग को आराधै ईस।"

परन्तु बात यहीं तक सीमित नहीं है। सम्भव है तुम्हारा ज्ञानयोग बहुत अच्छी चीज हो, उसमें तत्व ही तत्व भरा हो परन्तु हम क्या करें ? हम तो निपट गँवारिन हैं, कुछ पल्ले ही नहीं पड़ता कि तुम क्या समझाना चाहते हो। तुम्हारी यह ज्ञान की बातें नगर की नागरिका ही समझ सकेंगी इसलिए बाबा, इसे वहाँ ले जाकर उन्हें ही समझाओ—

"ऊधौ ब्रज की दशा बिचारौ।
ता पाछै यह ज्ञान आपनो जोग कथा विस्तारौ॥
अपनी ज्ञान कथा यह ऊधो मथुरा ही लै जाव।
नागरि नारि नीके समझेंगीं तुमरो बचन बनाव॥"

मगर उद्धव फिर भी नहीं मानते। उनका ज्ञान-चरखा पुनः चालू हो जाता है। इस पर गोपियाँ क्रुद्ध हो उठती हैं और उन्हें कड़ी फटकार बताती हैं कि वे उनके भक्तिरूपी राजमार्ग को अपने ज्ञानरूपी (निर्गुण) कंटको से क्यों रोकते हैं—

"काहे को रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप, निर्गुण कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधौ!"

गोपियाँ तो अपने प्रियतम कृष्ण की त्रिभंगी छवि पर निछावर हैं। उनके सम्मुख 'रूप रेख गुन जाति हीन' यह निर्गुण क्या महत्व रखता है क्योंकि यह उनके किसी भी काम नहीं आ सकता। इसलिए वे उद्धव से पूछती हैं—

रेख न रूप वरन नहिं जाके ताको हमें बतावत।
अपनी कहौ दरस ऐसे कौ तुम कबहूँ हौ पावत॥
मुरली अधर धरत है सो पुनि गोधन बन बन चारत।
नैन विसाल भौंह बंक करि, देख्यौ कबहूं निहारत॥
तन त्रिभंग करि, नटवर बपुधरि, पीताम्बर तेहि सोहत।
सूर स्याम जो देइ हमें सुख त्यों तुमको सोउ मोहत॥"

अन्त में उद्धव इन भोली-भाली उक्तियों के सम्मुख परास्त हो जाते हैं और अपने ज्ञान को भूल कर कृष्ण के गुण गाने लगते हैं—

"सुन गोपिन को प्रेम नेम ऊधौ को भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यौ॥"

सूर का उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। ज्ञान पर भक्ति की, मस्तिष्क पर हृदय की, निर्गुण पर सगुण की विजय हो जाती है। और यही सूर चाहते थे।

सूर प्रणीत 'भ्रमरगीत' की इतने विस्तार के साथ उद्धरण देते हुए व्याख्या करने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई क्योंकि अष्टछाप के अन्य कवियों तथा

परवर्ती सभी भ्रमरगीतकारों ने इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपने-अपने भ्रमरगीतों की रचना की थी। इसलिए अब आगे केवल उनकी कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इस परम्परा का विकास देखना पड़ेगा।

'अष्टछाप' के लगभग अन्य सभी कवियों ने किसी न किसी रूप में 'भ्रमरगीत' प्रसङ्ग को लेकर रचनायें की हैं। आराध्य के प्रति प्रेम की तीव्रता दिखाने का यही एकमात्र एवं सशक्त माध्यम मुक्तककाव्य के लिए उपयुक्त हो सकता था। 'अष्टछाप' के अन्य कवियों में इस प्रसंग से सम्बन्धित रचनाओं में नन्ददास का 'भँवरगीत' सर्वाधिक उल्लेखनीय है। नन्ददास का 'भँवरगीत' इस प्रसङ्ग की उस न्यूनता का पूरक है जिसे सूर की कमजोरी कहा गया है। सूर की गोपियाँ जो तर्क उपस्थित करती हैं वे प्रतिपक्षी की विचार-पद्धति की 'अव्यावहारिकता' पर ही प्रहार करते हैं। और ये तर्क शास्त्र-सम्मत नहीं हैं अतः बुद्धिवादियों को उनसे पूर्ण सन्तोष नहीं हो पाता। सूर के 'भ्रमरगीत' के 'बुद्धिपक्ष' की इसी न्यूनता का पूरक नन्ददास का 'भँवरगीत' है।

नन्ददास की गोपियों का बौद्धिक स्तर सूर की गोपियों के बौद्धिक स्तर से बहुत ऊँचा है। इसी कारण उनके तर्क सूक्ष्म एवं शास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित हैं। वे प्रेम के साथ-साथ तर्क और प्रमाण का आधार मान कर चलती हैं। नन्ददास अपनी गोपियों के इसी तार्किक स्तर को शास्त्र-प्रमाणित दिखाकर उद्धव के ज्ञानमार्ग का शास्त्रीय दृष्टिकोण से खंडन करना चाहते थे। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनकी गोपियाँ भाव-प्रवण नहीं हैं। नन्ददास के 'भँवरगीत' का आधा भाग उद्धव-गोपी-सम्वाद तथा अन्तिम आधा भाग गोपियों की विरह-दशा का चित्रण करता है। प्रथम भाग में कवि बुद्धिवादी है और अन्तिम भाग में सूर के ही समान उसमें भावुकता का प्राधान्य है। कतिपय उद्धरणों द्वारा नन्ददास के 'भँवरगीत' की विशेषताओं का प्रदर्शन उचित होगा।

नन्ददास के उद्धव योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का उपदेश देते हुए अपने ब्रह्म की व्याख्या करते हैं—

"यह सब सगुण उपाधि, रूप निर्गुण है उनको।
निरविकार, निरलेप, लगति नहिं तीनों गुन को॥
हाथ न, पाँव न, नासिका, नैन बैन नहिं कान।
अच्युत ज्योति प्रकाश है, सकल विश्व के प्रान॥"

गोपियाँ तुरन्त उत्तर देती हैं—

"जो मुख नाहिन हुतो कहो किन माखन खायौ।
पाँयन बिन गो संग कहो बन बन को धायौ!

तुम्हारा यह निर्गुण झूठा है। सच्चा तो हमारा है—

"नन्द यशोदा पूत ह्वै कुंवर कान्ह ब्रजनाथ।"

उद्धव का तर्क आगे बढ़ता है। वे भगवान को निर्गुण बताते हुए कहते हैं— "जो उनके गुन होंय वह क्यों नेति बखाने", तो गोपियाँ तुरन्त ही पूछ बैठती हैं—"जो उनके गुन नाँय और गुन भए कहाँ ते"। जब उद्धव ब्रह्म को अलक्ष्य और गुणातीत बताते हैं तो गोपियाँ तुरन्त उत्तर देती हैं—"जिनको वे आँखें नहीं देखें कब यह रूप।" नन्ददास की गोपियाँ परिहास प्रिय भी हैं। मजाक ही मजाक में उद्धव की ज्ञान गठरी विलीन हो जाती है। इसके साथ ही वे उद्धव की खूब भर्त्सना भी करती हैं—

"यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय।।"

परन्तु इस तर्क-वितर्क में गोपियों के सम्मुख सहसा उनके प्रियतम की मधुर मूर्त्ति आ खड़ी होती है और वे सारे तर्क-वितर्क को भूल कर प्रियतम की मधुर स्मृति में भाव-विभोर हो उठती हैं। उनका सारा तर्क समाप्त हो जाता है और—

"ता पाछे इक बार ही रोईं सकल ब्रजनारि।
हा! करुणामय नाथ हो केवल कृष्ण मुरारि,
फाटि हियरौ चल्यौ!

और इसके उपरान्त 'भँवरगीत' का भावात्मक स्थल प्रारम्भ होता है जिसमें कृष्ण की निष्ठुरता के प्रति उपालम्भ तथा अपनी परवशता, दीनता, विनय और प्रेम का सागर उमड़ने लगता है। उद्धव इस प्रेम सागर में डूब कर अपनी पराजय स्वीकार कर लेते हैं और कह उठते हैं—

"जो ऐसे मरजाद मेंटि मोहन को ध्यावैं,
क्यों नहिं परमानन्द प्रेम-पद पी को पावैं।
ज्ञान योग सब कर्म हैं प्रेम परे हैं साँच,
हौं यह पटतर देत हों हीरा आगे काँच।
विषमता बुद्धि की।"

इस प्रकार तर्क-वितर्कों की मनोहर छटा दिखाकर अन्त में नन्ददास भी सूर के ही स्वर में बोल उठते हैं। क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि से है और भक्ति का प्रधानतः हृदय से। केवल बुद्धि द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना असम्भव था। इसलिए नन्ददास को भी अन्त में भावुकता का ही आश्रय लेना पड़ा क्योंकि वे स्वयं भक्त थे।

कृष्णभक्त अन्य कवियों में परमानन्ददास, कृष्णदास अधिकारी, चतुर्भुज-

दास, कुम्भनदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी आदि ने भी भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर विभिन्न छन्दों में रचनायें की हैं। इन सब का सार भी वही रहा है जो सूर और नन्ददास का था—वही ज्ञान पर भक्ति की छाप। सभी ने गोपियों के विरह-वर्णन को प्रमुखता दी है। नन्ददास की सी तर्क-पद्धति इनमें से किसी में भी नहीं मिलती। सर्वत्र भावुकता का ही प्राधान्य रहा है।

नन्ददास के उपरान्त उल्लेखनीय 'भ्रमरगीत' प्रसंग रामचरित मानस के प्रणेता गोस्वामी तुलसीदास का मिलता है। 'कृष्ण गीतावली' में इस प्रसंग से सम्बन्धित अनेक पद मिलते हैं जिनमें 'भ्रमर' का स्पष्ट उल्लेख न होकर उद्धव के लिए 'मधुकर' 'मधुप' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। सूर की भक्ति सख्यभाव की भक्ति थी इसलिए उनकी गोपियाँ अनेक स्थलों पर लोक मर्यादा का उल्लंघन कर बैठती हैं परन्तु तुलसी दास्यभाव की भक्ति में विश्वास करने वाले थे, इसलिए उनके 'भ्रमरगीत' में सर्वत्र मर्यादा का पालन मिलता है। उनकी गोपियाँ उद्धव के ज्ञान का खंडन करती अवश्य हैं परन्तु इस खंडन में न तो सूर की गोपियों की प्रगल्भता एवं अक्खड़ता है और न नन्ददास की सी तर्क प्रियता। इसके विपरीत यहाँ सर्वत्र अतिशय दीनता और उदारता का रुख अपनाया गया है। तुलसी की गोपियों में सर्वत्र झिझक एवं लज्जा के दर्शन होते हैं ' वे सरल एवं विश्वासमयी भक्त नारियाँ हैं परन्तु अपने सिद्धात्त एवं विश्वास के प्रति उनमें सर्वत्र एक दृढ़ आस्था के दर्शन होते हैं। वे अपने प्रियतम को प्राप्त करना चाहती हैं, मुक्ति, युक्ति आदि को भी वे उसी पर निछावर करने को प्रस्तुत हैं—

"वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं।
जोग जुगुति अरु मुकुति विविध वा मुरली पर बारौं ॥"

ईर्ष्या एवं अभिलाषा की भावना इनमें नाम मात्र की है। इस विरह वर्णन में न तो दसों विरह दशाओं का ही चित्रण हुआ है और न प्रकृति अथवा दाम्पत्य जीवन की स्मृतियाँ ही गोपियों को विरह दग्ध करती हैं। संक्षेप में तुलसी के 'भ्रमरगीत' में गोपियों की भावुकता, दीनता, विनयशीलता, शालीनता आदि के ही दर्शन होते हैं।

भक्त कवियों में से हरिराय, रसखान, मुकुन्ददास, घासीराम, मलूकदास, आदि ने भी इस प्रसंग को लेकर पद लिखे हैं परन्तु इनमें वही पुराना पिष्टपेषण मात्र है।

इसके उपरान्त रीतिकालीन कवियों का युग आता है। इन कवियों ने जिस प्रकार राधाकृष्ण ने अपनी विकृत शृङ्गार उक्तियों का माध्यम बनाया था उसी प्रकार इसने भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर भी छीछालेदर की है। यह प्रसंग

'नायिका भेद' तथा 'अन्य संचारी' के चक्कर में पड़कर अपना सौन्दर्य एवं विशिष्टता खो बैठा है। केवल 'मधुप' अथवा 'मधुकर' जैसे शब्दों के प्रयोग को देखकर ही इनकी गणना इस प्रसंग में करनी पड़ रही है अन्यथा इनमें उक्ति-चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता। 'भ्रमरगीत' के मूलस्वर की इनमें कहीं भी ध्वनि नहीं मिलती। इन रीतिकालीन कवियों में भावुक कवि भी हैं जैसे रहीम, घनानन्द आदि। कुछ अलंकारवादी कवियों ने भी इस प्रसंग के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की है जैसे मतिराम, देव आदि। कुछ ऐसे कवि भी इस काल में मिलते हैं जिन पर रीतिकालीन प्रभाव होते हुए भी सूर और नन्ददास की भक्ति-परम्परा का प्रभाव भी उसी मात्रा में है। इन्हें समन्वयवादी कहा जा सकता है। इनमें चाचा वृन्दावनदास, ब्रजनिधि रसनायक आदि की गणना की जा सकती है। अलंकारवादियों में पद्माकर एवं सेनापति का नाम भी उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त इस काल में अक्षर अनन्य, बरकतउल्ला 'प्रेमी', आलम, नागरीदास, ब्रजवासीदास आदि अनेक अन्य कवि ऐसे हुये हैं जिनके काव्य में इधर-उधर बिखरे हुए 'भ्रमरगीत' सम्बन्धी पद मिल जाते हैं। रीतिकालीन इन कवियों में उक्ति वैचित्र्य है, प्रसंगों की नवीन उद्भावनायें हैं परन्तु भक्ति की वह गहनता नहीं जो सूर के भ्रमरगीत प्रसंग के सैकड़ों पदों को एक साँस में पढ़ने या सुनने के लिए बाध्य कर देती है। इन लोगों ने भी लकीर तो वही पीटी है—ज्ञान पर भक्ति की विजय—परन्तु वह विभोर नहीं करते, अपनी नवीनता के कारण प्रभावित भले ही कर लें। स्थानाभाव के कारण उक्त कवियों की रचनाओं का सविस्तर विवरण देना असम्भव है इसलिए उनकी संक्षिप्त विवेचना ही यथेष्ठ प्रतीत होती है।

रीतिकाल के उपरान्त हम आधुनिक युग में आते हैं। इस युग तक आते आते परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। पराधीनता के प्रति विद्रोह का स्वर साहित्य में मुखरित होने लगा था। साहित्य राजदरबारों को त्यागकर जनता के दुख-दर्द के गाने गाने लगा था। इसलिए इस काल में रचित भ्रमरगीतों का स्तर भी बदल गया। अब राधा कृष्ण और गोपियाँ देशभक्त और जन-सेवक का स्मरण कर सामने आए। भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन भावनाओं का प्रभाव था अवश्य परन्तु संयमित रूप में। आधुनिक युग के नेता के रूप में सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आते हैं। इन्होंने भ्रमरगीत प्रसङ्ग को लेकर अनेक फुटकर पद लिखे हैं जिनका स्वर प्रधानतः भक्तिकालीन ही रहा है। वही निर्गुण सगुण का पुराना झगड़ा और अन्त में गोपियों द्वारा आत्मसमर्पण या उद्धव का हृदय परिवर्तन। इसमें उक्ति की नवीनता के अतिरिक्त एक को

भी नवीनता नहीं मिलती। फिर भी भारतेन्दु ने औरों की अपेक्षा इस प्रसङ्ग को अधिक सहानुभूति तथा प्रेम के साथ उठाया तथा निभाया है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी इसी परम्परा के कुछ पद लिखे हैं परन्तु वे भी विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

इस युग में 'भ्रमरगीत' का नवीन एवं परिवर्तित रूप सर्व प्रथम सत्यनारायण 'कविरत्न' में मिलता है। कदाचित समस्त भ्रमरगीत परम्परा में 'कविरत्न' का 'भ्रमरदूत' ही एक ऐसी रचना है जो प्राचीन एवं रूढ़ निर्गुण-सगुण, ज्ञान-भक्ति की समस्या को न उठाकर अपने समय की विषम परिस्थितियों का चित्रण करता है और इस प्रकार एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है जिसका आगे अनुकरण नहीं हो सका।

'कविरत्न' अपने 'भ्रमरदूत' में कई नवीनताओं का समावेश करते हैं। यहाँ सन्देश मथुरा से गोकुल को न जाकर गोकुल से मथुरा को जाता है और इसको भेजने वाली कोई गोपी न होकर स्वयं यशोदा माता हैं। और इस प्रसङ्ग की सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि यह सन्देश स्वयं कृष्ण भ्रमर का रूप धारण कर ले जाते हैं। एक बार हिंडोलों के उत्सव पर माता यशोदा पुत्र वियोग से व्याकुल हो उठती हैं। कृष्ण अपनी माता को दुखी देखकर स्वयं भ्रमर का रूप धारण कर उनके पास आ जाते हैं—

"बिलपति कलपति अति जबै लखी जननि निज स्याम।
भगत-भगत आए तबै भाए मन अभिराम ॥
भ्रमर के रूप में !

माता यशोदा इस भ्रमर में तथा अपने श्याम में अनेक प्रकार का सादृश्य पाकर उसी के द्वारा अपना सन्देश भेजती हैं—"तेरो तन घनश्याम, श्याम घनश्याम उतै सुन।" इस सन्देश में माता अपने व्यक्तिगत सुख-दुख का वर्णन नहीं करती अपितु स्वयं भारतमाता का स्वरूप धारण कर अपने देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का मार्मिक वर्णन करती है। यहाँ सभ्यता का अभिशाप, प्रवासियों की समस्या, स्त्री-शिक्षा, स्त्रियों पर प्रसाशन का प्रभाव, भारतियों की दुर्दशा आदि के बड़े मार्मिक वर्णन साहित्य में प्रस्तुत किये हैं। यह एक नवीनता थी जो इससे पूर्व कहीं भी नहीं मिलती। इस सम्पूर्ण वर्णन में भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ भाषा में संगीत एवं सौन्दर्य का पर्याप्त सन्तुलन मिलता है।

'हरिऔध' के 'भ्रमरगीत' का स्वरूप भी इसी प्रकार की नवीनता लिये हुये है। यहाँ आकर कृष्ण का माखन चुराने वाला तथा विलासी रूप एक समाज सुधारक का रूप धारण कर लेता है। वियोग की भावनाओं में भी

अन्तर आ जाता है। यहाँ गोपियाँ कृष्ण के केवल उन लोकोपकारी कार्यों की याद करती हैं जो कृष्ण ने अपने ब्रज-निवासकाल में किए थे। 'प्रियप्रवास' की राधा का रूप केवल शृङ्गार और वासना को ही लेकर नहीं चला है। इसमें राधा एक स्वदेशानुरागिनी नायिका के रूप में आती है जिसने विश्व के दुख के साथ अपना दुख मिला दिया है। राधा स्पष्ट कहती है—

"मैं ऐसी हूँ न निज दुख से कष्टिता शोक-मग्न।
हा! जैसी हूँ व्यथित ब्रज के वासियों के दुखों से॥"

यहाँ उद्धव भी ज्ञान का उपदेश न देकर लोक-सेवा की प्रेरणा देने जाते हैं। कृष्ण भी लोकसेवा में रत हैं। इसलिये उद्धव गोपियों से कहते हैं कि कृष्ण को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग लोकसेवा है। इसमें वियोग वर्णन है अवश्य परन्तु उसका स्वरूप लोकसेवा की भावना से ही ओतप्रोत रहा है। यह नवीनता तो अवश्य है परन्तु ऐसी नवीनता है जिसने माधुर्य, तन्मयता एवं सरसता का गला घोंट दिया है।

मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'द्वापर' में भ्रमरगीत प्रसंग पर कलम चलाई है। इन्होंने केवल एक मौलिकता दिखाई है और वह यह कि यहाँ भ्रमर न आकर एक विहंग उड़ता हुआ आ जाता है और गोपियाँ उसी विहंग को लक्ष्य कर उद्धव को उपालम्भ सुनाने लगती हैं। गुप्तजी रामभक्त हैं इसलिए तुलसी की गोपियों के समान उनकी गोपियाँ भी पूर्ण पवित्र हैं—केवल कहीं-कहीं वाग्विदग्धता अवश्य दिखा जाती हैं।

इसके उपरान्त हम 'उद्धव शतक' के रचयिता 'रत्नाकर' पर आते हैं। रत्नाकर में भक्तिकाल एवं रीतिकाल का विचित्र समन्वय हुआ है। 'उद्धव शतक' इसका सबसे प्रबल प्रमाण है। उनमें भक्ति की गहनता और तन्मयता भी है और साथ ही रीतिकालीन वाग्वैदग्ध्य भी। उनमें जहाँ एक ओर सूर के हृदय की बेबसी है वहाँ दूसरी ओर नन्ददास का तर्क और परिहास भी है। यहाँ गोपियाँ प्राचीन स्मृति के आधार पर ही कृष्ण के जीवन के तुलनात्मक चित्रण स्थित करती हैं। साथ ही वे यह भी मान लेती हैं कि 'कान्ह' और 'ब्रह्म' वास्तव में एक ही हैं परन्तु एक भक्त हृदय अद्वैत की भावना को कैसे स्वीकार कर सकता है। वह प्रेम के लिये द्वैत का व्यवधान चाहता है। इसलिये 'उद्धव सतक' की गोपियाँ द्वैतता के इस सम्बन्ध को शाश्वत बनाये रखने के लिये उत्सुक हैं। वे मुक्ति भी नहीं चाहतीं। रूप रङ्ग हीन भावना में आसक्ति भी सम्भव नहीं। 'रत्नाकर' के वर्णन में व्यंग्य के साथ-साथ मार्मिकता यथेष्ठ मात्रा में है। उन्होंने हृदय के उन कोमल भावों का, जिनके सामने तर्क नहीं चलता, चित्र खींचा है। कृष्ण की स्मृति, गोपियों की दशा, उद्धव के उपदेश तथा

गोपियों पर हुई उसकी प्रतिक्रिया के चित्र अत्यन्त मार्मिक एवं मनोरम हैं। गोपियों के 'नन्दलाल' ब्रह्म और मुक्ति से भी श्रेष्ठ हैं। उनकी प्राप्ति के लिये वे 'सबै सांसत' सहने के लिये प्रस्तुत हैं। परन्तु उन्हें यह विश्वास हो जाना चाहिये कि ऐसा करने से वे अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकेंगीं—

"सहि हैं तिहारे कहे सांसति सबै पै बसि,
एती कहि देउ कन्हैया मिलि जायगो।"

परिणाम स्वरूप उद्धव अन्त में निर्गुण और ज्ञान का सन्देश भूल कर, प्रेमरस में थके हुये लौटते हैं, जिनके—

"एक कर राजै नवनीत जसुदा को दियो,
एक कर वंशी वर राधिका पठाई है।"

'रत्नाकर' के इस भ्रमरगीत का अपना महत्व है। इसमें भागवत, सूर, नन्ददास की परम्परा का पालन किया गया है जो नवीनता के पुट से और भी मनोरम बन गया है। परन्तु एक बात है। इसमें नन्ददास के तर्कों का तो मजा आ जाता है परन्तु सूर की सी तन्मयता एवं विभोरता सर्वत्र नहीं मिल पाती। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कृष्ण और गोपियों में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा की गई है जो इस परम्परा को रत्नाकर की एक मौलिक देन है।

वर्तमान काल में उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों ने भी इस प्रसङ्ग को लेकर काव्य रचना की है। इनमें डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' (उद्धव शतक) द्वारिकाप्रसाद मिश्र (कृष्णायन) सागर) आदि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार 'भ्रमरगीत' की परम्परा भागवत से लेकर अद्यावधि अबाध रूप से चली आई है जिसमें 'हाटक' भी है और 'फाटक' भी अर्थात् अच्छा भी है और बुरा भी। समय के अनुसार इसके मूल उद्देश्य में भी किंचित परिवर्तन होता रहा है। यह प्रसङ्ग प्रत्येक युग के कवियों को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। इसी कारण इसमें इतनी समृद्धि, इतना निखार इतनी मार्मिकता एवं इतनी हृदयस्पर्शिता का समावेश होता आया है जो अन्य परम्पराओं में दुर्लभ ही है।

४३—सतसई परम्परा : उद्भव और विकास

'भ्रमरगीत' परम्परा के समान 'सतसई-परम्परा' भी कवियों का अत्यन्त रुचिकर विषय रहा है। प्रायः यह देखा गया है कि प्रबन्ध-काव्य की तुलना में मुक्तक काव्य ही जनता में अधिक लोकप्रिय रहता है और इसीलिए उसका प्रचार भी प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक होता है। सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में केवल एक ही प्रबन्ध काव्य ऐसा है जिसका प्रचार मुक्तक काव्य ही अधिक प्रतीत होता है और वह है तुलसी प्रणीत 'रामचरितमानस'। परन्तु उसके अत्यधिक प्रचार के मूल में धार्मिक भावना ही विशेष प्रबल रही। परन्तु साहित्यिक सौन्दर्य के पारखी तो गिने-चुने विद्वान ही हैं। उसके उपरान्त अभी तक अन्य कोई भी प्रबन्ध काव्य मुक्तक की तुलना में अधिक लोकप्रियता प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। मुक्तक काव्य अपने जीवन के बिखराव एवं स्वच्छन्द उद्-भावना वृत्ति के कारण साहित्य के आदिकाल से लेकर आजतक समान रूप से लोकप्रिय रहा है। हमारी समझ में इस लोकप्रियता का कारण यह है कि प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक की रचना में अधिक सहूलियत रहती है। कथावस्तु के अभाव के कारण रचयिता को उसमें न तो पूर्वापर सम्बन्ध का ध्यान रखना पड़ता है और न श्रोता अथवा पाठक को ही उसका रसास्वादन करने में कोई अधिक परिश्रम करना पड़ता है। कवि दो, चार अथवा आठ पंक्तियों में संदर्भ वर्णन, प्रभाव, उद्देश्य आदि का संक्षेप में वर्णन कर उस प्रसंग को वहीं समाप्त कर देता है।

मुक्तक काव्य की यह परम्परा वेदों से प्रारम्भ होकर आजतक यथावत् रूप में चलती चली आ रही है। इस परम्परा में शतक, सप्तशती, जिसका हिन्दी रूपान्तर 'सतसई' है, हजारा आदि के नाम से संग्रह होते आए हैं। इनमें विशेष लोकप्रियता 'शतक' और 'सतसई' को ही प्राप्त हो सकी। हजारा तो केवल एक ही मिलता है—'कालिदास हजारा'। 'शतक' परम्परा भी यथेष्ठ लोकप्रिय रही है। संस्कृत साहित्य में विभिन्न शतकों का प्रणयन हुआ था जैसे नीतिशतक, शृङ्गारशतक, वैराग्य शतक, अमरुक शतक आदि। परन्तु हिंदी में शतक परम्परा अधिक लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकी। इसमें मुश्किल से दो चार शतक मिलते हैं जैसे सूर-शतक, उद्धव शतक, गांधी शतक आदि। 'सतसई परम्परा इन सबमें सबसे अधिक लोकप्रिय रही है और इस परम्परा की लोक-

प्रियता का सर्वाधिक श्रेय 'बिहारी सतसई' को ही मिलना चाहिए, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। क्योंकि बिहारी से पूर्व हिंदी में रचित केवल दो 'सतसई' के ही प्रमाण मिलते हैं—तुलसी सतसई एवं रहीम सतसई। काल-क्रमानुसार इनके उपरान्त बिहारी सतसई का स्थान आता है और 'बिहारी सतसई' की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर तो रीतिकाल में 'सतसइयों' का एक अम्बार सा लग गया था। और परम्परा आधुनिक काल में आकर भी वियोगी हरि की 'वीर सतसई' के रूप में जीवित रही। परन्तु अब 'शतकों' तथा 'सतसइयों' का युग समाप्त चुका है। साहित्य-सृजन-प्रबल अनेक धाराओं में विभक्त हो चुकी है। नवीनता का मोह भी प्रबल है। कविगण कविता करते हैं और वे कविताएँ विभिन्न संग्रहों के रूप में आकर्षक नाम धारण कर प्रकाशित होती रहती हैं। अब अपने सात सौ पदों, दोहों अथवा गीतों का संग्रह कर 'सतसई' के नाम से उनका संग्रह करने के लिए कोई भी कवि लालायित नहीं रहता। इसलिए अब इस परम्परा को मृतप्राय ही समझ लेना चाहिए। यह दूसरी बात है कि काफी समय बीत जाने पर भविष्य में कोई काव्य प्रेमी पन्त-सतसई, प्रसाद-सतसई, निराला-सतसई अथवा गुप्त-सतसई का संग्रह कर डाले। परन्तु वह भविष्य के गर्भ में है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए इसकी सम्भावना तो नहीं प्रतीत होती परन्तु फिर भी निश्चय के साथ कोई बात नहीं कही जा सकती क्योंकि काव्य-रसिकों के मानसिक विकास का दिशा निर्देश करने का कोई भी दावा नहीं कर सकता।

'सतसई' शब्द का मूलरूप 'सप्तशती' है अर्थात् जिसमें सात सौ पदों का संग्रह किया गया हो। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उसमें ठीक सात सौ ही पद हों—दस बीस कम या अधिक भी हो सकते हैं जैसे कि 'बिहारी सतसई' में ७१६ दोहे हैं तथा १५० के लगभग दोहे परिशिष्ट के रूप में ही ऐसे संग्रहों के अन्त में जोड़ दिए गए हैं। फिर भी हमें 'सतसई' के शाब्दिक अर्थ की रक्षार्थ 'सात सौ' की संख्या के पास-पड़ोस में ही रहना पड़ेगा। 'सतसई' में 'सात सौ' की संख्या का ही विधान है परन्तु ऐसा कहीं नहीं मिलता कि वह किसी एक निश्चित छन्द में ही लिखी जाय जैसे दोहा, कवित्त, सवैया या किसी अन्य छन्द में। परन्तु सम्भवतः लगभग सभी सतसईकारों में यह मूक-समझौता रहा है कि सतसई 'दोहा' छन्द में ही लिखी जाय क्योंकि हिंदी की सभी सतसइयाँ दोहों में ही लिखी गई हैं, कोई एकाध अपवाद हो तो हम कह नहीं सकते। कम से कम अभी तक हमारे देखने में तो ऐसा कोई अपवाद नहीं आया है। दूसरी बात यह कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो दोहे प्रबन्ध काव्य में आगए हों उनका संग्रह सतसई में न किया जाय क्योंकि सतसई मुक्तक काव्य है। 'तुलसी

सतसई' में अनेक ऐसे दोहे संग्रहीत हैं जो उनके रामचरितमानस में भी हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे 'सुभाषित' जिनका भाव ग्रहण करने में पूर्वापर सम्बन्ध की अपेक्षा न हो सतसई में संग्रह किये जा सकते हैं फिर चाहे वे प्रबन्ध काव्य से लिये गये हों अथवा खंडकाव्य से। यदि उनमें मुक्तक के सभी लक्षण मिल जाते हैं तो उनका संग्रह न्यायोचित ही माना जायेगा।

'सतसई परम्परा' के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि सम्भवतः किसी भी 'सतसई' का निर्माण सतसई के ही रूप में किसी भी कवि ने नहीं किया है। और यदि किसी कवि ने ऐसा किया भी है तो उन सतसइयों का वर्तमान रूप वही नहीं रहा है जो उनका मूल रूप रहा होगा क्योंकि 'बिहारी सतसई' को लेकर ही इस बात की काफी खोजबीन हो चुकी है उसमें संग्रहीत दोहों का क्रम क्या वही है जो अधिकांश सतसइयों में मिलता है? बिहारी सतसई के अनेक रूप मिले हैं जिनके दोहों के क्रम में पर्याप्त भिन्नता है। यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि सतसईकारों ने सतसई के रूप में रचनाएँ नहीं की थीं। उनका संग्रह सतसई के रूप में परवर्ती कवियों अथवा साहित्य रसिकों ने ही किया होगा। उन्होंने किसी भी कवि के सात सौ प्रसिद्ध दोहे छाँट लिए होंगे और फिर उसी कवि के नाम से उस ग्रन्थ की प्रसिद्धि कर दी गई होगी। इसका एक प्रमाण 'तुलसी सतसई' के रूप में दिया जा सकता है। इसमें 'मानस' के अनेक दोहों का भी संग्रह कर दिया गया है। जैसे हिन्दी साहित्य के उपलब्ध सभी भ्रमर गीतों की रचना भ्रमरगीत के रूप में ही नहीं की गई थी परन्तु उनमें ऐसे तत्व मिले जो भ्रमरगीत के प्रधान गुण हैं अतः उन्हें भी भ्रमरगीत की ही संज्ञा प्रदान की गई। हमारी समझ में सतसइयों के संग्रह में भी इसी पद्धति का पालन किया गया है।

'सतसई' किसी एक ही विषय पर लिखी हुई नहीं मिलती। उनमें विषयों की मनोरम विविधता दर्शनीय होती है। वहाँ हमारा दैनिक जीवन अपने खंड-खण्ड रूप में बिखरा हुआ मिलता है। शृङ्गार, नीति, उपदेश आदि इनके प्रधान विषय रहे हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं कि किसी एक ही विषय को लेकर 'सतसई' की रचना नहीं हो सकती। वियोगी हरि की 'वीर सतसई' इसका प्रमाण है। उसमें केवल वीरता एवं वीरों के ही विविध रूप मिलते हैं। यह दूसरी बात है कि जिन व्यक्तियों को वियोगी हरि 'वीर' मानते है उन्हें आप कुछ और ही मानने का आग्रह करने लगें। समष्टि रूप से सतसई में ऐसे दोहे संग्रहीत होते हैं जो अपने वाग्वैदग्ध्य,रोचकता, सार्वजनीनता एवं संवेदनीयता के के कारण अपने सूक्ष्म रूप में भी प्रभावित करते हैं। 'बिहारी सतसई' के 'दोहरे' इसी कारण नाविक के तीर के समान प्रभावक माने गए हैं। हिंदी में

सतसई की परम्परा भी अत्यन्त समृद्ध रही है। अतः अब हम उसके उद्भव एवं विकास को देखने का प्रयत्न करेंगे।

हिन्दी में 'सतसई' परम्परा का उद्भव एवं विकास देखने के लिये हमें स्वभावतः उन प्रेरणा स्थलों की ओर दृष्टिपात करना पड़ेगा जहाँ से हिंदी के सतसईकारों ने प्रेरणा प्राप्त की थी और यह प्रेरणा निश्चित रूप से प्राचीन संस्कृत अथवा प्राकृत के ग्रन्थों से प्राप्त की गई थी। क्योंकि प्राकृत एवं संस्कृत में 'सतसई' परम्परा का पर्याप्त विकास मिलता है।

संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम मार्कण्डेय पुराण की 'दुर्गा सप्तशती' का प्रमाण मिलता है जिसमें सात सौ श्लोक हैं। परन्तु यह शुद्ध धार्मिक विषय को लेकर चली है अतः इसका प्रचार नहीं हो सका। सतसई परम्परा में केवल दो ही सतसइयों का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने हिन्दी के सतसई-कारों को सतसई लिखने को प्रेरित किया था। इनमें सबसे प्रथम रचना हाल कवि कृत गाथा सप्तशती' मानी जाती है। हाल कवि का दूसरा नाम सातवाहन भी था। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा गया है। यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध हुआ कि आगे चलकर इसी के अनुकरण पर संस्कृत के प्रसिद्ध कवि गोवर्धना-चार्य ने अपनी 'आर्या सप्तशती' की रचना संस्कृत में की। हिन्दी के सतसई-कारों ने प्रधानतः उक्त दोनों सतसइयों को ही विषय एवं छन्द संख्या की दृष्टि से अपना आधार और आदर्श माना है। परन्तु उक्त दोनों ग्रन्थों का विवेचन करने से पूर्व संस्कृत-साहित्य की एक दूसरी समृद्ध परम्परा—शतक परम्परा—का भी परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है क्योंकि 'सप्तशती' एवं 'शतक' में केवल छन्द-संख्या का ही अन्तर रहा है। विषय लगभग एक से ही रहे हैं।

संस्कृत-साहित्य में अनेक शतकों की रचना की गई थी। जिनमें से भर्तृहरि के 'नीतिशतक','शृङ्गारशतक' तथा 'वैराग्य शतक' नामक तीन शतकों के अतिरिक्त अमरुक के 'अमरुक शतक' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें से भर्तृहरि के उपर्युक्त तीनों शतकों के विषय उनके शीर्षकों से ही स्पष्ट हो जाते हैं। 'अमरुक शतक' शृङ्गार प्रधान रचना है। इसलिए हिन्दी-सतसई परम्परा के विकास में संस्कृत के उपर्युक्त शतकों का भी बहुत बड़ा भाग है।

'गाथा सप्तशती' एवं 'आर्या सप्तशती' में विषय की दृष्टि से शृङ्गार की ही प्रधानता रही है यद्यपि उनमें जीवन के विविध क्षेत्रों को भी स्पर्श किया गया है। शतकों में शृङ्गार एवं नीति अथवा सूक्ति को ही आधार बनाया गया है। इस प्रकार सतसई-साहित्य के विषय दो ही ठहरते हैं—शृङ्गार की और नीति अथवा सूक्ति। और मुक्तक काव्य के लिए ये ही दो विषय सदैव से उपर्युक्त एवं सर्वप्रिय रहे हैं।

हम ऊपर कह आए हैं कि हिंदी-सतसई-साहित्य पर 'गाथा सप्तशती' एवं 'आर्या सप्तशती' का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। अतः हमें विषय की दृष्टि से उक्त दोनों सतसइयों का भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये; तभी हम हिंदी सतसई-साहित्य पर उनके प्रभाव का मूल्याङ्कन करने में समर्थ हो सकेंगे।

'गाथा सप्तशती' प्राकृत में लिखी गई थी। इसमें सात सौ ऐसी गाथाओं का संकलन किया गया है जिनमें कुछ तो स्वयं हाल की विचरित हैं परन्तु अधिकांश कई तत्कालीन तथा पूर्ववर्ती कवियों की लिखी हुई हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए हाल ने स्वयं लिखा है कि—"शृङ्गार-रस से सनी लाखों गाथाओं में से ७०० ऐसी युक्तियाँ चुनकर रख दीं; जो उन्हें अत्यन्त सुन्दर एवं रस पेशल प्रतीत हुईं।" इस प्रकार इस ग्रन्थ को संग्रहीत सुभाषितों का प्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है। इसका प्रत्येक पद्य अपने-आप में स्वतन्त्र है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इसमें लोकजीवन के विविध पक्षों की सजीव अभिव्यक्ति की गई है। अधिकतर चित्र सरल ग्राम्य-जीवन से सम्बन्धित हैं। शृङ्गार प्रधान विषय है। कहीं-कहीं प्रकृति-चित्रण, नीति, तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं सम्बन्धी उक्तियाँ भी मिल जाती हैं। प्रत्येक पद्य उक्ति-चमत्कार, माधुर्य, भाषा-सौष्ठव तथा व्यंग्य-सौन्दर्य से ओतप्रोत है।

प्रणय का मार्मिक चित्रण इस संग्रह की विशेषता है। प्रेम, करुणा तथा प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाओं के बड़े ही सुन्दर चित्र अङ्कित किये गए हैं। दाम्पत्य जीवन के भी सुन्दर चित्र हैं जिनमें सर्वत्र शृङ्गार की स्निग्धता व्याप्त है। इसके अतितिरिक्त इसमें अत्यन्त मार्मिक सूक्तियाँ कही गई हैं जो हृदय को रसाप्लावित कर देती हैं। सूक्तियों का एक ही उदाहरण उपर्युक्त विशेषता का उद्‌घाटन करने के किए पर्याप्त होगा। कवि कहता है कि—

"चापः स्वभावसरलं क्षिपति शरं किल गुणेऽपि निपन्ततम्।
ऋजुकस्य च वक्रस्य च सम्बन्धः चि चिरं भवति॥"

भावार्थ यह है कि संसार में बहरों और अन्धों का ही समय सुख से व्यतीत होता है क्योंकि बहरे कटु शब्द नहीं सुन सकते और अंधे दुष्टों की समृद्धि नहीं देख सकते। कृपण के लिए उसका धन उतना ही निष्फल है, जितनी ग्रीष्म की कड़ी धूप से व्याकुल पथिक के लिए उसकी अपनी छाया। टेढ़ों और सीधों का साथ कहीं निभ सकता है? तभी तो टेढ़ा धनुष सीधे और गुणग्राही बाणों को दूर फेंक देता है।

'गाथा सप्तशती' के सौंदर्य से मुग्ध होकर उसका संस्कृत में अनुवाद किया

गया था । और आगे चलकर गोवर्धनाचार्य ने इसी अनुकरण पर संस्कृत में 'आर्यासप्तशती' की रचना की थी । 'आर्या सप्तशती' में विषय और छन्द संख्या दोनों ही दृष्टियों से 'गाथा सप्तशती' का अनुगमन किया गया है । इसकी रचना 'आर्या' छन्द में हुई है । विषय मुख्य रूप से शृङ्गार ही है । एक आलोचक के शब्दों में—"गोवर्धनाचार्य ने उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि सादृश्यमूलक अलङ्कारों का आश्रय लेकर शृङ्गार रस की मार्मिक और मनोहर व्यंजना की है । संयोग तथा वियोग की दशाओं में प्रेमी-प्रेमिकाओं के अन्स्तस्तल में जो ललित कल्पनाएँ एवं सुकुमार भाव-भंगियाँ अठखेलियाँ करती हैं उनका कवि ने बड़ा मार्मिक और स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है । नागरिक स्त्रियों की उद्दाम शृङ्गार भावना और ग्राम-तरुणियों की मुग्ध-मंजुल लीला-भंगियाँ—नारी हृदय के इन दोनों पटलों का कवि ने सजीव चित्रण किया है ।"

'आर्या सप्तशती' 'गाथा सप्तशती' के समान ही जनता में लोकप्रिय नहीं हो सकी । इस तथ्य को स्वयं गोवर्धनाचार्य ने स्वीकार किया है । उन्होंने कहा है कि प्राकृत की सरस सूक्तियों को संस्कृत में रूपान्तरित करना वैसा ही है जैसे पृथ्वीतल पर कल्लोल करने वाली कालिन्दनन्दिनी यमुना को आकाश की ओर ले जाना—

"वाणी प्राकृत समुचरिता बलेनैव संस्कृत नीता ।
निम्नानुरूपतीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम् ।:"

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उक्त दोनों 'सप्तशतियों' ने हिन्दी सतसई-साहित्य को अनुपम प्रेरणा प्रदान करने में सर्वाधिक योग दिया था ।

उक्त 'सप्तशतियों' के अतिरिक्त संस्कृत में ऐसे और भी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ था जिनका सीधा प्रभाव—विषय की दृष्टि से—हिन्दी सतसईकारों पर पड़ा था । 'शतक' इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं । भर्तृहरि के तीन शतकों तथा 'अमरुकशतक' का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं । प्रधान रूप से उपर्युक्त चारों शतकों ने ही हिन्दी पर प्रभाव डाला है । 'नीतिशतक' को सूक्ति काव्य माना जाता है । 'शृङ्गार-शतक' में वही हाल और गोवर्धनाचार्य की परम्परा का अनुगमन किया गया है । 'वैराग्यशतक' में आते-आते भर्तृहरि की शृङ्गार-प्रियता समाप्त हो जाती है और कवि को संसार से वैराग्य होने लगता है । शृङ्गार की अतिशयता के ऊबे हुए कवि के हृदय में पश्चाताप एवं वैराग्य की भावना का उत्पन्न होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक माना गया है । बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों में भी अन्तिम समय में जाकर यही वैराग्य की भावना उत्पन्न हुई थी ।

'अमरुक शतक' साहित्य-कला की दृष्टि से पूर्ण सम्पन्न काव्य माना जाता

है। आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अमरुकशतक' के प्रत्येक पद्य को 'प्रबन्धायमान' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि भाव, रस और अर्थ का जितना सन्निवेश एक पूरे प्रबन्ध में किया जा सकता है, उतना अमरुक के एक-एक पद्य में पाया जाता है। इसी कारण संस्कृत के गीत काव्यों में 'अमरुकशतक' का स्थान मूर्धन्य माना जाता है। यह काव्य ध्वनिकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। भाषा एवं शब्द चयन की दृष्टि से अद्वितीय है। कहा जाता है कि बिहारी पर 'गाथा सप्तशती' और 'अमरुकशतक' का ही प्रभाव सर्वाधिक पड़ा है। इस प्रकार हमने देखा कि प्राकृत एवं संस्कृत के 'सप्तशती' और 'शतक' साहित्य में प्रधानता शृङ्गार की ही रही है। नीति एवं भक्ति सम्बन्धी उद्भावनाएँ कम ही हुई हैं। और कहा यह जाता है कि हिंदी-सतसई-साहित्य पर इनका पूर्ण प्रभाव पड़ा है। जब हम हिंदी-सतसई-साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो इस परम्परा की प्रारम्भिक सतसइयों—तुलसी-सतसई और रहीम-सतसई—में शृङ्गार का चित्रण न होकर नीति एवं भक्ति विषयक उद्गारों की ही प्रधानता मिलती है। इन सतसइयों को आलोचकों ने 'सूक्ति-सतसइयों' की संज्ञा प्रदान की है और इस प्रकार सम्पूर्ण हिंदी सतसई साहित्य को दो वर्गों में विभाजित कर दिया है—सूक्ति सतसई और शृङ्गार-सतसई। अतः हिंदी-सतसई-परम्परा का उद्भव सूक्ति-सतसइयों के रूप में होता है।

'सूक्ति-सतसई' को समझने के लिए 'सूक्ति' शब्द का अभिप्राय समझ लेना चाहिए। डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार—"सूक्ति या सुभाषित का अर्थ अच्छे कथन से है। सूक्ति का प्रधान उद्देश्य उपदेश है। नित्यप्रति के व्यवहार में जिन बातों से लाभ उठाया जा सकता है उन्हीं बातों को सूक्तिकार एक मार्मिक और हृदयग्राही ढंग से कहता है जिससे वह जन-साधारण के मन में चुभ जाती हैं।"[१] सूक्तिकार यह मार्मिकता तभी ला सकता है जब उसके कथन में कुछ वक्रता अथवा बाँकापन होगा। यह वक्रता अथवा उक्ति-वैचित्र्य इस काव्य का प्राण होता है।

हिन्दी में सूक्ति-साहित्य के अन्तर्गत रहीम-सतसई, तुलसी-सतसई तथा वृन्द सतसई की गणना की जाती है। 'रहीम-सतसई' खंडित रूप में ही प्राप्त हो सकी है। पर प्राप्य छन्दों के अनुशीलन से इतना विश्वास हो जाता है कि यह सतसई जीवन की मार्मिक अनुभूतियों के आधार पर प्रस्तुत सूक्तियों का एक संग्रह मात्र रही होगी। 'तुलसी सतसई' में भक्ति एवं नीति विषयक दोहों का संकलन किया गया है। इसकी प्रामाणिकता के विषय में हिंदी के कतिपय विद्वान सशङ्कित हैं क्योंकि इसमें कूट रचनाओं का आधिक्य है जो गोस्वामीजी

१ - सतसई-सप्तक—सम्पादक डा० श्यामसुन्दरदास—भूमिका भाग।

की अन्य रचनाओं को देखते हुए उनके स्वभाव के विरुद्ध प्रतीत होता है। परन्तु 'तुलसी-सतसई' में तुलसीकृत 'दोहावली' के लगभग डेढ़ सौ दोहे संकलित मिलते हैं और 'दोहावली' तुलसी की प्रामाणिक रचना मानी जाती है जिसमें कूट पदों को भी स्थान मिला है। अतः तुलसी-सतसई भी प्रामाणिक प्रतीत होती है।

'तुलसी सतसई' में सात सर्ग हैं जो गोस्वामीजी की प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल प्रतीत होते हैं। इन सातों सर्गों में निम्नलिखित विषयों का वर्णन किया है जो सर्गों के क्रमानुसार इस प्रकार हैं—१—भक्ति, २—उपासना, पराभक्ति, ३—रामभजन, ४—आत्मबोध, ५—कर्म सिद्धान्त, ६—ज्ञान सिद्धान्त, ७—राजनीति।

'तुलसी सतसई' में सुन्दर एवं मार्मिक उक्तियाँ जहाँ तहाँ बिखरी हुई हैं। परन्तु सतसई की सभी उक्तियों में मार्मिकता नहीं मिलती। सूक्ति की कसौटी पर सभी दोहे खरे नहीं उतरते। "कुछ तो कबीर की साखी के ढङ्ग पर कोरे उपदेश मात्र हैं जिनका महत्व यही है कि उनमें एक महान् तथ्य का कथन है। परन्तु कथन में कितना ही महत्वपूर्ण तथ्य क्यों न हो जब तक उसमें वचन की वक्रता नहीं आती तो वह कोरा उपदेश बनकर ही रह जाता है।" ऐसी एक सूक्ति तुलसी-सतसई की दृष्टव्य है—

"ज्ञान गरीबी गुरुधरम, नरम बचन निरमोल।
तुलसी कबहुँ न छाँड़िए, सील सत्य सन्तोष॥

परन्तु तुलसी की कतिपय उक्तियों में अद्भुत वचन वक्रता, सुन्दर एवं ध्वन्यात्मक शब्दचयन तथा अद्भुत प्रभाव के दर्शन होते हैं। एक दोहा दृष्टव्य है—

"बरखत हरकत लोग सब, करखत लखै न कोय।
तुलसी भूपति भानु सम, प्रजा भाग बस होय॥"

अर्थात् सूर्य कब और कैसे पृथ्वी से अपने कर के रूप में रस खींच लेता है, यह प्रकट रूप में आज तक किसी ने नहीं देखा। किन्तु जब सूर्य उसी कर रूपी जल की वृष्टि कर पृथ्वी को सींचता है तो सभी उसे देखते हैं और देखकर प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार राजा को भी चाहिये कि वह प्रजा से इस प्रकार कर वसूल करे कि प्रजा को जान न पड़े और फिर कर रूप में प्राप्त उस धन-राशि को इस प्रकार प्रजा पर ही खर्च कर दे कि जिसे सब प्रत्यक्ष रूप में देख और अनुभव कर सकें।

'वृन्द-सतसई' भी सूक्ति-सतसई है। वृन्द औरंगजेब के दरबारी कवि थे जहाँ उनकी प्रसिद्धि 'सच्ची कहने वाला कविराज' के रूप में थी। वृन्द सतसई

के अध्ययन से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि वृन्द का जीवन अनुभव अत्यंत गहन एवं विस्तृत था। यह अनुभव उन्होंने दरबार में रहकर ही प्राप्त किया होगा। और दरबारों में ऐसे अनुभवों को प्राप्त करने के साधन सर्वाधिक रूप में उपलब्ध होते हैं। 'वृन्द सतसई' के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि वृन्द संस्कृत और प्राकृत के भी अच्छे विद्वान थे। इस ससतई के अनेक दोहों में प्राकृत एवं संस्कृत के नीति-विषयक श्लोकों की गहरी छाया दिखाई पड़ती है। 'वृन्द सतसई' सूक्ति काव्य है इसका प्रमाण उनके द्वारा किए गए मंगला-चरण में ही मिल जाता है।

"श्री गुरुनाथ प्रभाव ने, होत मनोरथ सिद्ध।
घन ते ज्यों तरु बेलि दल, फूल फलन की वृद्धि।।"

और इसके अनन्तर—

"किये वृन्द प्रस्ताव के, दोहा सुगम बनाय।
उक्ति अर्थ दृष्टान्त करि, हठि के दिए बताय।।"

और ऐसा उन्हें इसलिए करना पड़ा क्योंकि —

"भाव सरस समुझत सबै, भले लगे यह भाय।
जैसे अवसर की कही, बानी सुनत सुहाय।।"

वृन्द सूक्तिकारों के शीर्षमणि माने जाते हैं। उनकी अक्षय कीर्ति का आधार उनकी सूक्तियाँ ही हैं यद्यपि उन्होंने अन्य अनेक विषयों को लेकर भी कविता लिखी थी परन्तु उस क्षेत्र में उन्हें असफलता ही हाथ लगी। सूक्तियाँ तो तुलसी, मतिराम, बिहारी आदि ने भी लिखी हैं परन्तु उनकी कीर्ति का आधार इन्हीं सूक्तियों को नहीं माना जा सकता। सफल एवं मार्मिक सूक्ति कहना तो जैसे वृन्द का जन्मसिद्ध अधिकार हो गया था।

उपर्युक्त 'सूक्ति-सतसइयों' को विद्वानों ने मार्मिक काव्य साहित्य के अन्तर्गत माना है। परन्तु आचार्य शुक्ल इन सूक्तिकारों को कवि मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। वे 'नीति के फुटकल पद्य' कहने वाले इन सत्य-द्रष्टाओं को 'कवि' की श्रेणी में नहीं मानते। आपका कथन द्रष्टव्य है—"चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का है। इनको हम कवि कहना ठीक नहीं समझते। इनके तथ्य कथन के ढंग में कभी-कभी वाग्वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य के द्वारा काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। यह ठीक है कि कहीं-कहीं ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तकों में आ जाते हैं जिनमें कुछ मार्मिकता होती है, जो हृदय की अनुभूति से भी सम्बन्ध रखते हैं, पर उनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः ऐसी रचना करने वालों को हम 'कवि' न कहकर 'सूक्तिकार' कहेंगे।"

आचार्य शुक्ल के उक्त वक्तव्य से यही ध्वनि निकलती है कि इन सूक्तिकारों की रचनाओं में काव्य-सौंदर्य का अभाव रहता है। परन्तु हमारी समझ में इस अभाव का कारण यह प्रतीत होता है कि ये सूक्तिकार एक सजग द्रष्टा के समान जीवन के विभिन्न व्यापारों का निरीक्षण किया करते थे और अपने उन निरीक्षणों की उपयोगिता का अनुभव कर उन्हें जन-साधारण के लिए सुलभ बनाने के निमित्त सीधी-सरल भाषा में उदाहरणों से पुष्ट कर लिख या कह दिया करते थे। काव्य सौन्दर्य को समझने और उससे अनुरंजित या चमत्कृत होने की शक्ति जन साधारण में नहीं होती इसलिये काव्य सौन्दर्य से पुष्ट कथन को जन साधारण समझने में असमर्थ रहता है। तुलसी को भी इसी अभिप्राय की सिद्धि के लिये चातक सम्बन्धी दोहे तथा अपनी सतसई की रचना करनी पड़ी थी। सूक्तिकार करते यह हैं कि अपने तथा दूसरों के अनुभवों एवं व्यापारों से उत्पन्न ज्ञान का संग्रह कर उसे लोकोपयोगी बनाने के लिए लोक में प्रचलित कहावतों, मुहावरों आदि से पुष्ट कर व्यक्त कर देते हैं। इन कहावतों और मुहावरों के पीछे एक विशाल अनुभव की कहानी छिपी रहती है जिससे साधारण जनता प्रायः परिचित होती है। इसलिए सूक्तियाँ जनता में अधिक लोकप्रिय होती हैं। हमारे लोकगीतों में भी प्रायः शुक्ल जी द्वारा अपेक्षित काव्य-सौन्दर्य का अभाव रहता है तो क्या हम लोक साहित्य को भी काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दें ? यदि लोक-साहित्य काव्य के क्षेत्र में स्थान पाने का अधिकारी है तो हिन्दी का सूक्ति साहित्य भी उस स्थान का अधिकारी है अतः इन सूक्तिकारों को 'कवि' स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए। अस्तु,

हिंदी-सतसई-साहित्य का दूसरा वर्ग 'शृङ्गार सतसइयों' का है। शृङ्गार-सतसई-साहित्य में बिहारी-सतसई, मतिराम-सतसई, रसनिधि-सतसई, राम-सतसई, विक्रम-सतसई, चन्दन-सतसई तथा शृङ्गार-सतसई की गणना की जाती है। आलोचकों ने उक्त सतसइयों में बिहारी-सतसई को ही इस परम्परा की सर्व-प्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ रचना घोषित किया है।

बिहारी-सतसई पर गाथा सप्तशती एवं अमरुकशतक का प्रभाव विशेष रूप से तथा आर्या-सप्तशती का गौण रूप से माना जाता है। उक्त ग्रन्थों के कई श्लोकों का भाव यथावत् रूप से बिहारी-सतसई के दोहों में उतर आया है। संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य के प्रभाव से पुष्ट यह रचना हिन्दी साहित्य में एक अनुपम स्थान की अधिकारिणी बन गई है। इसकी सर्वाधिक लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि बिहारी के जीवन काल से लेकर आजतक जितनी टीकाएँ इस सतसई की लिखी गई हैं उतनी किसी भी अन्य काव्य ग्रन्थ की

नहीं मिलतीं। यहाँ तक कि इसका अनुवाद संस्कृत में भी कर दिया गया था। इसके टीकाकारों में लल्लूजीलाल, ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसे साहित्य-मनीषियों का नाम आता है। इसके अतिरिक्त बिहारी-सतसई की कई संस्कृत-टीकाओं का भी उल्लेख मिलता है। हिन्दी भाषा को 'भाखा' कह कर हीन दृष्टि से देखने वाले संस्कृत भाषा के पंडितों का ध्यान भी जिस ग्रन्थ ने अपनी ओर आकर्षित कर लिया था उसका महत्व निर्विवाद है। पं० अनन्दीलाल शर्मा जोशी ने 'फिरंगे-सतसई' नाम से इसकी फारसी में टीका लिखी थी। एक टीका में बिहारी के दोहों के भावों को ब्रजभाषा के भिन्न-भिन्न छन्दों में पल्लवित किया है। साथ ही पठान सुल्तान, ईश्वरीप्रसाद, पं० अम्बिकादत्त व्यास आदि ने इन दोहों को लेकर कुण्डलियाँ बाँधी हैं। यहाँ तक कि भारतेन्दु भी बिहारी के दोहों को लेकर कुण्डलियाँ बाँधने का मोह नहीं त्याग सके थे। मुंशी देवीप्रसाद 'प्रीतम' ने 'गुलदस्ताए बिहारी' के नाम से इसका उर्दू मे अनुवाद किया था। सबसे आश्चर्यजनक टीका श्री छोटूराम वैद्य की है। इन्होंने बिहारी के प्रत्येक दोहे का अर्थ करके वैद्यक का कोई न कोई नुस्खा निकाल डाला है।

उपर्युक्त विवरण बिहारी-सतसई की अद्‌भुत लोकप्रियता का सबसे प्रबल प्रमाण है।

बिहारी-सतसई शृङ्गार प्रधान रचना है। परन्तु शान्त, वीर, हास्य आदि रसों का प्रयोग भी अनेक दोहों में किया गया है। यद्यपि यह ग्रन्थ लक्षण-ग्रन्थ न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है फिर भी इसमें रस-विवेचन, नायिका भेद, शृङ्गार के दोनों पक्षों का चित्रण, प्रकृति-चित्रण आदि सम्पूर्ण रीतिकालीन काव्य-पद्धतियों एवं विषयों का समावेश कर दिया गया है। अनुभावों की रमणीय विवृत्ति, प्रेम की विभिन्न दशाएँ, हावों एवं संचारियों का प्रयोग, कवि का दर्शन एवं जीवन व्यापी अनुभव सभी कुछ अत्यन्त सहज एवं हृदय स्पर्शी शैली में प्रस्तुत किया गया है। दोहे जैसे छोटे छन्द में बिहारी ने ऐसे-ऐसे भाव ठूँस-ठूँस कर भरे हैं कि उनकी इस काव्य कुशलता को देखकर आश्चर्य से चकित हो जाना पड़ता है। इन दोहों में मौलिक सूझ, अर्थ गाम्भीर्य, भाषा की कसावट, कल्पना की समाहार शक्ति और अलङ्कारों की छटा आदि सभी काव्य गुण एक साथ ही मिल जाते हैं। इनके विषय में एक आलोचक की निम्न-लिखित उक्ति अक्षरशः सत्य उतरती है—

"बिहारी के दोहों में भाषा की जैसी कसावट, भावों की जैसी मौलिकता और अर्थ की जैसी गम्भीरता मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है। इसके साथ

ही उन जैसे अर्थपूर्ण, भावदर्शक, सुगठित और अलंकृत दोहे किसी ने नहीं लिखे ।"

बिहारी के दोहे सभी ने पढ़े होंगे । इसलिये उनके उदाहरण देना व्यर्थ है । केवल एक ही दोहा बिहारी की काव्य शक्ति का चमत्कार स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त होगा । बिहारी 'असंगति' अलङ्कार द्वारा कैसे अद्भुत काव्य सौंदर्य की सृष्टि करने में समर्थ हुये हैं इसके लिए निम्न दोहा द्रष्टव्य है—

"दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति ॥"

उलझना, टूटना, जुड़ना और गाँठ पड़ना सूत में ही सम्भव होता है । पर प्रेम के क्षेत्र में अनोखी बातें होती हैं । वहाँ उलझते तो दो नेत्र हैं और टूटता कुटुम्ब है । मिलते हैं दो प्रेमी और गाँठ (ईर्ष्या) पड़ती है दुष्टों के हृदय में । यह नई रीति है ।

बिहारी-ततसई के उपरान्त दूसरी उल्लेखनीय सतसई रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि मतिराम की 'मतिराम-सतसई' है । जिस प्रकार 'तुलसी-सतसई' में राम-चरितमानस, दोहावली आदि के अनेक दोहों का संग्रह कर दिया गया है उसी प्रकार 'मतिराम-सतसई' में मतिराम के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसराज' एवं 'ललित ललाम' के अनेक सुन्दर दोहों का संकलन मिलता है । यह बात पुनः इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि 'मतिराम-सतसई' की रचना 'सतसई' के रूप में स्वयं मतिराम ने नहीं की थी । परवर्ती किसी काव्य-रसिक ने इस 'सतसई' का संग्रह किया होगा । मतिराम ने स्पष्ट और शुद्ध ब्रजभाषा में इन दोहों को लिखा है । बिहारी के समान उनकी भाषा में अप्रचलित एवं विकृत किए हुए शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता । भाषा के समान उनके भाव भी बिहारी के समान प्रयत्न-साध्य न होकर अपने स्वाभाविक रूप में ही अभिव्यक्त हुये हैं । फिर भी उनमें बिहारी की सी गठन नहीं मिलती । मतिराम की शैली कहीं-कहीं उनके भावों की तीव्र गति का अनुगमन न कर पाने के कारण शिथिल हो उठी है । प्रेम की सुकुमार व्यंजना, नखशिख वर्णन, संयोग एवं वियोग का अत्यन्त मार्मिक चित्रण मतिराम-सतसई की विशेषताएँ मानी जा सकती हैं । बिहारी का सा उद्दाम शृङ्गार रस वहाँ नहीं मिलता ।

मतिराम की विशेषता एवं वाग्वैदग्ध्य को स्पष्ट करने के लिये उनका केवल एक दोहा ही यथेष्ठ होगा—

"लिखति अवनि तल चरन सौं, बिहँसति विमल कपोल ।
अधनिकरे मुख-इन्दु तैं, अमृत बिन्दु से बोल ॥"

कहीं-कहीं इन पर बिहारी का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। आँख मिचौनी से सम्बन्धित दोनों कवियों का एक-एक दोहा दृष्टव्य है—

"दृग मिहचत मृगलोचनी, भर्‌यौ उलटि भुज, बाथ।
जानि गई तिय नाथ के, हाथ परस हीँ हाथ॥"

—बिहारी

"खेलत चोर मिहीचिनी परे प्रेम पहचानि।
जानी प्रगटत परस तैं तिय लोचन प्रिय पानि॥"

—मतिराम

इसके उपरान्त 'रसनिधि-सतसई' का उल्लेख आता है। यह सतसई कवि पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' के विशाल ग्रन्थ 'रतन हजारा' का लघु संस्करण मानी जाती है। 'रसनिधि' का प्रमुख विषय भी 'प्रेम' अर्थात् शृङ्गार ही रहा है। इनमें प्रेम की तन्मयता तो मिलती है परन्तु उसके अभिव्यक्तीकरण में इन्होंने संयम से काम नहीं लिया है। इसलिये वह प्रायः अश्लील हो उठा है। भाषा में उर्दू फारसी के शब्दों के अधिक प्रयोग से शैली में शिथिलता आ गई है। कहीं-कहीं पर इन्होंने श्लेष, यमक आदि शब्दालंकारों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। कुछ स्थलों पर इन्होंने बिहारी द्वारा व्यक्त भावों का स्पष्टतः अनुकरण किया है। उदाहरण के लिये बिहारी के "दृग उरझत, टूटत कुटुम" वाले दोहे से रसनिधि का निम्नलिखित दोहा मिलाकर देखिये। रसनिधि ने उसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है—

"उरझत दृग बँधि जात मन, कहौ कौन यह रीति।
प्रेमनगर में आइकैं देखी बड़ी अनीति॥

कालक्रमानुसार 'रसनिधि-सतसई' के उपरान्त रामसहायदास रचित 'राम-सतसई' का नाम आता है। इसका विषय भी शृङ्गार है यद्यपि रामसहाय भक्त माने जाते थे। इसमें शृङ्गार रस के सभी अंगों का सरल एवं प्रसादगुण पूर्ण शैली में वर्णन किया गया है। इसमें 'मतिराम-सतसई' की सी सरसता और स्वाभाविकता मिलती है। इन पर भी बिहारी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सम्भवतः रीतिकालीन सतसइयों में 'विक्रम सतसई' इस परम्परा की अन्तिम कृति मानी जाती है। इसकी रचना चरखारी के राजा महाराजा विक्रमसिंह ने की थी। इन्होंने भी 'बिहारी-सतसई' को आदर्श मानकर उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया है परन्तु अनुकरण भी कलाहीन ही हुआ है। इनका विषय भी शृङ्गार ही रहा है यद्यपि कहीं-कहीं शान्त रस के भी दर्शन हो जाते हैं।

आधुनिक काल में आकर केवल एक सतसई के ही दर्शन होते हैं—वियोगी

... और अलंकृत दोहे किसी ने ...

... इसलिये उनके उदाहरण देना ...
... का चमत्कार स्पष्ट करने ...
... अलङ्कार द्वारा कैसे अद्भुत काव्य ...
... निम्न दोहा द्रष्टव्य है—

... चतुर चित प्रीति ।
... नई यह रीति ॥"

... मूल में ही सम्भव होता है। पर
... तो दो नेत्र हैं और टूटता
... (ईर्ष्या) पड़ती है दुष्टों के हृदय में।

... सतसई रीतिकालीन प्रसिद्ध
... प्रकार 'तुलसी-सतसई' में राम-
... संग्रह कर दिया गया है उसी
... ग्रन्थ 'रसराज' एवं 'ललित
... है। यह बात पुनः इस तथ्य
... रचना 'सतसई' के रूप में
... काव्य-रसिक ने इस 'सतसई' का
... और शुद्ध ब्रजभाषा में इन दोहों को
... एवं विकृत किए हुए
... उनके भाव भी बिहारी के
... ही अभिव्यक्त हुये हैं।
... मतिराम की शैली कहीं-
... के कारण शिथिल हो
... वर्णन, संयोग एवं वियोग का
... मानी जा सकती हैं।
... नहीं मिलता।

... करने के लिये उनका
...

"... बिमल कपोल।
... अमृत बिन्दु से बोल ॥"

कहीं-कहीं इन पर बिहारी का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। आँख मिचौनी से सम्बन्धित दोनों कवियों का एक-एक दोहा द्रष्टव्य है—

"दृग मिहचत मृगलोचनी, भर्‌यौ उलटि भुज, बाथ।
जानि गई तिय नाथ के, हाथ परस हीं हाथ॥"

—बिहारी

"खेलत चोर मिहीचिनी परे प्रेम पहचानि।
जानी प्रगटत परस तैं तिय लोचन प्रिय पानि॥"

—मतिराम

इसके उपरान्त 'रसनिधि-सतसई' का उल्लेख आता है। यह सतसई कवि पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' के विशाल ग्रन्थ 'रतन हजारा' का लघु संस्करण मानी जाती है। 'रसनिधि' का प्रमुख विषय भी 'प्रेम' अर्थात् शृङ्गार ही रहा है। इनमें प्रेम की तन्मयता तो मिलती है परन्तु उसके अभिव्यक्तीकरण में इन्होंने संयम से काम नहीं लिया है। इसलिये वह प्रायः अश्लील हो उठा है। भाषा में उर्दू फारसी के शब्दों के अधिक प्रयोग से शैली में शिथिलता आ गई है। कहीं-कहीं पर इन्होंने श्लेष, यमक आदि शब्दालंकारों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। कुछ स्थलों पर इन्होंने बिहारी द्वारा व्यक्त भावों का स्पष्टतः अनुकरण किया है। उदाहरण के लिये बिहारी के "दृग उरझत, टूटत कुटुम" वाले दोहे से रसनिधि का निम्नलिखित दोहा मिलाकर देखिये। रसनिधि ने उसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है—

"उरझत दृग बँधि जात मन, कहौ कौन यह रीति।
प्रेमनगर में आइकैं देखी बड़ी अनीति॥

कालक्रमानुसार 'रसनिधि-सतसई' के उपरान्त रामसहायदास रचित 'राम-सतसई' का नाम आता है। इसका विषय भी शृङ्गार है यद्यपि रामसहाय भक्त माने जाते थे। इसमें शृङ्गार रस के सभी अंगों का सरल एवं प्रसादगुण पूर्ण शैली में वर्णन किया गया है। इसमें 'मतिराम-सतसई' की सी सरसता और स्वाभाविकता मिलती है। इन पर भी बिहारी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सम्भवतः रीतिकालीन सतसइयों में 'विक्रम सतसई' इस परम्परा की अन्तिम कृति मानी जाती है। इसकी रचना चरखारी के राजा महाराजा विक्रमसिंह ने की थी। इन्होंने भी 'बिहारी-सतसई' को आदर्श मानकर उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया है परन्तु अनुकरण भी कलाहीन ही हुआ है। इनका विषय भी शृङ्गार ही रहा है यद्यपि कहीं-कहीं शान्त रस के भी दर्शन हो जाते हैं।

आधुनिक काल में आकर केवल एक सतसई के ही दर्शन होते हैं—वियोगी

ही उन जैसे अर्थपूर्ण, भावदर्शक, सुगठित और अलंकृत दोहे किसी ने नहीं लिखे ।"

बिहारी के दोहे सभी ने पढ़े होंगे । इसलिये उनके उदाहरण देना व्यर्थ है । केवल एक ही दोहा बिहारी की काव्य शक्ति का चमत्कार स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त होगा । बिहारी 'असंगति' अलङ्कार द्वारा कैसे अद्भुत काव्य सौदर्य की सृष्टि करने में समर्थ हुये हैं इसके लिए निम्न दोहा दृष्टव्य है—

"दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति ।।"

उलझना, टूटना, जुड़ना और गाँठ पड़ना सूत में ही सम्भव होता है । पर प्रेम के क्षेत्र में अनोखी बातें होती हैं । वहाँ उलझते तो दो नेत्र हैं और टूटता कुटुम्ब है । मिलते हैं दो प्रेमी और गाँठ (ईर्ष्या) पड़ती है दुष्टों के हृदय में । यह नई रीति है ।

बिहारी-ततसई के उपरान्त दूसरी उल्लेखनीय सतसई रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि मतिराम की 'मतिराम-सतसई' है । जिस प्रकार 'तुलसी-सतसई' में राम-चरितमानस, दोहावली आदि के अनेक दोहों का संग्रह कर दिया गया है उसी प्रकार 'मतिराम-सतसई' में मतिराम के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसराज' एवं 'ललित ललाम' के अनेक सुन्दर दोहों का संकलन मिलता है । यह बात पुनः इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि 'मतिराम-सतसई' की रचना 'सतसई' के रूप में स्वयं मतिराम ने नहीं की थी । परवर्ती किसी काव्य-रसिक ने इस 'सतसई' का संग्रह किया होगा । मतिराम ने स्पष्ट और शुद्ध ब्रजभाषा में इन दोहों को लिखा है । बिहारी के समान उनकी भाषा में अप्रचलित एवं विकृत किए हुए शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता । भाषा के समान उनके भाव भी बिहारी के समान प्रयत्न-साध्य न होकर अपने स्वाभाविक रूप में ही अभिव्यक्त हुये हैं । फिर भी उनमें बिहारी की सी गठन नहीं मिलती । मतिराम की शैली कहीं-कहीं उनके भावों की तीव्र गति का अनुगमन न कर पाने के कारण शिथिल हो उठी है । प्रेम की सुकुमार व्यंजना, नखशिख वर्णन, संयोग एवं वियोग का अत्यन्त मार्मिक चित्रण मतिराम-सतसई की विशेषताएँ मानी जा सकती हैं । बिहारी का सा उद्दाम श्रृङ्गार रस वहाँ नहीं मिलता ।

मतिराम की विशेषता एवं वाग्वैदग्ध्य को स्पष्ट करने के लिये उनका केवल एक दोहा ही यथेष्ठ होगा—

"लिखति अवनि तल चरन सौं, बिहँसति विमल कपोल ।
अधनिकरे मुख-इन्दु तैं, अमृत बिन्दु से बोल ।।"

कहीं-कहीं इन पर बिहारी का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। आँख मिचौनी से सम्बन्धित दोनों कवियों का एक-एक दोहा दृष्टव्य है—

"दृग मिहचत मृगलोचनी, भर्यौ उलटि भुज, बाथ।
जानि गई तिय नाथ के, हाथ परस हीं हाथ ॥"

—बिहारी

"खेलत चोर मिहीचिनी परे प्रेम पहचानि।
जानी प्रगटत परस तैं तिय लोचन प्रिय पानि ॥"

—मतिराम

इसके उपरान्त 'रसनिधि-सतसई' का उल्लेख आता है। यह सतसई कवि पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' के विशाल ग्रन्थ 'रतन हजारा' का लघु संस्करण मानी जाती है। 'रसनिधि' का प्रमुख विषय भी 'प्रेम' अर्थात् शृङ्गार ही रहा है। इनमें प्रेम की तन्मयता तो मिलती है परन्तु उसके अभिव्यक्तीकरण में इन्होंने संयम से काम नहीं लिया है। इसलिये वह प्रायः अश्लील हो उठा है। भाषा में उर्दू फारसी के शब्दों के अधिक प्रयोग से शैली में शिथिलता आ गई है। कहीं-कहीं पर इन्होंने श्लेष, यमक आदि शब्दालंकारों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। कुछ स्थलों पर इन्होंने बिहारी द्वारा व्यक्त भावों का स्पष्टतः अनुकरण किया है। उदाहरण के लिये बिहारी के "दृग उरझत, टूटत कुटुम" वाले दोहे से रसनिधि का निम्नलिखित दोहा मिलाकर देखिये। रसनिधि ने उसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है—

"उरझत दृग बँधि जात मन, कहौ कौन यह रीति।
प्रेमनगर में आइकैं देखी बड़ी अनीति ॥

कालक्रमानुसार 'रसनिधि-सतसई' के उपरान्त रामसहायदास रचित 'राम-सतसई' का नाम आता है। इसका विषय भी शृङ्गार है यद्यपि रामसहाय भक्त माने जाते थे। इसमें शृङ्गार रस के सभी अंगों का सरल एवं प्रसादगुण पूर्ण शैली में वर्णन किया गया है। इसमें 'मतिराम-सतसई' की सी सरसता और स्वाभाविकता मिलती है। इन पर भी बिहारी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सम्भवतः रीतिकालीन सतसइयों में 'विक्रम सतसई' इस परम्परा की अन्तिम कृति मानी जाती है। इसकी रचना चरखारी के राजा महाराजा विक्रमसिंह ने की थी। इन्होंने भी 'बिहारी-सतसई' को आदर्श मानकर उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया है परन्तु अनुकरण भी कलाहीन ही हुआ है। इनका विषय भी शृङ्गार ही रहा है यद्यपि कहीं-कहीं शान्त रस के भी दर्शन हो जाते हैं।

आधुनिक काल में आकर केवल एक सतसई के ही दर्शन होते हैं—वियोगी

ही उन जैसे अर्थपूर्ण, भावदर्शक, सुगठित और अलंकृत दोहे किसी ने नहीं लिखे ।"

बिहारी के दोहे सभी ने पढ़े होंगे । इसलिये उनके उदाहरण देना व्यर्थ है । केवल एक ही दोहा बिहारी की काव्य शक्ति का चमत्कार स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त होगा । बिहारी 'असंगति' अलङ्कार द्वारा कैसे अद्भुत काव्य सौंदर्य की सृष्टि करने में समर्थ हुये हैं इसके लिए निम्न दोहा दृष्टव्य है—

"दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति ॥"

उलझना, टूटना, जुड़ना और गाँठ पड़ना सूत में ही सम्भव होता है । पर प्रेम के क्षेत्र में अनोखी बातें होती हैं । वहाँ उलझते तो दो नेत्र हैं और टूटता कुटुम्ब है । मिलते हैं दो प्रेमी और गाँठ (ईर्ष्या) पड़ती है दुष्टों के हृदय में । यह नई रीति है ।

बिहारी-ततसई के उपरान्त दूसरी उल्लेखनीय सतसई रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि मतिराम की 'मतिराम-सतसई' है । जिस प्रकार 'तुलसी-सतसई' में राम-चरितमानस, दोहावली आदि के अनेक दोहों का संग्रह कर दिया गया है उसी प्रकार 'मतिराम-सतसई' में मतिराम के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसराज' एवं 'ललित ललाम' के अनेक सुन्दर दोहों का संकलन मिलता है । यह बात पुनः इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि 'मतिराम-सतसई' की रचना 'सतसई' के रूप में स्वयं मतिराम ने नहीं की थी । परवर्ती किसी काव्य-रसिक ने इस 'सतसई' का संग्रह किया होगा । मतिराम ने स्पष्ट और शुद्ध ब्रजभाषा में इन दोहों को लिखा है । बिहारी के समान उनकी भाषा में अप्रचलित एवं विकृत किए हुए शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता । भाषा के समान उनके भाव भी बिहारी के समान प्रयत्न-साध्य न होकर अपने स्वाभाविक रूप में ही अभिव्यक्त हुये हैं । फिर भी उनमें बिहारी की सी गठन नहीं मिलती । मतिराम की शैली कहीं-कहीं उनके भावों की तीव्र गति का अनुगमन न कर पाने के कारण शिथिल हो उठी है । प्रेम की सुकुमार व्यंजना, नखशिख वर्णन, संयोग एवं वियोग का अत्यन्त मार्मिक चित्रण मतिराम-सतसई की विशेषताएँ मानी जा सकती हैं । बिहारी का सा उद्दाम शृङ्गार रस वहाँ नहीं मिलता ।

मतिराम की विशेषता एवं वाग्वैदग्ध्य को स्पष्ट करने के लिये उनका केवल एक दोहा ही यथेष्ठ होगा—

"लिखति अवनि तल चरन सौं, बिहँसति विमल कपोल ।
अधनिकरे मुख-इन्दु तैं, अमृत बिन्दु से बोल ॥"

कहीं-कहीं इन पर बिहारी का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। आँख मिचौनी से सम्बन्धित दोनों कवियों का एक-एक दोहा दृष्टव्य है—

"दृग मिहचत मृगलोचनी, भर्‌यौ उलटि भुज, बाथ।
जानि गई तिय नाथ के, हाथ परस हीँ हाथ॥"

—बिहारी

"खेलत चोर मिहीचिनी परे प्रेम पहचानि।
जानी प्रगटत परस तैं तिय लोचन प्रिय पानि॥"

—मतिराम

इसके उपरान्त 'रसनिधि-सतसई' का उल्लेख आता है। यह सतसई कवि पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' के विशाल ग्रन्थ 'रतन हजारा' का लघु संस्करण मानी जाती है। 'रसनिधि' का प्रमुख विषय भी 'प्रेम' अर्थात् श्रृङ्गार ही रहा है। इनमें प्रेम की तन्मयता तो मिलती है परन्तु उसके अभिव्यक्तीकरण में इन्होंने संयम से काम नहीं लिया है। इसलिये वह प्रायः अश्लील हो उठा है। भाषा में उर्दू फारसी के शब्दों के अधिक प्रयोग से शैली में शिथिलता आ गई है। कहीं-कहीं पर इन्होंने श्लेष, यमक आदि शब्दालंकारों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। कुछ स्थलों पर इन्होंने बिहारी द्वारा व्यक्त भावों का स्पष्टतः अनुकरण किया है। उदाहरण के लिये बिहारी के "दृग उरझत, टूटत कुटुम" वाले दोहे से रसनिधि का निम्नलिखित दोहा मिलाकर देखिये। रसनिधि ने उसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है—

"उरझत दृग बँधि जात मन, कहौ कौन यह रीति।
प्रेमनगर में आइकैं देखी बड़ी अनीति॥

कालक्रमानुसार 'रसनिधि-सतसई' के उपरान्त रामसहायदास रचित 'राम-सतसई' का नाम आता है। इसका विषय भी श्रृङ्गार है यद्यपि रामसहाय भक्त माने जाते थे। इसमें श्रृङ्गार रस के सभी अंगों का सरल एवं प्रसादगुण पूर्ण शैली में वर्णन किया गया है। इसमें 'मतिराम-सतसई' की सी सरसता और स्वाभाविकता मिलती है। इन पर भी बिहारी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सम्भवतः रीतिकालीन सतसइयों में 'विक्रम सतसई' इस परम्परा की अन्तिम कृति मानी जाती है। इसकी रचना चरखारी के राजा महाराजा विक्रमसिंह ने की थी। इन्होंने भी 'बिहारी-सतसई' को आदर्श मानकर उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया है परन्तु अनुकरण भी कलाहीन ही हुआ है। इनका विषय भी श्रृङ्गार ही रहा है यद्यपि कहीं-कहीं शान्त रस के भी दर्शन हो जाते हैं।

आधुनिक काल में आकर केवल एक सतसई के ही दर्शन होते हैं—वियोगी

हरि की 'वीर-सतसई'। और यह 'वीर-सतसई' हिन्दी साहित्य की 'सतसई-परम्परा' की अन्तिम कड़ी है और आधुनिक काल की एक मात्र सतसई भी। इसका एकमात्र एवं प्रधान विषय वीररस है। वीररस प्रधान सतसई भी संपूर्ण हिन्दी-साहित्य में केवल इसी को माना जा सकता है। इस सतसई की कई निराली विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि इसमें वीरता की भावना का आदि कालीन अथवा रीतिकालीन रूप न रहकर उसे अत्यधिक विस्तार दे दिया गया है। जिसका परिणाम यह निकला है कि वीरों की कई ऐसी नई श्रेणियाँ उठ खड़ी हुई हैं जिन्हें इससे पूर्व वीर नहीं स्वीकार किया जाता था।

'वीर' रस का स्थायी भाव 'उत्साह' माना गया है इस लक्षण के आधार पर वियोगी हरि द्वारा आविष्कृत दयावीर, कर्मवीर, दानवीर आदि को तो 'वीर' स्वीकार करने में स्पष्ट संकोच नहीं होता क्योंकि इनमें उत्साह का प्राधन्य रहता है परन्तु 'विरह वीर' को वीर स्वीकार कर लिया जाय, इसमें कोई तुक नहीं दिखाई देती। वियोगी हरि स्वयं इस विषय में आशंकित हैं कि उनके इस नवीन आविष्कार को साहित्यिकों के समाज द्वारा स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसलिये उन्होंने 'विरह वीर' के विषय में निम्नलिखित स्पष्टीकरण दिया है—

"सामान्य साहित्यिकों ने इस नाम का वीर विभागों में कोई विभाग नहीं किया है। पर वीररस का स्थायी भाव 'उत्साह' विशुद्ध विरह में अच्छी मात्रा में पाया जाता है। इसी से हमने अद्वितीय विरहिणी व्रजांगनाओं को 'विरह वीर' नाम के नये 'वीर-विभाग' में स्थान देने की धृष्टता की है।" हमारे विद्यालयों में इफरात से पाये जाने वाले विरह-वीरों की टोलियाँ इस नवीन स्थापना के लिये वियोगी हरि की जन्म-जन्मान्तर तक कृतज्ञ रहेंगी क्योंकि ऐसा करके उन्होंने इन 'विरह वीरों' को समाज की भर्त्सना एवं लांच्छना से बचा लिया है। इन विरह वीरों ने रतनसेन के समान चित्तौड़ का त्याग न कर अपनी पाठ्य पुस्तकों का त्याग कर डाला है और इनकी सहयोगिनी वीरांगनाओं ने अपने विरह-वीरों से किसी भी बात में पीछे न रहने की कसम खाकर फैशन रूपी विरह में अपने को आकण्ठ निमग्न कर दिया है।

ऐसी इस 'वीर-सतसई' में पूरे सात सौ दोहे हैं—न एक कम और न एक अधिक। इनका विभाजन सौ-सौ दोहों में कर सात शतकों में पूरी पुस्तक को बाँट दिया है। इस विभाजन में विषयानुसार क्रम का कहीं पता भी नहीं चलता। मंगलाचरण में भी भगवान के वीर रूप की ही बन्दना है और फिर वीररस को रसराज घोषित कर उसके प्रति अपनी अनन्य आस्था का परिचय दिया है।

"छाँड़ि वीररस अब हमें नहिं भावत रस आन।
सूझत सावन आँधरहि हरो हरो हि जहान।।"

ऐसी ही अनेक विचित्रताएँ इस ग्रन्थ में पाठकों को मिलेंगी। शृङ्गार और वीर रस का शाश्वत सम्बन्ध माना गया है। परन्तु वियोगी हरि की दृष्टि में वीरता और शृङ्गार का कोई सम्वन्ध ही नहीं हो सकता।

"जँह नृतति नित चंडिका तांडव-नृत्य प्रचण्ड।
कुसुम तीर तँह काम के होत आप सतखण्ड।।"

स्थानाभाव के कारण हम यहाँ 'वीर सतसई' का विस्तृत विवेचन करने में अक्षम हैं। उसका रसास्वादन तो स्वयं ही पढ़कर किया जा सकता है। इतने चमत्कारों का संग्रह होते हुये भी इसे आधुनिक व्रजभाषा काव्य की एक अमूल्य निधि मानकर १२००)के मंगलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित किया गया था। वैसे समष्टि रूप से हम इसे सुन्दर साहित्यिक कृति मानने को वाध्य हैं। भाषा सरल, शैली दुरूहता से मुक्त एवं विषय रोचक हैं।

प्रो० देवेन्द्र शर्मा ने 'सतसई-साहित्य' का विवेचन करते हुये इस परम्परा की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं।

१—सभी हिंदी की सतसइयों की भाषा व्रज है।

२—सभी रचनाएँ प्रायः दोहा छन्द में लिखी गई हैं।

३—सभी में शृङ्गार की प्रधानता है। (वीर सतसई एवं सूक्ति सतसइयों को छोड़कर)।

४—शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों का गौण रूप में प्रयोग किया गया है।

५—प्रकृति का अधिकांशतः उद्दीपन पक्ष ही प्रस्तुत किया गया है।

६—अनुभावों की व्यंजना विशेषतः दर्शनीय है।

७—परकीया एवं स्वकीया, दोनों ही प्रकार की नायिकाएँ इन ग्रन्थों में वर्णित की गई हैं।

८—नखशिख वर्णन एवम् रूप का प्रभावात्मक वर्णन सभी में एक जैसा ही—परम्पराभुक्त रूप में किया गया है।

९—राधा एवम् कृष्ण ही नायिका तथा नायक बनाये गये हैं।

१०—ये समस्त सतसइयाँ स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में हैं। लक्षण अथवा लक्ष्य ग्रन्थों के रूप में कवियों ने इनकी रचना नहीं की है।

४५—एकांकी नाटक : स्वरूप और विकास

हम हिंदी नाटक का विवेचन करते समय नाटक-साहित्य के स्वरूप एवं विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। एकांकी नाटक का ही एक स्वरूप माना जाता है। उसमें नाटक के सम्पूर्ण तत्व तो होते ही हैं साथ ही उसके रचना-विधान तथा अन्य तत्वों में कुछ ऐसी विशेषतायें होती हैं जिनके कारण साहित्य शास्त्रियों ने एकांकी को साहित्य की एक सर्वथा स्वतन्त्र विधा मान लिया है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि उपन्यास और कहानी को उनकी अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण स्वतन्त्र विधाओं के रूप में स्वीकार किया है।

साधारणत: एकांकी नाटक के उस स्वरूप को कहते हैं जिसमें केवल एक ही अङ्क में सम्पूर्ण नाटक समाप्त हो जाता है। यूरोपिय विद्वानों ने नाटक के छः तत्व माने हैं— १—कथावस्तु, २—पात्र, ३—कथोपकथन, ४—देशकाल, ५—उद्देश्य और ६—शैली। एकाँकी के लिए भी इन तत्वों की अनिवार्यता अपेक्षित है। प्रो० रामगोपालसिंह चौहान के शब्दों में—

"... एकांकी एक अङ्क का ही नाटक होता है, जिसमें एकांकीकार एक ही घटना को नाटकीय लाघव से, उसमें औत्सुक्य सम्भ्रम (Suspense) और विस्मय (Surprise) का सृजन कर उसे चरम सीमा तक विकसित करता है और नाटकीय विस्मय (Dramatic Surprise) के साथ उसका इस रूप में अन्त करता है कि एकांकी की समस्त घटनायें और कथा तथा उसके पात्र, दर्शक या पाठक के मन प्राण और भावना के संगी बन कर सांकेतिक रूप से उसके मनोभावों (Instinct) का विषय बन जाते हैं और उसमें विचारों और भावों की अदम्य उत्तेजना उत्पन्न कर देते हैं, तथा दर्शक या पाठक की मानसिक स्नायुओं में गुदगुदी उत्पन्न कर, उसका मनोरंजन करते हैं या उसे झकझोर कर उसके मर्म को स्पर्श कर उसमें कुछ करने का दृढ़ संकल्प उत्पन्न करते हैं।"[१]

प्रो० चौहान द्वारा की गई एकांकी की उपर्युक्त विस्तृत परिभाषा को पूरी तरह से समझने के लिए हमें नाटक और एकांकी का भेद समझ लेना आवश्यक है क्योंकि प्रो० चौहान ने एकांकी की जो विशेषतायें बताई हैं वे नाटक में भी अनिवार्य मानी जाती हैं।

---

१ **हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा— प्रो० रामगोपालसिंह चौहान।**

हम ऊपर कह आये हैं कि एकांकी दृश्य काव्य का एक अंग होते हुए भी साहित्य की एक सर्वथा स्वतन्त्र विधा माना जाता है। इसका कारण यह है कि नाटक तथा एकाङ्की में तत्वों की समानता रहते हुए भी कुछ ऐसे मौलिक भेद होते हैं जिनके कारण एकाङ्की को एक स्वतन्त्र विधा माना गया है। एकाङ्की और अनेकाङ्की नाटकों के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए सुप्रसिद्ध एकाङ्कीकार डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—

"एकाङ्की नाटकों में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का संयम करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कला की भांति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता की भाँति फैलने की विश्रृङ्खलता नहीं होती।"[1]

हिंदी-एकाङ्की साहित्य पर शोध-कार्य करने वाले मर्मज्ञ विद्वान डाक्टर रामचरण महेन्द्र इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"एकाङ्की का नाटक से वही सम्बन्ध है, जो कहानी का उपन्यास से अथवा खंडकाव्य का महाकाव्य से। नाटक में जीवन का विस्तार, लम्बाई और परिधि का विस्तार है, क्षेत्र जीवन की भाँति सुविस्तृत है। एकाङ्की का क्षेत्र सीमित है, परिधि संकुचित है और जीवन का एक पहलू ही चित्रित करने का अल्प काल है।......एकाङ्की थोड़े से समय में मानव-जीवन की एक झाँकी मात्र दे देता है। वह किसी विशेष पहलू पर प्रकाश डालता है। नाटक में जीवन की बहुज्ञता, अनेक रूपता और घटना-बाहुल्य है, एकाङ्की में एक-रूपता, एक समस्या, एक पहलू या जीवन का एक उद्दीप्त क्षण है। एकाङ्की में मितव्ययता और संक्षिप्तता का महत्व है। एकाङ्की के कथानक सरल होते हैं।......नाटक में कथानक जटिल होता है। और छोटी सहायक घटनाओं को स्थान प्राप्त हो जाता है। एकाङ्की प्रायः संघर्ष स्थल से प्रारम्भ होता है और शीघ्र ही गति पकड़कर चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। नाटक की गति धीमी होती है, एकाङ्की में वेग सम्पन्न प्रवाह का महत्व है।...... एकाङ्की में संकलन त्रय का होना महत्वपूर्ण है। यही उसे जीवन का यथार्थ वादी चित्र बनाता है।......बड़े नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नहीं है।"[2]

डा० गणपतिचंद्र गुप्त का मत भी उपर्युक्त मत के अनुरूप ही है। आपका

१—'पृथ्वीराज की आंखें'—डा० रामकुमार वर्मा।

२—हिन्दी-एकांकी : उद्भव और विकास—डा० रामचरण महेन्द्र

कथन है कि—"एकाङ्की में एक अङ्क, एक घटना, एक कार्य और एक समस्या होती है जबकि नाटक में कई अङ्कों, घटनाओं, कार्यों और समस्याओं का आयोजन हो सकता है। अतः स्थूल दृष्टि से एकाङ्की नाटक से बहुत लघु और सीमित होता है किन्तु फिर भी किसी छोटे नाटक को एकाङ्की या बड़े एकाङ्की को छोटा नाटक नहीं कह सकते। नाटक से निकालकर अलग किए गए एक अङ्क को भी एकाङ्की नहीं कहा जा सकता। एकाङ्की अपने आप में पूर्ण होता है तथा उसकी सत्ता, उसका व्यक्तित्व एवं उसकी चाल-ढाल नाटक से बहुत कुछ भिन्न होती है। एकाङ्कीकार अपने लक्ष्य की ओर सीधा दौड़ता है जबकि नाटककार धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। एकाङ्की की शैली में संक्षिप्तता एवं गतिशीलता होती है।"[१]

कथा-वस्तु, कथोपकथन, रंगमंच, पात्रों की संख्या आदि की दृष्टि से भी एकाङ्की एवं नाटक में पर्याप्त अन्तर होता है। डा० रामचरण महेन्द्र के शब्दों में—"एकाङ्की का प्राण कथोपकथन है। नाटक में घटनाओं की व्यँजना, विस्तृत चरित्र-चित्रण, विस्तृत कार्य-व्यापार, अधिक समय और लम्बे चौड़े स्टेज की आवश्यकता है, किन्तु एकाङ्की में मितव्यय द्वारा ये कार्य करने पड़ते हैं। नाटक में कथोपकथन लम्बे, विवेचन प्रधान और स्वगत से परिपूर्ण हो सकते हैं किन्तु एकाङ्की का कथोपकथन संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी तथा चरित्र की विशेषताएं प्रकट करने वाला होता है। इन्हीं की सहायता से कथानक का विकास तथा परिस्थिति और वातावरण का निर्माण होता है। एकाङ्की में स्वगत का स्थान नगण्य है। बड़े नाटकों में पात्रों की संख्या यथेष्ट रहती है। मुख्य पात्रों के साथ गौण पात्र भी अपना महत्व रखते हैं। एकाङ्की में पात्रों की संख्या कम से कम रखी जाती है। बड़े नाटक और एकाङ्कियों का शिल्प भिन्न है।"[२]

एकाङ्की और नाटक के उपर्युक्त मौलिक भेदों को हम प्रो० रामगोपाल सिंह चौहान के शब्दों में इस प्रकार रख सकते हैं—

१—एकाङ्की में एक अंक होता है, अनेकाङ्की में अनेक अंक होते हैं।

२—एकाङ्की में केवल एक ही कथा या घटना का चित्रण होता है। अनेकाङ्की में एक आधिकारिक कथा तथा एक या अनेक प्रासंगिक कथाएं भी होती हैं।

३—एकाङ्की में पात्रों के क्रियाकलापों को इस रूप में संगठित किया जाता है कि एक सीमित क्षेत्र में ही पात्रों के चारित्रिक तथा मानसिक घात-प्रतिघात

१—साहित्यिक-निबन्ध—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त।

२—हिन्दी-एकांकी : उद्भव और विकास—डा० रामचरण महेन्द्र।

तथा कथा प्रसंग तथा चीजों की मूल चारित्रिक विशेषताओं द्वारा कथा का मर्म स्पष्ट हो जाय।

४—एकांकी में अनेकाङ्की की भाँति धीरे-धीरे कथा के आरम्भ, प्रयत्न प्राप्त्याशा आदि से विकास की गुंजायश नहीं होती। एकांकी में तो कथा आरम्भ से ही एक आवेग के साथ आरम्भ होती है और जिज्ञासा तथा विस्मय की आरोह अवरोह पूर्ण गति के साथ चरम सीमा की ओर विकास करती है और चरम सीमा पर पहुँच कर जिज्ञासा और विस्मय पूँजीभूत होता है और कथा का आकस्मिक पटाक्षेप हो जाता है।...एकांकी की कथा चरम सीमा पर पहुँच कर फिर आगे नहीं बढ़ती। एकांकी की कथा में एक घनत्व होता है और अनेकांकी की कथा में फैलाव।

५—एकांकी कम से कम दस मिनट और अधिक-से-अधिक एक घण्टे का हो सकता है। अनेकांकी कथा कई घंटों में समाप्त होती है। इसलिए अनेकांकी की अपेक्षा एकांकी में कथा के गठन में क्षिप्रता, घटनाओं के क्रम में वेग, सम्वादों में अधिक चुस्ती और सांकेतिकता होती है। एकांकी के सम्वादों से एक साथ चरित्र तथा कथा का विकास और पात्रों तथा कथा से सम्बन्धित घटनाओं का संकेत और उद्‌घाटन भी होता चलता है।

६—एकांकी की अपेक्षा अनेकांकी में चरित्र में अधिक उतार-चढ़ाव का अवसर रहता है। एकांकी में उसका अवसर नहीं होता। एकांकी में भी पात्रों के चरित्र का चढ़ाव-उतार तथा द्वन्द्व तो होता है, पर ऐसा, जो पात्र के सम्पूर्ण जीवन को अपने परिवेश में नहीं घेरता। एकांकी में चित्रित चरित्र के आधार पर हम बहुधा किसी पात्र के सम्पूर्ण जीवन की चारित्रिक विशेषता का अनुमान नहीं लगा सकते।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अनेकांकी तथा एकाँकी नाटक साहित्य की दो सर्वथा स्वतन्त्र विधायें हैं। अतः हम एकांकी को न तो अनेकांकी नाटक का लघु-संस्करण ही कह सकते हैं तथा न लघु-नाटक ही। इधर कुछ ऐसे नाटकों की रचना हुई है जिनमें एकांकी के समान एक ही अङ्क होता है परन्तु फिर भी विद्वान उन्हें एकांकी न कह कर **'लघु-नाटक'** कहते हैं। इन 'लघु' नाटकों में जीवन की किसी केन्द्रीय घटना या समस्या द्वारा पात्रों के सम्पूर्ण जीवन का उद्‌घाटन हो जाता है और कथा एक ही अङ्क में समाप्त हो जाती है। जैसे, 'अश्क' के 'कैद', 'उड़ान' आदि नाटक। कथा-संगठन की दृष्टि से इन एक-अंकीय लघु-नाटकों तथा एकांकी में कोई विशेष भेद नहीं होता। इन

१—हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा—प्रो० रामगोपालसिंह चौहान।

दोनों में भिन्नता इतनी ही है किएकाँकी में जीवन का खण्ड-चित्रण होता है और लघु-नाटक में सम्पूर्ण जीवन का। विषय की सीमा का यह संकोच और फैलाव दोनों का प्रधान भेद है।

कहानी तथा एकांकी में बहुत कुछ साम्य होता है। इनका मुख्य भेद यही है कि कहानी पाठ्य होती है जबकि एकांकी पाठ्य एवं अभिनेय दोनों ही होता है। साधारणतः एकांकी अभिनेय ही होते हैं परन्तु कुछ साहित्यिक एकांकी ऐसे भी होते हैं जिनको रंगमंच पर नहीं खेला जा सकता। वे केवल कहानी के समान पाठ्य ही होते हैं। एकांकी और कहानी के ढाँचे और कथा-संगठन में भी अन्तर होता है। एकांकी में अभिनयात्मक प्रभावों का प्राधान्य रहने के कारण ही यह अन्तर आ जाता है। वैसे किसी कहानी को सरलता पूर्वक एकांकी के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। इसके लिए उसमें केवल कथा को दृश्यों और संवादों में नियोजित कर दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा अनेकाङ्की नाटक, कहानी, लघु-नाटक तथा एकाँकी का भेद स्पष्ट हो जाता है। और इस विवेचन द्वारा एकांकी की विशेषताओं का भी बहुत कुछ उद्घाटन हो जाता है। डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी-साहित्य में एक प्रकार से हिन्दी एकांकी के प्रतिनिधि कलाकर माने जाते हैं। उन्होंने अपने विभिन्न एकांकी-संग्रहों की भूमिकाओं में एकांकी की विशेषताओं पर बार-बार प्रकाश डाला है। डा० रामचरण महेन्द्र ने उन सारी भूमिकाओं का गम्भीर अध्ययन कर एकांकी की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रस्थापित की हैं—

१—एकांकी में आधार रूप से एक ही मुख्य घटना या जीवन की एक प्रमुख संवेदना होनी चाहिए जिसका विकास कौतूहल और जिज्ञासापूर्ण नाटकीय शैली में होना चाहिए। चरम सीमा पर पहुँच कर एकांकी का अन्त होना चाहिए।

२—एकांकी में अभिव्यंजित घटनाओं का चुनाव दैनिक जीवन से हो तथा उसमें यथार्थवाद एवं मनोरँजन के तत्वों का उचित समावेश होना चाहिए।

३—दो विरोधी पात्रों के वर्गों या मनुष्यों के दो प्रकार के भावों में संघर्ष होने से नाटक का ताना-बाना बनता है। संघर्ष (conflict) एकांकी का प्राण है। इसकी अभिव्यँजना का आधार मनोविज्ञान होना चाहिए।

४—एकांकी के कथानक में कौतूहल (Suspense) तथा जिज्ञासा (curiosity), क्षिप्रगति और चरम सीमा (climax) में परिणति होनी हिए

५—यथार्थवाद की रक्षा के लिए सहज स्वाभाविक चित्रण रहे, किन्तु आदर्शवाद की ओर संकेत हो सकता है।

६—कलापक्ष में एकांकी की स्वाभाविकता और जीवन से निकटता बनाये रखने के लिए संकलन-त्रय (three unities) का कठोरता से पालन होना चाहिए। आकार छोटा रहे और अवधि कम लगे। उसमें पात्रों के चरित्र अथवा घटना को संक्षेप में प्रकट कर देने की क्षमता होनी चाहिए।[१]

उपर्युक्त विशेषताओं में डाक्टर रामकुमार वर्मा ने प्रभाव-साम्य, संकलन-त्रय तथा चरमोत्कर्ष पर विशेष बल दिया है। परन्तु डा० नगेन्द्र का मत कई विशेषताओं के सम्बन्ध में डा० वर्मा के मत का विरोधी है।। डा० नगेन्द्र चरमोत्कर्ष का विशेष महत्व नहीं मानते। उनके मतानुसार चरमोत्कर्ष के अभाव में भी सफल एकांकी की रचना हो सकती है, जैसे सेठ गोविन्ददास का 'स्पर्धा' नामक एकांकी। संकलन-त्रय का पालन भी वे साधारण रूप में ही मानते हैं—कठोरता के साथ नहीं। वे स्थान और काल की अनिवार्यता को नहीं मानते। इन विरोधों के अतिरिक्त वे एकांकी की वही विशेषतायें स्वीकार करते हैं जो डा० वर्मा ने स्वीकार की हैं जैसे—एक अंक, कहानी जैसा विस्तार जीवन का खंड चित्र, एक महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति, एकता, एकाग्रता और आकस्मिकता की अनिवार्यता, प्रभाव और वस्तु का एक्य आदि।

इसके विपरीत डा० एस० पी० खत्री डा० वर्मा के समान ही संकलन त्रय का कठोरता के साथ पालन और एक ही भावना या प्रभाव के चित्रण पर विशेष बल देते हुए लिखते हैं—

"यदि किसी एकांकी में अनेक स्थलों, अनेक भावों, अनेक चित्तवृत्तियों का सम्मिश्रण है, तो वह एकांकी कला के प्रमुख तत्वों की रक्षा नहीं करता और उसमें एकांकी-लेखन कला पूर्णरूप से प्रस्फुटित नहीं हो पायेगी। एकांकी की महत्ता इसी में है कि वह केवल एक ही भावना अथवा चित्त-वृत्ति का उत्तेजनापूर्ण, विस्मयपूर्ण तथा रोचक प्रदर्शन करे। यदि वह इस आदर्श से गिरता है, तो वह किसी भी दृष्टि से सफल नहीं हो सकता।"[२]

डा० सत्येन्द्र संकलन-त्रय को तो अनिवार्य मानते हैं परन्तु चरमोत्कर्ष को अधिक महत्व नहीं देते। 'अश्क' संकलन-त्रय पर विशेष बल देते हैं। 'अश्क' एकाङ्की में तीन बातों की अनिवार्यता मानते हैं—१—आकार तथा समय की लघुता, २—अभिनय शीलता और ३—रंग-संकेतों की स्पष्टता।

१—हिन्दी-एकांकी : उद्भव और विकास —डाक्टर रामचरण महेन्द्र।
२—नाटक की परख—डा० एस० पी० खत्री।

दोनों में भिन्नता इतनी ही है कि एकाँकी में जीवन का खण्ड-चित्रण होता है और लघु-नाटक में सम्पूर्ण जीवन का। विषय की सीमा का यह संकोच और फैलाव दोनों का प्रधान भेद है।

कहानी तथा एकांकी में बहुत कुछ साम्य होता है। इनका मुख्य भेद यही है कि कहानी पाठ्य होती है जबकि एकांकी पाठ्य एवं अभिनेय दोनों ही होता है। साधारणतः एकांकी अभिनेय ही होते हैं परन्तु कुछ साहित्यिक एकांकी ऐसे भी होते हैं जिनको रंगमंच पर नहीं खेला जा सकता। वे केवल कहानी के समान पाठ्य ही होते हैं। एकांकी और कहानी के ढाँचे और कथा-संगठन में भी अन्तर होता है। एकांकी में अभिनयात्मक प्रभावों का प्राधान्य रहने के कारण ही यह अन्तर आ जाता है। वैसे किसी कहानी को सरलता पूर्वक एकांकी के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। इसके लिए उसमें केवल कथा को दृश्यों और संवादों में नियोजित कर दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा अनेकाङ्की नाटक, कहानी, लघु-नाटक तथा एकाँकी का भेद स्पष्ट हो जाता है। और इस विवेचन द्वारा एकांकी की विशेषताओं का भी बहुत कुछ उद्घाटन हो जाता है। डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी-साहित्य में एक प्रकार से हिन्दी एकांकी के प्रतिनिधि कलाकर माने जाते हैं। उन्होंने अपने विभिन्न एकांकी-संग्रहों की भूमिकाओं में एकांकी की विशेषताओं पर बार-बार प्रकाश डाला है। डा० रामचरण महेन्द्र ने उन सारी भूमिकाओं का गम्भीर अध्ययन कर एकांकी की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रस्थापित की हैं—

१—एकांकी में आधार रूप से एक ही मुख्य घटना या जीवन की एक प्रमुख संवेदना होनी चाहिए जिसका विकास कौतूहल और जिज्ञासापूर्ण नाटकीय शैली में होना चाहिए। चरम सीमा पर पहुँच कर एकांकी का अन्त होना चाहिए।

२—एकांकी में अभिव्यंजित घटनाओं का चुनाव दैनिक जीवन से हो तथा उसमें यथार्थवाद एवं मनोरँजन के तत्वों का उचित समावेश होना चाहिए।

३—दो विरोधी पात्रों के वर्गों या मनुष्यों के दो प्रकार के भावों में संघर्ष होने से नाटक का ताना-बाना बनता है। संघर्ष (conflict) एकांकी का प्राण है। इसकी अभिव्यँजना का आधार मनोविज्ञान होना चाहिए।

४—एकांकी के कथानक में कौतूहल (Suspense) तथा जिज्ञासा (curiosity), क्षिप्रगति और चरम सीमा (climax) में परिणति होनी हिए

५—यथार्थवाद की रक्षा के लिए सहज स्वाभाविक चित्रण रहे, किन्तु आदर्शवाद की ओर संकेत हो सकता है।

६—कलापक्ष में एकांकी की स्वाभाविकता और जीवन से निकटता बनाये रखने के लिए संकलन-त्रय (three unities) का कठोरता से पालन होना चाहिए। आकार छोटा रहे और अवधि कम लगे। उसमें पात्रों के चरित्र अथवा घटना को संक्षेप में प्रकट कर देने की क्षमता होनी चाहिए।[1]

उपर्युक्त विशेषताओं में डाक्टर रामकुमार वर्मा ने प्रभाव-साम्य, संकलन-त्रय तथा चरमोत्कर्ष पर विशेष बल दिया है। परन्तु डा० नगेन्द्र का मत कई विशेषताओं के सम्बन्ध में डा० वर्मा के मत का विरोधी है।। डा० नगेन्द्र चरमोत्कर्ष का विशेष महत्व नहीं मानते। उनके मतानुसार चरमोत्कर्ष के अभाव में भी सफल एकांकी की रचना हो सकती है, जैसे सेठ गोविन्ददास का 'स्पर्धा' नामक एकांकी। संकलन-त्रय का पालन भी वे साधारण रूप में ही मानते हैं—कठोरता के साथ नहीं। वे स्थान और काल की अनिवार्यता को नहीं मानते। इन विरोधों के अतिरिक्त वे एकांकी की वही विशेषतायें स्वीकार करते हैं जो डा० वर्मा ने स्वीकार की हैं जैसे—एक अंक, कहानी जैसा विस्तार जीवन का खंड चित्र, एक महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति, एकता, एकाग्रता और आकस्मिकता की अनिवार्यता, प्रभाव और वस्तु का एक्य आदि।

इसके विपरीत डा० एस० पी० खत्री डा० वर्मा के समान ही संकलन त्रय का कठोरता के साथ पालन और एक ही भावना या प्रभाव के चित्रण पर विशेष बल देते हुए लिखते हैं—

"यदि किसी एकांकी में अनेक स्थलों, अनेक भावों, अनेक चित्तवृत्तियों का सम्मिश्रण है, तो वह एकांकी कला के प्रमुख तत्वों की रक्षा नहीं करता और उसमें एकांकी-लेखन कला पूर्णरूप से प्रस्फुटित नहीं हो पायेगी। एकांकी की महत्ता इसी में है कि वह केवल एक ही भावना अथवा चित्त-वृत्ति का उत्तेजनापूर्ण, विस्मयपूर्ण तथा रोचक प्रदर्शन करे। यदि वह इस आदर्श से गिरता है, तो वह किसी भी दृष्टि से सफल नहीं हो सकता।"[2]

डा० सत्येन्द्र संकलन-त्रय को तो अनिवार्य मानते हैं परन्तु चरमोत्कर्ष को अधिक महत्व नहीं देते। 'अश्क' संकलन-त्रय पर विशेष बल देते हैं। 'अश्क' एकाङ्की में तीन बातों की अनिवार्यता मानते हैं—१—आकार तथा समय की लघुता, २—अभिनय शीलता और ३—रंग-संकेतों की स्पष्टता।

१—हिन्दी-एकांकी : उद्‌भव और विकास —डाक्टर रामचरण महेन्द्र ।
२—नाटक की परख—डा० एस० पी० खत्री ।

उपर्युक्त विवेचनों को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न विद्वानों ने एकाङ्की की अनेक सीमाएँ निश्चित की है जिनमें परस्पर भेद भी हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इन सीमाओं को अन्तिम अथवा अनिवार्य माना जा सकता है या नहीं ? क्योंकि इन सीमाओं का निर्वाह होते हुए भी अनेक एकाङ्की असफल प्रमाणित हुए हैं तथा अनेक ऐसे एकाङ्की भी लिखे गए हैं जिनमें इन सीमाओं का पालन नहीं किया गया है मगर फिर भी वे सफल हुए हैं। अतः अभिनेयता को ही एकांकी की सफलता की कसौटी मानना चाहिए।

अभी हिन्दी-एकाङ्की तथा रंगमंच निर्माण एवं विकास की स्थिति में है। इन दोनों ही क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं जिनमें उपर्युक्त सीमाओं अथवा विशेषताओं का स्पष्ट उल्लंघन हो रहा है। ऐसी स्थिति में अभी हम इस स्थिति में नहीं हैं कि एकाङ्कियों की कोई निश्चित सीमाएँ अथवा रूपरेखा निश्चित कर सकें। वर्तमान सतत विकासमान शिल्प विधान आदि को देखते हुए हम यह शर्त नहीं लगा सकते कि एकांकी में एक ही घटना हो; एक सुनिश्चित आरम्भ से अन्त तक सुसम्बद्ध कथा हो, और न यही कह सकते हैं कि उसमें संकलन-त्रय अनिवार्य हो। क्योंकि इधर हिन्दी में कुछ ऐसे एकांकी भी लिखे गए हैं जिनमें दो प्रमुख घटनाओं का चित्रण हुआ है और इन दोनों को एक दूसरे से सम्बद्ध करने के लिए सूत्रधार का उपयोग किया गया है। जैसे कि पहाड़ी का 'युग युग द्वारा शक्ति की पूजा' नामक एकाङ्की में किया गया है। कुछ ऐसे एकाङ्की भी सामने आए हैं जिनमें कोई एक सुनिश्चित कथा नहीं होती—केवल एक विचार को ही लेकर उसे पात्रों और संवादों द्वारा ग्रथित कर दिया जाता है। जैसे उदयशंकर भट्ट का 'आदिम युग' विष्णु प्रभाकर का 'दृष्टि की खोज', धर्मवीर भारती का 'नीली झील' आदि एकाङ्की। और आज ऐसे एकाङ्की तो काफी लिखे जा रहे हैं जिनमें संकलन-त्रय का निर्वाह नहीं हुआ है। संकलनत्रय से तात्पर्य है समय, स्थान और कार्य की एकता। अतः आज की स्थिति में संकलन त्रय की परिभाषा को बदलकर उसमें समय, कार्य और स्थान की एकता के स्थान पर भाव, उद्देश्य और कार्य की एकता को ही मानना अधिक संगत एवं वैज्ञानिक प्रतीत होता है।[1]

भाव, उद्देश्य और कार्य के इस संकलन-त्रय को अधिक स्पष्ट रूप से हमें पहले समझ लेना चाहिए। **भाव-एकता** से अभिप्राय उस केन्द्रीय भाव से है

---

१. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा –प्रो० रामगोपाल सिंह चौहान

जिसके चारों ओर घूमती हुई कथा क्रमशः चरम सीमा की ओर अग्रसर होती है। भाव की परिधि में विचार, समस्यायें, संघर्ष आदि सभी का समावेश हो जाता है। यह भाव एकता पहाड़ी के 'युग युग द्वारा शक्ति की पूजा' जैसे एकांकियों में भी सुरक्षित रहती है जिसमें युग-युग की कथा को एक ही भाव सूत्र में ग्रथित कर उपस्थित किया जाता है। **उद्देश्य एकता** से अभिप्राय उस उद्देश्य से है जिसे एकांकीकार अपनी कथा द्वारा व्यंजित करना चाहता है। और उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह पात्रों के चरित्र, उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं सभी प्रकार की परिस्थितियों के संघर्ष को एक क्रमबद्ध एकता प्रदान करता है। उद्देश्य ही सारी कथा को क्रमबद्ध करने का आधार बन जाता। "लेखक किसी एक सामान्य उद्देश्य की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न युगों से ऐसी ही कथायें चुनता है जो आपस में भाव-साम्य रखते हुए कथा में भाव एकता उपस्थित करने के साथ उद्देश्य भी उत्पन्न कर सकें।"

कार्य-एकता से अभिप्राय पात्रों के उन कार्य-कलापों से होता है जिनके द्वारा लेखक अपने भाव एवं उद्देश्य की व्यंजना करना चाहता है।

उपर्युक्त भाव, उद्देश्य और कार्य की एकता द्वारा ही एकांकी में प्रभाव एकता सम्भव हो सकती है। यह समय, स्थान तथा कार्य के प्राचीन संकलन-त्रय से बहुत अधिक महत्वपूर्ण तथा एकांकी नाटकों का प्राण-तत्व माना जा सकता है। इसकी परिधि में एकांकी की सम्पूर्ण विशेषताएँ एवं तत्व सिमट आते हैं।

विभिन्न विद्वानों ने एकांकी की विवेचना कर उसके अनेक तत्व निर्धारित किए हैं जिनमें नाटक के सम्पूर्ण तत्व तो समाहित हो ही जाते हैं, साथ ही कुछ अन्य ऐसे तत्वों की गणना भी की गई है जो एकांकी की रचना के लिए अयधिक आवश्यक समझे जाते हैं। परन्तु इन तत्वों का विवेचन करने से पूर्व हमें एकांकी के मूल-विचार, प्रभाव, समस्या या सन्देश पर विचार कर लेना चाहिए क्योंकि शेष सम्पूर्ण तत्व मूलतः इसी पर आधारित रहते हैं।

एकांकी जीवन या समाज के एक खंड का प्रभोवशाली चित्र लेता है। इसका निर्माण एक सुनिश्चित लक्ष्य, विचार या समस्या का विवेचन करने के निमित्त एक ही महत्वपूर्ण घटना या परिस्थिति द्वारा किया जाता है। यह उसी घटना, परिस्थिति या विषय से प्रारम्भ होकर पूर्ण विकास को प्राप्त होता है। इसमें एक ही घटना विस्तार पाकर दर्शकों को प्रभावित करती है। चरित्र-प्रधान एकांकी में पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं का पूर्ण एवं मार्मिक उद्घाटन किया जाता है। अपने संक्षिप्त कलेवर एवं लक्ष्य के कारण एकांकीकार गौण प्रसंगों, पात्रों की बहुलता आदि से सदैव बचता रहता है। उसका

उद्देश्य किसी भी प्रकार का हो सकता है—गम्भीर, हास्य जनक, करुण अथवा प्रचार आदि। परन्तु कोई न कोई उद्देश्य होना अवश्य चाहिए। और इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए वह किसी भी क्षेत्र से—समाज, धर्म, राजनीति, इतिहास, साहित्य आदि—अपने विषय का चयन करने के लिए स्वतंत्र होता है। परन्तु विषय का चयन करते समय उसे एकता एवं संक्षिप्तता का ध्यान रखना आवश्यक है।

यहाँ इस 'एकता' एवं संक्षिप्तता को भी अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। एकता से तात्पर्य यह है कि—"एकांकीकार जीवन का जो पक्ष चित्रित करे, उसी ओर कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, अभिनयशीलता और पात्र प्रकाश डालें। एकांकी को किसी प्रकार का वस्तु भेद सह्य नहीं है। उसके समस्त सूत्र इसी मूल घटना, विचार या उद्दीप्त क्षण पर एकाग्र हो जायं। दूसरा तत्व परिधि की संकुचितता या संक्षिप्तता है। कम से कम समय में पूर्ण प्रभाव डाल देना, घटना को स्पष्ट कर देना अथवा चरित्र चित्रण कर देना एकांकी की विशेषता है। एकांकीकार को समय की कमी का ध्यान रखना चाहिए।""""एकांकीकार की कला का कौशल इसी में है कि वह कम से कम समय में मानव जीवन की एक सजीव झाँकी विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त घड़ी का चित्र उपस्थित कर दे।" [१]

डा० रामचरण महेन्द्र ने एकांकी के आठ तत्व निर्धारित किए हैं—(१) कथावस्तु, (२) संघर्ष, (३) संकलन-त्रय, (४) पात्र और चरित्र चित्रण, (५) कथोपकथन, (६) अभिनय शीलता, (७) रंगमंच निर्देश, (८) प्रभाव-एक्य। परन्तु प्रो० रामगोपालसिंह चौहान एकांकी के मूल तत्व तीन मानते हैं जिनके अन्तर्गत अन्य सभी तत्व आ जाते हैं। उनके द्वारा निर्धारित तत्व इस प्रकार हैं—

१—कथा—	कथा चरित्र-चित्रण उद्देश्य
२—संवाद—	संवाद भाषा-शैली
३—दृश्य-विधान—	वातावरण सृजन, देशकाल तथा रंग-निर्देश

प्रो० चौहान ने संघर्ष, संकलन-त्रय तथा अभिनयशीलता को एकांकी का

१—हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास—डा० रामचरण महेन्द्र।

आवश्यक तत्व नहीं माना है। अभिनयशीलता को उन्होंने संवाद में ही समाविष्ट कर दिया है। परन्तु डा० महेन्द्र संकलन-त्रय, संघर्ष तथा अभिनयशीलता को अत्यावश्यक मानते हैं। इनमें से संकलन-त्रय की उपेक्षा की जा सकती है परन्तु संघर्ष की नहीं। संघर्ष या द्वन्द्व एकाङ्की का आवश्यक तत्व है। अब हम नीचे प्रो० चौहान द्वारा निर्देषित तत्वों पर विचार करेंगे।

१—कथा—एकाङ्की की कथा अनेकांकी की तुलना में काफी छोटी होती है। वह एक ही घटना, विचार या भाव पर केन्द्रित रहती है और सम्पूर्ण कथा उसी केन्द्र-बिन्दु के चतुर्दिक घूमती रहती है। "एकाङ्की का कथा-सङ्गठन जिज्ञासा, कौतूहल, आकस्मिकता, विस्मय, सम्भ्रम और तनाव की आरोह-अवरोह पूर्ण गति के मध्य में से होता हुआ अपने चरम विकास को प्राप्त होता है और जिज्ञासा मिश्रित विस्मय विमूढ़ता की स्थिति दर्शकों में उत्पन्न करता हुआ, आकस्मिक रूप से समाप्त हो जाता है।"—प्रो० चौहान

कथा का विकास पाँच भागों में होता है—१—प्रारम्भ, २—नाटकीय स्थल, ३—द्वन्द्व, ४—चरमसीमा, ५—परिणति।

२—दृश्य विधान—एकाङ्की में अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए तदनुकूल वातावरण का सृजन करना अत्यावश्यक है। वातावरण ऐसा होना चाहिए जिसमें कथा का लक्ष्य, पात्रों का व्यक्तित्व तथा अभिनय भली प्रकार से उभर सके। और यह वातावरण दृश्य-विधान तथा संवादों के माध्यम से ही उत्पन्न किया जा सकता है। "लेखक रङ्गमंच पर ऐसे दृश्य-विधान का निर्देश करता है, जिससे घटना का समय, स्थान, परिस्थितियाँ, वातावरण, सब कुछ स्पष्ट होकर कथा-प्रभाव के अनुकूल वातावरण उपस्थित हो जाता है। दर्शक दृश्य-विधान द्वारा प्रस्तुत वातावरण के माध्यम से स्वयं भी अपने को उसी वातावरण में अनुमान करके कथा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है और फिर रस विभोर होता हुआ एकाग्रता के साथ नाटक देखता रहता है। ...... दृश्य-विधान ऐसा हो जो रङ्गमंच पर प्रस्तुत हो सके और कथा की पूरी परिस्थितियों को रङ्गमंच पर प्रस्तुत भी कर सके।"

३—पात्र-योजना—कथा का विकास पात्रों के क्रिया-कलापों द्वारा ही होता है। इसलिए पात्र-योजना तथा चरित्र-चित्रण इस प्रकार का होना चाहिए जो इस विकास को पूर्ण गति दे सके। चरित्र का विकास कथा-संघर्ष के घात-प्रतिघातों द्वारा होना चाहिए जो पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं और स्वतंत्र व्यक्तित्व को विकसित करने में समर्थ हो। पात्रों की संख्या सीमित होनी चाहिए। व्यर्थ का कोई भी पात्र एकाङ्की में न आना चाहिए। एकाङ्की

की सफलता की कसौटी यह है कि उसके पात्र नाटककार के हाथ की कठपुतलियाँ न बनकर सच्चे जीवन और मानवोचित संवेदनाओं से पूर्ण हों।

४—**संवाद**—संवाद या कथोपकथन एकांकी के प्राण हैं जिनके द्वारा कथा सूत्र आगे विकसित होता है। चरित्र-विकास, कथा-विकास, प्रासंगिक घटनाओं का संकेत आदि सारे कार्य संवाद द्वारा ही पूर्ण होते हैं। "संवादों में क्षिप्रता, संक्षिप्तता, मर्म स्पर्शिता, वाक्वैदग्ध्य, नाटकीयता आदि गुण होने चाहिए। संवाद वाचिक अभिनय का प्रधान आधार है, किंतु उसमें आंगिक, सात्विक और अहार्य अभिनय उत्पन्न करने की शक्ति भी होनी चाहिए। संवाद बोलने के साथ अंग, मुद्रा, भंगिमा सबसे संवाद में अभिप्रेत भाव प्रगट होने चाहिए।"—प्रो० चौहान

इस प्रकार प्रो० चौहान अभिनयशीलता को संवाद की परिधि में ही समेट लेते हैं। परन्तु मूक-अभिनय के क्षणों में यह कार्य कैसे सम्पन्न हो सकेगा, इस बात को चौहान ने स्पष्ट नहीं किया है। इसलिए हमें अभिनयशीलता को भी एकांकी का एक प्रमुख तत्व मानना पड़ेगा। केवल संवाद ही अभिनय का सारा कार्य नहीं कर सकता। स्वगत कथन एकांकी में अभिप्रेत नहीं है।

५—**भाषा-शैली**—एकांकी की भाषा विषय एवं पात्रानुकूल होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही उसमें स्वाभाविकता आ पायेगी। शब्द चयन एवं वाक्य-विन्यास ऐसा होना चाहिए जो संवादों में नाटकीयता उत्पन्न कर दे।

६—**उद्देश्य**—उद्देश्य को साहित्य की किसी भी विधा का तत्व नहीं माना जा सकता। सभी प्रकार की रचनायें सोद्देश्य होती हैं। निरुद्देश्य रचना को साहित्यिक रचना नहीं माना जा सकता। कोई न कोई उद्देश्य प्रत्येक रचना के मूल में निहित रहता है। फिर भी यदि उद्देश्य को एक पृथक तत्व मानने का आग्रह ही हो तो एकांकी के सम्बन्ध में यही कहना अभिप्रेत होगा कि उसका उद्देश्य संघर्ष द्वारा स्वाभाविक रूप से ही व्यंजित होना चाहिए।

यहाँ हमें उन तत्वों पर भी विचार कर लेना चाहिए जिन्हें प्रो० चौहान ने पृथक तत्व स्वीकार नहीं किया है परन्तु अन्य आलोचकों एवं एकांकीकारों ने आवश्यक माना है। ये हैं—संघर्ष, संकलन-त्रय तथा अभिनयशीलता।

संघर्ष—दो विरोधी पक्षों, पात्रों अथवा एक ही व्यक्ति के मन में स्थित दो विरोधी भावों में जो संघर्ष होता है उसे ही नाटक का द्वन्द्व या संघर्ष कहा जाता है। और यह द्वन्द्व या संघर्ष ही एकांकी को गति प्रदान करता

है। वे एकाङ्की विशेष प्रभावशाली माने जाते हैं जिनमें मनोविज्ञान का आधार लेकर अन्तःसंघर्ष द्वारा किसी पात्र का चारित्रिक द्वन्द्व या मानसिक उद्वेलन प्रस्तुत किया जाता है। यह अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक एङ्काकियों की प्रमुख विशेषता माना जाता है।

संकलन-त्रय—कार्य, समय तथा स्थल की एकता को संकलन-त्रय कहा जाता है। भाव यह है कि एकाङ्की में एक सम्पूर्ण कार्य एक ही अवधि में, एक ही स्थान पर होना आवश्यक है। उसमें एक ही पात्र के जीवन की एक ही परिस्थिति का चित्रण होना चाहिये। परन्तु हम पीछे विवेचन करते हुए बता आये हैं कि आजकल अनेक एकाङ्कीकार संकलन-त्रय की अनिवार्यता को स्वीकार न कर ऐसे एकाङ्की लिख रहे हैं जिनमें इसका निर्वाह नहीं किया गया है।

अभिनयशीलता—अभिनय को नाटक का मूल तत्व मानना चाहिए क्योंकि अभिनय के अभाव में उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता और उस उद्देश्य का सिद्धि भी नहीं हो पाती जिसके लिये उसका निर्माण किया गया है। लेखक को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि अभिनेता अपने अभिनय द्वारा मनोभावों, हावभाव, मुखमुद्रा, विविध कार्यों का विस्तृत, प्रभावशाली एवं सीधा प्रदर्शन कर सकें। लेखक को—"ऐसी नाटकीय स्थिति चुननी चाहिए, ऐसे मार्मिक कथोपकथन लिखने चाहिए और ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहिए, जिसकी पृष्ठभूमि पर एकाङ्की प्रभावशाली ढङ्ग से आधारित किया जा सके और रंगमंचीय साधनों द्वारा अपने पूर्ण आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया जा सके।" डा० रामचरण महेन्द्र

एकाङ्की में अभिनयशील संवादों के साथ उपयुक्त गति और नाटकीयता होनी आवश्यक है। प्रो० जयनाथ नलिन के अनुसार—"नाटकीयता, आकस्मिकता, अनाशितता भी अभिनय में बड़ी सहायक होती है। इसमें अचानक दर्शक उल्लास से उछल पड़ता है। रोमांच से फूल जाता है, कौतूहल से चकित हो जाता है और आशातीत प्रसन्नता में डूब जाता है।"

एकांकी के भेद

विभिन्न विद्वानों ने शैली, विषय, रचना-प्रकार, मूल प्रवृत्ति आदि के आधार पर एकाङ्कियों के विभिन्न भेद माने हैं। यहाँ हम इन सब का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

टेकनीक या रचना प्रकार के आधार पर भेद—रचना-प्रकार के आधार पर विद्वानों ने एकाङ्की के निम्नलिखित भेद माने हैं—

१—मोनो ड्रामा, २—स्किट, ३—फैन्टेसी, ४—रेडियो प्ले, ५—फीचर

६—गीति नाट्य, ७—ओपेरा, ८—झांकी, ६—संवाद या सम्भाषण। इनके अतिरिक्त कुछ एकाङ्की ऐसे भी होते हैं जिनमें रंगमंच पर अभिनय के साथ-साथ छाया का भी उपयोग होता है। एक अन्य प्रकार वह भी है जिसमें युग-युग की घटनाओं को छाया और सूत्रधार की सहायता से एक साथ गूँथ कर प्रभाव-एक्य उत्पन्न किया जाता है।

मोनोड्रामा में केवल एक ही पात्र स्वगत-कथन के रूप में मानसिक और परिस्थितियों के द्वन्द्व को स्पष्ट करता है। **स्किट** में किसी विषय पर कुछ मित्रों के हास-परिहास पूर्ण वार्तालाप को ही नाटकीय रूप प्रदान कर कथा के रूप में संयोजित कर दिया जाता है। अभी हिंदी में इस टेकनीक का अच्छी तरह से विकास नहीं हो पाया है। **फैन्टेसी** की कथा नितान्त कल्पित और इस जगत से परे की होती है। **रेडियो प्ले** में ध्वनि के उतार-चढ़ाव आदि की सहायता से, रँगमंच का पूर्ण अभाव रहते हुए वातावरण की सृष्टि कर नाटक का अभिनय किया जाता है। **फीचर** में रेडियो टेकनीक के आधार पर ही किसी विषय से सम्बद्ध वार्तालाप द्वारा उस विषय पर प्रकाश डाला जाता है। **गीति-नाट्य** की विशेषता यही होती है कि उसमें संवाद पद्यात्मक होते हैं। **ओपेरा** खुले रंगमंच पर खेले जाने वाले एकाङ्कियों को कहते हैं। **झाँकी** में केवल एक संक्षिप्त दृश्य में तीनों इकाइयों का निर्वाह करते हुए किसी उद्दीप्त क्षण को चित्रित किया जाता है। **सम्वाद या सम्भाषण** में दो पात्रों के कथोपकथन द्वारा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है।

एकाङ्की से इन सभी रूपों का साम्य केवल इतना ही है कि ये सब एक अंक के ही होते हैं। सम्भव है कि अपनी विभिन्न विशेषताओं के कारण भविष्य में आगे चल कर इनमें से कुछ रूपों का इतना अधिक विकास हो जाय कि उनकी गणना एकाङ्की के ही समान स्वतन्त्र विधाओं के रूप में होने लगे।

एकाङ्की की मूल-वृत्तियों के आधार पर डा० सत्येन्द्र ने एकाङ्की के आठ भेद किए हैं।—(१) **आलोचक एकाङ्की** जो हमारी कमजोरियों की आलोचना कर उनकी तरफ ध्यान आकर्षित करते हैं। (२) **विवेकवान एकांकी** जिनमें वाद-विवाद द्वारा आलोचना-प्रत्यालोचना की जाती है। (२) **भावुक एकांकी** जिनमें भावुकता का आधिक्य रहता है। (४) **समस्या एकांकी** जिनमें विशिष्ट समस्याओं पर प्रकाश डाला जाता है। (५) **अनुभूतिमय एकांकी** (६) **व्याख्यामूलक एकाङ्की**, (७) **आदर्शमूलक एकाङ्की**, तथा (८) **प्रगतिवादी एकाङ्की**।

विषय वस्तु की दृष्टि से एकाङ्की के पाँच भेद किए गए हैं—(१)

सामाजिक, (२) **राजनीतिक**, (३) **ऐतिहासिक**, (४) **पौराणिक**, तथा (५) साहित्यिक। विषयों की संख्या असीमित होती है इसलिए विषय-वस्तु की दृष्टि से इस वर्गीकरण की कोई एक निश्चित सीमा नहीं निश्चित की जा सकती। ऐसा वर्गीकरण केवल वर्गीकरण के लिए ही किया जाता है।

एकाङ्कियों से व्यंजित सन्देश की दृष्टि से उनके चार भेद किए गए हैं—(१) **आदर्शवादी**, (२) **यथार्थवादी**, (३) **प्रकृत वादी**, तथा (४) शुद्ध **मनोरंजनवादी**।

अभिनेयता की दृष्टि से एकाङ्कियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) **पठनीय**, तथा (२) **रंगमंचीय**। पठनीय एकांकियों को अनेक कठिनाइयों के कारण रंगमंच पर अभिनीत नहीं किया जा सकता। उन्हें केवल पढ़ कर ही आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। रंगमंचीय एकांकी को पढ़कर भी आनन्द उठाया जा सकता है और रंगमंच पर सफलता पूर्वक उनका अभिनय भी किया जा सकता है।

अंग्रेज़ी साहित्य में एकांकी का एक ऐसा रूप भी मिलता है जिसे **कौकनी** कहते हैं। इसमें मजदूरों द्वारा प्रयुक्त विकृत भाषा का प्रयोग किया जाता है। हिंदी में अभी ऐसे एकाङ्की देखने में नहीं आए हैं।

विकास

उद्भव—हिन्दी-साहित्य में एकाङ्की के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी अनेक प्रकार की बातें कही जाती हैं। आलोचकों का एक वर्ग वर्तमान हिंदी-एकाङ्की को पाश्चात्य एकाङ्की-कला का अनुकरण मानता है तथा दूसरा वर्ग उसे संस्कृत के एकाङ्की नाटकों से सम्बद्ध कर उसके विकास में संस्कृत एकाङ्की नाटकों का ही विकास देखता है। हमारी समझ में ये दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं। वास्तविकता यह है कि हिंदी-एकांङ्की ने अपने प्रारम्भिक रूपों में संस्कृत-एकाङ्की से प्रेरणा ग्रहण की थी परन्तु आगे चलकर उसने अपने वर्तमान स्वरूप का निर्माण पाश्चात्य-एकाङ्की के ही आधार पर किया। इस प्रकार हिंदी-एकाङ्की इन दोनों ही परम्पराओं का ऋणी है और आज उसने अपना एक मौलिक एवं स्वतन्त्र स्थान बना लिया है।

कहा जाता है कि—"आधुनिक एकाङ्की आधुनिक मशीन-युग के द्रुतगामी अवकाशहीन व्यस्त-जीवन की उपज है।" इस कथन में केवल आंशिक सत्य ही है। जिस समय संस्कृत में विभिन्न प्रकार के एकाङ्की लिखे गए थे, क्या वह भी मशीन-युग था? यूरोप में एकाङ्की के जन्म से तथा मशीनीकरण से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहा था। इसलिए यह कहना कि एकाङ्की वर्तमान व्यस्त-जीवन की उपज है, भ्रामक प्रतीत होता है। इसकी परम्परा अत्यन्त

प्राचीन काल से चली आ रही थी और भारतेन्दु-युग में आकर जब साहित्य की नवीन विधाओं का जन्म हुआ या प्राचीन विधाओं का पुनरुद्धार किया गया तो उनके साथ ही संस्कृत के एकाङ्की नाटकों का भी रूप सामने आया। कालान्तर में, जैसे-जैसे साहित्य की अन्य विधायें निरन्तर बदलती हुई नवीन परिस्थितियों तथा साथही पाश्चात्य साहित्य से प्रभाव ग्रहण करती हुई विकास के मार्ग पर आगे बढ़ीं, उसी प्रकार एकाङ्की ने भी अपने स्वरूप में परिवर्तन करते हुए विकास के पथ पर आगे पग बढ़ाए। और जिस प्रकार आज हिंदी कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विश्व-प्रभावों से अपना स्वरूप बदल कर एक नितान्त नवीन स्वरूप धारण कर चुके हैं, जिसका उनके प्राचीन रूपों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा है, उसी प्रकार हिंदी-एकाङ्की भी पाश्चात्य एकाङ्की के नवीन स्वरूपों से प्रभावित होते हुए भी अपनी एक विशिष्ट मौलिकता लिए अपने वर्तमान विकसित रूप तक पहुँच गया है। इसलिए हमारा आज का एकाङ्की साहित्य प्राचीन संस्कृत-एकाङ्की तथा नवीन पाश्चात्य-एकाङ्की परम्पराओं का ऋणी होते हुए भी अपना स्वतन्त्र मौलिक विकास कर रहा है।

हिंदी-एकाङ्की के जन्म एवं विकास के सम्बन्ध में डाक्टर रांगेय राघव का मत कुछ सीमा तक अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। आपका कथन है कि—

"अब अपने रंगमंच के अभाव के कारण पूर्ण नाटकों के लिए क्षेत्र न था। स्कूल और कालेजों में हिंदी शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ विद्यार्थियों के लिए इस प्रकार के नाटकों की आवश्यकता प्रतीत हुई जिनमें कम से कम सामान की आवश्यकता पड़े और कम समय में ही उसको तैयार किया जा सके, साथ ही वह अपने में पूर्ण हो तथा मनोरंजन, सामाजिक शिक्षा तथा सुधार का उत्तम माध्यम बन सके। दूसरी ओर कालेजों में अंग्रेजी शिक्षा के कारण उनके सामने उस साहित्य के एकाङ्की आए। इस पाश्चात्य प्रभाव और अपनी सीमित परिस्थितियों ने हिंदी में एकाङ्की नाटकों को जन्म दिया।"

डाक्टर रांगेय राघव का उपर्युक्त विवेचन हिंदी एकाङ्की को पाश्चात्य प्रभाव की देन स्वीकार करता है। उनके इस मत का विवेचन करने के लिए सबसे पहले हमें इस बात को देखना पड़ेगा कि संस्कृत साहित्य में किस प्रकार के एकाङ्की लिखे गए थे और हिंदी में उनका किस रूप में अनुकरण हुआ था तथा हिंदी-संसार ने इस अनुकरण को मान्यता प्रदान की थी या नहीं।

यदि एक अङ्क को ही एकाङ्की का प्रधान लक्षण मान लिया जाय तो संस्कृत-साहित्य में नाटक के एक अङ्क वाले सत्रह रूप उपलब्ध होते हैं—

व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रकाशिका, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, श्रीगादित, विलासिका, प्रकरणिका, हल्लीश, अङ्क। प्राचीन काल में इन सभी एकाङ्की रूपों का अभिनय होता था। साथही समाज में इनका अच्छा मान था। महाकवि भास का 'उरुभंग' तथा नीलकंठ का 'कल्याण सौगंधिक' संस्कृत के प्रसिद्ध एकाङ्की माने जाते हैं।

एकाङ्की के उपर्युक्त प्रकारों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत-साहित्य में एकाङ्की की एक समृद्ध परम्परा थी। डा० रामचरण महेन्द्र के कथनानुसार—"सस्कृत एकाङ्कियों की शिल्पविधि पर्याप्त जटिल थी और नाट्यकारों ने उपभेदों का अन्तर स्पष्ट किया था। आधुनिक हिंदी एकाङ्की की सभी प्रचलित शैलियाँ थोड़े से परिवर्तन के साथ इन्हीं में समा सकती हैं।"

हमारा एकाङ्की-साहित्य संस्कृत-साहित्य के एकाङ्कियों से अपने प्रारम्भिक रूप में प्रेरणा ग्रहण कर विकसित हुआ था और कालान्तर में उसने पाश्चात्य एकाङ्की साहित्य के आधार पर अपनी मौलिकता का पुट देते हुए अपने वर्तमान स्वरूप का निर्माण किया था। इसलिए हमें यह भी देख लेना है कि पाश्चात्य-साहित्य में एकाङ्की का स्वरूप कैसा था। अंग्रेजी के एकाङ्कियों का उद्भव कर्टन रेज़र (Curtain Raiser) या आफ्टर पीसेज (After pieces) के रूप में हुआ था। इन रूपों की तुलना संस्कृत के एकाङ्की रूपों से नहीं की जा सकती क्योंकि कर्टेन रेज़र या आफ्टर पीसेज १८ वीं, १९ वीं शताब्दी में इङ्गलैन्ड के प्रेक्षाग्रहों में मुख्य अनेकाङ्की नाटक के प्रारम्भ होने से पहले जल्दी या समय पर आ जाने वाले दर्शकों का समय काटने के लिए खेले जाते थे। उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता था और वे अधिकतर संस्कृत के 'भाण' और 'प्रहसन' से मिलते-जुलते थे। आगे चलकर इन एकांकियों को दर्शकों ने इतना अधिक पसन्द किया कि एकांकी कला ने अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व बना लिया और एक अंक वाले इन नाटकों को एक अंक का होने के कारण 'वन एक्ट प्ले' कहा जाने लगा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लन्दन के एक प्रसिद्ध प्रेक्षाग्रह 'वेस्ट एण्ड' में एक अत्यन्त मनोरंजक घटना घटी जिसने एकांकियों के स्वतन्त्र अस्तित्व का श्रीगणेश कर दिया। वहाँ कर्टेन रेज़र के रूप में 'दी मंकीज़ पॉ' (बन्दर का पंजा) का अभिनय किया गया जो इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि दर्शक मुख्य नाटक को बिना देखे ही उठ कर चले गए। और इसके पश्चात् इसके प्रभाव के फलस्वरूप एकांकी नाटक जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हो उठे और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर उन्हें साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा मान लिया गया।

परन्तु हमारे यहाँ विभिन्न प्रकार के एकांकी नाटकों का अपना स्वतन्त्र

अस्तित्व का, उनकी अपनी कला थी, अपने नियम थे। अतः आज जिस प्रकार एकांकी का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाता है, उसी प्रकार संस्कृत साहित्य में भी माना जाता था इसलिए हम हिन्दी के प्रारम्भिक एकांकी नाटकों का विकास पाश्चात्य-साहित्य से न मान कर संस्कृत साहित्य के प्रभाव स्वरूप ही मानेंगे। इस सम्बन्ध में शिवदान सिंह चौहान का मत दृष्टव्य है—

"हिन्दी के आधुनिक एकांकी नाटकों का सम्बन्ध हम संस्कृत के प्राचीन रूपकों से जोड़ सकते हैं यद्यपि आधुनिक एकांकी विषय वस्तु और कला की दृष्टि से प्राचीन एकांकी रूपकों से बहुत आगे विकास कर आया है, फिर भी उसके सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिये कि हिन्दी में नाटकों की परम्परा का सूत्र-पात करने वाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जो एकांकी लिखे उनमें से 'विषस्य विषमौषधम' भाण रूपक है और 'धनंजय विजय' व्यायोग की कोटि में आता है और 'अँधेर नगरी' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन हैं और 'भारत दशा' एक रूपक है।...आधुनिक एकांकियों से इन रूपकों का शैली भेद अवश्य है, परन्तु उन्हें हम रूपक कह कर आधुनिक एकांकियों को उनकी परम्परा और उनके वर्ग से अलग नहीं कर सकते। क्योंकि भारतेन्दु कालीन एकांकियों की विषय वस्तु अपने सामयिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन से ली गई थी, यह तथ्य उन्हें आधुनिक जीवन की परम्परा का प्रतिनिधि बना देता है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युगीन एकाङ्की आधुनिक एकांकियों के प्रारम्भिक रूप हैं। उनमें कला का वह विकसित रूप नहीं मिलता जो हमारे नये एकांकी लेखकों की कला में विकसित हो रहा है।"[1]

परन्तु श्री चौहान पाश्चात्य एकांकी साहित्य की देन को भी मुक्त हृदय से स्वीकार करते हुये लिखते हैं कि—"हिन्दी के आधुनिक एकांकियों में हमें कला-सम्बन्धी जिस मौलिक नवीनता के दर्शन होते हैं वह एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटककारों की कला से प्रभावित है।...हमारे नाटककारों की विषय वस्तु चाहे ऐतिहासिक या पौराणिक हो अथवा वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत या सामाजिक संघर्षों से सम्बन्ध रखती हो, उसे नाटकीय रूप देने में वह जिस कलात्मक क्षमता का परिचय देते हैं, उसका संस्कार एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव से हुआ है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी एकांकी-साहित्य के जन्मदाता संस्कृत-साहित्य के एकांकी थे और उसके विकास में तथा वर्तमान स्वरूप के निर्धारण में पाश्चाय एकांकी-साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

१—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह चौहान।

इसलिये इसे हम न तो शुद्ध रूप से संस्कृत साहित्य की देन मान सकते हैं और पाश्चात्य-साहित्य की। यह दोनों का ही समान रूप से ऋणी है।

हिन्दी एकांकी-साहित्य को स्थूल रूप से विकास के तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—(१) भारतेन्दु व द्विवेदी युग, (२) प्रसाद-युग, तथा (३) आधुनिक युग।

१—भारतेन्दु व द्विवेदी युग—सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही हिन्दी में एकांकियों की रचना प्रारम्भ की थी जिनमें से कुछ का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं।। इस काल के लगभग सभी एकांकियों के विषय सामाजिक जीवन से लिये गये थे। इनके मुख्य विषय इतिहास और समाज-सुधार रहे थे। इनमें संस्कृत के प्राचीन ढंग के एकांकियों के लक्षणों का निर्वाह किया गया है। भारतेन्दु के विभिन्न एकांकियों में विभिन्न रूढ़ियों रीति रिवाजों, सामाजिक एवं राजनीतिक बुराइयों पर तीखा व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है। भारतेन्दु के इन एकांकियों पर बंगला नाटकों तथा पारसी रंगमंच का भी प्रभाव लक्षित होता है। इस काल में भारतेन्दु के समकालीन एवं सहयोगी अन्य लेखकों ने भी एकांकी लिखे। इनमें श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि हैं। इन सब लोगों द्वारा लिखे गये एकांकी "हमारे राष्ट्रीय जागरण की प्रारम्भिक चेतना को प्रतिविम्बित करते हैं और हिन्दी के आधुनिक एकांकी के प्रारम्भिक रूप कहे जा सकते हैं।" इनमें आधुनिक एकांकी कला के तत्व बीज रूप में निहित हैं। प्रो० रामगोपाल सिंह चौहान के शब्दों में—

"उनमें कला की वह विविधता और विकसित रूप हमें देखने को भले ही न मिले और भले ही हमें उनमें हृदय के तलस्पर्शी संघर्ष-संकुल भावों की वैसी मार्मिक मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति भी न मिले, जैसी हमारे अधुनातम नये एकांकियों में मिलती है, पर निश्चय ही उनमें तत्कालीन आधुनिक जीवन का यथार्थ-चित्रण है, उद्देश्य की सांकेतिकता है, रंग निर्देश भी हैं और सम्वादों की चुस्ती भी और क्रिया क्षिप्रता और गतिशीलता भी है।"

द्विवेदी-युग में हिन्दी-एकांकी पर पाश्चात्य एकांकी-साहित्य का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया था जिससे उसके स्वरूप में तो थोड़ा सा अन्तर आने लगा परन्तु उनकी मूल-प्रेरणा भारतेन्दु-युग के अनुरूप ही बनी रही। इस काल में अनेक सुन्दर प्रहसन और व्यंग्य की कोटि में आने वाले एकांकियों की रचना हुई जिनमें पं० बदरीनाथ भट्ट का 'चुंगी की उम्मेदवारी' नामक एकांकी बहुत लोकप्रिय हुआ। इस काल के एकांकीकारों में मंगल प्रसाद विश्वकर्मा, सियारामशरण गुप्त, रामसिंह वर्मा, रूपनारायण पांडेय,

पांडेय बेचन शर्मा उग्र, सुदर्शन आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से इस काल के एकाङ्कियों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) सामाजिक व्यंग्यात्मक, (२) राष्ट्रीय ऐतिहासिक, (३) धार्मिक पौराणिक, तथा (४) अनूदित। इस युग में आकर एकाङ्की-कला में विकास के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। भारतेन्दु-युगीन नान्दी, प्रस्तावना, भरत वाक्य आदि की प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है। कथा-प्रवाह में तीव्रता आ जाती है और पद्य का पूर्ण बहिष्कार हो जाता है। यह सम्पूर्ण काल सन् १८७३ (भारतेन्दु का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति') से प्रारम्भ होकर सन् १९२९ (प्रसाद का 'एक घूँट') तक आकर समाप्त हो जाता है।

२—**प्रसाद युग**—प्रसाद ने अपने सर्व प्रथम एकांकी 'एक घूँट' की रचना सन् १९२९ में की थी। 'एक घूँट' की रचना में प्रसाद का झुकाव संस्कृत नाट्य-शैली की ओर ही अधिक रहा था। परन्तु 'एक घूँट' में आकर ही वास्तव में एकांकी नाटक की आधुनिक शैली का भरपूर निखार दिखाई पड़ता है। इसी कारण डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० हरदेव बाहरी प्रभृत्ति विद्वान् 'एक घूँट' को ही हिन्दी का प्रथम प्रकांकी मानते हैं। इसके उपरान्त एकांकी लेखन की परम्परा ने बड़ी तेजी से विकास किया। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत उल्लेखनीय है। आप लिखते हैं कि—"सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के एक घूँट से हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है—इसलिये वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टैकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है।"[1]

इसी काल में फ्रांसीसी मौलियर तथा अन्य अनेक यूरोपिय एकांकीकारों के एकांकियों के हिन्दी में अनुवाद किये गये परन्तु उनका एकांकी-कला पर कोई विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता। प्रसाद के उपरान्त सूर्यकरण पारीख, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, गोविन्दवल्लभ पन्त आदि अनेक लेखकों ने एकांकी लिखे, "लेकिन शैली और कला की शिथिलता के कारण साहित्य में अपना विशेष स्थान नहीं बना पाये।" सन् १९३८ में 'हंस' मासिक का 'एकांकी विशेषांक' प्रकाशित हुआ जिससे एकांकी की कला पर नवीन प्रकाश पड़ा।

३—**आधुनिक काल**—हिन्दी-एकांकी के आधुनिक काल का प्रारम्भ डा० रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' (१९३०) से माना जाय या भुवनेश्वर-प्रसाद मिश्र के 'कारवाँ' से, इस सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मतभेद है क्योंकि

१—**आधुनिक हिन्दी नाटक—डाक्टर नगेन्द्र।**

वर्मा जी के 'बादल की मृत्यु' का प्रकाशन सन् १९३० में हुआ था और मिश्र जी के 'कारवाँ' का सन् १९३५ में। डा० सत्येन्द्र ने 'बादल की मृत्यु' को 'एक घूँट' के उपरान्त दूसरा स्थान दिया है। परन्तु कुछ विद्वान कला की दृष्टि से इसे सफल एकाङ्की नहीं मानते। इसमें नाटकीयता के स्थान पर कल्पना एवं काव्यात्मकता अधिक है। कुछ अन्य लोग वर्तमान एकाङ्कियों का प्रारम्भ वर्मा जी के 'चारुमित्रा' (१४४१) से मानना चाहते हैं परन्तु डाक्टर रांगेय राघव के मतानुसार "संस्कृत नाट्य शैली को छोड़, पाश्चात्य शैली को अपनाने वालों में भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' प्रथम था।" और इस 'कारवाँ' के साथ ही हिंदी-एकाङ्कियों का कारवाँ अपनी नई सज-धज के साथ आगे अग्रसर होता हुआ आज की समृद्ध मंजिल तक पहुँचने में समर्थ हो सका है।

आधुनिक काल के प्रारम्भिक एकाङ्कीकारों में उक्त दोनों लेखकों के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। डाक्टर रामकुमार वर्मा के अबतक लगभग पन्द्रह एकाङ्की संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति, सप्तकिरण, रूपरंग, कौमुदी-महोत्सव, ध्रुवतारिका, ऋतुराज, रजत-रश्मि, दीपदान, कामकन्दला, बापू, इन्द्रधनुष, रिमझिम आदि। वर्मा जी के नाटकों का क्षेत्र ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों है। उनकी प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक संघर्षों के चित्रण की ओर अधिक रही है। आपमें जीवन की तात्कालिक यथार्थता के स्थान पर चिरन्तन सत्य का चित्रण करने के प्रति अधिक आग्रह लक्षित होता है। उनके अधिकांश नाटक दुखान्त होने के कारण अधिक प्रभाव डालते हैं। "इसमें सन्देह नहीं कि वर्माजी एक श्रेष्ठ एकाङ्की नाटककार है और हिन्दी में एकाङ्की नाटक को श्रेष्ठ कलात्मक रूप देने में उनका सबसे बड़ा योग है।"

भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र के 'कारवाँ' नामक छः एकाङ्कियों के संग्रह को हिन्दी-एकाङ्की का क्रोश स्तम्भ (Mile Stone) मानना चाहिए। इससे इस क्षेत्र में पाश्चात्य विचार-प्रणाली, पाश्चात्य शैली तथा रूप विधान का गहरा प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया था। विषय-वस्तु में भी परिवर्तन हुआ था। विवाह, स्त्री समस्या व राजनीतिक समस्याओं का श्रीगणेश इन्हीं एकाङ्कियों द्वारा हुआ था। भुवनेश्वर ने इसके उपरान्त अनेक एकाङ्की और लिखे जो निम्नलिखित संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं—'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना', 'पतिता', 'एक साम्यहीन साम्यवादी', 'प्रतिभा का विवाह', 'रहस्य रोमांच', 'लाटरी', 'मृत्यु' 'सवा आठ बजे', 'इन्स्पेक्टर जनरल', 'रोशनी और आग', 'फोटोग्राफर के सामने', 'ताँबे के कीड़े', 'इतिहास की केंचुल', 'आजादी

की नींव', 'सींकों की गाड़ी', आदि । आपने कुछ ऐतिहासिक एकाङ्की भी लिखे हैं जैसे 'सिकन्दर', 'अकबर', 'चंगेज़खाँ' आदि । भुवनेश्वर पर शॉ का बड़ा गहरा प्रभाव है । इसी कारण उनमें मौलिकता के स्थान पर अनुकरण की प्रवृत्ति ही अधिक लक्षित होती है । उनकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण यह था कि उन्होंने "हमारे मध्यवर्गीय समाज की खोखली नैतिकता पर गहरा प्रहार किया है, जो दर्शक एवं पाठक को अपने जीवन की वास्तविकता के प्रति झकझोर कर जागरूक कर देते हैं ।"

'अश्क' हिन्दी के प्रतिभाशाली एकाङ्कीकार माने जाते हैं । अश्क अपने एकाङ्कियों में मध्यवर्गीय समाज की रूढ़ियों, सड़ी-गली परम्पराओं आदि पर व्यंग्यात्मक प्रहार करने में सम्भवतः सर्वाधिक सफल हुए हैं । पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग भी आपकी एक अपनी विशेषता है । गम्भीर मनोवैज्ञानिक संघर्ष के सफल चित्रण के साथ ही साथ आप हास्य और व्यंग्य लेखन में भी सिद्धहस्त हैं । आपने सामाजिक, सांकेतिक, प्रतीकात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार के एकांङ्की लिखे हैं जो परिमाण और शैलियों की दृष्टि से अत्यन्त कलापूर्ण एवं प्रौढ़ हैं । आपके कुल मिलाकर लगभग दो दर्जन एकाङ्की संग्रह अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'देवताओं की छाया में', 'चरवाहे' 'तूफान से पहले', 'कैद और उड़ान' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं ।

उदयशङ्कर भट्ट ने प्रधानतः सामाजिक एवं पौराणिक एकाङ्की लिखे हैं । उनके अधिकतर एकाङ्की दुखान्त हैं जिनमें पात्रों के मन का अन्तर्द्वन्द्व स्वाभाविक रूप से विकसित होता है । उनका सामाजिक वैषम्य का दुखान्त चित्रण अत्यन्त मर्मस्पर्शी होता है । 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा' आदि एकाङ्कियों में भट्टजी ने काव्यात्मक शैली में भावनाओं का घात-प्रतिघात दिखाया है । "भट्ट जी के एकाङ्की जहाँ ज्ञान-बहुल हैं, मानव-जीवन की पारदर्शिता को प्रकट करते हैं, वहाँ वे जीवन के बहु-व्यापी अंग- उपाङ्गों का गहन विश्लेषण भी करते हैं ।" (डा० रामचरण महेन्द्र) 'अभिनव एकाङ्की नाटक', 'आदिमयुग', 'समस्या का अन्त', 'धूमशिखा'; 'स्त्री का हृदय', 'पर्दे के पीछे' आदि आपके प्रसिद्ध एकाङ्की सँग्रह हैं ।

सेठ गोविन्ददास तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अनेकाङ्की नाटकों के अतिरिक्त अनेक एकाङ्की भी लिखे हैं जिनमें बुद्धिवाद का प्राधान्य है । सेठजी ने ऐतिहासिक, सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक आदि अनेक विषयों को अपनाया है । आपका दृष्टिकोण आदर्शवादी एवं सुधारवादी है । मिश्र जी ने भी स्वाभाविक एवं सूक्ष्म सरल शैली में अनेक एकाङ्कियों की रचना की है । परन्तु

उक्त दोनों महानुभावों की गणना सफल अनेकाङ्की नाटककारों मे ही की जाती है ।

सर्व श्री जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, गणेशप्रसाद द्विवेदी, हरि कृष्ण प्रेमी आदि भी हिन्दी के श्रेष्ठ एकांकीकारों में माने जाते हैं । माथुर का 'भोर का तारा' अत्यन्त प्रसिद्ध एङ्काकी है । आपने इसके अतिरिक्त लगभग एक दर्जन एङ्काकी और लिखे हैं । आप हास्य और व्यंग्य की यथार्थवादी शैली में समस्याओं का चित्रण एवं समाधान करने में कुशल हैं । आपकी "सचेत दृष्टि आधुनिक जीवन के उस वैषम्य के आर-पार देखती है जो रूढ़िग्रस्त संस्कारों और नई सामाजिक प्रवृत्तियों के बीच एक जटिल और अविराम संघर्ष का जनक है । इसी कारण उनके नाटकों में एक प्रबुद्ध कलाकार के संयम के साथ मानव स्वाभिमान को चोट पहुँचाने वाली अमानवीय, जर्जर मान्यताओं और लोकाचारों पर निर्मम प्रहार रहता है ।" (श्री शिवदान सिंह चौहान)

विष्णु प्रभाकर ने अपने एकांकियों एवं रेडियो रूपकों में "समाज व्यवस्था के ह्रास और आडम्बर का व्यंग्यपूर्ण चित्र उपस्थित करते समय पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म और स्वाभाविक चित्रण" किया है । उनके द्वारा चित्रित द्वन्द्वों का उद्देश्य मानव-आदर्शों एवं मूल्यों का उद्घाटन करना होता है । श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी मानसिक जटिलताओं का विश्लेषण करने में कुशल हैं ।

इनके अतिरिक्त सर्वश्री गिरिजाकुमार माथुर, पृथ्वीनाथ शर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि ने भी अनेक एकांकी लिख कर इस विधा को समृद्ध बनाया है । आधुनिक युग में एकाङ्की नाटकों का विद्यार्थी वर्ग में विशेष प्रचार रहा है । इसके द्वारा हिन्दी रंगमंच की भी पर्याप्त उन्नति हुई है । इनमें अभिनेयता की ओर विशेष ध्यान रखा गया है ।

यदि हिन्दी रंगमंच के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाय तो हिन्दी-एकांकी का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीत होता है । हिन्दी में नए एकाँकीकारों की संख्या में दिन-प्रति-दिन वृद्धि होती जा रही है जिनमें कई प्रतिभाशाली हैं ।

—: ० :—

४५. हिन्दी रंगमंच : स्वरूप और विकास

काव्य के दो भेद माने गए हैं—श्रव्य और दृश्य। श्रव्य काव्य का पठन या श्रवण किया जाता है। दृश्य काव्य का अभिनय द्वारा प्रदर्शन होता है जिसे देख और सुन कर प्रेक्षक आनन्द लाभ करते हैं। नाटक की सार्थकता उसके अभिनीत होने में ही मानी जाती है। यह दूसरी बात है कि कुछ नाटक केवल पाठ्य ही होते हैं जिनका अभिनय करना कष्टसाध्य होता है, जैसे भवभूति का उत्तर रामचरित तथा प्रसाद के कुछ नाटक। यद्यपि ऐसे नाटकों के लेखकों का मूल उद्देश्य यही होता है कि उनका अभिनय किया जाय। परन्तु होता यह है कि रंगमंच पर उन नाटकों द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण दृश्यों अथवा कार्यों को यथावत रूप में उपस्थित करना असम्भव हो जाता है क्योंकि रंगमंच की अपनी सीमाएँ होती हैं, अपने सीमित साधन होते हैं जिनके कारण उन दृश्यों को रंगमंच पर उपस्थित करना असम्भव हो जाता है। जैसे-जैसे रंगमंच की तकनीक में विकास होता जाता है वैसे-वैसे ही रंगमंच के संचालक उन दृश्यों को भी रंगमंच पर उपस्थित करने में अधिकाधिक समर्थ एवं कुशल होते जा रहे हैं जो कुछ समय पूर्व असम्भव समझे जाते थे।

हमारे यहाँ रंगमंच की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्य शास्त्र' में नाटकों का विवेचन करते समय उनको अभिनीत करने के लिए रंगमंच का विशद् विवेचन किया है। किसी शास्त्र का निर्माण तभी किया जाता है जब उसके लिये विवेच्य सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि भरत मुनि से पूर्व भी नाटक एवं उनको अभिनीत करने वाले रंगमंचों की एक समृद्ध परम्परा हमारे यहाँ थी जिसे आधार मान कर भरत मुनि ने 'नाट्य शास्त्र' की रचना की थी। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि नाटक और रंगमंच का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

'हमारी नाट्य परम्परा' नामक ग्रन्थ के लेखक श्रीकृष्णदास का मत है कि—"संस्कृत नाटकों के लिखने की परम्परा के साथ ही खेलने की परम्परा भी मिलती है। सच यह है कि यदि नाटकों के खेलने की परम्परा न रही होती तो लिखने की भी इतनी पुष्ट और उच्चस्तरीय परम्परा न रही होती।

....स्वयं भरत मुनि के नाट्य शास्त्र का इतना पूर्ण और निर्दोष रूप नहीं बन सकता था, यदि इसके निर्माण के पहले नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की परम्परा न रही होती।"[1] प्राचीन काल में नाटकों का अभिनय होता था इसलिये रंगमंच की सुचारु व्यवस्था थी, रंगमंच की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि की सीमाएँ निश्चित थीं। यहाँ तक कि उस समय 'उत्तर रामचरित' जैसे क्लिष्ट नाटकों का अभिनय किए जाने का भी उल्लेख मिलता है क्योंकि उसकी प्रस्तावना से यही प्रतीत होता है कि अभिनय करने के लिए ही उसका निर्माण किया गया था।

नाठ्य शाव्य में अभिनय और रंगमंच का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। भरतमुनि ने तीन प्रकार की रंगशालाओं का उल्लेख किया है। यहाँ हमें रंगशाला तथा रंगमंच के भेद को पहले समझ लेना चाहिए। रंगशाला उस भवन या स्थान को कहते हैं जिसके एक भाग में दर्शक बैठते हैं और उनके सामने वाले भाग में वह रंगमंच बनाया जाता है जिस पर नाटक का अभिनय किया जाता है। इस प्रकार रंगमंच रंगशाला का एक भाग है। रंगमंच रंगशाला के उस भाग को कहते हैं जिस पर नाटक का अभिनय किया जाता है। प्राचीन नाट्य शास्त्रीय ग्रन्थों मे रंगमंच के दो और भागों का उल्लेख मिलता हैं। सबसे पिछले भाग को 'नेपथ्य' कहा जाता है। इसमें अभिनेताओं का प्रसाधन-कक्ष (मेक अप रूम या ग्रीन रूम) होता है और नाटक के अभिनीत होते समय यदि कोई कोलाहल या जनरव सुनाना होता है तो वह इसी स्थान से सुनाया जाता है। प्राचीन काल में नेपथ्य गृह के आगे के भाग के भी दो हिस्से रहते थे, जिनमें से नेपथ्य गृह से मिले हुए भाग को 'रंगशीर्ष' और उसके आगे के हिस्से को 'रंगपीठ' कहते थे। इन दोनों भागों के बीच में 'जवनिका' होती थी। 'रंगशीर्ष' में नाना प्रकार की चित्रकारी तथा अन्य अनेक प्रकार की सजावट की जाती थी। इसी में प्रारम्भिक पूजा आदि होती थी। असली अभिनय भी इसी में दिखलाया जाता था। रंगपीठ से लगभग चार हाथ की दूरी पर दर्शकों के बैठने का स्थान रहता था। इसमें दृश्य बदलने के समय सूत्रधार की सूचनायें, नृत्य तथा अन्य प्रकार के ऊपरी कृत्य किये जाते थे।

भरतमुनि ने तीन प्रकार की नाट्य शालाओं का उल्लेख किया है :
चतुरस्र—इनकी लम्बाई चौड़ाई बराबर होती थी। इनके तीन प्रकार मिलते हैं—१०८ का ज्येष्ठ, ६४ हाथ का मध्यम, ३२ हाथ का कनिष्ठ।

१—हमारी नाट्य परम्परा—श्रीकृष्णदास।

विकृष्ट—इनकी लम्बाई चौड़ाई से दूनी होती थी। इनके भी चतुरस्र के समान लम्बाई की दृष्टि से तीन भेद होते थे—१०८, ६४ तथा ३२ हाथ वाले।

त्र्यस्य—यह त्रिकोण के आकार का होता था। इन तीनों प्रकारों में से चतुरस्त्र देवताओं के लिए, विकृष्ट मनुष्यों के लिए तथा त्र्यस्य घरेलू सीमित संख्या वाले दर्शकों के लिए होता था। इनमें 'विकृष्ट' सबसे अच्छा माना जाता था।

नाट्यशास्त्र में प्राप्त रंगशालाओं का यह विवरण यह सिद्ध करता है कि हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से नाटकों का अभिनय होता आ रहा था और शास्त्रकारों ने उनका सुचारु रूपसे अभिनय करने के लिये निश्चित विधि-विधान बना रखे थे। इसके भी अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मिले हैं कि गौतम बुद्ध के काल में भी हमारे यहाँ रङ्गमंच थे और उन पर अभिनय हुआ करते थे। अशोक काल से लेकर अश्वघोष तक रङ्गशालाओं तथा अभिनय की पर-अक्षुण्ण रूप से चली आ रही थी।

नाट्य शास्त्र में विवेचित उक्त रङ्गशालाओं एवम् रङ्गमंचों के अतिरिक्त भी जनता में कई प्रकार के अन्य रङ्गमंच प्रचलित थे जिनका प्रचलन साधारण जनता में प्राचीन काल से लेकर अद्यावधि निरन्तर चलता चला आ रहा है। कालान्तर में जब संस्कृत में परिष्कृत नाटक-रचना एवम् परिष्कृत रङ्गमंच का ह्रास हो गया था, जनता में प्रचलित ये जन-रङ्गमंच अपना रूप परिवर्तित करते हुए निरन्तर आगे बढ़ते रहे। इनके अवशेष हमें आज भी रामलीला, रासलीला, नौटंकी, भगत, यात्रा आदि के रूप में अशिक्षित एवम् साधारण-जन समाज में मिलते हैं और जो आज भी इस जनता में समान रूप से लोकप्रिय हैं। आज रामलीला, भगत आदि में जनता जिस उत्साह तथा जिस उल्लास के साथ भाग लेती है वैसी नाटक के अभिनय में नहीं।

परन्तु इन जन-रङ्गमंचों तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन रङ्गमंचों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि ये जन-रङ्गमंच खुले रङ्गमंच के रूप हैं। इनमें कोई दृश्य-विधान नहीं होता। किसी खुले मैदान में तख्त बिछा कर उसी पर नाटक का अभिनय नगाड़े की चोट पर प्रारम्भ कर दिया जाता है। वह खुला मैदान ही दर्शकों के बैठने की रङ्गशाला का काम देता है। रामलीला का रङ्गमंच तो इतना विस्तृत होता है कि उसमें सैकड़ों अभिनेताओं तथा हजारों दर्शकों के बैठने का प्रबन्ध रहता है।

विकास

जब ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होने

प्रारम्भ हो गए तो उससे देश में एक अराजकता पूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई। इस अराजकतापूर्ण स्थिति में संस्कृत साहित्य से प्राप्त नाट्य परम्परायें और रङ्गशालायें भी धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न होती हुई लुप्त सी हो गई। यद्यपि इन परम्पराओं के लुप्त होने का श्रेय एकमात्र मुस्लिम शासन की कठोरता और भयंकरता को ही नहीं दिया जा सकता, हालाँकि इसका बहुत बड़ा भाग अवश्य रहा है। वास्तविकता यह है कि सातवीं सदी से संस्कृत नाट्य-परम्परा का एक प्रकार से ह्रास सा होना प्रारम्भ हो गया था और इस ह्रास के साथ ही साथ भारतीय रङ्गमंच भी धीरे-धीरे क्षीण होने लगा था।

यद्यपि हिंदी-रङ्गमंच का विधिवत प्रारम्भ तो भारतेन्दु से ही माना जाता है परन्तु भारतेन्दु-पूर्व युग में भी हमारे यहाँ रङ्गमंच का अस्तित्व किसी न रूप में प्राचीन काल से चला आ रहा था, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। 'प्रसाद' ने मुस्लिम आक्रमणों से नष्ट हुए भारतीय रङ्गमंच की ओर स्पष्ट संकेत करते हुये लिखा है कि—"रङ्गमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गए थे जिन्हें हम पारसी स्टेजों के पहले भी देखते रहे हैं। इनमें मुख्यतः नौटङ्की (नाटकी) और भाड़ ही थे।"[1]

और नौटङ्कियों की यह परम्परा केवल हिन्दी-प्रदेश में ही प्रचलित न होकर गुजरात, महाराष्ट्र तथा उत्तर-प्रदेश में समान रूप से लोकप्रिय थी। स्थान विशेषों में इसका नामकरण भी भिन्न-भिन्न रूप से किया गया था जैसे "गुजरात की भँवाई, महाराष्ट्र का तमाशा, मालवा और राजपूताना का नाच तथा उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में स्वांग, सांग, भगति और तमाशा आदि।"[2]

यद्यपि आज शिक्षित समाज में इन नौटंकियों को हेय दृष्टि से देखा जाता है परन्तु जन-साधारण में आज भी ये अत्यन्त लोकप्रिय हैं। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से इनका अपना ऐतिहासिक महत्व है और वह यह कि वर्तमान हिन्दी रङ्गमंच का विकास इनकी उपेक्षा कर नहीं देखा जा सकता। नौटंकियों के समान ही रासलीला एवं रामलीला का भी अपना महत्व रहा है और आज भी है। अभिनय को प्रोत्साहित करने में इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

मुगलों के शासन की एकांगी एवं साम्प्रदायिक दृष्टि के बावजूद भी मुगल काल में कलाओं की विशेष उन्नति हुई थी। सन् १६८५ में मौलाना गनीमत द्वारा रचित 'नौरंगे इश्क' नामक मसनवी में इस बात का स्पष्ट

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद।

२—मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा—प्रो० कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह।

उल्लेख मिलता है कि उस युग में अभिनय को महत्व दिया जाता था। डा० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल ने तत्सम्बन्धी इसका एक अनूदित अंश उद्धृत किया है—"आज शहर में विभिन्न किस्म के लोग आए हैं जो विशेष ढङ्ग से नकलें करते हैं और सङ्गीत के साथ आश्चर्यजनक खेल दिखाते हैं, नाच और नकल में ये उस्ताद हैं, मीठे स्वर वाले हैं, हमारी भाषा में इन्हें 'भगतबाज' कहते हैं।"[१]

इसके उपरान्त दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिनका अभिनय किया गया था। ये हैं लखनऊ के नबाव बाजिदअली शाह के समकालीन आगाहसन 'अमानत' का 'इन्दरसभा' और एक दूसरे लेखक का 'जानकी मङ्गल' नामक नाटक। डा० सोमनाथ गुप्त 'इन्दर सभा' को सर्वप्रथम रङ्गमंचीय नाटक मानते हैं। इन्हें उर्दू और हिन्दी का सर्वप्रथम रङ्गमंचीय नाटक तो माना जा सकता है क्योंकि इनका अभिनय किया गया था परन्तु इस बात को नहीं माना जा सकता कि इनसे पूर्व हमारे यहाँ रङ्गमंच का अस्तित्व ही नहीं था। हम संस्कृत नाटकों के रङ्गमंचों का ऊपर उल्लेख कर आए हैं। साथ ही **सीताबेंगा** और **जोगीमारा** की गुफाओं में जो नाट्य शालायें मिली हैं उनसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ रङ्गमंच की एक समृद्ध परम्परा थी जो अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही थी। श्रीकृष्णदास ने 'हमारी नाट्य परम्परा' नामक ग्रन्थ में इन गुफाओं में स्थित नाट्य शालाओं का विस्तृत विवेचन किया है।

'इन्दर सभा' एक गीति नाट्य है जिसका रचनाकाल सन् १८५३ माना जाता है। इसकी अश्लीलता और भौंड़ेपन से क्षुब्ध होकर भारतेन्दु ने 'बन्दर सभा' की रचना की थी। 'जानकी मङ्गल' को सबसे पहले सन् १८६८ में बनारस थियेटर में अभिनीत किया गया था। अतः उक्त दोनों नाटकों का अभिनय हमारे देश में पारसी थिटेटर कम्पनियों की स्थापना के पूर्व हो चुका था। पारसी कम्पनियों के जन्म और विकास का समय सन् १८७० से लेकर बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक का माना जाता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ पारसी कम्पनियों तथा भारतेन्दु से पूर्व भी रङ्गमच का अस्तित्व था। परन्तु इस रङ्गमंच का न तो कहीं विशद् उल्लेख ही मिलता है और न जनता में उसके अत्यधिक लोकप्रिय होने के प्रमाण ही उपलब्ध होते हैं। इसलिए हिन्दी रङ्गमंच का प्रारम्भ एवं विकास—"उन नाटक मंडलियों का इतिहास है जो इस नगर या

१—भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य—डा० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल।

उस नगर में उत्पन्न हुईं या इन्हीं के प्रभाव में लिखे गए नाटकों का विवरण मात्र । ये नाटक मंडलियाँ दो प्रकार की होती थीं—व्यवसायी और अव्यवसायी । व्यवसायी कम्पनियाँ अपना रङ्गमंच अपने साथ ही लिए फिरती थीं; किन्तु अव्यवसायी मंडलियों का भी अपना उल्लेखनीय प्रेक्षागृह नहीं था। कोई नाटक खेलने के समय ही ये लोग अपना अस्थायी रङ्गमंच बनाते थे और अभिनय के पश्चात् उसे हटा देते थे ।"[१]

व्यवसायी नाटक कम्पनियों का श्रीगणेश पारसी नाटक मंडलियों द्वारा हुआ था । सन् १८७० में सेठ पेस्टन जी फ्राम जी नामक एक पारसी सज्जन ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की जिसके लिए 'रौनक' बनारसी एवं हुसैन मियाँ 'जरीफ' जैसे प्रसिद्ध नाटककार नाटक लिखा करते थे । 'रौनक' साहब का लिखा तथा इस कम्पनी द्वारा अभिनीत नाटक 'इन्साफे महमूद शाह' उन दिनों काफी प्रसिद्ध हुआ था । पेस्टन जी की मृत्यु के उपरांत सन् १८७७ में खुरशेदजी बल्लीवाला तथा कावस जी खटाऊ ने क्रमशः 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' तथा 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की । पहली कम्पनी के लिए मुंशी विनायक प्रसाद ने तथा दूसरी के लिए मेहदी-हसन 'अहसान' तथा नारायण प्रसाद 'बेताब' ने अनेक उर्दू हिन्दी के नाटक लिखे और कुछ अंग्रेजी नाटकों के भी अनुवाद किए । इन कम्पनियों द्वारा खेले जाने वाले नाटकों की भाषा प्रायः उर्दू-बोझिल और संवाद पद्यात्मक होते थे । पात्रों में पुरुष और स्त्री दोनों ही कार्य करते थे । इन कम्पनियों में कार्य करने वाली कई अभिनेत्रियाँ आगे चलकर रजतपट के क्षेत्र में भी काफी प्रसिद्ध हुई थीं । उन दिनों इन कम्पनियों द्वारा अभिनीत नाटक देखने के लिए जनता लालायित रहती थी । ये कम्पनियाँ एक नगर से दूसरे नगर की यात्रा करती हुईं निरन्तर अपने नाटकों का प्रदर्शन किया करती थीं ।

अल्फ्रेड कम्पनी सन् १९१४ तक चलती रही और फिर इसी वर्ष खटाऊ साहब की मृत्यु हो जाने के उपरान्त मिस्टर मदन के हाथ में आकर 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' के नाम से प्रसिद्ध हुई । इसके लिए नाटक लिखने वालों में राधेश्याम कथावाचक एवं आगा हश्र कश्मीरी जैसे प्रसिद्ध नाटककार थे । पं० राधेश्याम का 'वीर अभिमन्यु' नाटक उन दिनों काफी प्रसिद्ध हुआ था ।

उपर्युक्त थियेट्रिकल कम्पनियों के पश्चात् अन्य अनेक कम्पनियों ने इस परम्परा को कायम रखा था । इनमें ओल्ड पारसी थियेटर कम्पनी, जुबिली कम्पनी, अलेक्जेन्ड्रिया कम्पनी, इम्पीरियल कम्पनी, लाइट आफ इन्डिया आदि कम्पनियों के नाम उल्लेखनीय हैं । ये नाटक कम्पनियाँ साधारणतः सस्ते,

१—हमारी नाट्य-परम्परा—श्रीकृष्णदास ।

उल्लेख मिलता है कि उस युग में अभिनय को महत्व दिया जाता था। डा० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल ने तत्सम्बन्धी इसका एक अनूदित अंश उद्धृत किया है—"आज शहर में विभिन्न किस्म के लोग आए हैं जो विशेष ढङ्ग से नकलें करते हैं और सङ्गीत के साथ आश्चर्यजनक खेल दिखाते हैं, नाच और नकल में ये उस्ताद हैं, मीठे स्वर वाले हैं, हमारी भाषा में इन्हें 'भगतबाज' कहते हैं।"[१]

इसके उपरान्त दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिनका अभिनय किया गया था। ये हैं लखनऊ के नबाव बाजिदअली शाह के समकालीन आगाहसन 'अमानत' का 'इन्दरसभा' और एक दूसरे लेखक का 'जानकी मङ्गल' नामक नाटक। डा० सोमनाथ गुप्त 'इन्दर सभा' को सर्वप्रथम रङ्गमंचीय नाटक मानते हैं। इन्हें उर्दू और हिन्दी का सर्वप्रथम रङ्गमंचीय नाटक तो माना जा सकता है क्योंकि इनका अभिनय किया गया था परन्तु इस बात को नहीं माना जा सकता कि इनसे पूर्व हमारे यहाँ रङ्गमंच का अस्तित्व ही नहीं था। हम संस्कृत नाटकों के रङ्गमंचों का ऊपर उल्लेख कर आए हैं। साथ ही **सीताबेंगा** और **जोगीमारा** की गुफाओं में जो नाट्य शालायें मिली हैं उनसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ रङ्गमंच की एक समृद्ध परम्परा थी जो अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही थी। श्रीकृष्णदास ने 'हमारी नाट्य परम्परा' नामक ग्रन्थ में इन गुफाओं में स्थित नाट्य शालाओं का विस्तृत विवेचन किया है।

'इन्दर सभा' एक गीति नाट्य है जिसका रचनाकाल सन् १८५३ माना जाता है। इसकी अश्लीलता और भौंड़ेपन से क्षुब्ध होकर भारतेन्दु ने 'बन्दर सभा' की रचना की थी। 'जानकी मङ्गल' को सबसे पहले सन् १८६८ में बनारस थियेटर में अभिनीत किया गया था। अतः उक्त दोनों नाटकों का अभिनय हमारे देश में पारसी थिटेटर कम्पनियों की स्थापना के पूर्व हो चुका था। पारसी कम्पनियों के जन्म और विकास का समय सन् १८७० से लेकर बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक का माना जाता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ पारसी कम्पनियों तथा भारतेन्दु से पूर्व भी रङ्गमच का अस्तित्व था। परन्तु इस रङ्गमंच का न तो कहीं विशद् उल्लेख ही मिलता है और न जनता में उसके अत्यधिक लोकप्रिय होने के प्रमाण ही उपलब्ध होते हैं। इसलिए हिन्दी रङ्गमंच का प्रारम्भ एवं विकास—"उन नाटक मंडलियों का इतिहास है जो इस नगर या

१—भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य—डा० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल।

उस नगर में उत्पन्न हुईं या इन्हीं के प्रभाव में लिखे गए नाटकों का विवरण मात्र। ये नाटक मंडलियाँ दो प्रकार की होती थीं—व्यवसायी और अव्यवसायी। व्यवसायी कम्पनियाँ अपना रङ्गमंच अपने साथ ही लिए फिरती थीं; किन्तु अव्यवसायी मंडलियों का भी अपना उल्लेखनीय प्रेक्षाग्रह नहीं था। कोई नाटक खेलने के समय ही ये लोग अपना अस्थायी रङ्गमंच बनाते थे और अभिनय के पश्चात् उसे हटा देते थे।"[1]

व्यवसायी नाटक कम्पनियों का श्रीगणेश पारसी नाटक मंडलियों द्वारा हुआ था। सन् १८७० में सेठ पेस्टन जी फ्राम जी नामक एक पारसी सज्जन ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की जिसके लिए 'रौनक' बनारसी एवं हुसैन मियाँ 'जरीफ' जैसे प्रसिद्ध नाटककार नाटक लिखा करते थे। 'रौनक' साहब का लिखा तथा इस कम्पनी द्वारा अभिनीत नाटक 'इन्साफे महमूद शाह' उन दिनों काफी प्रसिद्ध हुआ था। पेस्टन जी की मृत्यु के उपरांत सन् १८७७ में खुरशेदजी बल्लीवाला तथा कावस जी खटाऊ ने क्रमशः 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' तथा 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की। पहली कम्पनी के लिए मुंशी विनायक प्रसाद ने तथा दूसरी के लिए मेहदी-हसन 'अहसान' तथा नारायण प्रसाद 'बेताव' ने अनेक उर्दू हिन्दी के नाटक लिखे और कुछ अंग्रेजी नाटकों के भी अनुवाद किए। इन कम्पनियों द्वारा खेले जाने वाले नाटकों की भाषा प्रायः उर्दू-बोझिल और संवाद पद्यात्मक होते थे। पात्रों में पुरुष और स्त्री दोनों ही कार्य करते थे। इन कम्पनियों में कार्य करने वाली कई अभिनेत्रियाँ आगे चलकर रजतपट के क्षेत्र में भी काफी प्रसिद्ध हुई थीं। उन दिनों इन कम्पनियों द्वारा अभिनीत नाटक देखने के लिए जनता लालायित रहती थी। ये कम्पनियाँ एक नगर से दूसरे नगर की यात्रा करती हुईं निरन्तर अपने नाटकों का प्रदर्शन किया करती थीं।

अल्फ्रेड कम्पनी सन् १९१४ तक चलती रही और फिर इसी वर्ष खटाऊ साहब की मृत्यु हो जाने के उपरान्त मिस्टर मदन के हाथ में आकर 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके लिए नाटक लिखने वालों में राधेश्याम कथावाचक एवं आगा हश्र कश्मीरी जैसे प्रसिद्ध नाटककार थे। पं० राधेश्याम का 'वीर अभिमन्यु' नाटक उन दिनों काफी प्रसिद्ध हुआ था।

उपर्युक्त थियेट्रिकल कम्पनियों के पश्चात् अन्य अनेक कम्पनियों ने इस परम्परा को कायम रखा था। इनमें ओल्ड पारसी थियेटर कम्पनी, जुबिली कम्पनी, अलेक्जेन्ड्रिया कम्पनी, इम्पीरियल कम्पनी, लाइट आफ इन्डिया आदि कम्पनियों के नाम उल्लेखनीय हैं। ये नाटक कम्पनियाँ साधारणतः सस्ते,

१—हमारी नाट्य-परम्परा—श्रीकृष्णदास।

वासनात्मक, कुरुचिपूर्ण मनोरंजन को ही अपना प्रधान उद्देश्य मानकर चल रहीं थीं, परन्तु धीरे-धीरे इनके लिए नाटक लिखने वाले नाटककारों पर भी देश की बदलती हुई परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया था और कुछ नाटकों में देशभक्ति का स्वर धीमी आवाज में प्रकट होने लगा था। 'वतन' नामक नाटक एक ऐसा ही नाटक था। इस भावना को प्रकट करने के लिए इसकी एक ही पंक्ति पर्याप्त है—"मकाँ से बाहर मकान वाले खड़े हुए हैं।"

उपर्युक्त व्यवसायी नाटक कम्पनियों के साथ-साथ देश में कुछ ऐसी भी नाटक मंडलियाँ अभिनय के क्षेत्र में प्रयत्नशील थीं जिनका प्रधान उद्देश्य धन पैदा करना न होकर विभिन्न नाटकों के माध्यम से धर्म एवं प्राचीन भारतीय गाथाओं का सुरुचिपूर्ण प्रदर्शन करना ही था। इन अव्यवसायिक मंडलियों में काठियावाड़ की 'सूर विजय' तथा मेरठ की 'व्याकुल भारत' नामक दो नाटक मंडलियाँ बहुत प्रसिद्ध थीं। श्रीकृष्णदास के शब्दों में—"यद्यपि इनमें भी पारसीपन का प्रभाव विद्यमान था परन्तु इनका ध्येय हिन्दी के नाटक खेलना था और इसमें सन्देह नहीं कि पारसी कम्पनियों द्वारा जो कुरुचि और भद्दापन जनता को प्रिय हो चला था, उसको हटाने में इन्होंने बड़ी सहायता पहुँचाई।"[1] इस प्रकार प्रधानतया हिन्दी-नाटकों को अपनाने के कारण हिन्दी रंगमंच के सुरुचिपूर्ण विकास में इन मंडलियों का बहुत बड़ा हाथ रहा था। 'सूर विजय' के पं० राधेश्याम कथावाचक द्वारा लिखित 'उषा अनिरुद्ध' तथा 'व्याकुल भारत' के 'बुद्धदेव', 'सम्राट चन्द्रगुप्त' और 'तेगे सितम' नाटकों ने अपने समय में काफी प्रसिद्धि पाई थी। इन मंडलियों को अनेक उच्चतम शिक्षा प्राप्त लेखकों एवं अभिनेताओं का सहयोग प्राप्त होता रहता था इसलिए इनके द्वारा हिन्दी-रङ्गमंच के विकास में पर्याप्त सहयोग मिला था।

उपर्युक्त व्यवसायी एवं अव्यवसायी नाटक कम्पनियों के शुभ एवं अशुभ दोनों ही पक्ष समान महत्व रखते हैं। पारसी व्यवसायी नाटक कम्पनियों को हिन्दी रङ्गमंच के लिए पहली देन यह थी कि उन्होंने रङ्गमंच पर विविध दृश्यों को परदों द्वारा उपस्थित करने की परम्परा का श्रीगणेश किया। नाटक के प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए प्रकृत दृश्यों को रङ्गमंच पर प्रस्तुत कर इन्होंने नाट्य-विधान में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया था। विविध दृश्यों को रङ्गमंच पर प्रस्तुत करने की कला में, अपने युग की सीमाओं को देखते हुए, इन्होंने बहुत उन्नति की थी। मंच पर रथ का चलना, नदी में लहरों का नर्तन

१—हमारी नाट्य-परम्परा—श्रीकृष्णदास

तथा नाव को चलती हुई दिखाना आदि दृश्य बड़े अद्भुत एवं चमत्कारपूर्ण प्रतीत होते थे।

इनकी दूसरी देन यह थी कि इन्होंने देश के विभिन्न प्रदेशों में दौरा कर भारतीय जनता में नाटक के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की थी। इनके नाटकों की भाषा प्रधानतः उर्दू एवं हिन्दी मिश्रित होती थी। आधुनिक युग में जिस प्रकार सिनेमा को सम्पूर्ण देश में हिन्दी भाषा का प्रचार करने का गौरव प्राप्त हुआ है उसी प्रकार उस युग में इन कम्पनियों को राष्ट्रभाषा का देश-व्यापी प्रचार करने का गौरव प्राप्त हुआ था।

इनकी तीसरी देन यह थी कि इनके कुरुचिपूर्ण रङ्गमंच और अभिनय की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी-लेखकों को इस बात की प्रेरणा मिली थी कि वे हिन्दी में सुरुचिपूर्ण नाटकों की रचना करें और उनका अभिनय करने के लिए हिन्दी रङ्गमंच की स्थापना करें। इसकी प्रतिक्रिया सर्व प्रथम भारतेन्दु पर हुई थी। भारतेन्दु हिन्दी नाटक के साथ-ही-साथ हिन्दी रङ्गमंच के भी जन्मदाता माने जाते हैं। भारतेन्दु पर हुई इस प्रतिक्रिया का सबसे ज्वलन्त प्रमाण उन्हीं के लिखे 'नाटक' नामक निबन्ध में मिलता है। वे पारसी थियेटर कम्पनियों पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थीबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृत्ति विद्वान यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता, यह लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

और इसी प्रतिक्रिया ने भारतेन्दु को हिन्दी रंगमंग की स्थापना करने की प्रेरणा थी।

इन पारसी नाटक कम्पनियों का अशुभ पक्ष यह था कि इनका प्रधान उद्देश्य कला की साधना करना न होकर केवल धन पैदा करना था। एकबार हिन्दी के एक विद्वान ने एक पारसी कम्पनी के मालिक से उनके नाटकों की आलोचना करते हुए उनमें कुछ सुधार करने के सुझाव दिये थे। इस पर उन्हें जो उत्तर मिला था वह दर्शनीय है—"हम यहाँ रुपया पैदा करने आये हैं, कुछ साहित्य का भंडार भरने नहीं। देशोद्धार और समाज-सुधार का ठेका हमने नहीं ले रखा। हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा वही करेंगे।"

इन्होंने समाज में जिस विकृति को जन्म या प्रोत्साहन दिया था वह भट्ट जी के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है—"हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम नाटक यह पारसी थियेटर है जो दर्शकों को

आशिकी-माशूकी का लुत्फ हासिल करने का बड़ा उम्दा जरिया है ।" इसका कारण यह था कि ये कम्पनियाँ प्रधानत: लैला-मजनू, शीरीं-फरहाद आदि विदेशी प्रेम-कथाओं तथा दुष्यन्त-शकुन्तला, उषा-अनिरुद्ध आदि संस्कृत की प्रेम कथाओं का ही अभिनय किया करतीं थीं और उनके बीच-बीच में आधुनिक कुरुचिपूर्ण चलचित्रों का निर्माण करने वाले निर्माताओं के समान, अश्लील नृत्यों एवं गानों का समावेश कर दिया करतीं थीं । इस प्रकार इन्होंने एक तरफ तो जनता में नाटक देखने के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की तो साथ ही दूसरी तरफ उनकी रुचि को विकृत करने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी । दूसरी बात यह थी कि अपने नाटक में चमत्कार उत्पन्न कर दर्शकों को आतंकित एवं मुग्ध कर देना ही इनका प्रधान उद्देश्य था और इस चमत्कार प्रदर्शन के कारण सदैव स्वाभाविकता की हत्या होती रहती थी । इस चमत्कार के मायाजाल में उलझ कर दर्शक अभिनय, दृश्य विधान आदि की तरफ ध्यान नहीं दे पाते थे ।

परन्तु समष्टि रूप से इन पारसी कम्पनियों की हिन्दी रंगमंच को दी हुई देन को भुलाया नहीं जा सकता । एक तरफ तो इन्होंने हिन्दी-साहित्य एवं रंगमंच को पं० राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद 'बेताव', कृष्णचन्द 'जेबा', हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त 'सैदा' जैसे नाटककार दिए, तो दूसरी तरफ अपनी चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण अनेक असम्भव से लगने वाले दृश्यों को सम्भव बनाकर प्रस्तुत करने के प्रयास से रंगमंच की जिस तकनीक तथा शिल्प का विकास किया, उसका अपना ऐतिहासिक महत्व है ।

हम ऊपर देख आए हैं कि पारसी व्यावसायिक नाटक कम्पनियों के साथ साथ अव्यावसायिक नाटक मंडलियों का भी अस्तित्व समानान्तर चल रहा था । इससे यह प्रकट होता है कि नाटक एवं उसके अभिनय के प्रति शिक्षित एवं अशिक्षित जनता में रुचि की अभिवृद्धि हो रही थी । और हिन्दी के तत्कालीन कर्णधार रंगमंच का विकास करने के प्रति सजग थे । भारतेन्दु के समय में अनेक अव्यावसायिक रंगमचों का निर्माण होना प्रारम्भ हो गया था । भारतेन्दु के कथनानुसार ऐसे अव्यावसायिक रंगमच पर हिन्दी का अभिनीत होने वाला नाटक पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी द्वारा लिखित 'जानकी मंगल' था । भारतेन्दु के शब्दों में—"इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेला था । पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्ट जन का नाटक समाज नहीं है ।" उस समय कानपुर में कई ऐसे क्लब बने और बिगड़े जिन्होंने भारतेन्दु

के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति','अन्धेर नगरी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटकों को सफलतापूर्वक अभिनीत किया। अभिनय की दृष्टि से ये नाटक सफल माने गए थे। परन्तु अभी तक इन पर पारसी रंगमंच एवं अभिनय-कला का प्रभाव शेष था।

सन् १८९८ में प्रयाग में 'रामलीला नाटक मन्डली' की स्थापना हुई। इसने अपना पहला नाटक पं० माधव शुक्ल का 'सीय स्वयम्वर' खेला। इस मंडली का उद्देश्य था 'रामलीला के प्रसङ्ग में वर्तमान राजनीति की भी आलोचना करना'। सन् १९०७ में यह मंडली बिखर गई परन्तु सालभर बाद ही माधव शुक्ल ने इसका पुनः सङ्गठन कर इसका नाम 'हिन्दी नाट्य समिति' रख दिया। तत्कालीन अनेक शीर्ष स्थानीय साहित्यकारों का सहयोग इसे प्राप्त था। पं० बालकृष्ण भट्ट, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे वृद्ध एवं नवयुवक साहित्यकार इसे आगे बढ़ाने में प्रयत्नशील थे। इसने बाबू राधाकृष्ण दास लिखित 'महाराणा प्रताप' नामक नाटक को अभिनीत कर शिक्षित एवं कलाप्रिय समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था। और सन् १९१५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के छठवें वार्षिकोत्सव पर इस समिति द्वारा खेले गए 'महाभारत' (उत्तरार्द्ध) नाटक का अभिनय देखकर बाबू शिवपूजन सहाय ने लिखा था—

"प्रत्यक्षदर्शी के नाते मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि आज तक मैंने किसी हिन्दी रङ्गमंच पर वैसा सफल और प्रभावशाली अभिनय नहीं देखा।"

इसी समय बनारस में भी कई नाट्य-समितियों का संगठन हुआ जिन्होंने हिन्दी के साहित्यिक नाटकों को रङ्गमंच पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया। नगर के अनेक सम्भ्रान्त एवं शिक्षित लोगों ने 'नागरी नाट्यकला प्रवर्त्तक मंडली' की स्थापना की जो आगे चलकर 'नागरी नाटक मण्डली' तथा 'भारतेन्दु नाटक मण्डली' में विभाजित हो गई। पंडित सुधाकर द्विवेदी ने 'नागरी नाटक मण्डली' को सम्हाला और कबीर चौरा में एक रंगमंच की भी स्थापना की। इसके उपरान्त अनेक नाट्य-समितियों का संगठन-विघटन होता रहा। इससे एक बात यह सिद्ध होती है कि उस युग में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' एवं 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' जैसी साहित्यिक संस्थाओं की स्थापना एवं उत्कर्ष के मूल में जो प्रेरणा कार्य कर रही थी वही प्रेरणा हिंदी रंगमंच के विकास के प्रति भी प्रयत्नशील थी। उच्चकोटि के शिक्षित जन अभिनय-कला को प्रोत्साहन दे रहे थे और समय-समय पर नाटकों के अभिनय में सक्रिय भाग लेते थे। परन्तु इतना प्रयत्न करने पर भी हिंदी रंगमंच समाज एवं साहित्य में अपना एक निश्चित स्थान बना सकने में

असमर्थ रहा। उस समय रँगमंच के निर्माण सम्बन्धी ये 'सब प्रयास छुट-पुट प्रयास' बनकर ही रह गए। हिन्दी-रङ्गमंच के विकास में इन 'छुट-पुट प्रयासों का एक अपना ऐतिहासिक महत्व था, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। हिंदी-रङ्गमंच को इन 'प्रयासों' की सबसे बड़ी देन यह थी कि इन्होंने पारसी नाटक कम्पनियों की निम्नस्तरीय अभिनयकला, रंगमंचीय भड़कीली साज-सज्जा, चमत्कार-प्रदर्शन, अश्लील, कुरुचिपूर्ण बाजारू गानों आदि दुर्गुणों से मुक्त कर हिंदी-रङ्गमंच में सुरुचि, स्वाभाविकता, श्रेष्ठ अभिनय-कला की स्थापना की। कथावस्तु के लिए इनके द्वारा साहित्यिक नाटक ही चुने जाने लगे। फारसी प्रेम-कथाओं का हिंदी-रङ्गमंच से पूर्ण बहिष्कार हो गया।

इस काल के साहित्यकार नाटक लिखने एवं उनके सुरुचिपूर्ण अभिनय के प्रति समान रूप से जागरूक थे। इन लोगों के प्रयत्न से शिक्षा-संस्थाओं में भी नाटकों का अभिनय करने की ओर अभिरुचि बढ़ी। स्कूलों-कालेजों में नाट्य-समितियों की स्थापना होने लगी परन्तु अपने सीमित आर्थिक एवं अन्य साधनों के अभाव के कारण रंगमंच का अभीप्सित विकास न हो सका।

हिन्दी-साहित्य का 'द्विवेदी-युग' हिंदी रङ्गमंच के विकास में कोई सहयोग नहीं दे सका। साहित्य-साधना में नीरस एवँ शुष्क आदर्शवाद के अत्यधिक प्रभाव ने अभिनय-कला को वहिष्कृत कर दिया। अब शिक्षित समुदाय अभिनय से कतराने लगा। ऐसी स्थिति में रङ्गमंच का विकास अवरुद्ध हो गया। भारतेन्दु द्वारा स्थापित की गई परम्परा का आगे विकास न हो सका। प्रसाद एवं उनकी पीढ़ी के अन्य नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना करते समय रङ्गमंच की सुविधाओं के प्रति ध्यान देना छोड़ दिया। द्विवेदी युग के उत्तराधिकारी छायावादी युग में भी रङ्गमंच की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

इस युग में रंगमंच के विकास की तरफ लोगों का ध्यान नहीं गया। प्रायः शिक्षा-संस्थाओं में ही कभी-कभी कुछ उत्साही व्यक्ति विभिन्न नाटकों का अभिनय करने का प्रयत्न करते रहे। परन्तु कोई सुसंगठित प्रयत्न न होने के कारण इस तरफ न तो हिन्दी के नाटककारों का ही ध्यान गया और न जनता में ही नाटक देखने के प्रति रुचि बढ़ी। सिनेमा के प्रचलन ने भी हिन्दी-रंगमंच को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। यह स्थिति काफी लम्बे अर्से तक बनी रही। परन्तु जब हिन्दी में एकाङ्की नाटकों का लिखा जाना प्रारम्भ हुआ तो उनके साथ-ही-साथ लोगों का ध्यान उनको अभिनीत करने की ओर भी गया। और जैसे-जैसे एकाङ्की का विकास होता गया वैसे-वैसे हिन्दी-रंगमंच का भी

विकास होने लगा। संक्षेप में, हिन्दी-रंगमंच को पुनः विकसित करने का सर्वाधिक श्रेय एकाङ्की नाटकों को ही दिया जा सकता है। क्योंकि शिक्षा-संस्थाओं के सीमित साधनों के कारण बड़े नाटकों का अभिनय करने में अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। एकाङ्की के अभिनय में ये असुविधाएँ अधिक आड़े नहीं आती थीं। और जैसे-जैसे एकाङ्की का विकास होता गया रंगमंच-सम्बन्धी अनेक नवीन तकनीकों का प्रयोग किया जाने लगा।

हिन्दी-रंगमंच के विकास में दो नाट्य संस्थाओं का सबसे बड़ा हाथ रहा है—'जन नाट्य संघ' (इप्टा) तथा 'पृथ्वी थियेटर्स'। जन नाट्य संघ एक अखिल भारतीय संस्था है जिसकी शाखायें भारत के लगभग सभी प्रमुख नगरों में काम कर रही है। इसमें वे कलाकार काम करते हैं जिन्हें अभिनय से प्रेम है और जो अभिनय को आर्थिक साधन के रूप में न अपना कर उसे कला के रूप में ही अपनाते हैं। कला के इस माध्यम द्वारा ये कलाकार एक तरफ तो नए नए नाटकों का अभिनय कर अभिनय-कला एवं रंगमंच को नित नवीन प्रयोगों द्वारा उन्नत कर जनता में लोकप्रिय बना रहे हैं तथा दूसरी तरफ प्रगतिशील विचारधाराओं को जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर जन-जीवन में नवीन चेतना की स्फूर्ति भर रहे हैं। विभिन्न अवसरों पर इस संस्था से सम्बन्धित चुने हुये प्रतिनिधि कलाकारों के सम्मेलन होते रहते हैं। इन वार्षिक सम्मेलनों में विभिन्न प्रान्तों के कलाकार एकत्र होकर अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार विचारों एवं कला-माध्यमों के इन प्रदर्शनों द्वारा इन लोगों में विचार एवं कला-सम्बन्धी नवीन प्रयोगों आदि का आदान-प्रदान होता रहता है जिसके कारण एक ऐसे अखिल भारतीय रंगमंच की स्थापना की दिशा में प्रगति हो रही है जो आगे चलकर रंगमंच को हिन्दी प्रदेश में भी उतना ही लोकप्रिय बना देगा जितना कि वह विदेशों एवं भारत के अन्य प्रान्तों में लोकप्रिय है। इस दृष्टि से हिन्दी रंगमंच 'जन नाट्य संघ' का चिर ऋणी है।

'पृथ्वी थियेटर्स' का भी हिन्दी-रंगमंच के विकास में अपना एक विशिष्ट स्थान एवं महत्व है। इसकी स्थापना सुप्रसिद्ध सिने-कलाकार पृथ्वीराज कपूर ने की थी। उनका अपना कलाकारों का एक दल है जिसे साथ लेकर वे भारत के विभिन्न प्रान्तों का दौरा करते हुए प्रमुख नगरों में अपने नाटकों का प्रदर्शन करते रहते हैं। इनके द्वारा प्रदर्शित सभी नाटक हिन्दी के हैं। पृथ्वीराज कपूर रंगमंच-सम्बन्धी प्रत्येक नवीन तकनीक के प्रति सतत जागरूक रहते हैं और उनका प्रयोग करते रहते हैं। समय-समय पर कुछ विदेशी नाटक-कम्पनियां भी

भारत का दौरा करती रहती हैं। इनके द्वारा भारतीयों को संसार के अन्य उन्नतिशील देशों के समृद्धशाली रंगमंचों का परिचय प्राप्त होता रहता है।

अब सरकार का ध्यान भी रंगमंच की स्थापना एवं उन्नति की ओर गया है। सरकार ने एक 'नाटक अकादमी' की स्थापना कर रंगमंच एवं नाटकों को जनता में लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है। अब लगभग सभी प्रमुख शिक्षा-संस्थाओं में नाट्य-समितियों की स्थापना हो चुकी है जो समय-समय पर लोकप्रिय नाटकों का चयन कर उनका अभिनय किया करती हैं। शिक्षित एवम् सम्भ्रान्त घराने के बालक-बालिकायें अब निर्द्वन्द्व होकर अभिनय में भाग लेने लगे हैं। इस सतत विकासमान लोकरुचि का यह परिणाम हो रहा है कि अब हमारा रंगमंच नवीन तकनीकों को अपनाता हुआ इस क्षेत्र में नित-नवीन प्रयोग कर रहा है। इधर इस क्षेत्र में अनेक नवीन प्रयोग हुए हैं जिनमें से कुछ का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

इन नवीन प्रयोगों में एक प्रयोग 'स्वच्छन्द मंच' (Open air theatre) सम्बन्धी है। इस प्रकार के रंगमंच की स्थापना-सम्बन्धी प्रयत्न बहुत दिनों से चल रहे थे। अन्त में भारत-सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप दिल्ली में एक 'स्वच्छन्द रंगमंच' की स्थापना की गई। इसमें विभिन्न विश्वविद्यालयों के कलाकारों ने अनेक सुन्दर एवं कलापूर्ण एकाङ्कियों का सफल प्रदर्शन पहली बार किया। भारत में 'स्वच्छन्द रंगमंच' कोई नवीन वस्तु नहीं है। रामलीला, रासलीला, नौटङ्की आदि का अभिनय 'स्वच्छन्द रंगमंच' पर प्राचीन युग से होता चला आया है। 'स्वच्छन्द रंगमंच' उसे कहते हैं जिसमें खुले मैदान में एक छोटा सा चबूतरा बना कर या उसके बिना ही केवल तख्त डाल कर अभिनेता गण अभिनय किया करते हैं। चारों तरफ दर्शक बैठे रहते हैं। हमारे यहाँ प्रमुख नगरों के 'रामलीला मैदान' इसी प्रकार के 'स्वच्छन्द रंगमंच' हैं। परन्तु दिल्ली में स्थापित इस नवीन रंगमंच को वैज्ञानिक ढंग से बनाया गया है। इसकी रूपरेखा कुछ-कुछ निम्नलिखित प्रकार की है——

इस मंच के सबसे पीछे एक वक्राकार 'साईक्लोरामा' दीवाल है। उसके बाद लगभग ३० फीट की दूरी पर दो सीढ़ियाँ हैं। मंच के दोनों ओर दो स्थायी दरवाजे हैं जिनमें से एक प्रवेश-द्वार तथा दूसरा निष्कासन-द्वार के काम में आता है। सीढ़ी के पीछे ५२ फीट चौड़ा और मध्य से ४६ फीट लम्बा एक गोलाकार मंच है। इसमें कोई भी पर्दा या साज-सज्जा नहीं होती। इस मंच की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मुख्य पर्दे का काम मंच के किनारे पर लगे जल के उन रंग-बिरंगे फुब्बारों से लिया जाता है जो दृश्य-परिवर्तन के समय काफ़ी ऊँचे उठकर मंच और दर्शकों के मध्य पानी की एक दीवाल

सी खड़ी कर मंच को छिपा देते हैं। 'साईक्लोरामा' दीवाल का उपयोग यह है कि वह पात्रों की ध्वनि को पीछे न जाने देकर आगे बैठे दर्शकों की ओर फेंकती है। दर्शकों का स्थान केवल सामने की ओर सीढ़ियोंदार है। इस रंगमंच की अपनी कुछ सीमायें है जिनके कारण इस पर सभी प्रकार के नाटकों का सफल प्रदर्शन नहीं हो पाता। क्षेत्र का अधिक विस्तृत होना, प्रकाश-व्यवस्था की अपूर्णता आदि ऐसी मुश्किलें हैं जो दृश्यों को प्रभावपूर्ण नहीं बनने देतीं। फिर भी अभी इस तकनीक में नए प्रयोग कर उसे उन्नत करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

रङ्गमँच के क्षेत्र में एक दूसरा प्रयोग और हो रहा है जिसे 'नवीन आकाश रेखा सँयुक्त पीठ मंच' (Sky-line Composite setting stage) कहते हैं। "यह मन्च प्राकृतिक दृश्यों और स्वाभाविक सज्जा" के लिए होता है। यह खण्डों में विभक्त होता है जिसमें प्रत्येक खण्ड अपने में पूर्ण होता है। इसमें स्वच्छन्द मंच के समान ही कोई छत आदि नहीं होती। इस प्रकार के मंच काफी विस्तृत होते हैं जिनपर सैन्य मार्च तक दिखाया जा सकता है। इसमें और स्वच्छन्द मन्च में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। प्रमुख अन्तर केवल यही है कि इसमें दृश्य परिवर्तन के समय एक बड़े पर्दे का प्रयोग किया जाता है और स्वच्छन्द रङ्गमंच में फुब्बारों द्वारा उत्पन्न जल-चादर का। प्रत्येक दृश्य को पूर्ण स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करना इसकी विशेषता है। लखनऊ में इस प्रकार के मंच का निर्माण कर एक नाटक खेला गया था।

एक अन्य प्रकार का रङ्गमंच और होता है जिसे 'घूमने वाला मंच' (Revolving stage) कहते हैं। इस मँच को खण्डों में विभक्तकर पहियों पर लगा दिया जाता है। इसका आकार गोल होता है। इसलिए इसे तुरन्त घुमाकर दृश्य बदल दिया जाता है।

उपर्युक्त सभी प्रकार एक तरह से 'स्वच्छन्द रङ्गमन्च' के ही प्रकार हैं। स्थायी रङ्गमंचों का भी बड़ी द्रुत गति से विकास हो रहा है। प्रकाश व्यवस्था आदि के द्वारा दर्शकों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने की चेष्टा की जाती है। चमत्कार-प्रदर्शन का पूर्ण बहिष्कार हो चुका है। रङ्गमंच की वर्तमान प्रगति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसका भविष्य काफी उज्ज्वल है। जनता अब नाटकों को देखना पसन्द करने लगी है।

४६. मुक्तक काव्य : स्वरूप और विकास

बन्ध की दृष्टि से भारतीय समीक्षकों ने श्रव्य काव्य के दो भेद माने हैं— प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध में पूर्वापर का सम्बन्ध रहता है। मुक्तक में पूर्वापर के इस तारतम्य का सर्वथा अभाव रहता है। प्रबन्ध में कथानक की श्रृङ्खला में आबद्ध रहने के कारण छन्द एक दूसरे से आबद्ध रहते हैं। उनके क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। मुक्तक छन्द स्वतः पूर्ण होने के कारण इस पारस्परिक बन्धन से मुक्त रहते हैं। उन्हें क्रम से रखा अवश्य जा सकता है परन्तु फिर भी एक छन्द दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए सर्वथा स्वतन्त्र होता है। सूरदास का 'भ्रमरगीत' तथा तुलसीदास की 'गीतावली' में पद क्रम के अनुसार रखे गए हैं परन्तु फिर भी इनका प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण है।

आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार श्रव्य काव्य के दो भेद माने गए हैं—व्यक्तित्व प्रधान अथवा विषयीगत (Subjective) और विषय-प्रधान अथवा विषयगत (Objective)। इसी के आधार पर डा० श्यामसुन्दरदास ने कविता के दो भेद स्वीकार करते हुए लिखा है—"एक तो वह जिसमें कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ़ निकालता है, और दूसरा वह जिसमें वह अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर साँसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूँढ़ निकालता है उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को भावात्मक व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता कह सकते हैं। दूसरे विभाग को हम विषय प्रधान अथवा भौतिक कविता कह सकते हैं।"[१] इस विभाजन के अनुसार कविता के दो मोटे भेद हुए—भाव प्रधान और विषय प्रधान।

मुक्तक काव्य को भाव प्रधान कविता के अन्तर्गत माना जाता है। इसमें कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की प्रधानता रहती है। भाव-प्रधानता के कारण उसमें गीतात्मकता का विशेष स्थान रहता है। प्रबन्ध और मुक्तक के भेद को स्पष्ट करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—"प्रबन्ध कवि की किसी महती इच्छा, इतिवृत्त-विधायिनी बुद्धि और शिल्प कुशल चेतना

१—साहित्यालोचन—डा० श्यामसुन्दरदास।

का परिणाम है किन्तु मुक्तक कवि की सद्यः स्फुरित भावुकता, समास-चेतना और भाव-विधायिनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति।"[1]

'मुक्तक' शब्द की उत्पत्ति 'मुक्त' शब्द में 'कन्' प्रत्यय के योग से हुआ है। 'मुक्त' के अनुसार ही इसका अर्थ होता है "अपने आप में सम्पूर्ण अन्य निरपेक्ष मुक्त वस्तु।" संस्कृत के विभिन्न साहित्याचार्यों ने मुक्तक काव्य की अनेक परिभाषायें की हैं। आचार्य दण्डी 'काव्यादर्श' में लिखते हैं—"मुक्तकं वाक्यान्तर निरपेक्षो यः श्लोकः।" अर्थात् मुक्तक वह श्लोक है जो वाक्यान्तर की अपेक्षा न रखता हो।" अग्निपुराण के अनुसार—"मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम:" अर्थात् 'चमत्कारक्षम' एक ही श्लोक को मुक्तक कहते हैं। 'ध्वन्यालोक' के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त ने मुक्तक की व्याख्या इस प्रकार की है— "मुक्तम् अन्येन नालिङ्गितम् मुक्तकम्। तस्य संज्ञायां कन्। पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।" अर्थात् आगे या पीछे के दूसरे पदों या कविताओं के साथ सम्बन्ध नहीं होने पर भी जिससे रस टसके उमको मुक्तक काव्य कहते हैं। 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य ने लिखा है कि—

"तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्।
तत्र मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यंते।"

अर्थात् मुक्तकों में रस-निबन्धन में आग्रहशील कवि के लिए रसाश्रित औचित्य नियामक तत्व है। प्रबन्ध के समान मुक्तकों में भी रस का अभिनिवेश करने वाले कवि पाए जाते हैं। इसके उपरान्त उन्होंने उदाहरण के लिए अमरुक कवि का उल्लेख करते हुए कहा है—"यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गार-रसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।" अर्थात् उदाहरण के रूप में अमरुक कवि के मुक्तकों में शृङ्गाररस ओतप्रोत है और उनमें प्रत्येक श्लोक एक-एक प्रबन्ध के बराबर है।

प्रसिद्ध वैयाकरण तथा काव्यशास्त्री हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'शब्दानुशासन' में "अनिबद्धं मुक्तकादि" कह कर यह भाव व्यक्त किया है कि मुक्तकादि अनिबद्ध होते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं में से दो परिभाषायें अधिक ध्यान देने योग्य हैं—अभिनव गुप्त की तथा आनन्दबर्द्धन की। आनन्दवर्द्धन के अनुसार मुक्तक में भी उतने ही भावों या रसों की व्यंजना सम्भव है जिनका परिपाक प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत सम्भव माना जाता है। उन्होंने अमरुक के एक-एक श्लोक को एक-

१—हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास—श्री जितेन्द्रनाथ पाठक एम० ए०

एक महाकाव्य के समान माना है । अतः काव्य के क्षेत्र में मुक्तक का भी वही महत्व माना जा सकता है जो प्रबन्धकाव्य का माना जाता है ।

अभिनव गुप्त मुक्तक को स्वतन्त्र और निरपेक्ष-रूप में अर्थ-द्योतन में समर्थ मानते हुए इस बात को भी मानते हैं कि मुक्तक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी प्रबन्ध काव्य के बीच भी समाविष्ट हो सकता है । अर्थात् प्रबंध काव्यों के बीच-बीच में ऐसे मुक्तक मिल जाते हैं जो उस प्रबन्ध काव्य की कथा-शृङ्खला की एक कड़ी होते हुए भी अपना सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं । हिन्दी के वर्तमान प्रबन्ध काव्यों में ऐसे अनेक मुक्तक वर्तमान हैं । अभिनव गुप्त मुक्तक की एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता का उल्लेख करते हैं और जिसे आनन्द बर्द्धन ने भी स्वीकार किया है और वह यह है कि मुक्तक में विभाव-अनुभावादि से परिपुष्ट इतना रस ओतप्रोत रहता है कि वह पाठक को रसानुभूति प्रदान कर सकता है । अतः काव्य रस का आस्वादन प्रदान करने में मुक्तक भी लगभग उतना ही समर्थ होता है जितना कि प्रबन्ध काव्य ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध और मुक्तक का विवेचन करते हुए मुक्तक के सम्बन्ध में लिखा है कि—"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है । इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है । यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है, इसी से वह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है ।"

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त कथन से यह ध्वनि निकलती है कि मुक्तक रसानुभूति को पूर्णतः परिपुष्ट करने में समर्थ नहीं होता बल्कि रस के केवल कुछ छीटे उड़ाकर ही दूर हो जाता है । शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार रसानुभूति के लिए सम्पूर्ण शास्त्रीय लक्षणों—भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का चित्रण अपेक्षित होता है परन्तु मुक्तक का आकार प्रबन्ध की तुलना में अत्यधिक संकुचित होने के कारण उसमें रस निष्पत्ति के लिए अपेक्षित उपर्युक्त सभी अवयवों का समावेश होना सम्भव नहीं प्रतीत होता । इसलिए यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसी अवस्था में मुक्तक द्वारा रस-निष्पत्ति सम्भव है या नहीं ? यदि कुछ विद्वानों द्वारा उठाई गई इस शंका को महत्व दिया जाय तो शायद सारे मुक्तकों को काव्य की परिधि से बहिष्कृत कर देना पड़ेगा । आचार्य शुक्ल का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मुक्तक रसानुभूति कराने में अक्षम होता है । उससे रसानुभूति होती अवश्य है परन्तु उसका प्रभाव उतना स्थायी और गहन नहीं हो पाता जितना कि महाकाव्य का होता

है। मुक्तक पाठक या श्रोता की भावनाओं को कुछ समय के लिए झकझोर कर उसे रोमाँचित कर देता है। वहाँ उसकी अनुभूति विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत रहती है। सूर या विद्यापति के पद इसी प्रकार का प्रभाव डालते हैं। उन्हें पढ़ या सुनकर हम अपनी व्यक्तिगत सीमाओं की गहराइयों में डूब कर कुछ समय के लिए विभोर हो उठते हैं। इसके विपरीत महाकाव्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। उसमें रस का परिपाक विभिन्न साधनों द्वारा धीरे-धीरे अत्यन्त मन्द गति से होता रहता है। वहाँ पाठक या श्रोता अपने व्यक्तित्व की सीमाओं से बाहर निकल कर समाज के विशाल प्राँगण में प्रवेश करता है, इसलिए उस पर पड़ा प्रभाव अधिक गहन एवं स्थायी रहता है।

कुछ विद्वानों का यह कथन भ्रान्तिपूर्ण है कि—"प्रबन्ध में वह सारी स्थूल सामग्री उपस्थित होती है जिनसे रस की निष्पत्ति सम्भव होती है; जब कि मुक्तककार सामग्री प्रस्तुत न करके उसका केवल सार या रस मात्र प्रस्तुत करता है।" जब स्थूल सामग्री के अभाव में ही रस की निष्पत्ति सम्भव है तो फिर प्रबन्धकार उसके लिए इतने लम्बे-चौड़े बांधनू क्यों बाँधते हैं? लेकिन साधन के अभाव में साध्य की उपलब्धि किस चमत्कार द्वारा सम्भव है, इसे तो उक्त विद्वान गण ही जानते होंगे। वस्तुस्थिति यह है कि मुक्तककार भी साधनों—स्थूल सामग्री द्वारा ही रस की निष्पत्ति करने में समर्थ होता है, उनके अभाव में नहीं। यह दूसरी बात है कि मुक्तक के लघु कलेवर को देखते हुए उसके द्वारा प्रयुक्त साधन अत्यन्त सीमित, अस्पष्ट एवं संकेतित मात्र होते हैं। वह इन्हीं के कुशल प्रयोग द्वारा रस की निष्पत्ति करने में समर्थ होता है। साथ ही मुक्तककार की अपनी सीमायें होतीं हैं, अपनी कला होती है और उसी के अनुरूप उसका प्रभाव भी पड़ता है। 'रामचरित मानस' का जो प्रभाव पाठकों या श्रोताओं पर पड़ता है वह अधिक स्थायी और गहन होता है। सूर के समस्त पदों का सम्मिलित प्रभाव भी अपना विशिष्ट महत्व रखता है परन्तु सूर के केवल एक ही पद का वह प्रभाव नहीं पड़ सकता जो 'मानस' अथवा 'सूरसागर' का पड़ता है। वैसे तो यह भी कहा जाता है कि बिहारी, विद्यापति जैसे महाकवियों के एक पद ने ही क्रांतिकारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिये थे। परन्तु उन परिवर्त्तनों या प्रभावों का महत्व व्यक्ति विशेष तक ही सीमिति रहा था; उनकी वैसी ही सामाजिक उपयोगिता या प्रभाव नगण्य था। इस दृष्टि से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मुक्तक और प्रबन्ध के क्षेत्र भिन्न हैं, उनके प्रभावों का प्रकार भी भिन्न है, उनकी काव्यकला एक दूसरे से भिन्न है, इसलिए उनका अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व मानने में किसी भी प्रकार का संकोच

नहीं होना चाहिए । रस निष्पत्ति दोनों ही प्रकारों द्वारा सम्भव है, केवल मात्रा में अन्तर पड़ सकता है ।

मुक्तक काव्य में रस निष्पत्ति के लिए अपेक्षित सभी स्थूल अवयवों का चित्रण नहीं किया जाता । उसमें क्योंकि किसी एक ही भावदशा का चित्रण होता है इसलिए संक्षिप्तता के कारण उसमें संकेत पद्धति को अपनाना पड़ता है । वहाँ आश्रय अथवा आलम्बन का भले ही स्पष्ट निर्देश न हो परन्तु उसमें व्यक्त भाव के अनुरूप उनकी कल्पना कर ली जाती है और इस प्रकार सारी स्थिति की व्यंजना हो जाती है । संक्षिप्तता के कारण कवि को अधिक सतर्क रहना पड़ता है । वहाँ गागर में सागर भरने की प्रवृत्ति को प्रधानता देनी पड़ती है जिसमें रसानुभूति के साथ-साथ चमत्कार भी अपेक्षित होता है। आनन्दबर्द्धन 'अमरुशतक' के एक-एक श्लोक को एक-एक महाकाव्य के समान मानते हैं । और उनका ऐसा कहना असंगत नहीं है । यहाँ हम 'अमरुशतक' तथा विद्यापति के एक-एक उदाहरण देकर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि मुक्तक अपने संक्षिप्त कलेवर द्वारा किस प्रकार रसानुभूति—तीव्र रसानुभूति—कराने में समर्थ हो सकता है ।

सखियाँ नायिका को बार-बार मान करने की शिक्षा दिया करती हैं; परन्तु नायक-नायिका का पारस्परिक प्रेम इतना प्रगाढ़ है कि दर्शन होते ही मान करने की भावना तिरोहित हो जाती है । जब सखियाँ नायिका से प्रश्न करती हैं तो नायिका उत्तर देती हुई कहती है—

"भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते ।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि, तनूरोमांचमालवते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिंजने ।"

अमरुशतक, श्लोक २८[1]

अर्थात् उनके सम्मुख आने पर मेरा मान कैसे निभ सकता है ? भौंहें चढ़ाने पर मेरी दृष्टि (आँखें) और भी अधिक उत्कंठा के साथ उनकी ओर देखने लगती है । बलपूर्वक पिंजड़े में रखा हुआ पक्षी उड़ कर वहीं जाना चाहता है, जहाँ से वह आया है । मैं बोलना बन्द कर देती हूँ, किन्तु मेरा यह अभागा मुँह मुस्कराने लगता है । मैं अपने मन को कर्कश कर लेती हूं किन्तु मेरा शरीर रोमांचित हो उठता है ।

क्या अमरुक का उक्त श्लोक रसानुभूति कराने में समर्थ नहीं है ? सुधी

१—महाकवि विद्यापति—पं० शिवनन्दन ठाकुर से उद्धृत ।

पाठक इसका निर्णय स्वयं ही कर सकते हैं। एक विशिष्ट भावदशा का इतना कुशल, मार्मिक एवं चमत्कारपूर्ण अंकन कुछ समय के लिए पाठक को रसमग्न कर देता है और कवि-कर्म की यही सबसे बड़ी सफलता मानी जाती है।

इसी भावदशा का अंकन महाकवि विद्यापति ने और भी अधिक कौशल के साथ किया है। पद द्रष्टव्य है।

विद्यापति की नायिका सखियों से कह रही है—

"दुरहि रहिअ, करिअ मन आन
नअन पिआसल हूँटल न मान।
हास सुधारस तसु मुख हेरि
बाँधलेओ बाँध निवी कत बेरि।
कि सखि करब धरब कि गोय
करबि मान जों आइति होय।
धसमस करय रहओं हिय जाँति
सगर सरीर धरव कत भाँति।
गोपहि न पारिअ हृदय उलास
मुनलओ बदन बेकत होअ हास।
भनइ विद्यापति तोर न दोस
भूखल मदन बढ़ावय रोस।"

अर्थात् मैं दूर ही खड़ी हो गई और मन को दूसरी ओर ले गई। परन्तु मेरे प्यासे नेत्र हठ पकड़ गए और उन्होंने मान करने की चिन्ता नहीं की। हास्य रूपी अमृत को उनके मुख से झरते हुए देखकर मेरा नीवी बन्धन बार-बार ढीला हो जाता था और मैं उसे बारम्बार बाँध लेती थी। हे सखी, मैं क्या करती, किस प्रकार अपने मन के भाव को छिपाती। यदि मुझे अपने पर पूरा अधिकार होता तो मैं मान करती। मैं अपनी छाती पर पत्थर रख लेती हूँ परन्तु इतने पर भी मेरा सारा शरीर काँपने लगता है। मैं नहीं जानती कि इस काँपते हुए सम्पूर्ण शरीर को किस प्रकार स्थिर करके रखूँ। मैं अपने हार्दिक उल्लास को छिपा नहीं पाती। मुँह ढक लेने पर भी मेरा हास्य छिप नहीं पाता, प्रकट हो जाता है। विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरी, इसमें तुम्हारा दोष नहीं है, कामदेव भूखा है, भूखे को अधिक क्रोध होता है। उसी भूखे कामदेव के क्रोध के कारण ये सारे उपद्रव खड़े हो जाते हैं। यहाँ कवि व्यंजना द्वारा यह संकेत कर रहा है कि मिलन द्वारा कामदेव की उस भूख को शान्त कर दो, सारे उपद्रव स्वतः ही शान्त हो जायेंगे।

विद्यापति का उपर्युक्त पद मुक्तक की काव्य शक्ति का ज्वलन्त उदाहरण

है। क्या इसे पढ़कर रसानुभूति नहीं होती ? होती अवश्य है; वह क्षण भर के लिए हमें रस-विभोर कर देता है। परन्तु वह उस स्थायी उदात्त भावना को उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है जो 'मानस' या 'कामायनी' जैसे महाकाव्य उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अतः आचार्य शुक्ल का वह कथन पूर्णतः सार्थक है कि मुक्तक रस के छींटे उड़ाने में समर्थ होता है; हम उसमें आकंठ निमग्न नहीं हो पाते। यह तो हुई मुक्तक की रसानुभूति उत्पन्न करने की शक्ति। परन्तु जिस प्रकार महाकाव्य का मूल उद्देश्य अन्य रसों के साथ किसी एक विशिष्ट रस की रसानुभूति कराना होता है, वैसा उद्देश्य सभी मुक्तकों का नहीं होता। गेय मुक्तक ही रसानुभूति कराने में समर्थ होते हैं, अन्य प्रकार के मुक्तक नहीं। इसी कारण बाबू गुलाबराय ने सम्पूर्ण मुक्तक-काव्य को दो वर्गों में विभाजित कर दिया है— १—गेय मुक्तक तथा २—पाठ्य मुक्तक। गेय मुक्तक गीतिकाव्य के नाम से जाने जाते हैं और पाठ्य मुक्तक वह हैं जिनका केवल पाठ किया जा सके। (हम गीतकाव्य का विवेचन करते समय गीतिकाव्य की विशेषताओं पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाल चुके हैं।)

आचार्य शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य को एक 'विस्तृत वनस्थली' और मुक्तक को 'एक चुना हुआ गुलदस्ता' कहा है। इसके आगे वह मुक्तक का विवेचन करते हुए कहते हैं कि—"उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय खंड दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।" शुक्ल जी का यह विवेचन गेय मुक्तक के सम्बन्ध में ही पूरा उतरता है, पाठ्य मुक्तक के सम्बन्ध में नहीं। शुक्ल जी संक्षेप में मुक्तक की तीन विशेषताओं पर बल देते हैं—

१—एक रमणीय मार्मिक खंड दृश्य का सहसा आनयन।
२—चयन, संयम और मंडन की प्रवृत्ति।
३—कुछ क्षणों के लिए चमत्कृत कर देने वाला प्रभाव।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर मुक्तक की चार विशेषतायें स्पष्ट होती हैं— १—वह अन्य निरपेक्ष हो, २—अनिबद्ध हो (उसमें कथा न हो), ३—एक छन्द हो, ४—रसानुभूति कराने में सहायक हो अथवा चमत्कारक्षम हो। अतः हम संक्षेप में मुक्तक की निम्नलिखित परिभाषा स्थिर कर सकते हैं—

"मुक्तक पूर्व और पर से निरपेक्ष, मार्मिक खंडदृश्य अथवा संवेदना को उपस्थित करने वाली वह रचना है जिसमें नैरन्तर्यपूर्ण कथा-प्रवाह नहीं होता,

जिसका प्रभाव सूक्ष्म अधिक व्यापक कम होता है तथा जो स्वयं पूर्ण अर्थभूमि सम्पन्न अपेक्षाकृत लघु रचना होती है।"[१]

इस विवेचन के उपरान्त अब हमें सम्पूर्ण मुक्तक-काव्य का वर्गीकरण कर यह देखना है कि आकार, विषय आदि की दृष्टि से उसे कितने वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

बाबू गुलाबराय ने स्थूल रूप से मुक्तकों के दो प्रधान भेद माने हैं—पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक। किन्तु इस भेद को किसी निश्चित विभाजक रेखा द्वारा अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में गुलाबराय जी का मत द्रष्टव्य है। आप लिखते हैं—

"मुक्तकों का विभाजन हमने पाठ्य और गेय रूप में किया है किन्तु इन दोनों के बीच की रेखा बड़ी सूक्ष्म और अस्थिर है। पाठ्य सामग्री भी गेय हो जाती है किन्तु कुछ पद या छन्द ऐसे होते हैं जो विशेष रूप से गेय होते हैं। गेय और पाठ्य, यह बात तो ऊपरी आकार से सम्बन्ध रखती है किन्तु अब यह भेद कुछ-कुछ विषयी-प्रधानता और विषय-प्रधानता में परिणत हो गया है। गेय में निजी भावातिरेक की मात्रा कुछ अधिक रहती है और पाठ्य में कवि बात को एक निरपेक्ष द्रष्टा या वकील के रूप में कहता है। पाठ्य मुक्तक प्रायः सूक्तियों के रूप में आते हैं। ऐसे मुक्तक प्रायः नीति-विषयक, श्रृङ्गार-विषयक, वीरता-विषयक होते हैं। नीति के मुक्तकों में सबसे अधिक विषय-प्रधानता रहती हैं।"[२]

पाठ्य तथा गेय मुक्तक का यह भेद दोनों के निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा। घनानन्द का एक गेय मुक्तक द्रष्टव्य है—

"पर कारज देह को धारे फिरौ, परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सुन्दरता सरसौ॥
'घन आनन्द' जीवनदायक हौ, कबौ मेरियो पीर हिए परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान कौ लै बरसौ॥"

पाठ्य मुक्तक के लिए कविवर वृन्द का एक दोहा यथेष्ट होगा—

"सैयौ छोटी ही भलौ, जासों गरज सराय।
कीजै कहा पयोधि कौं जातें प्यास न जाय॥"

घनानन्द के पद में हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का सरस, सरल एवं प्रभावशाली भाषा में प्रकाशन हुआ है जिसने उसे गेय होने के साथ-ही-साथ अत्यधिक मार्मिक बना दिया है। वृन्द ने अपने पद में एक सांसारिक सत्य

१—हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास—श्री जितेन्द्रनाथ पाठक।
२—काव्य के रूप—डा० गुलाबराय।

है। क्या इसे पढ़कर रसानुभूति नहीं होती ? होती अवश्य है; वह क्षण भर के लिए हमें रस-विभोर कर देता है। परन्तु वह उस स्थायी उदात्त भावना को उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है जो 'मानस' या 'कामायनी' जैसे महाकाव्य उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अतः आचार्य शुक्ल का वह कथन पूर्णतः सार्थक है कि मुक्तक रस के छींटे उड़ाने में समर्थ होता है; हम उसमें आकंठ निमग्न नहीं हो पाते। यह तो हुई मुक्तक की रसानुभूति उत्पन्न करने की शक्ति। परन्तु जिस प्रकार महाकाव्य का मूल उद्देश्य अन्य रसों के साथ किसी एक विशिष्ट रस की रसानुभूति कराना होता है, वैसा उद्देश्य सभी मुक्तकों का नहीं होता। गेय मुक्तक ही रसानुभूति कराने में समर्थ होते हैं, अन्य प्रकार के मुक्तक नहीं। इसी कारण बाबू गुलाबराय ने सम्पूर्ण मुक्तक-काव्य को दो वर्गों में विभाजित कर दिया है— १—गेय मुक्तक तथा २—पाठ्य मुक्तक। गेय मुक्तक गीतिकाव्य के नाम से जाने जाते हैं और पाठ्य मुक्तक वह हैं जिनका केवल पाठ किया जा सके। (हम गीतकाव्य का विवेचन करते समय गीतिकाव्य की विशेषताओं पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाल चुके हैं।)

आचार्य शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य को एक 'विस्तृत वनस्थली' और मुक्तक को 'एक चुना हुआ गुलदस्ता' कहा है। इसके आगे वह मुक्तक का विवेचन करते हुए कहते हैं कि—"उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय खंड दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।" शुक्ल जी का यह विवेचन गेय मुक्तक के सम्बन्ध में ही पूरा उतरता है, पाठ्य मुक्तक के सम्बन्ध में नहीं। शुक्ल जी संक्षेप में मुक्तक की तीन विशेषताओं पर बल देते हैं—

१—एक रमणीय मार्मिक खंड दृश्य का सहसा आनयन।
२—चयन, संयम और मंडन की प्रवृत्ति।
३—कुछ क्षणों के लिए चमत्कृत कर देने वाला प्रभाव।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर मुक्तक की चार विशेषतायें स्पष्ट होती हैं— १—वह अन्य निरपेक्ष हो, २—अनिबद्ध हो (उसमें कथा न हो), ३—एक छन्द हो, ४—रसानुभूति कराने में सहायक हो अथवा चमत्कारक्षम हो। अतः हम संक्षेप में मुक्तक की निम्नलिखित परिभाषा स्थिर कर सकते हैं—

"मुक्तक पूर्व और पर से निरपेक्ष, मार्मिक खंडदृश्य अथवा संवेदना को उपस्थित करने वाली वह रचना है जिसमें नैरन्तर्यपूर्ण कथा-प्रवाह नहीं होता,

जिसका प्रभाव सूक्ष्म अधिक व्यापक कम होता है तथा जो स्वयं पूर्ण अर्थभूमि सम्पन्न अपेक्षाकृत लघु रचना होती है।"[1]

इस विवेचन के उपरान्त अब हमें सम्पूर्ण मुक्तक-काव्य का वर्गीकरण कर यह देखना है कि आकार, विषय आदि की दृष्टि से उसे कितने वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

बाबू गुलाबराय ने स्थूल रूप से मुक्तकों के दो प्रधान भेद माने हैं—पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक। किन्तु इस भेद को किसी निश्चित विभाजक रेखा द्वारा अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में गुलाबराय जी का मत दृश्यव्य है। आप लिखते हैं—

"मुक्तकों का विभाजन हमने पाठ्य और गेय रूप में किया है किन्तु इन दोनों के बीच की रेखा बड़ी सूक्ष्म और अस्थिर है। पाठ्य सामग्री भी गेय हो जाती है किन्तु कुछ पद या छन्द ऐसे होते हैं जो विशेष रूप से गेय होते हैं। गेय और पाठ्य, यह बात तो ऊपरी आकार से सम्बन्ध रखती है किन्तु अब यह भेद कुछ-कुछ विषयी-प्रधानता और विषय-प्रधानता में परिणत हो गया है। गेय में निजी भावातिरेक की मात्रा कुछ अधिक रहती है और पाठ्य में कवि बात को एक निरपेक्ष दृष्टा या वकील के रूप में कहता है। पाठ्य मुक्तक प्रायः सूक्तियों के रूप में आते हैं। ऐसे मुक्तक प्रायः नीति-विषयक, शृङ्गार-विषयक, वीरता-विषयक होते हैं। नीति के मुक्तकों में सबसे अधिक विषय-प्रधानता रहती हैं।"[2]

पाठ्य तथा गेय मुक्तक का यह भेद दोनों के निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा। घनानन्द का एक गेय मुक्तक दृष्टव्य है—

"पर कारज देह को धारे फिरौ, परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सुन्दरता सरसौ।।
'घन आनन्द' जीवनदायक हौ, कबौ मेरियो पीर हिए परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान कौ लै बरसौ।।"

पाठ्य मुक्तक के लिए कविवर वृन्द का एक दोहा यथेष्ट होगा—

"सैयौ छोटी ही भलौ, जासों गरज सराय।
कीजै कहा पयोधि कौं जातैं प्यास न जाय।।"

घनानन्द के पद में हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का सरस, सरल एवं प्रभावशाली भाषा में प्रकाशन हुआ है जिसने उसे गेय होने के साथ-ही-साथ अत्यधिक मार्मिक बना दिया है। वृन्द ने अपने पद में एक सांसारिक सत्य

१—हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास—श्री जितेन्द्रनाथ पाठक।
२—काव्य के रूप—डा० गुलाबराय।

का उद्घाटन किया है जो प्रभावशाली होते हुए भी रसानुभूति उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ है ।

संस्कृत भाषा के प्राचीन काव्यशास्त्रियों दंडी, आनन्दवर्द्धन, हेमचन्द्र, वाग्भट, विश्वनाथ आदि ने मुक्तकों का वर्गीकरण संख्या और वर्णन शैली के आधार पर किया है । संख्यामूलक वर्गीकरण के अनुसार मुक्तकों के सात प्रकार माने गए हैं—(१) **मुक्तक**—छन्द संख्या एक, (२) **युग्मक या सँदानितक**—छन्द संख्या दो, ३—**विशेषक**—छन्द संख्या तीन, ४—**कलापक**—छन्द संख्या चार, ५—**कुलक**—इसकी छन्द संख्या के विषय में मतभेद है । तरुण वाचस्पति इसकी छन्द संख्या पाँच या छः, वाग्भट बारह तथा हेमचन्द्र पांच से चौदह के बीच की किसी भी संख्या वाले छन्दों को कुलक कहते हैं । ६—**कोष** नाना कृतिकारों द्वारा रचित मुक्तकों के समूह को कोष कहते हैं । ७—**संघात या पर्यायबन्ध**—एक व्यक्ति द्वारा निर्मित एकार्थ विषयक पद्य संघात कहलाता है । संघात को अधिक व्यापक अर्थ में तथा पर्याय बन्ध को किंचित संकुचित अर्थ में माना जाता है ।

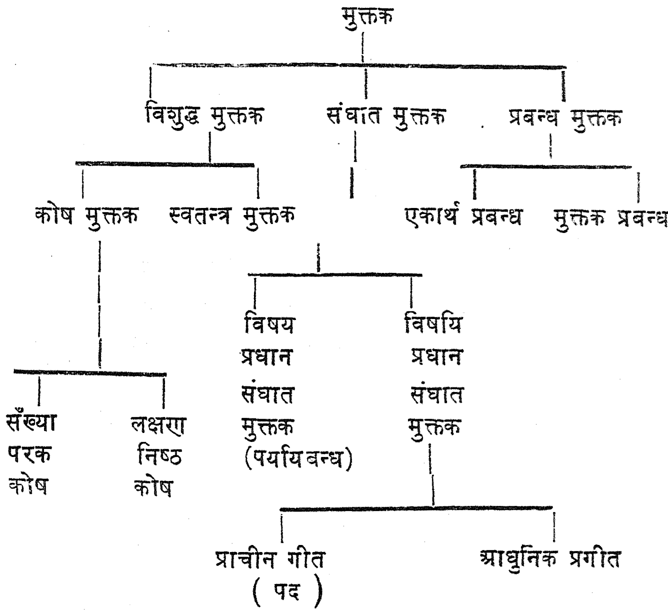
इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने दो भेद और माने हैं—**प्रघट्टक** और **विकीर्णक** । प्रघट्टक एक ही कवि द्वारा रचित पदों के समूह को कहते हैं। विकीर्णक अनेक कवियों के पदों के संग्रह को कहा जाता है । उपर्युक्त भेद संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा किए गए हैं । मुक्तक काव्य की आधुनिक स्थिति को देखते हुए इस वर्गीकरण को वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता । यह वर्गीकरण केवल मुक्तक के आकार पर ही आधारित है ।

विषयवस्तु के आधार पर राजशेखर ने मुक्तक और प्रबन्ध के पाँच प्रकार के अर्थ माने हैं—१—**शुद्ध**—इतिवृत्त या इतिहास से रहित अर्थ शुद्ध है; २—**चित्र**—उसे विस्तार के साथ विस्तृत करना है; ३—**कथोत्थ**—प्राचीन कथा या इतिहासयुक्त अर्थ कथोत्थ है; ४—**संविधानिक भू**—जिसमें घटना सम्भावित हो; ५—**आख्यानकवान**—जिसमें इतिहास की कल्पना की जाय ।

पाश्चात्य काव्य में मुक्तक का केवल एक ही रूप मिलता है—लिरिक अर्थात् जो लायर (वीणा) पर बजाकर गाया जा सके । वहाँ लिरिक के दो भेद माने गए हैं—चिन्तनात्मक (Reflective) और भावात्मक (Emotional) । मानसिक वृत्ति और आकार की दृष्टि से इनके अनेक भेद माने जाते हैं जैसे—प्रेमगीत (Love Lyric), व्यंग्य गीत (Satirical), वीर गीत (Ballad), नृत्य गीत (Chorus), गोचारणगीत (Pastoral-song), शोकगीत (Elegy), प्रबोध गीत (Ode) आदि । हिंदी में आधु-

निक युग के अनेक कवियों ने पाश्चात्य साहित्य के उपर्युक्त प्रकारों के आधार पर अनेक मुक्तक लिखे हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से मुक्तकों का वर्गीकरण श्री जितेन्द्रनाथ पाठक ने इस प्रकार किया है—



परन्तु डा० शम्भूनाथ सिंह ने हिन्दी में प्रचलित मुक्तकों के उपर्युक्त प्रकारों को अत्यन्त वैज्ञानिक एवं सरल ढंग से निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है—

(१) **संख्याश्रित मुक्तक काव्य**—जैसे 'हजारा','सतसई','शतक', 'पचासा' 'बावनी', 'चालीसा', 'पचीसी', 'बाईसी' आदि।

(२) **वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य**—जैसे मातृका संज्ञक (दोहा मातृका) कक्क संज्ञक, ककहरा, अखरावट, बारहखड़ी आदि।

(३) **छन्दाश्रित**—दोहावली, कवितावली आदि।

(४) **रागाश्रित**—जैसे रास, लावनी, रेखता आदि।

(५) **ऋतु-उत्सव आश्रित**—जैसे चर्चरी, फागु, होरी, बारहमासा, षड्-ऋतु आदि।

(६) **पूजा धर्म आश्रित**—स्तोत्र, स्तुति, स्तवन आदि।

आजकल किसी भी साहित्याङ्ग का सुनिश्चित वर्गीकरण करना विद्वानों के लिए एक सरदर्द बन गया है। एक विद्वान के द्वारा किए गए वर्गीकरण को दूसरा आलोचक अवैज्ञानिक कहकर असंगत सिद्ध कर देता है। वर्गीकरण के मुख्याधार रूप, आकार, विषय तथा शैली होते हैं। इन सभी आधारों को एक साथ लेकर वर्गीकरण करना असम्भव हो जाता है। और मुक्तक का क्षेत्र तो इतना विस्तृत है कि उसको वर्गों की सीमाओं में बाँधना दुस्साध्य प्रतीत होता है। फिर भी मुक्तक के स्वरूप को समझने में उपर्युक्त विभिन्न वर्गीकरण सहायक होंगे इसमें सन्देह नहीं।

विकास

मुक्तक काव्य के विकास को समझने के लिए हमारे लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि हम लोकगीत और मुक्तक के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ लें। संसार के प्राचीनतम काव्य का आदिरूप इन्हीं लोकगीतों में मिलता है। और हमारी यह निश्चित धारणा है कि मुक्तक काव्य का विकास प्राचीन लोकगीतों से ही हुआ है। प्रेरणा और प्रभाव की दृष्टि से लोकगीत और मुक्तक में कोई खास अन्तर नहीं प्रतीत होता। "दोनों में लोकजीवन की वह अनुभूतियाँ व्यक्त होती हैं जो लोकप्रिय योद्धाओं, व्यापक प्रभावशाली प्रेरक घटनाओं आदि से अस्तित्व पाती हैं।"[१]

लोकगीत पूर्णतः लोकजीवन से सम्बद्ध रहते हैं। एक विदेशी आलोचक के शब्दों में—"सभ्य राष्ट्रों के असंस्कृत वर्गों के परम्परागत ज्ञान से सम्बद्ध" होने के कारण इनमें "लोक जीवन के परम्परागत सौंदर्य बोध सम्बन्धी अभिव्यक्तियों की मौखिक और लिखित परम्पराओं का सन्निवेश हो जाता है।" "यह एक सामान्य विरासत होती थी जिसे धनी और निर्धन, अशिक्षित और शिक्षित, पुरुष और स्त्री सबने समृद्ध किया है। लोकगीत विकसनशील होते हैं और निरन्तर परिवर्तमान। इस परिवर्तन की प्रक्रिया में ये बराबर अभिनव माधुर्य प्राप्त करते रहते हैं।"[२]

न्यूनाधिक उपर्युक्त विशेषताएँ मुक्तक काव्य में भी पाई जाती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ लोकगीत समाज के प्रत्येक वर्ग—शिक्षित और अशिक्षित—की सम्पत्ति होते हैं वहाँ मुक्तक अधिकाँशतः शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहते हैं। इतिहास की प्रारम्भिक अवस्था में लोकगीतों का अस्तित्व प्रायः आख्यानक गीतों के रूप में रहा होगा। परन्तु समाज के विकास के साथ-साथ ये लोकगीत अपेक्षाकृत लघुरूप धारण कर व्यक्ति के सुख-दुख की अनु-

१—हिंदी मुक्तक काव्य का विकास—श्री जितेन्द्रनाथ पाठक।

२—वही

भूतियों को भी अभिव्यक्त करने लगे होंगे। "साहित्य का विकास होने पर इन्हीं सांगीतिक लघु रूपों को द्वन्द्वात्मक परिणति देकर शिष्ट मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया होगा। निश्चित बन्ध वाले छन्दों में बँधकर लोककाव्य की स्वच्छन्दता से बहुत कुछ दूर हो जाता है पर पद, गीत और प्रगीत वाले काव्यरूपों में वह अधिक सुरक्षित रहता है।"[1] विद्यापति, सूर, घनानन्द, मीरा आदि प्राचीन गीतकारों तथा आधुनिक युगीन गीतकारों के गीतों में प्रायः लोकगीतों के छन्दों को ही अपनाया जाता रहा है। इस प्रकार हमारे गेय मुक्तक लोकगीतों के अत्यधिक ऋणी हैं। मुक्तकों के विभिन्न रूपों के विकास में हमें लोकगीतों की इस महत्वपूर्ण देन को नहीं भूलना चाहिए।

संसार के सभी साहित्यों का प्रारम्भिक रूप मुक्तक ही रहा होगा। भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना भी मुक्तक के रूप में ही हुई थी। यूरोप में आरम्भिक काव्य के दो व्यापक भेद मिलते हैं— (१) मेलिक या लिरिक, तथा (२) कोरिक। मेलिक या लिरिक कविता में व्यक्ति के भावों की अभिव्यक्ति होती थी। कोरिक में नृत्य-वाद्य के साथ सामूहिक भावना की सामूहिक रूप से अभिव्यक्ति होती थी। कोरिक में प्राचीन कथाओं को लय के साथ गाया जाता था। कालान्तर में इन्हीं कथाओं का विकास महाकाव्य, पुराण आदि के रूप में हुआ। लिरिक में क्रमशः व्यक्ति एवं कला का अधिकाधिक विकास होता गया। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि साहित्य के प्रारम्भिक रूप में लिरिक अर्थात् मुक्तक काव्य का अपना विशिष्ट स्थान था।

भारतीय साहित्य में वैदिक-साहित्य के उपरान्त यद्यपि प्रबन्धकाव्यों का विकास प्रारम्भ हो गया था परन्तु मुक्तक की परम्परा भी अबाध गति से विकसित हो रही थी। पालि और प्राकृत साहित्य में तो मुक्तकों की ही प्रधानता रही थी। बौद्ध एव जैन कवियों ने थेरि गाथाओं तथा उपदेश एवँ नीति प्रधान सुन्दर-सरस मुक्तकों की रचना की थी। प्राकृत भाषा का साहित्य मुक्तकों से उसी प्रकार समृद्ध है जिस प्रकार कि हिन्दी का रीति-साहित्य। प्राकृत भाषा के मुक्तक-साहित्य का मूलाधार हाल कवि की 'गाथा सप्तशती' को माना जा सकता है। 'गाथा सप्तशती' में श्रृङ्गार, नीति,ज्योतिष, वैद्यक, कृषि आदि अनेक विषयों का समावेश मिलता है यद्यपि प्रधानता श्रृङ्गार की ही है। विषय वस्तु एवं शैली यथार्थवादी होने के कारण इसमें सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता का सहज समावेश हो गया है। हाल से पूर्व प्राकृत में मुक्तकों की एक अत्यन्त समृद्ध परम्परा विद्यमान थी और हाल ने उन

१—हिंदी मुक्तक काव्य का विकास—श्री जितेन्द्रनाथ पाठक

करोड़ों मुक्तकों में से सात सौ मुक्तक चुनकर 'गाथा सप्तशती' की रचना की थी। परवर्ती अनेक काव्यशास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्य प्रकाश, दश-रूपक आदि ग्रन्थों में उदाहरण स्वरूप प्राकृत के अनेक मुक्तकों को उद्धृत किया था। इससे यह प्रमाणित होता है कि उस काल में मुक्तक अत्यन्त लोकप्रिय काव्यरूप था। और उसकी इसी लोकप्रियता से आकर्षित हो अनेक संस्कृत-कवियों ने 'गाथा सप्तशती' के अनुकरण पर अनेक मुक्तक ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें से अमरुक का 'अमरुशतक', भर्तृहरि के 'शृंगार शतक', 'नीति शतक' एवं 'वैराग्य शतक' तथा गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्या सप्तशती' प्रसिद्ध रचनायें हैं। अनेक कवियों ने मुक्तकों की इसी शैली का अनुकरण करते हुए विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियाँ लिखीं जैसे—दुर्गा सप्तशती, चंडी शतक आदि। मुक्तक-शैली में कवि विल्हण की 'चौर पंचाशिका' तथा कालिदास का 'शृङ्गार तिलक' भी अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ माने जाते हैं।

प्राकृत के मुक्तकों में प्रधानता शृङ्गार की ही रही थी। कालान्तर में इस मुक्तक परम्परा का विकास अपभ्रंश काव्य में भी दिखाई पड़ा। परन्तु अपभ्रंश तक आते-आते मुक्तक अपना सरस रूप खोकर नीति, वैराग्य एवं उपदेशों की शुष्क पगडंडियों पर भटकने लगा। यद्यपि कहीं-कहीं शृङ्गार के सरस छींटे भी उसमें मिल जाते है। सिद्ध और जैन कवियों ने धर्म, नीति एवं सदाचार मूलक अनेक मुक्तक-ग्रन्थों की रचना की जिनमें सरहपाद का 'दोहा कोष', जैन कवि योगीन्दु का 'परमात्म प्रकाश' व 'योगसार', सुप्रभाचार्य का 'वैराग्यसागर', जिनदत्त सूरि का 'उपदेश रसायन राज' आदि प्रसिद्ध संग्रह माने जाते हैं। उपर्युक्त सभी ग्रन्थ धर्म, नीति आदि से सम्बन्धित हैं। परन्तु इसी युग में संग्रहीत अथवा रचित कुछ ऐसे प्रसिद्ध ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं जिनमें अनेक ज्ञात एवं अज्ञात कवियों के शृङ्गारिक मुक्तकों का संग्रह किया गया है या उन्हें उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है।

हिन्दी के पूर्ववर्ती मुक्तक काव्य को विषय की दृष्टि से चार प्रधान वर्गों में विभाजित किया गया है—

(१) बौद्ध एवं जैन कवियों द्वारा रचित धर्म एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक।

(२) गाथा सप्तशतीकार हाल, अमरुक, गोवद्धनाचार्य भर्तृहरि आदि के शृङ्गारी मुक्तक।

(३) भर्तृहरि आदि के नीति सम्बन्धी मुक्तक।

(४) वीर रसात्मक मुक्तक।

हिंदी मुक्तक-काव्य में इन्ही चार धाराओं का विकास लक्षित होता है। परन्तु मध्यकालीन हिन्दी काव्य में—विशेष रूप से रीतिकाल में—शृङ्गार-

परक मुक्तकों के दो भेद दिखाई पड़ते हैं—(१) रीतिबद्ध मुक्तक तथा (२) रीति मुक्त मुक्तक। रीति मुक्त मुक्तक को स्वच्छन्द प्रेम मूलक मुक्तक भी कहा जाता है। हिन्दी के सन्त कवियों—कबीर, दादू, रैंदास, सुन्दरदास आदि ने धर्म एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तकों की रचना की थी। शृङ्गारिक मुक्तककारों में से देव, बिहारी, मतिराम आदि ने रीतिबद्ध मुक्तकों का तथा घनानन्द, आलम, बोधा आदि ने रीतिमुक्त मुक्तकों का सृजन किया था। नीति, उपदेश आदि सम्बन्धी मुक्तक रचने वालों में गिरधर कविराय, वृन्द, रहीम, घाघ, बैताल आदि का नाम प्रसिद्ध है। वीर रसात्मक मुक्तक लिखने वालों में भूषण पद्माकर, लाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त चारों धाराओं का विकास आधुनिक काल में आकर भी पर्याप्त रूप से हुआ है। इनका उल्लेख हम यथास्थान करने का प्रयत्न करेंगे। हम हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास देखने के लिए उपर्युक्त चारों वर्गों को पृथक-पृथक रूप से लेकर विवेचन करेंगे। ऐसा करने पर ही उनका समुचित विकास दिखाना सम्भव हो सकेगा।

(१) **धर्माश्रित अर्थात् भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक**—प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तकों की एक अत्यन्त समृद्ध परम्परा मिलती है जिसने हिन्दी के सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य एवं सन्त-साहित्य को समान रूप से प्रभावित किया है। 'परमतत्व का ज्ञान' ही इनका प्रमुख विषय रहा है। किसी ने उसे भक्ति के माध्यम से प्राप्त करना चाहा है और किसी ने वैराग्य के माध्यम से। सिद्धों, नाथों एवं सन्तों ने वैराग्य के माध्यम से ही परमतत्व का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। सरहपाद का तत्सम्बन्धी एक दोहा दृष्टव्य है—

"आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिब्बाण।
ऐहु सो परममहासुह, णउ भव णउ णिब्बाण॥"

अर्थात् यह परम तत्व सकल और निरन्तर होने पर भी साधक के शरीर में साधना और अनुभव से संवेद्य है।

नाथ-सम्प्रदाय के गुरु गोरखनाथ शिव को ही परमतत्व मानकर गुरु की सहायता से उनका ज्ञान प्राप्त करने की बात कहते हैं—

"आकास तत्त सदा-सिव जाण। तसि अभिअन्तरि पद निरवाण॥
प्यंडे परचानैं गुरुमुषि जोइ। बाहुडि आवागमनु न होइ॥"

अर्थात् आकाश तत्व को सदाशिव समझने वाले के आभ्यन्तर में निर्वाण पद सहज ही उपस्थित रहता है। उसकी पहचान गुरु की सहायता से ही होती है। और इस पहचान से सम्पन्न व्यक्ति आवागमन से मुक्त हो जाता है।

कबीर ने भी सिद्धों एवं नाथों की उक्त परम्परा को ही अपने मुक्तकों

द्वारा आगे विकसित किया था। कबीर ने इस 'परमतत्व' को 'राम' कह कर पुकारा है। "कहै कबीर एक राम जपहु रे हिंदू तुरुक न कोई।" भक्ति और वैराग्य के समन्वय द्वारा उत्पन्न कबीर की विरहोक्तियाँ अपनी सरल मार्मिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। एक उक्ति दृष्टव्य है—

"चोट सताणी विरह की, सब तन जर-जर होइ।
मारणहारा जाणि है, कै जिहि लागी होइ॥"

कबीर एवं अन्य सभी सन्त कवियों का काव्य मुक्तक का रूप ही है। इसके विषय परमतत्व, जीवतत्व, परमतत्व एवं जीवतत्व के भेदक तत्व, गुरु और सत्संग, चित्तशोधन और योग साधना, सहज तत्व, साधक और समाज, करुणा और दया, रूढ़ियों का—सभी प्रकार की रूढ़ियों का—विरोध आदि रहे हैं। इस युग में प्रबन्ध काव्य का विकास नहीं हो पाया। मुक्तकों का एकछत्र राज्य रहा। सन्त काव्य का उद्देश्य धार्मिक था इसलिए रस की सृष्टि करना उनके काव्य का प्रधान लक्ष्य न बन सका। परन्तु इनकी साधना-पद्धति में प्रेम की प्रधानता होने के कारण इनके काव्य में एक सहज सरसता आ गई थी। ये लोग अशिक्षित थे इसलिए भाषा, अलङ्कार, रस, छन्द आदि का मोह त्यागकर इनकी वाणी पदों, साखियों आदि लोक-काव्य के विविध रूपों में फूट पड़ी थी। इसी कारण इनके काव्य में काव्यगत चमत्कार न होते हुए भी काव्य रसिक काव्यानन्द प्राप्त करते थे। यदि सन्त-काव्य के धार्मिक पक्ष को महत्व न दिया जाय तो भी भाषा और काव्य रूपों के विकास की दृष्टि से इसका अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

२—**शृङ्गारिक मुक्तक**—शृङ्गारिक मुक्तक-काव्य को विद्वानों ने दो भागों में विभाजित कर दिया—(१) रीतिबद्ध मुक्तक, तथा (२) रीतिमुक्त मुक्तक अर्थात् स्वच्छन्द प्रेम मूलक काव्य। इन दोनों का प्रधान लक्ष्य शृङ्गार रहा है। हिन्दी का शृङ्गारिक मुक्तक काव्य 'गाथा सप्तशती' के लौकिक परंतु अपूर्व सौन्दर्यशाली शृङ्गार से तो प्रभावित है ही, साथ ही उस पर स्तोत्र-साहित्य, कामशास्त्र, नाट्य शास्त्र के नायिका भेद, लोक गीत आदि का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना पर्याप्त मात्रा में हुई है। मध्यकालीन हिन्दी शृङ्गारिक मुक्तकों पर अपभ्रंश के शृङ्गारिक मुक्तकों का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। अपभ्रंश काव्य में लोकतत्वों का प्राधान्य मिलता है इसी कारण अपभ्रंश शृङ्गारिक मुक्तक काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सहजता एवं सरलता है। इसमें सीधे लोक-जीवन का चित्रण हुआ है। भाव, भाषा और अभिव्यक्ति में एक ऐसी मार्मिक सादगी है जो पाठक के मन को सहज ही प्रभावित कर लेती है। अपभ्रंश की

ये मुक्तक रचनायें अधिकांशतः युद्धप्रिय जातियों की रचनायें हैं, इसलिए इनमें गतिशील कर्म-सौन्दर्य का एक ऐसा उदात्त रूप मिलता है जिसमें श्रृङ्गार प्रेम एवं वीरता का समन्वय है। इनके मूल में वीर रमणियों का कुंठाहीन चित्त और प्रेरक व्यक्तित्व था। इसी कारण इनके प्रेम-चित्रण में दोनों ही पक्षों में एक मार्मिक तीव्रता एवं कुंठाहीनता मिलती है। उनमें मांसलता का आधिक्य होते हुए भी प्रभाव स्वस्थ है। जब कुंठाग्रस्त हृदय प्रेम-निवेदन करता है तो उसका प्रभाव प्रायः अस्वस्थ ही होता है। हमारा रीतिकालीन काव्य इसी कुण्ठा से ग्रस्त है।

अपभ्रंश श्रृङ्गारिक मुक्तक काव्य में परकीया नायिका का प्राधान्य, ऊहात्मक प्रयोग, नायक और नायिका के नीच मध्यस्थ उपादान, सखी, दूती, सन्देशवाहक, संकेत स्थल, प्रिय दर्शन, संभोग वर्णन, दन्तक्षत, नखक्षत, रूप-चित्रण आदि का खूब वर्णन हुआ है। इस काव्य परम्परा का प्रभाव सगुण भक्त कवियों पर बहुत कम पड़ा। राम-काव्य में मुक्तक-काव्य की रचना हुई अवश्य परन्तु वह फुटकर सौन्दर्य वर्णन, नीति, भक्ति आदि तक ही सीमित होकर रह गई। कृष्ण काव्य सारा का सारा मुक्तक काव्य ही है परन्तु उसके मूल में स्थित कृष्ण और राधा की पौराणिक कथा उसे मुक्तक और प्रबन्ध के बीच की स्थिति प्रदान कर देती है जिसमें ऊपर से तो कथा का कोई विकास नहीं दिखाई देता परन्तु उसकी मूलवर्ती धारा उसे एक विशाल परन्तु विश्रृङ्खलित महाकाव्य का रूप अवश्य प्रदान कर देती है। उसमें प्रेममूलक भक्ति का प्राधान्य होने के कारण श्रृङ्गार को भी अपनाया गया है मगर उसका रूप अपभ्रंश मुक्तक की परम्परा से भिन्न एक अलौकिक, उदात्त एवं धार्मिक रूप धारण कर लेता है। अपभ्रंश मुक्तक काव्य की परम्परा का विकास इसी कारण रीतिकाल में आकर दिखाई पड़ता है। रीतिकालीन मुक्तक काव्य में स्पष्टः दो धारायें दिखाई पड़ती हैं—रीतिबद्ध धारा एवं रीतिमुक्त धारा।

रीतिबद्ध मुक्तक-काव्य में काव्य-शास्त्र के लक्षणों को ही आधार मान कर काव्य रचना की गई है जिसमें 'गाथा सप्तशती' का अनुकरण करते हुए श्रृङ्गार का ही प्राधान्य रहा है। नायिका-भेद इसका उपजीव्य रहा है। रीतिमुक्त काव्य में शास्त्रीय लक्षणों की अवहेलना कर कवियों ने अपनी हृदयानुभूति को ही अभिव्यक्त किया है। इन दोनों धाराओं का विवेचन करने से पूर्व हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पहले इनके पारस्परिक साम्य-वैषम्य पर एक हल्की सी नज़र डाल लें।

इन दोनों काव्य धाराओं में सबसे पहली समानता यह थी दोनों ही - प्रेम मार्गी थे परन्तु भक्त नहीं थे, वैसे दोनों के उपजीव्य राधा-कृष्ण ही रहे।

दोनों धाराओं में दूसरी समानता छन्द की थी। दोहा, कवित्त, सवैया दोनों में ही समान रूप से गृहीत हुए थे। इन समानताओं की तुलना में उनमें वैषम्य अधिक था। पहला अन्तर यह था कि रीतिबद्ध कवियों का प्रेमवर्णन वहिर्वृत्ति मूलक, मांसल और शास्त्र बद्ध था। नारी-शरीर ही उनके काव्य का मूल रहा था। शास्त्र बद्ध होने के कारण वे आन्तरिक उद्वेलन को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ रहे। इनके विपरीत रीतिमुक्त कवियों का प्रेमवर्णन अन्तर्वृत्ति मूलक, मानस परक और शास्त्रमुक्त था। उनकी अन्तर्वृत्ति ही उनके काव्य की मूल प्रेरक शक्ति थी। इसलिए उनमें अन्तर्मुखता का प्राधान्य रहा था। वे शास्त्रबद्ध होने की अपेक्षा स्वच्छन्द अधिक थे। उन्होंने प्रेम के मानसिक रूप को ही अभिव्यक्ति दी थी।

शास्त्रबद्ध होने के कारण रीतिबद्ध कवियों की कविता प्रयत्न साध्य होती थी इसलिए उसमें हार्दिकता के स्थान पर बौद्धिकता, उक्ति चातुर्य, वक्रता आदि की प्रधानता रहती थी। रीतिमुक्त कवियों की कविता में उनकी आन्तरिक वेदना की अभिव्यक्ति होती थी इसलिए उसमें बौद्धिकता का अंश न्यूनतम रहता था। रीतिबद्ध कवि राधाकृष्ण-प्रेम को अपनी ढाल बना कर इन नामों की आड़ में अपने आश्रयदाता की विलास-वासना को तृप्त करने का प्रयत्न करते थे। रीतिमुक्त कवियों ने भी अपना उपजीव्य राधाकृष्ण को ही बनाया था परन्तु वे विषयानन्द को ब्रह्मानन्द के समक्ष मानकर कृष्ण के माध्यम द्वारा अपनी लौकिक तड़प और हृद्‌गत वेदना को प्रकट करते थे।

रीतिबद्ध कवि क्योंकि राजदरबारों के विलासपूर्ण वातावरण में रहते थे इसलिए उनके शृङ्गार वर्णन में कुन्ठा का प्राधान्य रहता था और इसी कारण उनका काव्य अस्वस्थ शृङ्गार को ही अभिव्यक्ति दे सका। शास्त्रबद्ध होने के कारण वह सामाजिक मर्यादाओं का उल्घंन करने में असमर्थ था। परन्तु रीतिमुक्त कवि सामाजिक मर्यादाओं की कभी परवाह नहीं करता था, इसलिये उसने पूर्णतः कुण्ठा हीन रहते हुए अपने भावों को मुक्त अभिव्यक्ति दी थी।

ऊहात्मक प्रयोगों के क्षेत्र में भी इन दोनों में पर्याप्त अन्तर था। रीतिबद्ध कवि परिमाण निर्देश रूप में ऊहा का प्रयोग करते थे और रीतिमुक्त संवेदना के रूप में। इसी कारण रीतिबद्ध कवियों का ऊहात्मक वर्णन हास्यास्पद बन गया है और रीतिमुक्त का पूर्ण स्वाभाविक एवं उदात्त। इन दोनों काव्यधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए एक आलोचक ने लिखा है कि—

"वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण रीतिबद्ध कवि अपने काव्य सृजन में अनुदात्त हो गया है क्योंकि—उसने अनुदात्त प्रेम को ही अपनी काव्यवस्तु

स्वीकार किया था किन्तु सम्पूर्ण रीतिमुक्त कवि ने अपने काव्य-सृजन में उदात्त प्रेम को प्रतिष्ठित किया था। एक के अनुदात्त और दूसरे के उदात्त होने का यही रहस्य है।"[१]

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से सूरदास की 'साहित्य लहरी' तथा नन्ददास की 'रस मंजरी' रीति-परम्परा के प्रथम ग्रन्थ माने जा सकते हैं, यद्यपि इनमें रीति का परिपालन होते हुए भी परवर्ती रीतिकालीन रीतिबद्ध कवियों की सी मानसिक श्रृङ्गारिक अस्वस्थता नहीं मिलती। केशवदास पहले कवि थे जिन्होंने अपनी 'रसिक प्रिया' एवं 'कवि प्रिया' नामक ग्रन्थों में भक्त कवियों द्वारा गृहीत 'रीति प्रवृत्ति को श्रृङ्गारिक मुक्तकों से सम्बन्धित किया था। और इसके पश्चात् लगभग सभी दरवारी-कवि रीतिवद्ध श्रृङ्गारिक कविता की रचना करने में संलग्न हो गए जिनमें देव, मतिराम, पद्माकर, बिहारी आदि प्रमुख हैं। इनके काव्य में सरसता, सुरुचि, काव्य कौशल, उक्ति चातुर्य आदि सभी काव्यगुणों का पर्याप्त समावेश मिलता है। इन कवियों ने हिन्दी मुक्तक काव्य को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा दिया।

रीतिमुक्त अर्थात् स्वच्छन्द प्रेम मूलक मुक्तक काव्यधारा का प्रारम्भ सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों के समकालीन अकबरी-दरबार के कवि नरहरि, रहीम, गंग, ब्रह्म आदि के द्वारा हो चुका था। इनके कवित्त, सवैयों आदि में श्रृङ्गारिकता, अपने सभी अङ्गों के साथ पनप रही थी परन्तु उस पर काव्य-शास्त्रीय लक्षणों का कोई प्रभाव नहीं था। आगे चलकर यही धारा रीति-कालीन स्वच्छन्द प्रेममूलक काव्य के अग्रणी कवियों घनानन्द, बोधा, आलम रसखान, ठाकुर आदि के काव्य में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई। इन्होंने छन्द तो लगभग वही अपनाये जो रीतिवद्ध कवियों द्वारा अपनाये गए थे परन्तु काव्यशास्त्रीय विधि-विधानों से ये सर्वथा मुक्त रहे। इनका भावपक्ष तो भावात्मकता एवं अनुभूति की गहनता के कारण उत्कृष्ट था ही, साथ ही इनका कलापक्ष भी अत्यन्त प्रौढ़ था। इनके काव्य में रसानुभूति की क्षमता अपने अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ी। व्यँग्यात्मकता, लाक्षणिकता एवँ भाषा की प्रवहणशीलता के लिए आचार्य शुक्ल ने घनानन्द के काव्य को इस काल का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना है। आगे चलकर आधुनिककालीन छायावादी काव्य ने इस स्वच्छन्द काव्यधारा की स्वचछन्दता और लाक्षणिकता को अपनाकर अपने काव्य में एक अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि करली थी।

१—हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास—श्री जितेन्द्रनाथ पाठक।

(३) **नीति मुक्तक काव्य**—नीतिपरक उक्तियाँ काव्य में अत्यन्त प्राचीन काल से स्थान पाती चली आ रही हैं। अपभ्रन्श काव्य में बहुत से नीति-मुक्तकों की रचना हुई थी। नीतिचिन्तक धर्माश्रित समाज का सदस्य होता है। इसलिए उसमें धार्मिक विश्वासों और रूढ़ियों के प्रति प्रबल मोह रहता है। इसलिए भक्त कवियों ने भी अनेक प्रकार के नीति मुक्तकों की रचना की थी। कबीर, तुलसी आदि की अनेक रचनाएं नीति-मुक्तकों के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं। धर्म को आचार मानकर सामाजिक जीवन को संयम की शिक्षा देना एक प्रकार से आचारिक मूल्यों को परिवर्तित करना है और यह नीतिकाव्य की सीमा के भीतर ही है किन्तु 'तुलसी-सतसई' या उनकी दोहावली की भाँति रामनाम का ग्रहण करके भक्तिभाव पोषक उक्ति-कथन नीतिकाव्य के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। इसी कारण कवियों की वैराग्यपरक उक्तियों को विद्वानों ने नीतिकाव्य के अन्तर्गत न मानकर धर्माश्रित काव्य के अन्तर्गत माना है।

कुछ विद्वान वृन्द, गिरधर कविराय, घाघ, बैताल आदि रीतिकालीन कवियों को ही हिन्दी-नीति-मुक्तक-काव्य के प्रणेता मानते है। परन्तु यह धारणा गलत है। रहीम खानखाना इनसे बहुत पहले नीति मुक्तकों की रचना कर चुके थे जो 'रहिमन विलास' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। रहीम के नीति मुक्तक आज भी जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

नीति काव्य के रचयिताओं ने अपनी कविता में प्रधानतः व्यक्ति और धार्मिक रूढ़ियों, नश्वरता, सामाजिक सम्बन्ध और उसकी नीतिपरक व्यवस्थायें, निर्धन और धनी, उच्चादर्श, स्वभाव कथन आदि को अपनाया था। इस काव्य में बौद्धिकता का प्राधान्य रहने के कारण भावनाओं की सरस अभिव्यक्ति के लिए स्थान नहीं रह जाता था। इनका अन्तिम उद्देश्य अवश्य ही उपदेशात्मक या प्रचारात्मक होता था। आचार्य शुक्ल इस प्रकार के उपदेशात्मक काव्य को 'काव्य' के अन्तर्गत नहीं मानते। परन्तु हिन्दी के इस नीति-काव्य में कुछ ऐसी कलागत उपलब्धियाँ लक्षित होती हैं जो अपनी एक विशिष्टता रखती हैं और इसी कारण आचार्य शुक्ल ने इस काव्य को काव्य स्वीकार किया है, यद्यपि अधम कोटि का ही।

नीतिकाव्य की कलात्मक या शैलीगत उपलब्धियों को संक्षेप में उक्ति वक्रिमा, प्रत्युत्पन्नमतित्व, अलंकार-योजना, स्वाभाविक भाषा और लोकोक्ति प्रयोग के रूप में माना जा सकता है। इन नीति काव्यकारों ने लोकभाषा का सहज सुथरा और मधुर रूप अपनाया था जिससे वह अपने उद्देश्य की सिद्धि सहज ही प्राप्त कर सकें।

४—**वीर रसात्मक मुक्तक काव्य**—हिन्दी के आदि काल से वीररस मुक्तककारों का प्रिय विषय रहा है। वीर-पूजा की भावना अत्यन्त प्राचीन काल से साहित्य में अपनाई जाती रही है। वीर रस का जो रूप हमें प्रबन्ध काव्यों में में मिलता है वह मुक्तक-काव्य के वीर रस से नितान्त भिन्न है यद्यपि भूषण आदि वीर रस के कवियों ने प्रबन्ध काव्य की वीर रसात्मक शैली को ही अपने वीर रसात्मक मुक्तकों में अपनाया था। इस दृष्टि से इस काव्य को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है—१—राजस्थानी कवियों द्वारा डिंगल भाषा में रचित मुक्तक, तथा २—ब्रजभाषा में रचित मुक्तक।

प्रबन्ध काव्य में दृष्टि शौर्य के इतिवृत्त के विवरण पर रहती है लेकिन मुक्तकों में शौर्य के मार्मिक और चुभते हुए पक्ष पर। अपभ्रंश मुक्तक काव्य में वीर की सहधर्मिणी के मनोभावों के चित्रण के रूप में वीररस की अभिव्यक्ति प्रधानतः हुई है। अपभ्रंश काव्य की नारी वीर और युद्ध प्रिय पति के जीवन क्रम में हर्ष पूर्वक साथ देने वाली नारी है। इन मुक्तकों में वीर दम्पति जीवन की खण्ड अनुभूतियाँ चित्रित हुई हैं। राजस्थानी डिंगल मुक्तककारों ने भी अपभ्रंश की इसी परम्परा को विकसित किया था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस काव्य की इसी प्राणवत्ता से मुग्ध होकर लिखा है कि—'इन दोहों में एक बहुत ही महत्वपूर्ण नई बात यह है कि स्त्रियों के मुख से अपने वीर पतियों के सम्बन्ध में अपूर्व दर्पोक्तियाँ कहलाई गई हैं।" वीर जीवन की समग्रता इस काव्य में अभिव्यंजित हो उठी है। जन्म, किशोरावस्था, यौवन, वृद्धावस्था, विवाह, मरण आदि सभी परिस्थितियों में वीर भावना की यह पूर्णता विश्व साहित्य में अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। डिंगल भाषा के इन कवियों में पृथ्वीराज, बाँकीदास, दुरसा जी, सूर्यमल्ल आदि शीर्षस्थानीय ख्याति के अधिकारी हैं।

ब्रजभाषा में वीर रसात्मक मुक्तकों की रचना करने वालों में भूषण पद्माकर, ग्वाल आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी शैली कवित्त-सवैयों वाली तथा भाषा ओजपूर्ण और फड़कती हुई है। इनमें वीर प्रबन्ध काव्यों की इतिवृत्तात्मक शैली को ही अपनाया गया है। भूषण के काव्य में युद्ध वर्णन, युद्धावेश आदि का अत्यन्त ओजस्वी वर्णन हुआ है। प्रभाव की दृष्टि से दोनों ही काव्य एक दूसरे से कम नहीं हैं परन्तु मार्मिकता की दृष्टि से डिंगल के वीर रसात्मक मुक्तक ब्रजभाषा के वीर रसात्मक मुक्तकों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।

आधुनिक काल—मुक्तकों की यह विशाल एवं समृद्ध परम्परा आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक के लम्बे युग को लांघती हुई आधुनिक काल तक चली आई है। यद्यपि उसकी विषय-वस्तु, स्वरूप आदि में पर्याप्त परिवर्तन हो गया

है। भारतेन्दु-युग तक मुक्तकों के क्षेत्र में प्राचीन एवं नवीन का सम्मिश्रण होता रहा। भक्तिभावना और प्रेममूलक शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना के साथ ही साथ देश-प्रेम, समाज-सुधार, हास्य-व्यंग्य आदि से सम्बन्धित ऐसे मुक्तकों की रचना होने लगी जो विषय-वस्तु की दृष्टि से सर्वथा नवीन थे। भारतेन्दु एवं उनके समकालीन कवियों ने ऐसे प्रचुर मुक्तक लिखे जिनमें भावानुभूति की विशदता एवं स्पष्टता तथा भाषा की कोमल स्वाभाविकता मिलकर उन्हें लोकप्रिय बनाने एवं जन-जागरण में एक अद्भुत स्फूर्ति प्रदान करने में समर्थ बना सकी।

द्विवेदी-युग में यद्यपि प्रबन्ध-काव्य पर्याप्त संख्या में लिखे गए परन्तु साथ ही मुक्तक-काव्य की भी रचना होती रही। नाथूराम शर्मा, हरिऔध आदि ने अनेक उपदेश-प्रधान मुक्तक लिखे। इसी काल में नवोदित छायावादी धारा के कवियों ने प्रबन्ध-काव्य का क्षेत्र त्यागकर मुक्तक को ही अपनाया। छायावादी-काव्य में 'कामायनी' को छोड़कर शेष सारा काव्य मुक्तक काव्य ही है जो अपनी भावुकता के लिए अद्वितीय है, यद्यपि उस पर बौद्धिकता का भी पर्याप्त प्रभाव है। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी आदि का काव्य मुक्तक-काव्य ही है। इस युग में गेय एवं पाठ्य दोनों ही प्रकार के मुक्तक लिखे गए। प्रगतिवादी युग में भी मुक्तकों का ही प्राधान्य रहा। छायावादी एवं प्रगतिवादी युग में गेय मुक्तकों की प्रधानता रही। इस रूप की दृष्टि से गीति-काव्य को मुक्तक-काव्य के अन्तर्गत ही लेंगे। इसलिए इस युग की लगभग सम्पूर्ण रचनायें मुक्तक ही हैं। प्रयोगवादी काव्य भी मुक्तक शैली को ही अपनाकर चल रहा है। परन्तु इस नवीन प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी काव्य में बौद्धिकता का आग्रह इतना अधिक है कि बौद्धिकता की इस आँच से भावात्मकता जलकर खाक हो जाती है।

संसार के किसी भी साहित्य का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि काव्य की दो प्रधान धाराओं—मुक्तक और प्रबन्ध की रचना न्यूनाधिक सभी युगों में होती रही है। यह दूसरी बात है कि कभी एक युग में प्रबन्ध-काव्यों के प्रति कवियों का झुकाव अधिक रहा है तो दूसरे युग में मुक्तकों की ओर। परन्तु जब हम हिन्दी-काव्य पर दृष्टि डालते हैं तो समष्टि रूप से उसमें मुक्तकों की ही प्रचुरता दिखाई पड़ती है और यह सर्वथा स्वाभाविक है क्योंकि मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य की रचना करना अधिक कठिन होता है।

---

४७. हिन्दी नीति काव्य : स्वरूप और विकास

हम गत निबन्ध में हिन्दी नीति-काव्य पर संक्षेप में प्रकाश डाल आए हैं। वहाँ विषय की संकुचित सीमा तथा स्थानाभाव के कारण हम विस्तार पूर्वक विवेचन करने में असमर्थ थे। परन्तु हिन्दी में नीति-काव्य की परम्परा इतनी लम्बी, समृद्ध एवं विशाल है कि उसका विवेचन करने के लिए उस पर पृथक रूप से निबन्ध लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिससे हिन्दी-साहित्य के इस उपेक्षित से अंग पर प्रकाश डाला जा सके।

हम अपने दैनन्दिन जीवन में साहित्यिक माध्यमों एवं विज्ञ तथा साधारण जनों के मुख से नीति-वाक्य सुनते रहते हैं। इन नीति-वाक्यों का हमारे जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होता है क्योंकि इनमें हमारे बुजुर्गों द्वारा किए गए जीवन-सम्बन्धी अनुभवों का वह सार होता है जो हमारे वर्तमान एवं भविष्य जीवन के लिए पथ-प्रदर्शक का काम देता है। साहित्यिक शब्दावली में हम 'नीति' के उद्देश्य, स्वरूप एवं प्रभाव को इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

"व्यक्ति के परिस्थित सापेक्ष आचारों से सम्बन्धित तत्व-दर्शन का नाम नीति है। व्यक्ति के ये आचार जिस तरह से कई प्रकार के हो सकते हैं उसी तरह उनके तत्वदर्शन की दृष्टि भी कई प्रकार की होती है। व्यक्ति के आचार धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक कई प्रकार के हो सकते हैं। उसी प्रकार इनका विवेचन करने वाले विषय भी धर्मशास्त्र, राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र आदि कई प्रकार के नामों से अभिहित होते हैं। धार्मिक तत्वदर्शन को अलग रखते हुए भी नीतिपरक रचनाओं में एक प्रकार की सर्वधर्म अविरोधी आधारभूत नैतिक मान्यताएँ आ जाती हैं यद्यपि उसकी अविरोधिता की सीमा परिस्थितियाँ ही बनाती हैं। नीतिपरक कविता में सामान्यतया किसी मानव खंड के आचार व्यवहारों के निरीक्षण से प्राप्त एक प्रकार की परम्परागत बुद्धिमत्ता प्रभावशाली और काव्यात्मक शैली के भीतर काम करती है।"[1]

वृन्द कवि की गणना हिन्दी के प्रसिद्ध नीतिकारों में की जाती है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'वृन्द सतसई' का आरम्भ करते हुए नीतितत्वात्मक काव्य का उद्देश्य स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि

१—हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास—श्री जितेन्द्र नाथ पाठक।

हिन्दी के नीतिकारों का उद्देश्य इस प्रकार की काव्य रचना द्वारा क्या स्पष्ट करना था। तत्सम्बन्धी तीन दोहे द्रष्टव्य हैं—

१—भाव सरस समझत सबै भले लगें यह भाव।
जैसें अवसर की कही बानी सुनत सहाय॥
२—नीकी पै फीकी लगै बिनु अवसर की बात।
जैसें बरनत युद्ध में रस सिंगार न सुहात॥
३—फीकी पै नीकी लगै कहिए समय बिचारि।
सबको मन हरिषित करै ज्यों विवाह में गारि॥

उपर्युक्त दोहों से स्पष्ट हो जाता है कि लोक की अवसरोचित मान्यताओं को अभिव्यक्त कर उपदेश या संकेत देकर मानव को सचेत कर देना ही नीतिकाव्य का प्रधान उद्देश्य था। यह तो हुआ नीतिकाव्य का प्रधान उद्देश्य।

नीतिकाव्य के इस विवेचन को आगे बढ़ाने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम संक्षेप में 'नीति' शब्द के विभिन्न अर्थों को समझ लें। हिन्दी नीतिकाव्य पर शोध करने वाले मर्मज्ञ विद्वान डाक्टर भोलानाथ तिवारी के शब्दों में—" 'नीति' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत की 'णीय' धातु से है, जिसका अर्थ ले जाना होता है। अर्थात् धातु की दृष्टि से 'नीति' वह है जो 'ले जाय' या 'आगे ले जाय।'"[1] इस धात्वर्थ से यह ध्वनित होता है कि नीति का अर्थ मानव-जीवन को आगे ले जाने अर्थात् उन्नति के पथ पर अग्रसर कराने के लिए माना जा सकता है। और उन्नति की इस दिशा में मानव के सम्पूर्ण कार्यकलाप, उसका सम्पूर्ण जीवन अग्रसर होता रहता है। और 'नीति' उसकी इस प्रगति में मार्ग-दर्शिक का कार्य करती हुई उसे पथभ्रष्ट होने से बचाती रहती है।

परन्तु 'नीति' शब्द का उपर्युक्त अर्थ उसका व्यापकतम अर्थ है। वहाँ नीति मानव-जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों को आत्मसात कर लेती है। इसके विपरीत 'नीति' शब्द के कुछ संकुचित अर्थ भी होते हैं, जैसे किसी कार्य की सिद्धि के लिए चली जाने वाली चाल अथवा ढङ्ग, युक्ति, उपाय, हिकमत तथा दृष्टिकोण आदि। यहाँ हम जिस 'नीतिकाव्य' से सम्बन्धित 'नीति' शब्द का अर्थ लेते हैं उसके लिए उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के व्यापक और संकुचित अर्थ, उस शब्द का वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। पहले में अतिव्याप्ति दोष है तो दूसरे में अव्याप्ति दोष है। "सामान्यत: प्रचलित अर्थों में 'नीति' न तो उतनी व्यापक है और न इतनी संकुचित।"

१—हिन्दी नीतिकाव्य—डाक्टर भोलानाथ तिवारी

प्राचीन ग्रन्थों में 'नीति' शब्द या 'नीतिशास्त्र' की व्याख्या करते हुए उसके अनेक अर्थ किए गए हैं जिनका मूल अभिप्राय एक ही है अर्थात् 'मानव का कल्याण'। तत्सम्बन्धी केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। 'नीति-मंजरी' नामक संस्कृत-ग्रन्थ के रचयिता द्याद्विवेद का प्रथम श्लोक इस प्रकार है—"एवं कर्त्तव्यमेवं न कर्त्तव्यमित्यात्मको यो धर्मः सा नीतिः।" अर्थात् जो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को स्पष्ट करे वही नीति है। डा० भोलानाथ तिवारी ने नीति की विभिन्न व्याख्याओं के आधार पर 'नीति' की निम्नलिखित परिभाषा स्थिर की है—

"समाज को स्वस्थ एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिन विधि या निषेध मूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का विधान देश, काल और पात्र के सन्दर्भ में किया जाता है, उन्हें 'नीति' शब्द से अभिहित करते हैं।" इस परिभाषा को हम संक्षेप में इस प्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं कि नीति का प्रधान उद्देश्य नैतिक शिक्षा देना है। अतः नीतिकाव्य वह है जिसका प्रधान ध्येय नैतिक शिक्षा देना हो।

नीतिकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन और विशाल है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में नीति परक सूक्तियों की भरमार मिलती है। डाक्टर दासगुप्ता ने नीतिकाव्य की इस विशाल परम्परा का अध्ययन कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है—

"इन संस्कृत नीतिपरक और उपदेशात्मक मुक्तकों की सामान्य विषय-वस्तु लोक की प्राचारिक मान्यताओं के प्रचलित मूल्य होते हैं। लेकिन इनमें भी प्रकृति, व्यक्ति और सामाजिक परिवेश के सूक्ष्म निरीक्षण से प्राप्त अनेक नीति-मूलक अनुभूतियों को विपुल, विविध, समर्थ और प्रसन्न पदावली में व्यक्त किया जाता है। जीवन का हर्ष-विषाद, प्रेम की अस्थिरता और चंचलता, नारी जीवन के दोष और उनके द्वारा उत्पन्न बन्धन, जीवन का वास्तविक क्रम, वैभव और शक्ति की असारता, जीवन के प्रति थकावट और भृत्यभाव, मानव प्रयत्नों तथा इच्छाओं की अस्थिरता तथा अयथार्थता, एकान्त और वैराग्य का आनन्द और कभी-कभी धोखा और घातक परिहासों के प्रति तिरस्कारपूर्ण दृष्टि इन रचनाओं में प्रकट की गई है।"[1]

इतिहास का प्रत्येक युग अपनी कुछ नवीन नैतिक मान्यताएँ लेकर चलता है। प्रत्येक नवीन युग में कुछ पुरानी नैतिक मान्यताएँ टूट जाती हैं और नवीन

१—History of Sanskrit Literature—Das Gupta & De. **हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास से उद्धृत।**

परिस्थितियों के अनुकूल कुछ नवीन नैतिक मान्यताओं को उस युग द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु कुछ नैतिक मान्यताएँ ऐसी होती हैं जो प्रत्येक युग में समान रूप से गृहीत की जाती हैं क्योंकि उनमें कुछ ऐसे शाश्वत मूल्यों वाले तथ्य रहते हैं जो आदिकाल से लेकर आज तक प्रत्येक युग एव प्रत्येक समाज द्वारा समान रूप से स्वीकार किए जाते रहे हैं। 'सत्य बोलना' सामाजिक मान्यताओं का एक ऐसा नैतिक मानदण्ड रहा है कि आज तक कोई भी इस नैतिक वाक्य का खंडन करने का साहस नहीं कर सका है। परन्तु सामाजिक दृष्टि से जागरूक द्रष्टाओं ने अनेक बार एवं अनेक प्रकार के अनुभवों द्वारा जब यह देखा कि सदैव और प्रत्येक परिस्थिति में सत्य बोलना कभी-कभी मानव के लिए अत्यन्त घातक एवं आत्मक्लेशकारक सिद्ध होता है तो उन्होंने 'सत्यं ब्रूयात्' की मान्यता में संशोधन उपस्थित कर एक नवीन मान्यता स्थापित की कि 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो परन्तु सत्य और प्रिय एक साथ मत बोलो। सम्भव है कि आपके द्वारा बोला गया सत्य किन्हीं विशेष परिस्थितियों में किसी अन्य के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकता है। इसीलिए 'नीति' सम्बन्धी उक्तियों में सदैव 'अवसर' और 'परम्परागत बुद्धिमत्ता' को विशेष महत्व दिया जाता रहा है। नैतिक मान्यतायें परिस्थितिजन्य तो होती ही हैं परन्तु साथ ही उनमें अपनी परिस्थितियों का उल्लंघन कर नैतिक नव निर्माण करने की भी प्रबल आकांक्षा और अदम्य शक्ति रहती है।

हमारे यहाँ प्राचीन काल से धर्म और समाज का अटूट सम्बन्ध रहा है। हमारी सम्पूर्ण सामाजिक मर्यादाएँ सदैव धर्म द्वारा शासित होती आई हैं। इसीलिए धार्मिक उपदेश एवं धर्म द्वारा प्रस्थापित सामाजिक मान्यताएँ नीति वाक्यों के मूल में प्रधान रही हैं। उपदेश या धार्मिक प्रवचन सदैव नीरस रहते है और साहित्य में नीरसता को न तो स्वीकार ही किया जाता है और न नीरस उक्ति को साहित्य में मान्यता प्राप्त होती है। साहित्य का प्राण सरसता है। नीतिवाक्य मूलतः उपदेशमूलक होते हैं, इस कारण साहित्य-समीक्षकों ने इस प्रश्न को उठाया था कि क्या नीति-साहित्य को साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है? अनेक विद्वान आलोचकों ने इस बात की स्वीकृति देने से इंकार कर दिया था और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी कारण आदिकालीन अनेक ग्रन्थों को साहित्य के इतिहास में सम्मिलित नहीं किया था क्योंकि वे मूलतः धार्मिक रचनायें थीं। धार्मिक उपदेश साहित्य के अन्तर्गत तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वह 'सरसता' का बाना धारण कर आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया जाय। इसी मानदंड के आधार पर शुक्लजी ने अनेक जैन कवियों

द्वारा रचित धार्मिक ग्रन्थों को साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था और 'रामचरितमानस' को धार्मिक रचना होते हुए भी अत्यन्त उच्च साहित्यिक गौरव प्रदान किया था। क्योंकि 'मानस' का मूलाधार धर्म रहते हुए भी वह 'सरस' और आकर्षक होने के कारण साहित्यिक कृति बन गया है।

परन्तु नीतिकाव्य की अपनी एक सीमा और है जिसके आधार पर धर्माश्रित अनेक रचनायें साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार की जाती हुई भी नीतिकाव्य की सीमा से बाहर मानी जाती हैं। "धर्म को आधार मानकर सामाजिक जीवन को संयम की शिक्षा देना एक प्रकार से आचारिक मूल्यों को परिवर्तित करना है और यह नीतिकाव्य की सीमा के भीतर ही है किन्तु 'तुलसी-सतसई' या तुलसीकृत 'दोहावली' की भाँति राम नाम का ग्रहण करके भक्ति भाव पोषक उक्ति कथन नीतिकथन के अन्तर्गत नहीं आ सकता।" उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल नीरस उक्तियाँ साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार की जातीं और कुछ ऐसी साहित्यिक उक्तियाँ भी होती हैं जो धर्म, भक्ति-भावना, वैराग्य आदि की प्रधानता के कारण नीतिकाव्य की सीमा से बहिष्कृत रहती हैं। वैराग्यपरक उक्तियों को नीतिकाव्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता।

अतः नीतिकाव्य के अन्तर्गत केवल उन्हीं साहित्यिक उक्तियों को ग्रहण किया जा सकता है जिनमें विषय-वस्तु की दृष्टि से व्यक्ति और धार्मिक रूढ़ियाँ भाग्यवाद, नश्वरता, सामाजिक सम्बन्ध और उनकी नीतिपरक व्यवस्थाएँ, उच्चादर्शवादिता, स्वभाव कथन मूलक विवेचन आदि की प्रधानता रहती है।

हिन्दी-साहित्य में इस सम्बन्ध में काफी वाद-विवाद रहा है कि नीति-वाक्यों को काव्य के अन्तर्गत स्वीकार किया जाय अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में दो मूल प्रश्न सामने आते हैं। पहला यह कि काव्य और नीति का गठ-बंधन हो सकता है, होना चाहिये, या नहीं हो सकता और न होना चाहिए। दूसरा यह कि नीति विषय को लेकर शुद्ध काव्य या उच्च कोटि के काव्य की रचना हो सकती है अथवा नहीं हो सकती। पहले प्रश्न के उत्तर में हम प्रेमचन्द और बंकिमचन्द्र के दो उद्धरण देना ही पर्याप्त समझते हैं। प्रेमचन्द ने लिखा है कि—

"नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर

प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।"[१]

बंकिम बाबू ने लिखा है कि—"कवि संसार के शिक्षक हैं, किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त-शुद्धि करते हैं। यही चरमोत्कर्ष साधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है।"[२]

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि नीति और काव्य का गठबंधन सर्वथा सम्भव है। शर्त केवल यही है कि नीतिकार द्वारा नीति की नीरस व्याख्या न की जाय। इसी कारण काव्य या कला को जीवन के लिए स्वीकार करने वाले विद्वान काव्य में नीति के समर्थक हैं। काव्य या कला का मूल उद्देश्य जीवन को प्रसन्नता प्रदान करते हुए उसका विकास करना है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर अत्यन्त सरल है। काव्य की रचना किसी भी विषय को लेकर की जा सकती है और 'नीति' भी एक विषय है।

यह सब कुछ स्वीकार करते हुए भी अनेक विद्वानों ने नीतिकाव्य के काव्यत्व के विषय में संदेह किया है। शुक्लजी ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में रीतिकाल के फुटकल कवियों के सम्बन्ध में लिखा है—"चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का है। इनको हम कवि कहना ठीक नहीं समझते। इनके तथ्य-कथन के ढंग में कभी-कभी वाग्वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य के द्वारा काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। यह ठीक है कि कहीं-कहीं ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तकों में आ जाते हैं जिनमें कुछ मार्मिकता होती है, हृदय की अनुभूतियों से भी सम्बन्ध रखते हैं, पर उनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः ऐसी रचना करने वालों को हम 'कवि' न कह कर सूक्तिकार कहेंगे। रीतिकाल के भीतर वृन्द, गिरिधर, घाघ और बैताल अच्छे सूक्तिकार हुए हैं।"

शुक्लजी ने उपर्युक्त मन्तव्य कोरे नीति के पद्य कहने वालों के लिए दिया है। क्योंकि रहीम के काव्य का विवेचन करते हुए वह स्वीकार करते हैं कि "रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्यों के समान कोरे नीति के पद्य नहीं हैं, उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा।" रहीम के साथ ही साथ वह दीन-दयाल गिरि की अन्योक्तियों को भी शुद्ध एवं मार्मिक काव्य के अन्तर्गत स्वीकार

१—साहित्य का उद्देश्य—प्रेमचन्द।
२—पं० रामदहिन मिश्र के 'काव्य दर्पण' से उद्धृत।

करते हुए कहते हैं—"ये एक अत्यन्त सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्तियाँ हिन्दी के और किसी कवि की नहीं हुईं।" शुक्लजी गोस्वामी तुलसीदास के काव्य के अनन्य प्रशंसक थे परन्तु उनके भी सम्पूर्ण काव्य को उन्होंने काव्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया है। 'दोहावली' का विवेचन करते हुए आप लिखते हैं कि—"भक्ति और प्रेम का स्वरूप व्यक्त करने वाले दोहे तो काव्य के अन्तर्गत लिए जायेंगे पर नीति परक दोहे सूक्ति की श्रेणी में स्थान पायेंगे।"

इस प्रकार शुक्लजी कोरे नीति के पद्यों को काव्य न मान कर केवल नीति परक उन्हीं उक्तियों को काव्य की श्रेणी में स्थान देते हैं जिनमें जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप का उद्घाटन होता हैं। सहृदयता एवं भावुकता उनकी पहली शर्त है।

नीति-काव्य कई रूपों में उपलब्ध होता है। शुक्लजी ने इसके तीन रूप माने हैं—काव्य, सूक्ति और पद्य। यहाँ हम शुक्लजी के ही शब्दों में इन तीनों रूपों की व्याख्या करने का प्रयत्न करेंगे। 'सूक्ति' शब्द का विवेचन करते हुए आप लिखते हैं—

"ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौंदर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है।"[1]

इसके आगे आप काव्य और सूक्ति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढङ्ग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।"

कुछ लोग वैचित्र्य या चमत्कार को ही काव्य मान लेते हैं परन्तु शुक्लजी इस मान्यता से सहमत नहीं। वे वैचित्र्य या चमत्कार के अभाव में भी किसी उक्ति को काव्य मान लेने के पक्ष में हैं। तत्सम्बन्धी उनका कथन दृष्टव्य है—

"किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्त्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जायेगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार ही चमत्कार है तो

१—चिन्तामणि भाग एक : कविता क्या है—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

थोड़ी देर के लिए कुछ कुतूहल या मनबहलाव चाहे हो जाय पर काव्य को लीन करने वाली सरसता न पाई जायेगी।"[१]

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों ही हों तो उसे काव्य माना जायेगा या सूक्ति। इसका उत्तर देते हुए शुक्लजी लिखते हैं कि—"यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में रहने वाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता वहाँ भी काव्य ही माना जायेगा।"[२]

परन्तु कुछ विद्वान शुक्लजी के इस वर्गीकरण या व्याख्या से सहमत नहीं हैं। डाक्टर श्यामसुन्दरदास का मत है कि तत्वतः सुन्दर ढङ्ग से कही गई उक्ति ही 'सूक्ति' या 'सुभाषित' है। ऐसी स्थिति में वह काव्य हो भी सकती है और नहीं भी। हरिऔध जी का मत भी इसी से मिलता-जुलता है। पं० रामदहिन मिश्र भी शुक्लजी की 'सूक्ति' विषयक इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। 'काव्य-दर्पण' में उन्होंने शुक्लजी की आलोचना करते हुए स्पष्ट लिखा है—

"शुक्लजी के मत से स्पष्ट है कि 'सूक्ति' काव्य नहीं है। पर, सूक्ति क्या, उक्ति विशेष भी काव्य होता है। जैसा कहा गया है—'उक्ति विशेषःकाव्यम्।' ····सूक्ति के लक्षण में शुक्लजी ने जितनी बातें कही हैं समुचित प्रतीत नहीं होतीं। इस प्रकार काव्य का भेद काव्यत्व का विघातक है।"

यहाँ शुक्लजी द्वारा किए गए इस वर्गीकरण को जरा ध्यान से देखना है। शुक्लजी काव्य और सूक्ति में स्पष्टतः अन्तर मानते हुए भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि रस और चमत्कार के मात्रा-भेद से कोई भी उक्ति काव्य या सूक्ति मानी जा सकती है। इस मात्रा भेद के लिए हम कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींच सकते। जहाँ रस हो ही नहीं उसे काव्य नहीं माना जा सकता, इस सम्बन्ध में सभी विद्वान सहमत हैं। इसलिए रसहीन परन्तु चमत्कारपूर्ण रचना 'सूक्ति' मात्र रह जाती है। अतः शुक्ल जी इस बात पर बल देते प्रतीत होते हैं कि जिस रचना को पढ़कर हमारा ध्यान केवल कवि के कर्म कौशल पर ही केन्द्रित हो जाय और हमारा हृदय रसमग्न न हो सके उसे सूक्ति कहना चाहिए। परन्तु साथ ही यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सूक्ति रस-हीन ही होती है। अतः जो केवल चमत्कृत करे परन्तु रसमग्न न कर सके वह सूक्ति तथा जो चमत्कृत भले ही न करे परन्तु रसमग्न कर दे वह काव्य है। इसलिए शुक्लजी के इस वर्गीकरण को संगत माना जा सकता है।

१—चिंतामणि भाग १ : कविता क्या है—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
२—वही।

नीतिकाव्य का तीसरा भेद है—पद्य । इस सम्बन्ध में शुक्लजी का मत पुनः द्रष्टव्य है—

"पाँचवाँ वर्ग ज्ञानोपदेशकों का है जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बातों को पद्य में कहते हैं । ये कभी-कभी समझाने के लिए उपमा, रूपक आदि का प्रयोग कर देते हैं, पर समझाने के लिए ही करते हैं, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए नहीं । इनका उद्देश्य अधिकतर बोधवृत्ति जाग्रत करने का रहता है, मनोविकार उत्पन्न करने का नहीं । ऐसे ग्रन्थकारों को हम केवल 'पद्यकार' कहेंगे ।"[१]

संक्षेप में 'सूक्ति' और 'पद्य' के इस अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि सुन्दर ढङ्ग से कही जाने वाली नीति की बातें 'सूक्ति' तथा सीधे-सादे ढङ्ग से कही जाने वाली नीति की बातें 'पद्य' कही जा सकती हैं ।

डाक्टर भोलानाथ तिवारी ने 'सूक्ति' को दो वर्गों में विभाजित किया है । पहला वर्ग वह है जिसमें काव्य के विधायक तत्व होते हैं और दूसरा वर्ग उसे माना जा सकता है जो काव्य के विधायक तत्वों से शून्य होती है । ऐसी सूक्ति में 'चमत्कार' या रचना-वैचित्र्य की ही प्रधानता होती है । डाक्टर तिवारी इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, दृष्टान्त तथा उदाहरण आदि अलंकारों के सहारे कहे गए छन्द प्रथम प्रकार की सूक्तियों में आते हैं । यों इन प्रथम प्रकार की सूक्तियों को भी दो वर्गों में रखा जा सकता है । पहले वर्ग के छंद काव्यत्व की दृष्टि से ऊँचे होते हैं और दूसरे वर्ग के अपेक्षाकृत निम्न । अन्योक्तियाँ या ऐसे छंद जिनमें कवि अपने हृदय में अनुभूत तथ्य की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति कर पाठक के चित्त में तद्गत भाव को उद्बुद्ध कर सके या दूसरे शब्दों में भाव कवि की सहजानुभूति के रूप में परिणत होकर व्यक्त हो, पहले वर्ग के हैं । शेष दूसरे के । दूसरे वर्ग की सूक्तियों में इस सहजानुभूति का अभाव होता है, इसी कारण वे पाठकों में सफलता के साथ भावों का स्फुरण नहीं करा पातीं ।"[२]

'सूक्ति' के इस वर्गीकरण को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

सूक्ति के दो प्रधान भेद हुए—

१—जिसमें काव्य के विधायक तत्व होते हैं ।

२—जो काव्य के विधायक तत्वों से शून्य तथा चमत्कारपूर्ण होती है ।

प्रथम प्रकार की सूक्तियों के भी दो भेद होते हैं—

१—हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।

२—हिंदी नीतिकाव्य—डाक्टर भोलानाथ तिवारी ।

१—छन्द काव्यत्व की दृष्टि से श्रेष्ठ होते हैं।

२—छन्द प्रथम भेद की अपेक्षा निम्नकोटि के होते हैं।

'सूक्ति' के दोनों प्रधान भेदों का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है। वह सूक्ति जिसमें अन्योक्ति आदि के प्रयोग के कारण काव्य के विधायक तत्व विद्यमान रहते हैं :—

"सर सूखे पंछी उड़ै, औरे सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पंख के, कहु रहीम कहँ जाहिं॥"—रहिमन-विलास

वह सूक्ति जिसमें केवल चमत्कार या रचना-वैचित्र्य होता है—

"जग ते रहु छत्तीस ह्वै, रामचरन छबि-लीन।
तुलसी देखु बिचारि हिय, है यह मतो प्रवीन॥"

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष डाक्टर तिवारी ने इस प्रकार उपस्थित किया है—

"निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि नीतिकाव्य के तीन रूप हैं। एक तो वह जिसमें केवल पद्यात्मकता है। इसे 'पद्य' या 'पद्यमात्र' कह सकते हैं। गिरिधर की अधिकाँश कुण्डलियाँ, सन्त कवियों की अधिकाँश साखियाँ, अन्य भक्त कवियों के अधिकाँश नीति छन्द और टोडरमल, बीरबल, गंग, घाघ, बैताल तथा भड्डरी आदि का नीति-साहित्य इसी श्रेणी का है। दूसरा रूप वह है जिसमें चमत्कार हो। इस प्रकार के नीति काव्य से हृदय फड़क उठता है पर काव्य की यथार्थ रसानुभूति नहीं होती। इसे चमत्कार मात्र वाला नीतिकाव्य कह सकते हैं। कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द, दीनदयाल, रामचरित उपाध्याय तथा महात्मा भगवानदीन के बहुत से नीति के छन्द इस वर्ग के हैं। तीसरा रूप वह है जिसमें यथार्थ रूप में काव्यत्व मिलता है। तुलसी, रहीम, वृन्द के कुछ नीति दोहे तथा दीनदयालगिरि की बहुत सी अन्योक्तियाँ इस प्रकार की हैं।"[१]

नीति को नीति-काव्य बनाने के लिए कवियों ने समष्टि रूप से प्रायः कई उपादानों की सहायता ली है। डाक्टर श्यामसुन्दरदास 'सतसई सप्तक' की भूमिका में 'उक्ति बंकिमा' को प्रधान उपादन मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में — "जो बात बहुत दिनों से शास्त्रार्थ और तर्क-वितर्क से किसी के मन में न जमाई जा सके वह सहसा किसी चतुराई भरी एक छोटी सी वक्र उक्ति से एक क्षण में सुझाई जा सकती हैं।" दूसरा उपादान हैं 'प्रत्युत्पन्नमतित्व'। किसी सामान्य से नैतिक तथ्य को सहसा अवसरोचित ढङ्ग से अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित कर दिया जाय। इसी को 'प्रत्युत्पन्नमतित्व' कहा जाता है। तीसरा उपादान है

१—हिंदी नीतिकाव्य—डाक्टर भोलानाथ तिवारी।

'अलंकार-योजना'। दृष्टान्त, अन्योक्ति, उपमा आदि सरल अलंकारों के माध्यम से किसी नैतिक तथ्य को उपस्थित करने से उस कथन का प्रभाव बढ़ जाता है। इन अलंकारों द्वारा चित्रकल्पना को प्रोत्साहन मिलता है और उससे भाव-बोध को। चौथा उपादान है 'स्वाभाविक भाषा और लोकोक्ति प्रयोग। नीति वाक्य क्योंकि जन-साधारण के लिए ही कहे जाते हैं इसलिए उनमें अपेक्षाकृत अधिक सरल और सरस भाषा का प्रयोग किया जाता है। भाषा की क्लिष्टता उन्हें दुरूह बना देती है। और ऐसा हो जाने पर उनका अभिप्रेत अभिप्राय सिद्ध नहीं हो पाता। इसलिए लगभग सभी नीतिकारों ने लोकभाषा की सहज सुबोध सरस शैली को अपनाया है। सामासिकता से वे बचते रहे हैं। लोकोक्ति और मुहावरे नीतिकारों के सबसे सशक्त माध्यम रहे हैं। इनके लघु-कलेवर में समाज द्वारा अनुभूत परम्परागत ज्ञान अपनी परिस्थिति की सम्पूर्ण विशिष्ट-ताओं के साथ स्पष्ट हो उठता है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से नीतिकारों ने अधिकाँशतः व्यक्ति और धार्मिक रूढ़ियों, सामाजिक सम्बन्ध और उनकी नीतिपरक व्यवस्थाओं, भाग्यवाद, नश्व-रता, स्वामी और भृत्य, निर्धन और धनिक, उच्चादर्श, स्वभाव कथन मूलक उक्तियों आदि को ही अपनाया है।

यहाँ एक बात को और स्पष्ट कर लेना चाहिए। नीति और धर्म का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु वहीं जहाँ हम धर्म को किसी सम्प्रदाय विशेष की संकुचित सीमाओं से मुक्त कर उसे उसके व्यापक रूप में ग्रहण करते हैं। किसी सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित होकर कही गई नीति की उक्तियाँ अपनी संकु-चित सीमा एवं प्रभाव के कारण धार्मिक रचनाएँ ही मानी जायेंगी न कि शुद्ध नीति काव्य। इसी कारण भक्ति, वैराग्य आदि सम्बन्धी नीति उक्तियों को नीतिकाव्य के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

विकास

नीति की बातें कहना हमारी संस्कृति की एक अत्यन्त प्राचीन एवं समृद्ध परम्परा रही है। हिन्दी के सम्पूर्ण साहित्य में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक बहुत ही कम कवि ऐसे होंगे जिनके काव्य में किसी-न-किसी रूप में नीतिवाक्य न मिल जाँय। परन्तु जब हम सम्पूर्ण हिन्दी काव्य पर समग्र दृष्टि डालते हैं तो यह सत्य प्रकट हो जाता है कि हिन्दी नीतिकाव्य में सबसे अधिक छन्द 'पद्यमात्र' हैं। ऐसे छन्दों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक न्यून है जिन्हें यथार्थ काव्य की संज्ञा दी जा सके। वैसे तो गोरखनाथ, चन्दवरदायी आदि से लेकर आजतक ऐसे बहुसंख्यक कवि मिलते हैं जिन्होंने न्यूनाधिक मात्रा में नीति के छन्द कहे हैं परन्तु ऐसे सभी कवियों को नीतिकार या नीति के कवि नहीं

माना जा सकता। समष्टि रूप से हिन्दी के नीतिकारों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली श्रेणी में वे कवि आते हैं जो प्रमुख रूप से नीतिकार हैं जैसे रहीम, वृन्द, घाघ, भड्डरी, बैताल, गिरधर, दीनदयाल गिरि आदि। दूसरी श्रेणी उन कवियों की है जो प्रमुख रूप से तो नीतिकार नहीं हैं परन्तु जिनका दृष्टिकोण उपदेशात्मक और नीतिपरक रहा है। इनमें कबीर और तुलसी की गणना की जा सकती है। इन्होंने नीति और उपदेश सम्बन्धी छन्दों की रचना प्रचुर मात्रा में की है यद्यपि मूलतः ये भक्त कवि रहे हैं। तीसरी श्रेणी उन कवियों की है जिन्होंने कहीं-कहीं नीति-सम्बन्धी फुटकर छन्द लिखे हैं। ऐसे कवियों की संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है।

हिन्दी-साहित्य के चारों कालों में से नीति सम्बन्धी छन्दों की रचना की दृष्टि से आदिकाल सबसे अधिक निर्धन है। भक्तिकाल और रीतिकाल नीति काव्य की दृष्टि से सबसे अधिक सम्पन्न और विस्तृत हैं। आधुनिक काल आदिकाल की अपेक्षा इस क्षेत्र में अधिक समृद्ध है।

डाक्टर भोलानाथ तिवारी ने हिंदी नीतिकाव्य की सम्पूर्ण सामग्री को मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया है। पहला वर्ग **मुक्तकों** का है। इसमें रहीम, बृन्द, गिरधर, दीनदयाल तथा भगवानदीन आदि के नीति-छंद आते हैं। दूसरा वर्ग **प्रबन्ध काव्यों** जैसे पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका आदि में प्राप्त नीति-विषयक सामग्री का है।

मुक्तक-वर्ग की सामग्री को उन्होंने तीन उप-वर्गों में विभाजित किया है—

(१) **नीति की फुटकर रचनायें**—जैसे गंग, बीरबल तथा टोडरमल आदि प्राचीन और रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, कन्हैयालाल पोद्दार एवं रामचरित उपाध्याय आदि नवीन कवियों के नीति-सम्बन्धी फुटकर छंद।

(२) **नीति की मुक्तक कविताओं के संग्रह**—इस वर्ग में सतसई, शतक तथा अन्य छोटी-बड़ी संख्याओं वाले संग्रह और किसी युग, समाज या वर्ग विशेषको दृष्टि में रखकर लिखे गए नीति-सम्बन्धी ग्रन्थ आदि आते हैं। जैसे—वृन्द-सतसई, महात्मा भगवानदीन के 'नीति के दोहे', रहीम दोहावली, छत्रसाल की 'नीति मंजरी', मीर का 'अन्योक्ति शतक', केवलकृष्ण शर्मा की 'नीति-पचीसी', विनय पत्ति की 'अन्योक्ति बावनी' आदि। युग विशेष सम्बन्धी नीति-रचनाओं में मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती', शिवशंकर मिश्र का 'सदाचार सोपान', रामप्रसाद तिवारी का 'सुताप्रबोध' आदि रचनायें मानी जा सकती हैं।

(३) **अन्य विषयक मुक्तक कविताओं के साथ संग्रहीत नीति-कविताएँ**—जैसे भक्ति-विषयक 'तुलसी-सतसई', शृङ्गार-विषयक 'बिहारी-सतसई',

वियोगी हरि की वीर रस-विषयक 'वीर-सतसई', निर्भय की 'किसान-सतसई', महेशचन्द्र की 'स्वदेश सतसई', रसनिधि कृत शृङ्गार विषयक 'रतनहजारा', कुलदीप कृत भक्ति विषयक 'सहस्र दोहावली', बनारसीदास कृत 'ज्ञान-बावनी', दुलारेलाल भार्गव कृत 'दुलारे दोहावली' आदि।

हिन्दी नीति काव्य अपने पूर्ववर्ती नीति-साहित्य से पूर्णतः प्रभावित है, अतः हमें पहले पूर्ववर्ती साहित्यों में प्राप्त नीति-विषयक सामग्री का संक्षिप्त विवेचन कर लेना चाहिए। संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश वे भाषायें हैं जिनके साहित्य का हिन्दी पर गहरा प्रभाव पड़ा है। यहाँ क्रमशः इन्हीं का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

संस्कृत-साहित्य में नीति—संस्कृत साहित्य को मूलतः दो वर्गों में विभाजित किया गया है—वैदिक साहित्य तथा लौकिक-साहित्य। वैदिक-साहित्य में संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद, वेदांग तथा उपवेद आते हैं। नीति की दृष्टि से यह वर्ग अधिक सम्पन्न नहीं है। इनमें यत्र-तत्र नीतिपूर्ण सूक्तियों के दर्शन हो जाते हैं। संस्कृत के लौकिक-साहित्य में महाकाव्य, स्मृति, पुराण, कथा, आदि की गणना होती है। नीति की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। इसमें नीति की दृष्टि से महाभारत सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। धौम्य नीति, विदुरनीति, भीष्मनीति आदि इसी के अङ्ग हैं। संस्कृत में नीति-सम्बन्धी स्फुट काव्य ग्रन्थों की रचना पर्याप्त परिमाण में हुई थी। नीतिशतक, नीति-मंजरी, नीति वाक्यामृत, नीतिसार, नीति चन्द्रिका आदि नाम नीति-सामग्री की इसी प्रचुरता के द्योतक हैं। इनमें नीति की बातें सीधे ढंग से कही गई हैं। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें नीति की बातें अप्रत्यक्ष ढङ्ग से अन्योक्ति आदि द्वारा कही गई हैं। समष्टि रूप से सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य नीति-विषयक सामग्री से भरा पड़ा है।

पालि-साहित्य में नीति—पालि-साहित्य में नीति की दृष्टि से दो ग्रन्थ अत्यधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं—धम्मपद और जातक। धम्मपद के सम्बन्ध में एक विद्वान का कथन है कि इसमें नीति के वे सभी आदर्श संग्रहीत हैं, जो भारतीय संस्कृति और समाज की सामान्य सम्पत्ति हैं। इसकी कुछ नीतियाँ तो बहुत ही व्यावहारिक हैं। जातक में कथाओं के माध्यम से नीति की बातें कही गई हैं। डाक्टर भोलानाथ तिवारी का कथन है कि—"इस दृष्टि से जातक कथाओं को भारतीय लोक एवं व्यवहार नीति का विश्वकोष कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।"

प्राकृत-साहित्य में नीति—प्राकृत-साहित्य में नीति-सामग्री अपेक्षाकृत

बहुत ही कम मिलती है। केवल 'गाहा सत्तसई' (गाथा सप्तशती) ही एक-मात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें यद्यपि प्रधानता तो शृङ्गार की है पर नीति-विषयक अनेक छन्द भी मिल जाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से इनका अधिक महत्व है।

अपभ्रंश साहित्य में नीति—"अपभ्रंश का नीतिकाव्य धर्म तथा आचार नीति के क्षेत्र में संस्कृत तथा पालि से भी अधिक सम्पन्न है, पर, लोक तथा व्यवहार नीति के क्षेत्र में इनसे कुछ पीछे है। राजनीति के विषय में प्राकृत की भाँति ही प्रायः शून्य सा है।"[1]

उपर्युक्त चारों भाषाओं के साहित्यों में से हिन्दी पर संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के साहित्यों का विशेष प्रभाव पड़ा है। और इनमें से भी संस्कृत का प्रभाव सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। पालि और प्राकृत प्रधानतः बौद्धों एवं जैनों द्वारा अपने-अपने धार्मिक साहित्य के लिए अपनाई गईं थीं और इन दोनों धर्मों का प्रभाव क्षीण हो जाने पर इनका अध्ययन-अध्यापन प्रायः समाप्त सा हो चला था। संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन प्राचीन काल से अद्यावधि निरन्तर चलता चला आ रहा था, इसलिए हमारे कविगण इस साहित्य से अधिक परिचित थे और दिशा-निर्देश के लिए सदैव संस्कृत के मुखापेक्षी रहते थे। हिन्दी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी है इसलिए अपभ्रंश की सम्पूर्ण परम्पराओं का विकास हिन्दी में होना नितान्त स्वाभाविक था। अपभ्रंश साहित्य भी धार्मिक सम्प्रदायों बौद्धों, जैनों, सिद्धों आदि से प्रभावित रहा था इसलिए कालान्तर में जब इन सम्प्रदायों का प्रभाव क्षीण हो गया तो अपभ्रंश का पठन-पाठन भी समाप्त सा हो गया और उसी अनुपात में हिन्दी पर उसका प्रभाव भी क्षीण हो चला। अतः हिन्दी-काव्य का मूल प्रेरणास्रोत संस्कृत साहित्य ही रहा है। पालि, प्राकृत आदि भाषाओं का परिचय भी हिन्दी को संस्कृत के माध्यम से ही प्राप्त होता रहा था और वह भी इन भाषाओं के केवल साहित्यिक ग्रन्थों का ही। प्राकृत की 'गाहा सत्तसई' का परिचय हिन्दी को उसके संस्कृत-रूपान्तर 'गाथा सप्तशती' के रूप में ही प्राप्त हुआ था।

हिन्दी नीति काव्य पर उक्त साहित्यों का प्रभाव दो रूपों में पड़ा है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष स्रोत इन साहित्यों के मूल या अनुवाद ग्रन्थ रहे हैं। इनके द्वारा स्थापित साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को हिन्दी ने एक समृद्ध विरासत के रूप में अपनाया था। और इस विरासत के रूप में हिन्दी को परम्परा, शैली, छन्द, अलङ्कार और भाव मिले थे। परम्परा के रूप में मुक्तक, अन्योक्ति, सुभाषित, प्रबन्ध ग्रन्थों में नीति-सम्बन्धी छन्द,

१—हिंदी नीतिकाव्य—डा० भोलानाथ तिवारी।

उपदेशात्मक कथाओं द्वारा नीति की शिक्षा आदि को हिन्दी ने यथावत् अपना लिया था। शैली के रूप में उपदेशात्मक, सूत्रात्मक, सूक्त्यात्मक, अन्योक्ति-प्रधान, प्रकृति-चित्रण के साथ, कथात्मक आदि शैलियाँ हिन्दी को इन्हीं से मिली थीं। छन्दों के क्षेत्र में भी हिन्दी नीतिकाव्य अपने इन पूर्ववर्ती साहित्यों का ऋणी है। अपभ्रंश का दोहा छन्द हिन्दी में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। गिरिधर तथा दीनदयाल की कुंडलियाँ भी अपभ्रंश का ही छन्द है। यही स्थिति 'छप्पय' की भी है। सोरठा तथा चौपाई भी अपभ्रंश की ही देन है। अलङ्कारों के क्षेत्र में भी हिन्दी इन्हीं साहित्यों की ऋणी है। भाव की दृष्टि से भी विषयों के क्षेत्र में हिन्द नीतिकाव्य इनका समान रूप से ऋणी है।

विषयों की दृष्टि से हिन्दी नीतिकाव्य को पाँच प्रधान वर्गों में विभाजित किया जा सकता है — १—धर्म और आचार, २—समाज और व्यवहार, ३—राजनीति, ४—सामान्य ज्ञान और ५—विश्वास। हिन्दी के नीतिकारों ने विभिन्न शैलियों द्वारा इन विषयों को काव्य का रूप दिया है। गोरख, कबीर तुलसी तथा गिरिधर आदि में उपदेशात्मक शैली का प्राधान्य मिलता है। परन्तु यह शैली शुष्क होने के कारण अधिक प्रभाव नहीं डाल पाती। नीति काव्य के लिए सबसे सशक्त शैली सूक्त्यात्मक मानी जाती है। इसमें नीति की बातें सूक्तियों के रूप में कथन-वक्रता, चमत्कार, अलङ्करण-विधान आदि के द्वारा कही जाती हैं। इस कारण इसमें प्रभविष्णुता, आकर्षण और चुस्ती रहती है। हिन्दी में इसके सबसे सुन्दर प्रयोग रहीम और वृन्द ने किए हैं।

अन्योक्ति शैली भी हिन्दी के नीति काव्यकारों की प्रिय शैली रही है। यह नीति के कहने का सबसे शिष्ट और सूक्ष्म ढङ्ग है। इसमें नीति की बात प्रस्तुत को सम्बोधित न कर उससे मिलते-जुलते अप्रस्तुत के प्रति कही जाती है। हिन्दी में यद्यपि तुलसी, वृन्द, रहीम, बिहारी, मैथिलीशरण गुप्त, कन्हैया-लाल पोद्दार ने अनेक अन्योक्तियाँ लिखी हैं परन्तु इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफ-लता दीनदयाल गिरि को ही मिली है।

हिन्दी नीति काव्य के दो प्रधान रूप मिलते हैं। पहला रूप वह है जिसमें हिन्दी के नीतिकार कवियों ने संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में कहे गए नीति वाक्यों का या तो सीधा-साधा अनुवाद कर दिया है या उन्हीं के भावों को लेकर अपनी बात नए ढङ्ग से कही है। यहाँ हम हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों के नीतिकाव्यों से मिलते-जुलते कुछ उदाहरण देकर इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।

संस्कृत भाषा में रचे गए 'पंचतंत्र' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का एक श्लोक द्रष्टव्य है—

"आपत्काले तु संप्राप्ते यान्मित्रं मित्रमेव तत् ।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद् भवेत् ।।"

अर्थात् विपत्ति में जो मित्र है वही मित्र है। सम्पत्ति के समय तो शत्रु भी मित्र हो जाता है। रहीम ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

"कहि रहीम सम्पति सगे बनत बहुत बहु रीत ।
विपति कसौटी जे कसे तेई साँचे मीत ।।"

पालि की जातक कथाओं में एक स्थान पर कहा गया है कि दान माँगना रुदन है और माँगने पर दान न देना प्रतिरुदन है। श्लोक द्रष्टव्य है—

"याचनं रोदनं आहु पंचालानं रथे सभ ।
यो याचनं पच्चक्खाति तमाहु पटिरोदनं ।।"

कविवर रहीम ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ मांगन जाहिं ।
उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ।।"

प्राकृत में रचित 'गाथा सप्तशती' का एक दोहा है—

"चावो साहव सरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडंतम् ।
बंकस्स उज्जुअस्स असम्बन्धो किं चिरं होइ ।।"

अर्थात् टेढ़े और सीधे का सम्बन्ध सम्भव नहीं। धनुष टेढ़ा है, अतः बाण उसके गुण पर आता है (आर्कपित होता है) फिर भी फेंक दिया जाता है।

कवि वृन्द ने इसी भाव को यथावत् दुहरा दिया है—

"बाँके सीधे को मिलन निबहै नाहिं निदान ।
गुन ग्राही तौऊ तजत जैसे बान कमान ।।"

अपभ्रंश का एक दोहा है जिसमें मुन्डी साधुओं के वाह्याडम्बर का मजाक उड़ाया गया है—

"मुंडिय-मुंडिय मुंडिया । सिरु मुंडिय चित्तुण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ । संसारहं खंडणु ति कियउ ।।"

अर्थात् हे मूँड़ मुंड़ाने वालों में श्रेष्ठ मुंडी ! तूने सिर तो मुंडाया है पर चित्त को न मूँड़ा। जिसने चित्त का मुंडन कर डाला उसने संसार का खंडन कर डाला।

कबीर ने भी इसी भाव को व्यक्त करने वाला एक दोहा कहा है—

"केसौं कहा बिगाड़िया जे मूँड़ै सौ बार ।
मन को काहे न मूँडिए जामें विषै विकार ।।

उपर्युक्त समानान्तर उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी नीतिकाव्य अपने पूर्ववर्ती साहित्यों के नीतिकाव्यों का बहुत ऋणी है।

परन्तु उपर्युक्त विवेचन का यह अर्थ नहीं कि हिन्दी नीतिकाव्य में अपनी कोई मौलिकता है ही नहीं। हिन्दी नीतिकाव्य युग की बदलती हुई परिस्थितियों से उसी प्रकार प्रभावित होता आया है जिस प्रकार कि हमारा सम्पूर्ण साहित्य। हिन्दी साहित्य के आदि काल में दो भावनायें प्रधान थीं—वीरता और भक्ति। आल्हखंड की एक ही पंक्ति इन दोनों विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है—

"जननी बेटा ऐसा जनिये, कै सूरा कै भक्त कहाय।"

भक्ति काल का प्रारम्भिक भाग रूढ़िबद्ध धर्म के प्रति विद्रोह का युग था। कबीर आदि सन्तों के नीतिवाक्यों में यह विद्रोह स्पष्ट हो उठा था। डाक्टर भोलानाथ तिवारी ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है—"भक्तिकाल आते-आते देश में भक्ति के वातावरण का प्राधान्य हो गया पर उसके आदर्श रूप और धार्मिक व्यक्तियों की यथार्थ स्थिति में बहुत अन्तर था। इसी कारण कबीर आदि सन्तों के नीति अंश में व्यर्थ के धार्मिक आडम्बरों के प्रति विद्रोह के स्वर का प्राधान्य है। तुलसी का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। उन्हें भारतीय संस्कृति के अनुकूल हिन्दी समाज नहीं दिखाई पड़ा अतः उस दृष्टि से उन्होंने उसकी आलोचना करते हुए, उसे उचित पथ पर लाने के लिए अपने नीति और उपदेश के छन्दों की विविध सन्दर्भों में रचना की। तत्कालीन नीतिकारों का तीसरा वर्ग रहीम, देवीदास, टोडरमल, बीरबल, गंग आदि का है। इन सभी का सम्बन्ध उच्च शिष्ट समाज तथा राज्य-दरबारों से था अतः इनके नीति काव्य में तत्कालीन व्यवहार नीति, समाज-नीति तथा राजनीति के सामान्य सिद्धान्त मुखरित हुए हैं।"[१]

रीतिकाल का वातावरण आडम्बरपूर्ण था अतः उसमें मौलिकता कम और अनुकरण अधिक रहा। गिरिधर आदि में अवश्य मौलिकता मिलती है। आधुनिक युग मौलिकता की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध है। इस युग की बदलती हुई परिस्थितियों ने अनेक नई समस्यायें खड़ी कर दीं जिन्हें लेकर हमारे नीतिकारों ने मौलिक नीति-साहित्य की रचना की।

अब हम कुछ उदाहरण देते हुए हिन्दी के नीतिकारों को उद्धृत करने का प्रयत्न करेंगे जिन्होंने विभिन्न युगों में विभिन्न विषयों को लेकर नीतिकाव्य की रचना की है। इन विषयों को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर उनके उदाहरण उपस्थित करेंगे—

१—धर्म और आचार, २—व्यवहार और समाज, ३—राजनीति, ४—

१—हिन्दी नीति काव्य—डा० भोलानाथ तिवारी।

"आपत्काले तु संप्राप्ते यान्मित्रं मित्रमेव तत् ।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद् भवेत् ।।"

अर्थात् विपत्ति में जो मित्र है वही मित्र है। सम्पत्ति के समय तो शत्रु भी मित्र हो जाता है। रहीम ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

"कहि रहीम सम्पति सगे बनत बहुत बहु रीत।
विपति कसौटी जे कसे तेई साँचे मीत ।।"

पालि की जातक कथाओं में एक स्थान पर कहा गया है कि दान माँगना रुदन है और माँगने पर दान न देना प्रतिरुदन है। श्लोक द्रष्टव्य है—

"याचनं रोदनं आहु पंचालानं रथे सभ।
यो याचनं पच्चक्खाति तमाहु पटिरोदनं ।।"

कविवर रहीम ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ।।"

प्राकृत में रचित 'गाथा सप्तशती' का एक दोहा है—

"चावो साहव सरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडंतम्।
बंकस्स उज्जुअस्स असम्बन्धो किं चिरं होइ ।।"

अर्थात् टेढ़े और सीधे का सम्बन्ध सम्भव नहीं। धनुष टेढ़ा है, अतः बाण उसके गुण पर आता है (आकर्षित होता है) फिर भी फेंक दिया जाता है।

कवि वृन्द ने इसी भाव को यथावत् दुहरा दिया है—

"बाँके सीधे को मिलन निबहै नाहिं निदान।
गुन ग्राही तौऊ तजत जैसे बान कमान ।।"

अपभ्रंश का एक दोहा है जिसमें मुन्डी साधुओं के वाह्याडम्बर का मजाक उड़ाया गया है—

"मुंडिय-मुंडिय मुंडिया। सिरु मुंडिय चित्तुण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ। संसारहं खंडणु ति कियउ ।।"

अर्थात् हे मूँड़ मुंड़ाने वालों में श्रेष्ठ मुंडी! तूने सिर तो मुंडाया है पर चित्त को न मूँड़ा। जिसने चित्त का मुंडन कर डाला उसने संसार का खंडन कर डाला।

कबीर ने भी इसी भाव को व्यक्त करने वाला एक दोहा कहा है—

"केसौं कहा बिगाड़िया जे मूँड़ै सौ बार।
मन को काहे न मूँडिए जामें विषै विकार ।।

उपर्युक्त समानान्तर उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी नीतिकाव्य अपने पूर्ववर्ती साहित्यों के नीतिकाव्यों का बहुत ऋणी है।

परन्तु उपर्युक्त विवेचन का यह अर्थ नहीं कि हिन्दी नीतिकाव्य में अपनी कोई मौलिकता है ही नहीं। हिन्दी नीतिकाव्य युग की बदलती हुई परिस्थितियों से उसी प्रकार प्रभावित होता आया है जिस प्रकार कि हमारा सम्पूर्ण साहित्य। हिन्दी साहित्य के आदि काल में दो भावनायें प्रधान थीं—वीरता और भक्ति। आल्हखंड की एक ही पंक्ति इन दोनों विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है—

"जननी बेटा ऐसा जनिये, कै सूरा कै भक्त कहाय।"

भक्ति काल का प्रारम्भिक भाग रूढ़िबद्ध धर्म के प्रति विद्रोह का युग था। कबीर आदि सन्तों के नीतिवाक्यों में यह विद्रोह स्पष्ट हो उठा था। डाक्टर भोलानाथ तिवारी ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है—"भक्तिकाल आते-आते देश में भक्ति के वातावरण का प्राधान्य हो गया पर उसके आदर्श रूप और धार्मिक व्यक्तियों की यथार्थ स्थिति में बहुत अन्तर था। इसी कारण कबीर आदि सन्तों के नीति अंश में व्यर्थ के धार्मिक आडम्बरों के प्रति विद्रोह के स्वर का प्राधान्य है। तुलसी का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। उन्हें भारतीय संस्कृति के अनुकूल हिन्दी समाज नहीं दिखाई पड़ा अतः उस दृष्टि से उन्होंने उसकी आलोचना करते हुए, उसे उचित पथ पर लाने के लिए अपने नीति और उपदेश के छन्दों की विविध सन्दर्भों में रचना की। तत्कालीन नीतिकारों का तीसरा वर्ग रहीम, देवीदास, टोडरमल, बीरबल, गंग आदि का है। इन सभी का सम्बन्ध उच्च शिष्ट समाज तथा राज्य-दरबारों से था अतः इनके नीति काव्य में तत्कालीन व्यवहार नीति, समाज-नीति तथा राजनीति के सामान्य सिद्धान्त मुखरित हुए हैं।"[१]

रीतिकाल का वातावरण आडम्बरपूर्ण था अतः उसमें मौलिकता कम और अनुकरण अधिक रहा। गिरिधर आदि में अवश्य मौलिकता मिलती है। आधुनिक युग मौलिकता की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध है। इस युग की बदलती हुई परिस्थितियों ने अनेक नई समस्यायें खड़ी कर दीं जिन्हें लेकर हमारे नीतिकारों ने मौलिक नीति-साहित्य की रचना की।

अब हम कुछ उदाहरण देते हुए हिन्दी के नीतिकारों को उद्धृत करने का प्रयत्न करेंगे जिन्होंने विभिन्न युगों में विभिन्न विषयों को लेकर नीतिकाव्य की रचना की है। इन विषयों को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर उनके उदाहरण उपस्थित करेंगे—

१—धर्म और आचार, २—व्यवहार और समाज, ३—राजनीति, ४—

१—हिन्दी नीति काव्य—डा० भोलानाथ तिवारी।

नारी, ५—स्वास्थ्य, ६—खेती-बाड़ी, ७—व्यापार और ८—शकुन।

धर्मऔर आचार—हिन्दी के नीति काव्यकारों ने धर्म के पालन पर बहुत बल दिया है। तुलसी कहते हैं—

"सहि कुबोल साँसित सकल, अँगइ अनट अपमान।
तुलसी धरम न परिहरिय, कहि, करि गए सुजान।।"

और यदि कोई धर्म से विमुख होता है तो पं० रामचरित उपाध्याय उसे दंड देने की व्यवस्था देते हुए कहते हैं—

"नारी, गुरु, पितु, मातु, सुत, सचिव, महीपति, मीत।
बन्धु, विप्रहुँ दँडिए धर्म-विमुख यह नीति।।"

साधु और सन्त नीति-कवियों के प्रिय विषय रहे हैं। सुन्दरदास सन्तों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

"धोवत है संसार सब गङ्गा माहें पाप।
सुन्दर सन्तनि के चरण गङ्गा बंछै आप।।"

परन्तु ऐसे सन्त दुर्लभ हैं। इसीलिए दीनदयाल गिरि कहते हैं—

"साधु रहैं नहि सकल थल कविजन कहैं बखानि।
वन बन चन्दन होहिं नहिं गिरि गिरि मानिक खानि।।"

साधु-सम्बन्धी गिरिधर की एक कुण्डलिया भी द्रष्टव्य है—

"बहता पानी निर्मला, पड़ा गंध सो होय।
त्यों साधू रमता भला, दाग न लागे कोय।।
दाग न लागे कोय जगत में रहे अलैंदा।
राग-द्वेष युत प्रेत न चित कों करै बिछेदा।।
कह गिरिधर कविराय शीत उष्णादिक सहता।
होइ न कहुँ आसक्त यथा गङ्गाजल बहता।।"

गुरु, संसार, शरीर, मन माया आदि भी इन कवियों के प्रिय विषय रहे हैं। रहीम शरीर को महत्व देते हुए मन को गौण मानते हैं—

"जो रहीम तन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहि।
जल में जो छाया परी काया भीजति नाहिं।।"

परन्तु बीरबल का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। वह मन को ही सब कुछ मानकर शरीर को गौण मानते हैं—

"तन जावे तो जान दे दृढ़ कर मन बर बीर।
रोदे बिना कमान के कैसे लागे तीर।।"

इसी प्रकार नाम-स्मरण, ज्ञान, सत्य, दया, परोपकार, अहिंसा, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि मनोविकारों के सम्बन्ध में भी इन कवियों ने अनेक मार्मिक

उक्तियाँ कही हैं। मादक द्रव्यों का प्रयोग, माँसभक्षण आदि को इन लोगों ने सदैव धर्म-विरुद्ध घोषित किया है। हुक्का पीने का कड़ा विरोध करते हुए गिरिधर कविराय कहते हैं—

"हुक्का से हुरमत गई, नियम धर्म गयो छूट।
दाम खर्च कर लियो तमाखू, गई हिये की फूट॥
गई हिये की फूट आग को घर-घर डोलै।
जिस घर आग को जाय सोई कुरराती बोले।
कह गिरिधर कविराय लगै जब यम को रुक्का।
प्राण जायँगे छूट सहाय होवे नहिं हुक्का॥"

व्यवहार और समाज—धर्म और आचार के समान ही इन कवियों ने मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार, समाज की महत्ता, जाति, परिवार, पारिवारिक सम्बन्ध, पड़ोसी, शत्रु, मित्र, दुष्ट, सज्जन, जन्म, मृत्यु, बचपन, जवानी, बुढ़ापा, पेट, उद्योग, श्रम, धनी, निर्धन, सूम, घूस, ऋण, सन्तोष, क्षमा, चिन्ता, प्रेम, कपट, चुगली, आत्मश्लाघा आदि अनेक विषयों को लेकर नीतिवाक्य कहे हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

जाति की महत्ता प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी कवि समान रूप से मानते हैं। दीनदयाल गिरि कहते हैं—

"तहाँ नहीं कछु भय जहाँ, अपनी जाति न पास।
काठ बिना न ठाकुर कहुँ तरु को करत विनास॥"

परन्तु इस जाति की महत्ता यही है कि यही प्रधान रूप से विनाश का कारण बनती है। इसलिए जाति का सदा सम्मान करना चाहिए।

शत्रु सदैव आतंकदायी होता है परन्तु कुछ शत्रु ऐसे भयानक एवँ कपटी होते हैं कि इनसे कभी भी शत्रुता नहीं करनी चाहिए। गिरिधर निम्नलिखित तेरह प्रकार के शत्रुओं से सदैव सावधान रहने के लिए कहते हैं—

"साईं बैर न कीजिए गुरु, पंडित, कवि, यार।
बेटा, बनिता पंवरिया, यज्ञ करावन हार॥
विप्र, परोसी, वैद्य, आपको तपै रसोई॥
कह गिरिधर कविराय युगन तै यह चलि आई।
इन तेरह सों तरह दिए बनि आवै सांई॥"

दुष्टों से सबने सावधान रहने की बात कही है। ओछे स्वभाव वाले व्यक्तियों से कभी घनिष्ठता नहीं रखनी चाहिए। रहीम इसी बात पर बल देते हैं—

नारी, ५—स्वास्थ्य, ६—खेती-बाड़ी, ७—व्यापार और ८—शकुन।

धर्मऔर आचार—हिन्दी के नीति काव्यकारों ने धर्म के पालन पर बहुत बल दिया है। तुलसी कहते हैं—

"सहि कुबोल साँसित सकल, अँगइ अनट अपमान।
तुलसी धरम न परिहरिय, कहि, करि गए सुजान ॥"

और यदि कोई धर्म से विमुख होता है तो पं० रामचरित उपाध्याय उसे दंड देने की व्यवस्था देते हुए कहते हैं—

"नारी, गुरु, पितु, मातु, सुत, सचिव, महीपति, मीत।
बन्धु, विप्रहुँ दँडिए धर्म-विमुख यह नीति ॥"

साधु और सन्त नीति-कवियों के प्रिय विषय रहे हैं। सुन्दरदास सन्तों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

"धोबत है संसार सब गङ्गा माहें पाप।
सुन्दर सन्तनि के चरण गङ्गा बंछै आप ॥"

परन्तु ऐसे सन्त दुर्लभ हैं। इसीलिए दीनदयाल गिरि कहते हैं—

"साधु रहैं नहिं सकल थल कविजन कहैं बखानि।
बन बन चन्दन होंहि नहिं गिरि गिरि मानिक खानि ॥"

साधु-सम्बन्धी गिरिधर की एक कुण्डलिया भी दृष्टव्य है—

"बहता पानी निर्मला, पड़ा गंध सो होय।
त्यों साधू रमता भला, दाग न लागे कोय ॥
दाग न लागे कोय जगत में रहै अलैंदा।
राग-द्वेष युत प्रेत न चित कों करै बिछेदा ॥
कह गिरिधर कविराय शीत उष्णादिक सहता।
होइ न कहुँ आसक्त यथा गङ्गाजल बहता ॥"

गुरु, संसार, शरीर, मन माया आदि भी इन कवियों के प्रिय विषय रहे हैं। रहीम शरीर को महत्व देते हुए मन को गौण मानते हैं—

"जो रहीम तन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहि।
जल में जो छाया परी काया भीजति नाहिं ॥"

परन्तु बीरबल का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। वह मन को ही सब कुछ मानकर शरीर को गौण मानते हैं—

"तन जावे तो जान दे दृढ़ कर मन बर बीर।
रोदे बिना कमान के कैसे लागे तीर ॥"

इसी प्रकार नाम-स्मरण, ज्ञान, सत्य, दया, परोपकार, अहिंसा, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि मनोविकारों के सम्बन्ध में भी इन कवियों ने अनेक मार्मिक

उक्तियाँ कही हैं। मादक द्रव्यों का प्रयोग, माँसभक्षण आदि को इन लोगों ने सदैव धर्म-विरुद्ध घोषित किया है। हुक्का पीने का कड़ा विरोध करते हुए गिरिधर कविराय कहते हैं—

"हुक्का से हुरमत गई, नियम धर्म गयो छूट।
दाम खर्च कर लियो तमाखू, गई हिये की फूट॥
गई हिये की फूट आग को घर-घर डोलै।
जिस घर आग को जाय सोई कुरराती बोले।
कह गिरिधर कविराय लगै जब यम को रुक्का।
प्राण जायँगे छूट सहाय होवे नहिं हुक्का॥"

व्यवहार और समाज—धर्म और आचार के समान ही इन कवियों ने मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार, समाज की महत्ता, जाति, परिवार, पारिवारिक सम्बन्ध, पड़ोसी, शत्रु, मित्र, दुष्ट, सज्जन, जन्म, मृत्यु, बचपन, जवानी, बुढ़ापा, पेट, उद्योग, श्रम, धनी, निर्धन, सूम, घूस, ऋण, सन्तोष, क्षमा, चिन्ता, प्रेम, कपट, चुगली, आत्मश्लाघा आदि अनेक विषयों को लेकर नीतिवाक्य कहे हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

जाति की महत्ता प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी कवि समान रूप से मानते हैं। दीनदयाल गिरि कहते हैं—

"तहाँ नहीं कछु भय जहाँ, अपनी जाति न पास।
काठ बिना न ठाकुर कहूँ तरु को करत विनास॥"

परन्तु इस जाति की महत्ता यही है कि यही प्रधान रूप से विनाश का कारण बनती है। इसलिए जाति का सदा सम्मान करना चाहिए।

शत्रु सदैव आतंकदायी होता है परन्तु कुछ शत्रु ऐसे भयानक एवं कपटी होते हैं कि इनसे कभी भी शत्रुता नहीं करनी चाहिए। गिरिधर निम्नलिखित तेरह प्रकार के शत्रुओं से सदैव सावधान रहने के लिए कहते हैं—

"साईं बैर न कीजिए गुरु, पंडित, कवि, यार।
बेटा, बनिता पंवरिया, यज्ञ करावन हार॥
विप्र, परोसी, वैद्य, आपको तपै रसोई॥
कह गिरिधर कविराय युगन तें यह चलि आई।
इन तेरह सों तरह दिए बनि आवै सांई॥"

दुष्टों से सबने सावधान रहने की बात कही है। ओछे स्वभाव वाले व्यक्तियों से कभी घनिष्ठता नहीं रखनी चाहिए। रहीम इसी बात पर बल देते हैं—

"रहिमन ओछे नरन सों बैर भलो ना प्रीति।
काटे चाटे स्वान के दोउ भाँति विपरीत॥"

श्रम की महत्ता सभी ने गाई है। महात्मा भगवानदीन श्रम को पवित्रतम कर्म मानते हैं—

श्रम से बढ़ कर कर्म, कर्म और पावन नहीं।
यही धर्म का मर्म, पूजा गुरु श्रुत देव यह॥"

राजनीति—राजनीति-सम्बन्धी विषयों में राजा, उसके गुण-अवगुण, साम-दाम-दंड-भेद, न्याय, नीति, धर्म, दया, गर्व शून्यता, कर, शत्रु, मंत्री, दूत आदि अनेक विषयों को लेकर नीति वाक्य कहे गए हैं। राजा के स्वभाव संबंधी एक छन्द दृष्टव्य है। तुलसी कहते हैं—

"उरग तुरग नारी नृपति नर नीचो हथियार।
तुलसी परखत रहब नित इनहिं न पलटत बार॥"

नारी, स्वास्थ्य, व्यापार, खेती, शकुन आदि के सम्बन्ध में भी इन कवियों ने असंख्य छन्द कहे हैं। स्थानाभाव के कारण उदाहरण देना कठिन है। अब हम इस विषय को समाप्त करते हुए **नीतिकाव्य के कलापक्ष** पर संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

भाषा की दृष्टि से समस्त हिन्दी नीति-काव्य में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा है। ब्रजभाषा में जितना नीति-काव्य रचा गया है उतना हिंदी की अन्य किसी भी विभाषा या बोली में नहीं रचा गया। ब्रजभाषा में नीतिकाव्य की रचना करने वाले कवियों में रहीम, बीरबल, टोडरमल, रत्नावली, वृन्द, गिरिधर, बिहारी, दीनदयाल गिरि, सुन्दरदास, घाघ, बैताल आदि प्राचीन एवं वियोगी हरि, रामचरित उपाध्याय, महात्मा भगवानदीन, दुलारेलाल भार्गव आदि नवीन कवि उल्लेखनीय हैं। 'तुलसी-दोहावली' की भाषा भी ब्रज-भाषा ही है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ीबोली तथा डिंगल में भी नीतिकाव्य की रचना हुई है। डिंगल के कवियों में बाँकीदास प्रमुख हैं। खड़ीबोली के कवियों में महात्मा भगवानदीन, रामचरित उपाध्याय का नाम उल्लेखनीय है। उपाध्याय जी ने 'ब्रज सतसई' की रचना ब्रजभाषा में तथा 'सूक्तिशतक' की खड़ीबोली में की है।

हिन्दी नीति काव्य में प्रयुक्त समस्त भाषा-रूपों की यह विशेषता है कि वह अत्यन्त सरल और सुबोध है। इसका कारण यह रहा है कि नीति काव्य के रचयिता कवियों ने सदैव इस बात का ध्यान रखा है कि वे जो कुछ कहें वह इतना स्पष्ट और सरल हो कि जिससे जन-साधारण उसे भली भाँति समझ सकें। नीति काव्य की रचना करते समय ये कविगण केवल चमत्कार-प्रदर्शन

की प्रवृत्ति से सदैव दूर ही रहे हैं। अपनी बात को सुबोध बनाने के लिए इन्होंने जन-साधारण में प्रचलित उन सभी देशी-विदेशी शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है जो जनता की जबान पर चढ़े हुए थे।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि अन्य भाषाओं के शब्दों की तुलना में नीति-काव्य में संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य रहा है। उनके तत्सम् एवं तद्भव दोनों ही रूपों का खुलकर प्रयोग हुआ है। संस्कृत के अतिरिक्त फारसी, अरबी एवं तुर्की भाषाओं के भी अनेक शब्द इस काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। आधुनिक कवियों ने कहीं-कहीं अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। तुक मिलाने के लिए शब्दों का तोड़ना-मरोड़ना आदि तो कवियों का जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता रहा है और इस अधिकार का उपयोग करने में ये कवि किसी से भी पीछे नहीं रहे हैं।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ नीति काव्य का प्राण रहे हैं। इनके प्रयोग द्वारा भाषा में प्रसाद-गुण की एक ऐसी सहज-सशक्त गति आ जाती है कि वह सब के लिए सुबोध बन जाती है। संक्षिप्तता एवं मार्मिकता की रक्षा भी इन्हीं के द्वारा अधिक सम्भव होती है। सम्भवत: हिन्दी का कोई मुहावरा तथा लोकोक्ति ऐसी नहीं बची है जिसका इन कवियों ने उपयोग न किया हो। 'पचि पचि मरिय,' 'कूप खोदिबो,' 'जरन लगे जब गेह', 'पड़े चाटना थूक', 'गिरति न गाज' आदि मुहावरे तथा 'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता', 'वेस्या बरस घटावहीं जोगी बरस बढ़ाय' आदि लोकोक्तियाँ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं।

शैली की दृष्टि से स्पष्टता, सरलता एवं प्रभविष्णुता को इनकी शैली की प्रधान विशेषता माना जा सकता है। इसके लिए इन्होंने अभिधार्थ पर ही विशेष ध्यान रखते हुए सरल एवं प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। इस दिशा में ये कविगण इतने सतर्क रहे हैं कि केशव जैसा 'कठिन काव्य का प्रेत' भी जब नीतिवाक्य कहता है तो अपनी चमत्कारपूर्ण शैली को त्याग कर सीधी, सरल, स्पष्ट शैली को ही अपनाता है। 'रामचन्द्रिका' का केवल एक ही उदाहरण समस्त नीतिकाव्य की शैलीगत इस विशेषता को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा—

"टूटे टूटनहार तरु बायुहि दीजत दोष।
त्यौं अब हर के धनुष को हम पर कीजत रोष॥
हम पर कीजत रोष काल गति जानि न जाई।
होनहार ह्वै रहे मिटै मेटी न मिटाई॥
होनहार ह्वै रहें मोहमद सब को छूटै।
होय तिनूका बज्र, बज्र तिनुका ह्वै टूटै॥"

'होनहार' या 'होनी' सम्बन्धी यह नीति वाक्य कितना सरल, स्पष्ट एवं मार्मिक है। जैसा कि हम पीछे बता आए हैं इन कवियों ने उपदेशात्मक, सूक्त्यात्मक, कथात्मक, अन्योक्ति आदि विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है जिनमें अन्योक्ति शैली सर्वाधिक सशक्त एवं प्रभावात्मक रही है।

अलंकारों में से इन्होंने अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, दृष्टान्त, लोकोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, विशेषोक्ति, काव्यलिंग, विनोक्ति आदि का खूब उपयोग किया है। वैसे अन्य अलंकार भी प्रयुक्त हुए हैं परन्तु उपर्युक्त अलङ्कार ही इनके द्वारा बहुप्रयुक्त अलङ्कार हैं। अन्योक्ति तो इनका अत्यन्त प्रिय अलङ्कार रहा है।

छन्दों की दृष्टि से इन लोगों ने दोहा, कुण्डलिया, छप्पय, सोरठा, सवैया, कवित्त, चौपाई तथा बरवै छन्दों को अधिक अपनाया है। इनमें से दोहा इन लोगों का सर्वाधिक प्रिय छन्द रहा है।

४८. हिन्दी महाकाव्य : स्वरूप और विकास

प्राचीन भारतीय साहित्याचार्यों ने काव्य के दो प्रधान भेद माने थे— १-श्रव्य काव्य तथा २—दृश्य काव्य। आधुनिक युग में इस वर्गीकरण को मान्य नहीं माना जा सकता। क्योंकि आज काव्य के श्रव्य एवं दृश्य जैसे भेद नहीं रह गए हैं। आज श्रव्य काव्य के स्थान पर यदि पाठ्यकाव्य कहा जाय तो अधिक उचित प्रतीत होगा क्योंकि आधुनिक युग में एक तो श्रव्य काव्य होता ही नहीं और यदि लोक-गीतों, लोक-कथाओं आदि के रूप में उसका अस्तित्व मिलता भी है तो उसको अधिक महत्व नहीं दिया जाता। दूसरी बात यह कि अब इस श्रव्यकाव्य को भी लिपिबद्ध कर उसका श्रव्य रूप समाप्त किया जा रहा है। इसलिए हमें काव्य का विवेचन करते समय अब ऐसी परिभाषाओं से मुक्ति प्राप्त करनी होगी।

पाश्चात्य साहित्य-समीक्षकों ने काव्य के दो प्रधान रूप माने हैं—१—भाव प्रधान काव्य तथा २—विषय प्रधान काव्य। वस्तुतः यह वर्गीकरण भी काव्य अर्थात् कविता का न होकर उसकी शैली मात्र का है। भाव तो साहित्य मात्र का प्राण है फिर चाहे वह साहित्य व्यक्तित्व-प्रधान हो अथवा वर्णन प्रधान। वर्णनात्मक काव्य में भी भाव एवं रचनाकार के व्यक्तित्व का समान महत्व होता है। इनमें केवल इतना ही अन्तर होता है कि भाव-प्रधान में कवि आत्म-निवेदन अथवा आत्म-कथन के रूप में अपने आदर्शों की अभिव्यंजना करता है तथा विषय-प्रधान में वर्णनात्मक ढंग से। इसलिए मोटे तौर से इस विभाजन को स्वीकार किया जा सकता है।

'बन्ध' अर्थात् एक सुनिश्चित क्रम के आधार पर उपर्युक्त तथाकथित श्रव्य काव्य के या भाव-प्रधान तथा विषय प्रधान काव्य के दो प्रमुख भेद माने गए हैं—१—प्रबन्ध काव्य, तथा २—निर्बन्ध या मुक्तक काव्य। भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में बन्ध की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद माने हैं- १—सर्गबद्ध, २—नाटक, ३—आख्यायिका, ४—कथा, और ५—अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य। इनमें से हम नाटक को छोड़ कर शेष चारों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—१—प्रबन्ध काव्य तथा २—निर्बन्ध या मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य के पुनः तीन भेद किए गए हैं—१—महाकाव्य, २—

काव्य तथा ३—खंडकाव्य। उपर्युक्त सर्गबद्ध काव्य को ही एक प्रकार से महाकाव्य की संज्ञा दी जाती है।

'महाकाव्य' का विवेचन करने से पूर्व हमें इन तीन प्रधान भेदों के अन्तर को संक्षेप में समझ लेना चाहिये। महाकाव्य में जीवन की समग्र रूप से अभिव्यक्ति की जाती है। उसमें व्यक्ति के समग्र जीवन के साथ-साथ जातीय जीवन की भी समग्र रूप में अभिव्यक्ति होती है। 'काव्य' यद्यपि लिखा तो महाकाव्य की ही प्रणाली पर ही जाता है परन्तु उसमें महाकाव्य की सी विशदता एवं व्यापकता का अभाव रहता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ऐसे काव्यों को 'एकार्थ काव्य' की संज्ञा देकर 'साकेत' जैसे काव्यों के इसी वर्ग में स्थान देते हैं। 'खंडकाव्य' में जीवन के किसी एक ही रूप या पक्ष का चित्रण किया जाता है जो महाकाव्य के समग्र जीवन का एक खंड होते हुए भी अपने आप में पूर्ण होता है। दूसरे शब्दों में इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि प्रबन्ध काव्य में जहाँ जीवन की अनेकरूपता की अभिव्यक्ति होती है वहाँ खंडकाव्य में जीवन के विविध रूपों में से किसी एक रूप या प्रकार का वर्णन रहता है। अधिकांश विद्वान प्रबन्ध काव्य के तीन भेद न मान कर दो ही भेद मानते हैं—महाकाव्य और खंडकाव्य। 'काव्य' को वह लोग महाकाव्य की श्रेणी में ही स्वीकार कर लेते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य विशेषकर प्राकृत-साहित्य में प्रबन्ध काव्य का एक रूप और मिलता है—'चरितकाव्य'। अर्द्धमागधी प्राकृत में विमलसूरि-कृत 'पउम चरिउ' (पद्मचरित) प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम काव्य माना जाता है। संस्कृत में अश्वघोष का 'बुद्ध चरित' इसी प्रकार का काव्य है। इन चरितकाव्यों में कला की अपेक्षा चरित्र और कथानक की ही महत्ता रहती है। हिन्दी में चरित काव्यों का एकान्त अभाव है।

जब हम अपने आलोच्य विषय 'महाकाव्य' का एक निश्चित स्वरूप स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे सम्मुख अनेक विकल्प उठ खड़े होते हैं। विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों ने महाकाव्य की विभिन्न परिभाषाएँ निश्चित की हैं जिनमें परस्पर पर्याप्त अन्तर है। इसका कारण यह रहा है कि विभिन्न युगों में 'महाकाव्य' का स्वरूप बदलता रहा है। इसी कारण विभिन्न साहित्याचार्यों ने उसके युगानुरूप विभिन्न मान-दंड स्थिर किए हैं। किसी ने 'रामायण' और महाभारत को महाकाव्य का आदर्श स्वरूप स्वीकार कर उन्हीं के आधार पर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये थे परन्तु कुछ अन्य विद्वानों ने उक्त दोनों ग्रन्थों को महाकाव्य स्वीकार न कर अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ आदि से अलंकृत ग्रन्थों को ही

महाकाव्य घोषित किया। यही स्थिति पाश्चात्य साहित्य-समीक्षकों की भी रही है। अरस्तू ने होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' को आदर्श मानकर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए थे परन्तु आगे चल कर महाकवि वर्जिल रचित 'इनिड' नामक काव्य पर अरस्तू द्वारा निर्धारित लक्षण लागू नहीं हुए क्योंकि वह एक बिल्कुल भिन्न युग और भिन्न कोटि का महाकाव्य था। 'इनिड' के परवर्ती महाकाव्यों पर न तो अरस्तू की परिभाषा लागू होती है और न 'इनिड' को आदर्श मानकर निश्चित की गई महाकाव्य की परिभाषा ही। इसलिए प्राचीन भारतीय अथवा पाश्चात्य साहित्याचार्यों की किसी भी एक परिभाषा को अन्तिम स्वीकार कर महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण निर्धारित करना असम्भव है। अतः हमें वैज्ञानिक रीति से महाकाव्य के रूप-विकास का अध्ययन कर उसकी परिभाषा निश्चित करनी पड़ेगी।

परन्तु फिर भी इस बात का विश्वास नहीं किया जा सकता कि हम आज जिस परिभाषा को निश्चित करेंगे वह कल भी मान्य होगी अथवा नहीं। क्योंकि कल समाज की मान्यतायें बदल जायेंगी तो आज की परिभाषा बेकार हो जायेगी। इसी परिवर्तनशीलता को लक्ष्य कर क्रोचे ने काव्य रूपों के वर्गीकरण को कृत्रिम घोषित किया था, क्योंकि कवि और कलाकार सदैव शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन किया करते हैं। "प्रत्येक उत्कृष्ट कलात्मक निर्माण में कलाकार अपने पूर्व के स्थिर नियमों की उपेक्षा करके आलोचकों को इस बात के लिए विवश करता है कि वे शास्त्रीय नियमों में परिवर्तन करें।" 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माने जाते हैं परन्तु इन दोनों के रचना-विधान में इतना अन्तर है कि किसी एक ही परिभाषा के आधार पर उन्हें महाकाव्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। कम से कम 'कामायनी' तो एक ऐसा महाकाव्य है जिस पर कोई भी भारतीय या पाश्चात्य महाकाव्य की परिभाषा लागू नहीं होती।

'कामायनी' आधुनिक युग की रचना है और उसे महाकाव्य मान लिया गया है जबकि कुछ विद्वान इस बात की घोषणा कर चुके हैं कि आज परिस्थितियाँ इतनी बदल चुकी हैं कि इस युग में महाकाव्य की रचना हो ही नहीं सकती। प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक डिक्सन ने घोषणा की थी कि आज मानव जीवन के क्षितिज का विस्तार इतना अधिक हो गया है कि कोई महाकवि चाहे जितना भी दूरद्रष्टा या विराट कल्पना वाला क्यों न हो, वह महाकाव्य के भीतर अपने युग जीवन की सभी बातों और अनुभूतियों को उस प्रकार नहीं समाविष्ट कर सकता जैसे होमर, व्यास या वाल्मीकि ने किया है। उक्त

घोषणा के बावजूद भी आधुनिक युग में 'कामायनी' जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य की रचना हुई है।

अतः हम महाकाव्य की परिभाषा किस प्रकार निर्धारित करें यह प्रश्न पुनः सामने आ खड़ा होता है। इसका सबसे सुगम उपाय बताते हुए डा० शम्भूनाथसिंह लिखते हैं कि—"इसका सबसे सुगम उपाय तो यही है कि प्रत्येक देश या समाज में जिस काव्य को परम्परा से महाकाव्य माना जाता रहा है या वर्तमान काल के जो काव्य सामान्यतया महाकाव्य मान लिए जाते हैं उन्हें ही सामने रखकर महाकाव्य की परिभाषा निर्धारित की जाय। उदाहरण के लिए फारसी के मसनवी ढंग के ऐतिहासिक काव्य शाहनामा को संसार के प्रसिद्ध महाकाव्यों में माना गया है। कालिदास का रघुवंश भी संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ अलंकृत महाकाव्य माना जाता है पर अरस्तू और भामह की परिभाषा के अनुसार ये दोनों ग्रन्थ महाकाव्य नहीं हो सकते क्योंकि इनमें एक व्यक्ति की जीवन कथा नहीं बल्कि राजवंशों का काव्यात्मक इतिहास है। उनमें कथानक की अन्विति भी नहीं है। फिर भी ये दोनों महाकाव्य माने गए हैं।"[1]

हमारा अनुमान है कि प्रायः सभी साहित्य शास्त्रियों ने महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण निर्धारित करते समय इसी पद्धति को अपनाया है। उन्हें लोक द्वारा स्वीकृत महाकाव्यों में जो नवीन लक्षण मिलते चले गए उन्हें स्वीकार करने में उनको संकोच नहीं हुआ। उदाहरण स्वरूप 'रघुवंश' को देखकर उन्होंने यह लक्षण बनाया कि महाकाव्य में एक वंश के अनेक व्यक्तियों की कथा भी हो सकती है।

'महाकाव्य' किसे कहते हैं? पहले इसे संक्षेप में समझ लेना चाहिए। 'महाकाव्य' शब्द 'महत् और 'काव्य' दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है 'महान काव्य'। और सम्भवतः इस शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग वाल्मिक रामायण में उस समय किया गया था जब उत्तरकाण्ड में भगवान राम ने लव-कुश द्वारा रामायण का पाठ किए जाने के उपरान्त उनसे पूछा था—

"किंप्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्त्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः॥"

अर्थात् यह काव्य कितना बड़ा है और किस महात्मा की प्रतिष्ठा है? इस महान् काव्य के रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहाँ हैं? राम द्वारा किए गए इस प्रश्न से महाकाव्य के तीन मूल भूत लक्षणों की ध्वनि निकलती है कि १—महा-

[1] महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भूनाथसिंह।

काव्य आकार में विशाल होता है, २—इसमें किसी महात्मा या महापुरुष की प्रतिष्ठा की जाती है, तथा ३—इसका रचयिता कोई श्रेष्ठ मुनि होता है।

और ये लक्षण संसार के सभी महाकाव्यों में समान रूप से पाए जाते हैं। संसार के सभी साहित्यों में महाकाव्य के दो प्रधान रूप मिलते हैं—मौलिक और लिखित। इन दोनों में परस्पर पर्याप्त अन्तर रहते हुए भी दोनों के मूल तत्व एक ही हैं। साहित्य शास्त्रियों ने मौखिक रूप को प्राकृतिक; या विकसनशील या लोक-महाकाव्य तथा लिखित रूप को अनुकृत, साहित्यिक या अलंकृत महाकाव्य माना है। यूरोप में होमर में 'इलियड' और 'ओडेसी' जैसे प्राकृतिक तथा 'बियोबूल्फ़', 'सांग आफ रोला', 'निबुलंगेनलीड' जैसे लोक-महाकाव्यों को विकसनशील अर्थात् मौखिक महाकाव्य माना जाता है क्योंकि इनका कोई ऐसा प्रामाणिक रूप नहीं मिलता जिसके विषय में अधिकारपूर्वक यह कहा जाय कि यही कवि द्वारा रचित मूल रूप है। अलंकृत महाकाव्यों में वर्जिल का 'इनीड' तथा मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट' जैसे महाकाव्य माने जाते हैं। इन्हें शास्त्रीय (क्लासीकल) महाकाव्य कहा जाता है।

यूरोपिय विद्वानों ने भारतीय महाकाव्यों का विवेचन करते समय उपर्युक्त मौखिक और लिखित रूपों को स्वीकार कर भारतीय महाकाव्यों का विवेचन किया है। इस विवेचन में दो भारतीय काव्यग्रन्थ 'रामायण' और 'महाभारत' परस्पर विरोधी विवेच्य विषय बने रहे हैं। मेकडानल आदि विद्वान महाभारत को मौखिक परम्परा का लोक महाकाव्य तथा 'रामायण' को लिखित परम्परा का अलंकृत महाकाव्य मानते हैं। परन्तु भारतीय साहित्याचार्य 'महाभारत' को महाकाव्य मानने में संकोच का अनुभव करते आए हैं। आधुनिक भारतीय विद्वान संस्कृत-साहित्याचार्यों के विवेचन को अन्तिम प्रमाण न स्वीकार कर पाश्चात्य साहित्याचार्यों द्वारा किए गए उपर्युक्त वर्गीकरण को ही मान्य कर प्राकृतिक अथवा मौखिक और लिखित बर्गीकरण के अनुसार उक्त दोनों काव्यग्रन्थों को महाकाव्य मानते हैं। इसके विपरीत अनेक आलोचक ऐसे भी हैं जो पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस आदि सर्व-स्वीकृत महाकाव्यों को इसलिए महाकाव्य न मानकर केवल प्रबन्ध काव्य मानते हैं क्योंकि ये संस्कृत के आचार्यों द्वारा निर्धारित परिभाषा पर खरे नहीं उतरते। इस स्थिति को देखते हुए हिन्दी का पाठक इस भ्रम में पड़ जाता है कि हिन्दी के उक्त काव्य ग्रन्थों को महाकाव्य माना जाय अथवा नहीं। वैसे महाकाव्य विषयक मान्यताओं में पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्याचार्यों के मानदण्डों में कोई तात्विक अन्तर नहीं है, फिर भी हमें महाकाव्य की एक सर्व स्वीकृत परिभाषा निर्धारित करने के लिए पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्याचार्यों की महाकाव्य

घोषणा के बावजूद भी आधुनिक युग में 'कामायनी' जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य की रचना हुई है।

अतः हम महाकाव्य की परिभाषा किस प्रकार निर्धारित करें यह प्रश्न पुनः सामने आ खड़ा होता है। इसका सबसे सुगम उपाय बताते हुए डा० शम्भूनाथसिंह लिखते हैं कि—"इसका सबसे सुगम उपाय तो यही है कि प्रत्येक देश या समाज में जिस काव्य को परम्परा से महाकाव्य माना जाता रहा है या वर्तमान काल के जो काव्य सामान्यतया महाकाव्य मान लिए जाते हैं उन्हें ही सामने रखकर महाकाव्य की परिभाषा निर्धारित की जाय। उदाहरण के लिए फारसी के मसनवी ढंग के ऐतिहासिक काव्य शाहनामा को संसार के प्रसिद्ध महाकाव्यों में माना गया है। कालिदास का रघुवंश भी संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ अलंकृत महाकाव्य माना जाता है पर अरस्तू और भामह की परिभाषा के अनुसार ये दोनों ग्रन्थ महाकाव्य नहीं हो सकते क्योंकि इनमें एक व्यक्ति की जीवन कथा नहीं बल्कि राजवंशों का काव्यात्मक इतिहास है। उनमें कथानक की अन्विति भी नहीं है। फिर भी ये दोनों महाकाव्य माने गए हैं।"[१]

हमारा अनुमान है कि प्रायः सभी साहित्य शास्त्रियों ने महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण निर्धारित करते समय इसी पद्धति को अपनाया है। उन्हें लोक द्वारा स्वीकृत महाकाव्यों में जो नवीन लक्षण मिलते चले गए उन्हें स्वीकार करने में उनको संकोच नहीं हुआ। उदाहरण स्वरूप 'रघुवंश' को देखकर उन्होंने यह लक्षण बनाया कि महाकाव्य में एक वंश के अनेक व्यक्तियों की कथा भी हो सकती है।

'महाकाव्य' किसे कहते हैं? पहले इसे संक्षेप में समझ लेना चाहिए। 'महाकाव्य' शब्द 'महत् और 'काव्य' दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है 'महान काव्य'। और सम्भवतः इस शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग वाल्मिक रामायण में उस समय किया गया था जब उत्तरकाण्ड में भगवान राम ने लव-कुश द्वारा रामायण का पाठ किए जाने के उपरान्त उनसे पूछा था—

"किंप्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्त्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः।।"

अर्थात् यह काव्य कितना बड़ा है और किस महात्मा की प्रतिष्ठा है? इस महान् काव्य के रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहाँ हैं? राम द्वारा किए गए इस प्रश्न से महाकाव्य के तीन मूल भूत लक्षणों की ध्वनि निकलती है कि १—महा-

१. महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भूनाथसिंह।

काव्य आकार में विशाल होता है, २—इसमें किसी महात्मा या महापुरुष की प्रतिष्ठा की जाती है, तथा ३—इसका रचयिता कोई श्रेष्ठ मुनि होता है।

और ये लक्षण संसार के सभी महाकाव्यों में समान रूप से पाए जाते हैं। संसार के सभी साहित्यों में महाकाव्य के दो प्रधान रूप मिलते हैं—मौलिक और लिखित। इन दोनों में परस्पर पर्याप्त अन्तर रहते हुए भी दोनों के मूल तत्व एक ही हैं। साहित्य शास्त्रियों ने मौखिक रूप को प्राकृतिक; या विकसनशील या लोक-महाकाव्य तथा लिखित रूप को अनुकृत, साहित्यिक या अलंकृत महाकाव्य माना है। यूरोप में होमर में 'इलियड' और 'ओडेसी' जैसे प्राकृतिक तथा 'वियोबूल्फ़', 'सांग आफ रोला', 'निबुलंगेनलीड' जैसे लोक-महाकाव्यों को विकसनशील अर्थात् मौखिक महाकाव्य माना जाता है क्योंकि इनका कोई ऐसा प्रामाणिक रूप नहीं मिलता जिसके विषय में अधिकारपूर्वक यह कहा जाय कि यही कवि द्वारा रचित मूल रूप है। अलंकृत महाकाव्यों में वर्जिल का 'इनीड' तथा मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट' जैसे महाकाव्य माने जाते हैं। इन्हें शास्त्रीय (क्लासीकल) महाकाव्य कहा जाता है।

यूरोपिय विद्वानों ने भारतीय महाकाव्यों का विवेचन करते समय उपर्युक्त मौखिक और लिखित रूपों को स्वीकार कर भारतीय महाकाव्यों का विवेचन किया है। इस विवेचन में दो भारतीय काव्यग्रन्थ 'रामायण' और 'महाभारत' परस्पर विरोधी विवेच्य विषय बने रहे हैं। मेकडानल आदि विद्वान महाभारत को मौखिक परम्परा का लोक महाकाव्य तथा 'रामायण' को लिखित परम्परा का अलंकृत महाकाव्य मानते हैं। परन्तु भारतीय साहित्याचार्य 'महाभारत' को महाकाव्य मानने में संकोच का अनुभव करते आए हैं। आधुनिक भारतीय विद्वान संस्कृत-साहित्याचार्यों के विवेचन को अन्तिम प्रमाण न स्वीकार कर पाश्चात्य साहित्याचार्यों द्वारा किए गए उपर्युक्त वर्गीकरण को ही मान्य कर प्राकृतिक अथवा मौखिक और लिखित बर्गीकरण के अनुसार उक्त दोनों काव्यग्रन्थों को महाकाव्य मानते हैं। इसके विपरीत अनेक आलोचक ऐसे भी हैं जो पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस आदि सर्व-स्वीकृत महाकाव्यों को इसलिए महाकाव्य न मानकर केवल प्रबन्ध काव्य मानते हैं क्योंकि ये संस्कृत के आचार्यों द्वारा निर्धारित परिभाषा पर खरे नहीं उतरते। इस स्थिति को देखते हुए हिन्दी का पाठक इस भ्रम में पड़ जाता है कि हिन्दी के उक्त काव्य ग्रन्थों को महाकाव्य माना जाय अथवा नहीं। वैसे महाकाव्य विषयक मान्यताओं में पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्याचार्यों के मानदण्डों में कोई तात्विक अन्तर नहीं है, फिर भी हमें महाकाव्य की एक सर्व स्वीकृत परिभाषा निर्धारित करने के लिए पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्याचार्यों की महाकाव्य

सम्बन्धी मान्यताओं में साम्य-वैषम्य का अध्ययन कर लेना आवश्यक है क्योंकि ऐसा करने पर ही हम अपने इस प्रयास में सफलता प्राप्त कर सकेंगे । इसलिए हम यहाँ महाकाव्य सम्बन्धी इन दोनों मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत कर इसके आधार पर एक वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करेंगे ।

महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय मान्यताएँ—संस्कृत के आचार्यों में सर्वप्रथम भामह ने अपने 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ में 'महाकाव्य' का विशद विवेचन किया था । भामह के अनुसार सर्गहीन, अलङ्करणहीन, ग्राम्य शब्दों के अत्य-धिक प्रयोग से ओतप्रोत, साधारण नायक पर आधारित बड़ी लोक-कथाओं को महाकाव्य नहीं माना जा सकता । महाकाव्य आकार-प्रकार में विशाल, सर्गबद्ध; अर्थ-सौन्दर्य एवं अलङ्कारों के उत्कृष्ठ प्रयोगों से सम्पन्न होना चाहिए । उसका शब्द-चयन तथा अप्रस्तुत-विधान उत्कृष्ट, कथा महान चरित्रों पर आधारित, तथा ग्राम्य प्रयोगों से मुक्त होनी चाहिए । उसमें नाटक की सन्धियों और कार्यावस्थाओं का होना नितान्त आवश्यक है । साथ ही उसमें कथा-प्रवाह में बाधा उपस्थित करने वाले अनावश्यक तत्व नहीं होने चाहिए । भामह के अनुसार महाकाव्य के प्रधान तत्वों को इस प्रकार निश्चित किया जा सकता है—

१—सर्गबद्धता, २—महान चरित्र और विजयी नायक, ३—महत्ता, ४—शिष्ट नागर-प्रयोग और अलंकृति, ५—जीवन के विविध रूपों, ५—अवस्थाओं और घटनाओं का चित्रण, ६—नाटकीय गुण, ७—प्रति व्याख्या रहित होना अर्थात् संगठित कथानक और प्रभाव की अन्विति, ८—ऋद्धि-मत्ता ।[1]

भामह की उक्त परिभाषा अरस्तू की परिभाषा से बहुत कुछ मिलती जुलती है क्योंकि दोनों के सामने आदर्श रूप में विकसनशील अर्थात् मौखिक परम्परा वाले महाकाव्य ही थे । इसी कारण इन आचार्यों ने महाकाव्य के बाह्य लक्षणों का ब्यौरा नहीं दिया था । भामह के उपरान्त दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए भामह के सम्पूर्ण तत्वों को अपनाते हुए उन्हें अपने नवीन तत्वों के साथ इस प्रकार उपस्थित किया जिससे भामह द्वारा निर्धारित प्रधान तत्व गौण हो उठे तथा बाह्य लक्षणों सम्बन्धी गौण तत्व प्रधान बन गए । दंडी ने महाकाव्य के प्रारम्भ में आशीर्वचन, नमस्क्रिया- वस्तुनिर्देश, विभिन्न सर्गों में विभिन्न छन्दों का प्रयोग आदि गौण नवीन तत्वों की स्थापना के साथ ही जो सबसे महत्वपूर्ण बात कही वह यह थी कि उसने 'महान नायक' के स्थान पर 'चतुरोदात्त नायक' की

१—हिंदी महाकाव्य का विकास—डा० शम्भूनाथ सिंह ।

स्थापना कर महाकाव्य के उद्देश्य के महत्व को कम कर दिया। 'महान उद्देश्य' के स्थान पर उसने 'चमत्कार' अथवा केवल रसानुभूति को ही प्रधान मान लिया। संक्षेप में, उसने अलंकृत महाकाव्यों को ही महाकाव्य मानकर उन्हें ही आदर्श के रूप में स्वीकार किया।

परवर्ती काल में दण्डी की इस नवीन परिभाषा को ही मान्यता प्राप्त हुई और अनेक महाकाव्य दंडी के लक्षणानुसार ही रचे गए। "अलंकृति और चमत्कार उनका प्रधान लक्ष्य हो गया और महती घटना या महान चरित्र द्वारा रसानुभूति उत्पन्न करके अपने महान उद्देश्य को पूरा करना उनका लक्ष्य नहीं रह गया।"[1] आगे चलकर हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ आदि ने दण्डी के लक्षणों में ही कुछ अन्य गौण लक्षण जोड़कर अपने लक्षण बनाये।

दंडी द्वारा निर्धारित उक्त लक्षण संस्कृत के महाकाव्यकारों द्वारा तो अपनाये गए परन्तु परवर्ती प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यकारों द्वारा उनका उल्लंघन होता रहा। इन पर जैन-बौद्ध पुराणों, लोक-कथाओं, रामायण-महाभारत आदि की विकसनशील पद्धति का प्रभाव था। दण्डी के उपरान्त सातवीं शताब्दी में आचार्य रुद्रट ने दण्डी की आलंकारिक मान्यताओं से सर्वथा विपरीत अपनी महाकाव्य-विषयक नवीन मान्यताएँ स्थापित कीं जो अपने भीतर महाकाव्य सम्बन्धी सम्पूर्ण यूरोपिय मान्यताओं को भी समेट लेती हैं। भामह ने सूत्ररूप में महाकाव्य के जिन मूल तत्वों की स्थापना की थी रुद्रट ने उनका विस्तृत विश्लेषण किया था। रुद्रट द्वारा निर्धारित लक्षण अरस्तू के योरोपीय वीर महाकाव्यों सम्बन्धी लक्षणों से पूर्णतः मिलते हैं, क्योंकि रुद्रट ने नायक और खलनायक दोनों का वर्णन, दोनो का परस्पर युद्ध और नायक की विजय को बहुत महत्व दिया है। परन्तु रुद्रट द्वारा निर्धारित लक्षणों को परवर्ती महाकाव्यों के रचयिताओं ने स्वीकार नहीं किया और वे दण्डी की मान्यतानुसार ही काव्य रचना करते रहे क्योंकि रुद्रट के अनुसार महाकाव्य में युग-जीवन के विविध रूपों, पक्षों और घटनाओं को चित्रित करना अत्यावश्यक था और इसके लिए विस्तृत अध्ययन, सामाजिक दृष्टिकोण एवं सन्तुलित चित्रण की आवश्यकता होती है। यह कार्य विस्तृत अध्यवसाय की अपेक्षा करता है। इसलिए उन लोगों ने दण्डी की आलंकारिक प्रणाली को ही प्रश्रय दिया जिसमें काव्य-कौशल द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन के लिए अधिक गुंजायश थी।

रुद्रट ने भामह के सूत्रों की व्याख्या के साथ दण्डी के बताये लक्षणों को

१—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डाक्टर शम्भूनाथ सिंह।

भी समेट लिया है। उनके ये लक्षण सम्पूर्ण प्रकार के महाकाव्यों पर समान रूप से लागू होते हैं। उन्होंने महाकाव्य को केवल अलंकृत महाकाव्य न मान कर उसकी रूढ़ियों को मान्यता नहीं दी है। इसके विपरीत उन्होंने महाकाव्य के चार प्रधान लक्षण माने हैं—१—महान् उद्देश्य, २—महान चरित्र, ३—महान घटना तथा ४—समग्र जीवन का रसात्मक चित्रण। साथ ही उन्होंने सम्भावना और कल्पना को संयत रखने का भी आदेश दिया है। वे महाकाव्य में अलौकिक अथवा अप्राकृतिक तत्त्वों के समावेश को उसी सीमा तक स्वीकार करते है जहाँ वे मानव-शक्ति की सीमा के भीतर हों। हम डा० शम्भूनाथसिंह के शब्दों में रुद्रट की महाकाव्य सम्बन्धी मान्यताओं को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१—महाकाल्य में उत्पाद्य या अनुत्पाद्य, कोई लम्बी पद्यबद्ध कथा होती है।

२—प्रसंगानुसार अवान्तर कथायें भी होती हैं।

३—कथा सर्गबद्ध और नाटकीय तत्वों से युक्त होती है।

४—जीवन की समग्रता के साथ किसी प्रधान घटना, अलंकृत वर्णन, प्रकृति-चित्रण, नगरों, देशों और भुवनों का वर्णन होता है।

५—नायक द्विज, सर्वगुण सम्पन्न, महान वीर, शक्तिमान, नीतिज्ञ राजा होता है।

६—प्रतिनायक और उसके कुल का वर्णन भी होता है।

७—अन्त में नायक की विजय होती है।

८—उसमें महान उद्देश्य तथा सभी रस होते हैं।

९—उसमें अलौकिक और अति प्राकृत तत्व होते हैं, पर मनुष्य-कृत असम्भव या अस्वाभाविक घटनायें नहीं होतीं।

१०—उत्पाद्य महाकाव्यों में प्रारम्भ में सन्नगरी वर्णन और नायक के वंश की प्रशंसा होती है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य रुद्रट की महाकाव्य संबंधी मान्यतायें अधिक व्यापक और मौलिक हैं।

रुद्रट के पश्चात् हेमचन्द्र ने महाकाव्य का विवेचन करते हुए केवल दंडी की मान्यताओं को ही दुहरा दिया है।

संस्कृत-साहित्याचार्यों में महाकाव्य-सम्बन्धी अन्तिम मत विश्वनाथ कविराज का माना जाता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की बातों का समाहार करते हुए दंडी के आदर्श को ही प्रधानता दी है। एक प्रकार से उनकी महाकाव्य सम्बन्धी धारणा दंडी की परिभाषा का ही विकसित और

परिवर्द्धित रूप माना जा सकता है ।[1] विश्वनाथ कविराज के युग में संस्कृत के अलंकृत महाकाव्य ही आदर्श माने जाने लगे थे इसलिए उन्होंने भामह एवं रुद्रट द्वारा स्वीकृत महाकाव्य के उन चार तत्वों को गौण मान कर केवल दंडी के आदर्श को ही विस्तार दिया था। इसलिए विश्वनाथ की मान्यता महाकाव्य की रूढ़ियों से ही सम्बद्ध होकर रह गई। उन्होंने दंडी की मान्यताओं के अतिरिक्त कुछ नई बातें भी कहीं जो तात्विक न होकर गौण ही हैं। विश्वनाथ की नवीन बातों को डाक्टर शम्भूनाथ सिंह ने इस प्रकार रखा है—

१—महाकाव्य का नायक सद्वंश क्षत्रिय या देवता होता है पर एक वंश के अनेक राजा या अनेक कुलीन राजा भी महाकाव्य के नायक बन सकते हैं।

२—इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस प्रधान होता है।

३—कम से कम आठ सर्ग होने आवश्यक हैं। एक ही सर्ग में अनेक छंदों का प्रयोग किया जा सकता है।

४—सर्ग न तो बहुत बड़े हों और न बहुत छोटे।

५—प्रकृति-चित्रण, जीवन-व्यापार आदि का वर्णन यथायोग्य और सांगोपाँग होना चाहिए।

संस्कृत-साहित्याचार्यों के महाकाव्य सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचनों का निष्कर्ष निकालते हुए हम महाकाव्य के लक्षणों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

१—कथानक न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा, सर्गबद्ध, नाटक की सन्धियों से संघठित, सुसम्बद्ध, किसी महान घटना पर आधारित, अप्रधान घटनाओं से सुसज्जित, क्रिया-प्रधान होना चाहिए। रुद्रट और हेमचन्द्र अवान्तर कथाओं का होना आवश्यक मानते हैं। अन्य आचार्य इन्हें आवश्यक नहीं मानते। कथा उत्पाद्य, अनुत्पाद्य और मिश्र—तीनों प्रकार की हो सकती है। उत्पाद्य कथा को केवल रुद्रट ही स्वीकार करते हैं, अन्य आचार्य नहीं।

२—नायक धीरोदात्त, सद्वंशी, क्षत्रिय या देवता होना चाहिए। रुद्रट नायक की महानता, वीरता, नीति कुशलता आदि गुणों पर बल देते हुए उसे द्विज वर्णों का होना आवश्यक मानते हैं। दण्डी के अनुसार किसी भी वर्ण का धीरोदात्त चतुर व्यक्ति नायक हो सकता है। रुद्रट प्रतिनायक को भी उतना ही महत्व देते हैं जितना कि नायक को। अन्य पात्रों के विषय में इन लोगों ने कोई विवेचन नहीं किया है। नायिकाओं के विषय में सभी आचार्य मौन हैं।

३—अलंकृत महाकाव्यों में वस्तु-व्यापार वर्णन पर अधिक बल दिया गया

१—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भूनाथ सिंह

है। प्रकृति-चित्रण, जीवन के विभिन्न व्यापारों और परिस्थितियों का वर्णन विस्तार पूर्वक होना चाहिए। समग्र-युग-जीवन का वर्णन इन्हीं के द्वारा सम्भव होता है।

४—रस और भाव-व्यंजना का विवेचन करते हुए उन्होंने सभी रसों का विधान करते हुए शृङ्गार, शान्त, वीर में से किसी एक का प्रधान होना आवश्यक माना है। भाव-व्यंजना की अभिव्यक्ति संवादों एवं कवि द्वारा किए गए वर्णनों के माध्यम से होनी चाहिए।

५—महाकाव्य में अलौकिक और अतिप्राकृत तत्व हो सकते हैं। उसके नायक देवता, मुनि आदि हो सकते हैं। स्वर्ग का वर्णन भी श्लाघ्य है। जहाँ नायक मानव है वहाँ अलौकिक कार्य देवता, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व आदि की सहायता से ही होने चाहिए क्योंकि मानव अपनी शक्ति से ऐसे कार्य नहीं कर सकता।

३—शैली गरिमामयी और गम्भीर होनी चाहिए।

७—छन्दों का रम्य प्रयोग अपेक्षित है। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होना चाहिए। पर विश्वनाथ कविराज एक ही सर्ग में अनेक छन्दों के प्रयोग को भी मान्य समझते हैं।

८—अलंकारों को सभी आचार्यों ने समान महत्व दिया है।

९—भाषा के क्षेत्र में ग्राम्य शब्दों और अर्थों का प्रयोग त्याज्य माना गया है। उसमें शिष्ट नागर जनों की भाषा प्रयुक्त होनी चाहिए। भाषा भी शैली के अनुरूप ही गरिमामयी और गम्भीर होनी चाहिए।

१०—रूप-संघठन के लिए नाटक की पाँचों संधियों एवं कार्यावस्थाओं का होना आवश्यक माना गया है। महाकाव्य के रूपगठन में नाटक, गीतिकाव्य, कथा-आख्यायिका, इतिहास-पुराण आदि सभी से उपयोगी तत्व ग्रहण किए जा सकते हैं। नाटक की सन्धियां इसलिए आवश्यक मानी गई हैं जिससे कथा विशृंखलित न हो पाए, इतिहास-पुराण से भिन्न शैली होने के कारण अधिक समन्वित प्रभाव उत्पन्न कर सके।

११—उद्देश्य सदैव महान होना चाहिये। महाकाव्य का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति माना गया है। रस-निष्पत्ति महाकाव्य का प्रधान उद्देश्य न होकर किसी महान उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र होता है।

१२—महाकाव्य में प्राचीन ज्ञान-वर्णन, पांडित्य-प्रदर्शन और वस्तु-विवरण को भी आवश्यक माना गया है।

महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य मत—महाकाव्य सम्बन्धी यूरोपिय विद्वानों के मतों का विवेचन करने से पूर्व हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम संक्षेप

में यूरोपिय महाकाव्यों का विकास देख लें। यूरोप के प्रारम्भिक महाकाव्य होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' माने जाते हैं जो ईसा से लगभग सात शताब्दी पूर्व रचे गए थे। इन्हें वीरयुग का महाकाव्य माना जाता है। इनके उपरान्त ईसा से एक शताब्दी पूर्व महाकवि वर्जिल ने 'इनीड' नामक महा-काव्य अलंकृत शैली में लिखा—लगभग उसी समय जब हमारे यहाँ कालिदास आदि अलंकृत महाकाव्यों की रचना कर रहे थे। रोमन-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर यूरोप में पुनर्जागरण की लहर फैली जिसमें रोमानी प्रवृत्तियों के साथ-साथ ईसाई नैतिकता के प्रति आग्रह बढ़ा। अतः इस काल में रोमान्टिक और नैतिकतावादी, शास्त्रीय और रूपात्मक महाकाव्यों की रचना साथ-साथ हुई। दान्ते, कैमास, मिल्टन आदि इसी युग के महाकाव्यकार थे। दान्ते का 'डिवाइना कामेडिया' तथा मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट' इस युग के प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। आगे चलकर जब नैतिकता तथा शास्त्रीय नियमों का बन्धन कड़ा होने लगा तो इसके विरोध में रोमांचक काव्यों की रचना होनी प्रारम्भ हो गई। इस काल के कवियों में स्पेन्सर, एरिआस्टो, टैसो, गेटे, टेनिसन, ब्राउनिंग, विक्टर ह्यूगो, हार्डी आदि प्रमुख हैं। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रोमान्टिक या स्वच्छन्दतावादी भावनाओं का वेग इतना अधिक बढ़ा कि महाकाव्य सम्बन्धी सभी पुरानी मान्यतायें छिन्न-भिन्न हो गईं और नवीन कथात्मक काव्यों को महाकाव्य माना जाय अथवा नहीं, यह समस्या उठ खड़ी हुई।

महाकाव्य के उपर्युक्त विभिन्न रूपों को लेकर ही समय-समय पर यूरोपिय विद्वान महाकाव्य की परिभाषायें बनाते गए जिनमें काफी अन्तर पड़ता चला गया। यहाँ हम इन्हीं परिभाषाओं का विकास देखने का प्रयत्न करेंगे।

यूरोप में सर्वप्रथम प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक आलोचक अरस्तू ने महाकाव्य के सम्बन्ध में अपने समीक्षा ग्रन्थ 'काव्यशास्त्र' में विचार किया था। उसने होमर के इलियड और ओडेसी को आदर्श मानकर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए थे। अरस्तू ने लिखा है कि—"महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापारों का काव्य-मय अनुकरण है जो स्वतः गम्भीर एवं पूर्ण हो, वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली में रचा गया हो, जिसमें आद्यन्त एक छन्द हो, जिसमें एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो, जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि में समा सकें, जिसके चरित्र श्रेष्ठ हों, कथा सम्भवनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।"[1]

अरस्तू के बाद सोलहवीं शताब्दी तक यूरोप में काव्यशास्त्र का अध्ययन न

१—काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे।

है। प्रकृति-चित्रण, जीवन के विभिन्न व्यापारों और परिस्थितियों का वर्णन विस्तार पूर्वक होना चाहिए। समग्र-युग-जीवन का वर्णन इन्हीं के द्वारा सम्भव होता है।

४—रस और भाव-व्यंजना का विवेचन करते हुए उन्होंने सभी रसों का विधान करते हुए शृङ्गार, शान्त, वीर में से किसी एक का प्रधान होना आवश्यक माना है। भाव-व्यंजना की अभिव्यक्ति संवादों एवं कवि द्वारा किए गए वर्णनों के माध्यम से होनी चाहिए।

५—महाकाव्य में अलौकिक और अतिप्राकृत तत्व हो सकते हैं। उसके नायक देवता, मुनि आदि हो सकते हैं। स्वर्ग का वर्णन भी श्लाघ्य है। जहाँ नायक मानव है वहाँ अलौकिक कार्य देवता, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व आदि की सहायता से ही होने चाहिए क्योंकि मानव अपनी शक्ति से ऐसे कार्य नहीं कर सकता।

३—शैली गरिमामयी और गम्भीर होनी चाहिए।

७—छन्दों का रम्य प्रयोग अपेक्षित है। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होना चाहिए। पर विश्वनाथ कविराज एक ही सर्ग में अनेक छन्दों के प्रयोग को भी मान्य समझते हैं।

८—अलंकारों को सभी आचार्यों ने समान महत्व दिया है।

९—भाषा के क्षेत्र में ग्राम्य शब्दों और अर्थों का प्रयोग त्याज्य माना गया है। उसमें शिष्ट नागर जनों की भाषा प्रयुक्त होनी चाहिए। भाषा भी शैली के अनुरूप ही गरिमामयी और गम्भीर होनी चाहिए।

१०—रूप-संघठन के लिए नाटक की पाँचों संधियों एवं कार्यावस्थाओं का होना आवश्यक माना गया है। महाकाव्य के रूपगठन में नाटक, गीतिकाव्य, कथा-आख्यायिका, इतिहास-पुराण आदि सभी से उपयोगी तत्व ग्रहण किए जा सकते हैं। नाटक की सन्धियां इसलिए आवश्यक मानी गई हैं जिससे कथा विशृंखलित न हो पाए, इतिहास-पुराण से भिन्न शैली होने के कारण अधिक समन्वित प्रभाव उत्पन्न कर सके।

११—उद्देश्य सदैव महान होना चाहिये। महाकाव्य का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति माना गया है। रस-निष्पत्ति महाकाव्य का प्रधान उद्देश्य न होकर किसी महान उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र होता है।

१२—महाकाव्य में प्राचीन ज्ञान-वर्णन, पांडित्य-प्रदर्शन और वस्तु-विवरण को भी आवश्यक माना गया है।

महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य मत—महाकाव्य सम्बन्धी यूरोपिय विद्वानों के मतों का विवेचन करने से पूर्व हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम संक्षेप

में यूरोपिय महाकाव्यों का विकास देख लें। यूरोप के प्रारम्भिक महाकाव्य होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' माने जाते हैं जो ईसा से लगभग सात शताब्दी पूर्व रचे गए थे। इन्हें वीरयुग का महाकाव्य माना जाता है। इनके उपरान्त ईसा से एक शताब्दी पूर्व महाकवि वर्जिल ने 'इनीड' नामक महाकाव्य अलंकृत शैली में लिखा—लगभग उसी समय जब हमारे यहाँ कालिदास आदि अलंकृत महाकाव्यों की रचना कर रहे थे। रोमन-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर यूरोप में पुनर्जागरण की लहर फैली जिसमें रोमानी प्रवृत्तियों के साथ-साथ ईसाई नैतिकता के प्रति आग्रह बढ़ा। अतः इस काल में रोमान्टिक और नैतिकतावादी, शास्त्रीय और रूपात्मक महाकाव्यों की रचना साथ-साथ हुई। दान्ते, कैमास, मिल्टन आदि इसी युग के महाकाव्यकार थे। दान्ते का 'डिवाइना कामेडिया' तथा मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट' इस युग के प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। आगे चलकर जब नैतिकता तथा शास्त्रीय नियमों का बन्धन कड़ा होने लगा तो इसके विरोध में रोमांचक काव्यों की रचना होनी प्रारम्भ हो गई। इस काल के कवियों में स्पेन्सर, एरिआस्टो, टैसो, गेटे, टेनिसन, ब्राउनिंग, विक्टर ह्यूगो, हार्डी आदि प्रमुख हैं। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रोमान्टिक या स्वच्छन्दतावादी भावनाओं का वेग इतना अधिक बढ़ा कि महाकाव्य सम्बन्धी सभी पुरानी मान्यतायें छिन्न-भिन्न हो गईं और नवीन कथात्मक काव्यों को महाकाव्य माना जाय अथवा नहीं, यह समस्या उठ खड़ी हुई।

महाकाव्य के उपर्युक्त विभिन्न रूपों को लेकर ही समय-समय पर यूरोपिय विद्वान महाकाव्य की परिभाषायें बनाते गए जिनमें काफी अन्तर पड़ता चला गया। यहाँ हम इन्हीं परिभाषाओं का विकास देखने का प्रयत्न करेंगे।

यूरोप में सर्वप्रथम प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक आलोचक अरस्तू ने महाकाव्य के सम्बन्ध में अपने समीक्षा ग्रन्थ 'काव्यशास्त्र' में विचार किया था। उसने होमर के इलियड और ओडेसी को आदर्श मानकर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए थे। अरस्तू ने लिखा है कि—"महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापारों का काव्यमय अनुकरण है जो स्वतः गम्भीर एवं पूर्ण हो, वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली में रचा गया हो, जिसमें आद्यन्त एक छन्द हो, जिसमें एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो, जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि में समा सकें, जिसके चरित्र श्रेष्ठ हों, कथा सम्भवनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।"[1]

अरस्तू के बाद सोलहवीं शताब्दी तक यूरोप में काव्यशास्त्र का अध्ययन न

१—**काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे।**

के बराबर ही हुआ। लोग अरस्तू को एक प्रकार से भूल गए थे। उस समय महाकाव्य के आदर्श 'इनीड' जैसे अलंकृत एवं नव-विकसित रोमान्टिक काव्य-ग्रन्थ ही माने जाते थे। यह रोमन सभ्यता एवं साहित्य का प्रभाव था। परन्तु सोलहवीं शताब्दी के उपरान्त पुनर्जागरण काल में लोगों का ध्यान पुनः यूनानी साहित्य की ओर गया। फलस्वरूप होमर और अरस्तू के अध्ययन की ओर साहित्यिकों की रुचि बढ़ी और महाकाव्य को अधिक गम्भीर अर्थ में स्वीकार किया जाने लगा। अब 'एपिक' (Epic) शब्द का अर्थ श्रेष्ठ और महान काव्य का प्रतीक बन गया। आलोचकों ने महाकाव्य के दो प्रकार स्वीकार कर लिए—महाकाव्य और रोमांचक कथाकाव्य (रोमान्स)। आगे चलकर स्वच्छन्दतावादी युग में दान्ते के 'डिवाइना कामेडिया' के ढङ्ग के नाटकीय महाकाव्यों तथा मनोवैज्ञानिक या रूपक कथात्मक काव्यों को देखकर विद्वानों ने नए सिरे से महाकाव्य का विवेचन करना प्रारम्भ किया।

आधुनिक यूरोपिय आलोचकों में से बावरा, एबरक्रोम्बी, केर, डिक्सन आदि ने महाकाव्य का विस्तृत विवेचन किया है। सी० एम० बावरा महाकाव्य की परिभाषा देते हुए कहता है—"सर्व सम्मति से महाकाव्य वह कथात्मक काव्यरूप है जिसका आकार वृहद् होता है, जिसमें महत्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओं का वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रों की क्रियाशील जीवन-कथा, विशेषकर भयंकर कार्यों जैसे युद्ध आदि से युक्त जीवन-कथा होती है। उसके पढ़ने के बाद हमें विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि उसकी घटनायें और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महानता, गौरव और उपलब्धियों के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करते हैं।"

एबरक्राम्बी महाकाव्य के उद्देश्य के साथ ही उसके बाह्य रूप का भी विश्लेषण करते हुए कहता है—"बड़े आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्य की शैली होगी तभी उसे महाकाव्य माना जा सकता है और वह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उसकी अभिव्यक्ति से जुड़ी रहती है। उस शैली के काव्य 'महाकाव्य' हमें एक ऐसे लोक में पहुँचा देते हैं जहाँ कुछ भी महत्वहीन और असारगर्भित नहीं होता। महाकाव्य के भीतर एक पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गति का आद्यन्त संचालन करता है।"[1]

उपर्युक्त दोनों परिभाषायें सामान्य रूप से तो सम्पूर्ण देशी-विदेशी महाकाव्यों पर लागू हो जाती हैं परन्तु मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक महाकाव्यों पर लागू नहीं होती। आगे चलकर डिक्सन ने वाल्तेयर का महाकाव्य सम्बन्धी

१—हिन्दी-महाकाव्य का स्वरूप-विकास—डा० शम्भूनाथसिंह से उद्धृत।

विचार उद्धृत कर महाकाव्य की परिभाषा को अन्तिम रूप देने का प्रयत्न किया। वाल्तेयर का मत द्रष्टव्य है—

"मान्य लक्षणों के होने या न होने से ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं बन जाता। ऐसे काव्य-ग्रन्थ ही महाकाव्य नाम के अधिकारी हैं जिनमें किसी महान घटना का वर्णन होता है और जिन्हें समाज व्यवहारत: महाकाव्य मानने लगता है। चाहे वह घटना सरल हो या जटिल, चाहे वह 'इलियड' के समान एक स्थान पर घटित हो या 'ओडेसी' की तरह उसका नायक संसार भर में भटकता फिरे, चाहे उसमें एक नायक हो या अनेक, चाहे वे अभागे हों या सौभाग्यशाली, एचिलीस की तरह भयंकर क्रोधी हों या एनियास की तरह धर्मात्मा, चाहे वे राजा हों या सेनापति या इनमें से कुछ भी न हों, चाहे उसके दृश्य हिन्द महासागर के हों कैसे कैमास के 'लूसियाडा' में, या पश्चिमी द्वीप समूह के हों, चाहे वे स्वर्ग के हों या नर्क के जो इस धरती पर नहीं होते, इससे कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। इनके बावजूद कोई काव्य तब तक महाकाव्य कहा जाता रहेगा जब तक आप उसके गुणों के अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नहीं कर देते।"[1]

हम बाबू गुलाबराय के शब्दों में पाश्चात्य आलोचकों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के लक्षणों का सारांश इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

१—यह एक वृहदाकार प्रकथन-प्रधान (Narrative) काव्य है।

२—व्यक्ति की अपेक्षा इसमें जातीय भाव अधिक रहते हैं। इसमें प्राय: कोई बड़ा जातीय संघर्ष भी दिखाया जाता है।

३—इसका विषय परम्परा से प्रतिष्ठित और लोकप्रिय होता है।

४—इसके पात्र शौर्यगुण प्रधान होते हैं। उनका सम्पर्क देवताओं से भी रहता है। उनके कार्यों की दिशा निर्धारित करने में देवताओं और नियति का हाथ रहता है।

५—इसमें नायक को लेकर सारी कथा एक सूत्र में बँधी रहती है।

६—इसकी शैली में एक विशेष प्रकार की शालीनता और उच्चता रहती है।

७—इसमें एक ही छन्द का प्रयोग रहता है।

उपर्युक्त महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय एवं यूरोपिय समीक्षकों के मतों में साम्य मिलता है। दोनों ही नायक में शालीनता और महानता का होना अनिवार्य मानते हैं। कथा का इतिहास-प्रसिद्ध या लोक-प्रसिद्ध होना भी दोनों समान रूप से महत्वपूर्ण मानते हैं। यूरोपिय समीक्षक नायक में व्यक्तित्व की

१—हिंदी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भुनाथ सिंह

अपेक्षा जातीयता का होना अधिक आवश्यक समझते हैं। उसमें जातीय गुणों और जातीय मनोवृत्ति का होना आवश्यक है। अपने यहाँ इस बात पर विशेष बल तो नहीं दिया गया है परन्तु नायक की श्रेष्ठता, इतिहास-प्रसिद्धि, युद्ध-यात्राओं आदि के रूप में सम्पूर्ण जातीय जीवन को समेट लिया गया है। महाकाव्य के आकार-प्रकार की विशदता, शैली और विषय का गरिमामय होना दोनों ही स्वीकार करते हैं। अन्तर केवल एक ही बात में दिखाई पड़ता है और वह यह है कि यूनानी महाकाव्यों में दैव या नियति को एक ऐसी क्रूर सत्ता के रूप में चित्रित किया जाता रहा है जो मानव के उत्पीड़न में प्रसन्नता का अनुभव करती है। होमर कहता है—"निर्बल मनुष्य के लिए देवताओं ने भाग्य का यही पट बुना है। उनकी इच्छा है कि मनुष्य सदा क्लेश में जिये और वे स्वयं (देवता) सदा आनन्द में रहें।"

हमारे यहाँ दैव द्वारा मानव का उत्पीड़न हुआ अवश्य है परन्तु वह सदैव उसकी परीक्षा के लिए ही हुआ है। यहाँ दैव की क्रूरता सकारण होती है। वैसे दैव मानव के प्रति सदैव सहानुभूतिपूर्ण रहा है।

आधुनिक हिन्दी समीक्षकों में से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने महाकाव्य के स्वरूप पर, विभिन्न महाकाव्यों—रामचरितमानस तथा पद्मावत—की समीक्षा करते हुए, विस्तारपूर्वक विचार किया है। उन्होंने महाकाव्य के केवल चार तत्वों को ही महत्व दिया है—१—इतिवृत्त, २—वस्तु-व्यापार वर्णन, ३—भाव व्यंजना तथा ४—संवाद। उनके अनुसार महाकाव्य का इतिवृत्त (कथानक) व्यापक और सुसंगठित होना चाहिए। उसमें ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का चित्रण होना चाहिए जो हमें आन्दोलित कर दें। भावव्यंजना इतनी विशद, प्रांजल एवं सुष्ठु हो जो रसानुभूति उत्पन्न करने में सहायक एवं पूर्ण समर्थ हो। संवाद रोचक, नाटकीय और औचित्यपूर्ण होने चाहिए। शुक्लजी ने अप्रत्यक्ष रूप से सन्देश की महानता और शैली की प्रौढ़ता को भी महाकाव्य का प्रमुख लक्षण माना है। परन्तु शुक्लजी द्वारा निर्धारित उपर्युक्त लक्षण अनेक नवीन महाकाव्यों पर पूर्ण रूप से लागू नहीं होते। 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' आदि ऐसे ही महाकाव्य हैं।

महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय एवं पाश्चात्य मतों के विवेचन के आधार पर सामान्यरूप से महाकाव्य के कुछ ऐसे स्थायी लक्षण निर्धारित किए जा सकते हैं जो समान रूप से संसार के लगभग सभी प्रसिद्ध महाकाव्यों पर लागू हो जाते हैं। डाक्टर शम्भूनाथ सिंह ने इन स्थायी लक्षणों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१—महाकाव्य में किसी महान घटना का वर्णन होना चाहिए। उसके

कथानक में नाटकीय अन्वित हो तो ठीक है, न हो तो भी उसे रोमांचक कथा की तरह विश्रृंखलित नहीं होना चाहिए।

२—उसमें कोई न कोई महान् उद्देश्य अवश्य होना चाहिए, चाहे वह उद्देश्य राष्ट्रीय हो, या नैतिक, धार्मिक हो, या दार्शनिक, मानवीय हो या मनोवैज्ञानिक।

३—उसमें प्रभावान्विति होनी चाहिए, चाहे वह नाटकीय ढङ्ग की प्रभावान्विति हो या रोमांचक कथा के ढंग की या गीतिकाव्य के ढंग की।[१]

महाकाव्य के बाह्य लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य के अनिवार्य लक्षण निम्नलिखित माने जा सकते हैं—

१—कथात्मकता और छन्दोबद्धता।

२—सर्गबद्धता या खंडविभाजन और कथा का विस्तार।

३—जीवन के विविध और समग्र रूप का चित्रण।

४—नाटक, कथा और गीतिकाव्य के अनेक तत्वों के सम्मिश्रण से संघठित कथानक का निर्माण।

५—शैली की गम्भीरता, उदात्तता और मनोहारिता।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर डा० शम्भूनाथ सिंह ने महाकाव्य की निम्नलिखित विस्तृत परिभाषा निर्धारित की है—

"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह, या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक होता है जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है, जिसमें यथार्थ, कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं, और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित होकर किसी मदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्वपूर्ण, गम्भीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति-विशेष और युग-विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं अथवा नाना रूपात्मक कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया रहता है और जिसकी शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग-युगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।"

१—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास—डा० शम्भूनाथसिंह।

२—वही।

अपेक्षा जातीयता का होना अधिक आवश्यक समझते हैं। उसमें जातीय गुणों और जातीय मनोवृत्ति का होना आवश्यक है। अपने यहाँ इस बात पर विशेष बल तो नहीं दिया गया है परन्तु नायक की श्रेष्ठता, इतिहास-प्रसिद्धि, युद्ध-यात्राओं आदि के रूप में सम्पूर्ण जातीय जीवन को समेट लिया गया है। महाकाव्य के आकार-प्रकार की विशदता, शैली और विषय का गरिमामय होना दोनों ही स्वीकार करते हैं। अन्तर केवल एक ही बात में दिखाई पड़ता है और वह यह है कि यूनानी महाकाव्यों में दैव या नियति को एक ऐसी क्रूर सत्ता के रूप में चित्रित किया जाता रहा है जो मानव के उत्पीड़न में प्रसन्नता का अनुभव करती है। होमर कहता है—"निर्बल मनुष्य के लिए देवताओं ने भाग्य का यही पट बुना है। उनकी इच्छा है कि मनुष्य सदा क्लेश में जिये और वे स्वयं (देवता) सदा आनन्द में रहें।"

हमारे यहाँ दैव द्वारा मानव का उत्पीड़न हुआ अवश्य है परन्तु वह सदैव उसकी परीक्षा के लिए ही हुआ है। यहाँ दैव की क्रूरता सकारण होती है। वैसे दैव मानव के प्रति सदैव सहानुभूतिपूर्ण रहा है।

आधुनिक हिन्दी समीक्षकों में से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने महाकाव्य के स्वरूप पर, विभिन्न महाकाव्यों—रामचरितमानस तथा पद्मावत—की समीक्षा करते हुए, विस्तारपूर्वक विचार किया है। उन्होंने महाकाव्य के केवल चार तत्वों को ही महत्व दिया है—१—इतिवृत्त, २—वस्तु-व्यापार वर्णन, ३—भाव व्यंजना तथा ४—संवाद। उनके अनुसार महाकाव्य का इतिवृत्त (कथानक) व्यापक और सुसंगठित होना चाहिए। उसमें ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का चित्रण होना चाहिए जो हमें आन्दोलित कर दें। भावव्यंजना इतनी विशद, प्रांजल एवं सुष्ठु हो जो रसानुभूति उत्पन्न करने में सहायक एवं पूर्ण समर्थ हो। संवाद रोचक, नाटकीय और औचित्यपूर्ण होने चाहिए। शुक्लजी ने अप्रत्यक्ष रूप से सन्देश की महानता और शैली की प्रौढ़ता को भी महाकाव्य का प्रमुख लक्षण माना है। परन्तु शुक्लजी द्वारा निर्धारित उपर्युक्त लक्षण अनेक नवीन महाकाव्यों पर पूर्ण रूप से लागू नहीं होते। 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' आदि ऐसे ही महाकाव्य हैं।

महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय एवं पाश्चात्य मतों के विवेचन के आधार पर सामान्यरूप से महाकाव्य के कुछ ऐसे स्थायी लक्षण निर्धारित किए जा सकते हैं जो समान रूप से संसार के लगभग सभी प्रसिद्ध महाकाव्यों पर लागू हो जाते हैं। डाक्टर शम्भूनाथ सिंह ने इन स्थायी लक्षणों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१—महाकाव्य में किसी महान घटना का वर्णन होना चाहिए। उसके

कथानक में नाटकीय अन्विति हो तो ठीक है, न हो तो भी उसे रोमांचक कथा की तरह विशृंखलित नहीं होना चाहिए।

२—उसमें कोई न कोई महान् उद्देश्य अवश्य होना चाहिए, चाहे वह उद्देश्य राष्ट्रीय हो, या नैतिक, धार्मिक हो, या दार्शनिक, मानवीय हो या मनोवैज्ञानिक।

३—उसमें प्रभावान्विति होनी चाहिए, चाहे वह नाटकीय ढङ्ग की प्रभावान्विति हो या रोमांचक कथा के ढंग की या गीतिकाव्य के ढंग की।[1]

महाकाव्य के बाह्य लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य के अनिवार्य लक्षण निम्नलिखित माने जा सकते हैं—

१—कथात्मकता और छन्दोबद्धता।

२—सर्गबद्धता या खंडविभाजन और कथा का विस्तार।

३—जीवन के विविध और समग्र रूप का चित्रण।

४—नाटक, कथा और गीतिकाव्य के अनेक तत्वों के सम्मिश्रण से संघठित कथानक का निर्माण।

५—शैली की गम्भीरता, उदात्तता और मनोहारिता।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर डा० शम्भूनाथ सिंह ने महाकाव्य की निम्नलिखित विस्तृत परिभाषा निर्धारित की है—

"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह, या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक होता है जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है, जिसमें यथार्थ, कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं, और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित होकर किसी मदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्वपूर्ण, गम्भीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति-विशेष और युग-विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं अथवा नाना रूपात्मक कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया रहता है और जिसकी शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग-युगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।"

१—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास—डा० शम्भूनाथसिंह।

२—वही।

महाकाव्य के उपर्युक्त समस्त स्थायी-अस्थायी, आन्तरिक-बाह्य लक्षणों से भी अधिक आवश्यक तत्व है उसकी जीवनी शक्ति। महाकाव्य के रूप में युग, समाज, राष्ट्र विशेष की समग्र जीवनी शक्ति मुखरित हो उठती है । जिस महाकाव्यों में इस जीवनी शक्ति का अभाव रहता है वह सम्पूर्ण शास्त्रीय लक्षणों से युक्त होते हुए भी काल के गर्भ में विलीन हो जाता है । जब कोई महाकवि किसी समाज या राष्ट्र की चिरन्तन जीवनी शक्ति से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर उसे महाकाव्य का रूप देता है तभी वह अनवरुद्ध रूप से युग-युग में प्रेरणा प्रदान करती हुई मानव-मन में रमी रहती है । महाकाव्य की सबसे बड़ी सफलता इस बात से आँकी जा सकती है कि वह समाज को कितनी शक्ति, कितना साहस, कितनी उमंग और कितनी आस्था प्रदान करता है। ''सामाजिक जीवन की उद्दाम जिजीविषा, अखंड वेग, और अजस्त्र प्रवाह जिस सशक्त और जीवन्त रूप में किसी जातीय महाकाव्य में दिखाई पड़ता है, वैसा मानव की अन्य किसी कला कृति में नहीं।''

और यह जीवन्त शक्ति प्रारम्भिक युग के रामायण, महाभारत, इलियड, ओडेसी आदि महाकाव्यों में सर्वाधिक सशक्त रूप में दिखाई पड़ती है क्योंकि उस प्रारम्भिक युग में सामूहिक-भावना की प्रधानता के कारण मानव की जीवनी शक्ति व्यक्ति-केन्द्रित न होकर समाज केन्द्रित थी । जब यह शक्ति आगे चल कर व्यक्ति-केन्द्रित होने लगी तो उस जीवनी-शक्ति का ह्रास होना प्रारम्भ हो गया । इसी कारण अलंकृत महाकाव्यों में यह आंशिक रूप में दिखाई देती है । परन्तु युग के अनुरूप मानव की कार्य-प्रणाली भी बदलती जाती है । प्राचीन युग में शारीरिक शक्ति को अधिक महत्ता प्रदान की जाती थी इसी कारण उस युग के महाकाव्यों में वीरता, त्याग, बलिदान, युद्ध आदि को विशेष गौरव प्रदान किया गया था परन्तु आधुनिक युग मानसिक या बौद्धिक शक्ति का पुजारी है । इसी कारण आधुनिक युग के महाकाव्यों में घटनाओं एवं कार्यों के स्थान पर मन की विविध शक्तियों की सक्रियता अधिक मिलती है । 'कामायनी' इसी प्रकार का महाकाव्य है । इस आधार पर हम महाकाव्य का मूलभूत लक्षण उसका 'अनवरुद्ध जीवनी शक्ति' तथा 'सशक्त प्राणवत्ता' से युक्त होना मान सकते हैं ।

विकास

'रामायण' और 'महाभारत' हमारे देश के आदि महाकाव्य माने जाते हैं । परन्तु कुछ विद्वान इन्हें काव्य न मानकर इतिहास मानते हैं तथा कुछ 'रामायण' को तो आदि काव्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं परन्तु 'महा-

भारत' को महाकाव्य न मानकर इतिहास, पुराण या धर्म ग्रन्थ के रूप में ही अधिक मानते हैं। जहाँ तक महाकाव्य के मूलभूत लक्षणों का सम्बन्ध है, इन्हें सच्चे अर्थों में प्रारम्भिक वीरयुग के विकसन-शील महाकाव्य माना जा सकता है। महाभारत प्रारम्भिक वीर युग की रचना होने के कारण उसमें वीररस का प्राधान्य है। यह अपने युग का समग्र चित्र उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है। रामायण उत्तरकालीन विकसित वीर युग का काव्य है। इसलिए महाभारत में इतिहास के लक्षण अधिक मिलते हैं जबकि रामायण में काव्य के। यही कारण है कि महाभारत की शैली ने पुराणों के रूप में विकास पाया और रामायण की शैली अलंकृत काव्यों के रूप में विकसित हुई। परन्तु रामायण में अलंकृत काव्यों के लक्षण अधिक न होकर विकसन-शील अथवा लोककाव्य के लक्षण ही अधिक हैं। इसलिए 'रामायण' और 'महाभारत' को होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' के समान ही प्रारम्भिक वीरयुग के विकसनशील महाकाव्य मानना पड़ेगा।

उक्त दोनों ग्रन्थों को महाकाव्य लगभग सभी ने माना है। ध्वन्यालोक-कार ने उन्हें महाकाव्य मानकर उनमें रसों की विवेचना की है और उन्हें 'आर्षकाव्य' की पदवी से विभूषित किया है। यदि परिवर्ती कवियों ने महा-भारत से विषय-सामग्री का चयन किया है तो उन्होंने शैली के क्षेत्र में रामा-यण का ही अनुकरण किया है। भारतीय समीक्षकों ने महाकाव्य के लक्षणों का निर्धारण रामायण के ही आधार पर किया है। इन दोनों ग्रन्थों के इसी महत्व को लक्ष्यकर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"परवर्ती भारतीय साहित्य को इन दो ग्रन्थों ने कितना प्रभावित किया है, इसका अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि यदि समूचे भारतीय साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो अधिकांश—शायद ९० प्रतिशत—रचनायें इन्हीं दोनों ग्रन्थों के आधार पर हुई हैं, और आज भी हो रही हैं।"

प्रसिद्ध यूरोपिय समीक्षक मेक्डानल महाभारत को लोक-महाकाव्य और रामायण को अनुकृत महाकाव्य मानता है। परन्तु अन्य अनेक विद्वान रामा-यण को लोक-महाकाव्य या विकसनशील महाकाव्य मानते हैं और साथ ही इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि उसमें महाभारत की अपेक्षा काव्य शैली के सभी गुण अपने प्रारम्भिक रूप में अधिक विकसित अवस्था में मिलते हैं। अतः रामायण को विकसनशील और अलंकृत महाकाव्यों के बीच की कड़ी माना जा सकता है। परवर्ती महाकाव्य—विशेष रूप से संस्कृत के महा-काव्य—रामायण की शैली से प्रभावित हैं तथा प्राकृत के महाकाव्यों पर महा-भारत का प्रभाव अधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है।

रामायण-महाभारत के उपरान्त संस्कृत के अलंकृत महाकाव्यों का युग आता है । इनका निर्माण सामन्त-युग में शिष्ट समाज एवं दरबारी वातावरण में रहने वाले विशिष्ट कवियों द्वारा हुआ था । इनमें वीर-भावना की अपेक्षाकृत न्यूनता रही और कला-पक्ष की ओर कवियों का अधिक ध्यान गया। वाग्वैदग्ध्य और पांडित्य-प्रदर्शन इनका प्रधान लक्ष्य बन गया । इसी कारण इनमें विकसनशील महाकाव्यों की सी सादगी और सहज-अलंकरण- प्रवृत्ति नहीं मिलती । कथानक छोटे-छोटे होने लगे ।

संस्कृत के इन अलंकृत महाकाव्यों में अश्वघोष का 'बुद्धचरित', कालिदास के 'रघुवंश', और 'कुमार सम्भव', भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपाल-वध', श्रीहर्ष का 'नैषधीय-चरित्र' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें आचार्य दंडी द्वारा निर्धारित महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह मिलता है । परन्तु इन महाकाव्यों के भी दो रूप मिलते हैं। पहला रूप अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्यों का है जिनमें रस-सृष्टि के निमित्त भाव-व्यंजना को प्रमुखता प्रदान की गई है । कथा-वस्तु इनमें भी गौण बन जाती है । दूसरा प्रकार भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि के महाकाव्यों का है जिनमें आलंकारिकता, पांडित्य-प्रदर्शन आदि की ओर कवियों का अधिक ध्यान रहा है । शैली का चमत्कार ही इनका प्रधान उपजीव्य बन कर रह गया है। जीवन की यथार्थ परिस्थितियाँ, पात्रों का सहजस्वाभाविक चित्रण आदि की ओर इनका ध्यान नहीं गया है ।

संस्कृत महाकाव्यों के उपरान्त प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों का युग आता है, यद्यपि इस युग में भी संस्कृत में महाकाव्यों की रचना बराबर होती रही थी परन्तु उन्हें श्रेष्ठ महाकाव्यों की कोटि में नहीं गिना जाता । प्राकृत के महाकाव्यों में विमलसूरि का 'पउम चरिय' (पद्म चरित) प्राचीनतम माना जाता है । यह बाल्मीकि रामायण की कथा का जैन-रूपान्तर है । इसकी शैली भी रामायण के ही समान है । इसके अतिरिक्त प्रवरसेन का सेतुबन्ध या 'रावण बहो' (रावण वध) प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय महाकाव्य माना जाता है । वाक्पतिराज का 'गउडबहो', कौतूहल की 'लीलावइ' (लीलावती), तथा अन्य कवियों के 'सिरिचिन्हकव्व' (श्री चिन्हकाव्य); 'उसाणिरुद्ध, 'कंस बहो' (कंस वध) आदि महाकाव्य भी उल्लेखनीय हैं । ये लगभग सभी अलंकृत शैली के महाकाव्य हैं ।

अपभ्रंश के महाकाव्यों में स्वयम्भु के 'पउमचरिउ', 'रिट्ठणेमिचरिउ', में क्रमशः रामायण और महाभारत से कथानक लिए गए हैं। पुष्पदन्त, धनपाल; पद्मकीर्ति, हरिभद्र सूरि, नयनन्दि, कनकामर, वीर कवि, शुभकीर्त्ति, भट्टा-

रक, यशः कीर्त्ति आदि अनेक अपभ्रंश भाषा के कवियों ने अनेक महाकाव्यों की रचना की। परन्तु अपभ्रंश में अधिकतर चरितकाव्य की लिखे गए हैं जिन्हें कुछ विद्वान महाकाव्य मानते हैं तथा कुछ केवल चरितकाव्य मान कर उन्हें महाकाव्य की कोटि में रखने से इंकार कर देते हैं। प्राकृत एवं अपभ्रंश के कवियों का प्रधान लक्ष्य अपने-अपने सम्प्रदायों या धर्मों के उपदेशों का प्रचार करना रहा है। इसलिए इनकी शैली सरल, सुबोध और रोचक है। इनमें माघ भारवि आदि का सा पाँडित्य-प्रदर्शन एवं आलंकारिकता का मोह नहीं दिखाई देता। इन काव्यों पर रुद्रट की महाकाव्य सम्बन्धी परिभाषा अधिक लागू होती होती है, दंडी की नहीं। नायक के सम्बन्ध में इन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग किया है। नायक किसी भी वर्ण या वर्ग के हो सकते हैं। इन्होंने महती घटना और महान चरित्र को यथार्थवादी मापदण्ड से नापा है।

हिन्दी के महाकाव्य—हिन्दी महाकाव्यों के विकास को तीन प्रधान युगों में विभाजित किया जा सकता है—१—वीर गाथा काल, २—भक्तिकाल, तथा ३—आधुनिक काल। रीतिकाल मुक्तकों का युग है। उसमें एक भी उल्लेखनीय महाकाव्य की रचना नहीं हुई। साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश के पश्चात् हिन्दी-साहित्य का उदय हुआ है। इसलिए हमारा आदिकालीन साहित्य तो विशेष रूप से अपभ्रंश के काव्य रूपों से प्रभावित रहा है। हिन्दी महाकाव्य यद्यपि रामायण-महाभारत, बृहत्कथा और परवर्ती संस्कृत-प्राकृत काव्य शैली से बहुत प्रभावित रहा है परन्तु उसका विकास वस्तुतः अपभ्रंश-काव्य से ही हुआ है। हम यहाँ इसका विस्तारपूर्वक विवेचन न कर काल-क्रमानुसार हिन्दी के प्रमुख महाकाव्यों का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। हिन्दी के प्रमुख महाकाव्यों में वीरगाथा कालीन 'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हखण्ड', भक्ति कालीन 'पद्मावत' तथा 'रामचरितमानस', और आधुनिक कालीन 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'कामायनी' तथा 'कुरुक्षेत्र' माने जाते हैं।

वीरगाथा कालीन महाकाव्यों में 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'आल्हखंड' विशेष उल्लेखनीय माने जाते हैं। ये दोनों ही विकसनशील महाकाव्य हैं। विकसनशील महाकाव्यों को 'मौखिक' भी कहा जाता है, जैसा कि हम पीछे बता आए हैं। ऐसे काव्यों को हम उसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं जिस रूप में वह हमें पूर्व-परम्परा से प्राप्त होते हैं। यहाँ हम इस विवाद में नहीं पड़ेंगे कि 'रासो' और 'आल्हखंड' प्रामाणिक ग्रन्थ हैं अथवा जाली। आज हमें उनका जो रूप उपलब्ध है, उसी को लेकर हम उन्हें महाकाव्य स्वीकार कर चुके हैं। 'रासो' में महाकाव्य के वे सभी लक्षण मिल जाते हैं जो भामह, रुद्रट और दंडी ने निर्धारित किए हैं। युग एवं समाज-जीवन के समग्र चित्रण की दृष्टि से इसे

अपने युग का दर्पण कहा जा सकता है। काव्यत्व की दृष्टि से इसमें अलंकृत महाकाव्यों की सी कलात्मकता मिलती है। इसमें इतिहास तथा कल्पना का सम्मिश्रण होने से एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

'रासो' महान उद्देश्य, महती प्रेरणा तथा अद्भुत काव्य प्रतिभा के कारण ही विद्वानों द्वारा 'महाकाव्य' माना गया है। यह हिन्दी का वास्तविक वीरकाव्य है जिसमें तत्कालीन सामन्त-युग अपने सम्पूर्ण गुण-अवगुण के साथ प्रतिबिम्बित हो उठा है। इसमें बारहवी-तेरहवीं शताब्दी में भारत पर विदेशी आक्रमण, तथा उसके विरुद्ध भारतीयों के अनवरत संघर्ष की कथा अत्यन्त ओजस्वी ढंग से कही गई है। इसमें वीररस का पूर्ण परिपाक है, इतिहास है परन्तु उसका प्रधान उद्देश्य केवल रस-निष्पत्ति न होकर जातीय जीवन में प्राण-संचार करना, उसमें स्वातंत्र्य और बलिदान का मंत्र फूँकना और बाहुबल पर आधारित जीवन-मूल्यों की स्थापना करना है। "स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर हँसते-वँसते बलि हो जाने और देश-जाति और अपने व्यक्तित्व के गौरव और प्रतिष्ठा के लिए प्रतिक्षण मरने-मिटने के लिए तैयार रहने का अमर संदेश देना ही इस महाकाव्य का महत् उद्देश्य है।"[1]

युग-चित्रण की व्यापकता, भावों की सफल अभिव्यक्ति, शैली की प्रौढ़ता, विविध प्रकार की ज्ञान-सामग्री, आकार की विशालता, महाकाव्य के लगभग सभी शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह आदि की दृष्टि से 'रासो' को विद्वानों ने एक सफल महाकाव्य माना है।

'आल्हखंड' विकसनशील लोक महाकाव्य माना जाता है। इसके सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने लिखा था कि—"वर्तमान समय में अन्य कोई महाकाव्य ऐसा नहीं है जो आल्हखण्ड के समान लोकव्याप्त हो। यह महाकाव्य समस्त उत्तर भारत के पेशेवर आल्हा-गायकों द्वारा गाया जाता है।" यह विकसनशील महाकाव्य होते हुए भी 'पृथ्वीराज रासो' से भिन्न प्रकार का काव्य है। यह सदैव गायकों की परम्परा द्वारा ही विकसित होता रहा हैं। इसकी एक भी प्राचीन हस्तलिखित प्रति नहीं मिली है। इसमें महाकाव्य की शास्त्रीय रूढ़ियों का पालन नहीं हुआ है और न अलंकृत महाकाव्यों जैसा रूप-विधान, प्रबन्ध कौशल और काव्य-सौष्ठव ही इसमें मिलता हैं। इसका विकास, संरक्षण और प्रचार पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता आया है। धीरे-धीरे इसने अन्त में जाकर लोककथा का रूप धारण कर लिया और यह लोककथा आज कथात्मक लोकमहाकाव्य के रूप में समादृत है।

परन्तु लोककथा को विद्वान महाकाव्य नहीं मानते क्योंकि उसके रचयिता

१—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास—डा० शम्भूनाथसिंह

का पता नहीं चलता। किन्तु आल्हखण्ड का रचयिता जगनिक कवि माना जाता है। इसलिए इसे मूलतः लोककथा नहीं माना जा सकता। यद्यपि इसमें लोक-कथा के अनेक तत्व विद्यमान हैं फिर भी यह विशुद्ध लोककथा से आगे बढ़ा हुआ काव्यरूप है। इसकी रचना तेरहवीं शताब्दी में हुई बताई जाती है। यद्यपि इसे शुद्ध रूप से ऐतिहासिक काव्य नहीं माना जा सकता परन्तु इतने पर भी इसमें ऐतिहासिकता का आभास अवश्य मिल जाता है।

आल्हखण्ड अशिक्षित समुदाय में ही समादृत होता आया है। शिक्षित समाज ने उसकी उपेक्षा की है। अन्य साहित्यिक महाकाव्यों के समान उसका कोई प्रत्यक्ष महान उद्देश्य मनोरंजन के अतिरिक्त और दूसरा नहीं दिखाई पड़ता परन्तु उसकी प्रेरणा इतनी गहरी है कि उसे सुनकर श्रोताओं में इतना आवेश भर जाता है कि उनमें लड़ाई-झगड़ा तक हो जाता है। इसे 'रासो' के समान न तो जातीय महाकाव्य माना जा सकता है और न 'रामचरितमानस' के समान राष्ट्रीय और सांस्कृतिक महाकाव्य। "इसके विपरीत वह विशुद्ध वैयक्तिक वीरता, स्वाभिमान, दर्प और साहसपूर्ण कार्यों का काव्य है जिसमें समस्त जीवन के केन्द्र में बाहुबल को ही प्रतिष्ठित किया गया है। उसमें न तो नैतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय मूल्यों के लिए कोई आग्रह है, न रासो की तरह जातीय शक्ति का प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया गया है, न पद्मावत की तरह आध्यात्मिक मूल्यों की ही प्रतिष्ठा की गई है। उसका उद्देश्य मनोरंजन करना और उसी के माध्यम से वीरपूजा की प्रवृत्ति को जाग्रत करना और वीर-भावना का संचार करना है। यह उद्देश्य अपनी सीमाओं और संकीर्णताओं के होते हुए भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अतः अपने इस उद्देश्य की महत्ता और अपनी सहज-सरल प्रेरणाशक्ति की तीव्रता और व्यापकता के कारण आल्हखण्ड महाकाव्य पद का अवश्य अधिकारी है।"[१]

अनेक विद्वानों ने आल्हखण्ड को महाकाव्य नहीं माना है परन्तु ग्रियर्सन, जयशङ्करप्रसाद आदि इसे महाकाव्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में 'प्रसादजी' की सम्मति उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा। आपने लिखा है—"हिन्दी में सङ्कलनात्मक महाकाव्यों का आरम्भ भी युगवाणी के अनुसार युगवाणी से होता है। रासो और आल्हा, ये दोनों ही पौराणिक काव्य, महाभारत की परम्परा में है।"[२]

भक्तिकाल में दो महाकाव्य ही प्रमुख माने जाते हैं। जायसी का 'पद्मावत' और तुलसी का 'रामचरित मानस'। इनमें से 'पद्मावत' प्रेमकाव्य का

१—हिंदी महाकाव्य का स्वरूप–विकास—डा० शम्भूनाथसिंह।

२—काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध—जयशङ्करप्रसाद।

अपने युग का दर्पण कहा जा सकता है। काव्यत्व की दृष्टि से इसमें अलंकृत महाकाव्यों की सी कलात्मकता मिलती है। इसमें इतिहास तथा कल्पना का सम्मिश्रण होने से एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

'रासो' महान उद्देश्य, महती प्रेरणा तथा अद्भुत काव्य प्रतिभा के कारण ही विद्वानों द्वारा 'महाकाव्य' माना गया है। यह हिन्दी का वास्तविक वीरकाव्य है जिसमें तत्कालीन सामन्त-युग अपने सम्पूर्ण गुण-अवगुण के साथ प्रतिबिम्बित हो उठा है। इसमें बारहवी-तेरहवीं शताब्दी में भारत पर विदेशी आक्रमण, तथा उसके विरुद्ध भारतीयों के अनवरत संघर्ष की कथा अत्यन्त ओजस्वी ढंग से कही गई है। इसमें वीररस का पूर्ण परिपाक है, इतिहास है परन्तु उसका प्रधान उद्देश्य केवल रस-निष्पत्ति न होकर जातीय जीवन में प्राण-संचार करना, उसमें स्वातंत्र्य और बलिदान का मंत्र फूँकना और बाहुबल पर आधारित जीवन-मूल्यों की स्थापना करना है। "स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर हँसते-बँसते बलि हो जाने और देश-जाति और अपने व्यक्तित्व के गौरव और प्रतिष्ठा के लिए प्रतिक्षण मरने-मिटने के लिए तैयार रहने का अमर संदेश देना ही इस महाकाव्य का महत् उद्देश्य है।"[1]

युग-चित्रण की व्यापकता, भावों की सफल अभिव्यक्ति, शैली की प्रौढ़ता, विविध प्रकार की ज्ञान-सामग्री, आकार की विशालता, महाकाव्य के लगभग सभी शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह आदि की दृष्टि से 'रासो' को विद्वानों ने एक सफल महाकाव्य माना है।

'आल्हखंड' विकसनशील लोक महाकाव्य माना जाता है। इसके सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने लिखा था कि—"वर्तमान समय में अन्य कोई महाकाव्य ऐसा नहीं है जो आल्हखण्ड के समान लोकव्याप्त हो। यह महाकाव्य समस्त उत्तर भारत के पेशेवर आल्हा-गायकों द्वारा गाया जाता है।" यह विकसनशील महाकाव्य होते हुए भी 'पृथ्वीराज रासो' से भिन्न प्रकार का काव्य है। यह सदैव गायकों की परम्परा द्वारा ही विकसित होता रहा हैं। इसकी एक भी प्राचीन हस्त-लिखित प्रति नहीं मिली है। इसमें महाकाव्य की शास्त्रीय रूढ़ियों का पालन नहीं हुआ है और न अलंकृत महाकाव्यों जैसा रूप-विधान, प्रबन्ध कौशल और काव्य-सौष्ठव ही इसमें मिलता हैं। इसका विकास, संरक्षण और प्रचार पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता आया है। धीरे-धीरे इसने अन्त में जाकर लोककथा का रूप धारण कर लिया और यह लोककथा आज कथात्मक लोकमहाकाव्य के रूप में समादृत है।

परन्तु लोककथा को विद्वान महाकाव्य नहीं मानते क्योंकि उसके रचयिता

१—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास— डा० शम्भूनाथसिंह

का पता नहीं चलता । किन्तु आल्हखण्ड का रचयिता जगनिक कवि माना जाता है । इसलिए इसे मूलतः लोककथा नहीं माना जा सकता । यद्यपि इसमें लोक-कथा के अनेक तत्व विद्यमान हैं फिर भी यह विशुद्ध लोककथा से आगे बढ़ा हुआ काव्यरूप है । इसकी रचना तेरहवीं शताब्दी में हुई बताई जाती है। यद्यपि इसे शुद्ध रूप से ऐतिहासिक काव्य नहीं माना जा सकता परन्तु इतने पर भी इसमें ऐतिहासिकता का आभास अवश्य मिल जाता है ।

आल्हखण्ड अशिक्षित समुदाय में ही समादृत होता आया है। शिक्षित समाज ने उसकी उपेक्षा की है । अन्य साहित्यिक महाकाव्यों के समान उसका कोई प्रत्यक्ष महान उद्देश्य मनोरंजन के अतिरिक्त और दूसरा नहीं दिखाई पड़ता परन्तु उसकी प्रेरणा इतनी गहरी है कि उसे सुनकर श्रोताओं में इतना आवेश भर जाता है कि उनमें लड़ाई-झगड़ा तक हो जाता है । इसे 'रासो' के समान न तो जातीय महाकाव्य माना जा सकता है और न 'रामचरितमानस' के समान राष्ट्रीय और सांस्कृतिक महाकाव्य । "इसके विपरीत वह विशुद्ध वैयक्तिक वीरता, स्वाभिमान, दर्प और साहसपूर्ण कार्यों का काव्य है जिसमें समस्त जीवन के केन्द्र में बाहुबल को ही प्रतिष्ठित किया गया है। उसमें न तो नैतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय मूल्यों के लिए कोई आग्रह है, न रासो की तरह जातीय शक्ति का प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया गया है, न पद्मावत की तरह आध्यात्मिक मूल्यों की ही प्रतिष्ठा की गई है । उसका उद्देश्य मनोरंजन करना और उसी के माध्यम से वीरपूजा की प्रवृत्ति को जाग्रत करना और वीर-भावना का संचार करना है । यह उद्देश्य अपनी सीमाओं और संकीर्णताओं के होते हुए भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । अतः अपने इस उद्देश्य की महत्ता और अपनी सहज-सरल प्रेरणाशक्ति की तीव्रता और व्यापकता के कारण आल्हखण्ड महाकाव्य पद का अवश्य अधिकारी है ।"[1]

अनेक विद्वानों ने आल्हखण्ड को महाकाव्य नहीं माना है परन्तु ग्रियर्सन, जयशङ्करप्रसाद आदि इसे महाकाव्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में 'प्रसादजी' की सम्मति उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा । आपने लिखा है—"हिन्दी में सङ्कलनात्मक महाकाव्यों का आरम्भ भी युगवाणी के अनुसार युगवाणी से होता है। रासो और आल्हा, ये दोनों ही पौराणिक काव्य, महाभारत की परम्परा में है ।"[2]

भक्तिकाल में दो महाकाव्य ही प्रमुख माने जाते हैं। जायसी का 'पद्मावत' और तुलसी का 'रामचरित मानस' । इनमें से 'पद्मावत' प्रेमकाव्य का

१—हिंदी महाकाव्य का स्वरूप-विकास—डा० शम्भूनाथसिंह ।
२—काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध—जयशङ्करप्रसाद ।

प्रतिनिधित्व करता है और 'मानस' भक्ति काव्य की सगुण धारा का। पद्मावत प्रेमाख्यान-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ काव्यग्रन्थ माना जाता है ! इसे विद्वानों ने रोमांचक महाकाव्यों की श्रेणी में माना है। यह 'रासो' की तरह विकसनशील परम्परा का महाकाव्य न होकर अलंकृत या साहित्यिक महाकाव्य है। परन्तु इसे शुद्ध रूप से अलंकृत काव्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें विकसनशील महाकाव्यों के अनेक तत्व जैसे अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियों में विश्वास, कथात्मकता आदि मिल जाते हैं। उद्देश्य की दृष्टि से 'पद्मावत' का उद्देश्य लौकिक प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की परोक्ष अनुभूति का आभास देकर मोक्ष की प्राप्ति है। और इस उद्देश्य की सिद्धि उसने मनोवैज्ञानिक और प्रतीकात्मक ढङ्ग से परोक्ष रूप से करायी है। व्यावहारिक और साहित्यिक दृष्टि से इसका उद्देश्य मानवता की स्थापना, प्रेम, उदारता, त्याग और सहिष्णुता की व्यापक भूमि पर कर व्यापक उदार मानवता का प्रसार और मानव-हृदय का विस्तार और परिष्कार करना है। "जायसी का अध्यात्मवाद व्यावहारिक दृष्टि से उदार और प्रेम-प्रवण मानवतावाद है और उसी की प्रतिष्ठा करना अर्थात् मानव-मानव को एक ही उच्च मनोभूमि पर खड़ा करके धर्म, जाति आदि की कृत्रिम दीवालों को तोड़ कर मानव मात्र को एक सूत्र में बाँधना ही पद्मावत का महान उद्देश्य है।"

अपने दार्शनिक विचारों, आध्यात्मिक अनुभूतियों और चरित्रों की विशिष्टता द्वारा जायसी ने पद्मावत में गुरुता, गाम्भीर्य और महत्व की प्रतिष्ठा की है। इसमें इस प्रकार की गम्भीर व्यंजनाएँ हैं जो कथानुक्रम में व्यवधान डाले बिना गम्भीर दर्शनिक चिन्तन और आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसके अनेक पात्र मानव-मनोवृत्तियों के प्रतीक से हैं और इस प्रतीकात्मक शैली ने इस काव्य में पर्याप्त गुरुता का समावेश कर दिया है। इसका गाम्भीर्य इसकी विविध मनोदशाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति और अनुभूतियों की सच्चाई और गहराई में निहित है। 'पद्मावत' वस्तुतः चरित-काव्यों के ढङ्ग का महाकाव्य है जिसमें नायक-नायिका के संपूर्ण जीवन का चित्रण हुआ है। इसमें महाकाव्योचित व्यापकता और उसके चित्रों में युग-जीवन का वैविध्य विस्तार के साथ मिलता है। वह अपने युग-जीवन का बहुत कुछ यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें घटना, रूप, प्रकृति-चित्रण, वस्तु, ज्ञान और उपदेश तथा मनोदशाओं के विविध चित्रण मिलते हैं। कथानक सुसंघठित और जीवन्त है। नाटकीय सन्धियों और कार्यावस्थाओं का भी इसमें पूर्ण निर्वाह हुआ है। नायक महत्वपूर्ण है तथा अन्य पात्र भी गौरव

शाली हैं। शैली गरिमामयी और उदात्त है। प्रभावान्विति और गम्भीर रस व्यंजना की दृष्टि से इसे एक सफल महाकाव्य माना जा सकता है।

'रामचरितमानस' पौराणिक महाकाव्यों की श्रेणी का महाकाव्य माना जाता है। 'महाकाव्य' शब्द की महानता एवं गौरव की दृष्टि से इसे हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माना गया है। समस्त हिन्दी-साहित्य में यही एकमात्र ऐसा महाकाव्य है जिसे समूचे समाज के दृष्टिकोण को बदलने वाले और एक अत्यन्त लोकप्रिय धर्मग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। विकसनशील महाकाव्य लोकप्रियता की दृष्टि से अलंकृत महाकाव्यों की तुलना में अधिक लोकप्रिय होते हैं परन्तु 'रामचरितमानस' इसका अपवाद है। यह अलंकृत या साहित्यिक महाकाव्य होते हुए भी 'रामायण' और महाभारत' जैसे विकसनशील महाकाव्यों से अधिक लोकप्रिय है। शिक्षित-अशिक्षित, साहित्यिक-असाहित्यिक, देशी-विदेशी आदि सभी क्षेत्रों में इसकी लोकप्रियता सबसे अधिक है। एक प्रकार से यह एक विशाल देश और एक व्यापक युग का 'मानस' बना हुआ है। धर्म ग्रन्थ एवं साहित्यिक कृति के रूप में इसका समान महत्व होने के कारण इसका गौरव इसे संसार के सम्पूर्ण महाकाव्यों में सर्वश्रेष्ठ स्थान का अधिकारी बना देता है।

'मानस' प्राचीन पौराणिक शैली के चरितकाव्यों के ढङ्ग का महाकाव्य है। एक पाश्चात्य विद्वान ने इसे हिन्दुओं का जातीय महाकाव्य कहा है। तुलसी ने इसकी रचना स्वांतः सुखाय या आत्मबोध के लिए की थी परन्तु इसके लिए उन्होंने जिस उपासना-पद्धति को अपनाया था उसका मूलाधार लोकमङ्गल था। इसलिए आत्म प्रबोध के निमित्त लिखा गया यह काव्य 'लोक-प्रबोध और लोक-हृदय के सन्देह-तम के निवारण' करने का प्रधान साधन बन गया। राम के चरित्र को इस काव्य में जो महत्व दिया गया वह लोक-कल्याण के लिए ही था। क्योंकि प्राकृत-जनों की यश-प्रशस्ति करने से लोक-हित और धर्म की सिद्धि नहीं होती। तुलसी उच्च कोटि के काव्य-मर्मज्ञ और विद्वान थे। इसलिए उनकी इस रचना में काव्य-कला और लोक-हित का सुन्दर समन्वय हो गया है। उनकी राम-भक्ति समस्त विश्व के कल्याण का एक मात्र साधन है। उनके राम भक्ति और श्रद्धा के प्रकृत आलम्बन हैं, धर्म के दृढ़ प्रतीक हैं। फल की दृष्टि से 'मानस' में धर्म ही प्रमुख है। मोक्ष तो इस धर्म की साधना से स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।

इस महान उद्देश्य, बलवती प्रेरणा-शक्ति के साथ ही काव्य-प्रतिभा की दृष्टि से भी यह महाकाव्य हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य कहलाने का अधिकारी है।

तुलसी विद्वान थे, परन्तु उन्होंने जायसी के समान सर्वत्र अपने ज्ञान का प्रदर्शन न कर 'संग्रह और त्याग' की अद्भुत क्षमता दिखाई है। और उनके इस गुण के दर्शन 'मानस' में मार्मिक कथानक के संघटन, मार्मिक स्थलों की योजना, संवाद, तत्व निरूपण और भाव-व्यंजना की सफल अभिव्यक्ति में किए जा सकते हैं। उन्होंने धर्म, सम्प्रदाय काव्य-कला आदि के विभिन्न क्षेत्रों में अद्भुत समन्वय-क्षमता का परिचय दिया है जिसके कारण उन्हें 'लोकनायक' मान लिया गया था। 'मानस' में इसी समन्वय-क्षमता के कारण अद्भुत गुरुत्व, गाम्भीर्य और महानता आ गई है। महत्कार्य और समग्र-जीवन के चित्रण की दृष्टि से 'मानस' को भारतीय-समाज का सच्चा प्रतिबिम्ब माना जाता है। महत्कार्य 'रामराज्य' की स्थापना है। युग-जीवन की समग्रता की दृष्टि से इसमें सामाजिक-सम्बन्ध, कृत्य, उत्सव आदि, धार्मिक, पौराणिक, राजनीतिक विश्वास एवं कार्य, प्रकृति-चित्रण, मानसिक दशाएँ और भावनाएँ, रूप-चित्रण, देश काल और वातावरण, आमोद-प्रमोद, परिगणनात्मक वर्णन आदि द्वारा युग-जीवन साकार हो उठा है। शैली तुलसी की दैन्य-भावना और आडम्बरहीन व्यक्तित्व की सरलता के ही अनुरूप सरल, सुबोध, रमणीय और प्रांजल है। रस-व्यंजना, अलङ्कार, छन्द आदि की दृष्टि से भी इसे सफल महाकाव्य माना जाता है। सशक्त प्राणवत्ता तथा अनवरुद्ध जीवनी शक्ति तो इसमें इतनी अधिक है कि आज यह ग्रन्थ यहाँ के लोक-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक कार्य में प्रेरणा का अनन्त स्रोत बना हुआ है।

कामायनी आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसे रूपक कथात्मक महाकाव्यों की श्रेणी का महाकाव्य माना जा सकता है। "कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य का ऐसा अमर महाकाव्य है जिसमें आधुनिक युग की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है और जो अनेक दृष्टियों से हिन्दी के ही नहीं, अपने युग के पूर्ववर्ती समस्त भारतीय महाकाव्यों से भिन्न, एक निराले स्थान का अधिकारी है।"[1] कुछ लोग तो इसे आधुनिक युग का प्रतिनिधि अथवा सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य मानते हैं। उद्देश्य की महानता की दृष्टि से यह 'मानस' का समकक्षी महाकाव्य है। 'मानस' के समान इसका उद्देश्य भी मानवतावादी और लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है। 'कामायनी' "बौद्धिकता और भौतिकता के अतिरेक से पीड़ित और विविध प्रकार के संघर्षों में टूटे हुए विश्व-मानव को चरम शान्ति का मार्ग" बताती है। इसके

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भूनाथ सिंह

अनुसार बौद्धिकता को श्रद्धा से संयमित करके ही अखंड आनन्द की उपलब्धि और विश्व शान्ति की स्थापना हो सकती है। मानव-मात्र को आनन्दमय लोक अर्थात् व्यावहारिक मोक्ष की स्थिति में पहुंचा देना ही कामायनी का महान उद्देश्य या 'फल' है। गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व की दृष्टि से इस महाकाव्य को हिन्दी-साहित्य की शाश्वत निधि माना जाता है।

यह सत्य है कि प्रसाद जी ने इस महाकाव्य की रचना में प्राचीन शास्त्रीय रूढ़ियों का पालन न कर अपना स्वतन्त्र मार्ग अपनाया है। यहाँ हम स्थानाभाव के कारण केवल इतना कहना ही अलं समझेंगे कि कामायनी प्रत्येक दृष्टि से एक अत्यन्त सफल महाकाव्य कहलाने का पूर्ण अधिकारी है।

आधुनिक युग में कामायनी के अतिरिक्त अनेक अन्य महाकाव्य भी लिखे गए हैं जिनका अपना-अपना पृथक महत्व है। इनमें प्रियप्रवास, साकेत, कृष्णायन, साकेत-संत, सिद्धार्थ, नूरजहाँ, कुरुक्षेत्र, हल्दीघाटी, जौहर, रामचरित-चिन्तामणि, पार्वती आदि प्रमुख हैं। प्रियप्रवास आदि में प्राचीन अलौकिक शक्तियों का युगानुरूप बौद्धिक विश्लेषण किया गया है। कुछ विद्वान प्रियप्रवास, साकेत आदि को महाकाव्य न मान कर 'एकार्थ-काव्य' ही मानते हैं। इनमें पौराणिक, ऐतिहासिक, रूपक आदि विभिन्न प्रकार की कथा-शैलियों वाले महाकाव्य हैं। परन्तु उद्देश्य की महानता, सन्देश की गरिमा आदि की दृष्टि से इन ग्रन्थों को अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। यद्यपि अनेक विद्वानों ने 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' की गणना वर्तमान युग के प्रमुख महाकाव्यों में की है परन्तु 'मानस', 'कामायनी' आदि की तुलना में इनका महत्व फीका पड़ जाता है। इनमें से कुछ में महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह करने का प्रयत्न मिलता है तथा कुछ में कवियों ने उनकी तरफ ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा है।

यह सत्य है कि प्रत्येक युग में ऐसा महाकाव्य एकाध ही लिखा जाता है जो युग-युग तक समाज में समादृत होता रहता है। 'मानस' और 'कामायनी' हिन्दी के ऐसे ही महाकाव्य हैं। प्रत्येक युग में अनेक महाकाव्यों की रचना होती रहती है परन्तु उन सभी को वह गौरव नहीं प्राप्त हो पाता जो 'मानस' और 'कामायनी' जैसे महाकाव्यों को प्राप्त होता है। हमने इसी कारण अन्य महाकाव्यों का विस्तृत परिचय देने का प्रयत्न नहीं किया है।

—: ० :—

४६. खंड काव्य : स्वरूप और विकास

श्रव्य काव्य के दो प्रधान भेद माने गये हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध के भी दो भेद होते हैं—महाकाव्य और खंडकाव्य। प्रबन्ध का एक तीसरा भेद और माना जाता है—काव्य या एकार्थ काव्य। हम गत निबन्ध में इन तीनों का अन्तर बताते हुए कह आए हैं कि महाकाव्य में व्यक्ति के समग्र जीवन की अभिव्यक्ति की जाती है और खंडकाव्य में जीवन के किसी एक ही रूप या पक्ष का चित्रण होता है जो महाकाव्य के समग्र जीवन का एक खंड होते हुए भी अपने आप में पूर्ण होता है। खंडकाव्य क्योंकि प्रबन्ध काव्य का एक भेद है, इसलिए उसमें एक कथा होती है और उस कथा में एक तारतम्य रहता है किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की अनेक रूपता का समग्र चित्रण नहीं होता जो महाकाव्य की विशेषता है।

संस्कृत के आचार्यों ने खंडकाव्य को अधिक महत्व न देकर महाकाव्य का ही विशद् विवेचन किया है। इसीलिए खंडकाव्य-सम्बन्धी विवेचन संस्कृत में बहुत कम मिलता है। विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध समीक्षा ग्रन्थ 'काव्य दर्पण' में खंडकाव्य का सूक्ष्म विवेचन करते हुए लिखा है—"खंडकाव्यं भवेत् काव्यस्यैक देशानुसारि च।" अर्थात् महाकाव्य के एक देश या अंश का चित्रण या अनुसरण करने वाला काव्य खंडकाव्य कहलाता है। उन्होंने इसका दूसरा लक्षण बताते हुए कहा है कि—"तत्तु घटना प्राधान्यात् खंडकाव्यमिति स्मृतम्।" अर्थात् खंडकाव्य वह है जो किसी घटना विशेष को लेकर लिखा गया हो। इन परिभाषाओं से यह ध्वनि निकलती है कि खंडकाव्य में एक ही घटना की प्रधानता होती है और उसमें मानव-जीवन के एक ही अङ्ग का चित्रण किया जाता है।

'खंड' शब्द को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर लिखा गया है कि—"खंडकाव्य के खंड शब्द का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह बिखरा हुआ अथवा किसी महाकाव्य का एक खंड है। प्रत्युत यह 'खंड' शब्द उस अनुभूति के स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसमें जीवन अपने सम्पूर्ण रूप में कवि को प्रभावित न कर आंशिक या खंडरूप में ही प्रभावित करता है।"[1]

---

१. काव्य रूपों के मूलस्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे।

उपर्युक्त व्याख्या संगत नहीं प्रतीत होती। 'खंड' शब्द का यह अर्थ तो किसी ने भी नहीं लिया कि वह बिखरा हुआ होता है। खंडकाव्य क्योंकि प्रबन्ध काव्य का एक भेद है इसलिए उसमें कथाश्रित सुसम्बद्धता का होना पहली शर्त है। दूसरी बात यह कि उसमें समग्र जीवन का एक ऐसा खंडचित्र होता है जो अपनी किसी विशेषता द्वारा कवि को अधिक प्रभावित करता है। इसलिए खंडकाव्य को महाकाव्य में वर्णित समग्र जीवन के एक खंड का चित्र मानना पड़ेगा। अभी तक जितने भी खंडकाव्य देखने में आए हैं वे सभी किसी न किसी महाकाव्य में वर्णित किसी विशिष्ट उपकथा पर ही आधारित रहे हैं। खंडकाव्यों के रचयिताओं ने प्रायः किसी पौराणिक या इतिहासप्रसिद्ध चरित्र के जीवनांश को लेकर ही रचनायें की हैं। कुछ खंडकाव्य ऐसे भी लिखे गए हैं जिनमें कवि ने अपनी मौलिक कल्पना द्वारा किसी चरित्र का निर्माण कर उसके एक जीवनखंड का चित्रण किया है।

फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खंडकाव्य महाकाव्य में वर्णित किसी एक विशिष्ट घटना या चरित्र को ही अपना आधार बना कर लिखा जाता है। इसमें अपवादों का होना असम्भव नहीं है परन्तु ऐसे अपवादों की संख्या बहुत न्यून है। रामनरेश त्रिपाठी का एक खंडकाव्य 'पथिक' ऐसा है जो शुद्ध कल्पना कर आधारित है। इसलिए हम खण्डकाव्य के लिए महाकाव्य के उस नियम को सर्वत्र आवश्यक नहीं मान सकते कि उसमें किसी पौराणिक अथवा इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति का ही वर्णन हो।

खण्डकाव्य और महाकाव्य का भेद कहानी और उपन्यास के भेद के समान है। उपन्यास में किसी पात्र, देश या युग-विशेष का समग्र चित्रण होता है। कहानी उस समग्र जीवन में से किसी एक हृदयग्राही घटना, पात्र आदि का ही चित्रण करती है। कथा दोनों में होती है परन्तु उपन्यास का कथा-प्रवाह मन्द होता है जबकि कहानी का तीव्र। उपन्यास किसी महान सन्देश या उद्देश्य की घोषणा करता है जबकि कहानी अनुभूति के किसी एक ही मार्मिक क्षण का चित्रण कर पाठक को अभिभूत कर देती है। इसी प्रकार की स्थिति महाकाव्य और खण्डकाव्य की है। खण्डकाव्य महाकाव्य की किसी एक ही घटना या चरित्र को अपना आधार बनाकर चलता है। महाकाव्य की अपेक्षा आकार में लघु होने के कारण उसमें महाकाव्य के से विस्तृत वर्णनों के लिए स्थान नहीं रहता। वह कहानी के समान वर्णनों के विस्तार से बचता हुआ अपना केन्द्रबिन्दु किसी एक घटना या पात्र विशेष को ही बना कर चलता है। इसलिए उसकी गति में महाकाव्य की अपेक्षा अधिक क्षिप्रता रहती है।

कथा-संगठन की दृष्टि से भी दोनों में बहुत अन्तर है। महाकाव्य की

४९. खंड काव्य : स्वरूप और विकास

श्रव्य काव्य के दो प्रधान भेद माने गये हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध के भी दो भेद होते हैं—महाकाव्य और खंडकाव्य। प्रबन्ध का एक तीसरा भेद और माना जाता है—काव्य या एकार्थ काव्य। हम गत निबन्ध में इन तीनों का अन्तर बताते हुए कह आए हैं कि महाकाव्य में व्यक्ति के समग्र जीवन की अभिव्यक्ति की जाती है और खंडकाव्य में जीवन के किसी एक ही रूप या पक्ष का चित्रण होता है जो महाकाव्य के समग्र जीवन का एक खंड होते हुए भी अपने आप में पूर्ण होता है। खंडकाव्य क्योंकि प्रबन्ध काव्य का एक भेद है, इसलिए उसमें एक कथा होती है और उस कथा में एक तारतम्य रहता है किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की अनेक रूपता का समग्र चित्रण नहीं होता जो महाकाव्य की विशेषता है।

संस्कृत के आचार्यों ने खंडकाव्य को अधिक महत्व न देकर महाकाव्य का ही विशद् विवेचन किया है। इसीलिए खंडकाव्य-सम्बन्धी विवेचन संस्कृत में बहुत कम मिलता है। विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध समीक्षा ग्रन्थ 'काव्य दर्पण' में खंडकाव्य का सूक्ष्म विवेचन करते हुए लिखा है—"खंडकाव्यं भवेत् काव्यस्यैक देशानुसारि च।" अर्थात् महाकाव्य के एक देश या अंश का चित्रण या अनुसरण करने वाला काव्य खंडकाव्य कहलाता है। उन्होंने इसका दूसरा लक्षण बताते हुए कहा है कि—"तत्तु घटना प्राधान्यात् खंडकाव्यमिति स्मृतम्।" अर्थात् खंडकाव्य वह है जो किसी घटना विशेष को लेकर लिखा गया हो। इन परिभाषाओं से यह ध्वनि निकलती है कि खंडकाव्य में एक ही घटना की प्रधानता होती है और उसमें मानव-जीवन के एक ही अङ्ग का चित्रण किया जाता है।

'खंड' शब्द को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर लिखा गया है कि—"खंडकाव्य के खंड शब्द का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह बिखरा हुआ अथवा किसी महाकाव्य का एक खंड है। प्रत्युत यह 'खंड' शब्द उस अनुभूति के स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसमें जीवन अपने सम्पूर्ण रूप में कवि को प्रभावित न कर आंशिक या खंडरूप में ही प्रभावित करता है।"[१]

---

१. काव्य रूपों के मूलस्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे।

उपर्युक्त व्याख्या संगत नहीं प्रतीत होती । 'खंड' शब्द का यह अर्थ तो किसी ने भी नहीं लिया कि वह बिखरा हुआ होता है । खंडकाव्य क्योंकि प्रबन्ध काव्य का एक भेद है इसलिए उसमें कथाश्रित सुसम्बद्धता का होना पहली शर्त है । दूसरी बात यह कि उसमें समग्र जीवन का एक ऐसा खंडचित्र होता है जो अपनी किसी विशेषता द्वारा कवि को अधिक प्रभावित करता है । इसलिए खंडकाव्य को महाकाव्य में वर्णित समग्र जीवन के एक खंड का चित्र मानना पड़ेगा । अभी तक जितने भी खंडकाव्य देखने में आए हैं वे सभी किसी न किसी महाकाव्य में वर्णित किसी विशिष्ट उपकथा पर ही आधारित रहे हैं । खंडकाव्यों के रचयिताओं ने प्रायः किसी पौराणिक या इतिहासप्रसिद्ध चरित्र के जीवनांश को लेकर ही रचनायें की हैं । कुछ खंडकाव्य ऐसे भी लिखे गए हैं जिनमें कवि ने अपनी मौलिक कल्पना द्वारा किसी चरित्र का निर्माण कर उसके एक जीवनखंड का चित्रण किया है ।

फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खंडकाव्य महाकाव्य में वर्णित किसी एक विशिष्ट घटना या चरित्र को ही अपना आधार बना कर लिखा जाता है । इसमें अपवादों का होना असम्भव नहीं है परन्तु ऐसे अपवादों की संख्या बहुत न्यून है । रामनरेश त्रिपाठी का एक खंडकाव्य 'पथिक' ऐसा है जो शुद्ध कल्पना कर आधारित है । इसलिए हम खण्डकाव्य के लिए महाकाव्य के उस नियम को सर्वत्र आवश्यक नहीं मान सकते कि उसमें किसी पौराणिक अथवा इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति का ही वर्णन हो ।

खण्डकाव्य और महाकाव्य का भेद कहानी और उपन्यास के भेद के समान है । उपन्यास में किसी पात्र, देश या युग-विशेष का समग्र चित्रण होता है । कहानी उस समग्र जीवन में से किसी एक हृदयग्राही घटना, पात्र आदि का ही चित्रण करती है । कथा दोनों में होती है परन्तु उपन्यास का कथा-प्रवाह मन्द होता है जबकि कहानी का तीव्र । उपन्यास किसी महान सन्देश या उद्देश्य की घोषणा करता है जबकि कहानी अनुभूति के किसी एक ही मार्मिक क्षण का चित्रण कर पाठक को अभिभूत कर देती है । इसी प्रकार की स्थिति महाकाव्य और खण्डकाव्य की है । खण्डकाव्य महाकाव्य की किसी एक ही घटना या चरित्र को अपना आधार बनाकर चलता है । महाकाव्य की अपेक्षा आकार में लघु होने के कारण उसमें महाकाव्य के से विस्तृत वर्णनों के लिए स्थान नहीं रहता । वह कहानी के समान वर्णनों के विस्तार से बचता हुआ अपना केन्द्रबिन्दु किसी एक घटना या पात्र विशेष को ही बना कर चलता है । इसलिए उसकी गति में महाकाव्य की अपेक्षा अधिक क्षिप्रता रहती है ।

कथा-संगठन की दृष्टि से भी दोनों में बहुत अन्तर है । महाकाव्य की

कथा विस्तृत, सुसंघठित और सुव्यवस्थित होती है। वह जीवन के समस्त उत्थान और पतन को लेकर चलता है जिसमें मूलकथा के साथ अनेक प्रासंगिक कथायें आ जाती हैं और इन समस्त कथाओं को आपस में सम्बद्ध करने के लिए महाकाव्य में नाटकीय सन्धियों का निर्वाह होना इसी कारण अत्यावश्यक बताया गया है। खण्डकाव्य में केवल एक ही कथा होती है। उसमें इस सीमित क्षेत्र के कारण जीवन के विविध पक्षों का दिग्दर्शन नहीं कराया जाता। वहाँ प्रासंगिक कथाओं के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसलिए उसकी कथा कहानी के समान तीव्रगति से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। कथा संघठन आवश्यक तो खण्डकाव्य के लिए भी है परन्तु अपने संक्षिप्त कलेवर के कारण उसमें कथा के विशृङ्खलित होने का वैसा भय नहीं रहता जैसा कि महाकाव्य में रहता है।

महाकाव्य में सर्ग-विभाजन का होना अनिवार्य माना जाता है। आकार की विशालता, बहुमुखी चित्रण, अनेक कथाओं आदि के कारण महाकाव्य को अनेक खण्डों या सर्गों में विभक्त करना आवश्यक हो जाता है। परन्तु खण्ड-काव्य के लिए सर्गों में विभाजित होना आवश्यक नहीं है। उसमें कथा की धारा आद्यन्त एकरस भी चल सकती है और सर्गों में विभाजित होकर भी। छन्दों के क्षेत्र में खण्डकाव्य महाकाव्य के समान विभिन्न छन्दों में बँध कर नहीं चलता। खण्डकाव्य में प्रायः एक ही छन्द का आद्यन्त प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार खण्डकाव्य और महाकाव्य के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर होता है। खण्डकाव्य में न तो महाकाव्य जैसा विस्तार होता है और न अनेक घट-नाओं एवं दृश्य विधान को वैसा विस्तार ही दिया जाता है। उसमें कथा चाहे छोटी हो या बड़ी, विस्तार कम होने अथवा जीवन का एक खण्ड चित्र चित्रित होने के कारण ही उसे खण्डकाव्य कहा जाता है। महाकाव्य में विस्तृत कथा-उपकथायें होती हैं, नायक एक अथवा अनेक होते हैं जैसे 'रघुवंश' में, एक वंश की कई पीढ़ियों का चित्रण होता है, एक ही व्यक्ति के समग्र जीवन का चित्रण होता है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि इसी दृष्टि से महाकाव्य माने गये हैं। परन्तु कथा का विस्तृत होना, महाकाव्य का आवश्यक तत्व होते हुए भी उसका पूर्ण निर्वाह सभी महाकाव्यों में नहीं हुआ है। जैसे भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपाल वध' तथा श्रीहर्ष का 'नैषधीय' ऐसे महाकाव्य हैं जिनकी कथायें लघु हैं परन्तु फिर भी ये महाकाव्य माने गये हैं। इनमें घटना की कमी को विविध प्रकार के वर्णनों द्वारा पूरा किया गया है। यही नियम खण्डकाव्य पर भी लागू किया जा सकता है। उसमें कथा का

रूप मूलतः लघु होता ही है परन्तु ऐसे काव्य भी खण्डकाव्य माने गये हैं जिनमें कथा का तन्तु अत्यन्त क्षीण होता है, जैसे कालिदास का 'मेघदूत'। वहाँ भी कथा की कमी को वर्णनों द्वारा पूरा किया गया है। इस प्रकार आकार के आधार पर हम खण्डकाव्य की परिभाषा इस प्रकार निश्चित कर सकते हैं—जिस काव्य में कुछ कथा हो, कुछ वर्णन हों, जिसमें कथा का अधिक विस्तार न हो और न वर्णनों का ही, ऐसा लघु काव्य खण्डकाव्य कहलाने का अधिकारी है।

आकार के अतिरिक्त समग्र जीवन के चित्रण को महाकाव्य की सर्वप्रधान विशेषता माना गया है। इसी आधार पर समीक्षक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जिस काव्य में जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण हो वह महाकाव्य और जिसमें जीवन के एक ही पक्ष का चित्रण हो वह खण्डकाव्य माना जायेगा। इस नियम को भी यथावत् लागू नहीं किया जा सकता। क्योंकि श्रीहर्ष के 'नैषधीय' में केवल नल-दमयन्ती की एक ही प्रेम कथा का वर्णन किया गया है तथा माघ के 'शिशुपाल वध' में केवल शिशुपाल के वध की ही कथा है। इस प्रकार इन महाकाव्यों में समग्र जीवन का चित्रण नहीं मिलता और फिर भी इन्हें महाकाव्य की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इसका कारण यह है कि इनमें कथावस्तु आकार की दृष्टि से लघु अवश्य है परन्तु वार्तालापों, वर्णनों आदि के द्वारा इनमें जीवन की विविधता के दर्शन अवश्य हो जाते हैं परन्तु उस मात्रा में नहीं जितना कि रामायण, महाभारत आदि में हैं। इसी कारण इन्हें खण्डकाव्य न मानकर महाकाव्य माना गया है। क्योंकि खण्ड-काव्यों का क्षेत्र इनकी अपेक्षा अधिक लघु और संक्षिप्त होता है। वहाँ न तो विस्तृत वर्णनों की गुंजाइश रहती है और न लम्बे-लम्बे वार्तालापों की ही।

हिन्दी तथा संस्कृत में कुछ ऐसे खण्डकाव्य भी मिलते हैं जिनमें कथा का तंतु अत्यंत क्षीण होता है। उनके कवि की अनुभूति ही प्रधान है, न कि कथा। कालिदास का 'मेघदूत' ऐसा ही अनुभूति प्रधान काव्य है। हम 'मेघदूत' को तभी खण्डकाव्य मान सकेंगे जब उसकी परीक्षा खण्डकाव्य के व्यापक अर्थों के आधार पर करेंगे क्योंकि 'मेघदूत' कथाकाव्य न होकर 'गीत काव्य' ही अधिक है। हिन्दी में नन्ददास का 'भँवरगीत', रत्नाकर का 'उद्धव' शतक आदि इसी प्रकार के खण्डकाव्य हैं जिनमें कथा का तन्तु अत्यन्त क्षीण होते हुए भी उनमें कथा की एक सुसम्बद्धता मिल जाती है।

खण्डकाव्य के इसी पक्ष को अधिक स्पष्ट करते हुए डा० शकुन्तला दुबे ने लिखा है—"खण्डकाव्य की प्रेरणा के मूल में अनुभूति का स्वरूप एक सम्पूर्ण जीवन खण्ड की प्रभावात्मकता से बनता है। जीवन के मर्मस्पर्शी खण्ड का

बोधमात्र कवि के हृदय में नहीं होता, प्रत्युत उसका समन्वित प्रभाव उसके हृदय पर पड़ता है। तब प्रेरणा के बल पर जो रूप खड़ा होता है वह खण्ड-काव्य कहलाता है। कहीं इस जीवन-खण्ड की विस्तार-सीमा अधिक होती है, तो कहीं उसकी परिधि छोटी होती है; जिससे खण्डकाव्य का कथानक कहीं बहुत बड़ा होता है, तो कहीं बहुत छोटा। किन्तु कथा के इस विस्तार एवं संकोच के तारतम्य से खण्डकाव्य की महत्ता नहीं आँकी जाती; क्योंकि जीवन के किसी एक अंग को स्पर्श करने वाला खण्ड काव्य अपनी छोटी सी परिधि में भी चमक उठता है।"[1]

विद्वानों खण्डकाव्यों का विवेचन करते हुए उनके कई प्रकार निश्चित किए हैं। लोकरुचि के अनुसार खण्डकाव्य का रूप भी परिवर्तित होता रहा है। कभी उसमें लोक-रंजन की प्रवृत्ति की प्रधानता रही है और कभी वह केवल साहित्य-मर्मज्ञों के ही उपभोग की सामग्री बनकर रह गया है। डा० शकुन्तला दुबे ने हिन्दी खण्डकाव्य को सामान्यतः दो प्रधान रूपों में विभाजित माना है—१—लोक से उद्‌भूत लोकरञ्जन के लिए निर्मित खण्डकाव्य तथा २—देशी या विदेशी काव्य-परम्परा से उद्‌भूत साहित्य—मर्मज्ञ सहृदयों के लिए निर्मित खण्डकाव्य। प्रथम प्रकार के उन्होंने दो उपभेद और माने हैं—१—लोकदृष्टि प्रधान खण्डकाव्य तथा २—कवि-प्रधान या व्यक्तित्व-प्रधान खण्ड-काव्य। लोकदृष्टि प्रधान खण्डकाव्यों में कवि का व्यक्तित्व गौण रहता है। अधिक से अधिक मनोरंजन की सामग्री देना ही कवि का प्रधान लक्ष्य रहता है। इनमें लोक-प्रचलित कथाओं से प्रेरणा ली जाती है। इन खंडकाव्यों के भी दो प्रकार मिलते हैं—१—वीर भावात्मक और २—प्रेम-प्रधान। वीर भावात्मक खंडकाव्यों में 'खुमानरासो', 'बीसलदेव रासो' आदि की गणना होती है। प्रेम-प्रधान खंडकाव्यों के भी दो रूप मिलते हैं—१—लौकिक प्रेमभावात्मक तथा २—भक्ति मूलक। लौकिक प्रेम भावात्मक खंडकाव्यों में हरराज कवि का 'ढोलामारवणी चउपई', कुशललाभ की 'माधवानल काम-कन्दला' आदि माने जाते हैं। भक्तिमूलक खंडकाव्यों में राम-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से सम्बन्धित काव्यों की गणना होती है जैसे सूर की 'बिसातिन लीला', 'नागलीला', 'दानलीला' आदि। एसे खंडकाव्यों में लोकगीतों का सहज सौन्दर्य होता है।

कवि-प्रधान या व्यक्तित्व प्रधान खण्डकाव्यों में कवि का अपना व्यक्तित्व मुखरित हो उठता है। इसमें कवि सचेत होकर अपने काव्य को अधिकाधिक मनोरम और कलापूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है। वह काव्य-निर्माण करता

१—काव्य रूपों के मूलस्त्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे।

तो साधारण जनता के लिए ही है परन्तु कलात्मकता के प्रति भी उसकी दृष्टि उन्मुख रहती है। इसलिए उसकी भाषा, शैली और भावाभिव्यक्ति में एक अद्भुत सौष्ठव आ जाता है। उसकी कृति में सहज भाव की पूर्ण रक्षा होते हुए भी एक विशिष्ट सौंदर्य आ जाता है। और इस कला द्वारा उसकी कृति में रस परिपाक की एक अद्भुत क्षमता आ भी जाती है। ऐसी कृतियों में प्रेम, करुणा, हर्ष, शोक, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष आदि भावों की सहज-व्यंजना ही प्रधान रहती है। इनमें और लौकिक दृष्टि प्रधान काव्यों में वही अन्तर रहता है जो लोकगीतों की सहज-स्वाभाविकता युक्त अकृत्रिमता तथा साहित्यिक-गीतों की सहज कलात्मकता में होता है।

कवि-प्रधान खण्डकाव्यों के भी दो भेद माने गये हैं—(१) प्रेम-प्रधान, तथा (२) भक्ति-प्रधान। प्रेम-प्रधान खण्डकाव्य लोक-प्रचलित दन्त-कथाओं को ही आधार बना कर रचे गए हैं। इनका मूलरूप लोकगीतों के रूप में रहता है और कवि उनके मूल में स्थित कथा का हल्का सा आधार लेकर ही ऐसे कथात्मक गीतों का सृजन करता है जिनमें संयोग और वियोग के बड़े मनोरम चित्र होते हैं। मेघदूत, हंसदूत, पवनदूत आदि काव्यों की रचना में यही मूल प्रवृति कार्यरत थी। प्रेमप्रधान खण्डकाव्यों के दो रूप मिलते हैं। एक तो वह जिनमें "भावना एवं काव्य-रूप बिल्कुल अपने सहज रूप में तो दिखाई पड़ा किन्तु उन पर सूफी प्रभाव भी था," तथा दूसरा वह जो पूर्णतः लोकगीतों की स्वच्छन्द परम्परा के आधार पर रचे गए थे।

सूफी प्रेम भावना पूर्ण खंडकाव्यों में 'प्रेम की पीर' जगाकर व्यक्ति के द्वेष भाव को दूर करने का प्रयत्न मिलता है। यह 'प्रेम की पीर' उस परम तत्व के विरह के कारण ही उत्पन्न होती है। सूफी कवियों ने लोकप्रसिद्ध भारतीय कथाओं को आधार बनाकर इसी की व्यंजना की थी। इनके रूप-वर्णन एवं प्रकृति-वर्णन की शैली आध्यात्मिक संकेतों से ओतप्रोत थी। इनमें वर्णन के मोह के साथ-साथ कथा की ओर भी कवियों का पर्याप्त ध्यान रहा था। इस प्रकार के खण्डकाव्यों में कुतवन की 'मृगावती', मंझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली', कासिमशाह की 'हंस जवाहर', नूरमुहम्मद की 'इन्द्रावती' शेखनिसार की 'यूसुफ़ ज़ुलेखा' तथा आलम का 'माधवानल कामकन्दला' आदि खंडकाव्यों की गणना की जाती है। पुहकर कवि का 'रसरतन', दुखहरनदास की 'पुहुपावनी', सूरदास का 'नलदमन काव्य', बोधा का 'विरहवारीश' आदि खण्डकाव्यों की गणना भी इसी कोटि के खण्डकाव्यों में की जाती है। इनके रचयिता हिन्दू थे इसलिए इनमें सूफी-सिद्धान्त निरूपण की भावना नहीं मिलती। इन खंडकाव्यों पर काव्य-पद्धति की दृष्टि से अपभ्रंश के चरित काव्यों

का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है यद्यपि वे फारसी की मसनवी-पद्धति के प्रभाव से भी अछूते नहीं हैं।

स्वच्छन्द प्रेम-प्रधान खंडकाव्य सूफी प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हैं। इनकी भावाभिव्यक्ति लोकगीतों की सहज-स्वाभाविक पद्धति पर हुई है। इनमें कला का मोह न के बराबर है; मानव-भावनाएं अपने प्रकृत रूप में ही प्रकट हुई हैं। 'ढोला मारू रा दोहा' इसी प्रकार का खंडकाव्य माना जाता है। सूफी प्रेम प्रधान तथा स्वच्छन्द प्रेम-प्रधान खंडकाव्यों में विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता। अन्तर केवल वहीं मिलता है जहाँ "प्रबन्ध के अन्तर्गत नियोजित वर्णनों के हल्के से संकेत में सूफी खंडकाव्य फारसी की मसनवियों के निकट जा पहुँचते हैं, वहाँ स्वच्छन्द प्रेम प्रधान खण्डकाव्य सीधी-सादी शैली में उन्मुक्त लोकगीतों से हिलमिल जाते हैं।"[१]

कवि या व्यक्तित्व प्रधान खंडकाव्यों का दूसरा प्रधान भेद भक्ति-प्रधान खंडकाव्यों का है। इनमें विषय और चरित्र अलौकिक होते हुए भी काव्य-रूप की दृष्टि से इनमें कोई मौलिकता नहीं मिलती। इन खंडकाव्यों में तुलसीदास का 'नहछू', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल', नन्ददास का 'भँवरगीत', 'रास पंचाध्यायी'; नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित'; पृथ्वीराज की 'क्रिसन रुक्मिणी री बेल'; ब्रजवासीदास का 'ब्रज विलास' आदि की गणना की जाती है। इनकी कथा-वस्तु पौराणिक है। इनमें वर्णनात्मक तत्व की ही प्रधानता है, कथा-तत्व क्षीण है। केवल नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित' ही इनमें एक ऐसा खंडकाव्य है जिसमें कवि ने वर्णन के मोह से मुक्ति पाकर संवादात्मक शैली में रचना की है। इसी कारण वह अपनी मर्मस्पर्शिता के लिए हिन्दी का अद्वितीय खंडकाव्य माना जा सकता है। यद्यपि संवादात्मक शैली नन्ददास के 'भंवरगीत' में भी प्रयुक्त हुई है परन्तु फिर भी मर्मस्पर्शिता की दृष्टि से वह 'सुदामा चरित' की तुलना में उतना उत्कृष्ट नहीं बन पड़ा है, भले ही काव्य कला की दृष्टि से उसका महत्व अधिक हो।

हिन्दी के खंडकाव्यों का दूसरा प्रधान वर्ग वह है जिसमें देशी-विदेशी काव्य-परम्परा से उद्भूत साहित्य मर्मज्ञों के लिए खंडकाव्य लिखे गए हैं। लोक से उद्भूत लोकरंजन के लिए निर्मित खंडकाव्यों का रचना काल हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदिकाल और मध्यकाल ही रहा है। मध्यकाल के अन्तिम भाग में कुछ ऐसे खंडकाव्य लिखे गए जिनमें से कुछ में साहित्यिक-परम्परा का अनुगमन किया गया था, कुछ प्राचीन वीर काव्यों की शैली को अपना कर चले थे तथा कुछ में एक नितान्त नवीन शैली को अपनाया गया था। मध्य-

१—काव्य रूपों के मूलस्रोत और उनका विकास—डॉ० शकुन्तला दुबे।

काल के उत्तरार्द्ध एवं आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में जो खंडकाव्य लिखे गए उन्हें हम शैली की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) प्राचीन शैली के खंडकाव्य तथा (२) नवीन शैली के खंडकाव्य। इनकी रचना उक्त दोनों ही युगों में प्रचुर मात्रा में हुई है। मध्य काल के उत्तरार्द्ध में अनेक ऐसे खंडकाव्य लिखे गए जिनमें से कुछ की शैली वीर काव्यों की शैली थी तथा कुछ में स्वतंत्र शैली को अपनाया गया था परन्तु जिस पर वीरकाव्य की शैली का भी पर्याप्त प्रभाव रहा था।

'वीरकाव्य' की शैली पर लिखे गए खण्डकाव्यों में सूदन का 'सुजान चरित', जोधराज का 'हम्मीर रासो', चन्द्रशेखर का 'हम्मीरहठ' केशवदास का 'वीरसिंह देव चरित' आदि माने जाते हैं। इनमें विषय वस्तु वीररसात्मक प्रसंगों से ली गई है जिसमें प्रेम-कथा का भी अपना विशिष्ट महत्व रहा है। इसी कारण इनमें वीररस के साथ-साथ शृङ्गार का भी सुन्दर संयोग हो गया है। इनकी शैली वर्णनात्मक है। विकास की दृष्टि से इन्हें अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि ये प्राय: आश्रयदाता राजाओं की विरुदावली-गान बन कर रह गए हैं।

आधुनिक युग में भी ऐसे खंडकाव्य रचे गए जो वर्णन की दृष्टि से तो वीरकाव्यों की शैली को स्पर्श करते हैं। इनका विषय निर्वाचन भी उन्हीं के समान युद्ध और प्रेम है। परन्तु इनमें वर्णनों को अधिक विस्तार नहीं दिया गया है। इनके कवि काव्यरूपों के प्रति अधिक सचेत दिखाई पड़ते हैं। इसी कारण इन खंडकाव्यों में नाटकीयता का समावेश अधिक मात्रा में किया गया है तथा कथा-प्रवाह में अनुपात का ध्यान अधिक रखा गया है। देशभक्ति की भावना इनका प्रमुख स्वर है। शैली आदि की दृष्टि से भी ये पुराने खंडकाव्यों से कुछ अंशों में भिन्न प्रतीत होते हैं। ऐसे खंडकाव्यों में मैथिलीशरण गुप्त के 'रंग में भंग', 'विकट भट', 'सिद्धराज', 'पलासी का युद्ध' तथा सियारामशरण गुप्त के 'मौर्य विजय', आदि की गणना की जाती है।

आधुनिक युग के नवीन शैली के खंडकाव्यों में साहित्य की यह विधा अपने पूर्ण कलात्मक विकास के साथ दिखाई पड़ती है। नवीन शैली के ये खंडकाव्य भी दो प्रकार के माने जा सकते हैं। इनका पहला प्रकार वह है जिसमें विस्तृत वर्णनात्मक शैली को अपनाया गया है तथा दूसरे प्रकार में संक्षिप्त प्रभावात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। विस्तृत वर्णनात्मक शैली में लिखे गए खंडकाव्यों में श्यामनारायण पांडेय का 'हल्दीघाटी', तथा 'जौहर' प्रमुख माने जाते हैं। डा० शकुन्तला दुबे गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ' को भी इसी श्रेणी का खंडकाव्य मानती हैं जबकि कुछ आलोचकों ने 'नूरजहाँ' को महा-

काव्य माना है । इसकी वर्णन शैली इतनी अधिक विस्तृत है कि इसके महाकाव्य होने का सन्देह होने लगता है । 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' की शैली वीर रसात्मक खंडकाव्यों जैसी ओजस्वी है । काव्यकला की दृष्टि से भी इनका अपना विशिष्ट महत्व है । कथावस्तु को सर्गों में विभाजित कर सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है । घटनाओं के साथ-साथ पात्रों का चरित्र-चित्रण भी उत्तरोत्तर विकसित होता चला गया है । ये खण्डकाव्य भाव, भाषा और विधान की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के काव्य माने जा सकते हैं ।

संक्षिप्त प्रभावात्मक शैली के खंडकाव्यों में मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ वध', 'नहुष', 'शकुन्तला', रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'स्वप्न', 'मिलन'; जगन्नाथदास रत्नाकर के 'गंगावतरण', 'हरिश्चन्द्र' आदि की गणना होती है । ये सभी सर्गबद्ध शैली में लिखे गए है । गुप्त जी के 'नहुष' में मनोविश्लेषण की शैली अपनाई गई है । त्रिपाठी जी के उपर्युक्त तीनों खंडकाव्य पौराणिक न होकर कल्पनाप्रसूत हैं तथा शेष पौराणिक या ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित हैं । इनकी एक दूसरी विशेषता यह है कि इनमें हृदय के अन्तर्द्वन्द्वों का सुन्दर चित्रण हुआ है । विशेष रूप से 'नहुष' में कथात्मकता का आग्रह कम और मानसिक घात-प्रतिघातों का मोह अधिक है ।

संक्षिप्त प्रभावात्मक शैली में कुछ ऐसे खंडकाव्य भी लिखे गए हैं जो सर्गबद्ध नहीं हैं । इस शैली में कुछ खण्डकाव्य तो ऐसे लिखे गए हैं जो इतिवृत्तात्मक हैं जैसे गुप्त जी की 'पंचवटी' तथा कुछ ऐसे हैं जिनमें बौद्धिकता का प्राधान्य है जैसे निराला का 'तुलसीदास' । 'पंचवटी' में प्रकृति-वर्णन एवं कथोपकथन के सौन्दर्य की ओर कवि का ध्यान अधिक रहा है । निराला का 'तुलसीदास' शुद्ध मनोविज्ञान पर आधारित एक ऐसा खण्डकाव्य है जिसमें कथातत्व ऊपर से देखने पर गौण प्रतीत होता है परन्तु कवि ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पृष्ठभूमि में कथा का ऐसा सूक्ष्म ताना-बाना बुना है कि कथा का प्रवाह कहीं भी नहीं टूटने पाता । यद्यपि गुप्तजी ने 'नहुष' में इसी शैली को अपनाने का प्रयत्न किया है परन्त वहाँ कवि अपनी ओर से कुछ भी नहीं कह पाता । 'तुलसीदास' का कवि बाह्य प्रकृति के साथ अन्तः प्रकृति का भी सुन्दर उद्घाटन करता चलता है और इन दोनों के सन्तुलित समन्वय द्वारा वह एक ऐसे महान् निष्कर्ष पर पहुँचता है जिसकी कल्पना भी पाठक ने कभी नहीं की थी । 'तुलसीदास' छायावादी शैली का सर्वोत्कृष्ट खण्डकाव्य माना जा सकता है । इस नवीन शैली का कवि प्रख्यात कथाओं के ऐसे मार्मिक बिन्दुओं को ढूँढ़ निकालता है जिनमें आन्तरिक और बाह्य जगत के अन्तर्द्वन्द्वों का सफल चित्रण अत्यन्त कलात्मक काव्य कौशल के द्वारा एक अभिनव काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि कर देता है । इसमें

कथा गौण हो जाती है, वर्णन का आग्रह नहीं रहता परन्तु आभ्यन्तरिक भाव-व्यंजना पद्धति इसकी प्रभावात्मकता को कई गुना अधिक बढ़ा देती है।

काल्पनिक कथावस्तु को लेकर लिखे गए खण्डकाव्यों में रामनरेश त्रिपाठी के तीनों खण्डकाव्य 'पथिक', 'मिलन' तथा 'स्वप्न' हिन्दी में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी भावपूर्ण वर्णन शैली एक अद्भुत चमत्कार और सरसता उत्पन्न कर देती है। गुप्त जी का 'जयद्रथ-वध' शास्त्रीय लक्षणों पर आधारित एक अत्यन्त सफल खण्डकाव्य है। इसमें प्रसंगानुकूल प्रवाहमयी भाषा द्वारा वीर और करुण रस की ऐसी धारा प्रवाहित की गई है जो पाठक को सहज ही अभिभूत कर देती है।

नवीन ढङ्ग के खण्डकाव्यों में 'नवीन' जी का 'विस्मृत उर्मिला', डाक्टर रामकुमार वर्मा का 'चित्तौड़ की चिता' आदि सफल एवं कलापूर्ण खण्डकाव्य हैं। पन्तजी की 'ग्रन्थि' भी अपने ढङ्ग का एक अनुपम खंडकाव्य माना जा सकता है जिसमें छायावादी शैली का उत्कर्ष दर्शनीय है। इसकी कथा एक काल्पनिक प्रेमकथा पर आधारित है।

हिन्दी के सम्पूर्ण खंडकाव्यों में कुछ खंडकाव्य ऐसे हैं जिन्हें सहज ही हिन्दी की श्रेष्ठ काव्य कृतियाँ स्वीकार किया जा सकता है। नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित', रामनरेश त्रिपाठी के उपर्युक्त तीनों खंडकाव्य, गुप्तजी का 'जयद्रथ वध' एवं 'पंचवटी', निराला का 'तुलसीदास' तथा पंत के 'ग्रन्थि' की गणना हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ खण्डकाव्यों में की जा सकती है।

खण्डकाव्यों के इस विवेचन के उपरान्त हम इनसे सम्बन्धित दो-एक प्रश्नों पर और विचार करना चाहेंगे। पहला प्रश्न यह है कि क्या नन्ददास के 'भ्रमरगीत', रत्नाकर के 'उद्धव शतक' आदि ग्रन्थों को भी खण्डकाव्य माना जा सकता है या नहीं। क्योंकि कुछ आलोचकों ने इन्हें खण्डकाव्य माना है। खण्डकाव्य प्रबन्ध काव्य का एक रूप है। उसमें कथा-तत्व का होना अनिवार्य माना गया है। यह स्पष्ट है कि 'भ्रमर गीत' प्रसङ्ग से सम्बन्धित काव्यों में कथा-तत्व अत्यन्त क्षीण होता है। ऐसे काव्यों को प्रबन्ध काव्य न मानकर मुक्तक काव्य ही माना गया है। इनमें कथा का सूत्र इतना सूक्ष्म रहता है कि वह ऊपर से देखने पर दिखाई नहीं पड़ता। यदि खण्डकाव्य की रचना में कथा-तत्व की इस सूक्ष्मता को स्वीकार कर लिया जाय तो हिन्दी में अनेक ऐसे ग्रन्थ मिलेंगे जिन्हें खण्डकाव्य मानना पड़ेगा। परन्तु कथा-तत्व की प्रधानता प्रबन्ध-काव्य की पहली शर्त है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दूसरे ऐसे काव्यों का प्रत्येक छन्द अपने में ही पूर्ण रहता है जो मुक्तक काव्य का प्रधान लक्षण है। इसलिए ऐसे काव्यों को मुक्तक काव्य ही माना जायेगा न कि खण्डकाव्य।

इस सम्बन्ध में दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने (केवल सोलहवीं शताब्दी के विश्वनाथ कविराज को छोड़कर) प्रबन्ध काव्य के रूपों में खण्डकाव्य जैसे किसी भी रूप को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने केवल महाकाव्य का ही विवेचन किया है, इसलिए 'खण्डकाव्य' को संस्कृत आचार्यों द्वारा सर्व स्वीकृत विधा नहीं माना जा सकता। विश्वनाथ कविराज ने भी खण्डकाव्य का विस्तृत विवेचन नहीं किया है। साथ ही यूरोपीय समीक्षकों ने भी 'खण्डकाव्य' जैसा काव्य का कोई पृथक रूप नहीं माना है। उन्होंने इसे प्रकथनात्मक काव्य (Narrative poetry) के ही अन्तर्गत स्वीकार किया है। वे लोग महाकाव्य के छोटे-छोटे कथानकों को 'एपीसोड' (Episode) कहते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने फारसी के 'शाहनामा' नामक बृहद्काय महाकाव्य के एक छोटे से कथानक को लेकर 'सुहराव-रुस्तम' नामक विश्व प्रसिद्ध खण्डकाव्य की रचना की थी।

इसलिए खण्डकाव्य की निश्चित परिभाषा निश्चित करने के लिए हमें महाकाव्य के प्रधान लक्षणों को ही स्वीकृति प्रदान करनी पड़ेगी।

५०—गद्य काव्य : स्वरूप और विकास

संस्कृत के आचार्यों ने 'काव्य' शब्द की बड़ी व्यापक परिभाषा मानी है। साधारणतः 'काव्य' शब्द 'कविता' का ही अर्थ देता है परन्तु प्राचीन आचार्यों ने 'काव्य' शब्द के अन्तर्गत 'गद्य' और 'पद्य' दोनों को ही समाविष्ट कर लिया था। उनके द्वारा प्रयुक्त 'काव्य' शब्द वही अर्थ देता था जो आज 'साहित्य' का माना जाता है। इस प्रकार उनके 'काव्य' की विस्तृत परिधि में उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध, कविता आदि साहित्य की सभी विधायें आ जाती थीं परन्तु आज जब हम 'गद्य-काव्य' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे साहित्य की एक विशिष्ट रचना का अर्थ द्योतित होता है। साधारणतः 'गद्यकाव्य' को भावात्मक निबन्धों के अन्तर्गत ही माना जाता है; परन्तु 'गद्य काव्य' और भावात्मक निबन्धों की अपनी-अपनी कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनके कारण विद्वानों ने इन्हें साहित्य की दो सर्वथा स्वतन्त्र विधाएँ माना है। बाबू गुलाबराय ने इन दोनों का अन्तर बताते हुए लिखा है—

"दोनों में भावना का प्राधान्य तो अवश्य है किन्तु भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्य-काव्य में कुछ वैयक्तिकता और एकतथ्यता अधिक होती है। उसमें एक ही केन्द्रीय भावना का प्राधान्य होने के कारण वह निबन्ध की अपेक्षा आकार में छोटा होता है और उसमें अन्विति भी कुछ अधिक होती है। निबन्धकार विचार-शृङ्खला के सहारे इधर-उधर भटक भी सकता है किन्तु गद्यकाव्य एक निश्चित ध्येय की ओर जाता है; उसमें इधर-उधर विचरण की गुंजायश नहीं।"[१]

गद्य-काव्य एवं भावात्मक निबन्ध का यह अन्तर स्पष्ट करने की आवश्यकता इसलिए अनुभव हुई क्योंकि कुछ आलोचक गद्य-काव्य का पृथक अस्तित्व स्वीकार न कर उसे भावात्मक निबन्ध के अन्तर्गत ही मानते हैं। सम्भव है कि गद्यकाव्य का प्रारम्भिक रूप ऐसा ही हो रहा हो परन्तु विगत कुछ वर्षों में उसने एक ऐसी विशिष्ट शैली और रूप को धारण कर लिया है जिसके कारण वह साहित्य में एक स्वतन्त्र विधा का स्थान पाने का अधिकारी बन गया है। आज उसमें भाव और अनुभूति का इतना आधिक्य हो गया है कि उसके कारण उसे निबन्ध के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता।

१—काव्य के रूप—डा० गुलाबराय, एम० ए०।

इस सम्बन्ध में दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने (केवल सोलहवीं शताब्दी के विश्वनाथ कविराज को छोड़कर) प्रबन्ध काव्य के रूपों में खण्डकाव्य जैसे किसी भी रूप को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने केवल महाकाव्य का ही विवेचन किया है, इसलिए 'खण्डकाव्य' को संस्कृत आचार्यों द्वारा सर्व स्वीकृत विधा नहीं माना जा सकता। विश्वनाथ कविराज ने भी खण्डकाव्य का विस्तृत विवेचन नहीं किया है। साथ ही यूरोपीय समीक्षकों ने भी 'खण्डकाव्य' जैसा काव्य का कोई पृथक रूप नहीं माना है। उन्होंने इसे प्रकथनात्मक काव्य (Narrative poetry) के ही अन्तर्गत स्वीकार किया है। वे लोग महाकाव्य के छोटे-छोटे कथानकों को 'एपीसोड' (Episode) कहते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने फारसी के 'शाहनामा' नामक बृहद्काय महाकाव्य के एक छोटे से कथानक को लेकर 'सुहराव-रुस्तम' नामक विश्व प्रसिद्ध खण्डकाव्य की रचना की थी।

इसलिए खण्डकाव्य की निश्चित परिभाषा निश्चित करने के लिए हमें महाकाव्य के प्रधान लक्षणों को ही स्वीकृति प्रदान करनी पड़ेगी।

५०—गद्य काव्य : स्वरूप और विकास

संस्कृत के आचार्यों ने 'काव्य' शब्द की बड़ी व्यापक परिभाषा मानी है। साधारणतः 'काव्य' शब्द 'कविता' का ही अर्थ देता है परन्तु प्राचीन आचार्यों ने 'काव्य' शब्द के अन्तर्गत 'गद्य' और 'पद्य' दोनों को ही समाविष्ट कर लिया था। उनके द्वारा प्रयुक्त 'काव्य' शब्द वही अर्थ देता था जो आज 'साहित्य' का माना जाता है। इस प्रकार उनके 'काव्य' की विस्तृत परिधि में उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध, कविता आदि साहित्य की सभी विधायें आ जाती थीं परन्तु आज जब हम 'गद्य-काव्य' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे साहित्य की एक विशिष्ट रचना का अर्थ द्योतित होता है। साधारणतः 'गद्यकाव्य' को भावात्मक निबन्धों के अन्तर्गत ही माना जाता है; परन्तु 'गद्य काव्य' और भावात्मक निबन्धों की अपनी-अपनी कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनके कारण विद्वानों ने इन्हें साहित्य की दो सर्वथा स्वतन्त्र विधाएँ माना है। बाबू गुलाबराय ने इन दोनों का अन्तर बताते हुए लिखा है—

"दोनों में भावना का प्राधान्य तो अवश्य है किन्तु भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्य-काव्य में कुछ वैयक्तिकता और एकतथ्यता अधिक होती है। उसमें एक ही केन्द्रीय भावना का प्राधान्य होने के कारण वह निबन्ध की अपेक्षा आकार में छोटा होता है और उसमें अन्विति भी कुछ अधिक होती है। निबन्धकार विचार-शृङ्खला के सहारे इधर-उधर भटक भी सकता है किन्तु गद्यकाव्य एक निश्चित ध्येय की ओर जाता है; उसमें इधर-उधर विचरण की गुंजायश नहीं।"[१]

गद्य-काव्य एवं भावात्मक निबन्ध का यह अन्तर स्पष्ट करने की आवश्यकता इसलिए अनुभव हुई क्योंकि कुछ आलोचक गद्य-काव्य का पृथक अस्तित्व स्वीकार न कर उसे भावात्मक निबन्ध के अन्तर्गत ही मानते हैं। सम्भव है कि गद्यकाव्य का प्रारम्भिक रूप ऐसा ही हो रहा हो परन्तु विगत कुछ वर्षों में उसने एक ऐसी विशिष्ट शैली और रूप को धारण कर लिया है जिसके कारण वह साहित्य में एक स्वतन्त्र विधा का स्थान पाने का अधिकारी बन गया है। आज उसमें भाव और अनुभूति का इतना आधिक्य हो गया है कि उसके कारण उसे निबन्ध के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता।

१—**काव्य के रूप—डा० गुलाबराय, एम० ए०।**

संस्कृत-आचार्यों द्वारा निश्चित की गई साहित्य की विभिन्न विधाओं की परिभाषायें आज अपने मूल रूप में लागू नहीं की जा सकतीं । गद्य-काव्य शब्द हिंदी के लिए नवीन नहीं है । संस्कृत-आचार्यों ने इसकी विभिन्न व्याख्यायें की हैं । आचार्य दण्डी एवं विश्वनाथ कविराज ने गद्यकाव्य के दो भेद माने हैं—(१) कथा और (२) आख्यायिका । अतः संस्कृत में गद्यकाव्य शब्द का प्रयोग केवल कथा और आख्यायिका के लिए ही हुआ है । भारतेन्दु-युगीन विद्वान अम्बिकादत्त व्यास संस्कृत-गद्य-काव्य को वर्तमान उपन्यास का पर्यायवाची मानते हैं । वाणभट्ट की 'कादम्बरी' संस्कृत के आचार्यों द्वारा गद्य-काव्य का आदर्श रूप मानी गई है और आधुनिक कुछ विद्वान उसे हिन्दी-उपन्यासों का पूर्व रूप भी मानते हैं । यदि हम 'कादम्बरी' को गद्यकाव्य का आदर्श स्वीकार कर लें तो संस्कृत-गद्यकाव्य और हिन्दी-गद्यकाव्य में विशेष अन्तर नहीं रह जाता । बाह्य दृष्टि से तो इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है परन्तु दोनों के आभ्यन्तर स्वरूपों में विशेष अन्तर न होकर बहुत कुछ साम्य मिल जाता है ।

उक्त साम्य को बाबू गुलाबराय द्वारा की गई गद्यकाव्य की विवेचना द्वारा सिद्ध किया जा सकता है । आप लिखते हैं कि—"गद्यकाव्य की भाषा गद्य की होती है किन्तु भाव प्रगीत काव्यों के से । गद्य के शरीर में पद्य की आत्मा बोलती दिखाई देती है । भाषा का प्रवाह भी साधारण गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक सरस और संगीतमय होता है ।" 'कादम्बरी' में भी उपर्युक्त सम्पूर्ण विशेषतायें मिल जाती हैं । अन्तर केवल आकार में रह जाता है । बाबू गुलाबराय के मतानुसार गद्यकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—भावना का प्राधान्य, लघु-आकार, पद्य की सी आत्मा, साधारण गद्य की अपेक्षा भाषा का प्रभाव अधिक सरस और संगीतमय । गद्यकाव्य में कल्पना, भावुकता और रसात्मकता पर्याप्त मात्रा में रहती है । कविता के उपर्युक्त सारे गुण रहते हुए भी उसे कविता न मानने का कारण यह है कि उसमें कविता के लिए आवश्यक छन्दोमय लय का अभाव रहता है । छंदहीन होने के कारण ही गद्यकाव्य को कविता नहीं माना जाता ।

हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने गद्यकाव्य के सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त किए हैं । कुछ विद्वानों के मतों को उद्धृत कर हम गद्य-काव्य की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुये उसकी एक सर्वमान्य परिभाषा निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे । कुछ मत दृष्टव्य हैं—

प्रसिद्ध-गद्यकाव्यकार रायकृष्णदास का मत है कि—"हिन्दी में कविता और काव्य शब्द पद्यमय रचनाओं के लिए ही रूढ़ हो गए हैं, यद्यपि वस्तुतः

कोई भी रचना, जो रमणीय हो, काव्य या कविता है। इसी कारण गद्यमय रचना के लिए हमें गद्य काव्य या गद्य गीत का प्रयोग करना पड़ता है।"

वियोगी हरि का कहना है कि—"गद्यकाव्य की परिभाषा मेरी दृष्टि में वही है जो पद्यकाव्य की है। मैं दोनों में कोई अन्तर नहीं देखता हूँ। छंद में रसात्मक भावों को बाँधा जाय या स्वतंत्र रहने दिया जाय, कोई अन्तर नहीं पड़ता—हाँ, संगीत अपने स्वरूप में दोनों ही प्रकारों में रहना चाहिए।"

सद्गुरुशरण अवस्थी लिखते हैं कि—"मेरी समझ में कल्पना-प्रधान आलेख, जिसमें राग-तत्व मिश्रित हो और बुद्धितत्व नितान्त अप्रधान हो, उसे गद्य काव्य काव्य कहेंगे।"

डाक्टर रामकुमार वर्मा का मत है कि—"गद्यगीत साहित्य की भावनात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें कल्पना और अनुभूति काव्य-उपकरणों से स्वतंत्र होकर मानव-जीवन के रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त और कोमल वाक्यों की धारा में प्रवाहित होती है।"

डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी उस गद्य को गद्यकाव्य मानते हैं जिसमें—"भावावेग के कारण एक प्रकार का लययुक्त झंकार होता है, जो सहृदय पाठक के चित्त को भाव-ग्रहण के अनुकूल बनाता है।"

इस सम्बन्ध में हिन्दी की प्रसिद्ध गद्यकाव्य लेखिका दिनेशनन्दिनी डालमिया का मत जान लेना आवश्यक है। आपका कथन है कि—"गद्यकाव्य के लिए शब्दों का सुचारु चयन बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना वह बिल्कुल रसशून्य और सूखा प्रतीत होगा। रंगीन भाषा के अभाव में गद्यकाव्य की रचना असम्भव है।"

बालकृष्ण बल्दुवा गद्यकाव्य में कथा का स्थान नहीं मानते। आपका कहना कि—"गीत छोटा और एक ही रस में सराबोर रहता है। विचारधारा का वातावरण भी एक ही रहता है और उसमें कवि की निजी अनुभूति लहराया करती है। गीत में अनेकता के लिए स्थान नहीं। उसमें 'एक' की तल्लीनता रहती है और तल्लीनावस्था में शब्द संकेत भर करते हैं। उन्हें रुकने का, व्याख्या करने का समय नहीं मिलता। वे एक-पर-एक आते चले जाते हैं। जिस कथा-विहीन गद्य में उपरोक्त गुण हों, वह गद्यकाव्य है।"[१]

अंग्रेजी-साहित्य में गद्यकाव्य के लिए रमणीयता, रसात्मकता और छन्द-बन्धन-हीनता आवश्यक तत्व माने गए हैं। अंग्रेजी में गद्यकाव्य को प्रोज पोयम (Prose Poem) या पोइटिक प्रोज (Poetic Prose) कहते हैं।

१—उपर्युक्त सम्पूर्ण मत डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश लिखित ग्रन्थ 'हिंदी गद्यकाव्य' से उद्धृत किए गए हैं।

उपर्युक्त विभिन्न मतों के आधार पर हिन्दी गद्यकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ निश्चित की जा सकती हैं—अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य, भावना का प्राधान्य, कल्पना की प्रधानता, बुद्धि तत्व की अप्रधानता, छन्द-बन्धन-हीनता, इतिवृत्त-हीनता, लय युक्त झंकार उत्पन्न करने वाली रंगीन भाषा, भावमग्न करने में पूर्ण समर्थ।

इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए गद्यकाव्य की निम्नलिखित परिभाषा निर्धारित की जा सकती है—

गद्यकाव्य साहित्य की उस विधा को कहते हैं जिसमें गद्य के माध्यम से लययुक्त झंकार उत्पन्न करने वाली भाषा द्वारा छन्द बन्धन, इतिवृत्त एवं बुद्धि तत्व का मोह त्याग कर कल्पना प्रधान भावना को अभिव्यक्त किया गया हो।

संस्कृत-गद्यकाव्य और हिन्दी गद्यकाव्य में प्रधान अन्तर यही है कि संस्कृत में कथा की प्रधानता मानी गई है और हिन्दी में कथा का पूर्ण बहिष्कार किया गया है। यह तो हुआ परिभाषा के आधार का अन्तर। परन्तु इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हमारे प्राचीन साहित्य में हिन्दी गद्यकाव्य से मिलती-जुलती रचनायें मिलती ही नहीं। वेद, उपनिषद्, बौद्ध और जैन साहित्यों में ऐसी अनेक स्फुट अभिव्यक्तियां बिखरी मिलती हैं जिनमें इतिवृत्त का सर्वथा अभाव है और जो हिन्दी गद्यकाव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं से पूर्ण हैं। साहित्य की कोई भी विधा एकाएक उत्पन्न नहीं हो जाती। प्राचीन साहित्यों में सम्पूर्ण विधाओं के बीज किसी न किसी रूप में अवश्य छिपे रहते हैं जो कालान्तर में अनुकूल वातावरण पाकर प्रस्फुटित हो उठते हैं। और आगे चलकर जब उनका रूप पुष्ट होने लगता है तो साहित्याचार्य उन्हें पृथक विधा के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। हिन्दी-साहित्य में गद्यकाव्य का प्राचीन रूप इसलिए नहीं मिलता क्योंकि जब प्राचीन हिन्दी में गद्य का रूप ही विकसित नहीं हो पाया था तो गद्य का अलंकृत एवं भावनापूर्ण रूप गद्यकाव्य कैसे विकसित हो सकता था।

गद्यकाव्य हिन्दी भाषा की अपनी एक विशेषता है। डाक्टर कमलेश का कहना है कि अन्य भारतीय भाषाओं में गद्यकाव्य का साहित्य की एक स्वतंत्र विधा के रूप में वैसा विकास नहीं हो पाया है जैसा कि हिन्दी में हुआ है। साहित्य की समृद्धि की दृष्टि से बंगला, मराठी, गुजराती भाषायें अत्यन्त समृद्ध मानी जाती हैं। इन भाषाओं के अधिकारी विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि उनकी भाषाओं में गद्यकाव्य का वैसा उत्कर्ष नहीं मिलता। डाक्टर कमलेश ने 'हिन्दी-गद्य-काव्य' नामक अपने शोध-प्रबन्ध में कुछ विद्वानों के मत

उद्धृत किए हैं। बंगला भाषा के विद्वान डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, लिखते हैं कि—"विशेषकर बंगला में गद्य-कविता का प्रसार अधिक नहीं हुआ। रवीन्द्रनाथ ने अपनी बंगला कविताओं के जो अंग्रेजी अनुवाद किए उनका असर बंगला भाषा पर बहुत ही कम पड़ा, चाहे बंगला के बाहर उनका कितना ही असर पड़ा हो।"

मराठी भाषा के सम्बन्ध में श्री विनयमोहन शर्मा का मत है कि "मराठी-साहित्य में गद्य काव्य का अधिक प्रचलन नहीं है। मुक्त छन्द की कविता तथा भाव-कथा की ओर अधिक सम्मान होने से गद्य काव्य पनप नहीं सका। जिसमें गद्यकाव्य लिखने की प्रतिभा है वह मुक्त छन्द लिखता है या भाव-कथा।" मराठी भाषा के विद्वान डाक्टर प्रभाकर माचवे का यह कहना कि—"मराठी में गम्भीरतापूर्वक गद्यकाव्य का प्रणयन नहीं हुआ" प्रो० शर्मा के उक्त कथन की पुष्टि करता है। गुजराती भाषा के गद्यकाव्य-लेखकों में न्हानालाल का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। परन्तु गुजराती के अन्य लेखकों ने गद्यकाव्य की उस शैली का अनुकरण नहीं किया, इस बात पर क्षोभ प्रकट करते हुए गुजराती भाषा के प्रसिद्ध कथाकार श्री रमणलाल बसन्तलाल देसाई लिखते हैं—"आज नान्हालाल के अतिरिक्त इस शैली (गद्यकाव्य) को कोई नहीं अपनाता। नान्हालाल का अनुकरण बहुत दिन पहले हुआ अवश्य था ··· परन्तु किसी को भारी सफलता नहीं मिली।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि गद्यकाव्य हिन्दी साहित्य की एक विशिष्ट निधि है जिसका उत्कर्ष अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं मिलता।

गद्य काव्य के प्रमुख भेद दो माने जाते हैं—(१) गद्य काव्य, तथा (२) गद्य गीत। इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रो० विनयमोहन शर्मा लिखते हैं—"गद्यगीत में एक भाव की अभिव्यक्ति होती है और भावावेश का उपकरण प्रधान होता है। गद्यकाव्य में कल्पना-तत्व की प्रबलता होती है, उसमें गेयता अनिवार्य नहीं है। उसका विस्तार महाकाव्य की कथा का रूप भी धारण कर सकता है, अनेक भावों और रसों की योजना उसमें सम्भव है।"[1] अन्यत्र प्रो० शर्मा उक्त अन्तर को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"गद्यकाव्य गद्यगीत की तरह एक भाव में बद्ध नहीं रहता और न वह केवल कोमल भावों की ही अभिव्यक्ति का साधन बनता है। उसमें परुष भाव भी ग्रथित हो सकते हैं। उसमें गेयताभास की भी आवश्यकता नहीं है। उस पर

१—'वंशीरव' की भूमिका—प्रो० विनयमोहन शर्मा

उपर्युक्त विभिन्न मतों के आधार पर हिन्दी गद्यकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएं निश्चित की जा सकती हैं—अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य, भावना का प्राधान्य, कल्पना की प्रधानता, बुद्धि तत्व की अप्रधानता, छन्द-बन्धन-हीनता, इतिवृत्त-हीनता, लय युक्त झंकार उत्पन्न करने वाली रंगीन भाषा, भावमग्न करने में पूर्ण समर्थ ।

इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए गद्यकाव्य की निम्नलिखित परिभाषा निर्धारित की जा सकती है——

गद्यकाव्य साहित्य की उस विधा को कहते हैं जिसमें गद्य के माध्यम से लययुक्त झंकार उत्पन्न करने वाली भाषा द्वारा छन्द बन्धन, इतिवृत्त एवं बुद्धि तत्व का मोह त्याग कर कल्पना प्रधान भावना को अभिव्यक्त किया गया हो ।

संस्कृत-गद्यकाव्य और हिन्दी गद्यकाव्य में प्रधान अन्तर यही है कि संस्कृत में कथा की प्रधानता मानी गई है और हिन्दी में कथा का पूर्ण बहिष्कार किया गया है । यह तो हुआ परिभाषा के आधार का अन्तर । परन्तु इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हमारे प्राचीन साहित्य में हिन्दी गद्यकाव्य से मिलती-जुलती रचनायें मिलती ही नहीं । वेद, उपनिषद्, बौद्ध और जैन साहित्यों में ऐसी अनेक स्फुट अभिव्यक्तियां बिखरी मिलती हैं जिनमें इतिवृत्त का सर्वथा अभाव है और जो हिन्दी गद्यकाव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं से पूर्ण हैं । साहित्य की कोई भी विधा एकाएक उत्पन्न नहीं हो जाती । प्राचीन साहित्यों में सम्पूर्ण विधाओं के बीज किसी न किसी रूप में अवश्य छिपे रहते हैं जो कालान्तर में अनुकूल वातावरण पाकर पल्लवित हो उठते हैं । और आगे चलकर जब उनका रूप पुष्ट होने लगता है तो साहित्याचार्य उन्हें पृथक विधा के रूप में स्वीकार कर लेते हैं । हिन्दी-साहित्य में गद्यकाव्य का प्राचीन रूप इसलिए नहीं मिलता क्योंकि जब प्राचीन हिन्दी में गद्य का रूप ही विकसित नहीं हो पाया था तो गद्य का अलंकृत एवं भावनापूर्ण रूप गद्यकाव्य कैसे विकसित हो सकता था ।

गद्यकाव्य हिन्दी भाषा की अपनी एक विशेषता है । डाक्टर कमलेश का कहना है कि अन्य भारतीय भाषाओं में गद्यकाव्य का साहित्य की एक स्वतंत्र विधा के रूप में वैसा विकास नहीं हो पाया है जैसा कि हिन्दी में हुआ है । साहित्य की समृद्धि की दृष्टि से बंगला, मराठी, गुजराती भाषायें अत्यन्त समृद्ध मानी जाती हैं । इन भाषाओं के अधिकारी विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि उनकी भाषाओं में गद्यकाव्य का वैसा उत्कर्ष नहीं मिलता । डाक्टर कमलेश ने 'हिन्दी-गद्य-काव्य' नामक अपने शोध-प्रबन्ध में कुछ विद्वानों के मत

उद्धृत किए हैं। बंगला भाषा के विद्वान डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, लिखते हैं कि—"विशेषकर बंगला में गद्य-कविता का प्रसार अधिक नहीं हुआ। रवीन्द्रनाथ ने अपनी बंगला कविताओं के जो अंग्रेजी अनुवाद किए उनका असर बंगला भाषा पर बहुत ही कम पड़ा, चाहे बंगला के बाहर उनका कितना ही असर पड़ा हो।"

मराठी भाषा के सम्बन्ध में श्री विनयमोहन शर्मा का मत है कि "मराठी-साहित्य में गद्य काव्य का अधिक प्रचलन नहीं है। मुक्त छन्द की कविता तथा भाव-कथा की ओर अधिक सम्मान होने से गद्य काव्य पनप नहीं सका। जिसमें गद्यकाव्य लिखने की प्रतिभा है वह मुक्त छन्द लिखता है या भाव-कथा।" मराठी भाषा के विद्वान डाक्टर प्रभाकर माचवे का यह कहना कि—"मराठी में गम्भीरतापूर्वक गद्यकाव्य का प्रणयन नहीं हुआ" प्रो० शर्मा के उक्त कथन की पुष्टि करता है। गुजराती भाषा के गद्यकाव्य-लेखकों में न्हानालाल का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। परन्तु गुजराती के अन्य लेखकों ने गद्यकाव्य की उस शैली का अनुकरण नहीं किया, इस बात पर क्षोभ प्रकट करते हुए गुजराती भाषा के प्रसिद्ध कथाकार श्री रमणलाल बसन्तलाल देसाई लिखते हैं—"आज नान्हालाल के अतिरिक्त इस शैली (गद्यकाव्य) को कोई नहीं अपनाता। नान्हालाल का अनुकरण बहुत दिन पहले हुआ अवश्य था ··· परन्तु किसी को भारी सफलता नहीं मिली।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि गद्यकाव्य हिन्दी साहित्य की एक विशिष्ट निधि है जिसका उत्कर्ष अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं मिलता।

गद्य काव्य के प्रमुख भेद दो माने जाते हैं—(१) गद्य काव्य, तथा (२) गद्य गीत। इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रो० विनयमोहन शर्मा लिखते हैं—"गद्यगीत में एक भाव की अभिव्यक्ति होती है और भावावेश का उपकरण प्रधान होता है। गद्यकाव्य में कल्पना-तत्व की प्रबलता होती है, उसमें गेयता अनिवार्य नहीं है। उसका विस्तार महाकाव्य की कथा का रूप भी धारण कर सकता है, अनेक भावों और रसों की योजना उसमें सम्भव है।"[1] अन्यत्र प्रो० शर्मा उक्त अन्तर को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"गद्यकाव्य गद्यगीत की तरह एक भाव में बद्ध नहीं रहता और न वह केवल कोमल भावों की ही अभिव्यक्ति का साधन बनता है। उसमें परुष भाव भी ग्रथित हो सकते हैं। उसमें गेयताभास की भी आवश्यकता नहीं है। उस पर

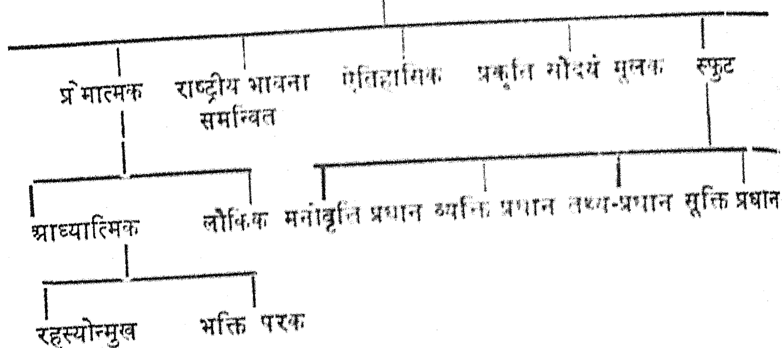
१—'वंशीरव' की भूमिका—प्रो० विनयमोहन शर्मा

सीमा का भी बन्धन लागू नहीं होता। वह बिहारी के दोहे के समान द्विपदी हो सकता है और बाण की कादम्बरी के समान बहुसंख्यपदी भी।"[1]

इस अन्तर के सम्बन्ध में लगभग यही बातें पं रामदहिन मिश्र ने कही हैं–
"गद्यकाव्य में कल्पना की प्रधानता होती है। उसमें अनेक भावों और रसों की अवतारणा की जा सकती है पर गद्यगीत में एक ही भाव की थोड़े से संगीतात्मक शब्दों में अभिव्यक्ति होती है और तद्विषयक साधन से ही वह सम्पन्न रहता है। गद्य-गीत के आवश्यक साधन हैं— भावावेश, अनुभूति की विभूति और अभिव्यंजन-कुशलता। गद्य की गेयता अनिवार्य नहीं। सम्भव है, सुन्दर शब्दावलियों और अपूर्व वाक्य-विन्यास से कोई भिन्न लय उत्पन्न की जा सके। गीति कविता के समान अधिकतर गद्य-गीत अन्तर्वृत्ति निरूपक ही होते हैं, जिनमें आत्माभिव्यंजन की मात्रा अधिक रहती है।"[2]

इस सम्बन्ध में डाक्टर कमलेश का मत भी द्रष्टव्य है। आप लिखते हैं—
"...गद्यकाव्य आकार में बड़े, भाव-सम्पत्ति में विशाल, कल्पना-वैभव में सम्पन्न और अलंकृत-शैली में सज्जित होते हैं, जब कि गद्यगीत अत्यन्त ही लघु, यहाँ तक कि दो-दो, चार-चार पंक्तियों तक में अपने को समेट लेने वाले, एक भाव, एक वृत्ति, एक विचार, एक वातावरण में खिल उठने वाले, अभिव्यक्ति की सरलता और गति-लय-युक्त शब्द-विन्यास का आधार लेकर चलने वाले होते हैं। इनमें कहीं-कहीं पंक्तियों का ऐसा विन्यास भी होता है कि वे गद्य-गीतों की होड़ करते से जान पड़ते हैं।"[3]

प्रवृत्तियों के आधार पर गद्य-काव्य के अनेक भेद किए जा सकते हैं। डा० कमलेश ने गद्य-काव्यात्मक कृतियों का प्रवृत्तिगत विभाजन करते हुए उनकी निम्नलिखित रूपरेखा निश्चित की है—



२— हिन्दी गद्यकाव्य—भूमिका
१—काव्य-दर्पण —पं० रामदहिन मिश्र।
२—हिन्दी गद्य काव्य—डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश।

उपर्युक्त सम्पूर्ण रूपों में से प्रेम-प्रवृत्ति को लेकर की अधिकांश गद्य-काव्य लिखे गए हैं। प्रेम का रूप आध्यात्मिक और लौकिक, सार्वजनीन और व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार का है। नर-नारी की महत्ता और तुच्छता को लेकर भी अनेक गद्यगीत लिखे गए हैं। नर-नारी के सम्बन्ध में नर और नारी की दर्पोक्तियों के दो बड़े सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य हैं। 'अज्ञेय' में पुरुष का दम्भ है। वह कहते हैं—"मैं विजयी हूँ, मैंने तुम्हारे भूत, वर्तमान, भविष्य को जीत लिया है, तुम्हारी इस शरीर रूपी दिव्य विभूति पर अधिकार कर लिया है।"[१]

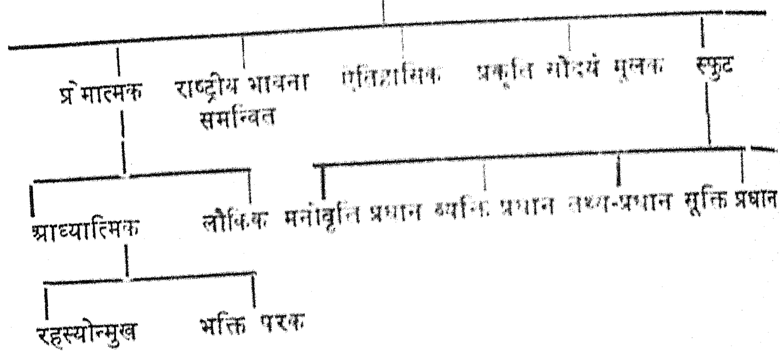
दिनेशनन्दिनी डालमिया ने 'अज्ञेय' के इस पुरुष-दम्भ को चुनौती देते हुए कहा है—"मैं फूलों-बिछे मार्ग पर गिन-गिन कर ताल से कदम रखने वाली ऐश्वर्य रानी हूँ और तुम मेरी स्वर्णिम पादुका के नीचे पिस कर धूल बन जाने वाले तुच्छ रज-कण।"[२]

रस-व्यंजना की दृष्टि से गद्यकाव्य में शृङ्गार-रस की प्रधानता रही है क्योंकि प्रेम उसका प्रधान विषय रहा है। प्रेम के शृङ्गार, वात्सल्य, शान्त आदि सभी रूपों का चित्रण इसमें मिलता है। शृङ्गार के रूप में मानव-जीवन की समस्त सुखात्मक और दुखात्मक भावनाओं की मनोरम अभिव्यक्ति समस्त हिन्दी गद्यकाव्य में बिखरी पड़ी है। शान्त और वात्सल्य रस भी अपनी पूर्ण मनोहारिता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त दो और प्रधान रस गद्यकाव्य की अपनी विशिष्ट निधि हैं—वीर और करुण। वर्तमान कालीन राष्ट्रीय भावना ने वीर रस को चित्रित किया है। फलस्वरूप अतीत-गौरव-गान, देश की वर्तमान दुर्दशा का चित्रण, स्वतन्त्रता के सुखद स्वप्न आदि का चित्रण खूब हुआ है। माखनलाल चतुर्वेदी इस राष्ट्रीय भावना के प्रतिनिधि गद्यकाव्यकार माने जाते हैं। वीर रस के प्रसङ्ग में कहीं-कहीं रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रस के दर्शन भी हो जाते हैं। परन्तु चतुरसेन शास्त्री के गद्य काव्य संग्रह 'अन्तस्तल' में लगभग सभी रसों की झलक मिल जाती है क्योंकि उसमें विभिन्न मानवीय मनोविकारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न किया है।

करुण रस की व्यंजना के दो रूप मिलते हैं। एक रूप वह है जिसमें चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय के 'उदभ्रान्त प्रेम' की शैली में स्वर्गीया पत्नी के वियोग में शोकाश्रु प्रवाहित हुए हैं। दूसरा रूप वह है जिसमें राष्ट्रीय भावना का प्राधान्य रहते हुए भी शासकों के अत्याचारों से पीड़ित त्रस्त समाज की दयनीय दशा का चित्रण हुआ है। साथ ही इसमें राष्ट्रीय आन्दोलनों की प्रारम्भिक असफलताओं से उत्पन्न कुंठा और निराशा के कारण भी करुण रस की व्यंजना हुई है। शृङ्गार, वीर और करुण रस का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

१—शुभ्रा—अज्ञेय, पृष्ठ ५३।
२—मौक्तिक माल —दिनेशनन्दिनी डालमिया।

सीमा का भी बन्धन लागू नहीं होता । वह बिहारी के दोहे के समान द्विपदी
हो सकता है और बाण की कादम्बरी के समान बहुसंख्यपदी भी ।"[1]
इस अन्तर के सम्बन्ध में लगभग यही बातें पं रामदहिन मिश्र ने कही हैं–
"गद्यकाव्य में कल्पना की प्रधानता होती है । उसमें अनेक भावों और रसों की
अवतारणा की जा सकती है पर गद्यगीत में एक ही भाव की थोड़े में संगीता-
त्मक शब्दों में अभिव्यक्ति होती है और तद्विषयक साधन से ही वह सम्पन्न
रहता है । गद्य-गीत के आवश्यक साधन हैं— भावावेश, अनुभूति की विभूति
और अभिव्यंजन-कुशलता । गद्य की गेयता अनिवार्य नहीं । सम्भव है, सुन्दर
शब्दावलियों और अपूर्व वाक्य-विन्यास से कोई भिन्न लय उत्पन्न की जा सके ।
गीति कविता के समान अधिकतर गद्य-गीत अन्तर्वृत्ति निरूपक ही होते हैं,
जिनमें आत्माभिव्यंजन की मात्रा अधिक रहती है ।"[2]
इस सम्बन्ध में डाक्टर कमलेश का मत भी द्रष्टव्य है । आप लिखते हैं—
"···गद्यकाव्य आकार में बड़े, भाव-सम्पत्ति में विशाल, कल्पना-वैभव में
सम्पन्न और अलंकृत-शैली में सज्जित होते हैं, जब कि गद्यगीत अत्यन्त ही लघु,
यहाँ तक कि दो-दो, चार-चार पंक्तियों तक में अपने को समेट लेने वाले, एक
भाव, एक वृत्ति, एक विचार, एक वातावरण में लिख उठने वाले, अभिव्यक्ति
की सरलता और गति-लय-युक्त शब्द-विन्यास का आधार लेकर चलने वाले
होते हैं । इनमें कहीं-कहीं पंक्तियों का ऐसा विन्यास भी होता है कि वे गद्य-
गीतों की होड़ करते से जान पड़ते हैं ।"[3]
प्रवृत्तियों के आधार पर गद्य-काव्य के अनेक भेद किए जा सकते हैं । डा०
कमलेश ने गद्य-काव्यात्मक कृतियों का प्रवृत्तिगत-विभाजन करते हुए उनकी
निम्नलिखित रूपरेखा निश्चित की है—



२ — हिन्दी गद्यकाव्य — भूमिका
१ — काव्य-दर्पण — पं० रामदहिन मिश्र ।
२ — हिन्दी गद्य काव्य — डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण रूपों में से प्रेम-प्रवृत्ति को लेकर की अधिकाँश गद्य-काव्य लिखे गए हैं। प्रेम का रूप आध्यात्मिक और लौकिक, सार्वजनीन और व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार का है। नर-नारी की महत्ता और तुच्छता को लेकर भी अनेक गद्यगीत लिखे गए हैं। नर-नारी के सम्बन्ध में नर और नारी की दर्पोक्तियों के दो बड़े सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य हैं। 'अज्ञेय' में पुरुष का दम्भ है। वह कहते हैं—"मैं विजयी हूँ, मैंने तुम्हारे भूत, वर्तमान, भविष्य को जीत लिया है, तुम्हारी इस शरीर रूपी दिव्य विभूति पर अधिकार कर लिया है।"[1]

दिनेशनन्दिनी डालमिया ने 'अज्ञेय' के इस पुरुष-दम्भ को चुनौती देते हुए कहा है—"मैं फूलों-बिछे मार्ग पर गिन-गिन कर ताल से कदम रखने वाली ऐश्वर्य रानी हूँ और तुम मेरी स्वर्णिम पादुका के नीचे पिस कर धूल बन जाने वाले तुच्छ रज-कण।"[2]

रस-व्यंजना की दृष्टि से गद्यकाव्य में शृङ्गार-रस की प्रधानता रही है क्योंकि प्रेम उसका प्रधान विषय रहा है। प्रेम के शृङ्गार, वात्सल्य, शान्त आदि सभी रूपों का चित्रण इसमें मिलता है। शृङ्गार के रूप में मानव-जीवन की समस्त सुखात्मक और दुखात्मक भावनाओं की मनोरम अभिव्यक्ति समस्त हिन्दी गद्यकाव्य में बिखरी पड़ी है। शान्त और वात्सल्य रस भी अपनी पूर्ण मनोहारिता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त दो और प्रधान रस गद्यकाव्य की अपनी विशिष्ट निधि हैं—वीर और करुण। वर्तमान कालीन राष्ट्रीय भावना ने वीर रस को चित्रित किया है। फलस्वरूप अतीत-गौरव-गान, देश की वर्तमान दुर्दशा का चित्रण, स्वतन्त्रता के सुखद स्वप्न आदि का चित्रण खूब हुआ है। माखनलाल चतुर्वेदी इस राष्ट्रीय भावना के प्रतिनिधि गद्यकाव्यकार माने जाते हैं। वीर रस के प्रसङ्ग में कहीं-कहीं रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रस के दर्शन भी हो जाते हैं। परन्तु चतुरसेन शास्त्री के गद्य काव्य संग्रह 'अन्तस्तल' में लगभग सभी रसों की झलक मिल जाती है क्योंकि उसमें विभिन्न मानवीय मनोविकारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न किया है।

करुण रस की व्यंजना के दो रूप मिलते हैं। एक रूप वह है जिसमें चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय के 'उदभ्रान्त प्रेम' की शैली में स्वर्गीया पत्नी के वियोग में शोकाश्रु प्रवाहित हुए हैं। दूसरा रूप वह है जिसमें राष्ट्रीय भावना का प्राधान्य रहते हुए भी शासकों के अत्याचारों से पीड़ित त्रस्त समाज की दयनीय दशा का चित्रण हुआ है। साथ ही इसमें राष्ट्रीय आन्दोलनों की प्रारम्भिक असफलताओं से उत्पन्न कुंठा और निराशा के कारण भी करुण रस की व्यंजना हुई है। शृङ्गार, वीर और करुण रस का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

१—शुभ्रा—अज्ञेय, पृष्ठ ५३।
२—मौक्तिक माल —दिनेशनन्दिनी डालमिया।

छायावादी प्रभाव से समन्वित शृङ्गार का रूप—"तुम्हारी मुस्कान का यह कैसा अद्भुत प्रभाव है कि उसकी कल्पना तक मेरे मन को सब प्रकार के दुखों और क्लेशों से बचाये रखती है। तुम्हें मुस्कराते देख मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान ने मेरे उद्धार हेतु तुम्हारा शरीर धारण किया है।"[१]

राष्ट्रीय भावना-समन्वित वीर रस का रूप—"तू कैसा भारतीय सैनिक है? पड़े-पड़े कैसे काम चलेगा? उठ, आँख खोल! देख, युद्धारम्भ होने ही वाला है। यह विप्लव बेला है। क्रान्ति की काली-काली घटायें घिरने लगी हैं। कैसा विकराल वातावरण है। दनुज-दल-मर्दिनी रणचन्डी समरभूमि पर तांडव नृत्य करने जा रही है। क्या तुझे उसके लोक-प्रकम्पक नूपुरों का छम-छम शब्द सुनाई नहीं देता? उद्भ्रान्त दिशाएँ थर-थर काँप रही हैं। ब्रह्मांड विक्षिप्त हो उठा है। समस्त जीव-जन्तु त्रस्त हो उठे हैं। प्रशान्त नभोमंडल के वज्रोपम वक्षस्थल पर विप्लव की रेखाएँ खचित हो गई हैं।"[२]

करुण रस का रूप—"ओह! वह मधुर चितवन! वे नेत्र जो अस्त होते हुए सूर्य के-से प्रतिबिम्ब, रक्ताम्बर के छोटे से तारे के समान थे, क्या मैं कभी उन्हें स्वप्न में देखने का साहस भी न करूँ? उस दिन तुम मुझे देखकर मुस्कराईं थीं तब मैं अपने जीवन के समस्त उल्लास के साथ दौड़ा था और कहा था, ठहरो। पर तुम किस लोक में हँसने को चली गईं? सिर्फ एक बार हँसकर।"[३]

भाषा, अलंकार और भाव-व्यंजना शैली की दृष्टि से भी हिन्दी गद्यकाव्य अपनी एक विशिष्ट विशेषता रखता है।

भाषा की दृष्टि से हिन्दी गद्यकाव्य के तीन प्रधान रूप मिलते हैं—(१) संस्कृत मिश्रित, (२) अरबी-फारसी मिश्रित, तथा (४) सरल। संस्कृत मिश्रित भाषा के भी दो रूप मिलते हैं—(१) क्लिष्ट संस्कृत मिश्रित तथा (२) सरल संस्कृत मिश्रित। क्लिष्ट संस्कृत मिश्रित भाषा में बाण की 'कादम्बरी' की शैली के अनुकरण पर बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', गोविन्दनारायण मिश्र तथा वियोगी हरि ने गद्यकाव्य लिखे हैं। आगे चल कर वियोगी हरि भी इस शैली को त्याग कर सरल शैली में रचना करने लगे थे। इस शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन घन तमाच्छन्न कृष्ण बसन लसित निशि समय सजन मन मोहिनी रसिक रस सोहिनी वेणु बजाता है, माधवी मल्लिका मोद लोलुप मलिन्द गुंजार समुल्लसित, नवरस पूरित, सप्रेम प्रतिभा

१. आराधना—राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश'। २. अन्तर्नाद—वियोगी हरि। ३. अन्तस्तल—चतुरसेन शास्त्री।

समुदित कवि हृदय द्वारा स्वच्छन्द आनन्दकन्द सन्देश भेजता है और कभी-कभी विरह-दग्ध उर निस्सरित प्रेमाश्रु वर्षण वा संयोग गत प्रगाढ़ आलिंगन रोम-हर्षण में अपनी सुप्रीतिमय झलक दिखा जाता है।"[1]

परन्तु हिन्दी गद्यकाव्य के क्षेत्र में इस क्लिष्ट शैली का अधिक प्रचार न हो सका। प्रचार उसी शैली का अधिक हुआ जिसका प्रारम्भ रायकृष्णदास ने 'साधना' नामक गद्यकाव्य संग्रह द्वारा किया था। इसमें संस्कृत के शब्दों की प्रधानता तो रहती है परन्तु वे शब्द क्लिष्ट न होकर सरल ही होते हैं।

इसके विपरीत इस क्षेत्र में एक ऐसी भाषा-शैली का भी प्रयोग किया गया जिसमें अरबी-फारसी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—"तपस्वी! मेरी साँस के कुहरे से तुम्हारे गुल काले पड़ जायँ, मुरझा जायँ, मौत के रंग से रंगे शब मिट जायँ और साधना की पलकों में अलसित अपने बुत को सजा न सकने के कारण सदाएगैब तुम्हें कोसे, कैफियत माँगे तो तुम इन्कार न करना, न परेशान ही होना, क्योंकि मैं जल्द ही इस मार्ग से हट राजे-अजल में आशियाँ बनाऊँगी।"[2]

हिन्दी गद्यकाव्य का अधिकाँश भाग उस भाषा में लिखा गया है जो चलती हुई मिश्रित एवं सरल भाषा का रूप है। इसमें लेखकों ने स्थानीय भाषा के शब्दों और प्रयोगों का समावेश किया है। रायकृष्णदास, आचार्य चतुरसेन शास्त्री आदि ने अधिकतर भाषा के इसी रूप को अपनाया है। राय-कृष्णदास का एक उदाहरण प्रस्तुत है—"बच्चे ही तो ठहरे छैला। उसे माँ ने एक खिलौना दिया, आपने उसे छाती से लगा लिया। प्यार करने लगे। लोरियाँ सुनाने लगे। हथेलियों पर रखकर मिचकी देने लगे।"[3]

भाषा के उपर्युक्त विभिन्न रूपों के अनुसार ही हिन्दी गद्यकाव्य लेखकों ने विभिन्न प्रकार की शैलियाँ अपनायी हैं। ये शैलियाँ चार प्रकार की मिलती हैं—(१) धारा शैली, (२) तरङ्ग शैली, (३) विक्षेप शैली, तथा (४) प्रलाप शैली। इनमें से प्रत्येक शैली के उदाहरण दृष्टव्य हैं—

धारा शैली—"भागवत भूषण। कौन कहता है कि तू कोरा राजनीतिक पथ-प्रदर्शक है। तू तो एक शुद्ध भागवत है। तेरी प्रेमान्यता में गोपिकाओं की, कीर्त्तन में गौरांग देव की और भक्ति-विह्वलता में मीरा की प्रतिमूर्ति

---

१. तरंगिणी—जगदीश झा विमल।
२. दुपहरिया के फूल—दिनेशनन्दिनी डालमिया।
३. साधना—रायकृष्णदास।

छायावादी प्रभाव से समन्वित शृङ्गार का रूप—"तुम्हारी मुस्कान का यह कैसा अद्भुत प्रभाव है कि उसकी कल्पना तक मेरे मन को सब प्रकार के दुखों और क्लेशों से बचाये रखती है। तुम्हें मुस्कराते देख मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान ने मेरे उद्धार हेतु तुम्हारा शरीर धारण किया है।"[१]

राष्ट्रीय भावना-समन्वित वीर रस का रूप—" तू कैसा भारतीय सैनिक है ? पड़े-पड़े कैसे काम चलेगा ? उठ, आँख खोल ! देख, युद्धारम्भ होने ही वाला है। यह विप्लव बेला है। क्रान्ति की काली-काली घटायें घिरने लगी हैं। कैसा विकराल वातावरण है। दनुज-दल-मर्दिनी रणचन्डी समरभूमि पर तांडव नृत्य करने जा रही है। क्या तुझे उसके लोक-प्रकम्पक नूपुरों का छम-छम शब्द सुनाई नहीं देता ? उद्भ्रान्त दिशाएँ थर-थर काँप रही हैं। ब्रह्मांड विक्षिप्त हो उठा है। समस्त जीव-जन्तु त्रस्त हो उठे हैं। प्रशान्त नभोमंडल के वज्रोपम वक्षस्थल पर विप्लव की रेखाएँ खचित हो गई हैं।"[२]

करुण रस का रूप—"ओह ! वह मधुर चितवन ! वे नेत्र जो अस्त होते हुए सूर्य के-से प्रतिबिम्ब, रक्ताम्बर के छोटे से तारे के समान थे, क्या मैं कभी उन्हें स्वप्न में देखने का साहस भी न करूँ ? उस दिन तुम मुझे देखकर मुस्कराईं थीं तब मैं अपने जीवन के समस्त उल्लास के साथ दौड़ा था और कहा था, ठहरो। पर तुम किस लोक में हँसने को चली गईं ? सिर्फ एक बार हँसकर।"[३]

भाषा, अलंकार और भाव-व्यंजना शैली की दृष्टि से भी हिन्दी गद्यकाव्य अपनी एक विशिष्ट विशेषता रखता है।

भाषा की दृष्टि से हिन्दी गद्यकाव्य के तीन प्रधान रूप मिलते हैं—(१) संस्कृत मिश्रित, (२) अरबी-फारसी मिश्रित, तथा (४) सरल। संस्कृत मिश्रित भाषा के भी दो रूप मिलते हैं—(१) क्लिष्ट संस्कृत मिश्रित तथा (२) सरल संस्कृत मिश्रित। क्लिष्ट संस्कृत मिश्रित भाषा में बाण की 'कादम्बरी' की शैली के अनुकरण पर बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', गोविन्दनारायण मिश्र तथा वियोगी हरि ने गद्यकाव्य लिखे हैं। आगे चल कर वियोगी हरि भी इस शैली को त्याग कर सरल शैली में रचना करने लगे थे। इस शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन वन तमाच्छन्न कृष्ण बसन लसित निशि समय स्रजन मन मोहिनी रसिक रस सोहिनी वेणु बजाता है, माधवी मल्लिका मोद लोलुप मलिन्द गुंजार समुल्लसित, नवरस पूरित, सप्रेम प्रतिभा

---

१. आराधना—राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश'। २. अन्तर्नाद—वियोगी हरि। ३. अन्तस्तल—चतुरसेन शास्त्री।

समुदित कवि हृदय द्वारा स्वच्छन्द आनन्दकन्द सन्देश भेजता है और कभी-कभी विरह-दग्ध उर निस्सरित प्रेमाश्रु वर्षण वा संयोग गत प्रगाढ़ आलिंगन रोम-हर्षण में अपनी सुप्रीतिमय झलक दिखा जाता है।"[1]

परन्तु हिन्दी गद्यकाव्य के क्षेत्र में इस क्लिष्ट शैली का अधिक प्रचार न हो सका। प्रचार उसी शैली का अधिक हुआ जिसका प्रारम्भ रायकृष्णदास ने 'साधना' नामक गद्यकाव्य संग्रह द्वारा किया था। इसमें संस्कृत के शब्दों की प्रधानता तो रहती है परन्तु वे शब्द क्लिष्ट न होकर सरल ही होते हैं।

इसके विपरीत इस क्षेत्र में एक ऐसी भाषा-शैली का भी प्रयोग किया गया जिसमें अरबी-फारसी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—"तपस्वी ! मेरी साँस के कुहरे से तुम्हारे गुल काले पड़ जायँ, मुरझा जायँ, मौत के रंग से रंगे शव मिट जायँ और साधना की पलकों में अलसित अपने बुत को सजा न सकने के कारण सदाएगैब तुम्हें कोसे, कैफियत माँगे तो तुम इन्कार न करना, न परेशान ही होना, क्योंकि मैं जल्द ही इस मार्ग से हट राजे-अजल में आशियाँ बनाऊँगी।"[2]

हिन्दी गद्यकाव्य का अधिकाँश भाग उस भाषा में लिखा गया है जो चलती हुई मिश्रित एवं सरल भाषा का रूप है। इसमें लेखकों ने स्थानीय भाषा के शब्दों और प्रयोगों का समावेश किया है। रायकृष्णदास, आचार्य चतुरसेन शास्त्री आदि ने अधिकतर भाषा के इसी रूप को अपनाया है। राय-कृष्णदास का एक उदाहरण प्रस्तुत है—"बच्चे ही तो ठहरे छैला। उसे माँ ने एक खिलौना दिया, आपने उसे छाती से लगा लिया। प्यार करने लगे। लोरियाँ सुनाने लगे। हथेलियों पर रखकर मिचकी देने लगे।"[3]

भाषा के उपर्युक्त विभिन्न रूपों के अनुसार ही हिन्दी गद्यकाव्य लेखकों ने विभिन्न प्रकार की शैलियाँ अपनायी हैं। ये शैलियाँ चार प्रकार की मिलती हैं—(१) धारा शैली, (२) तरङ्ग शैली, (३) विक्षेप शैली, तथा (४) प्रलाप शैली। इनमें से प्रत्येक शैली के उदाहरण दृष्टव्य हैं—

धारा शैली—"भागवत भूषण। कौन कहता है कि तू कोरा राजनीतिक पथ-प्रदर्शक है। तू तो एक शुद्ध भागवत है। तेरी प्रेमान्यता में गोपिकाओं की, कीर्त्तन में गौरांग देव की और भक्ति-विह्वलता में मीरा की प्रतिमूर्ति

---

१. तरंगिणी—जगदीश झा विमल।
२. दुपहरिया के फूल—दिनेशनन्दिनी डालमिया।
३. साधना—रायकृष्णदास।

सामने आ खड़ी होती है। भक्ति की मूर्च्छित लता को आज तू अपने आँसुओं से सींच-सींच कर अनुप्राणित कर रहा है।"[१]

तरंग शैली—"मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो, कलम की जीभ को बोल लेने दो; किन्तु हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्द्ध-विराम; अल्हड़ता का अभिराम, केवल श्याम मात्र होगा। परन्तु ये काली बूँदें अमृत-बिंदुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक और मेरे लिये अधिक मूल्यवान हैं।"[२]

विक्षेप शैली—"मानव-प्रेम का वह प्रारम्भ, जीवन के साथ वह अनोखा खिलवाड़, प्रेम का क्षणिक अन्त, प्रणय का भंग होना,...टूट गए वे कोमल हृदय, उमड़ पड़े वे आँसू, निकल पड़ीं उनकी वे तपतपाती हुई उसाँसें...।" आदि[३]

प्रलाप शैली—"वह केवल ज्योति थी, वह केवल ज्योति की आत्मा थी—वह केवल ज्योति की आत्मा की परामूर्ति थी; वह केवल उस पर रूप की तन्मात्रा थी। वह वह थी—मैं वह था।" (मोहनलाल महतो 'वियोगी')

गद्यकाव्य में अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता का प्राधान्य रहने के कारण उसका अलंकार-विधान अत्यन्त आकर्षक और स्वाभाविक बन पड़ा है। भावावेश के आधिक्य के कारण केवल उन्हीं प्रसिद्ध अलंकारों का प्रयोग अधिक हुआ है जो भावोत्कर्ष में सहायक होते हैं और इसी कारण गद्यकाव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में हुआ है। अन्योक्ति, रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण, सन्देह, व्यतिरेक, विभावना, उपमा आदि अलंकारों का गद्यकाव्यकारों ने अधिक प्रयोग किया है। इन अलंकारों का प्रयोग दो रूपों में हुआ है। शैली के रूप में प्रयुक्त अलंकार तथा स्फुट रूप से आने वाले अलंकार। जब किसी गद्यकाव्य में प्रारम्भ से अन्त तक एक ही अलंकार छाया रहता है तो उसे शैली के रूप में प्रयुक्त अलंकार माना जाता है। अन्योक्ति, रूपक, मानवीकरण आदि इसी प्रकार के अलंकार हैं। शेष अलंकारों का प्रयोग स्फुट रूप से ही हुआ है। मानवीकरण हिन्दी गद्यकाव्य लेखकों का अत्यन्त प्रिय अलंकार रहा है। लगभग सभी लेखकों ने इसका प्रयोग किया है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"समुद्र और धरिणी का परिधान पहन विश्व-सुन्दरी गगन की मुग्ध शैया

१. अन्तर्नाद—वियोगी हरि। २. साहित्य-देवता—माखनलाल चतुर्वेदी
३. जीवन-धूलि—महाराजकुमार डा० रघुवीर सिंह

पर तारों का तकिया लगा कर सोती है। मराली के कोमल बच्चों के समान बादल उसकी स्वप्निल अलकों से अठखेलियाँ करता है और प्यार के चुम्बन शान्ति के श्वेत कपोलों में परिणत हो किसी हरित प्रदेश के प्रशान्त प्रांगण में उड़कर विश्रान्ति लेते हैं और सुरसरी ओजभरी बहाते हैं।"[१]

विकास

हिन्दी गद्यकाव्य का उद्भव और विकास देखने से पूर्व हमारे लिये यह देख लेना आवश्यक है कि गद्यकाव्य हिन्दी की अपनी मौलिक विधा है या किसी का अनुकरण। वैसे तो हमारे विद्वानों का यह स्वभाव बन गया है कि हिन्दी साहित्य की किसी भी विधा का विवेचन करते समय वे लोग सबसे पहले प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के साहित्यों की ओर नजर दौड़ाते हैं कि शायद उसका प्रारम्भ वहीं कहीं से हुआ हो। और जब उन्हें उस सुदूर प्राचीन में उस विधा से मिलता-जुलता तनिक सा भी कोई रूप मिल जाता है तो वे तुरन्त हिन्दी की उस विधा का सम्बन्ध वहीं से जोड़ने लगते हैं। और जब अपने इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं मिलती तो इसके उपरान्त उनकी दृष्टि बंगला और अंग्रेजी साहित्य की ओर जाती है कि शायद हिन्दी ने उक्त विधा का यह रूप वहीं कहीं से अपना लिया हो। समझ में नहीं आता कि हिन्दी-लेखकों में आत्महीनता की यह भावना इतनी प्रबल क्यों रही है, यद्यपि आज नया खून इस प्रकार की धारणाओं का विरोध करने लगा है। हिन्दी गद्यकाव्य के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में भी हमारे अनेक उच्चकोटि के विद्वानों की यह धारणा रही है कि हमारी यह विधा बंगला के प्रभाव स्वरूप ही अस्तित्व में आ पाई है। यदि एक बार किसी बङ्गला भाषा के लेखक ने एक फतवा दे दिया कि अमुक विधा का प्रारम्भ सर्वप्रथम बङ्गला भाषा में किया गया था और उसी का अनुकरण कर वह विधा अन्य भारतीय भाषाओं में लोकप्रिय हो सकी, तो हमारे शीर्षस्थानीय लेखक भी वही राग अलाप उठे। बङ्गाल के प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीतांजली' के अंग्रेजी अनुवाद के प्रकाशित एवं प्रचारित होने के उपरान्त ही भारतीय भाषाओं में गद्यकाव्य का लिखा जाना प्रारम्भ हुआ। इसी आधार पर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे हिन्दी के शीर्ष स्थानीय आलोचकों ने घोषणा कर डाली कि हिन्दी-गद्यकाव्य मूलरूप से 'गीतांजली' का ही ऋणी है। कुछ आलोचक तो उनसे भी आगे बढ़ गये और उन्होंने लिखा कि—"आधुनिक युग में कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की

---

१. उन्मन—दिनेशनन्दिनी डालमिया।

'गीतांजली' के प्रकाशन के अनन्तर विशुद्ध गद्य-गीत का प्रचलन हुआ है। जब अंग्रेजी में इसका गद्यानुवाद प्रकाशित हुआ तब अंग्रेजी साहित्य पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में रवीन्द्रनाथ के अनुकरण पर ही इनका प्रचलन हुआ।"[१]

वैसे आचार्य शुक्ल ने भी हिन्दी गद्यकाव्य पर 'गीताञ्जली' के प्रभाव को माना है और चन्द्रशेखर मुखर्जी के 'उद्भ्रान्त प्रेम' नामक गद्यकाव्य संग्रह से हिन्दी गद्यकाव्य को प्रभावित स्वीकार किया है। साथ ही हिन्दी के प्रसिद्ध गद्यकाव्य लेखकों में से रायकृष्णदास, महाराजकुमार डाक्टर रघुवीर सिंह, तेजनारायण काक आदि ने मुक्त रूप से 'गीताञ्जली' के प्रभाव को स्वीकार किया है। परन्तु दूसरी तरफ हिन्दी के अनेक आलोचकों एवं गद्यकाव्य-लेखकों ने 'गीताञ्जली' के इस प्रभाव को मानने से एकदम इन्कार कर दिया है। ऐसे गद्यकाव्य-लेखकों एवं आलोचकों में शिवशेखर द्विवेदी, जनार्दनराय 'नागर', वियोगी हरि, वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, विनोदशंकर व्यास तथा दिनेशनन्दिनी डालमिया प्रमुख हैं।

इनमें से कुछ के मत द्रष्टव्य हैं। वियोगी हरि ने लिखा है—"गद्यकाव्य लिखने की स्वयं भाव-स्फूर्ति हुई। जब पहिला गद्यकाव्य 'तरङ्गिणी' नाम का लिखा था तब रवीन्द्र की 'गीताञ्जली' का नाम भी मैंने नहीं सुना था, न बङ्गला से परिचय था और न तब गीताञ्जली का हिन्दी-अनुवाद ही हुआ था, जिसकी शैली 'कादम्बरी' से मिलती थी।" हिन्दी गद्यकाव्य की अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय लेखिका दिनेशनन्दिनी डालमिया का मत भी इस सम्बन्ध में जान लेना अत्यावश्यक है। आप लिखती हैं—"'शबनम', 'मौक्तिक माल' आदि रचनाएँ तो उस काल की हैं जब मैंने मैट्रिक भी पास नहीं किया था और मुझे हिन्दी का भी वैसा ज्ञान नहीं था जैसा एक लेखक को होना चाहिये। फिर मैंने किसी से प्रभावित होकर भी कभी नहीं लिखा। ऐसा लगता है कि सहसा होने वाले विस्फोट की तरह भाषा ही यह रूप ग्रहण कर गई।" इस वर्ग के अन्य लेखकों ने भी लगभग इसी प्रकार 'गीताञ्जली' या 'उद्भ्रान्त प्रेम' के प्रभाव को अस्वीकार किया है।

विद्वानों का एक वर्ग ऐसा और है जो हिन्दी महाकाव्य के उद्भव तथा विकास में बाण की 'कादाम्बरी' तथा रवीन्द्र की 'गीतांजली' दोनों का ही प्रभाव स्वीकार करता है। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा सद्गुरुशरण अवस्थी इसी मत के हैं। डा० रसाल पं०

---

१. साहित्य-विवेचन—क्षेमचन्द्र 'सुमन' तथा योगेन्द्रनाथ मल्लिक।

गोविन्दनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा ठाकुर जगमोहन-सिंह आदि भारतेन्दु कालीन गद्य लेखकों के लेखों में हिन्दी गद्यकाव्य का उद्‌भव मानते हैं तथा इस क्षेत्र की रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता को रवीन्द्र का प्रभाव स्वीकार करते हैं। मिश्र जी तथा अवस्थी जी भी उक्त दोनों प्रभावों के समन्वित रूप को ही हिन्दी गद्यकाव्य की मूल प्रेरणा स्वीकार करते हैं।

हिन्दी गद्य काव्य का विवेचन करते समय अनेक विकल्प सामने आते हैं। हिन्दी गद्यकाव्य का उद्‌भव गीतांजली के प्रभाव से मानना चाहिए या स्वतंत्र रूप से ? क्योंकि हिन्दी के गद्यकाव्य लेखकों में से एक वर्ग मुक्त हृदय से गीतांजली के प्रभाव को स्वीकार करता है और दूसरा इस प्रभाव को मानने से इंकार करता है जबकि हैं दोनों ही समकालीन। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी में गीतांजली के प्रकाशन से बहुत पहले से गद्यकाव्य का अस्तित्व मिलता है। मिश्र जी, प्रेमघन जी आदि पहले से गद्यकाव्य लिखते चले आ रहे थे। और उनसे भी पहले भारतेन्दु तथा ब्रजनन्दन सहाय की कृतियों में गद्यकाव्य के दर्शन मिल जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमें बहुत सावधान होकर इस समस्या पर विचार करना पड़ेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी गद्यकाव्य का प्रारम्भिक रूप तीन प्रकार के प्रभावों का फल है। पहला प्रभाव बाण की 'कादम्बरी' की शैली का है। बाबू ब्रजनन्दन सहाय, गोविन्द नारायण मिश्र, प्रेमघन आदि ने 'कादम्बरी' की सालंकार, सानुप्रासमयी भाषा से प्रभावित होकर अपनी गद्य रचनाओं में काव्यात्मक तत्वों का समावेश किया था। इन लोगों ने स्वतंत्र रूप से गद्यकाव्य नहीं लिखा था। ब्रजनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' नामक उपन्यास इति-वृत्तहीन सा कथा काव्य है जिसमें गद्यकाव्य के अनेक गुण मिल जाते हैं। आचार्य शुक्ल ने बंगला भाषा के लेखक चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय के 'उद्‌भ्रान्त प्रेम' नामक गद्यकाव्य को हिन्दी गद्य-काव्य का आधार बताया था। 'उद्‌भ्रांत प्रेम' का प्रकाशन सन् १९१५ में हुआ था जबकि 'सौन्दर्योपासक' सन् १९११ में प्रकाशित हो चुका था। इस समय तक 'गीतांजली' का अस्तित्व भी नहीं था। अतः उक्त लेखकों पर बंगला का प्रभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता।

दूसरी तरफ रायकृष्णदास, महाराजा कुमार डाक्टर रघुबीर सिंह, तेज-नारायण काक आदि का गद्यकाव्य है जिस पर गीताँजली का गहरा प्रभाव है और इस प्रभाव को इन लोगों ने स्वीकार भी किया है। रायकृष्णदास का 'साधना' नामक गद्यकाव्य संग्रह हिन्दी गद्यकाव्य का क्रोश स्तम्भ (Mile Stone) माना जाता है। परवर्ती अनेक गद्यकाव्य लेखकों ने 'साधना' की शैली को ही

अपनाया है । अतः लेखकों के इस वर्ग पर बंगला गद्यकाव्य का प्रभाव माना जा सकता है ।

लेखकों का तीसरा वर्ग वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, दिनेशनन्दिनी डालमिया आदि का है जिन्होंने किसी भी बाह्य प्रभाव को स्वीकार न कर अपनी उद्वेलित भावनाओं को ही अपने गद्यकाव्य की जननी बताया है । इनमें से नवीन लेखकों पर तो 'साधना' का प्रभाव पड़ना सम्भव माना जा सकता है परन्तु वियोगी हरि, शास्त्री जी एवं वर्मा जी पर इस प्रभाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि 'साधना' का प्रकाशन १९१६ में हुआ था और वियोगी हरि की 'तरंगिणी' १९१९ में, तथा शास्त्रीजी का 'अन्तस्तल' १९२१ में प्रकाशित हुआ था । आगे चलकर लेखकों के एक वर्ग ने स्वतंत्र रूप से इसी परम्परा को आगे बढ़ाया था जिनमें दिनेशनन्दिनी का नाम महत्वपूर्ण है । वैसे स्वतंत्र रूप से हिन्दी में गद्यकाव्य का प्रारम्भ राय-कृष्णदास की 'साधना' से ही माना जाता है । इस तरह हम हिन्दी गद्यकाव्य के मूल में 'कादम्बरी,' 'उद्भ्रान्त प्रेम' तथा 'गीतांजली' एवं स्वतंत्र भावोद्वेलन को मान सकते हैं । इन सभी के समन्वित प्रभाव से हिन्दी गद्यकाव्य आज की वर्तमान स्थिति तक पहुँचने में समर्थ हुआ है । हिन्दी गद्यकाव्य में रहस्यात्मक तत्व का समावेश करने का श्रेय गीतांजली को ही है ।

परन्तु हम इस विवेचन में उस साहित्यिक महर्षि का नाम भूल जाते हैं जो वास्तव में हिन्दी गद्यकाव्य का जन्मदाता था । और वह थे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र । हिन्दी गद्य में भावावेश से परिपूर्ण भावात्मक शैली के दर्शन सर्व-प्रथम भारतेन्दु की रचनाओं में ही होते हैं । 'चन्द्रावली' भावात्मक गद्य का एक अनुपम उदाहरण मानी जाती है । भारतेन्दु के इस भावात्मक गद्य का अनुकरण उनके समकालीन एवं परवर्ती अनेक लेखकों ने किया । भारतेन्दु का यह भावात्मक गद्य उनके नाटकों, निबन्धों तथा विभिन्न ग्रन्थों के समर्पणों आदि में बिखरा पड़ा है । उनके इस भावात्मक गद्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"नाथ,

यह एक नया कौतुक देखो । तुम्हारे सत्य-पथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया है । भला हम क्या कहें ? जो हरिश्चन्द्र ने किया वह तो अब कोई भी भारतवासी न करेगा पर उस वंश ही के नाते इनको भी मानना । हमारी करतूत तो कुछ भी नहीं, पर तुम्हारी तो बहुत कुछ है, बस इतना ही सही । लो सत्य हरिश्चन्द्र तुम्हें समर्पित है, अंगीकार करो । छल मत समझना, सत्य का शब्द साथ है, कुछ पुस्तक के बहाने समर्पण नहीं है ।"

हिन्दी गद्यकाव्य के उद्‌भव में भारतेन्दु के इस योगदान का महत्व डाक्टर कमलेश की इस टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है—"…हिन्दी गद्य में भारतेन्दु द्वारा जिस भावुकता का समावेश किया गया था और जिसने उनकी कृतियों में, चाहे वे उनके नाटक हों या समर्पण, चाहे निबन्ध हों या उनके द्वारा सम्पादित पत्रों की टिप्पणियाँ, कवित्व का समावेश किया था उसी ने गद्यकाव्य को जन्म दिया और उन्हीं के मंडल द्वारा सुसज्जित होकर उस रूप में आया जिसे सर्व श्री वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री ने प्रस्तुत किया।"

हिन्दी गद्यकाव्य के विकास में 'उद्‌भ्रान्त प्रेम' का भी काफी महत्वपूर्ण योग रहा है। इसने हिन्दी गद्यकाव्य को 'कादम्बरी' की क्लिष्ट एवं बोझिल शैली से बचाकर उसे सरल रूप प्रदान किया। 'गीतांजली' ने उसमें रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता का समावेश किया। "इस प्रकार भारतेन्दु-प्रवर्त्तित अलङ्करण युक्त शैली, 'उद्‌भ्रान्त प्रेम' की भावावेशमयी शैली और 'गीतांजली' के अनुकरण पर रायकृष्णदास द्वारा विकसित रहस्योन्मुख अध्यात्मवाद की शैली ने मिलकर स्वतंत्र रूप धारण किया।" (डाक्टर कमलेश)

विकास

भारतेन्दु को हिन्दी गद्य काव्य का प्रथभ मौलिक लेखक माना जाता है; यद्यपि उनसे भी पहले लल्लूजी लाल के 'प्रेमसागर' में इसके बीज मिल जाते हैं! भारतेन्दु के उपरान्त गोविन्द नारायण मिश्र, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहनसिंह की रचनाओं में गद्यकाव्य की शैली के दर्शन होते हैं। बालकृष्ण भट्ट जैसे विचार-प्रधान गद्य लेखकों की रचनाओं में भी यत्र-तत्र आलंकारिक शैली की गद्य-रचना मिल जाती है।

हिन्दी गद्यकाव्य का दूसरा चरण जयशंकर प्रसाद के 'इन्दु' तथा बाबू व्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' से प्रारम्भ होता है। और इस शैली को बल मिला 'उद्‌भ्रान्त प्रेम' के हिन्दी-अनुवाद से। इसके प्रकाशन ने हिन्दी गद्यकाव्य के क्षेत्र में एक क्रान्ति सी पैदा करदी। इससे प्रेरित होकर राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ('नवजीवन' या 'प्रेम लहरी'), मोहनलाल महतो 'वियोगी' ('धुँधले चित्र'), लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' ('वियोग') आदि ने सुन्दर गद्यकाव्य लिखे।

माखनलाल चतुर्वेदी अपने पत्र 'प्रभा' द्वारा कवित्वमय गद्यखंडों का एक नया रूप लेकर सामने आए जो 'प्रसाद' के ऐसे ही गद्यखंडों से काफी मिलता जुलता था। हिन्दी गद्यकाव्य के विकास में हमें प्रसाद एवं माखनलाल चतुर्वेदी के योगदान को नहीं भुला देना चाहिए। यद्यपि इन्होंने स्वतंत्र रूप से गद्यकाव्य

नहीं लिखे परन्तु फिर भी इन्होंने 'उद्भ्रान्त प्रेम' की अतिरंजित भावुकता के उफान को संयमित कर हिन्दी गद्यकाव्य को पथभ्रष्ट होने से बचा लिया ।

सन् १६१६ का वर्ष हिन्दी गद्यकाव्य के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। इसी वर्ष रायकृष्णदास की 'साधना' प्रकाशित हुई थी जिसने साहित्य की इस विधा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया था । इस ग्रन्थ में 'रहस्यवादी लाक्षणिक अभिव्यक्ति और शैलीगत सारल्य' के सर्वप्रथम दर्शन हुए । यह काल इस दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि इसी के आसपास वियोगी हरि की 'तरंगिणी' और चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' का प्रकाशन हुआ था जिनमें 'साधना' से भिन्न स्वतन्त्र पथ का अनुकरण किया गया था जो भारतेन्दु की भावावेशमयी शैली के अधिक अनुरूप और स्वतन्त्र गद्य-खंडों के रूप में था । हिन्दी गद्यकाव्य का वास्तविक विकास 'साधना', 'तरंगिणी' और 'अन्तस्तल' से ही मानना चाहिए । वियोगी हरि ने भक्ति,प्राकृतिक आनंद, स्वदेश और समाज, मानस-मिलन आदि पर लेखनी उठाई थी और शास्त्री जी ने लज्जा, वियोग, अतृप्ति आदि भावनाओं को साकार रूप देने का प्रयत्न किया था । इसके उपरान्त रायकृष्णदास ने अपने आगामी संग्रहों 'छायापथ' और 'प्रवाल' में 'साधना' वाली शैली ही अपनाई । वियोगी हरि का 'प्रार्थना' नामक संग्रह भी उसी पुरानी भक्ति-प्रधान शैली में निकला । इस बीच राय-कृष्णदास खलील जिब्रान के 'दी मैडमैन' का 'पगला' नाम से अनुवाद कर संवाद-शैली का प्रणयन कर चुके थे, जिसे आगे चल कर अनेक लेखकों ने अपनाया था ।

सन् १६२५ से लेकर १६३० तक हिन्दी में अनेक गद्यकाव्य संग्रहों का प्रकाशन हुआ जिनमें भक्ति, सेवा, प्रेम, राष्ट्रीयता आदि भावनाओं को प्रमुख स्थान मिला और शैलियाँ पूर्ववर्ती ही अपनाई गईं । इनमें वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद', हृदयनाथ पांडेय के 'मनोव्यथा','मोन्मत्त',देवदूत विद्यार्थी का 'कुमार हृदय का उछ्वास', सद्गुरुशरण अवस्थी का 'भ्रमित पथिक', तथा केशवलाल झा का 'प्रलाप' उल्लेखनीय है । १६२८ में वृन्दावन लाल वर्मा का 'प्रेम की हिलोर' तथा जगदीश झा विमल की 'तरंगिणी' प्रकाश में आई । १६३० के लगभग मोहनलाल महतो 'वियोगी' का 'धुँधला चित्र' और भगवतीचरण वर्मा का 'एक दिन' प्रकाशित हुए ।

इस काल तक 'उद्भ्रान्त प्रेम' की शैली ने हिन्दी गद्यकाव्य का पीछा नहीं छोड़ा था । 'धुँधला चित्र' इसका प्रमाण है । आगे चल कर लक्ष्मी-नारायण सिंह 'सुधांशु' के 'वियोग' में भी इसी शैली के दर्शन होते हैं । परन्तु इस समय तक 'साधना' वाली शैली अधिक प्रचार पा चुकी थी जिसका

अनुकरण शान्ति प्रसाद वर्मा के 'चित्रपट', चन्द्रशेखर सन्तोषी के 'विप्लव की इच्छा' आदि संग्रहों में किया गया।

१९३० के पश्चात् हिन्दी गद्यकाव्य विषय-वस्तु की दृष्टि से एक नया मोड़ लेता है। अनेक नए गद्यकाव्य-संग्रह प्रकाश में आते हैं जो कला, विषय-वैविध्य एवं परिष्कृत भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। वियोगी हरि के 'ठण्डे छींटे' में शूद्र, साम्प्रदायिक एक्य, आत्म-परिष्कार की भावना आदि का चित्रण हुआ। अज्ञेय के 'भग्नदूत' में क्रान्तिवादी भावनाओं और रोमान्टिक तत्वों के दर्शन हुए। नोखेलाल शर्मा के 'मणिमाला' में 'साधना' के पथ को ही अपनाया गया परन्तु नवीन भावावेश के साथ। तेजनारायण काक के 'मदिरा' में 'गीतांजलि' का नवीन प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ, रामकुमार वर्मा का 'हिमहास' प्रकृति-दर्शन और देश के प्रति कर्त्तव्य पालन की भावना को लेकर सामने आया। रामेश्वरी देवी गोयल का 'जीवन का सपना' सांकेतिक शैली में हृदय की पीड़ा को मुखर कर गया।

सन् १९३७ से दिनेशनन्दिनी डालमिया के इस क्षेत्र में पदार्पण करने से हिन्दी गद्यकाव्य पुनः एक नई करवट लेता है। लौकिक प्रेम के रंगीन चित्र पहली बार उनके 'शबनम' नामक संग्रह में दिखाई पड़ते हैं और इससे डाक्टर कमलेश के शब्दों में "गद्यगीत की धारा में हलचल मच जाती है।" दिनेशनन्दिनी ने प्रायः गद्यगीत ही अधिक लिखे हैं। प्रो० विनयमोहन शर्मा हिन्दी गद्यकाव्य के इतिहास में दिनेशनन्दिनी और माखनलाल चतुर्वेदी का महत्व बताते हुए कहते हैं—"मेरा मत है कि गद्यगीत की रचना में दिनेशनन्दिनी और गद्यकाव्य की रचना में माखनलाल सी भावुकता और कल्पनाशीलता बहुत कम गद्यकवियों में परिलक्षित होती है। सूक्तिकार की दृष्टि से माखनलाल का प्रतिद्वन्द्वी कदाचित ही कोई हिन्दी कवि हो।"[1]

आगे चल कर दिनेशनन्दिनी के नवीन संग्रहों में से 'शारदीया' में उनकी व्यथा और उग्र हो उठती है तथा 'जागृत स्वप्न' में देश और समाज का चित्रण प्रमुख रूप धारण कर लेता है। उनके आगामी संग्रहों 'वंशीरव' में प्रेम की वही तीव्रता और कसक, 'उन्मन' में आध्यात्मिक स्पर्श, 'स्पन्दन' में मांसल सौन्दर्य है।

इसी काल में रावी की 'पूजा', भँवरमल सिंघी की 'वेदना' और नारायण दत्त बहुगुना की 'विभावरी' में 'गीतांजली' ही नवीन स्वर के साथ बोलती प्रतीत होती है। महाराज कुमार रघुवीरसिंह 'शेष स्मृतियाँ' में ऐतिहासिकता को गद्यकाव्य का रूप पहना कर एक नई शैली का प्रवर्त्तन करते हैं। अज्ञेय

१—हिन्दी गद्य काव्य—भूमिका भाग।

अपनी 'चिन्ता' में फ्रायड के सिद्धान्त का सहारा लेते हैं और परमेश्वरी लाल गुप्त 'बन्दी की कल्पना' में जेल-जीवन का चित्रण करते हैं। रावी की शुभ्रा यौवन की तीखी अतृप्ति है। तेजनारायण काक 'निर्झर और पाषाण' में खलील जिब्रान की शैली का अनुकरण करते है और माखनलाल चतुर्वेदी अपने 'साहित्य देवता' द्वारा लाक्षणिक और रहस्यात्मक शब्दावली में देशभक्ति और प्रेम की अनूठी व्यंजना कर हिन्दी गद्यकाव्य में एक नवीन धारा का प्रवर्त्तन करते हैं। चतुरसेन शास्त्री का 'जवाहर' प्रशस्ति-गायन को लेकर चलता है। रघुबरनारायण सिंह का 'हृदय तरंग', रामनारायण सिंह का 'मिलन पथ', बालकृष्ण बल्दुवा का 'अपने गीत', ब्रह्मदेव के 'निशीथ' और 'आँसू भरी धरती', विद्यावती देवी भार्गव का 'श्रद्धांजलि' आदि रचनायें इस परम्परा को समृद्ध बनाने में सहायक हैं। स्नेहलता शर्मा 'विषाद' में तथा व्योहार राजेन्द्रसिंह 'मौन के स्वर' में नवीन रूप लेकर सामने आते हैं। महावीरशरण अग्रवाल का 'गुरुदेव' अरविन्द दर्शन से तथा शकुन्तला कुमारी रेणुका 'उन्मुक्ति' में वेदान्त और प्रेम की भावना लेकर चले हैं।

हिन्दी में मौलिक कृत्तियों के अतिरिक्त अनेक अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें देशी-विदेशी अनेक लेखकों की रचनाओं को हिन्दी में रूपान्तरित किया गया है।

हिन्दी में कुल मिला कर लगभग एक सौ गद्य काव्य प्रकाशित हुए हैं। यह छोटी सी संख्या इस बात का प्रमाण है कि यह विधा हिन्दी में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकी और आजकल तो इस विधा के दर्शन बहुत कम होते हैं।

५१—भक्ति : स्वरूप और विकास

हम पीछे भक्तिकाल का विवेचन करते हुए भारतीय भक्ति-आन्दोलन का संक्षिप्त परिचय दे आये हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम 'भक्ति' का विश्लेषण करते हुए 'भक्ति' शब्द के अर्थ, उसके प्रकार, विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों का परिचय आदि दिखाकर भक्ति का एक समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे और साथ ही उसके विकास पर भी पुनः एक दृष्टि डालेंगे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रत्येक धर्म के तीन क्षेत्र माने हैं—

१. **आप्त शब्द**—जिसका शासन कर्म तथा थोड़ा बहुत बुद्धि पर भी पाया जाता है।

२. **बुद्धि**—जो मार्ग निश्चय करती है।

३. **हृदय**—जिनकी उमंग में लोग उस मार्ग को जगमगाते हुए आप से आप चले चलते हैं।

उपर्युक्त तीनों क्षेत्रों को दूसरे शब्दों में कर्म मार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्ग कहा जाता है। धर्म का शासन-पक्ष किसी कर्म के पालन के फल का लोभ और उल्लंघन के दण्ड का भय दिखाकर आज्ञा देता है कि—'ऐसा करो, ऐसा न करो; इसके विपरीत धर्म का बुद्धि पक्ष (ज्ञानमार्ग) विवेक को जाग्रत करने का प्रयत्न करते हुए समझता है कि—'ऐसा करना चाहिए और ऐसा नहीं करना चाहितु; ऐसा करना उचित है और ऐसा करना अनुचित।' शुक्ल जी इन दोनों मार्गों पर चलने वालों को 'शुष्क धार्मिक' कहते हैं। इनमें से कुछ लोग तो धर्म के विधि-निषेध वाले शासन क्षेत्र तक ही रह जाते हैं जो कर्म मार्गी कहलाते हैं तथा कुछ उनसे थोड़ा और आगे बढ़कर बुद्धि पक्ष का अव-लम्बन करते हैं। ये ही ज्ञानमार्गी कहलाते हैं। शुक्ल जी 'भक्त धार्मिकों' को इन दोनों से श्रेष्ठ मानते हैं। आप इसका विवेचन करते हुए लिखते हैं—

"इन दोनों प्रकार के शुष्क धार्मिकों से भक्त धार्मिक श्रेष्ठ होते हैं जो धर्म के रसात्मक स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं। शब्दावलम्बी शासन पक्ष-दर्शी शुष्क धार्मिक के लिए धर्म राजा है। जिसके सामने वह प्रजा की तरह बड़े अदब कायदे के साथ—नियम और विधि के पूरे पालन के साथ—डरता-डरता जाता है। बुद्धिपक्ष दर्शी के लिए धर्म गुरु या आचार्य है जिसके सामने वह

विनीत शिष्य के रूप में शंका-समाधान करता पाया जाता है। पर भक्त धार्मिक के लिए धर्म प्यार से पुकारने वाला पिता है। उसके वह सामने वह भोले-भाले छोटे बच्चे की तरह जाता है, कभी उसके ऊपर लोटता है, कभी सिर पर चढ़ता है, यहाँ तक कि कभी-कभी दाढ़ी भी पकड़ लेता है। वह धर्म को प्यार करता है; धर्म उसे अच्छा लगता है। उसका आनन्दलोक भी शुष्क धार्मिकों के स्वर्ग से ऊपर है। वह प्रिय या उपास्य का सामीप्य है।"[२]

इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार—"भक्ति मार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्म भावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है। स्वरूप की यह प्रतिष्ठा तत्व चिंतन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति के द्वारा ही हो सकती है और सर्वत्र हुई है।" धर्म के इस अन्तिम रसात्मक पक्ष अर्थात् भक्ति तक मनुष्य का हृदय उपास्य के स्वरूप की उन्नत भावना के उपरान्त पहुँचा है।

शुक्ल जी की भक्ति-विषयक उक्त व्याख्या को समझने के लिए हमें प्राचीन एवं नवीन विद्वानों या ग्रन्थों द्वारा प्रस्तुत की गई भक्ति की व्याख्या को भी समझ लेना आवश्यक है।

'भक्ति' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—'भगवान की सेवा करना।' यह संस्कृत के 'भज सेवायाम्' धातु से बनाया गया है। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में भक्ति का विभिन्न प्रकार से विवेचन किया गया है। 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' के अनुसार—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् ईश्वर में अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति है। 'नारद भक्ति सूक्ति' का कहना है कि—"स त्वस्मिन परम प्रेम रूपा" अर्थात् ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है। श्रीमद्भागवत भक्ति का मूलाधार ग्रन्थ माना जाता है। उसमें भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा गया है—

"स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता यथाऽऽत्मा संप्रसीदति।।"

अर्थात् मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति ऐसी हो जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्ति से आनन्दस्वरूप भगवान् की उपलब्धि करके भक्त कृतकृत्य हो जाता है।[१] मध्वाचार्य के मतानुसार—"भगवान में महात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। इससे अधिक मुक्ति का कोई दूसरा सरल उपाय नहीं है। यह परमप्रेम जो पूर्वज्ञान से उत्पन्न होता है और सर्वदा विद्यमान रहता है, भक्ति कहा जाता है।"[२] उपनिषदों में भी भक्ति का

१—सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

१,२—हिंदी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय से उद्धृत।

विवेचन किया गया है। 'गोपालपूर्व तापनी' उपनिषद में कहा गया है – 'मन को भगवान में पूर्ण रूप से केन्द्रित करके किसी फल की इच्छा किए बिना उनका निरन्तर भजन करना ही भक्ति है।"[३] 'भक्तिरसामृत सिन्धु' के रचयिता श्री रूप गोस्वामी के अनुसार—"ज्ञान और कर्म के प्रभाव से रहित हो किसी प्रकार के फल की इच्छा किए बिना निरन्तर कृष्ण का प्रेमपूर्वक ध्यान करना ही भक्ति है।"[४] 'भक्ति रसायन' में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है— "मन की उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जो आध्यात्मिक साधना से द्रवीभूत होकर ईश्वर की ओर प्रवाहित होती है।"[५] डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार—"भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है।"[६]

भक्ति-विषयक उपर्युक्त परिभाषाओं एवं व्याख्याओं से स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति ईश्वर के प्रति निस्वार्थ प्रेम-भावना को कहते हैं।

विकास की दृष्टि से कर्म, ज्ञान और भक्ति का पूर्वापर सम्बन्ध माना जाता है। भक्ति की भावना एकाएक ही उत्पन्न न होकर मानव-विकास के विभिन्न चरणों की चरम परिणति है। मानव अपने आदिम रूप में कर्म मार्गी था; सभ्यता का विकास होने पर जब उसने विवेक से कार्य लेना आरम्भ किया तो ज्ञानमार्गी बना और जब ज्ञान द्वारा उसने ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा कर ली तो उस ईश्वर का सामीप्य लाभ करने के लिए वह भक्तिमार्गी बन गया। इस विकास को हमें तनिक विस्तारपूर्वक समझ लेना चाहिए।

मानव-विकास के लम्बे इतिहास में मानव की ईश्वर अथवा देवता विषयक भावनायें क्रमशः उन्नत, व्यापक एवं परिष्कृत होती चली गई हैं। अपनी आरम्भिक दशा में मानव की दृष्टि में देवता एक ऐसा शासक था जो पूजा करने पर रक्षा और कल्याण करता था तथा पूजा न पाने पर क्रुद्ध होकर अनिष्ट करता था। उसकी पूजा के मूल में भय और लोभ की प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं। वनदेवता, ग्रामदेवता, कुलदेवता आदि इसी प्रकार के देवता थे। कुछ अपेक्षाकृत सभ्य जातियों में प्राकृतिक व्यक्तियों—सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल आदि के नाना प्रकार के उपकारों से प्रभावित होकर इनकी उपासना की जाती थी जो कृतज्ञता का प्रकाशन होता था। शुक्लजी के शब्दों में—"ऐसे देवताओं की उपासना में धर्म के स्वरूप का आभास मिलता है। उपास्य के इस उपकारी स्वरूप के भीतर अखिल विश्व के पालक और रक्षक भगवान के व्यापक स्वरूप की भावना का अंकुर छिपा था।"

३,४,५,६—**हिंदी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन– डा० हिरण्मय से उद्धृत।**

कुल देवता आदि देवताओं की भावना ने ही आगे चलकर 'एकेश्वरवाद' (Monotheism) में विकास पाया। प्राचीन आर्य प्राकृतिक शक्तियों को देवता के रूप में स्वीकार करते थे जिनके विभिन्न रूप थे। आगे चलकर ऋग्वेद में ही इन सब देवताओं का तत्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्मवाद' (Monism) की प्रतिष्ठा की गई। इसके अनुसार अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र इत्यादि देवताओं को ब्रह्म के ही नाना रूप माना गया। इन देवताओं की पूजा का सम्बन्ध इनकी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के साथ था, मनुष्य के शील तथा आचरण के साथ नहीं। ये इसी लोक की सुख-समृद्धि से सम्बन्धित थे। और व्यक्ति का सुख इनसे ही सम्बन्धित था। आगे चल कर जब परलोक की भावना का उदय हुआ तो परलोक के सुख या 'निःश्रेयस' की कामना भी होने लगी। और निःश्रेयस की इस नवीन भावना ने देवताओं की पूजा से लोकहित को सम्बद्ध कर दिया। प्राचीन काल में किए जाने वाले बड़े-बड़े यज्ञ इसी भावना के प्रतीक थे। यह कर्मकाण्ड का रूप था।

परन्तु वैदिक कालीन जिस मननशीलता और भावुकता ने सम्पूर्ण देवों के एकत्व की भावना को जन्म दिया था वह आगे चलकर उपनिषद् काल में पूर्णता को पहुँची। इस भावना में सौंदर्य-भावना और शुद्ध अनुराग के बीज पहले से ही वर्तमान थे जिसने ब्राह्मण काल में 'नारायण' के रूप में सगुण ब्रह्म की स्थापना की। और जब आगे चल कर उस समष्टि शक्ति के स्वरूप के परिचय की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई तो चिन्तकों ने अपनी बुद्धि और कल्पना की दौड़ लगानी प्रारम्भ की। यहीं से 'ज्ञानमार्ग' का प्रारम्भ मानना चाहिए। यही भाव-समन्वित ज्ञानमार्ग आगे चल कर उपनिषद् काल में पूर्णता तक पहुँच चुका था।

उपनिषद्काल में इस ज्ञान के दो रूप थे। आचार्य शुक्ल के शब्दों में इनमें से—"एक तो हृदय-पक्ष को बिल्कुल छोड़ कर केवल बुद्धि या विशुद्ध ज्ञान को लेकर चला और दूसरा हृदय-पक्ष समन्वित ज्ञान को लेकर।" इनमें से एक ने कर्मकान्डों का पूर्ण विरोध करते हुए केवल मनन या चिन्तन के मार्ग को ही स्वीकार किया। इसे 'निबृत्ति-परक-ज्ञानमार्ग' कहा जाता है। दूसरे वर्ग ने ज्ञान के साथ-साथ निष्काम कर्म का भी उपदेश दिया। इसे कर्म-परक-ज्ञानमार्ग कहा गया है। कर्म परक ज्ञान मार्ग में बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय था। और इसी से आगे चलकर भक्ति का जन्म और विकास हुआ।

निवृत्ति परक ज्ञानमार्ग और कर्म परक ज्ञानमार्ग के अनुसार ब्रह्म के दो स्वरूपों की कल्पना की गई। कहीं उसे सगुण और व्यक्त कहा गया तथा कहीं निर्गुण और अव्यक्त। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को— "मनोमय, प्राण शरीर,

भारूप, सत्य संकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्व-काम, सर्व गन्ध, सर्वरस, सर्वत्र सर्व शक्तिमान" आदि कहा गया जो सगुण और व्यक्त रूप था। इसके विपरीत कठोपनिषद् में उसे—"अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस और अगन्ध" आदि कहा गया जो निर्गुण और अव्यक्त रूप था। वृहदारण्यक तथा ईशावास्य उपनिषदों में ब्रह्म को उभयात्मक अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार का माना गया।

भारतीय भक्ति मार्ग ब्रह्म के इसी उभयात्मक रूप को लेकर चला जिसमें मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त, चल-अचल, छोटा-बड़ा आदि दोनों प्रकार की भावनाओं का समान स्थान था। ब्रह्म के ये दोनों ही रूप नित्य और सत् हैं। इसी कारण ब्रह्म के सगुण और व्यक्त रूप को असत्, भ्रम या मिथ्या नहीं माना गया है। (आचार्य शुक्ल)

उपनिषद् काल से पूर्व उपास्य की केवल 'पूजा' की जाती थी। इस पूजा में 'उपासना' की भावना नहीं थी क्योंकि उपासना किसी स्वरूप की ही की जाती है। 'उपासना' की यह भावना 'पूजा' की भावना से अधिक व्यापक और परिष्कृत थी। उपासना द्वारा मानव ब्रह्म के और नजदीक पहुंच गया क्योंकि उसमें व्यक्तित्व और हृदय का योग था। इसी कारण इसे 'कर्म' से अधिक श्रेष्ठ माना गया।

कर्म के साथ मन के इस योग में मन की बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति दोनों का ही योग था। अर्थात् उसमें ज्ञान और उपासना, बुद्धितत्व और हृदयतत्व दोनों का मेल था। शुक्लजी के शब्दों में—"जहाँ से कर्म में हृदय-तत्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई वहीं से भक्तिमार्ग का आरम्भ मानना चाहिए।" और यहीं से व्यक्ति के सुख की कामना के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना का प्रचार बढ़ा।

श्री मद्भगवद् गीता में निष्काम कर्म तथा कर्म, ज्ञान और उपासना के समन्वय पर अधिक बल दिया गया। निष्काम कर्म से अभिप्राय उन कर्मों से था जो केवल अपने ही लाभ के लिए न किए जाकर लोक की रक्षा, पालन एवं रंजन की दृष्टि से किए जायँ। इसमें लोक कल्याण की भावना अत्यधिक प्रबल थी। और इस लोक कल्याण की साधना के लिए गीता में उपासना के लिए ब्रह्म के सगुण रूप को स्वीकार किया गया। इस सगुण रूप की अभिव्यक्ति लोक की रक्षा, पालन और रंजन करने वाले रूप में हुई। अतः उपास्य के रूप में नारायण या वासुदेव को स्वीकार कर लिया गया। उपासक को अपने उपास्य का ही अनुकरण करना चाहिए। अहिंसा भागवत धर्म का प्रधान लक्षण लोक कल्याण की भावना के कारण ही माना गया। ब्रह्म के इस स्वीकृत सगुण रूप में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप समाहित

थे। ब्रह्म के इस समन्वित रूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव था। ज्ञान मार्ग की सुनी सुनाई बातों के आधार पर ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने का दम्भ इसी कारण अधिक प्रचार न पा सका।

गीता में कर्म के फल की आसक्ति को समाप्त कर 'सर्वकर्म' स्वरूप भगवान के अनन्त दीप्ति, शक्ति, सौन्दर्य, ऐश्वर्य, माधुर्य से युक्त रूप की ओर मानव को आकर्षित किया गया। इसी आकर्षित होने को भक्ति कहते हैं। भक्ति के आलम्बन स्वरूप भगवान के जिस उपास्य रूप का चित्रण गीता में किया गया वह बहुत व्यापक था। वह लोकरक्षा और लोकमंगल करने वाली धर्मशक्ति का स्वरूप था। उसमें शक्ति, शील, सौन्दर्य, ऐश्वर्य का समन्वित रूप था। अवतार का हेतु इसी कारण लोक में धर्म की स्थापना करना माना गया था। आगे चलकर गीता के इस भक्तिमार्ग से लोक-धर्म-पक्ष या कर्मपक्ष हटता गया और आगे चलकर ऐसे माधुर्य पूर्ण उपास्य को अपनाया जाने लगा जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम का अवलम्बन हो सके। भगवान के लोकरक्षक गुण तिरोहित होने लगे। श्रीमद्‌भागवत में भगवान के इसी माधुर्य रूप की प्रतिष्ठा हुई। शुक्ल जी के शब्दों में—

"भागवत ने कृष्ण की वह मधुर मूर्त्ति सामने रखी जो प्यार करने योग्य हुई—उस ढङ्ग का प्यार जिस ढङ्ग के प्यार की प्रेरणा से माता-पिता अपने बच्चे को दुलारते-पुचकारते हैं, उस ढङ्ग का प्यार जिस ढङ्ग के प्यार की उमंग में प्रेमिका अपने प्रियतम का ललक कर आलिङ्गन करती है। भागवत ने भगवान को प्यार करने के लिए भक्तों के बीच खड़ा कर दिया।"

गीता में भक्ति का कर्म-ज्ञान-समन्वित रूप था। वहाँ मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा मानी गई तथा भक्ति को ज्ञान प्राप्ति का साधन माना गया। परन्तु भागवत में भक्ति को सर्वोपरि प्रधानता प्रदान कर उसे साधन न मान कर साध्य माना गया। यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या ज्ञान के बिना भी भक्ति सम्भव है? इसका उत्तर उपनिषदों में मिल जाता है। उपनिषदों ने पहल ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का ज्ञान करा कर तब उपासना का मार्ग खोला था। जब ज्ञान द्वारा जाने गए ब्रह्म के स्वरूप की ओर हृदय आकर्षित होता है तभी जीवन की सच्ची साधना प्रारम्भ होती है। ज्ञान द्वारा जाना हुआ ब्रह्म का स्वरूप जैसा होगा उस स्वरूप का भक्त वैसे ही स्वरूप को प्राप्त होगा। इसी कारण भक्ति मार्ग के विभिन्न आचार्य ज्ञानी और भक्त दोनों ही थे। तुलसी ने ज्ञान और भक्ति में जो किसी प्रकार का विरोध नहीं माना था उसका रहस्य यही था। क्योंकि उपास्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा तत्वचिन्तन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति के द्वारा ही हो सकती है और भक्ति

उपास्य के उसी स्वरूप की की जाती है। इसलिए ज्ञान के बिना भक्ति अधूरी है। सूर और तुलसी भक्त होने के साथ ही विद्वान् भी थे। इसी कारण वे भक्ति का वह स्वरूप उपस्थित करने में पूर्ण सफल हुए जहाँ कबीर आदि को असफलता मिली थी।[1]

अब हम भक्ति-विषयक उपर्युक्त विवेचन को यहीं समाप्त कर भक्ति के प्रकार, साधन तथा उसके विभिन्न सम्प्रदाओं का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

आचार्यों ने भक्ति के दो प्रधान रूप माने हैं—गौणी भक्ति तथा पराभक्ति। इनमें से गौणी भक्ति भक्ति का साधन पक्ष और पराभक्ति उसका साध्य पक्ष है। भगवान का निरन्तर आराधन, भजन, श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्ति का साधन पक्ष है और भगवान में परानुरक्ति (सिद्ध दशा की प्राप्ति) उसका साध्य पक्ष है। गौणी भक्ति के पुनः दो विभाग किए गये हैं—वैधी और रागानुगा। शास्त्रोक्त विधि-निषेधों का जिसमें पालन किया जाता है उसे 'वैधी' भक्ति कहते हैं। भगवान के प्रति अनन्य प्रेम तथा उससे उत्पन्न परम शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति जिससे हो वह 'रागानुगा' भक्ति है। इसमें शास्त्रोक्त विधि-निषेधों को कोई महत्व नहीं दिया जाता।

गौणी भक्ति के पाँच अंग माने गये हैं-—(१) उपासक, (२) उपास्य, (३) पूजा-द्रव्य, (४) पूजा विधि, तथा (५) मन्त्र जप। भागवत में मानव की वृत्तियों के आधार पर पहले भक्ति के चार भेद माने गये हैं—(१) सात्विकी, (२) राजसी, (३) तामसी, तथा (४) निर्गुण। इनमें से प्रथम तीन सकाम होती हैं। प्रथम में मुक्ति की कामना, द्वितीय में धन, घरबार आदि की इच्छा, तृतीय में शत्रुओं का नाश आदि की कामना रहती है। ये तीनों प्रकार निम्न कोटि की भक्ति के माने जाते हैं। इसमें सर्वश्रेष्ठ निर्गुण भक्ति है जिसमें किसी प्रकार की कोई कामना नहीं की जाती। न मुक्ति की तथा न अन्य किसी प्रकार की भौतिक सुख-सुविधा की। यही अनन्य भक्ति कहलाती है। अनन्य भक्त संसार के राग-द्वेषों से ऊपर उठकर सर्वथा निष्काम बन केवल भगवान के दर्शन में ही परम आनन्द का लाभ करता है।

भक्ति के साधन-पक्ष (गौणी भक्ति) को ध्यान में रखकर भागवत में पुनः भक्ति के नौ भेद माने गए हैं जो 'नवधा भक्ति' कहलाते हैं ये हैं—(१) श्रवण, (२) कीर्त्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य, तथा (९) आत्म-निवेदन। इनमें से अन्तिम

१—भक्ति का उपर्युक्त विकास शुक्लजी के आधार पर दिखाया गया है।

तीन—दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन रागानुगा भक्ति के अंग हैं तथा प्रथम छः वैधी भक्ति के। इनमें आत्म-निवेदन को इस नवधा-भक्ति की चरम परिणति माना गया है। वैधी भक्ति आगे चलकर नवधा भक्ति के अन्तिम तीन सोपानों में रागानुगा भक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है और आत्म-निवेदन रागानुगा भक्ति की चरम परिणति है। भक्ति की चरम परिणति आत्म-समर्पण इसी आत्म-निवेदन का अन्तिम रूप है। और आत्म-समर्पण का यही भाव शरणागति है जो भक्ति की चरम अवस्था है। इस नवधा भक्ति को सभी सगुण भक्तों ने स्वीकार किया है।

'नारद भक्ति सूत्र' में भक्ति को परम प्रेमरूपा मानकर उसकी ग्यारह आसक्तियाँ बताई गई हैं—(१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयासक्ति, तथा (११) परम विरहासक्ति।

भगवान के भक्तों में से ब्रज गोपियों में उपर्युक्त सम्पूर्ण आसक्तियाँ विद्यमान थीं क्योंकि वे प्रेमरूपा भक्ति की पूर्णता को पहुँच गई थीं। डाक्टर हिरण्मय के अनुसार—"जिनमें इन सभी आसक्तियों का विकास नहीं हो पाता उन्हें अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, इनमें से एक या एक से अधिक भावों से भगवान के साथ प्रेम करना चाहिए।"[१]

डा० हिरण्मय के अनुसार 'भक्ति रसामृत सिन्धु' के रचयिता चैतन्य मतावलम्वी गोस्वामी ने भक्ति को एक रस मानकर उसके दो प्रकार माने हैं—(१) मुख्य भक्ति रस तथा, (२) गौण भक्ति रस। मुख्य भक्ति रस के अन्तर्गत उन्होंने शान्त, प्रीति, प्रेम, वत्सल, मधुर आदि कोमल रसों को माना है तथा गौण भक्ति रस के अन्तर्गत हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि को। सभी वैष्णव आचार्यों ने मुख्य भक्ति रस को ही माना है। दास्य और सरूप भक्ति भाव उसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। सगुणोपासक भक्तों ने इन्हीं को अपनी भक्ति का आधार बनाया है। निर्गुणोपासकों ने दास्य, शान्त और माधुर्य भाव को ही अधिक अपनाया है। क्योंकि इसके लिए अवतार की अर्चना करने की जरूरत नहीं रह जाती। सभी वैष्णव भक्तों ने परमात्मा को 'पुरुष' मानकर उसके साथ सभी प्रकार के लौकिक सम्बन्ध—पति-पत्नी, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक आदि—जोड़े हैं। सूफी भक्तों ने परमात्मा को 'माशूक' अर्थात् 'प्रिया' मान उसके प्रति अपने रति भाव की अभिव्यक्ति कर उपासना की है।

१—हिंदी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय।

भक्ति की प्राप्ति किन साधनों द्वारा सम्भव होती है, इस विषय पर भी आचार्यों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। सभी ने सन्त-समागम, गुरु, शास्त्रों का अध्ययन आदि को भक्ति की प्राप्ति के लिए आवश्यक माना है। और यह सारे साधन भगवान की अनुकम्पा होने पर ही सुलभ होते हैं। कुछ भक्तों ने 'गुरु' को भक्ति-साधना का प्रधान अङ्ग माना है। कुछ ने तो गुरु को साक्षात् परब्रह्म मान कर उसी की उपासना की है। उपनिषदों में गुरु-भक्ति को परमात्मा की भक्ति के तुल्य माना गया है। गुरु को माता, पिता तथा साक्षात् ईश्वर बताया गया है। भक्ति-साधना में, चाहे वह निर्गुण की हो अथवा सगुण की, गुरु की महिमा सर्वोपरि रही है। गुरु के बिना ईश्वर-भक्ति की प्राप्ति असम्भव मानी गई है।

भक्ति-साधना के मार्ग में अनेक प्रकार के विघ्न भी आते हैं। दुष्टों की संगति करना, विषयों में आसक्ति का रहना, दम्भ करना, वाद-विवाद अर्थात् तर्क करते रहना आदि भक्ति-साधना के मार्ग के बहुत बड़े विघ्न हैं। यहां तक कि फल की आशा करना भी भक्ति-मार्ग में बाधक माना गया है। आचार्यों ने एक स्वर से भगवद् प्राप्ति का सर्वाधिक सरल मार्ग भक्ति मार्ग को ही माना है। अन्य मार्ग इतने पेचीदे, कठिन और लम्बे होते हैं कि उन पर भटक जाना सम्भव होता है; परन्तु भक्ति मार्ग के पथिक का पथ-प्रदर्शन तो स्वयं भगवान करते हैं और साथ ही उसकी रक्षा भी। ऐसी स्थिति में भक्त को किसी भी प्रकार का भय नहीं रह जाता। और अनन्य भक्ति की प्राप्ति तो केवल इसी मार्ग का अवलम्बन करने से होती है। गीता में इस बात को इस प्रकार कहा गया है—"अनन्य भक्त को ही भगवान के दर्शन होते हैं, जो न वेद से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही सम्भव है।"

विकास

अनादि काल से वैदिक-धर्म दो प्रधान शाखाओं में विकास को प्राप्त होता आया है—शैव मत तथा वैष्णव मत। इन दोनों ही मतों के मूल में भक्ति की धारा अद्यावधि प्रवाहित होती आई है। परन्तु वैष्णव मत के आश्रय में ही भक्ति की धारा अधिक महत्व पाती रही है। वैदिक धर्म का विकास क्रमशः भागवत, सात्वत और पांचरात्र मतों में पाया जाता है। दूसरे शब्दों में इसे विष्णु की उपासना का क्रमिक विकास भी कहा जा सकता है। विष्णु का आदि रूप वेदों में मिलता है। वहाँ विष्णु एक देवता है, साथ ही अन्य देवता भी हैं। परन्तु कालान्तर में सम्पूर्ण देवता विष्णु में ही समाहित होते जाते हैं। सब के गुण विष्णु के गुण मान लिये जाते हैं। विष्णु में चमत्कार एवं

अलौकिक शक्ति का समावेश होता है और अन्त में विष्णु को एक सर्वशक्तिमान, लोकरक्षक, सर्व श्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है।

विष्णु षट् ऐश्वर्यों से सम्पृक्त होने के कारण 'भगवत' कहलाये और उनकी उपासना करने वाले 'भागवत'। आगे चल कर महाभारत काल तक आते-आते विष्णु और वासुदेव-कृष्ण का एकीकरण हो गया। कृष्ण के यादव वंश को 'सात्वत' वंश भी कहा गया है; इसलिए 'भागवत' मत का दूसरा नाम 'सात्वत' भी पड़ गया। प्रमाण मिलते हैं कि ये सात्वत दक्षिण भारत तक अपने धर्म का प्रचार करने गए थे। गीता इस मत का प्रधान ग्रन्थ माना जाता है। उसके अनुसार भागवत मत का चरम लक्ष्य 'एकान्तिक भक्ति' माना गया है।

इस वैष्णव मत का अन्तिम विकसित रूप पाँचरात्र-मत के रूप में दिखाई पड़ता है। पांचरात्र-मत के उपास्य-देव भी 'वासुदेव' अर्थात् कृष्ण हैं। इस मत में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप स्वीकार किए गए हैं। इसका मुख्य उद्देश्य भक्ति के साधन-मार्ग का निरूपण करना रहा। और दुखमय संसार से मुक्ति पाने के लिए भक्ति को ही एकमात्र साधन माना गया। इस भक्ति की प्राप्ति के लिए भगवान की शरणागति अथवा प्रपत्ति को ही प्रधान साधन स्वीकार किया गया। पाँचरात्र के उपासकों के लिए 'शरणागति' केवल मानसिक भावना ही न रह कर, उसका व्यावहारिक जीवन में विधिवत् अनुष्ठान करना भी अनिवार्य बन गया। इस पांचरात्र मत के समावेश से 'भक्ति' ने एक लोकधर्म का स्वरूप धारण कर लिया। और 'शरणागति' की इसी भावना को लेकर परवर्ती आचार्यों ने भक्ति को चरम विकास की सीमा तक पहुँचा दिया।

भक्ति के विकास की इस धारा में अनेक विघ्न भी उपस्थित हुए। जैन, बौद्ध आदि मतों ने भक्ति के मूल स्रोत वेदों का खण्डन करना प्रारम्भ किया। इस खण्डन और विरोध का परिणाम वज्रयान, सहजयान आदि वाममार्गी सम्प्रदायों के रूप में सामने आया। ये सम्प्रदाय "लोक-जीवन को विकृत आचरणों और आदर्शभ्रष्ट विकृत उपासना-मार्गों की ओर ले जा रहे थे।" फलस्वरूप वैदिक धर्म निष्प्रभ हो उठा था। शंकराचार्य ने इस स्थिति को समझा और इन सम्प्रदाओं का विरोध करने के लिये "एक ओर प्राचीन औपनिषदिक धर्म की पुनः स्थापना की; दूसरी ओर वेद-विरोधी विचारधारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्क मूलक आवेग को रोक कर प्रबल आध्यात्मिक दर्शन का प्रतिपादन किया।"[1]

१—हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक-अध्ययन डा० हिरण्मय।

शंकराचार्य का यह अद्वैतवादी दर्शन उपर्युक्त विकृतियों के बढ़ाव को रोकने में तो समर्थ हुआ परन्तु उनका दर्शन अपनी अत्युच्चता एवं जटिलता के कारण जन-मानस को प्रभावित करने में असमर्थ रहा। अद्वैतवाद आचार्यों के वाद-विवाद की वस्तु ही अधिक बन सका। साधारण भावुक भक्त हृदय शंकर के अद्वैत में कोई अवलम्ब न पा सका। फिर भी इस मत ने इतना प्रभाव डाला कि अनेक आचार्य दार्शनिक दृष्टि से इसका खंडन करने के लिए उठ खड़े हुए। इन वैष्णव आचार्यों ने, जिनमें अधिकांश दक्षिण भारत के थे, अपने भक्ति प्रधान सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए संगठित रूप से आन्दोलन चलाया जिसका प्रभाव हिन्दी क्षेत्र एवं साहित्य पर बहुत गहरा और व्यापक पड़ा।

इन वैष्णव आचार्यों ने अपने भक्ति सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए अद्वैतवाद का खंडन करते हुए अनेक सम्प्रदायों की स्थापना की।

इन आचार्यों में सर्व प्रथम स्थान तमिलनाड के आचार्य नाथमुनि का माना जाता है जो नवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए थे। उन्होंने विशिष्टाद्वैत मत के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन कर आलवार भक्तों के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। भक्ति प्रधान वैष्णव मत के इस संगठन में आगे चल कर यामुनाचार्य ने बहुत बड़ा काम किया। इन्होंने पाँचरात्र के सिद्धान्तों तथा 'शरणागति' के तत्वों का विशद् एवं मार्मिक विवेचन किया। इन दोनों भक्त-आचार्यों द्वारा निर्मित पृष्टभूमि के आधार पर श्रीवैष्णव मत को सुव्यवस्थित रूप देने एवं उसका देशव्यापी प्रचार करने का सर्वाधिक श्रेय आगे चलकर श्रीरामानुजाचार्य को ही मिला। उन्होंने श्री सम्प्रदाय अथवा विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की तथा ग्रन्थ लिखकर श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के दार्शनिक तत्वों का प्रतिपादन किया।

अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म एक हैं। जीव ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म के समान ही मुक्त तथा स्वप्रकाश है। संसार भ्रम अतः माया है। रामानुजाचार्य ने शंकर के इस मायावाद का खण्डन करते हुए ब्रह्म की एकता को अद्वितीय नहीं माना बल्कि ब्रह्म को चिन्मय आत्मा तथा जड़ प्रकृति से विशिष्ट घोषित किया। उन्होंने ब्रह्म को तीन गुणों से युक्त माना। साथ ही उन्होंने जीव और ब्रह्म की व्याख्या करते हुए बताया कि जीव न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और न नित्य मुक्त ही। जीव ब्रह्म से निर्गत होने के कारण उसी का अंश है। जीव और जगत अनित्य न होकर नित्य तथा स्वतन्त्र हैं और ईश्वर के आधीन। ईश्वर जीव का नियामक है। जीव की मुक्ति ईश्वर पर ही अवलम्बित है। शङ्कर के अनुसार अविद्या जीव के बन्धन का एकमात्र

कारण है और यह बन्धन ज्ञान के द्वारा ही काटा जा सकता है। अज्ञान का नाश होते ही मुक्त आत्मा अपने स्वरूप में प्रकाशित होता है। परन्तु रामानुजाचार्य उपासना द्वारा ही जीव की मुक्ति को सम्भव मानते हैं। वे ज्ञान को मुक्ति का साधन न मानकर केवल भक्ति को मानते हैं। रामानुजाचार्य ने अपने श्री सम्प्रदाय में एकमात्र विष्णु की आराधना का विधान कर मानवमात्र को भक्ति का अधिकारी घोषित कर दिया। रामानुजाचार्य के इस सम्प्रदाय का उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

बारहवीं सदी में आकर श्री मध्वाचार्य ने शङ्कर के अद्वैतवाद का तीव्र विरोध करते हुए रामानुज के विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया और द्वैतमत अर्थात् ब्रह्म-सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने भगवान और भक्त की पृथकता को भक्ति की पहली शर्त माना। इन दोनों में स्थायी अन्तर रहता है। रामानुज ने शङ्कर के अद्वैतवाद के साथ जो समझौता सा कर लिया था उसका मध्वाचार्य ने पूर्ण बहिष्कार कर दिया। इन्होंने श्रीहरि को अनन्तगुण परिपूर्ण, जगत को सत्य तथा जीव को श्रीहरि के किंकर माना। इन्होंने उपासना के दो प्रकार माने—शास्त्राभ्यास द्वारा तथा ध्यान द्वारा। शास्त्राभ्यास से अज्ञान दूर होता है और वस्तुतत्व का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही परम भक्ति की प्राप्ति हो सकती है। इस मत में भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान कर उसे 'अमला भक्ति' अर्थात् सर्वथा दोष रहित भक्ति कहा गया है और यह भक्ति भगवान की कृपा होने पर प्राप्त होती है। उत्तर भारत का गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय माध्व मत से प्रभावित बताया जाता है।

मध्वाचार्य से पूर्व श्री निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की थी जिसे सनक-सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इन्होंने भी शङ्कर के अद्वैतवाद का विरोध किया था। इनके अनुसार जीव, जगत और ईश्वर भिन्न होते हुए भी जीव और जगत का अस्तित्व एवं व्यापार ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित रहता है। जीवात्मा अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। ईश्वर की कृपा से ही जीव को अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है। ब्रह्म अद्वैत, निर्विकार और अखण्ड है। ब्रह्म के निर्विकार रहते हुए भी माया के कारण उसका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपों में प्रकट होता है। इनके अनुसार ब्रह्म के तीन रूप हैं—'पर अमूर्त्त' अर्थात् परम अक्षरतत्व, 'अपर अमूर्त्त' अर्थात् सर्वदृश्य और 'अपर मूर्त्त' अर्थात् जीव रूप। इसी कारण इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं।

उपासना के क्षेत्र में यह श्री सम्प्रदाय के भक्तियोग के समान है। इसमें भी शरणागति पर विशेष बल दिया गया है। "प्रपत्ति के द्वारा भगवद्-अनुग्रह

कारण है और यह बन्धन ज्ञान के द्वारा ही काटा जा सकता है। अज्ञान का नाश होते ही मुक्त आत्मा अपने स्वरूप में प्रकाशित होता है। परन्तु रामानुजाचार्य उपासना द्वारा ही जीव की मुक्ति को सम्भव मानते हैं। वे ज्ञान को मुक्ति का साधन न मानकर केवल भक्ति को मानते हैं। रामानुजाचार्य ने अपने श्री सम्प्रदाय में एकमात्र विष्णु की आराधना का विधान कर मानवमात्र को भक्ति का अधिकारी घोषित कर दिया। रामानुजाचार्य के इस सम्प्रदाय का उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

बारहवीं सदी में आकर श्री मध्वाचार्य ने शङ्कर के अद्वैतवाद का तीव्र विरोध करते हुए रामानुज के विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया और द्वैतमत अर्थात् ब्रह्म-सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने भगवान और भक्त की पृथकता को भक्ति की पहली शर्त माना। इन दोनों में स्थायी अन्तर रहता है। रामानुज ने शङ्कर के अद्वैतवाद के साथ जो समझौता सा कर लिया था उसका मध्वाचार्य ने पूर्ण बहिष्कार कर दिया। इन्होंने श्रीहरि को अनन्तगुण परिपूर्ण, जगत को सत्य तथा जीव को श्रीहरि के किंकर माना। इन्होंने उपासना के दो प्रकार माने—शास्त्राभ्यास द्वारा तथा ध्यान द्वारा। शास्त्राभ्यास से अज्ञान दूर होता है और वस्तुतत्व का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही परम भक्ति की प्राप्ति हो सकती है। इस मत में भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान कर उसे 'अमला भक्ति' अर्थात् सर्वथा दोष रहित भक्ति कहा गया है और यह भक्ति भगवान की कृपा होने पर प्राप्त होती है। उत्तर भारत का गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय माध्व मत से प्रभावित बताया जाता है।

मध्वाचार्य से पूर्व श्री निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की थी जिसे सनक-सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इन्होंने भी शङ्कर के अद्वैतवाद का विरोध किया था। इनके अनुसार जीव, जगत और ईश्वर भिन्न होते हुए भी जीव और जगत का अस्तित्व एवं व्यापार ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित रहता है। जीवात्मा अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। ईश्वर की कृपा से ही जीव को अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है। ब्रह्म अद्वैत, निर्विकार और अखण्ड है। ब्रह्म के निर्विकार रहते हुए भी माया के कारण उसका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपों में प्रकट होता है। इनके अनुसार ब्रह्म के तीन रूप हैं—'पर अमूर्त्त' अर्थात् परम अक्षरतत्व, 'अपर अमूर्त्त' अर्थात् सर्वदृश्य और 'अपर मूर्त्त' अर्थात् जीव रूप। इसी कारण इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं।

उपासना के क्षेत्र में यह श्री सम्प्रदाय के भक्तियोग के समान है। इसमें भी शरणागति पर विशेष बल दिया गया है। "प्रपत्ति के द्वारा भगवद्-अनुग्रह

जीवों पर होता है और इस अनुग्रह के फ़लस्वरूप भगवान के प्रति उत्कट प्रेम का अविर्भाव होता है जिससे फिर भगवद् साक्षात्कार होता है ।" इस मत के परम उपास्य कृष्ण हैं। मध्वाचार्य ही सम्भवतः पहले आचार्य हैं जिन्होंने अपने भक्तिमार्ग में राधा की उपासना का सर्वप्रथम विधान किया था । इसमें राधा का महत्व कृष्ण के ही समान है। इस मत के अनुयायियों का विश्वास है कि —"क्रीड़ा के निमित्त एक ही ब्रह्म से दम्पत्ति-भाव से दो विग्रह उत्पन्न हुए— राधा और कृष्ण ।" इस मत के अनुसार 'प्रेम लक्षणा अनुरागात्मिका परम भक्ति' ही साधना का चरम लक्ष्य है।

भक्ति के विकास में विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित उस दार्शनिक विचारधारा का विशेष महत्व है जिसको आधार बनाकर वल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैतवाद का प्रचार किया था। इस मत के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है और अपनी 'ह्लादिनी संविद्' के द्वारा 'आश्लिष्ट' है। माया ईश्वर के आधीन है। जीव अपनी अविद्या द्वारा क्लेश पाता है। वह आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है और दुख भी भोगा करता है। अतः ईश्वर और जीव में स्पष्ट भेद है।

उपर्युक्त सभी आचार्यों ने शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए अपने-अपने सम्प्रदायों के दार्शनिक पक्षों का विवेचन किया था। इनमें परस्पर भेद होते हुए भी भक्ति के क्षेत्र में काफी समानता थी । इनके पारस्परिक भेदों को संक्षेप में डा० हिरण्मय के शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है—

"श्री सम्प्रदाय की साधना-पद्धति पाँचरात्र पर अधिक अवलम्बित थी और उसमें शरणागति अथवा प्रपत्ति पर जोर था। निम्बार्काचार्य के सनक-सम्प्रदाय की प्रेमलक्षणा भक्ति का मुख्य आधार राधाकृष्ण की उपासना थी और वह हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण और महाभारत से प्रभावित थी। मध्वाचार्य की कृष्णोपासना और विष्णुस्वामी की गोपालोपासना में मनोवेग के विस्तार के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। इसलिए आगे चलकर इसी कृष्णोपासना को अपना कर वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत में भक्ति आन्दोलन को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया जिसका प्रभाव परवर्ती सभी सम्प्रदायों पर पड़ा। जिस प्रकार आचार्य रामानन्द जी से प्रेरणा और शक्ति पाकर रामोपासना की सगुण और निर्गुण धारायें प्रवाहित हुईं उसी प्रकार आचार्य वल्लभ और चैतन्य महाप्रभु से स्फूर्ति ग्रहण कर राधाकृष्ण की उपासना के विभिन्न रूप प्रकट हुए।"

भक्ति के विकास में उक्त दार्शनिक विचारधाराओं के अतिरिक्त अन्य अनेक विचारधाराओं का भी पर्याप्त योग रहा है। बौद्ध धर्म के परवर्ती रूपों बज्रयान, सहजयान तथा पाशुपतमत, योग-परम्परा, सूफी मत आदि ने भी

भक्ति धारा को अनेक नई बातें दीं। बौद्धों के वज्रयान में जब तन्त्र-मन्त्र का प्रभाव अधिक बढ़ा और फलस्वरूप भ्रष्टाचार का साम्राज्य दृढ़ होने लगा तो सिद्धों ने उन भ्रष्टाचारी सिद्धान्तों का खंडन कर एक सहज मार्ग का नारा बुलन्द किया। ये सिद्ध जीवन की सहज प्रवृत्तियों में विश्वास रखते थे। इसी कारण इनके सिद्धान्त को 'सहज मार्ग' कहा गया। इन सिद्धों ने हिन्दू, जैन तथा बौद्ध साधना-पद्धतियों का विरोध करते हुए सहज-साधना का प्रचार किया। ये लोग चित्त शुद्धि पर विशेष बल देकर सहजावस्था की उपलब्धि को ही परम पुरुषार्थ मानते थे। "उनके अनुसार बद्ध चित्त द्वारा बन्धन मिलता है और मुक्त चित्त द्वारा मुक्ति मिलती है। जब चित्त खसम अर्थात् प्रकाश के समान शून्य रूप को धारण करके 'समसुख' अर्थात् सन्तुलित अवस्था में प्रवेश करता है तब उसे किसी भी इन्द्रिय के विषयों का अनुभव नहीं होता।" इस प्रकार इन सिद्धों ने जीवन में सदाचार, चित्तशुद्धि तथा निर्मल चरित्र को बहुत महत्व देकर विभिन्न साधना-मार्गों में छाए भ्रष्टाचार, आडम्बर आदि का विरोध किया। कबीर आदि सन्त-कवियों पर इस 'सहजयान' का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था।

सन्तों पर अद्वैतवाद का भी काफी प्रभाव था। उनका ज्ञान और उपदेश अद्वैत पर आधारित है। सन्त कवि माया की सत्ता और जीव ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। इस एकता में माया बाधक है। ज्ञान से इस माया का नाश किया जाता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे विशिष्टाद्वैतियों की भक्ति-भावना को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी द्वैत भावना को नहीं। इन पर बौद्धों के शून्यवाद का तथा सहजयानियों के सहज मार्ग का प्रभाव सिद्धान्तों की इसी एकता के आधार पर स्पष्ट होता है।

सूफी मत के भावात्मक रहस्यवाद ने भी भक्ति-धारा को बहुत कुछ प्रभावित किया है। नीरस ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेमवाद का प्रभाव पड़ने से उसमें सरसता आ गई थी। हठयोगियों के नाथपंथ का भी भक्तिधारा के संतों पर काफी प्रभाव था। उन्होंने हठयोग को ब्रह्मप्राप्ति का साधन बना लिया था। परन्तु ये सारे प्रभाव गौण रहे। भक्ति की सरस धारा में इनका योगदान अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। भक्ति की धारा का वास्तविक विकास तो रामानन्द और वल्लभ स्वामी के प्रयत्नों के द्वारा ही हुआ था। और उसमें भी सगुण भक्ति धारा निर्गुण भक्तिधारा की तुलना में अधिक प्रभावकारी और व्यापक रही। निर्गुण भक्तिधारा अपनी नीरसता के कारण साहित्य के सरस क्षेत्र को अधिक प्रभावित न कर सकी।

आगे चल कर सगुण भक्ति धारा के दो रूप—रामभक्ति तथा कृष्ण-

भक्ति विभिन्न उप-सम्प्रदायों में विभक्त हो गई। विकास की दृष्टि से इन उप-सम्प्रदायों का महत्व गौण है क्योंकि ये भक्ति के मूल रूप को नहीं बदल सके। भक्ति का स्थूल रूप प्रारम्भ से लेकर आज तक लगभग एक सा ही रहा। उसका साध्य वही रहा जो प्रारम्भ में था, साधनों में अवश्य थोड़े-बहुत भेद होते चले गये।[1]

—: ० :—

१—भक्ति काल के विवेचन के लिए देखिये निबन्ध संख्या ४।